



श्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंथमाला पुष्प ४५.

श्रीविद्यानंदि-स्वामिविरवितः तस्यार्थङ्खोकयार्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वितः)

4113

(पञ्चमखण्डः)



-- टीकाकार ---

तकंग्रन, सिद्धांतमहोदधि, न्यायदिवाकर, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिकशिरोमणि श्री एं. माणिकचंदजी कोंदेयन्यायाचार्य

-- संपादक व प्रकाशक --

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावायस्पति व्याः के. समाजरत्न, धर्मालंकार, व्यायकाव्यतीर्थं) ऑ. मंत्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंथमाला सोलापूर.

All Right: are Reserved by the Society

-- मुद्रक ---

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पाँवर प्रिटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सीलापूर.

वीर स. २४९०)

सन् १९६४

(मूल्य १२ ६पये.

-= श्रीतत्वार्थश्लोकवार्त्तिकका मूलाधार =-

पंचम खंडः अथ द्वितीयोध्यायः।

औपश्चमिक्षायिको भावी मिश्रद्य जीवस्य स्वतस्वमीवयिकपारिणामिको च ॥ १॥ द्विनबाष्टादशैकविश्वतित्रिभेदा यथाकमम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्वबारित्रे ॥ ३ ॥ सानदर्शनदानलाम-भोगोपभोगवीर्वाण च ॥ ४॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धपश्चनुस्त्रित्रियञ्चभेदाः सम्यत्त्वचारित्र-संयमासंयमास्य ।।५।। गतिकवायलिङ्गमिश्यादर्शनाऽसंयताऽसिद्धलेदयारचतुरस्यकैकैकैकवङ्ग भेदाः ॥ ६ ॥ जीवमध्याऽभरयत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥८॥ स द्विविधोऽज्यचतुर्भेदः **॥ ९ ॥ संसारिको मुक्ताइच ॥१०॥ समनस्काऽमनस्काः ॥११॥ सप्तारिकस्त्रसस्याव**नाः ॥१२॥ पृथ् स्यप्तेजो श्रायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥ पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥ द्विविधानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्यु रकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्यूपयोगी मावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥ स्पर्धन रसन्धाणचभुः भोत्राणि ।। १९ ।। स्पर्धरसगन्यवर्णशब्दास्तदर्याः ।।२०।। श्रुतमनिन्द्रयस्य ॥ २१ ॥ वनस्परयन्तानामेकम् ॥ २२ ॥ कृमिविवीलिकाभ्रमरमन्ष्यादीनामेकैकवृद्धाति ॥२३॥ संजिनः समनःकाः ॥ २४॥ विग्रहगतौ कर्नयोगः ॥ २५॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६॥ अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥ विग्रहवती च संतारिणः प्राक् चनुभर्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाः वि. प्रहा ।। २९ ।। एकं द्वी जीन्वानःहारकः ।। ३० ।। सम्मूछंनगर्भोषपादा जन्म ॥ ३१ ॥ सनिसञ्जीतसंबुताः सेतरा निश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥ जरायुजाण्डजपोताना गर्मः ॥ ३३ ॥ देवनारकाणामुपपादः ।। ३४ ॥ शेषाणां सम्मुच्छंतम् ॥ ३५ ॥ औदारिकवंकियिकाहारकतंत्रसः कार्यवानि कारीराणि।। ३६ ॥ परं परं सुक्ष्मम् ॥ :७॥ प्रदेशतीऽसंख्ययगुणं प्राकृतेजसात् ॥३८॥ अनम्तगुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥ अनादितम्बन्धे च ॥ ४१ ॥ सर्वस्य । ४२ ॥ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्ध्ः ॥ ४३ ॥ निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥ वर्षसम्म च्छंनजमाद्यम् ।। ४५ ॥ औपपादिकं वंकियिकम् ॥ ४६ ॥ लब्बिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥ तेरसमिप ॥ ४८ ॥ शुभं विश्व सन्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यव ॥ ४९ ॥ नारकसःम्ब्छनो नर्माकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ श्रेषात्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औषपादिकवरमोत्त्रदेहाः संब्धेयवर्षायुषोऽनपवरर्यायुषः ॥ ५३ ॥

अथ तृतीयोध्यायः।

रत्नशर्कराबालुकापञ्चभूमतमोमहातमःप्रमाभूमयो चनाम्बुबाताकाशप्रतिष्ठाः प्रवोधः ॥ १ ॥ तासु त्रिशत्पंचविश्वतिपंचवशवशत्रिपंचोनैकनरकज्ञतसहस्राणि पंच चैव यथाः कमम् ॥ २॥ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविकियाः ॥ ३॥ परस्परोदीरितः बुःखाः ॥ ४॥ संविक्षव्टासुरोबीरितदुःखाञ्च प्राक्चतुथ्याः ॥ ५॥ तेव्वेकविसप्तवशसप्तवशः द्वाविश्वतित्रयस्त्रिशस्तागरोपमा सत्त्वानां परा स्थिति: ।। ६ ।। जम्बूद्वीपलक्षणोदादयः जुमनामानी द्वीपसमुद्राः ॥ ७॥ द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिको वलपाकृतमः ॥ ८॥ तस्मध्ये मेवनः भिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्मो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥ भरतह्रीमवतहरिविबेहरम्यकहैरण्यवतरावत-वर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥ तद्विमाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्नहाहिमविश्ववज्ञनीलंदविमशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥ हेमार्जुनतपनीयवैद्यंरजतहेमनयाः ॥ १२ ॥ मणिविवित्रपास्वा उपरि मूले च ुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्मवहायधितिगिङ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हुदास्तेषानुपरि ।। १४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्दविष्कम्भो हृदः ॥ १५ ॥ दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तक्षिवासिन्यो वैञ्यः श्री-हीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्षम्यः पत्योपमस्यितयः संसामानिकपरिचल्काः ॥ १९ ॥ गंगासिन्धु-रोहिबोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतायीतोदानारीनरकान्तायुवणंकप्यकूलारकतारक्तोदाः स्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥ इयोईयोः पूर्वाः पूर्वेगाः ॥ २१ ॥ श्रेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥ चतुर्देशनदी-सहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥ भरतः षड्विशतिपंत्रयोजनप्ततिविस्तारः षट्चैकोन विश्वतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणविश्तारा वर्षत्ररवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥ भरतंरावतयोवृद्धिःहासौ वट्समत्र भ्यामुत्सिष्ण्यवसिषणीभ्याम् ।। २७ ।। ताभ्यामवरा भूमयोऽवस्थिताः ।। २८ ॥ एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्ष-कदंवकु वकाः ॥ २९॥ तथोत्तराः ॥ ३०॥ विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१॥ मरतस्य विष्कम्मो जम्बूद्वीपस्य नर्बातशतभागः॥ ३२॥ द्विद्वितिकोसण्डे ॥ ३-३ ॥ पुष्करार्द्धे च ॥३४॥ प्राङ्मानुषोत्तरात्मनुष्याः ॥ ३५ ॥ आर्या म्लेच्छाइच ॥ ३६ ॥ मरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽ न्यत्र देवकुरूत्तरकुरुम्यः ॥ ३७॥ नृस्थिती परावरे त्रिपत्योपमान्तर्मृहूर्ते ॥ ३८॥ तिर्यंग्यो-निजानां च ॥ ३९ ॥

अय चतुर्थोऽध्यायः।

देवाइचतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥ दशाष्टपञ्चद्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंन्ताः ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रार्योस्त्रश्चपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकितिबधिकाश्चैकवा: ॥ ४ ॥ त्रायस्त्रिवास्लोकपालवर्ज्या व्यन्तरस्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोद्वीन्द्राः ॥ ६ ॥ कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपणगिनवातस्तिनितौब-विद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥ व्यन्तराः किञ्चरकिन्युरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराञ्चसभूतपिक्षाचाः १। ११।। ज्योतिष्काः स्टर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीणंकतारकारच ।। १२।। मेरप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।। १३ ।। तत्कृतः कालविभागः ।। १४ ।। बहिरवस्थिताः ।। १५ ।। बैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्वोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥ उपर्युपरि ॥१८॥ सीधर्मेशानसानस्कु-मारमाहेन्द्रबह्यबह्योत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्षग्रतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्न-वसु प्रवेषकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।। १९ ॥ स्थितित्रमावसुखद्धति-लेश्याविशुद्धीन्द्रयावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।। २२।। प्राग्येवेयकेश्यः कल्पाः ।। २३।। ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाद्यारिष्टाश्च विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥ औपपादिकमनुष्येष्यः क्षेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥ स्थिति-रसुरनागसुवर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिवस्योपमाद्धंहीनमिता ॥ २८ ॥ सौधमँशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥ सानःकुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनवंकादशत्रयोदशपञ्चदशिनरिध-कानि तु ॥ ३१ ॥ आरणाच्युत।दूध्वंमेकैकेन नवसु प्रवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥ अपरा पत्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥ परत.परतः पूर्वांपूर्वानन्तरः ॥ ३४ ॥ नारकाणां च द्वितीया-बिषु ॥ ३५ ॥ दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥ भवनेषु च ॥ ३७ ॥ व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥ परा पत्योपममधिक ॥ ३९ ॥ ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥ तदण्डभागोऽपरा ॥ ४१ ॥ लीकान्तिकानामच्टी सागरीयमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२॥

इति चतुर्थोध्याय.।

इति पश्चमखण्डः समाप्तः।

--0--

संपादकीय वक्तव्य



इस वन्तव्यके साम तत्वार्यश्लोकवः तिकका पंचम संह आपके सामने उपस्थित करनेमें हमें परमहर्ष होता है। यद्यपि अन्य संहों की अपेक्षा इस संहके प्रकाशनमें आशातीत विलंब हो गया है। हमारे इस पुनीत प्रकाशन कार्यमें अनेक प्रकारके विवन उपस्थित हुए। कुछ दैविक, कुछ प्रमादजनित, कुछ सामाजिक, कुछ गाहंस्थिक, और कुछ वैयक्तिक। किसे बिक्क प्राप्तान्य दिया जाय, इसकी चर्चाकी अपेक्षा अनेक कारणोंसे हम इस कार्यको दुनगतिसे चलानेमें असमयं रहे, इसके दिए स्वाध्यायप्रेमी बंजूबोंसे एवं हमारे सदस्योंसे क्षमा याचना करना ही अधिक अयस्कर है।

प्रस्तुत खंड---

गत चार खंडोमें तःवार्यसूत्रके केवल प्रथम अध्यायपर वातिक और टीका आई है। अब इस प्रस्तुत पांचवें खंडमें तस्वार्यसूत्रके द्वितीय अध्याय, तृतीय अध्याय और चतुर्व अध्यायके प्रमेय आचुके हैं। भगवदुपास्वामिविरचित तत्वार्यसूत्रमें तत्वज्ञानकी कितनी महिमा भरी हुई है, इस बातका सहज अनुमान महर्षि विद्यानित्दस्वामीके द्वारा प्रतिपादित इस महान् दार्शिकक सरणिसे क्या जासकता है। महिंग विद्यानंदि स्वामीने मूल प्रन्यकारके अभिप्रायको सुरक्षित रखते हुए विषयका स्पष्टीकरण सर्वक्ष रूपसे किया है।

दितीय अध्याय: ---

तत्रार्थस्लोकवः तिकालंकारके द्वितीय अध्यायमें औवके स्वतत्यका निरूपण करते हुए औषका-मिका द जीवके प्रधान भावोंका निरूपण आचायंने किया है। ये भाव खीवके हैं। हैं। प्रधान खादिके नहीं, मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। जीवके भेदोंका निरूपण करते हुए संसारी, सयोगकेवली, अयोगकेवली, एवं मुक्त जीव अधि सभीका संग्रह किया गया है। आत्माके ध्यापकत्वका खंडन कर आचायंने एकेंद्रिय जीवोंको युक्ति आगमसे सिद्ध किया है। इसी प्रकार इंद्रियोंके विषयको सिद्ध करते हुए इद्रियोंके अधाति जीवको युक्तिसे सिद्ध किया है।

इस अध्यायके दितीय अनिहरूमे मात्माके व्यापकत्वको निराकरण कर आत्माकी इनस्ततः गमनको समर्थन किया है। जीवोंका आकाश प्रदेशमें यथाश्रीणगति, अनाहत्क अवस्था, जन्म व योनिका प्रकार, शरीरोंकी रचनाका प्रकार, अन्य संग्दायोंके द्वारा कल्पित शरीरका निरास करते हुए तैजस और कार्मणका धाराप्रवाह रूपसे अनादिसंबंध सिद्ध कर दिया गया है। अंगमें आयुकी अनावस्यं और अग्वस्यंदशाको युक्ति और आगमसे सिद्ध कर अन्य वादियोंके कथनका निवारण किया गया है।

तृतीय मध्याय:--

प्रस्तुन अध्यायमें जीवोंके निवासस्थानका वर्णन करते हुए अघोलोकका वर्णन सर्वं प्रथम किया गया है, और तदनंतर इस पृथ्हीके आकारके संबंधमे ऊहापोह करते हुए भूग्रमण वादि-योंकी युन्तियों का सुन्दर तर्कपढ़ित्से निराकरण किया है। आजके भोगोलिक-विज्ञानवादी पृथ्होंके आकार और उनके भ्रनणमें जिन युन्तियों का प्रयोग करते हैं, उनको अकाद्ध युन्ति और आगम प्रमाणोंसे आचायंने निराकरण किया है। एवं स्पष्टतः सिद्ध किया है कि इस अचला पृथ्हीका किश्री भी तरह भ्रमण नहीं हो सकता है। भूभ्रमणवादियों के साथ २ अन्य तःसमन्वादियों का भी निराकरण करते हुए आचायंने बहुन स्पष्ट रूपसे सूर्य चन्द्रमाके भ्रमणको समर्थन किया है। तदनंतर मध्यलोकका वर्णन कर तत्रस्थ द्वीप समृद्र, पर्वत, क्षेत्र, नदी सरोवर आदि-योंका यथागम विवेचन किया है।

इसी प्रकार घरत बादि क्षेत्रों में कर्म पूमि, भोग मूमिका विधान करते हुए मनुष्य और वियंशिको जघन्य व उन्कृष्ट आयुका निरूगण किया है। बीवों के आधारस्यानों का निरूपण करते हुए आनार्यने अधोलोक और मध्यलोकका सविस्तर वर्णन किया है। साथ ही यथा प्रकरण आनार्य विद्यानन्दस्वामीने बहुन बड़ी विद्वत्ताके साथ सृष्टिकर्तृन्ववादका खंडन किया है। जगन्नियंता ईश्वरको माननेसे अनेक दोषों का आयात स्वयं हो जाता है.इस बातको अश्वतपूर्व युक्तियों के द्वारा बहुन विस्तारके साथ समर्थन किया है। जगत्कर्तृन्वका निगस इस प्रकरणमे बहुत सफलताके साथ किया गया है। इस प्रकार इन तीसरे अध्यायमें अधोलोक व मध्यलोक स्थित जीवों के स्थान, स्थित, परिस्थितिका सुन्दर विवेचन किया गया है।

चत्यं अध्याय.--

प्रस्तुत अध्यायमें ऊर्घ लोकका वर्णन करते हुए ग्रंथकारने ऊध्वंलोकस्थित देवोंका निवास दर्शाया है। सवनवासी व्यतर देवोका निवास इस मध्यभूमिमें होनेपर भी ज्योतिष्क और कल्य-वासियोंका निवास इस समय पृथ्वीसे ऊारले भागमें है। इस विषयका निरूपण करते हुए उन देवोंकी लेक्या, आयु, परिणाम. गति, आदिका यथागम वर्णन किया है। साथमें ज्योतिष्क देवोंके प्रकरणमें मेरुप्रदक्षिणा कर निरयगमन करनेवाले ज्योतिष्क देवोंका सुन्दर विचार आधार्य देवने किया है। आधुनिक भौगोलिक विद्वानोंका इस प्रकरणमें भी आवार्य श्रीने खबर लिया है। पृथ्वी नारंग के समान गोल नहीं है, और सर्व स्थानोमें एकसी चपटी भी नहीं है। उसका भ्रमण भी युक्ति आगमसे विरुद्ध है, सूर्य चन्द्रमाका भ्रमण सतत होता है, सूर्य चन्द्रमाके भ्रमणसे ही दिन राजका विभाग होता है। अन्य ग्रहोंके भ्रमणसे सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण आदि होते हैं। इत्यदि बातोंको बहुत ही सुन्दरपद्धतिसे विद्यानन्द स्वामीने सुन्तष्ट सिद्ध किया है व भूभ्रमण वादियोंको निरुत्तर कर बिया है।

इस प्रकार इस पंचम खंडने दूपरे, तीसरे व चीचे अध्यायतकका प्रकरण प्राचुका है। अब आगे छठं भागमें पांचना और छठा अध्याय, सातवे भागमें सातवें अध्वें, नववें, और दसवें बध्यायके विषय आत्रायें में बर्यान् अब दो संडोमें यह ग्रंथराज समाप्त हो जावेगा। इस ग्रंथके प्रकाशनमें संस्थाने भारी व्यय उठाया है। ऐसे ग्रंथों का एक बार प्रकाशित होना ही कठिन है, बार बर होना तो असंमव ही है। और यह जैन तन्वज्ञानका महान् दार्शनिक ग्रंथ है। स्वाध्याय प्रमियों का बल हमें मिला तो हम शोध्य ही अविशब्द भागों का भी प्रकाशन करेंगे।

संस्थाने यह महान् कार्य अपने हाथमें लिया है। ऐसे ग्रंथराओं का संपादन और प्रकाशन महान् साहसका विषय है। संस्थाकी विपुल धनराशि इस कार्यमें प्रयुक्त हो रही है। संस्थाका संकल्प है कि परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्वतंद्य आवायश्रीकी पूण्यस्मृतिमें प्रतिवर्ष कोई न कोई ग्रंथ प्रकाशमें आकर हमारे स्वाध्यायनेमियों को ज्ञानलां हो। इस एक ही ग्रंथ के प्रकान नमें यदि अक्ति कीण हो गई तो निरुधाहका वातावरण निर्माण हो सकता है। इसमें भी विशेष बात यह है कि यह महान् ग्रंथराज भी हमारे करीब ५०० स्थायी सदस्यों को विनामूल्य भेंटमें दिया जारहा है। करीज पांच सी प्रतियों के इस प्रकार समात्रप्रमुख व्यक्तियों के हाथ पहु वने के बाद अवशिष्ट प्रतियों को मूल्यमे खरीदकर स्वाध्याय करनेवालों की संख्या बहुत कम पह जाती है। अतः साधमी बंजुवोंसे निवेदन है कि वे हमारे इस महान् कार्यमें निम्नलिखित प्रकारसे मदत करें।

- (१) स्वाध्य यके लिए मंदिर, श्रुनमंडार, शिक्षा संस्थायें, महाविद्यालय बादिमें इस प्रंयराजके-सर्व मागोंको मंगाकर विराजमान करें। और जैन, श्रेनेतर विद्वानोंको अध्ययनार्थं इसकी प्रतियोंको भेंट करें।
 - (२) इस ग्रंथके प्रकाशनके लिए अानी ओरसे यथेष्ट द्रव्यकी सहायता करें।
- (३) १०१) प्रदान कर ग्रंथमाल के स्थायी सदस्य बर्ने । स्थायी सदस्यों को ग्रंथमालासे प्रकाशित सर्व ग्रंथ-तत्वार्यं इलोकवातिकालंकारके सर्व वश्यमित भेटमें दिये जाते हैं।

जैनतत्वज्ञानका अत्यंन सूक्ष्मताके साथ तलस्पर्शी विवेचन करनेवाला यह अमूत पूर्व ग्रंथ है। इसका अधिकसे अधिक प्रचारका अर्थ स्याद्वादरशंनका उद्योत है। प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् न्यायिदिवाकर पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्यकी सुविस्तृत टीकासे विद्यानन्द स्वामीके अंतःस्पश्चिनी मीमांसाको सुवर्णके बीच रःनको शोभा आगई है। सर्वसाधारण स्वाध्यायप्रेमीकी समझमें आवे इतना सरल ग्रंथ का प्रमेष बन गया है। हर एक ज्ञानिप्पासुको इसका लाम उठाना चाहिये।

इस ग्रंथका समर्पण

श्री परमपूज्य आचार्य कुंबुमागरजी महाराज परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रविति आचार्य शांतिसागर महाराजके अन्यतम शिष्य वे। श्री आचार्य शांतिसागर महाराजने इस युगमें दिगंबर तपस्वियों के मार्गको प्रशस्त करते हुए अपणपरंपराकी विच्छित्र कडीको पुन- रुज्जीवित किया है। उन्होंने अनेक विद्वान संयमी शिष्योंको निर्माण किया। उनके संघर्ष

जितने भी साधु हुए वे सभी तयोनिधि, चारित्रशील और जागमों के वेला, जानाम्यासी वेश-कालके ज्ञाता सिद्ध हुए हैं।

बानार्यं श्रीने अपनी यमसल्लेखनाक समय अर्गने उत्तराधिकार पट्टको ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध एवं बनुभववृद्ध तपस्वी श्री परमपूज्य आचार्यं वीरसागर महाराजको साँप दिया। परन्तु गृहबरणोंके स्वर्ग सिघारनेके बाद आचार्यं वीरसागर श्रीका भी कुछ ही समयमें स्वर्गारोहण हुआ।
उस पट्टमें अधिकारी शिष्य परमशांत साधु ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध श्री आचार्यं शिवसागर जी महाराज आसीन हुए। परमपूज्य आचार्यंशी भी अपने गृह जनोंके समान ही ध्यानाध्ययनमें रत,
विषय कषायादिसे दूर, स्वपर हितमें अनुग्रह करने वाले संत हैं। उनके द्वारा विशाल संघका
गंचालन यथापूर्वं हो रहा है। आपके ही करकमलों में बडी नम्प्रताके साथ यह ग्रंथ समर्थित
किया जा रहा है। अमीतक के सर्व भाग परमपूज्य संत आचार्यों के करकमलों में ही हम समर्थित
करते हुए आ रहे हैं। यह आचार्यकी कृति है, आचार्यके करकमल में ही हम समर्थण करते है।
इसके गुणदोषका निरीक्षण वे ही विद्वान् संत कर सकते हैं। स्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव
समर्थते।

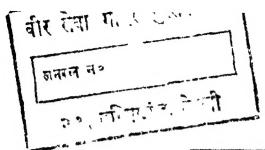
अपनी बात

श्री परमपूज्य प्रातः समणीय विश्ववंद्य स्व. आचार्य कुंधुमागर महाराज उनके युगके प्रभावक मनोज साधु थे। उनकी लोकेषणा वृत्ति, सर्वंजनिप्रयता, मृदु व सरल परिणति, अगाध विद्वता बादि गुणोंसे सभी क्षेत्रकी जनता प्रभाषित थी। जैन समाज ही नहीं जैनेतर समाजमें भी उनके अगणित भवत थे। उनकी सदमावनाके अनुमार उनकी स्पृतिमें यह ग्रंवभाला चालू है। हमारा संकल्प है कि प्रति वर्ष हमारे सदस्यों को कमसे कम एक ग्रंव स्थाना प्रदान किया जावे। परन्तु संस्थाने इस महान् ग्रंवके प्रकाशनका कार्य हाथमें ले दिया है। अतः उसमें भोडासा व्यवधान होने गर भी आगे हम प्रतिवर्ष एक एक ग्रंव हमारे सदस्यों को भेट करने का निश्चित प्रयत्म करेंगे।

इस विषयमें हन हमारे माननीय सदस्योंसे भी प्रार्थना करेगे कि वे भी हमें सिक्रय सहयोग देवे । क्योंकि यह कार्य संपूर्णतः भाषिक बलपर ही निर्भर है। यदि हमारे सदस्य अपनी सस्थाको पल्लवित करनेकी कामनासे आधिकबल प्रदान करनेकी कृपा करें तो संस्था आश्वास-नको अनुसार आपकी सेवा निदिवत रूपसे कर सकेगी। अतः कमसे कम सदस्य संख्या बढानेको प्रति हाथ बटावे यह सादर निवेदन है।

सोलापूर भाद्रपद शु. ५ बीर सं. २४९०

वर्धमान पार्श्वनाय शास्त्री ऑ मंत्री आचार्य कुंप्सानर पंयमाला कल्याण भवन, सोलापुर





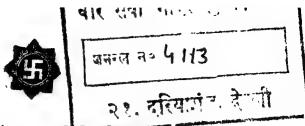
श्री विश्वबंद्य तपीनिधि आचार्य स्व. कुंथुसागर महाराज जिन्होने अपने जीवन कालमे धर्मकी अभूतपूर्व प्रभावना की, जैन-शासनका उद्योत किया, जैनतस्वज्ञानका प्रकाश सर्वत्र फैलाया, बिश्वके कोने कोनेमें सार्व-धर्मको पहुंचाकर विश्वबधु-स्वकी भावना निर्माण की. उन्हीकी चिरंतन स्मृतिमे इस ग्रंथ माला द्वारा अनेक अनद्यं ग्रंथोंका प्रकाशन सतत किया जा रहा है।



सविनय समर्पण

श्री परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवित स्व.
आचार्य शांतिसागर स्वामीके पट्टमें अधिष्ठित
चारित्रचूडामणि श्री स्व. झाचार्य वीरसागर
महाराजके पट्टमें स्थित होकर सफलतापूर्वक
विशाल संघका संचालन, साधु मार्गका
उद्योत, रत्नत्रय धर्मकी अपूर्व प्रभावना
करनेवाले

श्री १०८ आचार्य शिवस।गर महावाजके करकमलोमें



श्रीविद्यानंद -स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

तत्त्व।र्थविंतामणिटीकासहितः

(पञ्चमखंडः)

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

नानावस्तुस्वभावश्रमकलितवपुः स्यात्स्वतत्त्वाप्यवीचि-रस्नाना अप्यगाधे गणधरग्रुनयः स्नान्ति यद्दोधताये । सिद्धार्थापत्यवीराञ्जव प्रकलनगत्तारि सामर्थ्यज्ञष्ट-ब्राह्मीगंगा पुनीताहुरितनिरसनी चिद्वहा भव्यहंसान् ॥

अत्र श्री विद्यानन्द आचार्य तत्त्वार्थमूत्रसंबंधी द्वितीय अध्याय के श्लोकानिर्मित वार्त्तिकी द्वारा अलंकार करनेका प्रारम्भ करते हैं।

सम्यहरगोचरो जीवस्तस्यौपशमिकादयः । स्वं तत्त्वं पंच भावाः स्युः सप्तसूत्र्या निरूपिताः ॥ १॥

सम्यग्दर्शन का विषयभूत होरहा जीव पदार्थ है, उसके औपशमिक, क्षायिक आदिक पाच भाव स्व आत्मक तस्व हो रहे है, वे इस द्वितीय अध्यात के प्रथमवर्ती सात मूत्रोंक समुदाय करके श्री उमास्वामी महाराज द्वारा पहिले निरूपण किये जाचुके हैं। इस कथन करके श्री विद्यानन्दस्वामीने प्रथम अध्यायके प्रकरणों की दितीय अध्याय सम्बन्धी प्रकरणों के साथ हो रही संगति को प्रदर्शित किया है अतः सूत्रकारके उपर असंगत प्रलाप दोष लग जाने का खटका नहीं रहा। सम्यग्हक्तस्वार्थश्रद्धानं तस्याः गोचरो विषयो जीवो निरूपितस्ताबद्जीवादिषत् तस्य स्वमसावारणं तस्वमीपश्चिकाद्यः पंच भावाः स्युर्न पुनः पारिणामिक एव भावश्चेतन्यमात्रं, यतश्चेतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपमिति दर्शनं केषांचिञ्चवतिष्ठते । बुध्याद्यो नवैवात्मनो विशेषगुणा इति वा, आनंदमात्रं ब्रह्मरूपमिति वा प्रभास्वरमेवेदं चिक्तमिति वा प्रमाणाभावात् । प्रमाणोप-प्रभास्तु जीवस्यासाधारणाः स्वभावाः पंचौपश्चमिकाद्यस्तं सप्तसूच्या निरूपिताः सूत्रकारेण लक्षणतः संख्यातः प्रभेदतश्च ।

सम्यादर्शन शद्भको निरुक्ति कर देनेसे अभीष्ट अर्थ प्राप्त नष्टी होता था । अतः सम्यादर्शनका पारिभाषिक अर्थ तत्त्वार्थीका श्रद्धान करना कहा गया है। उस श्रद्धानरूप सम्यम्दर्शनका अजीव आदिके समान विषयभूत हो रहा जीवपदार्थ तो पहिले अध्यायमे कहा जा चुका है। अब उम जीवके विशेष अंशोंका निरूपण करनेके लिये प्रकरण चलाते हैं । उस जीवके निजआत्मस्वरूप हो रहे औपश्चिम आदिक पांचभाव तो स्वकाय अमाधारणतत्त्व है । जो अन्य अजीव माने गये पुद्रल आदिमें नहीं पाय जारूर केवल जीवमें ही पांय जाय वे जीवके असावारणभाव हो सकेमें । प्रतिपक्षी कर्मीक उपरामसे होनेवाले या कर्मोंके क्षयसे होनेवाले अथवा उदय, उपराम, आदिकी नहीं अपेक्षा कर जीवद्रव्यके केवल आत्मलाभसे अनादि सिद्ध हो रहे पारणामिक ये तीन भाव तो जीवके निज स्वरूप है ही । साथमे गुण या स्वभावोके प्रतिपक्षी हुये कर्मोंकी सर्वधाति प्रकृतियोका उदयक्षय, और उपराम होनेपर तथा देशघाति प्रकृतियोंके उदय होनेपर हो जानेवाले वृज्ञान, मतिज्ञान, चक्षदर्शन, आदि क्षायोपरामिकभाव तथा कतिपय कर्मीका उदय होनेपर उपजनेवाले मनुष्यगति, क्रोध, पुंबेद परिणाम, मिथ्यात्व आदिक औदायिकभाव भी आत्माके निज तस्त्र है। क्योंकि क्षायोपशमिक और औदायिकभावों का भी उपादान कारण आत्मा ही है। कमौंके क्षयोपशम या उदयको निमित्त पाकर आत्मा ही मनिज्ञान, कोच, आदिरूप परिणत हो जाता है। आत्माके चेतनागुणकी पर्याय मतिज्ञान, कुमतिज्ञान आदि है और आत्माके चारित्र गुणका विभाव परिणाम क्रोध आदि है । केवल निश्चयनय द्वारा राद्ध द्रव्यके प्रतिपादक समयसार आदि प्रन्थोमें भले ही मतिज्ञान, क्रोध आदिको परभाव कह दिया गया होय, किन्तु प्रमाणोंद्वारा तस्त्रोंकी प्रतिपत्ति करानेवाले या अशुद्ध ब्रव्यका निरूपण करने वाले क्षीकवार्त्तिक, अष्टसहस्री, गोमदृसार, राजवार्त्तिक, आदि प्रन्योंमें क्रोध, वेद आदिको आत्माका स्व-आत्मक्रभाव माना गया है। अतः पांचों ही भाव जीवके स्वकीय असाधारण तस्व हैं। उस पांचों भावोके साथ तदात्मक हो रहा जीव तत्त्व वास्तविक है। किन्त फिर केवल परिणामिक भाष अकेले चैतन्य स्वरूप ही जीव नहीं है, जिससे कि केवल चैतन्य ही पुरुषका निज स्वरूप है, ज्ञान. सुख, वीर्य, क्रोब, अवधिज्ञान, उपराम, चारित्र, आदिक भाव तो जीवके निजस्वरूप नहीं है, कित त्रिगुणआ मक प्रकृतिके विवर्त हैं, इस प्रकार किन्हीं किन्हीं साख्योंका माना गया सिद्धान्त व्यवशिक्त

हो सके अथवा बुद्धिको आदि लेकर सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ ही आत्माके विशेष गुण हैं, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाव ये पांच गुण आत्माके सामान्य है. इस प्रकार नी और पांच मिलकर चौदह ही गुण आत्माके न्यवस्थित हो सकें, अन्य अस्तित्व. द्रव्यत्व. चारित्र, बीर्य, आदि अनन्त गुणींका वैशेषिक सिद्धान्त अनुसार निषेध कर दिया जाय. अपना केवल आनन्द ही एक गुण ब्रह्मका स्वरूप है, यह ब्रह्मनादियोंका सिद्धान्त व्यवस्थित हो सके. अथवा यह चित्त स्वरूप आत्मा केवल चमक रहा, प्रभास्वर गुणवाला ही है, इस प्रकार मीमांसक. बीद आदि दार्शनिकों के मन्तव्य व्ययस्थित ठहर सकें । जब कि स्वसम्बदन प्रत्यक्षसे पांच भावोंके साथ आत्माका उपजीन्य, उपजीवक स्वरूप तादाल्य प्रतीत हो रहा है, ऐसी दशामें केवल चैतन्य ही या नी विशेष गुण ही अथवा केवल आनंद गुण ही तथा प्रभास्वर गुण ही का आत्माके साथ उप-जी॰य उपजीवक भाव साधनेका कोई प्रमाण नहीं है । जिन गुण या स्वभावींकरके पदार्थ आत्म लाभ कि**ये इये हैं.** वे उपजीवक माने जाते हैं और उन करके आत्मलाभ कर रहा पदार्थ उपजीव्य समका जाता है। पांच भाव जीवके उपजीवक हैं। अनादि और सादि सहभावी क्रमभावी। पर्यायोंको धारनेवाला जीव तस्त्व है। शुद्ध परमात्मा द्रत्य हो रहे सिद्ध भगवानोंमे यद्यपि औपशमिक, क्षायोप-शमिक और औदियिक ये तीन प्रकारके भाव नहीं है। सिद्धोंमें पारिणामिक और क्षायिकभाव ही है। तथा बहुभाग अनंतानंत संसारी जीबोंमे क्षायिकभाव या औपशमिक भाव नहीं पाये जाते है. तो भी जिन जीवोंमें पांचों भावोमें से यथायोग्य दो ही तीन ही चारो ही अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रियपरुप जीवके ग्यारहवें गुणस्थानमे पांचों, यों जितने भी सम्भव पाये जाने है, सब जीवके तदात्मक हो रहे असाधारण स्वभाव हैं । अतः प्रमाणोंसे युक्तिसिद्ध हो रहे, पांच औपशमिक आदिक स्वभाव तो जीवके असाभारण स्वभाव है। दूसरे अध्यायमें सूत्रकार श्री उमान्यामी महाराज करके पहिछे सात सुत्रोंक समुदाय करके पांच भाव कहे गये हैं। द्वितीय अध्यायके पहिले मूत्रद्वारा निरुक्तिपूर्वक लक्षणसे पांच भावोंको कहा गया है। दूसरे सूत्रमे संज्या निरूपण करनेसे पांच भावोंका कथन किया है। तथा द्वितीय अध्यायके तीसरे, चौथे, पांचवें, छहे, सातवे सूत्रमें उन पांचा भावाका प्रभेद दिखला देनेसे निरूपण किया गया है।

तत्र तेषां कक्षणता निरूपणार्थमिदमाचं सूत्रश्चपलक्ष्यते ।

अब इक्षण, संख्या, और प्रभेद उन तीनों प्ररूपणोंमें प्रथम उन भावोंका रूभणक्यपसे कथन करनेके दिये दितीय अध्यायके आदिमें होनेबाठा सूत्र श्री उमास्त्रामी महाराज करके उपरूक्षणपूर्वक कहा जाता है।

औपशमिकक्षायिको भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौद्यिकपारिणामिको च॥१॥

कर्मों ते उपशमसे होनेवाला औपशमिकभाव और कर्मोंका क्षय होनेपर अनन्तकालतक लिये सभ्य जानेवाला क्षायिकभाव तथा उपशम, क्षय, दोनों या उदय मिलाकर तीनों अवस्थावोंका मिश्रण होजानेपर उपजरहा क्षायोपशामिकभाव एवं कर्मोदयसे सभाव औदायिकभाव और उदय आदि की नहीं अपेक्षा रखनेवाले पारिणामिकभाव ये पांच भाव जीवके नदात्मक स्वस्वरूप तत्त्व हैं। अर्थात्—मानव शरीरके जैसे दो हाथ दो पांव नितम्ब, पीठ, उरःस्थल, शिर ये आठ अंग निजतन्त्व हैं, अथवा वृक्षके स्कंध, शाखा, पुष्प, पत्र, फल ये पांच तदात्मभूत तत्त्व हैं, उसी प्रकार औपशमिक आदिक पांच भाव जीवके स्व-आत्मभूत निजतन्त्व हैं।

अत्रोपशमिकादिशन्दनिरुक्तित एवौपशमिकादिभावनां लक्षणग्रुपश्चितं तस्यास्तदन्य-भिचारात् । तथा-हि---

यहां सूत्रमें कहें गये औपरामिक, क्षायिक आदि राद्वींकी प्रकृतिप्रत्यय द्वारा निरुक्ति करदेनेसे ही औपरामिक, क्षायिक आदि भावोंका लक्षण ठीक दिखल। दिया गया है। क्योंकि उस निरुक्तिका उनके निर्देश अनुमार लक्षण करके व्यभिचार नहीं आता है। जहां शद्धनिरुक्तिका लक्षणके साथ व्यभिचार नहीं आता होय वहां ही पारिभाषिक लक्षण कण्डोक्त किया जाता है। अन्यत्र नहीं। औपरामिक आदिक शद्दोंकी लक्षण गर्भित निरुक्तिको स्वयं प्रन्थकार वार्त्तिको दारा प्रसिद्ध कर दिखाते है। भावोंके ये पांचों नाम अन्वर्थ हैं।

अनुद्भूतस्वसामार्थ्यवृत्तितोपशमो मतः । कर्भणां पुंसि तोयादावधःप्रापितपङ्कवत् ॥ २ ॥

आमामें कर्मोका अपनी सामर्थको प्रकट नहीं करते हुये यों ही सत्तारूप वर्तते रहना उपशम माना गया है जैसे कि जल, वक्खर, आदिमें कतका प्रल, दूध आदिके सम्बन्धसे नीचे प्रदेशों कीच प्राप्त करा दी जाती है। अर्धात् —योग और कषायोंके वश हो रहा आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मोका बन्ध करता है। आबाधाकाल और अचल आवलितक कोई भी कर्मफल देनेके लिये अभिगुत्व नहीं होता है। स्वयोग्य दव्य, क्षेत्र, काल, भावके नहीं मिलनेपर भी कर्म उदयमें नहीं आते है। यदि उनकी स्थिति पूरी होगई होय तो बिना ही फल दिये हुये भले ही विरजाय। एक ही समय बाधे हुये अनन्त परमाणु पिण्ड हो रहे कर्मोंमेंसे आवाधा काल पीछे कुछ कर्मोंके उदयावली स्नोनमें प्रविष्ट हो चुकनेपर भी उन्हीं कर्मोंमेंसे गुणहानि क्रम अनुसार जिन कर्मोंका उदय विर भविष्यकालमें आनेवाल है तक्तक पूर्व समयमें उनका भी उपशम बना रहता है। अन्तरकरण और सदवस्था रूप ये उपशमके दो भेद है। गुणको विधातनेवाल कर्मोंको कुछ पहिले समर्योंमें उदय योग्य बनालेना, इस अनुहि

पूर्वक कार्योपयोगी आर्मीय परिणामों के प्रयत्नसे अन्तर्मृहूर्त कालतकके लिये कमों के उदयको टालदेका अन्तरकरण उपराम कहा जाता है और बांधेहुये कमों की फलप्राप्तितक यों ही सत्तामें उनका पढ़े रहना सदकरथा उपराम है। उपराम करने के लिये भी आत्माको चला कर प्रयत्न करना पड़ता है, जिससे कि उदीरणाका कारण उपस्थित हो कर कर्म उदयमें नहीं आसके। जलमें पढ़ी हुई फिटिकिरीको कीचके दबाने के लिये सतत उच्चत रहना पड़ता है। तभी तो चाहे जब जलमें कीच भुलने नहीं पाती है। तीब वायुके झकोरों द्वारा या जलपात्रके उथल पुथल कर देने से यदि फिटिकिरीको उद्यमको व्यर्थ करिया जाय तो जलमें कि कि सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। उसी प्रकार आत्माम भी तीब उदीरणाके कारण मिल जानेपर आत्माका उपरामार्थ किया गया प्रयत्न व्यर्थ हो कर कर्मोकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। जबतक कर्मोकी शक्त अत्माका उपरामार्थ किया गया प्रयत्न व्यर्थ हो कर कर्मोकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। जबतक कर्मोकी शक्त उद्भूत नहीं हुई है तबतक उपराम माना जाता है। औषियों द्वारा रोगोंका प्रकट नहीं होना प्रसिद्ध है। कर्मोका उपराम आत्माकी विद्युद्धिकर परिणाम माना गया है कीचका दबा रहना जलकी स्वच्छता ही तो है।

तेषामात्यंतिकी हानिः क्षयस्तदुभयात्मकः । क्षयोपराम उद्गीतः क्षीणाक्षीणबस्तवतः ॥ ३॥

उन प्रतिपक्षी वर्मोंकी अत्यन्त कालतकके लिय हानि हो जान। क्षय माना गया है, जैसे कि दवी कीचवाले पानीको दूसरे स्वच्छ पात्रेम बुढेल लेनेपर कीचका अत्यन्ताभाव हो जाता है । कर्मोंकी अवन्तकालतकके लिय हानि हो जानेपर हुआ आत्माका सुविशुद्ध परिणाम ही क्षय पडता है । जैनोंके यहा तुच्छ अभाव कोई पदार्थ नहीं माना गया है । रोगके उपशमसे और रोगके क्षयसे हो जानेवाली आत्माकी विशुद्धिमें भारी अन्तर है । तथा क्षय और उपशम उन दोनोंका तदानक हो रहा परिणाम तो कर्मोंकी कुछ क्षीण और कुछ अक्षीण सामर्थ्य हो जानेसे क्षयोपशम भाव मिश्र कहा गया है । सर्वधाति प्रकृतियोंका उदयाभावक्ष्य क्षय और उन्हींका सदवस्थारूप उपशम तथा प्रतिपक्षी कर्मोंकी गुणको एक देशसे घातनेवाली देशघाति प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षयोपशम परिणाम होता है, जैसे कि कोदो या भागपत्तीको विशेष प्रकार द्वारा धोनेसे उनकी मद (नशा) उत्पादक शक्तियां क्षीण अक्षीण हो जाती है । यहा क्षयोपशममें पडे हुये क्षयका अर्थ अत्यन्त निवृत्ति नहीं है । किन्तु उपशम शद्धका साहचर्ष होनेसे क्षयका अर्थ फल नहीं देकर कर्मोंको प्रदेशोदय होजाना स्वरूप उदयामाव है ।

उदयः फलकारित्वं द्रव्यादिमत्ययद्वयात् । द्रव्यात्मलाभहेतुः स्थात परिणामोनपेक्षिणः ॥ ४॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन बहिरंग और अन्तरंग दोनों निमित्त कारणोंसे विपाकमें प्राप्त हो रहे कमीका फल देना रूप कार्य करना उदय है। अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, कालको बहिरंग कारण मानकर और भावको अन्तरंग निमित्त मानकर जो कमींके फलकी प्राप्ति होना है, वह उदय है। जैसे कि इन्य, क्षेत्र, आदिका प्रसंग मिल जानेपर आम्र बीज या धान्य बीजसे फल प्राप्ति हो जाती है, यावत् कमींमे इन्य, क्षेत्र, काल, भावोंको निमित्त माना गया है। बीजके बिना इक्ष नहीं होता है। योग्य खेतके बिना नंगे पत्थरपर आम्र, गेहूं आदिके पेड उगते नहीं है। उचित अवस्तके बिना अनियत ऋतुओंमें इक्ष, फल, फूल नहीं उपजते है। बीज या शाखाओंका उपयोगी परिणाम हुये बिना इक्ष, फल, फूल नहीं आते हैं। अध्ययन, अर्थोपार्जन, काम पुरुषार्थ, देवार्चन, मोक्ष, इन सब कमांके लिये इन्य आदि चतुष्ट्य आकांक्षणीय है। इसी प्रकार कमोंके फल प्राप्त करानेमें भी इन्य आदि चारों कारण आवश्यक है। तथा जिसका हेतु केवल द्रव्यका आत्मलाम ही है, वह अन्य किसीकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले पदार्थका भाव हो परिणाम कहा जायगा। अर्थात्—अनादिकालीन द्रव्यका आत्मलाम हो रहा ही जिसका हेतु है, जिसके अन्य कोई कमोंके उदय उपश्चम आदिक निमित्त नहीं है, वह इस प्रकरणों परिणाम कहा जाता है।

एतत्प्रयोजना भावाः सर्वीपशमिकादयः । इत्योमशमिकादीनां शब्दानामुपवर्णिता ॥ ५ ॥ निरुक्तिरर्थसामर्थ्याद्ज्ञातुमव्यभिचारिणी । ततोन्यत्राप्रवृत्तत्वात् ज्ञानचारित्रशब्दवत् ॥ ६ ॥

जिन सभी आँपरामिक क्षायिक भावों के पूर्वोक्त उपराम, क्षय, क्षयोपराम, उदय, परिणाम ये भाव प्रयोजन हैं, वे भाव औपरामिक आदिक है। इस प्रकार "तदम्य प्रयोजनं इस अर्थमे ठम् प्रत्यय कर औपरामिक आदि शब्दोंकी व्याकरण शास्त्र अनुसार निरुक्ति कह दी गयी है। शब्द निष्ठ अर्थकी सामध्येस जाननेके लिये निरुक्तिमें कोई व्यभिचार दोप नहीं आता है। क्योंकि धादु, प्रकृति, प्रत्यम, इनके अनुसार बने हुये उस शब्दके यौरीक अर्थसे अतिरिक्त अन्य अर्थोंमें वे शब्द नहीं प्रवर्ति है। जैसे कि पहिले सूत्रमें कहे गये ज्ञान और चारित्र शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे ही अध्यभिचारों अभिन्नेत अर्थ प्राप्त हो जाता है। हां, सम्यग्दरीनका शहनिरुक्ति हारा अर्थ करनेके लिये व्यभिचार दोष आता है। तभी तो श्रीउमास्त्रामी महाराजने सम्यग्दरीनका अभीष्ट अर्थ करनेके लिये व्यास सूत्र "तत्वार्यश्रद्धानं सम्यग्दरीनं " कहा है और सम्यग्नान, सम्यक्ष्यारिश्रका निरुक्तियोंसे हां वर्ष निकाल है। व्यवहारमें लायो, करोडों, शहोका प्रयोग होता है। वहांतक सर्व शहोंके धारिमाजिक अर्थ करते फिरें। बहुमाग यौरिक अर्थोंसे ही शहो हारा बाच्यार्थकी सिद्धि कर ली जाती है। अहां निरुक्तिका व्यभिचार होता है, बहा गो, व्याप्त, बुशाल, आदि शहोको यौगिक नहीं मानकर कहि समझ किया जाता है। अतः उपरामः अश्वानमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर औपरामिक करित समझ किया जाता है। अतः उपरामः अश्वानमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर औपरामिक

आदि शद्वोंको अन्वर्थ साध लेना चाहिये। चुरादिगणकी " मिश्र सम्पर्के" धातुसे अच् प्रत्यय कर मिश्र शद्वको बना लेना चाहिये। द्विगेक शद्वसे लक्षणा द्वारा दो रक्तारवाला जैसे अमर शद्व कह दिया जाता है, वैसे मिश्र शद्व द्वारा क्षायोपशमिक शद्वकी उपस्थिति करते हुये क्षयोपशम शद्वसे ठन् प्रत्यय कर क्षायोपशमिक शद्वकी निरुक्ति साध लेनी चाहिये।

प्रागोपशमिकम्योक्तिर्भव्यस्यानादिसंसृतौ । वर्तमानस्य सम्यक्त्वप्रदृणे तस्य संभवात् ॥ ७ ॥

सभी संसारी जीवोमें साधारण रूपसे पाये जाते हैं, अतः औदियक और पारिणामिकका मूक्षमे पहिले प्रहण होना चाहिये, ऐसी आशंकाकी सम्भावना होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी प्रथम ही समाधान कर देते है कि यह प्रन्थ मोक्षकी शिक्षा देनेवाला मोक्षशास्त्र है। मोक्षका प्रधान कारण सम्यग्दर्शन है, अनादिकालके संसारमे परिश्रमण कर वर्न रहे भव्य जीवके आदिम सम्यक्त प्रहण करनेपर मोक्षोपयोगी सम्पूर्ण भावोंके प्रथम उस औपशामिक सम्यक्वपरिणामका होना सम्भवता है। अतः आदिम सम्यक्वकी अपक्षा सम्पूर्ण भावोमें पहिले औपशमिकका कथन सूत्रकारने किया है।

स्तोकत्वात्सर्वभावेभ्यः स्तोककालत्वतोपि वा । शेषेभ्यः श्वायिकादिभ्यः कथंचिन्न विरुध्यते ॥ ८ ॥ ततस्तु श्वायिकस्योक्तिरमंख्येयगुणत्वतः । भव्यजीवस्वभावत्वस्यापनार्थत्वतोपि च ॥ ९ ॥ श्वायोपशिकस्यातो या संस्वेयगुणत्वतः । युक्तास्ति तद्द्वयात्मत्वाद्भव्येत्तरसमत्वतः ॥ १० ॥ उक्तिरौदयिकस्यातस्तेन जीवाववोधतः । पारिणामिकभावस्य ततीते सर्वनृस्थितेः ॥ ११ ॥

दूसरी बात यह है कि गुणवान् पदार्थीका अल्पपना भी लोकमें आदर प्राप्तिका हेतु है। आदरणीय पदार्थका सबसे पहिले उच्चारण हो जाता है। क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि सम्पूर्ण भावोंसे औपशमिकभाव अत्यन्प हैं। अथवा क्षायिक आदि भावोंसे युक्त हो रहे जीवोंकी अपेक्षा औपशमिक भावोंको धारनेवाले जीव असं न्यातवें भाग या अनन्तवे भाग पाये जा रहे, थोडे है। कवित्, कदाचित् ही पाये जांय ऐसे पदार्थ अञ्चतागार (अजायबंधर) में प्रथम शोभा स्थानपर विराजमान

कर दिये जाते है। अथवा तीसरी बात यह भी है कि दोष बच रहे शायिक, शायोपशमिक आदि चार भावोंसे औपशमिक भावोंका काल थोड़ा है। बहुत कालतक (निहाक होकर) ठहरनेवाले पदार्थीसे थोडी देर ठहरनेवाले (लजाल) पदार्थ पिन्ले नाम पा जाते हैं। इस कारणसे भी चार भावोंमे पहिले औपरामिकभावका कथन करना कैसे भी विरोधकी प्राप्त नहीं होता है। अर्थात्--उपराम सम्यग्दर्शनका उल्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है । अन्तर्मुहूर्त्तमे असंख्यात समय होते है । उतने समयोंमें होनेवाले चारों गतियोंके उपरामसभ्यग्दृष्टि जीव यदि एकत्रित कर लिये जांय तो पल्यके अमंख्यातवें भाग प्रमाण इतने असंख्याते जीव उपशम सम्यग्द्दष्टि पाये जायेंगे । किन्त उपशम-सम्यग्दृष्टियोंसे आवलीका असंख्यातवां भागकप असंख्यातसे गुणे हुये क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव बहुत है। क्योंकि संसारमे स्थितिकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दर्शनका काल अन्तर्महर्त्तसहित आठ वर्ष कमनी दो कोटि पूर्वसे अधिक तेतीस सागर है। अतः असंख्यातगुणे अपने कालमें चारो र तियों के शायिक-सम्बद्धि असंद्यात गणे है । तथा क्षायिकभाववाले जीवोपे श्वायोपयमिक भाववाले जीव असंद्यात-गणे है । जीवद्रव्यों भी संख्या गिनने भी अपेक्षा उक्त व्यवस्था है । विश्वादिके भावों भी गिनती करने पर तो क्षायोपर्शामकभावोंने क्षायिकभाव ही अनन्त गुणे है । औदियक, पारिणामिक भाववाले तो इनमे अनन्त गुणे है । अनन्त निगोदिया जीवोंके कुमितज्ञान, कुश्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, लिश्यां, ये भाव क्षायोपरामिक है । इस अपेक्षासे विचारनेपर तो क्षायोपरामिक और औदायिक भाववालोंकी संख्या समान है। जीवत्व, अस्तित्व, नित्यत्व, आदि कुछ पारिणामिक भावोको सिद्ध परमात्माओमे भी स्वीकार कर हेनेपर औदियक भाववालोमे पारिणामिक भाववान जीवोकी मंख्या बढ जाती है। अतः इन कारिकाओंका यह अभिप्राय है कि रोप भागोसे अस्प और अन्पकाल स्थितिवाला होनेसे औपरामि-कका सबसे प्रथम कथन है। और उस औपशमिककी अपेक्षा अमंख्यात गुणा होनेसे क्षायिकभावका तो उसके पश्चात कथन है। एक बात यह और भी है कि पाच माबोमें औपशमिक और श्वायिक-भाव ये दो जातिके भाव तो भव्य जीवोंके ही स्वभाव है। अभव्य जीवोंमे कथमपि नहीं पाये जाते हैं। इस बातको प्रसिद्ध करना रूप प्रयोजन साधनेके लिये भी औपशमिकके पीछे छगे हाथ क्षायि-कका कथन है। तथा इसके पीछे इन क्षायिकींसे असंख्यात गुणा होनेसे क्षायोपशमिकका जो सूत्र-कारने ५थन किया है वह युक्त है । उन औपशमिक, क्षायिक दोनों भावींका सम्मे न आसक होनेसे भी उम क्षायीपशमिकका झट उनके पीछे कथन करना समुचित है । भव्य और अभन्य जीवोंमे श्वायोपशामिक भाव समानरूपमे निवास करते हैं । इस कारण बाये जानेवाले दो भावोके पीछे शीघ्र भव्य, अभन्य दोनोंमें पाये जानेवाले क्षायोपशमिक भावका कथन करना अनिवार्य हो जाता है। तथा इन तीनके पश्चात् औदियक भावका कथन करना आवड्यक पड जाता है। क्योंकि औदयिकभावोमें गिनायी गयी गतिसे अवातिकमींद्यजनित सभी केष भार्बीका प्रहण हो जाता है। अतः मनुष्यगति, तिर्यगाति, शरीरचेष्टा, उच्चारण, नाडी फडकना,

श्वासि चलता, उष्णस्पर्श, लावण्य, क्रांघ, लेक्या, आदि उन औदियक मार्वोसे जीवका परिक्रान हो जाता है, या करा दिया जाता है। उन चारोंके अन्तमें पुनः पारिणामिक भावका सूत्रकारने उपादान किया है। क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य आदि मंसारी जीवों और मुक्त जीवोंमें भी पारिणामिक भाव स्थित हो रहे है। चैतन्य, जीवल, द्रव्यत्व, अस्तित्व आदि प्रारिणामिक भावोंसे भी जीवका ज्ञान होता है। अतः पहिला हेनु भी यहां कथित लागू हो जाता है।

न चैषां द्वन्द्वनिदेशः सर्वेषां सुरिणा कृतः । क्षायोपशमिकस्येव मिश्रस्य प्रतिपत्तये ॥ १२ ॥ नानर्थकश्च शद्वोसौ मध्ये सूत्रस्य लक्ष्यते । नाष्यंते द्यादिसंयोगजन्मभावोपसंत्रहात् ॥ १३ ॥ क्षायोपशमिकं चांते नोक्तं मध्येत्र युज्यते । प्रनथस्य गौरवाभावादन्यथा तत्प्रसंगतः ॥ १४ ॥ निरवद्यमतः सूत्रं भावपंचकलक्षणम् । प्रस्थापयति निःशेषदुरारेकाविवेकतः ॥ १५ ॥

यहां किसीका आरेका है कि इस मूत्रमें ' औपरामिकक्षायिकों मिश्र:—औदियकपारिणामिकों '' यो पदोंके दुकड़े नहीं कहकर '' चार्ये इन्ह '' इस सूत्र करके पांचों पदोका इन्ह करते हुये श्री उमास्वामी महाराजकों आपरामिकक्षायिकमिश्रादियकपारिणामिका इस प्रकार छप्पनिर्देश करना, चाहिये था। यों कहनेसे दो बार च राद्ध नहीं करना पडता है। इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी कहते है कि औपरामिक और क्षायिक इन दो भावोंसे आतिरिक्त अन्य भावके राध मिश्रपना न बन बैठे, किन्तु क्षय और उपरामका ही मिश्र होकर क्षायोपरामिक बने इसकी प्रतिपत्तिके छिये श्री उमास्वामी आचार्यने इन सब पांचों पदोंका एक साथ इन्ह्यनिर्देश नहीं किया है। अतः एव सूत्रके मध्यमे पड़ा हुआ वह च राद्ध भी व्यर्थ नहीं दीखता है। क्योंकि च राद्धके होते संते ही मिश्र राद्ध करके पूर्वमें कहे गये क्षय और उपरामका अनुकर्षण हो जाता है। अन्तमें घड़ा हुआ दूसरा च राद्ध भी व्यर्थ नहीं है। क्योंकि उस च का अर्थ कण्ठोक्त नहीं कहे गये इनर भावोंका समुचय करना है। जिससे कि दो, तीन, आदि भावोंके संयोगसे उत्तयन हुये सान्विपातिक भावोंका यथायोग्य संग्रह हो जाता है। छन्नीस, छन्तीस, इक्तालीस, इत्यादिक दो आदिके संयोगसे होनेवाले भाव ऋषि आन्नाय अनुसार माने गये है। जैसे कि मनुष्यगित कर्मके उदयसे मनुष्य होता हुआ जीवत्व परिणामको

धारनेवाळा मनुष्य जीव औदियक पारिणामिक द्विसंयोगीभाव है या क्षायिक सम्यग्दिष्ट, श्रुतज्ञानी, यह दि—संयोगी भाव क्षायिक क्षायोपशिमकका सिन्पात है। अथवा उपशांतमोह, क्षायिक सम्यग्दिष्ट, मनुष्य यह त्रिसंयोगी औपशिमक, क्षायिक, औदियेक, इन तीन भावोके समुदायसे जन्य है। तथा क्षीण-कपाय, मितंज्ञानी, भन्य, मनुष्य, यह चतुःसंयोगी भाव क्षायिक, क्षायोपशिमक, पारिणामिक, औदियक, इन चार भावोंके समुदायसे उपन्न हुआ है। इसी प्रकार पांचवां क्षायिक सम्यग्दिष्ट, उपशांतमोह, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, जीव, यह पंच संयोगभाव क्षायिक, औपशिमक, क्षायोपशिमक, औदियिक, पारिणामिक पांचों भावोके सिन्पातसे उपजा है। इन सब सम्पूर्ण भावोंका च शद्वसे संप्रह कर छिया जाता है। पहिले च शद्वकों नहीं कह कर क्षायोपशिमक शद्वके कह देनेसे प्रन्थका गौरव हो जाता है। मिश्रश्च इन तीन वर्णोके स्थानपर क्षायोपशिमक ये छह सस्त्रर वर्ण कहने पढते है। अतः प्रथके गौरव दोपका अभाव हो जानेसे औपशिमक और क्षायिकके अन्तमें और इस सूत्रके मध्यमें क्षायोपशिमक शद्वकों कंठोक्त करनेपर उस प्रन्थ गौरव दोपका प्रसंग बना रहेगा। अतः यह सूत्र पाचों भावोके छक्षणकों निर्दोष होकर बढिया बखान रहा है। क्योंकि समस्त खोटी शंकाओका प्रथग्भाव कर दिया जाता है। अथवा सम्पूर्ण खोटी शंकाओको विवेचनका अवसर ही नहीं रह पाता है।

अथौपशमिकादिभेदसंख्याख्यापनार्थे द्वितीयं सूत्रम्---

अब औपरामिक, क्षायिक, आदि भावोके भेदोकी संख्याको प्रसिद्ध करानेके लिये श्री उमा-स्वामी महाराज दूसरे सूत्रको कहते है।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २॥

पूर्व उक्त औपरामिक आदि भागों के यथाक्रमसे दो, नी, अठारह, इक्कीस, और तीन भेद है। स्मप्दार्थप्रधान समास करनेपर और अर्थके वरासे पूर्वसूत्रोक्त प्रथमान्त पदोंको पष्टी विभक्ति अन्तकर देनेसे अर्थ हो जाता है। किन्तु "न कर्मधारयः स्थान्मत्वर्थीयो बहुन्नीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः" इस नियम अनुसार बहुन्नीहि समासको प्रथम अवसर मिळनेपर तो दो भेदवाळा औपरामिक है। नी भेद बाळा क्षायिक है, इत्यादि यह अर्थ सुन्दर है। अन्यपदार्थप्रधान समास बृत्ति करनेपर तो प्रथमान्त पदोंक साथ ही इस सूत्रका सम्बन्ध कर छेना चाहिये।

द्यादीनां भेदशद्वेन वृत्तिरन्यपदार्थिका । द्वंद्वभाजां भवेदत्र स्वाभिषेतार्थसिद्धितः ॥ १॥

यहां हो च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्व त्रयश्व " द्विनवाष्टादशौर्विंशतित्रयः " इस प्रकार द्वन्द्व समास वृत्तिकी धारनेवाछे द्वि नव आदि शब्दोंकी भेद शब्दके साथ अन्य पदार्थको प्रधान सम-

झानेवाळी बहुन्रीहि समासवृत्ति हो जाय तभी निजको अभीष्ट हो रहे अर्थकी सिद्धि हो सकेगी। अर्थात् पूर्वसूत्रोक्त प्रथमान्त पदोंके साथ इस सूत्रके प्रथमान्त "भेदा" पदका सामानाधिकरण्य बनकर क्रम अनुसार भेदसंख्या गिना दी जाती है।

प्रत्येकं भेदशद्धस्य समाप्तिर्भुजिवन्मता । यथाक्रममिति रूयातेष्यक्रमस्य निराक्रिया ॥ २ ॥

जैसे प्राममें अधिक द्पित कीच कूडा इकडा होनेपर " प्रामीणं रातेन दण्ड्यन्तां " इस राजाइाके अनुसार प्रामनिवासी सम्पूर्ण मनुष्योपर मिलाकर सो रुपयेका दण्ड किया गया है। एक एक
मनुष्यको सो सो रुपयेसे दण्डित नहीं किया गया है, तथा " देवदत्तजिनदत्तागुरुदत्ता भोज्यन्तां "
यहां एक व्यक्तिकी उदर तृषि कहाने योग्य भोजनको तीनोमे बांट दो यह अर्थ अभीष्ट नहीं है।
किन्तु तीनोको न्यारे न्यारे तृतिपूर्वक भरपेट भोजन कराना अर्थ अभीष्ट हो रहा है। अतः भोजनके
समान यहा मूत्रमे द्वि, नव, आदि राद्वोंमेंसे प्रत्येक संख्येय वाच ह राब्दके साथ भेद राब्दकी परिपूर्णरूपसे प्राप्ति हो जाना मानी गयी है। " इन्दादों इन्द्रनते च श्रूयमाणैपदं प्रत्येकमिसम्बध्यते " इस
नियम अनुसार भेद राब्द सक्के साथ लग जाता है। तथा इस सूत्रमें " यथाक्रमम् " इस प्रकार
स्पष्ट कथन करनेपर तो अक्रमका निराकरण भी हो जाता है। अर्थात्—पूर्वमें उच्चारे गये औपशमिकके दो भेद आदि क्रम अनुसार समझे जायेंगे। व्यतिक्रमसे औपशमिकके नो या अठारह भेद अथवा
क्षायिकके तीन या इक्कीस भेद नहीं समझे जा सकेगे।

तथा च सत्येतदुक्तं भवति औपश्चिमको भावो द्विभेदः क्षायिको नवभेदः मिश्रोष्टादशभेदः औदियक एकविंशतिभेदः पारिणामिकस्त्रिभेद इति ॥

एंत्र तिस प्रकार द्वित और प्रत्येक के साथ भेद शहू की समाप्ति कर देने पर तथा यथाक्रम कह देने पर सूत्रकार द्वारा यह मन्तव्य कहा जा चुका होजाता है कि औपशिमक भाव दो भेदवाल है, नो भेदवाला क्षायिक है, अडारह भेदों को धारनेवाला मिश्रभाव है, इक्कीस भेदों को लिये हुवे औदियक भाव है, तीन भेद युक्त पारिणामिक है। यहांतक सूत्रका सन्दर्भित अर्थ श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा संगति प्राप्त कर दिया है।

तत्रीपशमिकभेदद्वयमचिख्यापयिषया तृतीयसूत्रमाह ।

उन द्वितीय अध्यायके सात स्त्रोंमेंसे अव औपशामिक भावके दोनो भेदोंको अच्छा प्रसिद्ध करानेकी अभिलापासे श्री उमाध्यामी महाराज अव तीयरे सूत्रको रपष्ट कहते है ।

सम्यक्तचारित्रे॥ ३॥

अनन्तानुबन्धी कोध, मान, माया, लोभ ४ मिध्यात्व ५ सम्याङ्गिध्यात्व ६ सम्यक्त ७ इन पांच छह या सातों प्रकृतियोंका उपराम होजानेपर औपरामिक सम्यक्त्व भाव उपजता है और चारित्र मोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका उपराम कर देनेपर उपराम चारित्र होता है। औपरामिक भावके ये दो भेद है। एक उपराम सम्यक्त्व दूसरा उपरामचारित्र।

औपश्रमिकस्य द्वी भेदाबित्यभिसंत्रंथः सामर्थ्यात् । तत्र दर्शनमोहस्योपश्रमादौपश्रमिक-सम्यक्त्वं, चारित्रमोहोपश्रमादौपश्रमिकचारित्रं ।

स्त्रमें यद्यपि " हो भेदो " ऐसा कहा नहीं है। तो भी यथाक्रमके अन्ययकी सामर्थ्यसे औपशिमक भावके ये दो भेद है यों उद्देश विधेयदलका दोनों ओरमे सम्बन्ध होजाता है। उन दोनों भेदोमें अनन्तानुबन्धी चार कपायोको साथ रखते हुये दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम हो जानेसे औपशिमक सम्यक्ष्य होता है और स्वकीय पुरुपार्थजन्य परिणामोंद्वारा चारित्र मोहनीय कर्मका अन्तरकरण उपशम होजानेपर उपशम प्रयोजनवाला चारित्र प्रकट हो जाता है। प्रथमापशममम्यक्ष्यके लिए दर्शन मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम और अनन्तानुबन्धी कपायोंका अप्रशस्त उपशम होता है। जहां विविक्षित पौद्रलिक प्रकृति उदय होने भोग्य नहीं होती हुई स्थिति, अनुभाग, शाक्तियोंके उरक्ष्यण, अपकर्पणके अयोग्य होकर संक्रमण होने योग्य भी नहीं होय, वहा उम्प्रकृतिका प्रशस्त उपशम माना जाता है, और जो प्रकृति उदय आने योग्य तो नहीं होय, किन्तु उमका स्थिति या अनुभाग घट वढ जाय अथवा संक्रमण आदि हो सके, वहां उम्प्रकृतिका अप्रशस्त उपशम कहा जाता है। सर्वधाती अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियोंमे स्वस्थान्वरण चारित्र और सम्यक्ष्य इन दोनों गुणोंके विचाननेकी शक्ति है।

दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य चापश्रमः कथं कचिदात्मनि सिद्ध इति चेदुच्यते ।

यहां कोई पण्डित पूर्वपक्ष उठाता है कि किमी किमी आत्माम दर्शनमेहिनीयकर्म और चारित्र-मोहनीय कर्मका उपशम हो जाना किस प्रमाणसे किम प्रकार मिद्र है / बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य करके अनुमान प्रमाण द्वारा उपशमकी सिद्धि कही जाती है।

पुंसि सम्यक्तवारित्रमोहस्योपशमः कचित्। शांतप्रसत्तिसंसिद्धेर्थथा पंकस्य वारिणि॥१॥

किसी एक विवादापन आत्मामें (पक्ष) सम्यक्त्वमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम हो रहा है। (साध्य)। क्योंकि शान्तिको प्राप्त होकर होनेवाळी प्रसन्तताकी मळे प्रकार सिद्धि हो रही है। (हेतु)। जैमे समलज्ञलमें मळके दव जानेपर कीचका उपशम हो रहा है। (अन्वयद्यान्त)। भावार्थ—रोग या दिख्तासे विर जानेपर चित्तमे व्याकुलता उपजती है। किन्तु उनके प्रात्पक्ष औपिव मंत्रप्रयोग, धनप्राप्ति आदि कारणांसे रोग या दिख्ताका उपशम होते हुये।चित्त प्रसन्त हो जाता है। उसी

प्रकार मोहनीयकर्मके उदय होनेपर आत्मामें सम्यग्दर्शन और चारित्र नहीं हो पाते हैं। जलमें कीचके दबजाने समान उक्त कर्मोंका उपशम हो जानेपर देव, शास्त्र, गुरु श्रद्धान या तत्त्वार्थश्रद्धान अथवा स्वानुभूतिस्वरूप सम्यग्दर्शन हो रहा प्रतीत हो जाता है। तथा भोगोंमें उपेक्षा, स्वरूपाचरण, व्रतधारण और बहिरंग अन्तरंग सांसारिक किया निरोधस्य चारित्र हो रहा अनुभूत हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत साध्यके साथ प्रकृत हेतुकी व्याप्तिको अपनी आत्मामें निर्णीत कर विवादप्राप्त पुरुपमें साध्य को साथ लिया जाता है।

यथैव दि जले सपंके कृतश्चित्मसञ्जता सा च साध्यमाना पंकस्योपश्चमे सित भवति नानुपञ्चमे कालुष्यमतीतेः, नापि क्षये, शांतत्विवरोधात् । तथात्मिन सम्यक्त्वचारित्रलक्षणा मसञ्जता सत्येव दर्शनचारित्रमोद्दस्योपश्चमे भवति, नानुपश्चमे, मिध्यात्वासंयमलक्षणकालुष्यो-पल्लब्धेः, । न क्षये, तस्याः शांतत्विवरोधादिति युक्तं पश्चामः ।

कारण कि जिस ही प्रकार कींचसे सहित हो रहे जलमें किसी भी कारणसे स्वच्छता हो जाती है और वह निर्मलता साध्य कोटिपर यदि लाई जाय तो कीचके उपशम (नीचे दव) हो जानेपर हो जाती है। कांचके नहीं उपराम होनेपर तो जलकी प्रसन्नता नहीं साधी (बनाई) जा सकती है। क्योंकि किचके घुल जानेपर तो जलमे मलमिश्रणरूप कलपताकी प्रतीति हो रही है। तथा कीचका समृत्वचूल क्षय हो जानेपर भी वह उपराशम हो जानेपर उपजनेवाली प्रसन्तता नहीं संघपाती है। क्योंकि शांतपनेका विगेध होगा। अर्थात ---प्रतिपक्षका क्षय हो जानेपर क्षायिकभाव भले ही हो जाय, किंतु औपशमिकभाव नहीं हो सकता है। एक मनुष्यका धन सर्वथा निघट गया है। भविष्यकालमें भी धन आनेकी आशा नहीं है। दूसरे मन्ष्यके पाम धन विद्यमान तो है किंत् वर्तमानमें उस धनका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। सम्भवतः भविष्यमें उस धनका उपभोग किया जा सके, यहां पाहिले मनुष्यसे दूमरे पुरुष हे परिणामोंमें महान् अंतर है। पहिल्हेमे क्षीणता है। दूसरेमे चित्तको शांति है। क्षय दशामें शांति होनेका विरोध है। तिस ही प्रकार किसी आत्मामे सम्यक्त स्वरूप और चारित्रस्वरूप प्रसन्नता हो रही है, वह दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्र मोहनीय पौद्ग-लिक कर्मके उपशम होनेपर ही होती है। जबतक उन कर्मीका फल देनेकी सामर्थ्यका प्रकट नहीं होना रूप उपराम नहीं होगा. तबतक आत्मामे वह श्रद्धान और स्वात्मिश्यितिकप प्रसन्नता नहीं प्रगटती है। कर्मीका उपशम नही होनेपर वानी उदय हो जानेपर तो मिध्यादर्शन और असंयमन्दर कल्पपने [पाप] का सम्बेदन होता रहता है । दर्शनमोहनीय या चारित्र मोहनीयके क्षय होनेपर वह उपराम साध्य प्रसन्तता नहीं बन सकती है । क्योंकि उपराम प्रयोजनको धारनेवाकी जीवकी प्रसन्ततामें शांतिका अनुभव है किंतु कर्मीका क्षय हो जानेपर उपजनेवाली जीवकी स्वच्छतामे शांतपनेका विरोध है। क्षायिक भावमें शांतिका अनुभव नहीं होता है। अतः इस उक्त कथनको हम युक्तियोसे लबालब पूर्ण हो रहा देख रहे हैं। कोई कोर कसर नहीं है।

कुतः पुनः पसन्नता तादशी प्रसिद्धात्मन इति चेदिमे ब्रूमहे ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसी पंडितका प्रश्न है कि पूर्व में कहे गये अनुमानका हेतु भला पक्षमें कैसे वर्तता है! बताओ । पक्षमें हेतुके बर्तनेसे वह हेतु आसिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। अतः यहां पृष्टच्य है कि आत्मामे उस प्रकार शान्तिपूर्वक—होनेवाली प्रसन्तता पुनः किस प्रमाणसे प्रसिद्ध कर ली गयी है! जिससे कि हेतुकी सिद्धी होचुकी होय, इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर प्रतिवादिभयंकर हम ये विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानको कहते है। अभिमानी दूसरे कुतर्कीका सकटाक्ष प्रश्न होनेपर विद्वान् वादी द्वारा उत्तर देते समय आत्मगौरवकी रक्षा करते हुये अपनी आत्माको पूज्य समझकर बहु वचनान्त इदं शद्धके साथ अस्मद्र शद्धका सामानाधिकरण्य कर दिया जाता है तभी निरभिमान होता हुआ प्रतिवादी उत्तर सुननेके लिये सादर आभिमुख होकर वार्टीके गाम्भीर्य और अपनी तुच्छन्तिका अनुभव कर पाता है। अन्यथा नहीं। जैसे माता और पुत्रके बचन व्यवहार या दाता और अतिथिका वाक्ष्प्रश्चातिका अनुपम प्रेम या सभाक्ते आदरके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बध है, उसी प्रकार प्रवक्ताके सगौरव सारोप वक्तन्यका प्रतिपादकी प्रबुद्धि होनेके साथ अचिन्त्य कार्यकारणभाव नियत है। इसमे विनय, शिष्टाचार, नीचर्नुत्ति इन गुणोकी क्षिति होजानेकी सम्भावना नहीं है। हम क्या करें परिणामिपरिणाम सम्बध अटल है।

यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्स कृतिश्चित् प्रशाम्यति । तत्र तोये यथा पंकः कतकादिनिमित्ततः ॥ २ ॥

जो पदार्थ जिस किसी पारणामके कलुपता यानी साकुलता (गंदलापन) का हेतु होगा, वह किसी न किमी अनिर्वचनीय विरोधी कारणसे वहां उपशान्त (दव) होजाता है, जैसे कि कीच, घुळे हुये उस मैळे जलमे कतक फल, निर्मली, फिटकिरी, आदिक निमित्त काग्णोंसे घुला हुआ कीचड मळे प्रकार नीचे दवकर बैठ जाता है इस प्रकार अन्वयन्याप्तिपूर्वक हुये, अनुमानद्वारा सम्यक्त्व या चारित्रके प्रतिपक्षी कर्मीकी निजशक्तिका व्यक्त न होना रूप उपशम साध दिया गया है।

न चाभव्यादिकालुष्यहेतुना व्यभिचारिता। कुतिश्चित्कारणात्तस्य प्रशमः साध्यते यथा॥ ३॥ न च तत्प्रशमे किंचिदभव्यस्यास्ति कारणं। तद्भावे तस्ये भव्यत्वप्रसंगादविपक्षता॥ ४॥

यहां कोई उक्त व्याप्तिमे व्याभिचार दोपको उठाता है कि अभव्य अथवा दूर भव्य इस प्रकारके सर्वदा मिथ्यादृष्टि बने रहनेवाले जीवोंकी कलुफ्ताके कारणसे व्याभिचार हुआ। अर्थात्—

अनाचनन्त मिथ्यादृष्टि जीवोंकी कञ्चपताके कारणभूत अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय प्रकृतियोंका भी उपराम हो जाना चाहिये। कोई भी किचडेला जल होय, फिटिकिरी आदिके निमित्तसे उसकी कीचड दब ही जाती है। हेतुदल रह गया और साध्य दल नहीं रहा अतः व्याभिचार हुआ, अब आचार्य समाधान करते है कि यह तो दोप नहीं उठाना । जिस कारणसे कि हमने किसी न किसी प्रतिपक्ष कारणसे उस कलपताके हेतुका प्रशम होना साध्य कोटिमे रखा है. अनायनन्त कालतक मिथ्यादर्शनको धारनेवाले जीवोके उन भन्यत्व, अवःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काललिव आदिक निमित्तोंकी प्राप्ति ही नहीं हो पाती है। अभन्य जीवमे भन्यत्व परिणाम, करणत्रय, नहीं हैं। दूर भन्यको निमित्तोंकी प्राप्तिका अवसर हाथ नहीं लग पाता है। जिन भन्योंका भी संसार अवस्थान काल अर्द्ध पद्धल परिवर्तनसे अधिक अवशिष्ट है उनको भी आजतक कलपताके उपशामक निमित्तोंकी प्राप्ति नहीं हुई है। निमित्तप्राप्ति हो जानेपर कळपताके कारणोंका उपराम हो जानेको हमने व्याप्तिके पेटमें डाला है। अतः हेतुके नहीं ठहरनेपर साध्यका भी नहीं ठहरना यहां घटित हो जाता है। अतः व्यभिचार दोप नहीं आता है। कितनी ही भूमि, पोखर, सरोवर, पर्वत-कन्दराओं आदि अनेक स्थानोंपर किचरैले जल भरे द्वये है। निमित्तकारणोंकी प्राप्तिका अवसर नहीं मिलनेसे वे सपङ्क ही वने रहते हैं । अतः प्रतिकृल कारणोक्ती प्राप्ति हो जानेपर कलुपताका उपराम हो जाना हम साथ रहे है। अभन्य जीवके पास उन कल्लाताके हेत हो रहे कर्मीके प्रशम करनेमें निमित्तभूत कोई कारण नहीं है। यदि अभन्यको भी उन कारणोंक सद्भावकी प्राप्ति मानी जायगी तब तो उसको भव्यपनेका प्रसंग हो जायगा। ऐसी दशामें वह अभव्य जीव तो प्रकत व्याप्तिका विषक्ष नहीं ठहर सकता है अर्थात् अभव्यरूप विषक्षमें साध्यके विना हेतुके ठहर जानेसे व्यभिचार दोत्र उपात्थत किया गया था ''विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः '' यदि अभव्यके भी पांच या सात प्रकृतियोका उपराम होने लगे तब तो व्यभिचार स्थल माने गये अभव्यकी, विपक्षपना न होकर सपक्षता आ ही जाती है । अत: व्यभिचारदोष उठाना ही असंगत होजायगा ।

स्वयं संविद्यमाना वा सम्यक्त्वादिशसन्नता । सिद्धात्र साधयत्येव तन्भोहस्योपशांतताम् ॥ ५ ॥

अथवा कर्मों के उपशमको साधनेका सरल उपाय यह है कि वह सम्यन्दर्शन स्वरूप या उपशमचारित्र रूप इस ढंगकी प्रसन्नता स्वयं हमारी आत्मामे स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा जानी जारही सिद्ध है, वहीं प्रसन्नता यहां किसी विविद्धित अत्मामे उस मोहनीय कर्मके उपशम होजानेको अनुमानद्वारा सिद्ध कर ही देती है। भावार्थ—ज्वर, अर्जाणदोप या मलके दूर होजानेपर आत्मामें जो प्रसन्नता अनुभूत होती है उसीके अनुसार दूरमोंमें भी दोषोंके उपशम होनेपर हुई प्रसन्नताका अनुमान कर लिया जाता है। वैसे ही तत्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अथवा स्वात्मनिष्ठाच्य चारित्रका प्रतिपक्षी

कर्मीके उपराम होनेपर उपजनेकाले स्वसंबेदन कर अन्य जीवोमें मी दर्शन मोहनीय और चारित्र मोह-नीयके उपरामको साथ लिया जाता है।

ततो युक्तिमानौपशमिको भावो दिभदतः।

तिस कारणसे सम्यक्त और चान्त्रि इन दो भेटोंने औपशमिकमात्र युक्तिपूर्ण होता हुआ समझा दिया गया है।

तथा क्षायिको ५वभदः।

तथा दूसरा क्षायिकभाव नौ भेदवाला है।

कथामिति मतिपादनार्थे चतुर्थे सूत्रमाह ।

वह क्षापिक भाव किस प्रकार नो भेदोंको धारण कर रहा है? इस प्रकार जिल्लासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज शिष्यको समीचीन प्रतिपत्ति करानेके लिये दितीय अध्यायमे चौथे सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं। उसको समाझिये।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च॥ ४॥

ज्ञान १ दर्शन २ दान ३ लाभ ४ भोग ५ उपमोग ६ वीर्थ ७ और सम्यक्त्व ८ चारित्र ९ इस प्रकार थे क्षायिकभावके नौ प्रकार है।

च शक्रेन सम्यक्त्वचारित्रे समुचीयते । ज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकज्ञानं केवलं, दर्शना-वरणक्षयात्केवच्दर्शनं, दानान्तरायक्षयादभयदानं, लाभांतरायक्षयाल्लाभः, परमञ्जभपुद्गलादा-नलक्षणः पर्मादारिकशरीरिस्थतिहेतुः, भोगांतरायक्षयाद्भोगः, उपभोगांतरायक्षयादुपभोगः, वीर्यातरायक्षयादनंतर्वार्यं, दर्शनमाहक्षयात्सम्यक्तवं, चारित्रमोहक्षयाचारित्रमिति नवैते क्षायिकभावस्य भेदाः ।

च अत्रयमे कई अर्थोमेंसे यहां प्रकरण अनुसार समुचय अर्थ लिया गया है। इस सूत्रमे कहं गये च शद्ध करके पूर्वसूत्रमें कहं जा चुके सम्यक्य और चारित्रका समुचय (इकड़ा करना) किया जाता है। अतः सात और दो नौ भेद क्षायिक भावके हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थानके आदिमें झानावरण कर्मीका क्षय हो जानेसे क्षय इस प्रयोजनको धारनेवाला सर्वक्र भगवानके केवलज्ञान उत्पत्त हो जाता है। वारहमे गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरणका उदय विश्वमान है। उस समय अवशिष्ट घाती कर्मीको क्षय करनेवाली पर्यायशक्ति प्रकट हो जाती है। वह उत्तर क्षण यानी तेरहवें गुणस्थानके आदि समयमें कर्मीका नाश कर क्षायिकलिययोंको जन्म देती है। दर्शनावरण कर्मके आत्यन्तिक क्षाये सत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदर्शनभाव उपजता है र । दानान्तराय कर्मके क्षयसे अनंत

प्राणियोंका अनुप्रह करनेवाला अभयदान भाव होता है ३ । लाभान्तरायके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक लाभ होता है, जिसका कि स्वकर्तव्य परमौदारिक शरीरकी स्थितिके कारणभूत परमञ्जूम सूक्ष्म अनन्त पदलोंका प्रहण करना है, अर्थात--केवल आहारको छोड चुके केवली मगवानके शारीरिक सम्पत्तिके उपादान कारण असाधारण पद्गल वर्गणाओकी प्राप्ति होते रहना क्षायिक लाभ है। बात यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय थे कर्म आत्माकी पर्यायोंका आवरण करनेवाले हैं। आत्मामें अनाबनन्त जड़े हुये अन्त्रयी गुण हो रहे चेतना और वीर्थ इन दो गुणोंकी थे उपर्युक्त पर्याय है। अतः सूर्यप्रकाशमें गतार्थ हो रहे तारागणोंके प्रकाश समान केवळदर्शनका परिणमन भी युगपत केवलज्ञान आत्मक हो रहा है, जैसे कि सिद्ध अवस्था हो जानेपर एक बीर्य गुणकी शुद्ध एक अनन्तवीर्थ नामक पर्यायमे अनन्तदान, लाभ, भोग, उपभोग इनका अन्तर्भाव या चित्र आत्मक परिणति हो जाती है। क्रोधी, मानी, शोकी, अरतिग्रस्त संसारी जीवोंके भी एक चारित्र गुणकी चितकवरी विभाव परिणानि होती रहती है। एक ज्ञानकी अनेक विकल्पनाओंके समान एक गुणकी चित्रात्मक परिणतियां हो। जातीं है। अनन्त प्राणियों को अनुप्रह देना, शरीर बळाधायक पुद्गलोंका राम होना, पुष्पवृष्टि, सिंहासन आदिका भोगोपभोग होना ये तो सब आनुषंगिक फल हैं। सिद्ध अवस्थामे नहीं भी पाये जांय तो भी क्षायिक भावोंका अनुद्भुत चित्र परिणाम होना अनिवार्य है ४ । तथा भोगान्तराय कर्मोंके क्षासे भगवानके क्षायिक भोगनामक तत्त्व उपजता है ५ । परिपूर्ण उपभोगान्तरायके क्षयसे उपभोग भाव प्राप होता है ६। वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्तवीर्य नामक पर्याय शक्ति उपजती है ७ । दर्शन मोहनीयके क्षयमे क्षायिक सम्यन्दर्शन ८ और चारित्र मोहनीयके क्षयसे क्षायिक चारित्र बन जाता है ९ । यद्यपि चौथेसे सातवेतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यादर्शन तथा बाग्हमेके आदिमें क्षायिक चारित्र अनन्तकालतकके लिये हो चुका है, फिर भी उक्त दो गुणोंमें अन्य घातिया कमी के उदयकी सहचरनासे कुछ प्रासंगिक अपरिपूर्णताये रहीं आती ह तथा उक्त दो गुणोंमें अघाति कर्मीके सम्बंधसे भी त्रुटियां उपज जाती हैं। अतः सम्यादर्शन और चारित्रकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें मानी गयी है। हां इन दो गुणोंके सिवाय शेष केवल ज्ञान, अनन्त वीर्य, सुख, आदि गुण जब व्यक्त उपजते है तमीसे उनकी परिपूर्ण अवस्था हो चुकी रहती है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद एक बार उपजकर पन: घटते बढते नहीं है । अगुरुल्यु गुणें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि वृद्धियां होती हैं। उसके द्वारा अन्य तदायक गुणोंमें भी उत्पाद, व्यय, धीव्य, खरूप सत्त्व माना जाता है सर्वत्र छह गुण हानि और वृद्धियां होती रहें ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार अपने नियत संख्याबाले अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनैवाले वीर्य, सुख आदिसे समझ लेना । इस प्रकार थे नौ क्षायिक भावके भेद बता दिये गये हैं।

कुतः पुनर्ज्ञानावरणादीनां क्षयः सिद्ध इत्याइ।

किसीका प्रश्न है कि ज्ञानाकरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, आदि कर्मीका क्षय भला किस कारणसे अथवा किस प्रमाणसे सिद्ध किया जायगा ! बताओ, ऐभी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानको कहते हैं।

आत्यंतिकः क्षयो ज्ञानदर्शनावरणस्य च । सांतरायप्रपंचस्यानंतशुद्धिप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

अन्तराय कर्मके भेद प्रभेदके विस्तारसे सहित होरहे झानावरण कर्म और दर्शनावरण कर्मका आत्यन्तिक क्षय होरहा है। क्योंकि अनन्तान्त अविभाग प्रतिच्छेदोको धारनेवाली आत्मविद्युद्धिकी प्रमाणोद्वारा सिद्धी होरही है अर्थात्—आत्मामे अनन्त शुद्धिके प्रसिद्ध होजानेसे उसके प्रतिपक्षभूत झानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोका कालद्वय संसर्गावाच्छित्र समूलचूलनाश होजाता है। वर्तमान कालमें भी इन कर्मोका एक अवयव भी शेष नहीं रहता है और भविष्य कालमें भी उक्त धातिया कर्मोका लवमात्र संसर्ग नहीं हो पाना है, जैसे किमी अचूक विशेष प्रतिपक्षो रोगका वर्तमान और भविष्य कालमें अंशमात्र भी शेष नहीं रहता है।

ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणस्य च श्रद्धादर्शनमोद्दस्य चारित्रमोदस्य चांतरायपंचकसद्दित-स्यातुर्यतः क्षयः कचिदस्ति अनंतशुद्धिपसिद्धेः ।

किसी विविक्षित आत्मामे [पक्ष] पांच भेदवाले अन्तराय कर्मसे सहित हो रहे ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म तथा इस सूत्र या कारिकामे पडे हुये च शहरे प्रहण करिये गये दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म इनका अत्यन्त क्षय विद्यमान है। (सा.य)। अनन्तानन्तशुद्धिके अंशोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो जानेसे (हेतु) अर्थात्—इस अनुमानसे किसी तेरहवे गुगस्थानवर्ती आत्मामें या अयोगी गुणस्थानमें अथवा सिद्धप्रमेष्टीमे चातियाकर्मोंका क्षय साथ दिया जाता है। क्षय किसी विविक्षित समयमें प्रारम्भ होकर अनन्ताशलक्त स्थिर रहता है। मृत्यु, वंस, या नाशका एक ही अर्थ है। "सादिरनन्तो चंस"। तिन कर्मोमेंसे अनुन्तानुबन्धी चार और दर्शन मोहन्तीय तीन इन सात मक्कतियोंका क्षय तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व समयमें ही किसी चोथे, पांचथे, छटवे, या सातवें गुणस्थानमें हो चुकता है। करणत्रय विधानहारा अनन्तानुबन्धी कोध, मान, माया लोगोंको अप्रत्याख्याख्याख्यात्वरण आदि बारह कपाय या नोकपायरूप परिणमनस्थरूप विसंयोजन करके प्रशास् आत्म पुरुषार्थकी सामर्थ्यमे अनिवृत्तिकरण कालके संख्यात्वें भागमें कमसे सिध्यात्व, मिश्र, सम्यक्त, प्रकृतियोंका क्षय कर दिया जाता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्यावरण चार, परमाल्यानावरण चार; नपुंसक बेद, खिनेद, हास्यादि छह नो कपाय, पुरुषवेद, संज्वलन कोध, मान, माया, इन बीस प्रकृतियोंका तो नवमे गुणस्थानमें ही क्षय हो चुकता है। दस्कें गुणस्थानमें लोग संव्यलनका क्षत्र हो जाता है। अतः मोहनीयकी अडाईसों प्रकृतियां दशके गुणस्थानके अन्ततक

क्षवं को प्राप्त हो चुकी। नवमें गुणस्थानंक पहिले मांगमें ही दर्शनावरणंकी स्त्यानगृद्धि, निद्रामिद्री, प्रचलप्रचला, इन तीन प्रकृतियोंका क्षय हो चुकता है। बारहवें गुणस्थानके अन्त समयमें ज्ञानावरणंकी पांच, दर्शनावरणंकी शेष छह, अन्तरायकी पांच, इस प्रकार सील्ह प्रकृतियोंका ध्वंस होता हैं। (साध्य)। क्योंकि अनन्त कालतक हो रही शुद्धि की प्रमाणों द्वारा सिद्धी की जाचुकी है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रकी नवासी, नव्येमी वार्तिकों के विवरणमें भी इस हेतुदलका स्पष्टी करण किया है।

तंशाहि--

इस अनुमानमें कहे गये अनन्त शुद्धि की प्रसिद्धिरूप हेतुको पुष्ट करनेके लिये प्रन्थकार अनुमानद्वारा उमीको पुनः सा य कोटिपर लाकर सिद्ध करते हैं जो कि यों प्रसिद्ध ही है। उसकी स्पष्ट समिक्षिये।

शुद्धः प्रकर्षमायाति परमं कचिदात्मनि ।
प्रशृष्टियमाणवृद्धित्वात्कनकादिविशुद्धिवत् ॥ २ ॥
शुद्धिक्षीनादिकस्यात्र जीवस्यास्त्यतिशायिनी ।
भव्यस्य बाधकाभावादिति सिद्धान्तसाधना ॥ ३ ॥
नानैकांतिकमण्येतत्तदशुच्या विभाव्यते ।
तस्या अपि कविनित्सद्धेः प्रकर्षस्य परस्य च ॥ ४ ॥
प्रावसाधितात्र सर्वज्ञज्ञानवृद्धिः प्रमाणतः ।
दर्शनस्य विशुद्धिर्वा तत एवाविनाभुवः ॥ ५ ॥

किसी एक आत्मिमें है। रही क्रान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त्व गुणोंकी छुद्धि (पक्ष) उन्ह्रेष्ट कोटिक प्रकर्प हो प्राप्त हो गती है। (साप्त)। प्रकर्षको प्राप्त हो रही बृद्धिको धारनेवाली होनेसे (हेतु)। सुर्वण, चांदी, रत्न, आदिकी विद्युद्धिके समान (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ जैसे अग्नि संताप या तेवाव अथवा शाण, छेनी आदि कारणोंसे सोना, मोती, हीरा आदिमें बढ रही छुद्धि किसी अवत्थामें उच प्रकृति पे पहुंच जाती है, उसी प्रकार संसारी आत्माओंमें अभ्यास, व्यायाम, आचरणस पत्ति, क्षयोपणम, मानसिक पवित्रता आदि कारणोंसे ज्ञानकी, चारित्रकी उत्तरोत्तर बृद्धि हो रही अनुभून की जाती है। आकाशमें परिमाणके समान वह किसी न किसी जीवमें परमप्रकर्ष पर्यंत बढ जाती है। उसी जीवमें प्रतिपन्नी कर्मोका आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। इस अनुमानमें दिये गये हेतुकी यो पुष्ट कर छेना चाहिये कि किसी निकट भव्य जीवके ज्ञान, दर्शन आदिक गुणोंकी छुद्धि

(पक्ष) शृद्धि होनेके चमत्कारको धारनेवाली है । (साध्य)। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे, (हेतु)। आत्मीय अनुभूत हो रहे सुख या दु:खके समान (द्रप्टान्त) इस प्रकार यहां साधनधर्मकी सिद्धि हो जाती है। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे ही अतीन्द्रिय गहन सिद्धांतोंकी साधना कर की जाती है। पक्षमे हेतु ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। जिस गुण या पर्यायके अंशोंकी शृद्धि प्रकर्षताको प्राप्त हो रही है, वह कहीं न कहीं जाकर पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। इस व्याप्तिमें पडे हुये हेतुका उसकी अशुद्धि करके व्यक्तिचार देनेका विचार भी नहीं करना चाहिये। क्योिक उस अशुद्धिके भी परम प्रकर्षकी किसी आत्मामें मले प्रकार सिद्धि हो रही है। तीव मिध्याद्धि अभव्य जीवके निगोद अवस्थामें ज्ञानादिक की अशुद्धि बढते बढते जघन्यज्ञान, जघन्यवीर्य, और अचारित्रपर पहुंच जाती है। क्षायोपशामिक मितज्ञानकी अतिशयवती हानि केवलज्ञान अवस्थामे पायी जाती है। हमने इस प्रन्थके पूर्व प्रकरणमे ही सर्वज्ञ के ज्ञानकी हुई बृद्धिको प्रमाणोसे सिद्ध करा दिया है। अथ्या तिस ही कारणसे उस ज्ञानके अभिनाभावी दर्शनकी विश्वद्धिका भी साधन हो चुका समझो। '' स्नाचर्थोपरेशो हि '' इस कारिकासे लेकर किन्ती ही कारिकाओ तक पाईले प्रन्थमे हम विवरण लिल चुके हैं। अष्टसहस्रीमे '' दोषावरणयो: हानि '' इस सामन्तमधी कारिकाके विवरणमें भी अच्छा व्याख्यान कर दिया गया है। यो हेतुमालासे कर्मोका क्षय सिद्ध हो जाता है।

तती युक्तः क्षायिको भावा नवभेदः।

तिस कारणमे अनुमानक्ष्य युक्तियोंसे साथ दिया गया श्वायिकभाव नौ प्रकारका समुचित है। यद्यपि जैसे असिद्धन्व औदियकभाव है, उस प्रकार सभी एक सौ अडतालीसो प्रकृतिओंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धन्वभाव भी श्वायिक है, तथापि साधारण होनेसे सिद्धन्वभावको कण्ठोक्त नहीं गिनाया है। विशेषोंका कथन कर देनेपर उनमें साधारणक्ष्यसे ठहरा हुआ सामान्य तो विना कहे ही आ टपकता है।

क्षायोपशिम क्रां अष्टादशभेदः कथिपति तत्मतिपादनार्थे पंचमं सूत्रमाह ।

तीसरे क्षायोपशमिकभावके अठारह मेद किस प्रकार है ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर उन क्षयोपशम प्रयोजनको धारनेवाले जीवतत्त्र्वोकी शिष्योंके प्रति प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामा गहागज द्वितीयाःयायमें पांचवें सूत्रका परिभाषण कर रहे हैं।

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त-चारित्रसंयमासयमाश्च ॥ ५ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विभंग ये तीन अज्ञान तथा चक्षुदर्शन, अचक्रुदर्शन, अवधि दर्शन ये तीन श्रकारके दर्शन एवं दान, छाम, भोग, उपभोग, वीर्य ये पांच ळिन्धयां इस ढंगसे पिण्ड भावोंके पन्द्रह भेद हुये तथा देशघाति सम्यक्त प्रकृतिका उदय होनेपर चौथेसे सातवें गुणस्थानतक पाया जानेवाळा वेदक सम्यक्त्व तथा संज्वलनकी चौकडीमेंसे किसी एकका और नो कषायोंमेंसे यथासम्भव तीन, चार, पांच प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षायोपशिमक चारित्र होता है। एवं पांचवें गुणस्थानमें पाया जानेवाळा संयमासंयमरूप भाव है, इस प्रकार पन्द्रह और तीन यों अठारह भेद क्षायोपशिमक भावके है।

वत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च इति चतुिस्तित्रिपंच एते भेदा यासां ताश्चतुिस्तित्रपंचभेदाः। कास्ताः है ज्ञानाङ्गानदर्शनळव्धयः। यथाक्रमित्यनुवर्तते तेनैवमभिसंबंधः कर्तव्यः। ज्ञानं चतुर्भेदं, अज्ञानं त्रिभेदं दर्शनं त्रिभेदं, ळाब्धः पंचभेदा, सम्यत्वचारित्र—संयमासंयमाश्च त्रयः क्षायापश्चमिकभावस्याष्टादशभेदा इति।

ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लिन्ध, इनका इतरेतर योग समासकर पुनः चार और तीन तथा तीन पुनश्च पांच इन संख्यावाचक पदोंका द्वन्द्व करते हुये मेद पदके साथ बहुनीहि समासद्वारा यथाकम मम्बन्ध करलेना चाहिये। उसका अर्थ यह होता है कि जिन ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, किवयों के चार, तीन, पांच, इस प्रकार भेद है वे यथाक्रमभे चार भेदवाला ज्ञान, तीन भेदवाला अज्ञान, तीन भेदवाला दर्शन, और पांच भेदवाली लिन्धयां हैं। वे भेदवाले पदार्थ कौन है ? इसका उत्तर पूर्व उदेश्य दलमें पडी हुयी ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लिन्धयां है। दूसरे सूत्रमें से यथाक्रम इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस करके पदोक्ता अन्वय कर इस प्रकार उदेश्य विधेय दलोंका दोनों ओरसे यों सम्बन्ध करलेना चाहिये कि जिसके चार भेद है ऐसा ज्ञानतत्त्व क्षायोपशामिक है, तीन भेदवाला अज्ञान क्षायोपशमिक है, मिश्रमावदर्शन तीन भेदोंको धारता है, लिन्धयां पांच भेदोंको धार रही है और वेदकसम्यक्त्व और छटे, सातवें, गुणस्थानोंमे वर्तरहा क्षयोपशम चारित्र तथा त्रसवधत्यागरूप संयम और स्थावरवधका अत्यागरूप असंयम इस प्रकार कारिपय मनुष्य और तिर्थेच सम्यन्दिष्टियोंके पांचवें गुणस्थानमें हो रहा संयमासंयम भाव है। ये पिछले तीन भाव अपिण्ड हैं। इस प्रकार क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद हो जाते है।

मत्यादिक्रानावरणचतुष्ट्रयस्य मत्यक्रानाद्यावरणत्रयस्य चक्षुर्दर्शनाद्यावरणत्रयस्य च दानांतरा-यादिपंचकस्य दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य संयमासंयमगोहस्य च क्षयोपश्चमादुपजायमानत्वात् ।

मति आदि चार झानोंका आवरण करनेवाले मतिज्ञानारवण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण इन चारों कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रहे होनेके कारण चार भेदवाला ज्ञान है और कुमति आदि जीवमाबोंको रोकनेवाले कुमतिज्ञानावरण, कुश्रुतज्ञानावरण, विमंगज्ञानावरण, इन तीन अवयववाली कर्म प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हो रहा होनेके कारण अज्ञानके तीन भेद हैं। यहां अज्ञानमें नज्ञा अर्थ पर्युदास है। ज्ञान यानी समीचीन ज्ञानोंसे मिल होते हुये उन प्रमाणात्मक पांच ज्ञानोंके सहरा हो रहे मात्र आत्मक तीन मिथ्याञ्चान भाव तो कुज्ञान हैं। यद्यपि सुमित या कुमितिको रोकनेवाला मिर्तिज्ञानावरण एक ही है। फिर भी सम्यक्त्य और मिथ्यात्वके सहचर भावसे उनमें भेद पड जाता है। तथा चेश्चर्दर्शन आदि भावोंको निवारनेवाले चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण इन तीन उत्तर प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उपज रहा अदर्शनभाव क्षायोपशमिक है। विशेष यह है कि अवधिज्ञानके पहिले अवधिदर्शन होता है। विभंगाज्ञानके पूर्वमें तो मितिज्ञान या श्रुतज्ञान है। हां, उन ज्ञानोंके पूर्व या पूर्व पूर्वमे अचक्षद्रर्शन है। मनःप्रयम्बान और विभंगज्ञान दोनोंके अव्यवहित पूर्वमें दर्शन नहीं है। हां दोनोंके पूर्ववर्ती ज्ञानके पहिले
अचक्षद्र्र्शन पाया जाता है। अतः विभंग और मनःपर्ययको भी परम्परासे दर्शनपूर्वक मान लेते हैं।
जैसे कि मितिज्ञानपूर्वक हुये श्रुतज्ञानके अव्यवहित पूर्वमें कोई दर्शन नहीं है। यहां भी परम्परासे दर्शनको पूर्ववर्ती इष्ट किया गया है। श्रुतपूर्वक हुये श्रुतज्ञानमें या उसकी धाराओंमें तो तीन, चार, दश,
बीस, कोटिके व्यवधानको लिये हुये पूर्ववर्ती दर्शन माना गया है। तथा दानान्तराय, लाभान्तराय आदि पांच कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रही लिखयां क्षायोपशमिक है। दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय और संयमासंयम मोहनीय कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रही लिख्यां क्षायोपशमिक है। दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय और संयमासंयम मोहनीय कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रही होनेके कारण अंतके तिनभाव क्षायोपशमिक हैं।

कुतः पुनरयं मिश्रो भावः स्यादिति चेत् मतिक्वानावरणादिसर्वधातिस्पर्धकानामुद्यक्षया-तेषामव सदुपन्नमात्तदेशघातिस्पर्धकानामुद्यात् क्षायोपशमिको भावः।

फिर यह तीसरा भाव मिश्र यानी दो, तीनका मिला हुआ परिणाम किस ढंगसे है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर तो हम जैनोंका यह उत्तर है कि सर्वधातिस्पर्धकोंका उदय क्षय अर्थात्---द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार उदयमें आकर आत्माके अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आत्माको फल दिये त्रिना ही प्रदेशोदय हो जानारूप क्षय है, अथवा ब्रन्यादि चतुष्टयकी योग्यता न मिलनेसे प्रतिपक्षी कर्मीके उदयका अभाव हो जान। ही यहां क्षय शद्धसे अभिप्रेत है । क्षयोपशम भावमें आत्यन्तिक मिवृत्त हो जानारूप क्षय नहीं पकडा गया है।क्षयोपरामें पडे हुये उपराम राह्नसे इस समय उदयमें नहीं प्राप्त हो रहे किन्तु भविण्यकालमें उदय कोटिपर आनेवाले सर्वचातिम्पर्द्धकोंका वहांका वहीं सत्तारूपसे अवस्थित पडे रहना रूप उपशम लिया गया है। अन्यथा उदीरणाका कारण मिल जानेंसे भविष्यमें उदय आनेवाली प्रकृतियोंका उदय हो जाना सम्भवता है, ऐसी दशामें " सब गुड गोबर न हो जाय '' इसिलिये पारिणामिक पुरुषार्थ बळसे उनका उपशम बनाये रहना आवश्यक पढ गया है। क्षयोपशम शद्भमें यद्यपि उदय नहीं कहा गया है। फिर भी " तन्मच्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस परिभाषाके अनुसार देशघानिप्रकृतियोंका उदय भी इस गुणमें माना जाता है। अतः विवक्षित गणकी सर्वघातिप्रकृतियोंके उदयक्षय और भविष्यमें उदय आनेवाली उन्होंके सदयस्थारूप उपराम तथा देशचातिके उदय ऐसी सामग्रीके मिळनेपर आत्मामें अन्यक्तपुरूषार्थजन्य क्षायोपशमिकभाव उपजता है । क्षायोपशमिकमावका स्वतंत्र कत्ती आत्मा तो उपादान कारण है, और क्षय, उपशम, उदय, वे कर्मीकी अवस्थायें निमित्त हैं। " पुग्गलकम्मादीणं कत्ता न्यवहारदो " इस सिद्धान्त अनुसार आत्माके

बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थसे उत्पन्न हुये सम्पूर्ण भावोंमें आत्माको कर्जापन प्राप्त है । चौदहवें गुणस्थानके अन्त सायके पश्चात हुई सिद्ध अवस्थामें तो सर्वदा ग्रुद्ध पुरुषार्थजन्य केवलज्ञान, सिद्धत्व, सुर्यक्त, अनन्तवीर्य, जीवल आदिक भावोंका कत्ती आत्मा है, सिद्ध अवस्थावाळी मोक्ष तो चारों पुरुषार्थीमें सबसे बडा परम पुरुषार्थ माना गया है । न्यायपूर्वक भोगोंका भोगनारूप कामपुरुषार्थ, समुचित आजीविकाके उपायो द्वारा धन उपार्जन करनारूप अर्थपुरुषार्थ और दान, पूजन, अध्ययन, ध्यान, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, गृप्ति, सामिति, सामायिक, आदि कियाओं या परिणामोंको करनारूप धर्मपरुषार्थ इनसे अत्यधिक पुरुषार्थपूर्वकभाव सिद्ध भगवानके हो रहे हैं। संसारी जीवोके दशवें गुपास्थानतक कृतिपयभाव इच्छापूर्वक पाये जाते हैं । उनका दृष्टान्त पाकर सभी आत्माके परिस्पन्द और अपरिश्यन्द आत्मक पिरणामोंमें भी इच्छाको कारण माननेकी सभ्मावना करना मुद्धता है। भोजन किये गये अन्त, दुग्ध आदिमें आहार वर्गणायें बहुभाग पायी जाती हैं। स्वतंत्र या कुछ कुछ कर्मोंके अभीन हो रहा यह आत्मा पुरुषार्थ द्वारा उनका रस, रुधिर, मांस आदि बनता है। उनको शरीरके यथोचित भागोमे भेजता है। बालोंको उगाता है, फोड़ा होनेपर औपधिके निमित्तमे अथवा छोटी छोटी फ़ंसियां या मक्की, खटमलोंके घावोंको यों ही विना औष्रिधियोंके पूर देता है। हंसना, छींकना, स्वास लेना, रक्तसंचार करना आदि सभी क्रियाये प्रकार्ध जन्य हैं। सभी प्रयत्नोंमें इच्छायें कारण नहीं हैं। शरीरसे बहुत परिश्रम करनेवाले किसानकी अपेक्षा यदि बढिया व्याख्यान करनेवाला पण्डित अधिक पुरुषार्थी है और उस व्याख्याताकी अपेक्षा मुकदमा जितानेके छिये अत्यधिक मानसिक परिश्रम कर रहा क्कील यदि अति पुरुषार्थी माना जाता है तो उपशमक्षपक श्रेणियोंमे प्रयत्न कर बनाये जारहे साविक्सय विचार आत्मक श्रवज्ञानोंकी भारा प्रवाहस्वरूप शुक्रध्यानमें चित्तको लगानेवाले जीव बडे भारी पुरुषार्थी कहना चाहिये। अतः मोक्षके साधन या संवरनिर्जराके कारण हो रहे आठवे. नक्यें, दशबें, म्यारहवें, बारहवें गुणस्थानोंके परिणामोंमे जितना पुरुषार्थ आवज्यक है उससे भी कहीं अधिक तेरहवें गुणस्थानमें चलते, उपदेश देते और अन्तमें सुक्ष्मिकया करते समय पुरुषार्ध करना अनिवार्थ है। इससे भी कहीं अधिक चौदहवें गुणस्थानमें प्रयत्न करना पडता है तभी पिचासी प्रकृतियोका नारा हो पाता है। यहां इच्छायें सर्वथा नहीं है। सिद्ध अवस्थामें तो अनन्त काळतक के लिये परमपुरुषार्थ करना अत्यावस्थक हो जाता है। इच्छाके साथ पुरुषार्थका कार्यकारणभाव सतनेपर अन्वयन्यभिचार हो रहे देखे जाते हैं । चक्कू या कांचके गढ जानेसे शरीरमें रक्तके बहनेपर अथवा बळात्कारकी मळमूत्रबाधा उपस्थित हो जातेपर या ज्वरकी अवस्थामें अथवा पांव रपट जाने या गोन्नस्वकृत होनेपर हये कितने ही इच्छापूर्वक पुरुषार्थीको शरीरप्रकृति अनुसार परतंत्र परिस्थितिवश द्वये अनिच्छापूर्वक पुरुषार्थं नष्ट कर अनचीते कार्योको साध देते हैं। अर्थात्— रक्तको रोकने अथवा ज्यर (बुखार) के रोकनेवाले इच्छापूर्वक पुरुषार्थीका व्यापार नहीं हो पाता है, और आत्माके अनिच्छापर्वक प्रकार्थींसे मल निकल जाता है, ज्वर चढ आता है, रक्त बहता रहता

है, पांव रपट जाता है। किसी विवक्षित शद्धके बोल्नेकी इच्छा होनेषर दूसरा ही अविवक्षित शद्ध मुखसे निकल पडता है। कर्मफलचेतना की अवस्थामें भी एकन्द्रिय, हीन्द्रिय आदि जीवोंको पुरुषार्थ करना अनियार्थ है। भले ही उस पुरुषार्थको करनेमें कर्मीद्वारा होनेवाली पराधीनता प्रेरक होय. किन्त प्रयत्न तो आत्माको ही करना पडता है। घोडेके अनुसार अञ्चवारको जो प्रयत्न करने पडते हैं। उनका प्रेरक निमित्त घोडा है, किन्तु पुरुापार्थीका कत्ती अञ्चवार है एवं अञ्चवारके निमित्तसे घोडेको जो प्रयत्न करने पडते हैं उन प्ररुपार्थोंको सम्पादन करनेवाला स्वतंत्र कर्ता घोडा है। " देवदत्तः दात्रेण छनाति " देवदत्त हैसियासे फलको छेदता है, यहां कारण या कारणोंकी उपस्थिती होनेपर भी देवदत्तका स्वतंत्र कर्त्तापन तो निमित्त कारणों करके नहीं छीन लिया जाता है। बात यह है कि स्ववंत्र हो या परतंत्र हो आत्माको स्वकीय संपूर्ण परिणामोंको बनानेमें पुरुषार्थ करना पडता है। इसी प्रकार जड पदार्थ भी जगतमें बहुतसे कार्योको करता है। आत्माके वैसे परिणामोंको पुरुषार्थ या प्रयत्न कहते हैं और पुद्गल या अन्य द्रन्योंके तादश परिणामोंको वीर्य, शक्ति, आदिसे व्यवहार करते हैं । सूर्यकी घाम, चन्द्रमाकी चांदनी, ऋतुऐं मेघ जल ये अनेक कार्योंको कर रहे हैं । भीत या सोटे छनको डाट रही हैं, खाट या काष्ट्रासन ऊपर बैठे हुये मनुष्यको साध रहा है, जमाल गोटा पेटके मलको खुरच रहा है, कीचलिपिटी तृंबीमेंसे धीरे धीरे कीचको छुडाकर जल तुंबीको ऊपर जलप्रदेशमें उछाल रहा है, जल नावको सरका रहा है, आदि कार्य भी द्रव्योंके निजवीर्य द्वारा सम्पादित हो रहे हैं । जिन जड द्रव्योंमें कि कथमपि इच्छा की सम्भावना नहीं है, यहां प्रक-रणमें क्षयोपराम भावको बनानेमें आत्माका पुरुषार्थ होना आवश्यक है । हां, आत्माको अपनी प्रकृति अनुसार फल देनेके लिये हुये कर्मोंके पक्व परिणामके सम्पादक तो कर्म ही हैं। आत्मकृत निज भावोंके निमित्त कारण कर्म हो जाते है । और कर्मकृत उन कर्मीके परिणामोंके निमित्तकारण आत्मीय भाव हो जाते हैं। क्षायोपरामिक भावोंको बनानेमें आत्मा तो पुरुपार्थ करता ही है। किन्त साथमें द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, या आत्मपरिणामको निमित्त पाकर जब कमीकी क्षयोपशम भावको बनानेके अनुकूल विशेष अवस्था होगी तभी वे कर्म क्षायोपशमिक भावोंके निमित्त हो सकते हैं। पेटमें जाकर हुई औपिथिकी विशेष अवस्था ही उदररोगनिवृत्तिका निमित्त है। यहां मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षदर्शनावरण, दानान्तराय आदि कर्मीक सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयक्षय होजानेस और उनहींके भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वधातिस्पर्धकोंका सत्तामें बने रहने रूप उपशम होजानेसे तथा देशधाति स्पर्दकोके उदयसे आत्माकें क्षायोपशमिक भाव निपजता है। यद्यपि मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियां देशघाति हैं । फिर भी देशघातिओंमें सर्वघातिस्पर्द्धक पाये जाते हैं । अतः आत्मीयगुणको पूर्ण रूपसे धातनेवाले कर्मीकी उदय, उदीरणायें, नहीं होनी चाहिये, तभी क्षायोपशमिक भाव निष्पन्न होगा।

र्कि पुनः स्पर्धका नाम १ अविभागपरिच्छित्रकर्मप्रदेशरसभागप्रचयपंक्तेः क्रमशृद्धिः क्रमशृतिः स्पर्दकं कर्मस्कंधशक्तिविशेषः ।

फिर यह बताओ कि स्पर्कक मळा <u>क्या पदार्थ है</u>? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि शक्ति या पर्यायके अंशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। " अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उड्ढी पएसाणं " ऐसा गोम्मटसारमें कहा है। रूप, रस, ज्ञान, सुख, आदिके वस्तुभित्तिपर अंशोंकी कल्पना कर पूरी संख्याओंमें गिननेका उपाय अत्रिमाग प्रतिच्छेद है। पौद्रलिक कर्मीमे आत्माको रस देनेकी शाक्तिके अंश भी अविमाग प्रतिच्छेदोंद्वारा न्यारे न्यारे पंक्तियोंमें विभाजित किये जाते हैं। अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त होरहे कर्मपरमाणुओं के रसभागकी प्रचयपंड्लिका क्रमसे बढना या क्रमसे घटना जिन पिण्डोंमे पाया जाता है वह कार्मण स्कन्वेंका यथानाम शक्तिविशेषोंको धाररहा कर्म समदाय स्पर्द्रक कहा जाता है। मोटी मिरचकी अपेक्षा छोटी मिरचमें अल्प परिमाण होते हुये भी चिरपिरे रसके शक्ति अंश अधिक माने गये हैं। अपनी अपनी आत्मामें सर्वांग व्यापरहे निगोदिया जीवके ज्ञानसे संज्ञी जीवके ज्ञानमें प्रतिभासक अंश अनन्त गुणे हैं। हाथीकी अपेक्षा सिंहमें साहसके अंश बढ़े हुये हैं। इसी प्रकार संसारी जीवोंके प्रतिक्षण उदयमें अरहे कर्मीकी फलदानशाक्तिओंके भी अंशकपायानुसार न्यून, अधिक, संख्यामें नियत होरहे हैं। छोटेसे छोटे भी संसारी जीवके अभन्योंसे अनन्तगुणे कर्मप्रदेश प्रतिक्षण उदयमें आते हैं और बडीसे बडी अवगाहनावाले मत्स्यके भी सिद्ध राशिके अनन्तमें भाग कर्मप्रदेश उदय प्राप्त होते हैं। जवन्य और उत्कृष्ट मध्यवर्ती अनन्त भेदोंको धारनेवाळे अनन्तानन्त जीव है । अभन्य राशिसे अनन्त गुणी इस संख्यासे सिद्ध राशिका अनन्तवां भाग यह संख्या बडी है। कारणोंके वश अविभाग प्रतिच्छेदोंमें छह स्थानवालीं हानिवृद्धियां होतीं रहतीं हैं । ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि या बृद्धि करते समय संख्यात पदसे उन्कृतसंख्यात और असंख्यात संख्यास जिनदृष्ट असंख्यात गुणे लोकप्रदेश तथा अनन्त शहसे जीवराशिरूप अनन्तानन्त पकडा गया है। किसी गुणमें उक्त संख्यासे न्यून या अधिक संख्याको छेकर भी हानिवृद्धियां सम्भावित हैं। रसके अंशोंमें जितनी अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्याका न्यूनाधिकपना है उतना तारतम्य गन्धमें नहीं पाया जाता है । ज्ञान गुणमें जितना जघन्य अंशोंकी बृद्धिस्वरूप अविभाग प्रतिच्छेदोंका हानिवृद्धि भाव है उतना सुख या अस्तित्व गुणमें नहीं पाया जाता है। अन्तरंग कारण कपायोंके तीव, मन्द्र, ज्ञात, अज्ञात परिणामोंकी अपेक्षा और बहिरंग कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, अधिकारी जीव, वीर्य, आदि परिस्थितीके अनुसार एक जातिके कर्मीमें फलदान दाक्तिके अंशोंकी विचित्रतायें मानली जाती हैं। जैसे कि लब्यपर्याप्तक निर्गोदियासम्बन्धी सबसे छोटी श्रेणीक जघन्य ज्ञानमें आकाश प्रदेशोंसे भी अनन्तानन्त गुणे इतने अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। क्योंकि उसी लब्ब्यपर्याप्तक निगोदियाके जन्मके प्रथम समयमें होनेवाळे जघन्यज्ञानसे द्वितीयसमयमें ज्ञानकी वृद्धि उस ज्ञानके अनन्तवें भागरूप हैं। अतः पूरी संख्याओं में कथन करनेकी विवक्षा होनेपर उस बृद्धिके अंशको यदि एक मानलिया तो पहिले समयका मूलज्ञान उससे अनन्तानन्तगुणा होता हुआ, अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद्धेक धारने-वाला कहा जायगा और दूसरे समयके ज्ञानके एक अधिक अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद माने 4

जाते हैं। इसी प्रकार सबसे छोटी कमीकी फलदानशक्तिके अविभागप्रतिब्छेद भी अनन्त हैं। यद्यपि उतनी संख्या कभी कम नहीं होती है । फिर भी ऊपरकी श्रेणियोंमें शाक्तिके अंशोंकी घृद्धि इतनी थोडी है कि उसको एक मान छेनेपर सबसे कम अनुभागशक्तिको धारनेवाछे कमीमें रसशक्तिके अवि-भागप्रतिच्छेद अनन्तानन्त ही गिने जा सकते हैं । सबसे न्यून जघन्य गुणोंको धारनेवाले प्रदेशको पश्रडलो, उसके अनुभाग अंशोंको बुद्धिके द्वारा छेद करते करते उतने बार टुकडे कर डालो, जिससे कि पुनः छोटा विभाग न हो सके । वे अविभाग प्रतिच्छेद जीवराशिसे अनन्तगुणी संख्यामें बैठेंगे । उतनी उतनी संख्याको धारनेवाले प्रदेशोंकी एकराशि कर ली जाय, इन सब परमाणुओंके समदायको वर्गणा कहते है । इसके आगे अविभाग प्रतिच्छेदोंको बढाते हुये राशिको बनाकर उत्तरीत्तर वर्गणायें बना लेनी चाहिथे। इस प्रकार कमद्दादि और कम हानिसे युक्त हो रही वर्गण।पंक्तियोंका समुदाय स्पर्धक कहा जाता है। समगुणवाले परमाणुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं। और वर्गणाओंके समदायको स्पर्वक कहते है। एक जीवके एक समयमें अनन्तरपर्वकोंका उदय हो जाता है। पिंडकी अपेक्षा उसे एक स्पर्ध में कह सकते हैं। अर्थात्—अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाले परमाण वर्ग कहे जाते है। अनन्तवर्गीकी एक वर्गणा होती है। अनन्तवर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है। और अनन्तरपर्धक एक समयमें उदय आते हैं। किये हुये भोजनका भी प्रतिक्षण उदरामिक द्वारा एक मोटा स्कन्ध उदयमें आता रहता है । अटमी या चौदसको उपवास करना केवल मुखद्वारसे कव-लाहारका त्याग करना मात्र है। अन्तरंगकी उदराग्निके लिये तो भोज्य, पान, की सतत आवश्यकता है । कर्म और नोकर्मीका सर्वदा एक समयप्रबद्ध बन्धको प्राप्त होता रहता है । और एक निषेक उदयमें प्राप्त होता रहता है । पुद्रलके कार्यीकी अनेक प्रकार जातियां हैं । मति ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपराम या उदय अथवा क्षय होता है । सदवस्थारूप उपराम होते हुये भी इनका औपरामिक भाव नहीं बन सकता है। क्योंकि बारहमें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी देशघातिओंका उदय सर्वदा विद्यमान है। जैसे कि नाकतक ट्रंसकर जीम छेनेपर भी पान, सुपारी, पाचनचूर्ण, श्वासीछवास छेनेके छिये िकता [गुंजाइरा] बनी रहती है । अतः ज्ञानावरणके उदय, क्षयोपराम और क्षय ये तीन भाव हैं | हां, मोहनीयके उपरामको मिलाकर चारों भाव हो सकते है | शक्ति विशेषोंको धार रहे कर्म-स्कन्धोंके स्पर्दक आत्मामें अनेक जातिवाले हैं । ऐसे पौद्रलिक पिण्डोंको यहां प्रकरणमें स्पर्दक माना गया है।

संक्रित्वसम्यग्मिथ्यात्वयोगानां ज्ञानसम्यक्त्वलन्धिष्वंतभीवास पृथगुपादानं ।

मनको धारनेवाळे संज्ञीजीवोंके पाया जानेवाळा संज्ञित्वभाव और तीसरे गुणस्थानमें पाया जानेवाळा सम्यक्मिध्यात्वभाव तथा कायवाङ्मनःकर्मरूप योग इन तीन भावोंका तो ज्ञान, सम्यक्त्व और लिध्योंमें अंतर्भाव हो जानेसे श्री उमास्यामी महाराजने सूत्रमें कण्ठोक्त पृथक् प्रहण नहीं किया है अर्थात्—नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्वये संज्ञीपनका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विचार करनेवाले लिब्ध या उपयोग रूप मानस मतिक्वानस्वरूपभाव ही तो संज्ञीपन है। " णोइन्दिय आवरणखओवसमं तज्जवोहणं सण्णा. सा जस्स सो द सण्णी इदरो सेसिंदि अवबोहो '' तथा जात्यन्तर सर्वघाती सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेपर हुआ सम्यग्मिथ्यात्वभाव तो सम्यक्त परिणाममें गर्भित हो जाता है। देखिये छताभाग पूरा और दारुभागका अनन्तवां भाग इतना तो देशघाती प्रकृतिका इय्य कहा जाता है। शेष दारुके अनन्त बहुभाग और अस्थिभाग, शैल्माग, ये सर्वघाती स्पर्दक हैं। किंतु दारुभाग के बचे हुये बहुभाग के अनन्तर्वे भाग प्रमाण न्यारी जातिवाले मिश्र प्रकृतिके सर्व-घाती स्पर्केक हैं । अतः देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिके अति निकटवर्त्ती होनेसे तज्जन्य सम्यग्मिष्यात्व भावका सम्यक्त भावमें अन्तर्भाव करलेना समुचित है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है। ''देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारू अणंतिमे मिस्सं, सेसा अणन्तभागा अहिसिलाफद्वया मिच्छे " इसी प्रकार अंतरायके क्षयोपशमको निमित्त पाकर आत्माके पुरुषार्थ द्वारा वीर्यभाव उपजता है। और मन वचन कायके अवलम्बसे आत्माका सकम्प होना भी एक पुरुषार्थ है। वीर्य और योग आत्माकी दोनो शक्तियां हैं । इतना अधस्य है कि सिद्ध अवस्थामें क्षायोपशमिक वीर्यका होता हुआ भी क्षापिक बीर्य बना रहता है, किन्तु सकस्पपना रूप योग चौदहवे गुणस्थान और सिद्ध अवस्थामें सर्वथा नहीं है। योगस्वरूपमाव क्षायिक नहीं हो सकता है। किसी अंशमे '' प्रगालविवाइदेहोदयेण मणवयण कायजुत्तस्स, जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागम कारणं जोगो '' इस गाथाके अनुसार भावयोगको भले ही औदियक कह दिया जाय । किन्तु मोक्ष अवस्थामें कोई सा भी योग नहीं रहता है। अतः उक्त अठारह भेदोंसे कथंचित भिन्न हो गये भी संक्षित्व, सम्यग्मिध्यात्व, योग, इन तीन भावोंका यथाक्रमसे ज्ञान, सम्यक्त्व, और लब्धियोंमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये, संक्षेपसे सूत्र रचना करनेवाले उमास्वामी महाराजको इतने थोडे थोडे अन्तरसे न्यारे न्यारे भावोंकी गणना करना अभीष्ट नहीं है ।

कुतः पुनः क्षयोपश्चमः कर्मणां सिद्ध इत्याह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि महाराज फिर यह बताओ कि कर्मीका क्षयोपशम होना भला किस प्रमाणसे सिद्धं हो चुका है ! जिससे कि क्षयोपशमको धारनेवाला भाव अठारह प्रकारका निर्णीत किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं ।

श्लीणाश्लीणात्मनां घातिकर्मणामवसीयते । शुद्धाशुद्धात्मतासिद्धिरन्ययानुपपत्तितः ॥ १॥

जैसे कि विशेष ढंगसे जल्रहारा प्रक्षालन करते हुये कोदों या मांगपत्तीकी मदशक्ति क्षीण कीर अक्षीण हो जाती है, अधिक घो देनेसे तो मदशक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, या बहुभाग क्षीण हो जाती है, तथा अत्यल्प घो देनेसे मदशक्ति नष्ट नहीं होती है, अथवा ल्यमात्र ही नष्ट होती

है। हां, कुछ देरतक शनैः शनैः कोदों या मांगको छन्नामें भींचकर थो देनेसे उसकी अधिक उष्णताको उरपन्न करनेवाली मदजननशक्ति तो नष्ट होजाती है और मध्यम मद (गुलाबी नशा) की उपजनेवाली मदशक्ति नष्ट नहीं होती है। इसी प्रकार सर्वधाति स्पर्धकशक्तिरूपसे क्षीणस्वरूप और देशधाति स्पर्धकरूपसे अक्षीण आत्मक धातिकर्मीका शुद्धात्मकपना और अशुद्धात्मकपना सिद्ध हो रहा है। अन्यथा यानी धाति कर्मोंके क्षीण अक्षीण स्वरूप हुये बिना शुद्धअशुद्ध आत्मकपनकी सिद्धी नहीं हो सकेगी। भावार्थ—पेटमेंसे कुछ अजीर्ण दोषाके नष्ट हो जानेपर और कुछ दोषोंका कार्य होते रहनेसे आत्मामें स्वर्थता, अस्वर्थात्मक मध्यमकोटिकी प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार अन्तरंगङ्गान, चित्र, लिख, आदिकी कुछ शुद्धि और कुछ अशुद्धि अनुभूत होरही है। वह ज्ञापकलिंग धाति कर्मोकी क्षयोपशम अवस्थाका अनुमान करा देता है।

स्वसंवेदनादेवात्मनः शृद्धाशृद्धात्मतायाः सिद्धिरप्रतिबंधा सती घातिकर्मणां शीणापशांतः स्वभावतां साधयति तदभावे तद्भुषपत्तेः; पयसि पंकस्य शीणापशांततामंतरेण शृद्धाशुद्धात्म-तानुपपत्तिवत् ।

स्वसम्बेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माके शुद्ध, अशुद्ध, आत्मकपनेकी बाधारहित सिद्धि होरही सन्ती चार घातिया कर्माके क्षीण स्वभाव और कुछ अक्षीणस्वभावपनको साध देती है। इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि इस कुछ अंशोंमें क्षीण और कुछ अंशोंमें उपशान्त होरहे तथा कतिपय अंशोंमें उदय प्राप्त होकर अक्षीण स्वभावसाहितपनके बिना उस शुद्धाशुद्धात्मकपनेकी उपपात्त नहीं हो सकती है, जैसे कि जलमें किचके क्षीण और उपशान्त तथा कुछ घुलेपन अवस्थाके बिना शुद्धअशुद्ध आत्मकपन अर्थात् बहुभाग स्वच्छता और अतीव मन्द गंदलेपनकी सिद्धि नहीं होपाती है। औपिध या शरीरप्रकृतिद्वारा चिकित्सा होनेपर यदि रागका सौमा भाग अवशिष्ट रह जाय अथवा धोवते धोवते वस्त्रमें अत्यल्प मल या रंग शेप रहजाय इत्यादि अवस्थाओंमें भी प्रतिपक्षी पुद्धलोंका क्षयोपशम होना उदाहरण बनाया जासकता है।

ततो मत्यादिविज्ञानवतुष्टयिमह समृतं । शुद्धाशुद्धात्मकं लिंगं तदावरणकर्मणाम् ॥ २ ॥ क्षयोपशमसद्भावे मत्यज्ञानादि च त्रयं । दर्शनत्रितयं चापि निजावरणकर्मणा ॥ ३ ॥ लब्धयः पंच तादृश्यः स्वांतरायस्य कर्मणः । सम्यक्तवं दृष्टिमोहस्य वृत्तं वृत्तमुहस्तथा ॥ ४ ॥

संयमासंयमोऽपीति घातिश्वीणोपशांतता। सिद्धा तद्भवभावानां तथाभावं प्रसाधयेत्॥ ५॥

तिस कारणसे यहां मति, श्रुत, आदिक चारों विज्ञान शुद्धअशुद्ध आत्मका स्वरूप होरहे लिंग माने गये पूर्व आम्नायसे चले आरहे हैं, उन मति आदिकको आवरण करनेवाले मतिज्ञानावरण, श्रतन्नानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मीके क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें वह शुद्धाशुद्धात्मकपना ज्ञापक लिंग है । इसी प्रकार कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन कुज्ञानभाव भी शुद्ध अशुद्ध आत्मक हो रहे संते उनके प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपरामको साध-नेमें ज्ञापक हेतु है । तथा चक्षर्दर्शन, अचक्षर्दर्शन और अवधिदर्शन ये शुद्ध, अशुद्ध, आत्मक तीन दर्शन भी अपने आवरण करनेवाले कर्मोंक क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें ज्ञापक लिंग है। इसी प्रकार वैसी शुद्ध अशुद्ध आत्मक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्थ, ये पांच लिश्यां भी अपनेमें अंत-रायको डालनेवाले पांच अंतरायकर्मीके क्षयोपरामकी विद्यमानताको साधनेमें व्याप्त हेत हैं। तथा आत्मामें अनुमृत हो रहा तिस प्रकार शुद्ध, अग्रद्ध आत्मक वेदक सम्यक्त्व परिणाम तो दर्शनमोहनी-यके क्षयोपराम का साथ क लिंग है। तथा शुद्ध अरुद्ध आत्म क हो रहा वृत्त यानी क्षायोपरामिक चारित्र भी आत्मामे चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमका ज्ञापक लिंग माना गया है। एवं संयमासंयमभाव भी अनुभूत हो रहा संता अपने घातक कर्मीकी क्षीणवृत्ति और उपशान्त वृत्तिको आत्मामे साध देता है । चारित्रमोहनीय कर्मकी पचीस प्रकृतिओंमे अनन्तानुबन्धी चौकडी. अप्रत्याख्यानावरण चतुष्टय. और प्रत्याख्यानावरण कोच, मान, माया, छोभ, ये वारह प्रकृतियां सर्वघाती हैं । शेष प्रकृतियां देश-घाती ह । यद्यपि संञ्वलनमे भी कुळ पिण्ड ऐसे है, जिनका कि छठवें सातवे गुणस्थानमें उदय नहीं, है । किन्हीं मिध्यात्वके सहभावियोंका तो पहिलेमें ही उदय है । अचारित्रके सहभावी कतिपये।क चौथे गुणस्थानतक ही उदय है । इसी प्रकार कुछ प्रत्याख्यानावरण अव्रत्याख्यानावरण प्रकृतिओंका भी चौथे गुणस्थानमें उदय नहीं है। पाहिलेमें ही है। फिर भी उन उन गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे घात नहीं करनेकी अपेक्षा उनके सिरपर बुराई नहीं लादी गयी है । बुराईको झेलनेवाली बहां दूसरी प्रकृ-तियां स्वश्रुके समान आपत्तिको छे रही है । उपराम श्रेणीमें उपराम चारित्र और क्षपक श्रेणीमें क्षायिक चारित्र है। यहां देशघातीके उदयकी आवश्यकता नहीं है। विवक्षा भी नहीं है। सम्यक्त गुणके लिये अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिध्यात्व, सम्याङ्मिध्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वधाती है । और सम्यक्त प्रकृति देशघाति है, सम्यक्त गुण आत्माका अनुजीवी गुण है । और सम्यक्त प्रकृति पुद्र-लकी बनी हुई दर्शनमोहनीयका तीसरा भेद है। जो कि उपराम सम्यक्त्वरूप परिमाणों करके मिथ्यात्व द्रव्यके तीन ट्रुकडे होकर चक्कीमें पिसे द्वये कोदोंकी मुसीके समान मन्द्रतम अनुभागको लिये हुये हैं। सम्यक्त्य नामक शद्भका एकला होनेपर भी अर्थ न्यारा न्यारा समझना चाहिये। तथा संयमासंयम

भावके िये प्रत्याख्यानावरण भी देशवाती कल्पित किया गया है। इस प्रकार अनुमान द्वारा उक्त अठारह भावोंके सम्पादक क्षयोपशमको साथ दिया है। उक्त हेतुओंमें अन्वयन्याप्ति पायी जाती है। जब घाती कर्मका क्षीणपना और उपशांतपना सिद्ध हो चुका तो वह उसके होनेपर होनेवाले भावोंका तिस प्रकार हो रहे क्षयोपशम भावको भले प्रकार संयम रहित साथ ही देवेगा।

एवं च सिद्धोष्टादशभेदो मिश्रो भावः।

और इस प्रकार न्याप्तिको बनाकर सिद्ध कर दिये गये अनुमान द्वारा अठारह भेदोंको धारने-वाला क्षय, उपशम, और उदयका मिला हुआ मिश्रभाव सिद्ध कर दिया गया है।

यः पुनरौदियको भाव एकविंशतिभेदोत्रोदिष्टस्तस्य निर्देशार्थे षष्टमिदं सूत्रम् ।

मिश्रभावके पश्चात् जो फिर इकईस भेदवाले औदियकभावका नाम निर्देश किया था, उसका कथन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजका यह द्वितीयाध्यायमें छठा सूत्र है। जो कि ईस प्रकार है उसको सुनो—–

गतिकषायिंजगिभध्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेक्याश्चतुश्चतुरूत्रयेकैकैकेकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

आत्माको नरक सम्बन्धी, तिर्यक्सम्बन्धी, आदि भावोंकी प्राप्ति करानेवाली आत्मीय परिणाम रूप गाति औदियकभाव है। चारित्रमोहके उदयसे कल्लुपनाभाव होना कषाय है, वेदत्रयके उदयसे हुआ अभिलाषाविशेष लिंगभाव औदियिक है, तत्त्वार्थोंका अश्रद्धानरूप परिणाम मिथ्यादर्शन है, ह्यानावरणके उदयसे अन्धकारके सदश ज्ञानाभाव बना रहना अज्ञानभाव है। यहां नज्का अर्थ प्रसम्य है, इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयमको नहीं पालना असंयतभाव है, सिद्ध अवस्था नहीं हो सकना असिद्धत्वभाव है, कषायमिश्रित आत्माके सकम्प परिणाम लेक्याभाव है, इनके यथाक्रमसे चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक, छह, भेद हैं। इस प्रकार औदियिक भावके इक्ईस भेद समझ लेने चाहिये।

चतुरादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशक्केनान्यपदार्था द्यतिः पूर्ववत् । यथाक्रममिति चातुर्वतते तेनैवमिसंवंधः क्रियते—गतिश्चतुर्भेदा कचायश्चतुर्भेदो लिंगं त्रिभेदं मिध्यादर्श्वनमेकभेदमदर्श-नस्य तत्रैवांतभीवात्, अज्ञानमेकभेदं असंयतत्वमेकभेदं लिंग हास्यरत्याद्यंतभीवः सहचारि-त्वात् । गतिग्रहणमघात्युपलक्षणमिति न कस्यचिदौदयिकभेदस्यासंग्रहः ।

गति और कषाय तथा लिंग और मिध्यादर्शन एवं अज्ञान और असंयत तथा असिद्ध और लेक्या इस प्रकार गति आदिकोंका इतरेतर योगनामक द्वन्द्व समास करलेना चाहिये तथा संख्यात्राचक चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एकं, छह, इन पदोंका पहिले इतरेतर द्वन्द्व कर पश्चात् भेद शहके साथ अन्य पदार्थीको प्रधान रखनेवाली बहुबीहि समास नामकवृत्ति करने लेनी चाहिये, जैसे कि पहिलेके पूर्व सूत्रोंमें इतरेतर समास करते हुये बहुबीहि समास किया गया है, वैसा ही यहां करलेना । पूर्व सुत्रके समान यहां भी दूसरे सुत्रमेंसे ''यथाक्रमम्'' इस पदकी अनुवृत्ति होजाती है तिस कारण उद्देश्य विधेय पदोंका दोनों ओरसे सम्बन्ध करिया जाता है कि गतिके चार भेद हैं. चार भेदवाली कषाय है लिंग तीन भेदोंको धारता है, मिथ्यादर्शनका एक प्रकार है, यहां अदर्शनभावको न्यारा नहीं कहा है, क्योंकि दर्शनावरणके उदय होनेपर हये अन्धकल्प अदर्शनभावका उस मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव होजाता है तथा अज्ञानका भेद एक ही है, असंयतपना एक भेदको लिये हुये है, असिद्धल एक प्रकारका है। लेखाके छह भेद हैं, यद्यपि कषाय भावसे सोलह कषाय और लिंगसे तीन वेद पकडे जासकते हैं। अतः हास्य आदिक छह नोकषायके उदयसे होनेवाले औदियक भाव शेष बच जाते हैं। फिर भी सहचारीपना होनेसे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, इन औदियक भावोंका अन्तर्भाव छिंगमें करलेना सूत्रकारको विवक्षित है। अतः सूक्ष्म कथनरूप सूत्रमें विस्तार नहीं किया गया है, ज्ञानावरण कर्म और अन्तराय कर्मका अविनाभाव होनेसे अलब्धियोंका अज्ञान भावमें ही अन्तर्भाव होजायगा जैसे कि ''काकेभ्यो दिव रक्ष्यताम् '' यहां काकपद सभी दिव उपचातक परापक्षियोंका उपलक्षण है। उसी प्रकार जीवविपाकी जातिकर्मके उदयंस होनेवाले या त्रस, स्थावर उच्चैगींत्र, मनुष्याय:, सात. असात, तीर्थकरन्य, आदि अघातिया कर्मीकी प्रकृतियोंके उदयसे होनेवाले औदियक भावोंका गति प्रहणसे उपलक्षण होजाता है। इस कारण जीवविपाकी घाती या अघाती किसी भी कर्मके उदयसे होनेवाले औदियिक भेदका असंप्रह नहीं हुआ। इन ही इकईस भेदोंमें सब ही औदियिक भावोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

कुतः पुनर्गतिनामादिकर्मणाग्रुदयः सिद्धो यतो अपिषामेकविंक्षतिभावानामौदयिकत्वं सिध्यतीत्याह ।

िसी विनीत शिष्यका प्रश्न है कि महाराजजी, फिर यह बताओ कि आत्माओंमें गतिनामकर्म चारित्रमोहमीय, पुंबेद आदिक कर्मोंका उदय किस प्रमाणसे सिद्ध है है जिससे कि उन गति, कषाय, आदिक इकईस भावोंका औदयिकपना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यान्द स्वामी आत्मगौरवसहित उत्तरको कहते हैं।

अन्यथाभावहेतूनां केषांचिदुदयः स्थितः। कालुष्यवित्तितस्तद्वद्गतिनामादयस्तु ते॥१॥

आत्माके शुद्ध स्वाभाविक परिणामोंको अन्य प्रकार परिणमन करानके हेतुभूत हो रहे किन्हीं निर्नामक पदार्थोका उदय होना आत्मामें व्यवस्थित है। (प्रातिज्ञावाक्य) क्योंकि संसारी आत्माओंके हो रही कल्लुषताविशेषकी सम्वित्ति हो रही है। उसीके समान दूसरे दूसरे स्वाभाविक परिणामोंका अन्यथामाव करानेवाले किन्हीं अविषक्षित पदार्थोका उदय भी अनुमान प्रमाण द्वारा निर्णीत हो रहा

है। अतः सर्वनाम किम् राद्वके वाच्य हो रहे वे अन्यथा भावके हेतु ही तो गतिनाम, कषाय वेदनीय, अकाषय वेदनीय, आदिक विशेष कर्म हैं।

स्वयमगतिस्वभावस्य पुंसो नरकादिगतिपरिणामिवश्चेषः काळुष्यमन्यथाभावाद्वेद्यते तद्ददक्षयायिक्ष्मिमध्याद्रश्चेनाज्ञानासंयतासिद्धलेक्ष्यास्यभावस्य सतस्तस्य कषायादिपरिणाम-काळुष्यभाव एव तद्दित्तिरेव वात्मनोन्यथाभावहेत्नां केषांचिदुद्यं साधयति, तदभावे सर्वथा-नुपपद्यमानत्वात् परिदृष्टहेत्नां तत्र व्यभिचारात् । तथा सति येषाग्रुद्याद्वत्याद्यः परिणाम-विशेषाः कादाचित्कास्ते गतिनामादयः कर्मप्रकृतिभेदा इति परिशेषाद्वसीयते ।

जो परद्रव्यके बन्धसे विकित हो रही सिद्ध अवस्थाके परिणाम है, वे ही आत्माके स्वतः अनन्त कालतक ठहरनेवाले स्वभाव माने जाते हैं। शेष अन्यथा स्वरूप हो रहे परिणाम तो विभाव अवस्था है । आत्मा स्वयं अपने डीलसे तो जाना आना स्वास, उच्छुासके साथ घटना बढना, देव 🗵 पर्यायमे जाना, इत्यादिक गमन परिणामोसे रीता है। उसको कोई छढनेकी, मोठे होनेकी, यहां वहां जानेकी आकुलता नहीं है। तो भी स्वयं अगमन स्वभाववाले हो रहे आत्माके नरकगतिमे गमन, तिर्येच आदि गतियोमे गमन ऐसे विशेष परिणमन स्वरूप कलुषतायें हुई स्वभावोंका अन्यधाभाव हो जानेमे स्वसंविदित हो रही हैं। उसीके समान स्वभावतः कपायरहित स्वभाववाले चारित्र स्वरूप आत्माके कपायरूप कल्लपतार्ये अनुभूत हो रहीं हैं। तथा निश्चयनयसे मिध्यादर्शन रहित द्मद्भ सम्यग्दर्शनस्वभाववाले आत्माके मिध्यात्वभाव वेदा जा रहा है। और अज्ञानरहित स्यभावत्राले आत्माके किसी पराधीनतात्रश अन्यप्रकारसे होरही अज्ञानरूप कलुषता प्रतीत की जारही है तथा असंयतपना स्वभावसे खाली संयमीस्वरूप आत्माके परतंत्र होकर असंयत परिणाम रूप कल्लपताकी वित्ती होरही है। इसी प्रकार असिद्ध अवस्थास रहित सिद्धस्वभाववाले आत्माके असिद्धतः रूप कलपताका सद्भाव है। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे लेक्यारहित शद्ध अलेक्य स्वभाववाले आत्माक संसार अवस्थामे कषायसंयुक्त योगप्रवृत्तिरूप कलुषता परिणाम होरहे हैं। वे कलुपतामाव ही आत्माके स्वभाव अवस्थासे अन्यथाभाव हो जानेकी अवस्थाके कारण होरहे किन्हीं परद्रव्यरूप हेतुओंके उदयको साध देते हैं अथवा उन गति, कपाय, आदि अन्यथाभूत अस्वाभाविक परिणामोंका संवेतन होना ही आत्माके अन्यथा परिणामोंको करानेवाछे किन्हीं हेतुओंके उदयको साध देता है। क्योंकि परतंत्र करनेवाले उन हेतुओंके न होनेपर शुद्ध आत्माके सभी प्रकारसे गति, कषाय आदि परिणामोंकी उपपात्ति नहीं हो पाती है। अदृष्ट कर्मीके सिनाय किन्हीं दूसरे परिदृष्ट पदार्थीको यदि आत्माके उन गति, कषाय आदि भाव करानेमें कारण माना जायगा तो व्यभिचार दोष आता है। अधीत्-गति आदिक भावोंका सूक्ष्म कर्मीको कारण माननेमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों बनजाते हैं। किन्त अन्य उत्साह, शरीर, इच्छाये, इष्टपदार्थ, श्री, पुरुष, कुदेव, कुगुरु आदिक इष्टपदार्थीको ही उन

भावोंका कारण माननेपर तो अन्वयन्यभिचार धीरा न्यतिरेक व्यक्षिचार दीक आते हैं। उत्साह, इच्छा होनेपर भी अपनी राजीसे कोई देवगति या मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं हो जाता है। कोई वीतरागमनि इच्छा न होनेपर भी आजकल देवगतिको प्राप्त हो जाते हैं। कोई पतले शरीरकी प्रकृतिको धारनेवाला मोटा होना चाहता है । किन्तु व्यूलकाय नहीं ही पाता है । इसके त्रिपरीत कोई बातूल शरीरवाला अतिस्थल मनुष्य न चाहने पर भी रुईका गद्दा बना जारहा है। कषायके परिदृष्ट कारण गाली, कुवचन, अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति, होनेपर भी क्षमावान् , सन्तोषी साधु पुरुषके कषाय कल्लुषतायें नहीं उपजतीं हैं। साथमें किसी अकारण क्रोधी पुरुषके गाली, अपमान आदि कारण न मिलनेपर भी क्रोध ईर्घ्या, गर्व ये विभाव परिणाम उपज जाते हैं । हंसी, शोक, भय, ग्लानिके बहिरंग कारण न मिलनेपर भी बहतसे जीव इन झगडोंमें फंसे हुये हैं। और अनेक गम्भीर, आत्मध्यानी, सजन इनके कारण मिल-नेपर भी उक्त विपत्तियोंसे बचे हुये हैं। एकान्तमें श्रीपुरुष या शृंगार रस वर्द्धक कारणोंके होनेपर भी अनेक जीव अपने ब्रह्मचर्थकी रक्षा करलेते हैं। तथा व्यसनी जीव कारणोंके बिना ही संकल्प. विकल्प, करते हुये ही मैथुन परिणामोंको करलेते हैं । सम्यग्दर्शनके बहिरंग कारण जुट जानेपर भी द्रव्यक्तिंगी मनि मिध्यात्व परिणामोंको बनाये रखता है। साथमें श्री समन्तभदस्वामी या अकलंक देव प्रभति पावन परुष अनायतनोंमें भी अपने सम्यग्दर्शनको परिपृष्ट बनाये रखते हैं । इसी प्रकार अस-यमी, असिद्ध, लेक्या, परिणामोंका भी बहिरंग हेतुओंके साथ कार्यकारणमांव माननेमें अन्वय व्यक्ति-चार या व्यतिरेक व्यभिचार आता है। हां अन्तरंग सूक्ष्म गतिनास, मतिज्ञानावरंणें मिथ्याल, हास्य, आदि. कर्मीको इनका कारण मानना निर्दोष है। अतः तैसा होनेपर जिन पराधीनता सम्पादक पदा-थौंके उदयसे आत्मामें कभी कभी होनेवाले गति, कषाय, आदिक परिणाम विशेष होते हैं, वे गति-नाम, चारित्रमोहनीय, पुंबेद, आदिक कर्म प्रकृतियोंके विशेष भेद हो रहे कर्मद्रव्य हैं। यह "परिशेष" न्यायसे निर्णय कर िवया जाता है। अर्थात् जो कार्य कभी कभी होता है, वह आत्मद्रव्यका स्वभाव तो है नहीं । हां परद्रव्यके सम्बन्धसें होनेवाला विभाव परिणाम है । जैसे कि तीव काम वासना वरा हो रहा श्रोत्रिय बाह्मण अपने स्वभावका अतिक्रमण कर वेश्यागृह प्रति गमन करता है। अथवा बशीकरण मंत्र या चूर्णकी पराधीनतासे कोई कुलकामिनी परपुरुषकी अनुगामिनी हो जाती है। इसी प्रकार निश्चय नयसे गुद्धभात्रोंको धार रहा भी आत्मा जिनकी पराधीनतासें दुःख कारण अथवा द्वःखरूप हो रहीं कपाय, अज्ञान, अनर्गल प्रष्टिन, आदि अवस्थाओंको आत्मसात् करलेता है, वे ही जैनसिद्धांतमें पीद्रलिककर्म हैं । उनका उदय आनेपर जीव स्वभावोंको छोडकर बिभाव परिणति-योंको प्राप्त कर छेता है। जैसे कि ज्वर क्षेप्परहित भी जीवित शरीर कभी कभी बात, पित्त, कफ, दोषोंका प्रकोप होनेपर अधी या कफी हो जाता है। इस प्रकार अविनामावी हेतुसे अनुमान द्वारा कमीका उदय साध दिया जाता है। प्रसंग प्राप्तका निषेध कर चुकनेपर बचे हुये का ज्ञान कराने-बाला 'परिशेष न्याय है । " प्रसक्त प्रतिषेधे शिष्यमाण संप्रत्ययहेतुः परिशेषः "।

गतिनामोदयादेव गतिरौदयिकी मता। तिद्वशेषोदयात्सैव चतुर्था तु विशिष्यते ॥ २॥ तयोपलक्षिताघातिकमीदयनिबंधनं। सुस्राचौदयिकं सर्वमेतेनैवोपवर्णितम्॥ ३॥

नामकर्म का विशेष भेद हो रहे गतिनाम कर्मके उदयसे ही आत्माकी हो रही गतिनामक परिणित औदियिकभाव मानी गयी है। उस गतिनाम पिण्डप्रकृतिके भेद विशेष हो रहे नरकगति, विश्वगति, मनुष्यगति, और देवगति इन चार कर्मोंके उदयसे तो वही आत्माका गतिपरिणाम चार प्रकारोंसे भेदयुक्त कर दिया जाता है। श्री उमास्त्रामी महाराजने अधातियोंमें प्रधान हो रहे नामकर्म और उसमें भी प्रधान हो रहे गतिकर्मका कण्टोक्त निक्रपण करिया है। शेष रहे संपूर्ण अधातिया कर्मोंका उस गतिसे ही उपलक्षण कर दिया जाता है। अतः उस गतिसे उपलक्षित हो रहे जाति आदिक और वेदनीय, आयुः, गोत्र, कर्मोंके उदयको कारण मानकर हुये आत्माके सुख, मनुष्य शरीरमें दुसा रहना, उच आचरण, नीच आचरण आदिक भाव भी औदियक है। यह सब इस उक्त कथनसे ही निक्रपण करिया गया समझलेना चाहिये।

तथा कोधादिभेदस्य कषायस्योदयान्नृणाम् । चतुर्भेदः कषायः स्यादन्यथाभावसाधनः ॥ ४ ॥ लिंगं वेदोदयात्त्रेधा हास्याद्यदयतोपि च । हास्यादिस्तेन जीवस्य मुनिना प्रतिवर्णितः ॥ ५ ॥

तिसी प्रकार कोध, मान आदिको धारनेवाले पुद्गल निर्मित कषायवेदनीय नामक चारित्र मोहनियके उदयसे जीवोंके कोध, मान, माया, लोभ, चार भेदोंको धारनेवाले कषायभाव होते हैं। अधवा अनन्तसंसारके कारण मिध्यालका अनुबन्ध करनेवाले या स्वरूपाचरणको बिगाडनेवाले परिणाम और देशचारित्रको रोकनेवाले तथा सकलचारित्रका घात करनेवाले एवं यथाल्यात चारित्रको कसनेवाले थे चार प्रकार विभावभाव जीवोंके हो जाते हैं। स्वामाविक परिणामोंसे हटाकर आत्माकी अन्यधामाव परिणाति ही कषायभावका ज्ञापक हेतु है। पुंचेद, लीवेद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे आत्मामें तीन प्रकारका लिंगपरिणाम होता है, जिससे बीरमण, पुरुषरमण, या उभयरमणके कलुषतारूप परिणाम होते रहते हैं। तथा हास्य, रति, आदि कर्मोंके उदयसे भी हंसना या देश, उपवन, गायन, वृत्यकला, आदिके लिये उत्सुक रहना, अथवा इनमें अनुस्कुक रहना, शोकमें रहना, इरना, कृणा

करना इन विभावपरिणामोंका अनुभव होता है। श्री उमास्वामी मुनिमहाराजने जीवके हास्यादिभाव भी उपलक्षणवाले उस लिंग करके ही प्रतिष्ठित कर कह दिये हैं।

दृष्टिमोहोदयात्पुंसो मिथ्यादर्शनमिष्यते । दृगावरणसामान्योदयाचादर्शनं तथा ॥ ६ ॥ सासादनं च सम्यक्तं यदनंतानुबंधिनः । कषायस्योदयाज्ञातं तद्प्येतेन वर्णितम् ॥ ७ ॥ सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां तत्कमोदयजन्मकं । मतमोदियकं केश्वितक्षायोपशिमकं स्मृतम् ॥ ८ ॥

इनके आगेका सूत्रोक्तभाव मिथ्यादर्शन है, जो कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके हो रहा माना जाता है। तिसी प्रकार मिथ्यादर्शनमें अदर्शनभावका अवरोध हो जाता है। निद्रानिद्रां आदिक विभावपरिणामोंका भी उस मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव कर छेना चाहिये। नौ प्रकारके दर्शनावरण कर्मका सामान्य उदय हो जानेसे तिस प्रकार अदर्शनभाव हो जाता है। जो कि मिथ्या-दर्शन शद्धसे उपछक्षित कर दिया जाता है। और दूसरे गुणस्थानमें जो चारित्रमोहनीयके उदयसे हुआ सासादनसम्यक्त्वरूप विभावपरिणाम भी अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हो रहा सन्ता औदियकभाव है। वह भी इस मिथ्यादर्शन करके ही वर्णना युक्त कर दिया गया है। अर्थात् — मिथ्या-दर्शनको उपछक्षण मान कर उसके मित्र सासादन सम्यक्त्वका भी औदियक भावोंमें संग्रह कर छेना चाहिये। एक प्रसिद्ध आचार्यके मतमें जो मिश्रमोहनीय कर्मके उदयसे हुआ सम्यिमध्यात्वभाव है, वह उस सम्यिक्पयात्व नाम कर्मके उदयसे जन्म छेता हुआ औदियक माना गया है। यह हमारी सम्मित है। हां किन्हीं आचार्योने सम्यिक्पथ्यात्व भावको क्षायोपशिक्त माना है। उनकी गुरु परि-षादीमें वैसा ही सर्वज्ञयारा अनुसार समरण किया गया चला आ रहा है। उसको हम पहिले पांचरें सुत्रके विवरणमें क्षायोपशिक सम्यक्त्व द्वारा संग्रह कर चुके हैं। अपेक्षासे सम्यिक्पयात्व भावको क्षायो करामिक यां औदियक दोनों प्रकार मानना हमको अभीष्ठ है। दोनोंकी युक्तियां भी कही जा चुकी हैं।

ज्ञानावरणसामान्यस्योदयादुपवर्णितं । जीवस्याज्ञानसामान्यमन्ययानुपपत्तितः ॥ ९ ॥ वृत्तमोहोदयात्पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्ष्यते । कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वं प्रणिगम्यते ॥ १० ॥

कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरुपदर्शिता । लेश्या जीवस्य कृष्णादिः षड्मेदा भावतोनघैः ॥ ११॥

सामान्य रूपसे ज्ञानावरण कर्मका उदय हो जानेसे पदार्थीका अनवबोध होना जीवके अज्ञानरूप सामान्यभाव कहा गया है। अन्यथा बानी बानावरणका उदय हुये विना सर्वधाति ।पर्वकोंके उदयजन्य होनेवाले अज्ञानभावकी असिद्धि है। द्वीन्द्रिय जीवके नासिकाज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदय हो जानेसे गन्धविषयक अज्ञानभाव है। आजकलके मभुष्योंके मनःपर्यय ज्ञानावरणका उदय हो जानेसे मनःपर्यय ज्ञान न होना रूप अज्ञानभाव है। बारहवें गुणस्थानतक केवळज्ञान नहीं होना रूप अज्ञान-भाव है तथा चारित्रमोहनीयसम्बन्धी सर्वधातिरपद्धिक प्रकृतियोंके उदयसे आत्याके असंयमभाव होता 🖥 । पहिलेसे प्रारंभ कर चौथे गुणस्थानतक इन्द्रियासंयम और प्राणासंयमरूप औदायिकभाव हो रहा मके प्रकार कहा जाता है तथा अभेदकी विवक्षा सभी एकसी बाईस प्रकृतियोंका और भेदकी विवक्षा सम्पूर्ण कर्ममात्र एकसी अदतालीसों प्रकृतियोंका उदय हो जानेसे ही असिद्धपनाभात्र प्रकृष्ट रूपसे नियत हो रहा हुआ कहा जाता है। एकसी अडतालीस प्रकृतिओंमें से किसी भी एकका यदि उदय होगा तबतक आसिद्रपना ही है। कषायोंके उदयसे विशेषित हो रही योगोंकी प्रवृत्ति तो जीवका **छेरु**याभाव समझाई गयी है। अर्थात जैसे रागके आवेशसे हंसीसहित अशिष्ट वचन **बोलना य**दि दुषित शरीरचेशसे युक्त हो जाय उतने समुदितभावको कौत्कुष्य कहते हैं। उसी प्रकार आत्मांके कषायभावोंसे रंगा हुआ आत्मप्रदेश परिषद्धरूप परिणाम तो औदियक होता हुआ भावलेक्या है। १थुल रूपसे क्षथा आदि अठाएह और सूक्ष्मरूपसे अनन्त दोषों करके रीते हो रहे निर्दीप सर्वज्ञ देवने छेश्याके भाव अपेक्षा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पग्न, क्रुक्र, इस प्रकार छह भेद बतलाये हैं, भावछेश्या आत्माका औदयिक परिणाम है। आत्माके भावोंका निरूपण करते समय वर्णनाम कर्मके उदयसे हुये शरीरके ऊपरी रंगस्वरूप द्रव्यलेश्याका यहां कोई प्रकरण नहीं है। यहांतक गति आदिक इकईस औदियिक भावोंका विवरण करिदया गया है।

अथ पारिणामिकभेदमतिपादनार्थे सप्तमिमदं सूत्रमाह ।

अत्र औदयिक भावोंके अनन्तर अन्तके पारिणाभिक भावोंके भेदोंकी प्रतिपत्तिको करानेके लिय श्री उमास्वामी महाराज दितीयाध्यायमें सातवें सूत्रका कण्ठोक्त निरूपण करते हैं।

जीवभव्याभव्यत्वानि च॥७॥

जीनत्व, भन्यत्व और अभन्यत्व ये तीन जीवके असाधारण हो रहे पारिणामिकमाव हैं। च शहके द्वारा अस्तित्व आदि साधारण भावोंका संग्रह भी कर सकते हो। जीव और भन्य तथा अभन्य इस प्रकार इतरेतर इन्द्र समास कर पुनः भाव अर्थमें तदितसम्बन्धी ल प्रत्यय करते हुये जीवल, भन्यल, अभव्यल, यह अर्थ निकल आता है।

शारिणामिकस्य भावस्य त्रयोऽसाधारणा भेदा इत्यभिसंबंधः। च श्रद्धसम्रुचितास्तु साधारणाः असाधारणाश्चास्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभोवतृत्वपर्यायवन्त्वासर्वगतत्वानादिसंतितवंधन-वद्धत्वप्रदेशवन्त्वारूपत्वनित्यत्वादयः।

पूर्व सूत्रसे भेदशद्भकी अनुवृत्ति कर परिणामरूप प्रयोजनको धारनेवाले पारिणामिकभावके असाधारण भेद तीन हैं । इस प्रकार दोनों उद्देश्य, विधेय, दलोंका अन्वय कर दोनों ओरसे सम्बन्ध होना वन जाता है। हां, समुचय अर्थको कहनेवाले सुत्रोक्त च शहरे तो अन्य इव्योंमें पाये जांय और जीव द्रव्यमें भी पाये जांय ऐसे साधारण तथा कतिपय असाधारण हो रहे इन अस्तित्व आदि भावोंका संप्रह कर लिया जाता है। वे भाव आस्तित्व, अन्यत्व, कर्तत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्व, असर्व-गतत्व, अनादिसंतिविबन्धनयद्भत्व, प्रदेशवत्त्व, अरूपत्व, नित्यत्व, ऊर्चगतित्व, द्रव्यत्व, आकर्षकत्व, आदि हैं। अर्थात्—वस्तुको तीनों कालतक स्थिर रखनेवाला अस्तित्व गुण छहों द्रव्योंमें पाया जाता है । अतः जीवका साधारण भाव है । सम्पूर्ण द्रव्योंको परस्पर भिन्न करनेवाला अन्यत्वभाव भी साधा-रण है, जो कि कर्मीं उदय, उपराम, क्षय, क्षयोपरामकी, अपेक्षा नहीं रखता हुआ पारिणामिक है। कर्त्तापन भी साधारण भाव है। " मेघो वर्षति, आकाशमबगाहते, धर्मद्रव्यं गमयति, काल्ने वर्त्त-यति '' आदि कियाओंको उपजावनेमें संपूर्ण द्रव्योंको स्वाधिकार अनुसार स्वतंत्रता प्राप्त है। " स्वतंत्रः कत्ती " यह कत्तीका सिद्धांत लक्षण है । स्वकीय वीर्यकी प्रकर्षतासे परद्रव्यकी शक्ति-योंके प्रहण करनेकी सामर्थ्य ही भोक्तापन है, यह भोक्तृत्व भी अन्य द्रव्योंमें पाया जाता है। अतः साधारण भाव है। यद्यपि स्थूलदृष्टिसे कर्तापन और भोक्तापन अकेले जीवका ही परिणाम प्रतीत हो रहा है। फिर भी सक्ष्मविचार करनेपर वह साधारण भाव समझा जाता है। गृहस्य सम्बन्धी अनेक कार्योंके कर्ता और भोक्ता स्त्रीपुरुष दोनों ही हैं, बन्ध और बन्धका फल दोनोंके गुणोंका चुत हो जाना तथा मोक्ष इनके कर्त्ता और भोक्ता जीव पुद्गल दोनों हैं । बुमुक्षित पारद सुवर्णका मक्षण कर उसका भोक्ता बन जाता है। सांभरकी झींछ काठ, पथरा, मही, आदिको खा जाती है। अपने वीर्य प्रकर्षस उनका रुवण कर देती है। उदरकी अग्नि, अल, जरु, दुग्ध, आदिका और चूल्हेकी अग्नि रुकडीका मोग करती है ! चैतन्य न होनेसे पुद्रलको मोगी न कहा जाय, इसमें स्वार्थी जीवका पक्षपातपूर्वक स्वप्रशंसा करना ही कारण है। भोता पुरुषके समान श्री भी पुरुषकी भोक्त्री होती है। जो बचेको कीडा करा रहा है, वह स्वयं भी उसके साथ खेल रहा है। अतः सुश्मदृष्टिको विचारनेवाले पक्षपातरहित पुरुष मोकृतृत्वको साधारणमाव स्वीकार करते हैं । यह जीवके भोग, उपभोग, मार्वोसे न्यारा उदयादि की नहीं अपेक्षा रखता हुआ पारिणामिकभाव है। तथा पर्याप्रसिहतपना भी पारिणामिक है। सभी द्रव्य अपनी अपनी नियतपर्यायोंको धारते हैं। इस कार्यको करनेमें उनको किसी कर्मके

उदयादिककी अपेक्षा नहीं है । असर्वगतपना भी आकाशको छोडकर सम्पूर्ण द्रव्योंमें पाया जानेवाला भाव है। अकाश सर्वगत है. इसका अर्थ मध्यम अनन्तानन्त इस बीसवीं नियत संख्यावाले प्रदेशोंको धारना मात्र है। सर्व शद्धसे अस्तित्वभाववाले जगत् स्थित अनन्तानन्त नियत पदार्थ पकडे जाते हैं, अलोकाकाराकी चौकोर प्रदेशमित्तिके बाहर फिर कोई भी छहऊ ओर पदार्थ नहीं है । अनन्तानन्त आकाशोंको जाननेकी शक्ति रखनेवाला केवलज्ञान पुनः आकाशके बाहर किसी पदार्थको नहीं जान रहा है। यहां कोई पदार्थ सम्भव होता तो उसको विषय कर छेता। सरल बुद्धिवाले शिष्योंको समझानेके लिये सर्वगतकी अपेक्षा आकाशको अनन्तगत कह देना व्यत्पत्ति सम्पादक है। वैरोपिक या पौराणिकोंके यहां ईश्वर सर्वशक्तिमान् माना गया है। सर्वशक्तिका " कर्नुमकर्त्तमन्यथाकर्तुम् " समर्थ है ऐसा मानते है । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर चाहे तो मछलीसे मनुष्य पैदा हो जाता है, देवी और पुरुष या देव और मनुष्यिणी या तिर्येचिनीके सम्बन्धसे भी अपत्य उत्पन्न हो जाता है। मुसलमानोंका ख़ुदा तो जडको चेतन बना सकता है। चाहे जब आत्मायें बना लेता है, और चेतन द्रव्योंको नास्तित्व (नेस्तनावूद) कर देता है। असत्का उत्पाद सत् द्रव्यका विनाश होना इष्ट कर लिया है, इसादि असम्भव कार्यीका सम्पादन कर देना भी सर्वशक्तिका अर्थ कर लिया है। किन्त जैनसिद्धान्त अनुसार असम्भव कार्य किसीके द्वारा भी द्वये नहीं माने गये है । जैनसिद्धान्तमें सर्वज्ञको या सिद्धजीवोंको अनन्त शक्तिमान् स्वीकार किया है, सर्वशक्तिमान नहीं । अतः सर्वशक्तिमानके समान सर्वगत आकाशके सर्वशद्धका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये । यदि कोई दुरुपयोग करना चाहे तो सर्वगतत्त्राभावको आकाशका भी परिणाम हम माननेको उद्युक्त हैं। कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम इन निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनेसे असर्कगतत्त्वभाव परिणामिक है। तथा अनादि संततिबन्धनबद्धत्व भाव भी साधारण पारिणामिक भाव है। क्योंकि एक धर्मद्रव्य, एक अधर्भद्रव्य, एक आकारा, असंख्याते कालद्रव्य, अनन्तानन्त जीवर्देव्य और इनसे अनन्तान्त गुणे पुद्रलद्रव्य ये नियत हो रहे सम्पूर्णद्रव्य अपनी अपनी अनादि अनन्त पर्यायोंके सन्तानश्वरूप बन्धनमें बंध रहे हैं । क्योंकि जीव पुद्रलद्रन्योकी गति करनेमें उदासीन हेतुपन या सम्पूर्ण द्रन्योमें उदासीन स्थापकत्व अथवा सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देना तथा वर्तना कराना एवं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चैतन्य, सुख आदि इन सहभावी, क्रमभावी, पर्यायोंकी सन्तान अपने अपने द्रव्यमें तदात्मक हो रही बांधी जाचुकी है, शुद्ध द्रव्यमें भी यह परिणाम पाया जाता है, अतः कर्मीके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेसे अनादि-बन्धनबद्धत्व नामका पारिणामिक भाव है । प्रदेशवत्व परिणाम भी सम्पूर्ण ब्रव्योंका साधारण भाव है। समी द्रव्य किसी न किसी चौकोर, गृहीतशरीर आकार, छोकत्रिन्यास, षंडशचौकोर, बरफीसमान आदिसे स्थानोंको धार रहे व्यंजन पर्यात्रवाले हैं । वे उचितसंख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेशोंको घरकर बैठे हुये है। रूप, रस, आदि गुणोंके न होनेसे शुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें पाया

जानेवाला अरूपत्व धर्म भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखनेके कारण पारिणामिक माव है। यद्यपि पद्रल द्रव्यमें कथमपि अरूपत्वभाव नहीं हैं। फिर भी अन्य चार द्रव्योंमें भी पाया जाना होनेसे अरूपत्वभाव जीवका साधारण परिणाम ही गिना जायगा, तथा नित्यद्रव्य अर्थको प्रहण करनेकी अपेक्षा संपूर्ण द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, न होनेसे कर्मके उदयादिक की अपेक्षा न रखनेवाला नित्यपना भी पारिणामिक भाव है। एवं बहुतसी परमाणुयें लोकपर्यन्त उपरको जानेकी देव रखती हैं। अग्नि उपरको जाती है। जलमें डुबोई हुई तुंबी ऊपरको उछलती है। अतः कुछ पुद्रलोंमें भी प्राप्त हुआ होनेसे उर्ध्वगतिपन स्वभाव भी जीवका साधारण भाव है। सभी द्रव्ये भविष्यकालमें होनेवाली पर्यायोंकी ओर बह रहीं हू। अतः द्रव्यपना भी जीवका साधारण भाव है। चुम्बक, मीरपंख, अयोगोलक, अनुकुल गायन, मनोहारी रूप, खानि, आदि पुद्रलोंमें भी वर्तरहा होनेसे आकर्षकत्व भाव भी योगी जीवका साधारण परिणाम है, इत्यादि और भी पारिणामिकमाय समझ छेने चाहिये। इन साधारण भावोंमें कुछ तो पट्स्थानपतित हानि चृद्धिको प्राप्त हो रहे अनुजीवी गुण हैं। जैसे कि अस्तित्व और अगुरूलघु दूसरे नामको धारनेवाला अन्यत्व है। द्रव्यत्व, प्रदेशवत्व, भी अनुजीवी गुण है। तथा कर्त्त्व, आकर्षकत्व भोक्तृत्व ये पर्यायशक्तिरूप भाव है। पर्यायवत्व, असर्वगतत्व, अनादि सैततिबन्धनबद्धत्व. अरूपत्व, ये द्रव्योंके स्वभाव हैं । द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्या-यार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यत्व अथवा स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व इत्यादिक भाव तो वस्तुकी भित्तिपर सप्तभंगीके विषय हो रहे कल्पनाकान्त परिणाम है। बिद्र-जन इसको और विशद रूपसे समझ सकते हैं । अथवा इन अस्तित्व आदि भावोंमें दो कर्त्तव, भोक्त-त्वको जीवका ही असाधारण भाव समझो । असर्वगतत्वको आकाशभिन्न पाच द्रव्योंका परिणाम समझ लो । अरूपत्वको पद्रलरहित पांच द्रव्योंका परिणाम मानो । अस्तित्व, अन्यत्व, पर्यायवन्त्व, प्रदेशवत्वको सभी छः ज द्रव्योंका स्वभाव गिन लो । अनादिबन्धनबद्धलको जीव पुद्गल दो द्रव्योंका भाव विचार लो । तभी तो श्री विद्यानंद आचार्यने च शह्वकरके साधारण और असाधारण दोनों जातिके भावोंका समुचय किया कहा है । कभी साधारणका अर्थ छः ऊ द्रव्योंमें ठहरना विवक्षित है । ऐसी दशामे जो भाव छःओंमें नहीं ठहरता हुआ दो, तीन, चार, पांच, द्रव्योंमें ही पाया जायगा वह असाधारण माना जायगा और कहीं जीवसहित दो तीन चार, या पांच इच्योंमें वर्त रहा भाव भी साधारण हुआ विवक्षाप्राप्त है।

तर्बादिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चैक, त्रिविधपारिणामिकभावमिति ज्ञाहानिमसंगात् । समुच-यार्थेपि च श्रद्धे सित तुल्यो दोष इति चैक, मधानापेक्षत्वात्त्रित्वमितिज्ञायाः । समुचीयमानास्तु चक्रद्धेनामधानभूता एवास्तित्वादय इति न दोषः ।

जब कि च शहू करके अस्तित्व, अन्यत्व आदिक पारिणामिक भागोंका समुच्चय किया जाता है, तब तो इस सूत्रमें " जीवभव्याभव्यत्वादीनि " इस प्रकार आदि शहूका प्रहण करना न्यायमार्गसे अनपेत (समुचित) है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना। क्योंकि "दिनवाद्यं" इत्यादि सूत्र करके गिनाये गये तीन प्रकारके पारिणामिक भावके प्रतिक्षा करनेकी हानिका प्रसंग आता है। अतः सूत्रमें आदि शद्धको नहीं डालकर तीन प्रकार पारिणामिक भावोंकी गिना दिया है। पुनः शंकाकार कहता है कि सूत्रमें समुच्चय अर्थको कहनेवाले च शब्दका प्रहण करते सन्ते भी तो वही दोष समानरूमसे लागू होता है। अर्थात्—च शद्ध करके अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव पकडे जायेंगे तो भी तीन प्रकारके पारिणामिक भावोंकी प्रतिक्षा करनेकी हानि होय ही जावेगी, अतः प्रतिक्षाभंग दोष तदवस्थ रहा। इसपर प्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं कर सकते हो। क्योंकि पारिणामिक भावोंके तीन संख्याकी प्रतिक्षाको प्रधानरूपकी अपेक्षा है। हां च शद्ध करके उपरिष्ठात् एकत्र करलिये गये तो अप्रधान भूत ही अस्तित्व आदिक ले लिये जाते हैं। अर्थात्—जीवत्व आदि तीन प्रधानभूतभाव हैं, और अस्तित्व आदि अप्रधानभूत हैं, जिनको कि कण्ठोक्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार कोई दोष नहीं हो पाता है।

कुतः पुनः पारिणामिका जीवत्वादयो भावा इति चेत्, कर्मोपश्चमक्षयक्षयोपश्चमोदयानपेक्ष-त्वात् । तस्य जीवितपूर्वकत्वाज्जीवत्वमिति चेन्न, उपचारतो जीवत्वमसंगात् । मुख्यं तु जीवत्वं तस्येष्यते, ततो न ग्रौद्यिकं ।

अल्पाक जीवल आदिक भावोंको भला फिर पारिणामिकपना किस ढंगसे नियत किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विज्ञानन्दस्वामी कहते हैं कि कमौंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम, और उदय की नहीं अपेक्षा होनेसे जीवल आदि भाव पारिणामिक हैं । कमौंके उपशमादिको निमित्त न मानकर केवल आलीय परिणामोंकी अपेक्षासे होनेवाले स्वभाविकभाव पारिणामिक हैं । यहां कोई यों कहें कि भ्वादिगणकी '' जीव प्राणधारणे '' धातुसे बनाया गया जीव शब्द हैं । अतः बहिरंग प्राण आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखते हुये जीवल भावको औदियक मानना चाहिये । उदय आदिकी नहीं अपेक्षा रखना, यह पारिणामिकका लक्षण तो उसमें घटता नहीं हैं । श्री विद्यानंदस्वामी कहते हैं कि यह आक्षेप हमारे ऊपर नहीं हो सकता है । क्योंकि आयुक्तमिक उदयकी अपेक्षासे यदि जीवल भाव माना जायगा तो सिद्ध महाराजके अजीवपनेका प्रसंग होगा। यदि कोई यों कहे कि अजीवीत्, जीवित, जीविष्यति, इति जीवः इस प्रकार तीनों काल्यमें जीवन कियाकी अपेक्षा रखनेवाला जीव है । श्री सिद्ध-परमेष्ठी पहिले संसार अवस्थामें आयुक्तमिका उदय होता रहनेसे जीव रह चुके हैं । कतः भूतप्रज्ञापन पननयकी अपेक्षा सिद्धोंका भी जीवल रिक्षत हो जाता है । सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो सिद्धोंका उपचारसे ही जीवपनेका प्रसंग हुआ । वास्तवमें देखा जाय तो उन सिद्धोंकी मुस्य होता हुआ जीवल्यभाव इष्ट किया गया है । तिस कारण निर्णात हुआ कि जीवल्यभाव औदियक नहीं है । पारिणामिक ही है ।

नतु च ज्ञानादेर्भावमाणस्य घारणात् सिद्धस्य ग्रुक्यं जीवत्वमित्यभ्युपगमे झायिकमेत-त्स्यादनंतज्ञानादः शायिकत्वादिति चेत् न, जीवनिक्रयायाः श्रद्धनिष्पस्यर्थत्वात् तदेकार्थसमवे-तस्य जीवत्वसामान्यस्य जीवशद्धमञ्जतिनिमित्तत्वोपपत्तः । अथवा न त्रिकारुविषयजीवनाम-भवनं जीवत्वं । किं तर्हि १ विसत्तं न च तदायुरुद्यापेक्षं न चापि कर्मक्षयापेक्षं सर्वदाभावात् ।

यहां और भी किसीकी शंका है कि सिद्धोंके पांच इन्द्रिय, तीन बळ, आयु, श्र्वासोच्छ्रास, इन दरा द्रव्यप्राणोंका धारण नहीं है। फिर भी ज्ञान, सुख, चैतन्य, सत्ता इस प्रकारके भावप्राणोंका धारण होनेसे सिद्धोंके भी मुख्य जीवत्व प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार स्वीकार करने पर तो यह जीवावभाव क्षायिक हो जायगा । क्योंकि अनन्तज्ञान आदिक तो ज्ञानावरण आदि कर्मीके क्षयसे उत्पन्न हुये क्षायिक हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि प्राणधारणरूप जीवन किया तो व्याकरण शास्त्र द्वारा जीव शद्धकी साधु सिद्धि करने मात्रके लिये हैं। जहां ही जीव द्रव्यमें प्राण धारण रूप जीवनिकया रहती है, वहां ही जीवत्व नामकी जाति रहती है, जो दो धर्म एक द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे ठहरते हैं। उनका रूप, रसके समान परस्परमें एकार्थ समवाय सम्बन्ध माना गया है। अतः जीवत्व नामक सामान्यको जीव शद्धकी प्रवृत्तिका निमित्तपना युक्तिसे निर्णीत हो रहा है। जीवत्व जाति ही जीवत्वभाव है। रूढि शढ़ोंमें धात्वर्थ क्रियाको केवल व्युत्पत्तिके लिये ही माना गया है। उसका परिपूर्ण अर्थ घटित करना आवश्यक नहीं, अथवा हम यह सिद्धांत करते हैं कि तीनों कालोंमें प्राणधारण या जीवत्व जाति इस नामके सद्भाव बने रहनेको हम जीवत्व नहीं मानते है, तो आप जैन जीवत्वका क्या अर्थ करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि आत्माका चैतन्य गुण ही जीवत्व है। वह चेतना तो आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाळी नहीं है। और वह चतन्य कर्मीके क्षयकी अपेक्षाको धारनेवाले भी नहीं है। कारण कि अनादिसे अनन्तकालतक निगोद अवस्थाते छेकर सिद्धीतकमें वह चैतन्यभाव सदा पाया जाता है। औदियकभाव या क्षायिकभाव तो सर्वदा नहीं पाये जाते हैं । अनादिकालसे अनन्तकालतक ब्रव्य मुद्राकर परिणाम करता हुआ चैतन्य-गुण ही जीवत्व शहूसे लिया जाता है । औदयिकभाव धारावाही रूपसे भलें ही किसी अनादि अनन्त संसारी जीवके सदा पाये जांय किन्तु व्यक्ति रूपसे वे सादिसान्त हैं । हां चैतन्य तो व्यक्तिरूपसे मी अनादि अनन्त है। मले ही घटता बढता रहे क्षायिकमान तो सादि अनन्त प्रसिद्ध ही हैं।

पतेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन सिद्धभवनयोग्यत्वं भव्यत्वं तद्विपरीतमभव्यत्वं च वारिणामिकमुक्तेयं तस्वापि कर्मोदयाधनपेक्षत्वसिद्धेः सर्वदा भावात् । अनादिपरिणाम-मात्रनिवित्तत्वात् ।

इस उक्त कथन करके यह भी कह दिया गया उपरिष्ठात् कक्षण समझ छेना चाहिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यक्षान, सम्यक्षारिकस्पं परिणामकरके भविष्यमें सिद्धपर्याय होनेकी वर्त्तमानकारुमें वर्त रही योग्यता तो भन्यत्वभाव है। और उससे विपरित जो रत्नत्रय रूप करके परिणाम नहीं हो सक्ते में योग्यता अभन्यत्व है। ये दोनों भाव पारिणामिक जान छेने चाहिये। क्योंकि उन भन्यत्व, अभन्यत्व, दोनोंको भी कर्मके उदय, उपशम, आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाछेपनकी सिद्धि हो जानेसे भिन्न दो प्रकार जातिबाछे जीवोंमें उन दो की असंकररूपसे सर्वदा सत्ता पाई जाती है। अर्थाद् युक्तानन्त प्रमाण अभन्य जीवोंकी राशिमें सर्वदा अभन्यत्व परिणाम होता रहता है, तथा मध्यम अनेतानन्त प्रमाण अक्षय भन्य राशिमें बहुभाग भन्योंके सिद्ध अवस्था होनेतक भन्यत्वभाव बना रहता है। मोक्ष होनेपर भन्यत्वभाव बिगड जाता है। जैसे कि मृत्तिकामें घट बन जानेपर घट परिणाम योग्यता विनश जाती है। हां दूरभन्योंमें भन्यता सर्वदा बनी रहती है, भन्यपना भविष्यकालकी अपेक्षासे है। कार्य निष्पत्ति हो जानेपर तो मन्यताक स्थानको भूतता घर छेती है। सुवर्णपाषाण और अन्धपाषाणके समान अनादि कालसे चले आ रहे केवलभन्यत्व या अभन्यत्वरूप परिणामोंके निमित्तसे भन्यपता और अभन्यपना निर्णात कर दिया जाता है।

कुतः पुनरनादिः परिणामः कर्मोदयाद्युपाधिनिरपेक्षो जीवस्य सिद्ध इत्यारेकायामाइ।

कमीके उदय, उपशम, आदि झगडोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ जीवका परिणाम भल्य अनादि है यह किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय? बताओ, इस प्रकार शिष्यमें संशयका उत्थान होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको स्पष्ट कहते हैं |

अनादिपरिणामोस्ति तत्रोपाधिपराङ्मुखः। सोपाधिपरिणामानामन्यथा तत्वद्दानितः॥ १॥

उस जीवमें कर्म, नोकर्म, आदिक उपाधियोंसे सर्वधा पराक्मुख हो रहा कोई अनादि काळीन परिणाम अवस्य है, क्योंकि पश्चात् उपाधिसहित परिणामोंकी अन्यथा यानी मूळ पारिणामिक वस्तुको माने विना उस उपाधिसहित परिणामपनकी हानि हो जावेगी । मूळ है तो शाखा चळ सकती है "मूळं नास्ति कुतः शाखा" मूळमें कपडा है तो उसपर कोई भी रंग रंगा जा सकता है, आकाशको या आकाशके छळको कोई रंग (रिज्जतकर) नहीं सकता है। इस अन्यय व्यतिरेक वाळे हेतुसे जीवका निजगांठका डीळ पारिणामिकभाव है यह साध दिया गया है।

निह स्फटिकादेरसित स्वाभाविकपरिणामे स्वच्छत्वे जपाकुसुमाणुपाधिसाविध्यभावातु-जन्मा रक्तत्वादिपरिणामः मतीयते तद्भदात्मनोप्योपाधिकाः परिणामा औपश्रमिकादयो नानादि-परिणाममंतरेणोपपद्यते शश्चविषाणादेरपि स्वाभाविकपरिणामरहितस्योपाधिकपरिणाममसंगात् । तत्तेत्रित जीवस्यानादिनिरूपाधिकः परिणामः कर्मोपश्चमादिपरिणामवत् । तथा सति । देखो, स्फटिक, काच, आदिके गांठकी स्वाभाविक परिणाम हो रही स्वच्छताके नहीं माननेपर पुनः जपापुष्प, हरापत्ता, आदि उपावियोंके सिक्किट भावसे उरपन्न हुआ छाछ रंग, हरापन आदिक परिणाम हुये नहीं प्रतीत होते हैं। किन्तु मूळमें स्वच्छ स्फटिक इंच्य है, तभी उसमें जपापुष्पके सिक्किशनसे औदियिक छाछिमा जानछी जाती है। वन्ध्या पुत्रको गहने या कपडोंसे नहीं सजाया जा सकता है। उसी प्रकार आत्माकी निज सम्पत्ति हो रहे अनादि काछीन पारिणामिक भावोंके बिना उपाधिजन्य औपशमिक, क्षायोपशमिक, ऐसे सम्यक्ख, झान, आदिक परिणाम होना तो नहीं बैन सकता है। यदि मूळमित्तीको माने बिना ही चित्र खींचा जा सके तो स्वाभाविक परिणामरूप निज शरीरसे रहित हो रहे शश्रश्रंग, आकाशपुष्प, आदिके भी औपाधिक परिणाम होते रहनेका प्रसंग हो जायगा, जो कि किसीको इष्ट नहीं है। तिस कारण यह सिद्धान्त बन जाता है कि जैसे जीवके कमोंकी उपशान्ति, क्षीणता, उदय, आदि निमित्तोंसे सादि या धारावाहि अनादिकाळसे हो रहे औपशमिक, औदियक आदि परिणाम सार्थ जा चुके हैं, उसी प्रकार जीवके उपाधियोंके विना ही गांठके अनादि काळसे उपज रहे परिणाम सिद्ध हो जाते हैं अर्थात्—जीवोंके पांचों प्रकारके परिणामोंको हमने प्रमाणसे सिद्ध कर दिया है। और तैसी व्यवस्था कर चुकनेपर—

एतत्समुद्भवा भावा द्यादिभेदा यथाक्रमम्। जीवस्येवोपपद्यंते चित्स्वभावसमन्वयात्।। २ ॥

इन उपराम, क्षय, आदिसे भछ प्रकार उत्पन्न हो रहे भाव तो यथाक्रमसे दो, नी, आदि भेदोंको धार रहे हैं। ये भाव सब जीवद्रव्यके ही निजतत्त्व सिद्ध हो जाते हैं (प्रतिज्ञा वाक्य) क्योंकि जीवकी आत्मा बन रहे चैतन्य स्वभावका सम्पूर्ण भावोंमें भछ प्रकार अन्वय हो रहा अनुभूत हो रहा है। अर्थात्—हां धारण, इव, उष्णता, ईरण, या रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदिका अन्वय पदि भावोंमें पाया जाता तब तो इनको पुद्रछका निजतत्व कह देते, किन्तु उक्त त्रेपन भावोंमें पुद्रछ आत्मकपना नहीं देखा जाता है, अतः ये भाव जीवके ही समझ छेने चाहिये। कोई समयसाररिक पण्डितमन्य यदि निश्वयनयका अवछम्ब छेकर औदियक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावोंको प्रहरूका कह देवे तो यह उसका आपिक्षिक कथन प्रमाण ज्ञान करनेके छिये आदरणीय नहीं है।

कर्मणाश्चपश्चमक्षयक्षयोपश्चमोद्यप्रयोजना औपश्चमिकक्षायिकक्षायोपश्चिकौद्यिका भावाः कर्मण एवेति न मन्तन्यं, कर्मोपश्चमादिभिः प्रयुज्यमानादीपश्चमिकादिनां जीवपरिणामत्वोषपत्तेः चेतनासंबंधात्वाच ।

औपशमिक आदि शहोंमें प्रयोजन या भव अर्थ में ठण् प्रत्यय करनेपर यों अर्थ किया जाय कि कमैंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम, और उदय, प्रयोजनको धारनेवाछे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशिमक, औदियक ये पचास मात्र तो कार्मोंके ही हैं, इस प्रकार नहीं मानना चाहिये | क्योंकि औपशिमक आदिका स्वतंत्र कर्त्ता आत्मा ही है | प्रयोजक हेतु मछे ही कर्मोंका उदय, उपशम, आदि अवस्थाको मान छिया जाय, कर्मोंके उपशम, आदिकों करके प्रयोजित किये जा रहे औपशिमक आदि मार्वोको जीवका परिणामपना युक्तिसिद्ध है | मार्वार्थ—युद्धका या बृत्यका बज रहा बाजा छडता नाचता नहीं है | ये सब क्रियायें योद्धा या नर्त्तककी स्वात्मीय कार्य (करत्तें) हैं | निमित्त कारणोंका आदर करना वहांतक ही शोभा देता है, जहांतक कि उपादानकारणोंकी निज सम्पत्तिपर डांका न डाला जाय | एक चनेका आधा एक दौलको चनों भरी हजार मनकी खत्तीमें डाल देनेसे पूरे चनोंमेंसे आधे पांचसों मन चनोंका दावा करना अनीति मार्ग है | दूसरी बात यह है कि औपशिमक आदि भावोंमें अन्वितक्रपसे चेतनाका सम्बन्ध हो जानेसे भी वे सम्यग्दर्शन, गति, आदिक भाव सब जीव द्रव्यके ही हैं | पुद्गल कर्मके उपादेय नहीं हैं |

प्रधानस्यैवैते परिणामा, इत्यप्यनालोचिताभिधानं तत एव । न हि द्यादिभेदेषु यथाक्रममीपभिकादिषु भावेषु चित्समन्वयोऽसिद्धस्तेषामहंकारास्पदत्वेन प्रतीतेरात्योपभोगवत् । न
बाहंकारोपि प्रधानपरिणामः पुरुषतादात्म्येन स्वयं संवदनात् । भ्रांतं तत्त्रथा संवदनमिति चेत्
न, बाधकासाबात् । अहंकारादयोऽचेतना एवानित्यत्वात् कलशादिवत्येतदनुमानं बाधकिकि
चेका, पुरुषानुभवेनानैकांतिकत्वात् तस्यापि परापेक्षितया कादाचित्कत्वेनानित्यत्वसिद्धेरित्युक्तत्वादुपयोगसिद्धे । किं च—

कपिल मतानुयायी कहते हैं कि ये ज्ञान, क्रोध, आदिक परिणाम तो प्रकृतिके ही परिणाम हैं। सत्वगुण, रजोगुण,तमोगुण, इनकी साम्य अवस्था स्वरूप प्रधान ही परिणाम करता है। आत्मा तो कूटस्थ अपरिणामी है। आचार्य कहते हैं कि यह सांख्यमितयोंका कथन भी उस ही कारणसे अर्थात्—क्रोधादिमें चेतनका सम्बन्ध ओत पोत लगा रहनेसे ही अविचारित है। साख्योंने चेतन्यका अन्वय आत्मीय भावोंमें ही स्वीकार किया है, क्रोध वेद आदिमें चेतन्यका स्पष्ट अनुभव हो रहा है। पुनः तुम सांख्य यथाक्रमसे दो, नौ आदि मेदोंको धार रहे, औपश-मिक, क्षायिक, आदिक मावोंमें चेतन्यका समन्यय असिद्ध है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उन त्रेपन भी भावोंकी चिदात्माका उल्लेख करनेवाले अहंकारके प्रतिष्ठित स्थानपने करके प्रतीति हो रही है। जैसे कि मैं भोक्ता हूं, अहं दृष्टा, अहं चेतियता, इनमें आत्मीयताकी प्रतीति हो रही है। मावार्थ—प्रकृतिरूप पुंखली लिंके द्वारा सम्पादित कराये गये, आत्मिनष्ठ उपभोगमें जैसे '' अहं उपभोक्ता अस्म '' इस प्रकार अहंकारस्थलपनेसे आत्मस्वरूप चेतन्यका मले प्रकार अन्वय हो रहा है, उसी प्रकार औपशमिक, औदयिक, भावोंमें चेतनात्मक अहंकारका समस्तरंग जम रहा है। कपिल मतानुयायी यों तो नहीं कह सकते हैं कि '' प्रकृतेमेदांस्ततोइंकारस्तरमा-क्रम घोडशकः। तस्मारपि पोडशकार्षचन्यः पंचभूतानि '' इस स्विप्रक्रियक अनुसार अहंकार अहंकार घोडशकः। तस्मारपि पोडशकार्यचन्यः पंचभूतानि '' इस स्विप्रक्रियके अनुसार अहंकार

भी अध्यक्त प्रकृतिका न्यक्त परिणाम है। देखों यह कहना यों ठीक नहीं है कि आत्माके तदात्मकपने करके अहंकारका स्वयमेव सम्बेदन हो रहा है। अहं भोका, अहं चेतनः, यहां अहंका आत्माके साथ तदात्मक सामानाधिकरण है। पुनः यदि कापिल यों कहें कि अहं गीरः, अहं स्थूलः, में गोरा हूं, में मोटा हूं, यहां गोरापन, मोटापन शरीरका अनुविधान करते हैं। उनमें अहंका सम्बन्ध जोडकर आत्माका समिभन्याद्दार करना जैसे भान्त है, उसी प्रकार आत्माके साथ तदात्मकपने करके अहंकारका तिस प्रकार सम्बेदन करना भी आन्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना ! क्योंकि अहं गौरः, अहं स्थूलः, इन प्रतीतियोंका बाधकप्रमाण विद्यमान है। आत्मा गोरा या मोटा नहीं है। पुद्रल निर्मित शरीर ही गोरा या मोटा होता है। इस प्रकार बाधक प्रमाण उत्पन्न हो जानेसे '' अहं गौरः, अहं स्थूलः '' यह सम्बेदन आंत कहा जा सकता है। किंतु अहं कोधी, अहं ज्ञानवान्, अहं आत्मा, अहं चेतनः, इन प्रतीतियोंका कोई बाघक प्रमाण नहीं है। अतः अहंकारका पुरुषके तदात्मकपने करके सम्बेदन होनां अभ्रान्त है । यदि सांख्य उस सम्बेदनको बाधा देनेवाले इस अनुमानको उठावें कि अहंकार, बुद्धि, इस्ट्रियां, आदिक पदार्थ (पक्ष) अचेतन ही है। (साध्य) अनित्य होनेसे (हेतु,) घट, पट, आदिके समान (अन्त्रयद्दष्टान्त) प्रन्थ-कार कहते हैं कि यह बाधक अनुमान तो समीचीन नहीं है। पुरुषके अनुभव करके न्यभिचार दोष उपस्थित हो जाता है। " बुज्बच्यवसितमधे प्रकृषक्षेतयते " बुद्धिके हारा निर्णीत किये गये अर्थको पुरुष चेतना करता है, उपभोग करता है। इस प्रकार उस पुरुषके अनुभवको भी परकी अपेक्षा होनेसे कभी कभी उत्पत्ति होनेके कारण अनित्यपना सिद्ध है। अतः अनुभव या उपभोगर्मे अनित्यत्व हेतु रह गया और अचेतनत्व साम्य न रहा । अतः व्यभिचारी हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ वह अनुमान समीचीन नहीं है । तुम सांख्योंका प्रमाण हान वाभक होता है, और अप्रमाणक्कान बाध्य होता है। किन्तु यहां प्रकरणमें तो विपरीत प्रस्ताव ही घटित हो रहा है। जिसको आप सांख्य बाधक कह रहे हैं, वह अप्रमाणज्ञान है, और जिसको आप बाध्य कह रहे हैं, वह अहंकारमें पुरुषके तदात्मकपने करके संवेदन होना तो प्रमाणवान है। आत्मा उपभोग स्वरूप है, अहंकार स्वरूप है, इस सिद्धान्तको हम इस प्रन्थके आदिमें ही दो सी पचीसवीं वार्तिकसे छेकर दो सौ चवाळीसवीं वार्तिकतक सांख्यमतका निरास करते हुये आत्माको उपयोगात्मक सिद्ध करते समय विशदरूपसे कह चुके हैं। दूसरी बात यह भी है कि-

> श्वायिका नवभावाः स्युः पुरुषस्येव तत्त्वतः। श्वायिकत्वाद्यथा तस्य सिद्धत्वमिति निश्चयः॥ ३॥ कृत्स्वकमेश्वयात्तावत् सिद्धत्वं श्वायिकं मतं। सर्वेषामात्मरूपं नेत्यप्रसिद्धं न साधनम्॥ ४॥

जिस प्रकार कि एकसी अडतालीस भी कमींसे रहित हो जानेपर हुआ सिद्धल्यमा उस आत्माका है पुद्रलका या प्रधानका नहीं है, इस प्रकार निश्चय है। नैयायिक, मीमांसक, सांस्य, सबने आत्माकी ही मोक्ष मानी है। उसी सिद्धल्य मानके समान झान, दर्शन, आदिक नौ क्षायिक भाव भी वास्ताविक रूपसे आत्माके ही हो सकते हैं। देखिये, सबसे पहिले दक्षांत रूपकर कहा गया सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धल्यभाव तो क्षायिक है और वह सिद्धल्यभाव आत्माका तदात्मक स्वरूप है, यह सभी वादी, प्रतिवादियोंके यहां प्रसम्ततापूर्वक मान लिया गया है। क्षायिकभाव (पक्ष) आत्माके ही हो सकते हैं (साध्य) क्षायिक होने से (हेतु) सिद्धल्वके समान (अन्वय दक्षन्त) हमारे इस अनुमान में दिया गया हेतु अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात्—अन्वयदृष्टान्त में हेतु की साध्यके साथ व्याप्ति प्रसिद्ध हो रही है।

द्वावौपशमिको भावो जीवस्य भवतो ध्रुवं । मोक्षदेतुत्वतः कर्मक्षयजन्मदृगादिवत् ॥ ५ ॥ क्षायौपशमिका दृष्टिज्ञानचारित्रलक्षणाः । भावाः पुंसोऽत एव स्युरन्यथानुपपत्तितः ॥ ६ ॥ प्रधानाद्यात्मका होषा सम्यग्द्रष्ट्यादिभावना । न पुंसो मोक्षदेतुः स्यास्सर्वयातिप्रसंगतः ॥ ७ ॥

अनुमान द्वारा श्वायिक मार्गोको आत्माका ही परिणाम साधकर अब औपशमिक भार्गोको भी जीवके तदात्मक परिणामका अनुमान बनाते हैं। उपशम सम्यक्त और उपशम चारित्र ये दो औपशमिक भाव (पक्ष) निश्चित (अवधारित) रूपसे जीवके होते हैं। (साध्य) मोश्नका हेतु होनेसे (हेतु) कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुये दर्शन, झान, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—"सम्पदं-सणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे बवहारा णिज्वयदो तत्तिय मझ्यो णिओ अप्पा'' इस युक्तिपूर्ण सिद्धांत अनुसार मोश्नके हेतु बन रहे परिणाम तो जीवके ही तदात्मकभाव माने जाते हैं। अतः जो जो मोश्नका हेतु है, वह जीवनिष्ठ उपादान कारणता निरूपित उपादेयतावान् होता हुआ तदात्मक जीवका परिणाम है। यह व्याति बन जाती है। तथा इस ही कारणसे यानी मोश्नका हेतु होनेसे (हेतु) तीसरे दर्शन, झान, चारित्रस्त्ररूप, श्वायोपशमिकभाव भी (पक्ष) जीवके ही हो सकेंगे (साध्य) अन्वथा थानी जीव आत्मक परिणाम हुये विना दर्शन, झान, आदिकोंको असिद्धि है। अतः अन्यथानुषपत्ति प्राणको धारनेवाले हेतुसे साध्यकी सिद्धि वन बैठती है, यदि कपिल सिद्धांत अनुसार ये सम्यव्दर्शन आदिक पचास या त्रेपनमात्र मला प्रधानरूप होते या चार्याक मत अनुसार भूत पुद्रस्त्र के

विवर्त होते तो ये भाव आत्माक मोक्षसम्पादक हेतु सर्वथा नहीं हो सकते थे। क्योंकि किसी विवक्षित पदार्थके भाव यदि अविवक्षित अर्थकी मुक्तिके सम्पादक बन बैठे तो अतिप्रसंग हो जायगा। धर्मात्मा जिनदक्तकी ग्रुम परिणतियां चोर, व्यभिचारी, यहदक्तको कारागृह (जेळखाना) से मुक्ति करादेनेकी कारण बन बैठेंगी। इन्द्रदक्ता अन्यास या व्युत्पत्ति भी महामूर्ख भवदक्तको परीक्षामें उत्तीर्ण करा देवेगी। सिद्दान्त यह है कि औपशमिक और क्षायिकभाव आत्माको मुक्तिके सम्पादक हैं। अतः ये जीवके ही तदात्मक परिण्नाम हैं। अन्य किसीके विवर्त्त नहीं हैं।

क्षायोपशिमकाः शेषा भावाः पुंजन्मतामृतः । क्षायोपशिमकत्वात्स्युः सम्यग्दग्बोधवृत्तवत् ॥ ८॥ जीवस्योदियकाः सर्वे भावा गत्यादयः स्मृताः । जीवे सत्येव सद्भावादसत्यनुपपत्तितः ॥ ९॥ कर्मोदये च तस्येव तथा परिणमत्वतः । तेषां तत्परिणामत्वं कथंचित्र विरुध्यते ॥ १०॥

छठी वार्तिकमें कहे जा चुके सम्यन्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, स्वरूप छह क्षायोपशामिक भावोंसे शेष बच रहे कुज्ञान, दर्शन, लिन्ध्यां, संयमासंयम ये बार ह क्षायोपशामिक भाव भी (पक्ष) पुरुष से जन्म लेनेपनको धारण करनेवाले हैं, (साच्य) क्षायोपशाम प्रयोजनको धारनेवाला होने से (हेतु) सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके समान (अन्वय दृष्टान्त) अंगुली पकडकर पाँचा पकडते हुये सम्पूर्ण शरीर पकड लिया जाता है। सर्व प्रसिद्ध सिद्धत्वभावका दृष्टान्त पाकर नी क्षायिकभाव पुरुषके ही परिणाम हैं, यह साध दिया गया है। सिद्ध हुये क्षायिक मावोंको दृष्टान्त बनाकर दो जीपशमिक मावोंमें जीवका तदात्मकपना अनुमित करा दिया है। उस ही हेतु से तीन क्षायोपशमिक सम्यक्त झान चारित्र स्वरूपोंमें जीवका तदात्मकपना साधकर उनको दृष्टान्त बनाते हुये शेष कुक्कानादि क्षायोपशमिक भावोंके जन्मका उपादान कारण जीवको साध दिया है। तथा गति, कषाय, आदिक सभी क्षोदियकभाव (पक्ष) जीवके तदात्मक परिणाम ही आम्नायप्राप्त गाये गये हैं (साच्य) जीवके होनेपर ही उनका सद्भाव पाया जाता है (हेतु) और जीवके नहीं होनेपर गति आदिक भावोंकी उपपत्ति नहीं होने पाती है (व्यतिरेक व्याप्ति) कारण कि कर्मके उदयका निमित्त मिलनेपर उस संसारी जीवके ही तिस प्रकार गति, कषाय, आदि स्वरूप तदात्मक परिणाम हो रहा है। अतः उन गति आदिक भावोंको उस जीवका तद्भूप परिणामक्मा किसी ढंगसे भी विश्व नहीं पदता है।

भन्याभन्यत्वयोर्जीवस्वभावत्वं विभान्यते । पारिणामिकतायोगाचेतनत्त्वविवर्तवत् ॥ ११ ॥ वेतनत्वस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धमित्यसत् । स्वोपयोगस्वभावत्वसिद्धेः पागभिधानतः ॥ १२ ॥

पांचवे पारिणामिक भावोंमें पडे हुये भव्यत्व, अभव्यत्व, भावोंमें (पक्ष) जीवस्वभावपना विचार लिया जाता है (साध्य), पारिणामिकपनेका तादृष्य सम्बन्ध होनेसे (हेतु) चेतनत्व (जीवत्व) नामक विवर्त्तके समान (अन्वयदृष्टान्त)। यहां यदि कोई चार्वाक या वैशोषिक यों कहें कि आत्माका चैतन्यस्त्रभावपना तो असिद्ध है, आचार्य कहते हैं कि यहं उनका कहना अस्त्य है। क्योंकि प्रन्यकी आदिके पहिले प्रकरणमें आत्माके निज उपयोग स्वभावपनकी सिद्धिका कथन हो चुका है। अभी क्षायोपशमिक भावोंको गिनाते समय पांचवे सूत्रका विवरण करते हुये भाषाभाष्यमें इस वातपर बहुत वल दिया जा चुका है कि ये औपशमिक आदि त्रेपन भाव सब जीवके ही तदात्मक परिणाम है।

नन्वीपशमिकादीनां त्यागश्रेकिर्वृतात्मनः । निःस्वभावत्वमासक्तं नैरात्म्यं सर्वथा ततः ॥ १३ ॥ तदत्यागे तु मोक्षस्याभावः स्यादात्मनः सदा । ततो न तत्स्वभावत्वं जीवस्येत्यपरे विदुः ॥ १४ ॥

स्वपक्षका अवधारण करते हुये किसीका यहां पूर्वपक्ष है कि मोक्षको ग्राप्त हो चुके आत्माके यदि " औपश्चमिकादि भन्यत्वानां च " इस सिद्धान्त अनुसार मोक्ष अवस्थामें औपश्चमिक, औद्दियक, आदिक भावोंका त्याग है, तब तो मुक्तको स्वभावोंसे रहितपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। जब कि आप जैनोंने औपश्चमिक आदि भावोंको आत्माका निजस्वभाव मान रक्खा है, और वैसा हो जानेसे सभी प्रकार आत्माको निरात्मकपना (शून्यपना) हुआ। यों तो सम्पूर्ण स्वभावोंसे रीता अश्वविषाणके समान मुक्त आत्मा असत् पदार्थ ठहरा। जहां अपना सबका सब सोज मिट जाय, ऐसी मुक्तिके ठिये भला कौन सहदय जीव अभिलाकुक हो सकेगा ! हां, यदि मुक्तजीवके उन औपश्चमिक आदि मावोंका त्याग नहीं माना जायगा, तब तो सर्वदा ही आत्माके मोक्ष होनेका अमाव हो जायगा, क्योंकि औदियक, औपश्चमिक, क्षायोपश्चमिक, माव ये आत्माके साथ सर्वथा तदारमक हो रहे चुपटे रहेंगे, 'जो कि क्य अवस्थामें हैं। होते हैं तो काहेको भला कभी आत्माकी मोक्ष होने देंगे ! तिस कारणसे त्याग और अत्याग दोनों पक्षके अनुसार जीवको डन औपश्चमिक

आदि स्वमावसाहितपना ठीक नहीं जचता है। यानी जीवके तदात्मक स्वभाव औपशिमक आदिक भाव नहीं है। इस प्रकार कोई नैयायिक या बौद्ध दूसरे विद्वान् समझ वैठें हैं। अब आचार्य उत्तरपक्ष कहते हैं उसको सुनो।

तदसंगतमादेशवचनादेव देहिनः ।
तेषां तद्रूपताभिष्टेरत्यागाच कथंचन ॥ १५ ॥
चित्स्वभावतया तावन्नेषां त्यागः कथंचन ।
क्षायोपशमिकत्वोपशमिकत्वेन तत्क्षये ॥ १६ ॥
तेषामौदियकत्वेन नेव स्यान्निःस्वभावतः ।
मोक्षाभावोपि न पुंसः क्षायिकाद्यविनाशतः ॥ १७ ॥

उन पण्डितोंका वह कथन असंगत है । क्योंकि अपेक्षावर्वक वचनसे ही हम औपशमिक भावोंका त्याग और कथंचित उन भावोंका अत्याग दोनों बातोंको स्वीकार करते हैं। चैतन्य स्वभावपने करके कथंचित् उन भावोंका त्याग नहीं होता है। अर्थात्—अन्वित होनेवाले चैतन्य भावका सर्वदा सद्भाव है। अतः जीवके उन परिणामोंके साथ तद्भपना हमको अभीष्ट है। शिष्पको नहीं पढ़ाते समय भी गुरुका गुरुपना सदा अवस्थित रहता है। सेवाकार्य न कराते हुये भी स्वामीमें सेवकका आधिपत्य अक्षुण्ण बना रहता है। उसी प्रकार जो ही चैतन्य परिणाम पिट्टले निमित्तजन्य भावोंमें ओत पोत दूस रहा था वह सिद्ध अवस्थामें भी चैतन्यभाव ग्रद्ध होकर दमक रहा है। अतः चैतन्य स्वभावपनेसे तो इनका किसी भी ढंगसे त्याग नहीं है, हां क्षायोपशमिकपन या औपशमिकपन. करके उन जान आदि या सम्यक्त्व आदि भावोंका क्षय हो जानेपर तथा औदयिकपन करके उन गति आदिक भावोंका मोक्ष अवस्थामें नाश हो जानेपर तो आत्माका स्वभावरहितपना नहीं प्रसंग प्राप्त होगा तथा दितीय विकल्प अनुसार पुरुषके मोक्षका अभाव भी नहीं होगा । क्योंकि क्षायिक या पारि-णामिक हो रहे केवलब्रान, जीवत्व, अस्तित्व, आदि भावोंका विनाश नहीं हुआ है। कपडेका बना हुआ चोला उतार देनेसे मनुष्य मर नहीं जाता है। औपशमिक, क्षायोपशमिक, और औदियिकभाव मले ही अपने उपरिष्ठात रंगे हुये रूपसे नष्ट हो जांय, किन्तु क्षायिक और पारिणामिकभाव अक्षुण्य तदनस्य हैं । अतः जीव सर्वथा स्वभावोंसे रहित नहीं हुआ और व्यर्थका टण्टा बखेडा हट जानेसे मोक्ष भी बडी प्रसन्नतापूर्वक हो जाती है।

> न चौपशमिकादीनां नाशाजीवास्वभावता । प्रतिक्षणविवर्तानां तत्स्वभावत्वहानितः ॥ १८॥

क्टस्थात्मकतापत्तेः सर्वतार्थिकयाक्षतेः । वस्तुत्वहानितो जीवतत्त्वाभावप्रसंगतः ॥ १९ ॥ तथा च नाशिनो भावाः स्वभावा नात्मनस्तथा । अनात्मनोऽपि ते न स्युरिति तद्वग्तुता कुतः ॥ २० ॥ एवं निःशेषतत्त्वानामभावः केन वार्यते । नास्तिभावस्वभावत्वाभावसाधनवादिनाम् ॥ २१ ॥ ततः स्याद्वादिनां सिद्धः शाश्वतोऽशाश्वतोपि च । स्वभावः सर्ववस्तुनामिति नुस्तत्स्वभावता ॥ २२ ॥

कोई आक्षेप करता है कि आप जैन औपशमिकभाव और आदिपदसे ग्रहण किये गये क्षायीपरामिक, औदियिक भावोंका नारा मोक्ष अवस्थामे मानते है। ऐसा होनेसे तो औपरामिक आदि भावोंको जीवका स्वभावपना नहीं आया । क्योकि जिसका स्वभाव है वह स्वभाववानके नष्ट होनेपर भले नष्ट हो जाय, किन्तु स्त्रभाववान्के नहीं नष्ट होनेपर तो उसका वह स्त्रभाव नष्ट नहीं होता है । जबतक अप्रि है उसका उष्णतास्त्रभात्र सदा स्थिर रहता है । कस्तूरी कभी गन्धरहित नहीं रहती है। अतः औपरामिक आदिकोंका आत्माके विद्यमान होनेपर भी यदि नारा मान लिया जायगा तो वे जीवका स्वभाव नहीं उहर सकते हैं। अब आचार्य महाराज कहते है कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो प्रत्येक क्षणमें नवीन नवीन हो रहे पर्यायोंको भी उस पर्यायीके स्वभाव हीनेकी हानि हो जायगी । अर्थात्-प्रत्येक द्रव्यके पूर्वक्षणभावी पर्यायोंका नाश होकर उत्तर क्षणमें नवीन नवीन पर्याय उपज रहे हैं । अतः आप आक्षेपकारके विचार अनुसार वे क्षणिक पर्याय उस पर्यायीके स्वभाव नहीं ठहर पार्येगे। अञ्चद्ध द्रव्य अग्निकी भी तो उष्णता पर्याय प्रति क्षणमें बदल रही है। मध्य अवस्थामें या मध्यान्ह कालमें अग्निकी जितनी तीव उष्णता है उतनी प्रातःकालमें वा आध-अवस्थामें नहीं है । ज्येष्ठ मासका ताप माघ मासमें दुर्लभ हो जाता है । प्रतिक्षण होनेवाले पर्यायोंको यदि उस पूर्यायीके स्वभाव नहीं माना जायगा, तब तो पदार्थीके कृटस्य आत्मकपनेकी आपत्ति बर बैठेगी, इस ढंगसे सभी प्रकारों करके अर्थिकयाकी क्षति हो जानेसे वस्तुत्वकी हानि हो जाती हैं। और ऐसा हो जानेसे जीव तत्त्वके अभावका प्रसंग हो जायगा, और तिस प्रकारकी अवस्थामें आत्माके हो रहे तिस प्रकार नारा होनेवाले प्रतिक्षणवर्ती परिणाम तो आत्माके नहीं कहे जा सकते हैं, तथा आत्मासे भिन्न पुद्रल तत्त्व, धर्म द्रव्य, आदिके भी वे क्षाणिक विवर्त उनके स्वभाव न हो सकेंगे। ऐसी दशामें जीव और अजीव पदार्थीको मला वस्तपना कैसे एक्षित रह सकता है ! इस

प्रकार अन्यवस्था मच जानेसे नास्ति हो जानेवाले भावको उसके स्वभावपनके अभावका साधन कर रहे वादियोंके यहां सम्पूर्ण तत्त्वोंका अभाव हो जाना किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात् -प्रतिक्षणके विवर्त्तीको द्रव्यका स्वमाव न माननेपर कूटस्थपनका प्रसंग होगा । वस्तुका लक्षण अधिकियाकारित्व है. अधिकया न होनेसे वम्नुत्वकी हानि होते हुये जीवतत्त्वका ही अभाव हो जायगा। नाशशील भाव जैसे आत्माके नहीं माने जाते हैं, उसी प्रकार अजीव तत्त्वोंके भी नाश होनेवाले विवर्त तो स्वभाव न हो सकेंगे । तब तो जीव, अजीव, सबके वस्तुत्वकी क्षांति हो जानेसे शन्यवाद आगया । किन्तु वह तो आक्षेपकारको इष्ट नहीं पढेगा । तिस कारणसे स्याद्वादियोंके यहां यह सिद्ध हो जाता है कि चाहे सर्वदा स्थित रहनेवाला शाश्वत परिणाम हो अथवा कदाचित ्रियर रहनेवाला अशास्रत परिणाम होवे स<u>त्र सभी वस्तुओंके तदात्मक स्वभाव माने जाते</u> हैं। इसी ढंगसे कदाचित होनेवाले उन औपरामिक आदि भावोंको भी आत्माका स्वभावपना सिद्ध हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तको माननेवाले जैनोके यहां वस्तुके अनेक स्वभाव तो एक क्षणस्थायी ही हैं। और कितने ही स्वभाव बहुत क्षणोंतक ठहरनेवाले हैं तथा अनन्त स्वभाव सर्वदा नित्य स्थित रहते हैं। देवदत्तकी बाल्य, कुमार, युवा, अवस्थायें तदात्मक स्वभाव होती होती रहती हैं। फिर भी जन्मसे छेकर मरण पर्येत ही देवदत्त कोई भी द्रव्य, कूटस्थ नित्य नहीं है। प्रतिक्षण अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, उसमें पाये जाते हैं, तभी वह सत् बना रह सकता है। मधुमिन्खयोंके समुदाय प्राप्त छत्तेमेंसे अनेक मधुम-क्खियां आतीं जातीं रहतीं हैं। उसी प्रकार द्वयमें अनेक स्वभावोंके उत्पाद, विनाश, होते रहते हैं। संसार अवस्थामे तदात्मक रूपसे हो जा चुके औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, भावोंका नाश हो चुका है। फिर भी मोक्ष अत्रस्थामें उन भावोंका अवस्थाता नित्य द्रव्य आत्मा या चेतना आदि गुण विद्यमान हैं। क्षायिकभाव, पारिणामिकभाव, शास्त्रत गुण इनके बने रहनेसे परिशुद्ध हो रहा जीव द्रव्य अनन्तकालतकके लिये सिद्ध हो जाता है । सक्ष्मतासे विचारो तो प्रतिक्षण पर्याय रूप हो रहे क्षायिकभाव और पारिणामिक भावोंका भी परिवर्तन हो रहा है । एतावता द्रव्यस्थिति और भी सुदृढ़ हो जाती है। चर्म या छोहपत्ती अथवा डोरीको छपलपाते रहनेसे वे अत्यधिक कालान्तरस्थायी होते हुये पुष्ट बन रहते हैं। यहांतक जीवके तदात्मक हो रहे श्रेपन भावोंकी सिद्धि कर दी गयी है। विशेष यह कहना है कि जैसे कर्म शरीरके अनुसार आत्माके औपशमिक आदि भाव होते हैं, उसी प्रकार नोकर्मशरीर अनुसारके भी यथासम्भव औपशमिक आदि भाव लगाये जा सकते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव भी स्वतंत्र रूपसे अथवा कर्म. नोकर्मोंकी विभिन्न परिणामित शक्तियों द्वारा जीवांके अनेक परिणामों के सम्पादक हैं। भावार्थ - कर्मीके उदय आदि समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अथवा नोकर्मका वातावरण भी जीवोंके सुखदुःख मोक्ष आदि कार्यीके निमित्त कारण है।

एवं जीवस्य स्वतन्त्रं च्याख्याय लक्षणं च्याचिख्यासुरिदं सूत्रमाह।

इस प्रकार जीवके अनुजीवक निज तत्त्वोंका व्याख्यान कर अब जीवके लक्षणकी व्याख्या कर-नेके अभिलापुक श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्वतंत्रतापूर्वक दूसरोंके लिये स्पष्ट कह रहे हैं।

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८॥

अन्तरंग, बहिरंग, कारण मिलनेपर ज्ञाता, दृष्टा, आत्माके चैतन्य अंशका अनुविधान करने-बाका उपयोग परिणाम तो जीवका लक्षण है।

जीवस्येत्यज्ञुवर्तते । कः पुनः स्वतन्त्रलक्षणयोर्विशेषः १ स्वतन्त्वं लक्ष्यं स्याल्लक्षणं च कक्षणं । लक्षणं तु न लक्ष्यं इति तयोर्विशेषः ।

द्वितीयाच्यायके पहिले सूत्रसे जीवस्य इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तैसा होनेपर जीवका लक्षण उपयोग है। ऐसा वाक्य अर्थ वन जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि पूर्व सूत्रमें जीवके स्वतत्त्वका निरूपण किया गया है। और इस सूत्रमें जीवका लक्षण कहा गया है। अतः बताओं कि फिर स्वतत्व और लक्षणमें क्या विशेषता (अन्तर) है? अब आचार्य महागुज समाधान करते हैं कि स्वतत्व तो लक्षण करने योग्य हो रहा स्यात् लक्ष्य भी हो जाता है। और कथंचित् लक्षण भी हो जाता है। किन्तु लक्षण तो लक्षण ही रहेगा, कथमपि लक्ष्य नहीं हो सकता है। इस ढंगसे उन स्वतत्व और लक्षणमें अन्तर है, अर्थात्—जीवके जो निजतत्व हैं वे जीवकी ही आत्मा हैं। अतः जीव लक्ष्य है, तो वे स्वतत्व भी लक्ष्य है। स्वतत्व कदाचित् जीवके लक्षण भी हो जाते हैं, हां उपयोग सर्वदा लक्षण ही रहेगा। अतः व्याप्यव्याप कमाय या व्यक्ताव्यक्तभावसे इनमें विशेषता पायी जाती है। अथन स्वतत्वोंमें कितने ही भाव जीव लक्ष्यके समान व्यतिकीर्ण हो रहे हैं। वे स्वयं छिपे हुये हैं। किन्तु लक्षण तो ल्यावर्तक हो रहा व्यक्त होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतत्वोंमें कई लक्ष्य है। क्योंकि उन भावोंसे ही तो जीविपण्ड व्यवस्थित है। भावोंके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। ही, उनमेंसे कुछ भाव तो जीवके लक्षण भी हो जाते हैं।

यधेवं किमन्न जीवस्य स्वतत्त्वं लक्षणितत्याह ।

प्रश्नकर्त्ता कहता है कि यदि स्वतन्त्र और लक्षणकी इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओ, त्रेपन स्वतन्त्रोंमे कौनसा स्वतन्त्र जीवका स्वलक्षण माना जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी सिद्धांतमार्गको बताते हुये कहते हैं।

तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोपशमजश्च यः । तद्यक्तिव्यापि सामान्यमुपयोगोस्य लक्षणं ॥ १ ॥ उन स्वतन्त्रोंमें जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ भाव है और जो कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ विशेष भाव है, इनके प्रकार हो रही उन बारह व्यक्तियोंमें सामान्य रूपसे व्याप रहा उपयोग तो इस जीवका लक्षण है।

सयोद्भवो भावः शायिको भावस्तस्य व्यक्ती केवलक्षानदर्शने युक्षेते, श्रयोपशमजो मिश्रस्तस्य च व्यक्तयो मत्यादिक्षानानि चत्वारि मत्यक्षानादीनि त्रीणि चश्चर्दर्शनादीनि च युक्षेते तत्रैवोपयोगसामान्यस्य क्षेत्ररन्यत्रावर्तनात् । तद्यापि सामान्यस्ययोगोस्य जीवस्य लक्षणमिति विविधितत्वात्, तद्यक्तेर्लक्षणत्वे लक्षणस्याव्याप्तिमसंगात् । बाह्याभ्यंतरहेतुद्रयसिक्षधाने यथासंभवस्यल्थ्युश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग इति वचनात् ।

क्षय से उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक कहा जाता है। नौ क्षायिक भावोंमें यहां उसके विशेष व्यक्तिरूप केवलज्ञान और केवलदर्शन दो भाव प्रहण किये जाते हैं। तथा कर्मांके क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ मिश्रभाव सामान्यरूप से अठारह व्यक्तियोंमें व्याप रहा है। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार उस क्षायोपशमिककी मतिज्ञान आदि चार व्यक्तियां और कुमतिज्ञान आदि तीन व्यक्तियां तथा चक्षदर्शन आदि तीन व्यक्तिविशेष इस प्रकार दश मिश्रभाव पकडे जाते हैं। उन दो क्षायिक भाव और दश क्षायोपशामिक भाव इस प्रकार बारह व्यक्तिविशेषोंमें ही उपयोग सामान्यकी वृत्ति हो रही है। अन्य दान, सम्यक्त, संयमासंयम आदिमें उपयोग सामान्य नहीं वर्तता है। अतः उन बारह व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला सामान्यकप उपयोग इस प्रकरणप्राप्त जीव तत्त्वका लक्षण है, ऐसा अर्थ सत्र-कारको विवाधीत हो रहा है। यदि सामान्य उपयोगको लक्षण नहीं कर उस उपयोगकी विशेष व्यक्ति हो रहे मतिज्ञान या कुश्रतज्ञान अथवा चक्षदर्शन आदिमें से किसी एक व्यक्तिको जीवका लक्षण होना माना जायगा तो लक्षणके अन्यापि दोष हो जानेका प्रसंग होगा. जैसे कि गौका लक्षण कपिलपना करनेसे अन्याप्ति आती है उसी प्रकार मतिज्ञानको जीवका रुक्षण बनानेसे पहिले तीन गुणस्थानोंतकके जीवोंमें या केवल ज्ञानियोंमें लक्षण घटित नहीं होगा, चक्षदर्शनको ही जीवका लक्षण कह देने से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीवोंमे तथा तेरवे चौदहवें गुणस्थानवाले आत्माओं या सिद्धोंमें लक्षण समन्वय नहीं होनेसे लक्षण अन्यात हो जायगा । श्री अकलंक देवकृत राजवार्तिक नामक प्रन्थमें इस प्रकार कथन किया गया है कि आत्मभूत और अनात्मभूत दो बहिरंग कारण और अनात्भृत, आत्मभूत दो अन्तरंग कारणके यथायोग्य सिन्धान होनेपर ज्ञातादृष्टा, आत्माके चैतन्यका अन्यय रखनेवाळा परिणाम विशेष उपयोग है। इस प्रकार सामान्य उपयोगको जीवका लक्षण आम्नायसे माना गया चला आ रहा है।

अत्र हि न चैतन्यमात्रप्रपयोगो यतस्तदेव जीवस्य लक्षणं स्यात् । किं तर्हि ? चैत-न्यानुविधायी परिणामः स चोपलब्धुरात्मनो न पुनः मधानादेः चैतन्यानुविधायित्वाभाव- मसंगात् । न चासावहेतुको बाह्यस्थाभ्यंतरस्य च हेतोर्द्वयस्योपात्तानुपात्तविकल्पस्य सिक्याने सित भावात् । न चैवं परिणामविश्लेष उपयोगी मितिङ्कानादिव्यक्तिरूपः मितपादितो भवति यथासंभविमित वचनात् । ततो दर्शनङ्कानसामान्यग्रुपयोग इति सूक्तं ।

अकलंक सिद्धान्त अनुसार श्रीविद्यानन्द स्वाभी कहते है कि यहां सूत्रमें ग्राह्म, अप्राह्म, संपूर्ण ही चैतन्य या मात्र चेतना नामका अतीन्द्रिय गुण तो उपयोग शब्दसे नहीं पकडे गथे हैं। जिससे कि वह सामान्य चैतन्य ही जीवका रूक्षण हो जाय तो कौनसा चैतन्य विशेष उपयोग है ? इसका उत्तर तो यह है कि जैसे खडुआ, वाजू, कुण्डल, हंसुली, आदि परिणामोंमें सुवर्णपनेका अन्वय लग रहा है, उसी प्रकार चैतन्यका अन्त्रय रख रहा परिणामविशेष इस प्रकरणमें उपयोग लिया जाता है, और वह उपयोग परिणाम तो आत्माका है। किन्तु फिर प्रकृति या पृथ्वी आदिक तत्त्वोंका नहीं है। क्योंकि जडद्रव्योंका परिणाम माननेसे उपयोगको चैतन्यका अनुविधान रखनेवालेपनके अभावका प्रसंग होगा तथा वह चैतन्यानुविधायी परिणाम अहेतुक भी नहीं है। उसके हेतु विद्यमान हो रहे हैं। देखिये, उपात्त और अनुपात्त विकल्पोंको धार रहे बहिरंग कारणके द्वय तथा अभ्यंतर कारणके द्वयका सिन्धान होनेपर वह उपयोग उपजता है । उपयोगके बहिरंगकारण आत्मभूत और जनात्म-भूत दो प्रकार हैं। घनांगुलके संख्यातों भाग या असंख्यानवें भाग क्षेत्रको घर रही पुद्रल निर्मित स्पर्शन रसना, आदि और मन ये इन्द्रियां तो आत्मभूत हैं । प्रदीप, अंजन, उपनेत्र (चश्मा) आदि अनात्मभूत हैं । तथा अन्तरंग कारणोंमें उपयोग लगानेका उपयोगी दृष्ययोग तो अनात्मभूत जाता है। और भावयोग या क्षयोपरामजन्य लब्धि तो आत्मभूत अभ्यंतर हेतु है। कितने ही प्रदीप आदि कारण तो उपात्त हैं, और लिध आदिक कारण अनुपात्त हैं। एक बात यह भी है कि इस प्रकारका परिणामित्रशेष उपयोग केवल मितज्ञान या अवधिज्ञान, आदि अकेली व्यक्तिस्वरूप नहीं कह दिया गया है। क्योंकि पूज्य श्री अकलंकदेवने उपयोगके लक्षणमें " यथासम्भवम् " इस प्रकार पदप्रयोग किया है । तिस लक्षणके घटक अवयव पदसे सामान्यरूप करके सभी दर्शन और यावन्मात्र ब्रान व्यस्तरूपसे उपयोग हो। जाते है। यह ढंग बहुत अच्छा कहा गया है। यहांतक सूत्रके उद्देश्य दलका अकलंकलक्षणपूर्वक अच्छा निरूपण कर दिया गया है । सामान्य उपयोगको जीवका छक्षण कहना बहुत अच्छा है ।

किं पुनर्रक्षणं १ परस्परव्यतिकरे सित येनान्यत्वं रुक्ष्यते तल्लक्षणं । हेमझ्यामिकयो-र्वर्णादिविश्चेषवत् । तद्दिविधं आत्मभूतानात्मभृतविकल्पात् । तत्रात्मभूतं रुक्षणमप्रेरुष्णगुणवत्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दंडवत् । तत्रेहात्मभूतं रुक्षणग्रुपयोगो जीवस्यति मतिपत्तव्यं ।

िंसीका प्रश्न है कि विधेय दलमें पड़े हुये लक्षणका फिर क्या लक्षण है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर करते हैं कि परस्परमें एक दूसरेसे बन्धरूप या अबन्ध रूप सम्मिश्रण हो जानेपर विविद्यित पदार्थका जिस धर्म या धर्मी पदार्थकरके मिन्नपना प्रदर्शित कराया जाता है, वह छक्षण है। जैसे कि सुवर्ण और कालिमाका वर्ण गुरुत्व, कान्ति, आदिकी विशेषतायें छक्षण हैं। मात्रार्थ सोनेमें चांदी, तांबा, या किंह, कालिमा, मिल रही है, ऐसी दशामें न्यारिया विशेष रंग या कसना अथवा तापजन्यकान्ति आदि छक्षणोंसे सुवर्णके भाग और कालिमाके भागकी परीक्षा कर छेता है। ज्ञान या मूर्यप्रकाशके पिहले सभी पदार्थ अञ्चान अन्धकारकी अवस्थामें घुल मिल रहे हैं। उनमेंसे छक्षण द्वारा ही नियत पदार्थोंका परिज्ञान किया जा सकता है। वह छक्षण आत्मभूत और अनात्मभूत विकल्पसे दो प्रकारका है। उन दो प्रकारोंमें आप्रिके उच्चात्व गुण (पर्याय) के समान जो वस्तुके शरीरमें तदात्मक होकर प्रविष्ट हो रहा है वह तो आत्मभूत छक्षण है और जो देवदत्तके छक्षण दण्डसमान वस्तुमें तादात्म्य रखकर ओपपोत नहीं हो रहा है, वह अनात्मभूत छक्षण है। तिन आत्मभूत, अनात्मभूत, लक्षणोंमें यहा जीवका उपयोग छक्षण तो आत्मभूत है ऐसा समझना चाहिये।

नात्मभूतो जीवस्योपयोगो गुणत्वादभ्रेरुणविदिति चेन्न, एकांतभेदनिराकरणस्योक्तत्वा-द्रुणग्रुणिनोः, गुणिनः कथंचिदभिन्नस्यैव गुणत्वोपपचेरन्यथा गुणग्रुणिभावविरोधात् घटपदा-दिवत् । सर्वथा भिन्नमेव लक्ष्याञ्चक्षणं दंडादिवत् इति चेन्न, अनवस्थानसंगात् । लक्षणाद्विभिन्नं लक्ष्यं कृतः सिध्येत् १ लक्षणांतराचेन्ततोऽपि यदि तद्रिन्नं तदा लक्षणांतरादेव सिध्येदित्य-नवस्था । सुद्रमपि गत्वा यद्यभिन्नाञ्चक्षणात्कुतश्चित्तत्विध्येत् तदा न सर्वे लक्षणं लक्ष्याद्विन्नमेव ।

नेही बिस्ता जैनों के उत्पर कटाक्ष है कि जीवका लक्षण उपयोग तो उसका आत्ममूल लक्षण नहीं है। (प्रतिज्ञा नक्य) गुण होनेसे (हेतु) अग्निक उष्ण गुणसमान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात् गुणिस गुण सर्वथा मिन्न होता है। तभी तो आद्यक्षणमें द्रव्यके रहते हुये भी गुण नहीं उपजने पाते है। अग्न द्रव्यसे उष्ण गुण भिन्न है। उसी प्रकार आत्मासे ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, मिन्न होते हुये अनात्ममूल हैं। कोई लक्षण आत्ममूल नहीं हो सकता है। चटका लक्षण घट या कल्या करना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यों वशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि गुण और गुणीके एकान्त रूपसे भेद होनेके निराकरणको हम कह चुके हैं। गुणी द्रव्यसे कथंचित् अभेदको प्राप्त हो रहे पदार्थको गुणपना व्यवस्थित होगा। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे गुणगुणीमावका विरोध है। जैसे घटका लक्षण पट नहीं हो सकता है, अथना सहाका लक्षण सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ विन्य पर्वत नहीं हो सकता है। घटका गुण सर्वथा भिन्न पट नहीं है। सहाका गुण विन्य पर्वत भी नहीं है। सर्वथा भेद तो जड पदार्थ और चैतन्यका है। किन्तु इनमें लक्ष्यलक्षणमाव या गुणगुणीमाव नहीं माना गया है। इसपर नैयायिक या वैशेषिक यदि यों कहें कि जैसे पुरुषसे दण्ड न्यारा है, देवदत्तसे कुण्डल भिन्न है, इन्दत्तका कालीटोपीके साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-न्यारा है, देवदत्तसे कुण्डल भिन्न है, इन्दत्तका कालीटोपीके साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-

दक्षणभाव है। अतः दण्ड आदिकके समान रुक्षण तो रुक्ष्यसे सर्वथा मिन्न ही होता है। मला अमिन्न पदार्थ स्वयं अपना ही परिज्ञापक क्या होगा ? प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। कारण कि अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग आता है। देखिये, रुक्षणसे विशेष रूपकर मिन्न पड़ा हुआ रुक्ष्य भरा कैसे सिद्ध होगा ? बताओ, मिन्न रुक्षणसे जानोगे ? और प्रकृत रुक्ष्यके न्यारे रुक्षणको यदि न्यारे अन्य रुक्षणों से जानोगे तब तो वह रुक्षण भी अपने रुक्ष्यक्ष्य रुक्षणके मिन्न ही होगा, किर उसको भी तीसरे, चौथे, आदि रुक्षणोंसे ही सिद्ध कर पाओगे। यही तो अनवस्था दोष है। मिन्नमिन पड़ते चर्छे जा रहे पदार्थों से प्रकरण प्राप्त रुक्षणोंकी ज्ञाति करना असम्भव बन बैठेगा। हां, बहुत दूर भी जाकर यदि किसी अमिन्न हो रहे रुक्षण से उस अप्रसिद्ध रुक्षणक्ष्य रुक्ष्यके। सायोगे तब तो सभी रुक्षण रुक्ष्यसे मिन्न ही होते हैं, यह तुम बैशिषिकोंका एकान्त आग्रह नहीं न्यवास्थित हुआ। दूर जाकर नैसे रुक्ष्यरुक्षणमें अमेद मानना अनिवार्थ पड़ गया, उसी प्रकार प्रथम ही से क्यों नहीं कथांचित् मेदामेदका आश्रय पकड़ रिया जाता है ? दीर्बदर्शितासे काम हो, दीर्बम् जिता से नहीं।

तथा यदि प्रसिद्धं तल्लक्षणं लक्ष्यस्य प्रज्ञापकं तदा कुतस्तत्यसिद्धं ? स्वलक्षणांतरादिति चेत्तदिप स्वलक्षणांतरादित्यनवस्या । सुदूरमप्यनुस्त्य यदि लक्षणं स्वरूपत एव प्रसिध्येत्तदा न सकलं भिक्रमेव लक्षणं लक्षणस्य स्वात्मभूतलक्षणत्वात् । न चाऽप्रसिद्धं किंचित्कस्यचिल्लक्षणिति प्रयोगात ।

दूसरी बात यह है कि सर्वधा भेद पक्षमें उत्त्य भी उक्षण हो जाय और उक्षण भी उक्ष्य बन बैठे इसको कौन रोक सकता है ! स्वतंत्र हो रहे उदासीन फक्कडोंकी स्वच्छन्दप्रवृत्ति रोके रुकती भी तो नहीं है । यदि यह स्थूज सिद्धान्त माना जाय कि वह प्रसिद्ध पदार्थ ही उस अप्रसिद्ध उक्ष्यका उक्षण हो रहा संता उसका प्रकृष्ट झान करा देता है, तब तो हम जैन पूछेंगे कि उस उक्षणकी सिद्धी कैसे करोगे ! बताओ, यदि उस उक्षणके स्वकीय उक्षणान्तर से उसको प्रसिद्ध माना जायगा, तब तो वह उक्षणान्तर भी अपने न्यारे उक्षणान्तरसे प्रसिद्ध होगा और उस चौधी कोटिके उक्षणकी प्रसिद्धि भी पांचवे आदि उक्षणोंसे होगी, इस तरह जिज्ञासा बढते बढते अनवस्था बन बैठेगी । अत्यधिक दूर भी चलते चलते अनवस्थाके निवारणार्थ यदि उक्षणको निजस्वरूपसे ही प्रसिद्ध कर लिया जायगा तब तो सम्पूर्ण ही उक्षण भिन्न ही होते हैं, यह आप्रह नहीं चला । दस्त्रीं, बीस्त्रीं कोटिपर जाकर उक्षणका स्वात्मभूत धर्म ही उक्षण हो गया । जो पदार्थ अद्यावधि किसीको यहां प्रसिद्ध नहीं हैं, वह तो कोई भी किसीका भी उक्षण नहीं हो सकता है । इस प्रकार सब कोई कह रहे हैं । अतः कोई उक्षण मले ही उक्ष्यमे भिन्न होय, किन्तु सभी उक्षण तो उक्ष्यमे भिन्न नहीं हैं ।

तर्श्वभिष्ममेव लक्ष्याल्यक्षणमग्नेष्ठणादिवदिति चैका, विपर्ययमसंगात् । तादात्म्यावि-शेषेप्यात्मोपयोगयोरम्न्योष्णयोर्वोपयोगादिरेव लक्षणमात्मादेः न पुनरात्मादिरुपयोगादेरिति नियमहेत्वभावात् । मसिद्धत्वादुपयोगादिर्लक्षणमिति चेत् , किं पुनरात्मादिरप्रसिद्धः तथोपयो-गमेकं कथमात्मोपयोगयोरम्न्युष्णयोर्वा तादात्म्यं प्रसिद्धापसिद्धयोः सर्वथा तादात्म्यविरोधात् ।

कोई अभेद एकांतवादी कहता है कि सर्वथा भेदवादमे दोष आता है, तब ते। लक्ष्यसे लक्षण अभिन है। मान लिया जाय । जैसे कि अग्निक उष्ण, दाहकत्व, पाचन, आदि लक्षण अभिन हैं. जैन जन आत्मासे उपयोगको कथंचित् अभिन्न मानते ही है, हमारे कहनेसे सर्वथा अभेद मानलेवें। अब आचार्य कहते हैं, यह तो न कहना । क्योंकि सर्वथा अमेद पक्षमें विपरीत होनेका प्रसंग हो जायगा। लक्ष्य भी लक्षण बन बैठेगा। जब कि दोनो एक ही हैं, आत्मा और उपयोग अथवा अग्नि और उच्चाताके तादात्म्यका कोई अन्तर न रहते हुये भी उपयोग, उच्चता आदिक ही आत्मा, अग्नि, आदिकके लक्षण हो जांय, किन्तु फिर उपयोग, उष्णता, आदिके लक्षण आत्मा, अग्नि, आदि न होय इस तुम्हारी बातका नियम करानेवाला तुम्हारे पास कोई हेतु नहीं है। यदि तुम यों कहो कि अभिन्न हो जानेसे क्या हुआ े प्रसिद्ध होनेसे उपयोग, उष्णता, आदिश ही लक्षण हैं। और अप्रसिद्ध हुये आत्मा, अप्नि, ये लक्ष्य हैं । यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि क्योंजी, फिर आत्मा आदिक क्या अप्रसिद्ध हैं ? उस उपयोगके अनुसार तो थे एक ही हैं । जब कि आपने उपयोग और आत्माका अभेद मान लिया है, तो दोनों ही प्रसिद्ध या दोनों ही अप्रसिद्ध हो सकेंगे । तदात्मक दो पदार्थीमें एक प्रसिद्ध और दूसरा अप्रसिद्ध यह तो हो नहीं सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रसिद्ध हो रहे उपयोग और अप्रसिद्ध हो रहे आत्मा अथवा अप्रसिद्ध हो रही अप्नि और प्रसिद्ध हो रहे उच्चा गुणका भला तादात्म्य भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दो पदार्थीमें सर्वधा तादात्म्य होनेका विरोध है। तुमको स्वयं कण्ठोक्त उनका कथंचित् भेद मानना पडा।

न चैकांतेनामसिद्धस्य लक्ष्यत्वं खरिवषाणवत् । नापि मसिद्धस्यैव लक्षणवत् कथंचि-त्मसिद्धस्यैव लक्ष्यत्वोषपत्तेः द्रव्यत्वेन मसिद्धस्य हि वन्हेरिवित्वेनामसिद्धस्य लक्ष्यत्वभ्रपल्बधं द्रव्यस्य च सत्त्वेन मसिद्धस्य द्रव्यत्वेनामसिद्धस्य लक्ष्यत्वभ्रपण्यते सतोपि वस्तुत्वेन मसिद्धस्यासन्त्वव्यतिरेकेणामसिद्धस्य लक्ष्यत्वभ्रपलक्ष्यते नान्यथा । न चैवमनवस्था कस्यचित्कचिक्षिर्णयोपलब्धेः । सर्वत्रानिर्णयस्य व्याहतत्वात् तस्यैव स्वरूपेण निर्णयात् । तदनिर्णये वा कथं सर्वत्रानिर्णयसिद्धिः ।

एक बात यह भी है कि तुमने अप्रसिद्धकों लक्ष्य और प्रसिद्धकों लक्षण कहा था, वह तो ठीक नहीं दीखता है। कारण कि जो पदार्थ एकांत रूपसे यानी सर्जीग स्वरूपसे अप्रसिद्ध है वह तो खरिविषाणके समान लक्ष्य नहीं बन सकता है तथा सर्जिया एकान्त रूपसे प्रसिद्ध हो रहे ही पदार्थकों लक्ष्यपना नहीं है, जैसे कि प्रकरणमें दोनों वादी प्रतिवादियों के यहां प्रसिद्ध हो रहा लक्षण उस समय

ल स्य नहीं माना जाता है। हां कथंचित् अपसिद्ध और किसी अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे ही अर्थको लक्ष्मपना बनता है। देखिये. अग्रि उणा है इस प्रकार विशेष व्यक्तियों स्वरूप विश्वका अज्ञान रखनेवाले किसी अन्यत्वनके सत्मुख किसी ब्रानीने अग्निका उप्णल लक्षण कहा, यहां द्रव्यवनेसे प्रसिद्धः हो रहे: और अग्निपनेसे नहीं प्रसिद्ध हो रहे ही अनलको लक्ष्यपना देखा गया है। पश्यपनेसे प्रसिद्ध हो रही गायका लक्षण शृंगसास्त्रावत्त्व कर दिया जाता है । अग्निको द्रन्य समझ रहे या गायको सामान्यरूपसे पद्म या जीन समझ रहे मुख्यके प्रति नक्ता द्वारा उष्णपना या सींग, सासनासहितपना, उक्षण करना सार्थक है । जो द्रव्यरूपसे या वस्तुरूपसे भी उक्त पदार्थीको नहीं समझता है उसकी चिकित्सा न्यारी है। ऐसी दशामें अभिका द्रव्यपना प्रथम समझाने योग्य है। वहां भी सतुपने करके प्रसिद्ध हो रहे और द्रव्यपने करके अप्रसिद्ध हो रहे द्रव्यको लक्ष्यपना बन रहा है। तभी " सद्द्रव्यलक्षणम् " कहना समुचित प्रतीत होगा । यदि उत्पाद, व्यय, धौव्यसे सहितपन रूपः सत्त्व भी किसीको ज्ञात न होय तो फिर उस सत्को ही छश्य बनाओ । किन्तु वस्तुपने करके प्रसिद्धः हो रहे और असत्पनकी भिन्नता करके अप्रसिद्ध हो रहे ऐसे सतको रुक्ष्यपमा देखा जा रहा है। अन्य प्रकारों से छक्ष्यपना नहीं बनता है। अर्थात् -- उद्दिष्ट पदार्थका ही लक्षण किया जा सकता है और नामनिर्देश तो किसी न किसी निर्णीत धर्म से युक्त हो रहे पदार्थका किया जायगा। इञ्यत्क धर्म से प्रसिद्ध हो रही अभिका लक्षण उष्णत्व हो सकता है। यदि किसीको अभिमें उष्णपनके समान द्रव्यत्व भी अप्रसिद्ध होय तो दश्यमान या सम्भाव्यमान अग्निका सत्पने करके प्रसिद्ध हो जुकना आवस्पक है। जो उस अग्निरूप पदार्थको खरविषाण आदि असत् पदार्थों से भिन्न समझता हुआ सत् समझ रहा है उस सामान्य सत् अर्थको द्रव्यपने करके छक्कित किया जा सकता है। यदि सत्पनेका भी वहां निर्णय नहीं है तो कमसे कम उसमें वस्तपनेकी प्रसिद्धी तो अक्ट्य हो चक्नी। चाहिये । अवस्तुमें सत्पना नहीं दिखाया जाबगा । वस्तुपना भी यदि निर्णीत न होय तो अर्थ किया-कारित लक्षण करके उस सर्वनाम वाच्य अर्थकी प्रसिद्धि हो चुकना आवश्यक है । उत्तरोत्तर दसवी. बीसकी, कोटिपर पहुंचते हुये अप्रसिद्धि बनी रहेगी तो ऐसी दशामें उस रुक्ष्यकाः लक्ष्या नहीं बनना व चाहिये । सीमी कोटिपर जाकर भी यदि छद्य किसी अंशसे प्रसिद्ध होगया है तो उससे उस्की ओरके निन्यानेवे छक्ष्मोंको सुक्रमतासे कथंचित् प्रसिद्ध बनाया जा सकता है। असंस्थ कोडियर पहुं-चकर भी कथमपि नहीं प्रसिद्ध ह्रयेको तो किन्हीं भी अन्य उपायी करके छक्ष्यका नहीं कर पाता है। यदि कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार चौथी, बीसवीं, सौमी, आदि कोटियोंतक प्रदेनके प्रकंतिः कहीं भी आगे चलकर ठहरना नहीं होने से अनवस्था हो जायगी, आचार्य कहते हैं कि यों तो न कहना । क्योंकि किसी न किसीको आगे चलते हुये कहीं न कहीं तो निर्णय होना देखा जा रहा है। पींगा मनुष्य बहुत दूर चलकर भी धर्मीके किसी अंशको नहीं जान पाया है, ऐसा कहनेवाले उस निजलोपी शून्यभादीके गुप्त अरके सन्मुख लक्ष्मांवाक्य बोलना

अराज्यरोदनके समाम व्यर्थ है। योडोसी भी बुद्धिको रखनेवाला जिज्ञास पुरुष वीसवी, पैचासवी, तो म्मा मैची, पांचकी, क्रोटिपर ही द्रव्यपन, सत्त्व, वस्तुत्व, इन सामान्य धर्मी करके छक्य धर्मीका किर्णय कर मुका प्रतीत हो जाता है। उदयणीय पदार्थको सत्, द्रव्य, या वस्तु समझ रहे बुभासके किये उपकारी बन्ना द्वारा कक्षण वाक्य करके विशेष अंशोंकी व्यत्पत्ति करा दी जाती है। क परकक्षणभावको स्वीकार करनेवालोंके यहां सभी पदार्थ, द्रश्य, बस्त, आदिमें भी अनिर्णय बना रहे यह व्याधात दोषपुक्त बचन है। सबको मानकर पुनः उसमें नहीं निर्णय होनेको कह रहा पुरुष कही न कहीं निर्णयको अवस्य स्वीकार करता है। अतः हमको किसीका भी निर्णय नहीं है यों कहनेवाला पुरुष " माता मे बञ्चा " के समान स्ववचनका विधात कर रहा है। उस पुरुषको उस सर्वत्र अनिर्णयका ही अपने अनिर्णयस्तरूप करके निर्णय हो रहा है। यदि उस अनिर्णयका अपने अनिर्णय डील करके भी निर्णय होना नहीं माना जायगा तो सर्वत्र अनिर्णयकी सिद्धि कैसे हो सकती है ! अर्थात् --सेयमुभयतः पाशारज्जुः, अनिर्णयका अनिर्णय माना जाय तो भी कहीं न कहीं निर्णय होना वन जाता है। अनिर्णयका अनिर्णय ही तो निर्णय है। दो नञ् छगा देनेसे उसका सद्भव आ जाता है और यदि अनिर्णयका निर्णय माना जाय तब तो सरुभतासे कहीं न कहीं निर्णय हो रहा सथ जाता है। अतः सर्वत्र अनिर्णय कहना व्याघात दोषयुक्त होता हुआ उसी प्रकार छळपूर्ण बचन है जैसे कि कोई मीमांसक या बौद्ध विद्वान वीतराग पुरुषका निषेध करनेके किये यह युक्ति देता है कि बहुतसे सराग, ढोंगी, बक्तभक्त, पुरुष भी वीतराग सज्जनके समान मेहा करते हैं और धीतराम पुरुष भी कदाचित पढाते, प्रापश्चित्त देते, प्रमोद भावना पावते हुये, सराग पुरुषोंके समान चेष्टा करते हैं। बात यह है कि यह केवल कपटमात्र है। वह विद्वान अवस्य **ही** बीत्रसग और सरागके अन्तस्तळपर पहुंचकर उनके लक्षणोंको पहिचानता है तभी तो वीतराग भी सरागके समान चेष्ठा करते हैं। यह सादश्य मूलक वाक्यको कहता है। मुलम्मा सीनेके समान दीखता है, चांदी सीप के समान भासती है। कृत्रिम, अकृत्रिम, मुक्ताफल एकसे दीखते हैं, यों बखानभेवाला पुरुष असली, नकलीकी पुरुष करना अवश्य जानता है । सिद्धान्त यह है कि सर्वाया अप्रसिद्ध ही उक्ष्य नहीं है। क्यंचित् प्रसिद्ध और क्यंचित् अप्रसिद्धको उक्ष्य कहना मक्तिपर्म जन्मता है।

सर्वया प्रसिद्धं लक्षणिक्ष्ययुक्तं, वृत्तद्राधिमादिना प्रसिद्धस्य दंडस्य केश्चिदुरुपलक्ष्यै-विभिनेत्वसिद्धस्यापि देवदत्तलक्षणत्वप्रतीतेः । न हि प्रतिक्षणपरिणामः स्वर्गपापणशक्त्यादि सर्वया सर्वस्य केनचिदुपलक्षयितुं श्रवयते ।

आक्षेमकारने पहिके यह बात कही थी कि एकान्त रूप से अप्रसिद्ध हो रहा पदार्थ छःष होता है और सभी प्रकारों से असिद्ध हो रहा पदार्थ छक्षण हुआ करता है । हम पहिले छः,यक सुर्वमा अग्रसिद्ध एकान्तवादका निराकरण कर चुके हैं। कथांचित् (बहुमाग) अप्रसिद्ध और कथांचित्

(एकभाग) प्रसिद्ध पदार्थ ही लक्ष्य हो सकता है। कहीं कहीं पदार्थके एक भागको भी लक्ष्य बनाया जा सकता है तथा सभी प्रकारोंसे प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको लक्षण कहना इस प्रकार उनका दूसरा आग्रह भी युक्तियोसे रीता है। क्योंकि गोल आकार, लम्बाई, कठोरता, सन्दरता आदि धर्मी करके प्रसिद्ध हो रहे फिर भी कठिनता से देखनेमें आवें ऐसे किन्हीं छपछपापन, सारभाग (जीहर) मूल्य, बांसकी जाति, आदिक विशेषताओं करके अप्रसिद्ध भी हो रहे दण्डको देवदत्तका लक्षणपना प्रतीत हो रहा है। तभी तो छक्षण कर चुक्रनेपर भी परीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। देवदत्तका डण्डा कितने मूल्यका है ! किस देशका है ! ठोस है या पोला है ! डण्डेकी इन बातोंको प्रसिद्ध रूपसे जान टेना कठिन कार्य है। बौद्ध मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थीको क्षाणिक माना गया है, जैन भी ऋजुस्त्रनयसे सर्वको क्षणवर्ती मानते हैं। दान, पूजन, आदि करनेवाले जीवमें स्वर्ग प्राप्त करनेकी शक्ति मानी गयी है। बीजमे हजारों, लाखों, असंख्य, पीडियोंतक संतान प्रति-संतानरूपसे अंकुरको उत्पन करनेकी कुर्वदूपल शक्ति मानी गयी है। सभी देखे जा रहे सम्बृत्तिसत्य दृश्यमान स्कन्थोंको बौंद्धोंने यथार्थरूपसे परमाणु स्वरूप स्वीकार किया है। भावार्थ-सभी पदार्थीमे एकान्तरूपसे विशेषतार्थे घुसीं हुई हैं। संसारमं अनेक मायाचारी जीवदयाका प्रयोग करते है। न जाने किन किन असंख्य अवक्तन्य अभिप्रायोको लेकर जीव श्रमण कर रहे हैं। कोई कपडा दो वर्षतक चलता है तैसे ही कोई वस दो, चार, दस, बीस दिनतक कमती बढती टिकाऊ होने हैं। कई हुए, पष्ट. शरीरवाले पुरुषोंकी भृत्युयें सुनी जाती हैं। और दुर्वल, पतले, चिररोगी, अर्द्धागप्रस्त लंगडे, कुष्टी परुष बीसों वर्षतक जीवित बने रहते देखे जा रहे है। कितनी ही घडियोंको दस, वीस वर्षतक नहीं सचरवाना पडता है । साथमें वैसी ही घडियोंको एक एक महीनेमें ठीक कराना पडता है । बनारसका जल किसी किसी व्यक्तिको प्रकृतिक अनुकूछ नहीं पडता है। साथमें अन्य व्यक्तिको हृष्ट, पष्ट, बलिष्ट, बना देता है। बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थिक अन्तरंग क्षण थायीपन, स्वर्गनापणवाकि, आदि स्वभावोंका सभी प्रकार सभी जीवोंमें किसी भी जीव करके जाननेके लिये सामर्थ्य नहीं है। अतः सर्त्रया प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको ही लक्षण कहना उचित नहीं है । सर्वज्ञ देवके सन्मख तो लक्षण कर-नेकी आवस्यकता ही नहीं है । जिनको लक्षणके द्वारा लक्ष्यका बोध कराया जाता है वे प्रतिपाच और प्रतिपादक दोनों भी लक्षण के सम्पूर्ण स्वभावोका निर्णय कर जुकनवाले नहीं होते हैं। अतः लक्षण भी बहुतसे सू:म अंशोंमें अप्रसिद्ध है, फिर भी स्थूल अंशोकी प्रसिद्धिके अनुसार वक्ता, श्रोताओंके यहां प्रसिद्ध हो रहा लक्षण मान लिया जाता है। ऊपरसे सदृढ़ दीख़ रहे शरीरमें भी कोई रोग या निर्बलताका अंश छिपा हुआ है । अथना शक्तिशाली प्रबल कारण जुट जानेपर उसी समय परिस्थिति अनुसार बन जाता है। रोगी कोढी जीवोंमें भी आयुष्य कर्म या नियत हाईओंका रहपना वर्त रहा है। काशीके जलवायुमें भी किसी प्रकृतिवाले शरीरको पोपण करनेके अंश विधमान है और दूसरे शरीरको सरोग बनानेके शक्तिभाग उसमें पाये जाते हैं। सर्वज्ञके अतिरिक्त किसी भी जीवको किसी भी पदार्थके संपूर्ण

अंशीका परिज्ञान नहीं हो पाता है। न जाने किस निमित्तसे कहां क्या नैमित्तिक भाव उपज बैठे। उष्णता शीतताका मिश्रण विशेष होनेपर किसीको शीघ रुख्य (जुकाम) हो जाता है । जिससे कि सेरों रस. रुधिर. आदिको नासिका द्वारसे निकालने योग्य वक्खर सारिग्वे कफको बनानेके लिय उपयोगी यंत्रालय (कारम्बाना) शरीरमें बन जाता है । सर्वथा हृष्ट्रपृष्ट नीरोग शरीरमें खेग हैजा, आदि छत बीमारियोका प्रसंग मिलनेपर उसी समय शरीरमें महारोग उत्पादक अंश उपज जाते हैं। ग्रद द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त शेष रहे जीव और शरीर, अन्न, जल आदिक पदार्थ तो निमित्तोंके मिलते ही झट नैमित्तिक परिणामोंको बनानेके लिये मंह बांएं बैठे रहते है। जैसे कि लोकमें नाईको धोबीकी. धोबीको कोरियाकी, कोरियाको वढईकी, वढईको किसानकी, किसानको साहकारकी, साहकारको राजाकी, राजाको अध्यापककी, अध्यापकको दुकानदानदारकी, दुकानदारको न्यायालयकी, न्यायालयको अपरा-धियोंकी, इत्यादिक रूपसे परस्परमें एक दूसरेकी आवश्यकतार्थे पढ रहीं हैं, उसी प्रकार जड पदार्थ पहलोंमें भी परस्परकी अपेक्षा रखते हुये अनेक परिणाम हो रहे हैं। बादल आना, वृष्टि होना, बिजली चमकना, ऋतुयें बदलना, सूर्यका एकसी चौगसी गलियोंपर चमना, चन्द्रोदय होना, प्रध्वीके गर्भमें विकार होना आधी, गगनभूरि, कुडा, कचरा, मल मूत्रका सडना इत्यादिक परिणाम अनेक स्कन्धोंको भिन्न मिन्न परिणाम बनानेके उपयोगी निमित्त कारण बना देते है ! उन निमित्तकारण स्कन्धोंसे जीव या शरीर अथवा जड पदार्थीमे विभिन्न परिणतियां वर्त्तती रहती हैं जो कि किसी वृक्षके पृष्पोंका उद्गम कराती हैं, कहीं फल लगाती है, कहीं पत्तोंको शाइती हैं, ऋतुओंके योग्य कुत्ता, गधा, भैसा, आदिके कामविकारोको उत्पन्न कराती है। आम, खरवूजा, ककडी, अमरूद, छुकाट, आलूबुखारे, अनार, आदि फलोंको उगाती हैं। कही दक्षिण देशमें चैत्रमासमे ज्वार पकती है, जब कि उत्तर प्रान्तमें अगहन मासमें ही पक जाती है। गिरनारजी प्रान्तमें माघ महीनेमें ही खरबूजाका फलकाल (फसछ) आ जाता है, किन्तु आगरा, सहारनपुरकी ओर जेठमें और छखनऊमें वैसाख महीनेमें उनका फलकाल है। कितने ही प्रान्तोंमें आम्रफल चैत्र वैमाख में ही फलित हो जाता है। अनेक स्थानोपर आषाढ सावनमे उनका पकना प्रारम्भ होता है । कुछ आम्र वृक्षोंकी ऐसी जातियां हैं, जिनमें भादोंमें बीर आकर कार्तिकमें पकना प्रारम्भ होता है। कोई कोई आम पृत्र माहमें भी पकते हैं। इत्यादिक सम्पूर्ण कार्यकारणभाव निमित्त नैमित्तिकोंकी योग्यता मिलनेपर व्यवस्थित हो रहे हैं। जीव या पदलों में बडी शक्ति है। " काले कल्पराते अप च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या, उत्पातोऽपि यदि स्यात्त्रिलोकसम्भान्तिकरणपटुः " इस वाक्यसे व्वनित होता है कि एक छोटासा स्कन्ध भी मचलकर तीन लोकको जैट पौट करनेकी सामध्ये रखता है। ग्रुद्ध द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त द्रव्योंको वह उथल पुथल कर सकता है। पदार्थीमे प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध, कार्यकारी, अकार्यकारी अनेक स्वभाव भरे हुये है। अतः लक्षणको सुर्वथा प्रसिद्ध ही और लक्ष्यको सर्वथा अप्रसिद्ध ही कहना न्यायोचित नहीं है।

्यदि प्रुनर्येन करेण मसिद्धो इंद्रादिस्तेन स्थणं, देवत्त्तम येन स्मेणामसिद्धस्तेन स्थम इति मतीतेः मसिद्धस्य स्थणं स्थम्यसिद्धस्य ह स्थम्यस्थिति सतं, तदा वर्षं स्थम्यस्थास्यादात्म्येकांतः स्पादिरुद्धधर्माध्यासात् । ततः वर्षंचिद्धिवयोरभिष्णयोश्य स्थम्यस्थानाः भतीतिसद्भावात् सर्वथा विरोधाभावात्, अन्यया स्थम्यस्थलसण्यस्यतापत्तेः।

यदि फिर आक्षेप करनेवाले तुम्हारा यह मन्तव्य होय कि जिस स्वरूप करके दण्ड, टोपी, कुण्डल, आदिक प्रसिद्ध हो रहे हैं. उस प्रसिद्ध स्वरूप करके वे दण्ड आदिक लक्षण हैं. अपने अप्र-सिद्ध स्वरूपों करके दण्ड आदिक लक्षण नहीं हैं तथा उसी प्रकार जिस स्वरूपकरके देवदत्त अप्र-सिद्ध हो रहा है उस अब्रसिद्ध स्वभावकरके ही देवदत्त छक्य माना गया है, अपने प्रसिद्ध हो रहे स्वभावों करके देवदत्त छक्ष्य नहीं है। क्योंकि इस प्रकार छोकमें बाछक, बाछिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। सम्पूर्ण जन प्रसिद्ध हो रहेको लक्षणपना इष्ट करते हैं और अप्रसिद्ध हो रहेको तो लक्ष्य-मना समझा जा रहा है। ऐसा मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो आप अच्छा कह रहे हैं. किन्त ऐसी अभेदकी दशामें अप्रसिद्ध लक्ष्य और प्रसिद्ध लक्षणका एकान्तरूपसे तादाल्य भला कैसे होगा ! क्योंकि प्रसिद्धि और अप्रसिद्धिकी अपेक्षा रुक्षण और रुक्यमें विरुद्धधर्मीका अधिकार जम रहा है। तिस कारणसे जैसे प्रसिद्धि अप्रसिद्धिक एकान्तको आपने लक्षण और लक्ष्यमें से उठा लिया 🕏, उसी प्रकार अमेद एकान्तको भी निकाल दीजियेगा । तैसा होजानेसे कथंचित भिन्न और अभिन्न होरहे दो पदार्थीमें लक्ष्यलक्षणभाव बनेगा । कथंचित भिन्न अभिन्न अथवा कथंचित् प्रसिद्ध अप्रसिद्ध पदार्थीमें ही छक्ष्यलक्षणभावको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेवाली प्रतीतियां विद्यमान हैं। इस सिद्धान्तमें सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे विरोध दोषका अभाव है. अन्यथा यानी उक्त '' कथंचित् स्वरूप जीवन रसायनका अतिक्रमण कर दूसरे प्रकारोंसे लक्ष्यलक्षणभाव माना जायगा तब तो लक्ष्य और कक्षण दोनोंके राज्यपनका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अग्नि और उच्चाताका भेद माननेपर नैयायिकोंके यहां अग्निस्वरूप आधारके विना निराधार होरही उच्चाता तो मर जायगी और उच्चातासे रीती अग्नि भी स्वभावोंसे रहित होरही शून्य हो जायगी । सर्वथा अभेद पक्षमें भी ज्ञानका नाश हो जानेसे आत्माका नाश अवस्यम्भावी है। ऐसी दशामें जगतसे लक्ष्यलक्षणभाव सर्वया उठ जायगा।

संवृत्या लक्ष्यलक्षणभाव इति चेम्न, संवृत्तेरूपचारत्वे मुख्याभावेऽनुपपत्तेः । मृषात्वे न संवृत्तिनीम यया तज्ञावः सिध्येत् । विचारतोनुपपद्यमाना विकल्पद्यद्धिः संवृतिरिति चेत्, क्रमं तया लक्ष्यलक्षणभावस्तस्य तत्रावभासनादिति चेत् सिद्धस्तिर्दि बौद्धो लक्ष्यलक्षणभावः तद्भद्धन्ति विकल्पविषयः विकल्पविषयः विकल्पविषयः विकल्पविषयः संभवते । न च सर्वो विकल्पविषयो संभवनेव सम्भवतोऽपि विकल्पविषयोपतेः प्रत्यक्षनिषयन् सर्वो विकल्पविषयो संभवनेव सम्भवतोऽपि विकल्पविषयोपतेः प्रत्यक्षनिषयवत् सर्वो विकल्पो संभवद्विषयो किकल्पत्वान्यनोग्रज्यादिविकल्पविद्विति चेत्, सर्वे मुलक्क्षन

यसँथविद्विये त्रत्यंसत्वात् केश्रीडुकंत्रत्यसर्वदिति किं न स्यात् । प्रत्यक्षाभासोऽसंभवद्विषयौ दृष्टी न प्रत्यक्षमिति चेत् तर्हि विकल्पीभासोसंभवद्विषयौ न विकल्प इति समानः परिद्वारः ।

बौद्ध सहते हैं कि जगत्में से वास्तविक लस्यलक्षणभाव उठजाय कोई क्षांति नहीं है। आपत्ति जितनी शीघ टके उतनी अच्छी है । स्यूछनुद्धिवाके जीवोंने कल्पना करके लक्ष्यलक्षणमाव गढिलिया है। देखो; कभी देवंदत्त भी दण्डवा लक्षण हो जाता है। देवदत्तको जामनेवाला पुरुष कदानित अझात अप्रसिद्ध उण्डेको देवदत्तदारा चीन्ह छता है। अप्रि करके भी अञ्चात उष्णता छदये हो जाती है। " कही नाम छढ़ा पर और कहीं छढ़ी नाम पर " इस नीतिके अनुसार राजी राजी और राजासे रत्नका छस्य कर अथवा गुणसे गुणी और गुणीसे गुणका छक्षण कर छिया जाता है। वचमसे वत्ताकी और वत्तासे वचनकी या पुस्तकनिर्मातासे पुस्तककी और पुस्तकसे पुस्तक निर्मीताकी जांच हो जाती है। अतः लक्ष्य या लक्षण कोई नियत पदार्थ नहीं हैं। व्यवहारमें कल्पना चाहें जैसी करही, कोई बालक अपने काठके खिलीनेको या डण्डेको घोडा कहे एतावता क्या वह वस्तुभूत घोडा होकर अपने ऊपर चढाता हुआ अखबारको अभीष्ट स्थानपर छे जा सकता है ! कमी नहीं । अब आचारी कहते हैं कि यह तो बौदोंकी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि संबंति यदि उपचार स्वरूप मानी जायगी तब तो मुख्यपदार्थकी स्वीकार किये विना व्यवहार बनता नहीं है। अतः व्यवहारं से लक्ष्मलक्षणभाग मार्नने वालेकी मुख्य लक्ष्यलक्षणभाव भी मान अनिवार्थ पडेगा । मुख्य घोडा या सिंह जीवाँके होने पर ही बाह्य बिल्डीनेंगे घोडा; सिंह, हाथी, की कल्पना कर लेता है। सर्वथा असत् खरविषाणका उपकार होता हुआ नहीं देखा गया है। यदि संश्रुतिका अर्थ बीद झंठा, असत पदार्थ करेंगे तब तो वह संवृत्तिकरूपना नाममात्रको भी नहीं हुई। जिस संवृत्तिसे कि वह लक्ष्यलक्षणमाव साथ दियो जाय । परमाधीभूत पदार्थिस विवरीत' पड जानेक कारण इंडी' संवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती है। यदि बीझ विकारोंसे नहीं सिद्ध हो रही विकारप्वाद्धिको सेवृत्ति कहेंगे तब तो हम जैन पछेंगे कि वैसी बस्तको नहीं विषय करनेवाली उस विकल्पशुक्तिक्य संवृत्तिसे भला लक्ष्यलक्षणमान केसे सिद्धे हो सकेगा ! तुम्ही विचारो | आकाशमें कल्पित भूमिपर उपवन नहीं खडा किया जा सकता है । पुनरि बोद्ध यदि यो कहें कि हम क्या करें उस विकल्पबुद्धिमें उस लक्ष्यलक्षणमायका व्यवहारी जीवोंको अतिमास हो रहा है, यों कहनेपर तो हम जैनोंको कहमा पडेगा कि तब तो अन्तरंग बुद्धिमें आरुख हो रहा छक्ष्यंछक्षणभाव सिद्ध हो चुका । बस, उसी दृष्टान्तके अनुसार विकल्पबुद्धिसे अतिरिक्त बहिरंगः बस्तामता भी । छस्य लक्षणभाव नयीं नहीं सिद्धः हो जायंगा ? फिर भी बौद्ध यदि यों कहें कि न्यवहार विवासमाओंसे बहिंभीत रुत्यरुतणभावका असम्भव ही जानेसे अवीद रुद्यरुद्धणभाव कोई तहीं है । प्रत्यकार यों कहते हैं कि यह तो ने कहना । क्योंकि बापक विकल्पज्ञानसे बहिर्भूत हो रहें। उस उस्पलक्ष्ममान क्षेत्रका असम्भव मानींगे तब तो उसकी विकल्प ज्ञानकी विषयताका

अयोग हो जायगा । जेयके विना ज्ञान किसको जानेगा । बौद्धजन विकल्प ज्ञानके विषयभत पदार्थीको असम्भव मान बैठे हैं, उसपर हमारा यह कहना है कि विकल्पन्नानोंके विषय बन रहे सभी विषय असम्भाय रहे ही है, यह तो नहीं समझना । क्योंकि वास्तविक सम्भव रहे भी पदार्थको विकल्प ज्ञानोंकी विषयता बन रही है, जैसे कि प्रत्यक्षज्ञानका विषय मूत पदार्थ परमार्थक पसे सम्भव रहा है, इसपर बौद्ध अनुमान बनाकर आक्षेप करते है कि सम्पूर्ण विकल्पज्ञान (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयोंको जान बैठे हैं (साध्य) विकल्पना होनेस (हेत्) मनमें राजापना, इन्द्रपन, आदिकी विकल्पनाओं के समान (अन्वय दृष्टान्त) यों करनेपर तो आचार्य महाराज भी कटाक्ष करते हैं कि संपूर्ण प्रत्यक्ष (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयोंको जान रहे है (साध्य) प्रत्यक्षपना होनेसे (हेत) सीपमे हये चांदीके ज्ञान या मृगतृष्णामें हुने जल्ज्ञान आदि भ्रान्त प्रत्यक्षोंके समान (अन्वयद्दष्टान्त) यह व्यवस्था भी क्यो नहीं बन जावेगी ! अर्थात्-एक झंठे विकल्पको लेकर यदि सभी विकल्प ज्ञानको अपरमार्थभूत माना जायगा तब तो कुछ मिथ्या प्रत्यक्षोंको दृष्टान्त बनाकर सभी सबे, ब्रंटे, प्रत्यक्षोंको निरालम्ब साथ दिया जायगा । एक कनैटाके सदश सभी प्राणी कनैटा हो जायंगे ? यदि बौद्ध यों कहे कि प्रत्यक्षके समान दीख़ रहा झूंटा प्रत्यक्षाभास तो असम्भव रहे विषयको जान रहा देखा गया है, किन्तु समीचीन प्रत्यक्ष तो असम्भव विषयवाला नहीं है । उसका थियय तो वस्तुभूत स्वलक्षण है, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि झूंठा विकल्प ज्ञानाभास तो असम्भव रहे विषयका प्राहक है। हां, समीचीन विकल्पज्ञान नहीं। प्रमाणात्मक विकल्प-ज्ञानका विषय तो परमार्थभूत सम्भव रहा है। इस प्रकार तुम्हारा प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये जो परिहार है वैसा ही हमारा विकल्पन्नानोंके असम्भव विषयीपनके आरोपका परिहार समान कोटिका है. रेफ मात्र अन्तर नहीं । अतः समीचीन विकल्पज्ञानसे हुआ लक्ष्यलक्षणभाव वास्तविक ठहर जाता है।

कः पुनः सत्यो विकल्पः प्रत्यक्षं किं सत्यिमिति समः पर्यनुयोगः । यतः मवर्तमानोर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते तत्सम्यक् प्रत्यक्षमिति चेत्, यतो विकल्पादर्थे परिष्ठिद्य प्रवर्तमानोर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते स सत्यिमिति किं नानुपन्यसे ?

बौद्ध विद्वान् आचार्योंके प्रति सकटाक्ष प्रश्न करते है कि आप जैनोंने समीचीन विकल्पज्ञानका विषय परमार्थभूत कहा है, अतः यह बतलाओं कि जगत्में वह विकल्पज्ञान फिर सख कौनसा है? यों पूंळनेपर तो हम जैन भी बौद्धोंसे पूळेंगे कि तुम्हारे यहां वह कौनसा प्रत्यक्षज्ञान सत्य माना गया है जिसका कि विषय वस्तुभूत होय । इस प्रकार तुम्हारे उठाये हुये चौद्यके समान हमारा भी चोद्य तुम्हारे ऊपर समान रूपसे वैसाका वैसा ही लग बैठता है। उक्त चौद्यका यदि बौद्ध यह उत्तर कहें कि जिस प्रत्यक्षप्रमाणसे अर्थको जानता हुआ पुरुष अर्थिकयाको करनेमें भूल चूक नहीं करता है, वह प्रत्यक्ष समीचीन बोला जाता है। अर्थात् जैसे जलको जानकर यदि स्नान, पान, अवगाहनरूप किया ठीक ठीक उत्तरे तो वह जलका प्रत्यक्ष समीचीन समझा जायगा और जलको जानकर बाद्ध रेत हाथमें आवे या चांदीको जानकर सीपकी अर्थ कियायें होने लगे तो वह प्रत्यक्ष अस्त्य है। बौद्धोंके यों कहने पर तो हम जैन भी उनके चोंधका उत्तर यों दे सकते हैं कि जिस विकल्प झानसे अर्थकी पिरिन्छिति कर प्रवृत्ति कर रहा झाता यदि अर्थ किया करनेमें विसंवाद (धोका) को प्राप्त नहीं होता है वह विकल्प सत्य है। शेष विसंवाद करानेवाले विकल्पझान असत्य हैं, इस हमारी बातको भी क्यों नहीं मान लेते हो ? अर्थात्—अपने हाथके पामरेको बढा भारी श्रमोत्पादक कहना और दूसरेके हाथमें धनरहे पामरेको बीजनाके समान हलका समझना अनुचित है । अतः विकल्पझान और प्रत्यक्षज्ञानके ऊपर किये गये आक्षेप और समाधान दोनों वादी, प्रतिवादियोंके यहां तुल्य हैं।

कि पुनर्विकल्पस्यार्थपरिच्छेदकत्वं १ मत्यसस्य कि १ अविचिछितस्पष्टार्थावभासित्वभिति चेत्, कस्यचिद्विकल्पस्यापि तदेव, कस्यचित्तु वाधकविधुरास्पष्टार्थावभासित्वभपीति मन्यामहे । अस्पष्टार्थ एव न भवतीति चेत् कुतस्तस्यानर्थत्वं १ पुनरस्पष्टतयानवभासनादिति चेत्, स्पष्टोप्ये-वमनर्थः स्यात् पुनः स्पष्टतयानवभासनात् । यथैव हि दूरात्पादपादिसामान्यमस्पष्टतया मतिभातं पुनर्निकटदेशवर्तितायां तदेवास्पष्टं न मतिमाति तद्विश्वषस्य तदा मतिभासनात् । तथैव हि सिक-हितस्य पादपादिविशिष्टं रूपं स्पष्टतया मतिभातं पुनर्द्रतरदेशवर्तितायां न तदेव स्पष्टं मतिभासते ।

बौद्ध पुंछते हैं कि आप जैन यह बताओ कि तुम्हारे यहां माने गये प्रमाण आत्मक विकल्प-जानका अर्थ परिच्छेदकपना क्या है ? इस प्रकार बौद्धोंके आक्षेप करनेपर हम जैन भी बौद्धोंसे पंछते है कि तुम्हारे यहां भी प्रमाण माने गये प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थ परिच्छेदकता भला फिर क्या मानी गयी है ! इसका उत्तर यदि बौद्ध यों कहें कि चलायमान न होकर अर्थका स्पष्टरूपमे प्रकाशकपना ही प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थपरिच्छेदकता है, यों कहनेपर तो हम जैन भी वही उत्तर कहेंगे कि किसी किसी साकार प्रत्यक्ष आत्मक विकल्पका भी वह चलनरहित स्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना ही अर्थपरिच्छेद-कता मान छी जाओ । इां, किसी किसी अनुमान, तर्कज्ञान, आगम, रूप विकल्प ज्ञानोंको तो बाधा रहित होकर अस्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना भी उनकी अर्थपरिच्छित्ति मानी गयी है। स्पष्ट, अस्पष्ट, दोनें प्रकारके विकल्प ज्ञानोंको निर्वाध होकर अर्थप्रकाशकपन है। ऐसा हम जैन स्वीकार कर मान रहे है. यदि अकेले प्रत्यक्ष द्वारा ही वस्तुभूत स्पष्ट अर्थका विषय होना माननेवाले बौद्ध यों कहें कि जगत्में अस्पष्ट अर्थ तो कोई ही नहीं है। जगत्में जो कुछ है वह स्पष्ट हो रहा प्रत्यक्षज्ञानसे ही विषय कर लिया जाता है। अस्पष्ट सामान्यको जाननेवाले अनुमानका या आगम आदि ज्ञानोंका विषय वस्तुभूत ही नहीं है। अपरमार्थ हैं, यों बौद्धोंके कहनेपर जैन कहते हैं कि तुमने उस अस्पष्टका वास्तविक अर्थपना कैसे नहीं समझा है ! अर्थातु---अस्पष्ट पदार्थ परमार्थभूत न होकर अनर्थ है यह तुमने कैसे जाना ! बताओ ! इसके उत्तरमें फिर भी तम यों कहो कि निज स्वरूप माने गये अस्पष्टपने करके उसका प्रतिभास ही नहीं केता है। अतः वह अस्पष्ट अर्थ अवास्तविक है। जैसे कि बन्धापुत्रका बन्धाके पुत्रपने करके

प्रतिभासना नहीं होनेसे वह अनर्थ समझा जाता है । अर्थको तो स्पष्ट रूपसे प्रकाशना चाहिये था । बौद्धोंके यों कहनेपर तो हम (जैन) भी कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार तो तुम्हारा माना हुआ स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ होजाओ । क्योंकि उसका भी फिर दूर हो जानेपर स्पष्टरूपसे प्रतिभास नहीं होता है। देखो, जिस प्रकार आप बौद्ध अस्परको अनर्थपना सिद्ध करनेके छिए यो कुतर्क देवेगे कि जिस ही प्रकार दूरसे देखनेपर बृक्ष, ग्राम, आदिक समान्य धर्म अस्पष्टपने करके जाने जा चुके हैं, किन्तु फिर चलते चलते निकट देशमे वर्त्त जाना होनेपर वही सामान्य अस्पष्ट नहीं दीखता है। क्योंकि निकट चले जानेपर तो उस समय उन बृक्ष, प्राम, आदिके विशेष धर्मीका स्पष्ट प्रातिभास होने लग जाता है। अतः अत्पर अर्थ कोई बास्तविक नहीं है। यदि अत्पष्ट अर्थ कोई बास्तविक होता तो समीप जानेपर विशेषांके समान और भी बढिया ढंगसे अस्पष्ट दीखने लग जाता । किन्त इसके विपरीत निकट देश हो जानेपर उस अ.पट अर्थका खोज ही मिट जाता है । अतः अस्पट अर्थ कोई वारतिवक्त नहीं है। आचार्य ही कह रहे हैं कि जैसे बौद्ध यह कटाक्ष करते है, उस ही प्रकार हम जैन भी कह देगे कि देखिये निकटवर्ती हो रहे पुरुषको बृक्ष, हवेली, सुवर्ण, आदिका विशेषोसे विरा हुआ स्वरूप तो स्पष्टपने करके प्रतिभास चुका है । पुनः ह्वाता या ह्रेयके अधिक दूर देशमें वर्त्त जानेपर फिर वहीं स्परहरूप नहीं प्रतिभासता है। एतावता स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ बैठेगा । कारण वही है कि स्पष्ट अर्थ यदि वास्तविक होता तो दूर देशवर्ती हो जानेपर भी स्पष्ट ही दीखता रहता, जैसे कि चन्द्रमा चन्द्रस्वरूप करके ही दीखता रहता है। देशकी परावृत्ति हो जानेसे अर्थ अपने स्वरूप को नहीं परावृत कर सकता (बदल सकता) है । मूंसल यदि स्वर्गमें चला जाय तो वहां भी कूटेगा ही, चण्टा, घडियालों, पर स्वर्गमें भी भौगरोंकी चोटें पडती हैं। बात यह है कि घोडा दूरसे या पाससे देखनेपर हाथी या ऊंट नहीं हो जाता है । तभी तो जैनोंने स्पष्टता या अस्पष्टताको अर्थके धर्म नहीं मानकर ज्ञानका धर्म इष्ट किया है।

यदि पुनः सिमहितज्ञानग्राह्ममेव तद्भूपं विशिष्टिमिति मितः तदा दिविष्टादिज्ञानग्राद्ममेव तद्भूपं सामान्यमिति किं न मतं । यथा विशिष्टं पादपादिरूपं स्वामर्थिकियां निवर्तयति तथा पादपादिसामान्यरूपमि । मितपचुः पिरतोपकरणं हि यद्यर्थिकिया तदा तत्सामान्यस्यापि सास्त्येव कस्यचित्तावता पिरतोषात् । अथ स्विषयज्ञानजनकत्वं तदिष सामान्यस्यास्ति ।

यदि रपष्टको ही वास्तविक अर्थ कहनेवाले बौद्ध फिर यों कहें कि अधिक निकट अवस्थामें हुये ज्ञानके द्वारा प्रहण करने योग्य वह रपष्ट रूप ही तो विशेषाकान्त हो रहा यथार्थ है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंकी बुद्धि होगी तब तो जैज़ोंका भी यह मत क्यों नहीं मान लिया जाय कि दूरवर्ती दशा या विशेषके अग्रत्यक्षकी अवस्था अथवा असाधारण धर्मोंका अदर्शन आदि अवस्थाओं में हुये ज्ञान द्वारा प्रहण किया जा रहा ही वह अस्पष्टरूप सामान्य पदार्थ वस्तुभूत है। जिस प्रकार कि तुम बौद्धों के यहां विशेषाकान्त हो रहे वृक्ष, जल, आदिके विशेषक्रप अपनी अपनी

योग्य अर्थिकियाओंको सम्पादन कराते हैं, उस ही प्रकार हमारे यहां वृक्ष, प्राम, आदि सामान्यरूप भी पदार्थ अपनी योग्य अर्थित्रयाको बनाते रहते हैं। अर्थात्—सभी स्थलोंपर बढिया विद्वान नहीं पाये जाते हैं। किन्तु अनेक धनपति या मण्डलियां छोटे छोटे पण्डितोंसे ही अपने अपने रिक्त स्थानकी पृति कर छेते हैं। सूक्ष्म ग्रवेषण करनेपर यदि यों कहो कि विशेष विद्वान द्वारा होनेवाले कार्यको सामान्य विद्वान नहीं कर सकता है तो हमें भी साथमें कहना पडता है कि " पीर बवर्ची भिक्ती खर " की नीति अनुसार सामान्य विद्वान् के द्वारा सम्हाल लिये गये कार्योको विशेष विद्वान् भी नहीं सम्हाल सकता है। नौकरानीके कार्यको रानी नहीं कर सकती है। यदि बौद्ध यों कहें कि ज्ञाता पुरुषको परितोष करानेवाला पदार्थ तो स्पष्टक्य विशेष ही है। सामान्य गाय, बोडे, द्ध देनेमें या असवारी करनेमें उपयोगी नहीं हैं। अतः अच्छा संतीप करा देना ही वस्तुभूत पदार्थकी अर्थिकया है जो कि स्पष्ट विशेषसे ही साध्य है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वह प्रति-पत्ताको पूर्ण सन्तोषित कर देना रूप अर्थिकया तो अस्पष्ट हो रहे सामान्य अर्थिकी भी विद्यमान है। भावार्थ-किसी किसी अल्पसन्तोषीको उतने सामान्यमात्रसे ही परितोष होना देखा जाता है। जो अल्प-आरम्भ परिप्रहको धारते है वे उदर पूर्तिके लिये रूखासूखा सामान्य भोजन पाकर या मोटा, धोथा. कैसा भी वस्त्र पाकर भरण, आच्छादन, कर प्रसन्त बने रहते हैं। कैसा भी काळा, गोरा, मोटा, पतला, मूर्ख, पण्डित, लडका हो माताको वही सामान्य पुत्र प्रसन्तताका हेतु है। गृहकी या अजीव-काकी क्रेश करनेवाली पराधीनताको भुगत रहे पुरुषके लिये जो कुछ भी छोटासा अपना गृह स्यतंत्रवृत्तिका साधन प्राप्त हो जाता है वही परितोप उत्पादक है। बात यह है कि अधिक परिचय हो जाने से विशेष पदार्थ ही सामान्य हो जाता है । दुर्लभ अवस्थाओं में सामान्य पदार्थ ही विशेष बन जाता है। रूपको निरखनेवाली कामुक पुरुषोंकी मण्डलीमें अन्य गुण, अवगुणोंकी अपेक्षा नहीं कर जिस सौन्दर्यपर विरेष दृष्टि रखी जाती है, सद्गृहस्थके यहां उसी सौन्दर्य या असन्दरतापर विशेष छक्ष्य रखते हुये उस व्यक्तिके गुण अवगुणों, की ओर विशेष छक्ष्य रखा जाता हैं। विद्वानोंके छिये जो सामान्य वातें हैं वही स्थूल बुद्धित्राले समाजके लिये विशेष हो जाती हैं। कदाचित बहुत से विशेष पदार्थीका मिल जाना उल्टा टंटा, बखेडा, खडा कर देता है। कहीं कहीं तो विशेषकी अपेक्षा सामान्यसे अधिक सन्तोष होता है। जो चृद्ध पुरुष घोडेपर चढना नहीं जानता है उसके लिये साधारण टर्टू, सन्तोषकारक है । नटखटा, बढिया, घोडा तो उस बृद्धको हिला देगा । दकानदारको सीवासाधा साधारण माहक लाभ देकर जैसा सन्तीष उत्पन्न कर देता है **बैसा चंचल (** चलना पुरजा) ग्राहक लाभदायक नहीं है । " वर घर चूल मटियारी है " यह परि-माषा सामान्यवादको पुष्ट कर रही है। तभी तो जैनोंने वास्तविक अर्थको सामान्य, विदेश, आ मक स्वीकार किया है। अब बौद्ध यंदि यें। कहैं कि अपने त्रिषयमें ज्ञानको उपन्न करा देना ही। वस्तुभूत अर्थ की अर्थिकिया है, आचार्य कहते हैं कि अपने विषयमें ज्ञानको पैदा करा देना वह अर्थिकिया तो

विशेष पदार्थके समान सामान्य पदार्थकी भी विद्यमान है। जो भोला मनुष्य परीक्षक नहीं है वह सभी प्रकारके घोडोंको सामान्य रूपसे घोडा समझ रहा है। आश्रफल, चावल, मनुष्य, रत्न, पत्थर, सबको एकसा समझ बैठता है, अथवा सभी पदार्थोंके झानमें विशेषके साथ उसी समय सामान्यका झान हो रहा देखा जाता है, विशेष घोडेके गुणोंको समझ रहा पुरुष भी उस घोडेको जीव या पशु तो समझ ही रहा है। घोडाको हाथी या जड समझ रहा पुरुष परीक्षक तो क्या अनुन्मत्त कहलानेके योग्य भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों अंश वास्तविक होते हुये अपना झान कराते रहते हैं।

सजातीयार्थकरणमर्थिकयेति चेत्, सापि सहशपरिणामस्यास्ति विसहशपरिणामस्येव सहश्वेतरपरिणामात्मकाद्धि बालपादपात् सहशेतरपरिणामात्मक एव तरुणपादपः मादुर्भावश्वप-छम्यते । तत्र यथा विसहशपरिणामाद्विशेषाद्वा विसहशपरिणामस्तथा सहशपरिणामात्सामा-न्यात् सहश्वपरिणाम इति सजातीयार्थकरणमर्थिकया सिद्धा सामान्यस्य । एतेन विजातीयार्थ-करणमर्थिकया सामान्यस्य मतिपादिता पादपविशेषस्येव पादपसामान्यस्यापि तद्व्यापारात् ।

बौद कहते हैं कि उत्तरोत्तर क्षणोंमें अपने समान जातिवाले अर्थको कर देना ही वस्तमत अर्थकी अर्थिकिया है। घट, पट, गाय, घोडा, आदि अपनी जातिवाले उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते रहते ┇ तभी तो उत्तरोत्तर क्षण दूसरे विजातीय पदार्थीसे विलक्षण परिणामवाले बने रहते हैं। यों बीदोंक कहनेपर हम जैन कहते हैं कि वह सजातीय अर्थका सम्पादन करनारूप अर्थकिया तो सदश परि-णाम रूप सामान्य अर्थिक भी वर्त्त रही है, जैसे कि विसदश परिणामरूप विशेषके वह अर्थिकया हो रही है। विचार कर देखा जाय तो विसदश परिणामसे सजातीय अर्थका करना रूप अर्थ किया वैसी नहीं होती है जैसी कि सदशपरिणामसे होती है। अर्थिकयामें सजातीयता लाना सदश परिणामक ही कार्य है । विशेष तो विजातीय या विलक्षण अर्थोंको करनेका बीज है । सजातीय अर्थ कहते ह्रये विशेषेकांतवादी बौद्धोंको इस अवसरपर बहुत झेंपना पडा है। गम्भीर विद्वत्ताको धारनेवाछे आचार्य कहते हैं कि सदश और उससे न्यारे विसदश परिणामस्वरूप हो रहे ही बाल बृक्षसे सदश. विसदश परिणाम स्वरूप हो रहे तरुणकृक्षकी उत्पत्ति हो रही देखी जा रही है। आमका पौदा बढते बढते उंट नहीं हो जाता है, वृक्षत्व जातिका सदश परिणाम उत्तरोत्तर पर्यायोंमें सदा उपजता रहेगा, वह **इक्षमें** जिस प्रकार विसदश परिणामरूप विशेषसे भिन्न भिन्न जातिका बिळक्षण परिणाम होता रहता है, उसी प्रकार पूर्ववर्त्ती सहशपरिणामरूप सामान्यसे उत्तर क्षणमें सहशपरिणाम उपजता रहता है । व्यक्तिमदासे विशेष परिणामके समान सामान्य परिणाम भी पूर्व पूर्वपर्यायोंको नाशकर उत्तरोत्तर पर्यायोंको धारता रहता है इस कारण सजातीय अर्थको करना यह अर्थिकिया तो सामान्यके भी हो रही सिद्ध हो चुकी है। इस उक्त कथनकरके कुछ कुछ विजातीय अर्थको कर देना या सर्वथा विजातीय अर्थका सम्पादन नहीं होने देना यह अर्थितिया भी सामान्यके हो रही कही जा जुकी है । जैसे कि वृक्षाविशेष कुछ

विजातीय अर्थको करते हुये सर्वथा विजातीय अर्थकी उत्पत्तिको रोक रहे हैं, उसी प्रकार वृक्ष सामान्यका भी उस कियाको करनेमें न्यापार हो रहा है। अर्थात् गोसामान्य भी गायको मरण-पर्यंत गायपना रिक्षित रखता हुआ घोडा, हाथी, आदि बननेसे रोकता, रहता है। सामान्यमनुष्य ही कालान्तरमें अन्यास करते हुये नामधारी हो जाते हैं। वस्तुके आत्मभूत हो रहे सामान्यको विसदश अर्थके सम्पादनका अनुपयोगी मत समझो। ऊपरसे साधारण या उदासीन दीख रहे कारणे समयपर बढे बढे कामोंको साधते हैं।

एकत्र पादपञ्चक्तौ सद्दशपरिनामः कयं तस्य द्विष्ठत्वादिति चेत्, किं पुनर्विसदशपरि-णामो न द्विष्ठः । द्वितीयाद्यपेक्षमात्रादेकत्रैव विसदशपरिणाम इति चेत्, किं पुनर्न सद्दशपरि-णामोपि । तस्यैवमापेक्षिकत्वादवस्तुत्विमिति चेत् न, विसदशपरिणामस्याप्यवस्तुत्वमसंगात् ।

आप जैनियोंने कहा था कि समान, असमान, परिणामस्त्ररूप बालवक्षसे सदश और विसदश परिणाम आत्मक ही तरुणवृक्ष उपजता है। इसपर हम बौद्धोंका प्रश्न हं कि एक ही वृक्षव्यक्तिमें भळा सदश परिणाम कैसे ठहर सकता है ? वह साद्ध्यः तो दो आदिमें पाया जाता है] अन्यथा अनन्त्रय अलंकार या दोष लग बैठेगा, जो कि कवियोंके अतिरिक्त दार्शनिकोंके यहां अभीष्ट नहीं किया गया है। तद्भित्रमें तद्गत अनेक सदश धर्मीके पाये जानेसे सादश्य आरोपा जाता है। एक ही व्यक्तिमें रहनेवाले साद्यका तो एक किनारेवाली नदीके समान असम्भव है, इस्प्रकार बौद्धों के दैकहने-पर इम जैन भी बौद्धों से पूंछते हैं कि तुम्हारा माना गया विसदश, परिणाम क्या दो में ठहरनेवाला नहीं है ? फिर वह विशेष भला एक व्यक्तिमें कैसे ठहरें गया ? बताओ । सादस्य जैसे दो आदिमें रहता है उसी प्रकार वैसादस्य भी दो आदिमें ही पाया जाता है। अकेळेमें विसमानता नहीं है। गाय से विलक्षण भैसा है। एक परमाणु दूसरें परमाणुसे विलक्षण है। मनुष्य मनुष्यमें या बुद्धि बुद्धिमें भेद पडा हुआ है। " मुण्डे मुण्डे मितिर्भिना " । बात यह है कि पदार्थ या पदार्थीमें ठहरनेकी अपेक्षा सहशापरिणाम और विसहश परिणाम समान है। यदि बीद्ध यों कहें कि द्वितीय, तृतीय, आदिकी तो केवल ं अपेक्षा ही है वस्तुतः विसदश परिणाम एक ही व्यक्तिमें ठहर जाता है, जैसे कि वैशेषिकों के यहां दूसरे तीसरे पदार्थकी केवल अपेक्षा कर दित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें समवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमे ठहरतीं मानी गयी हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि यों तो फिर सदशपरिणाम भी क्यों नहीं द्वितीय आदिकी अपेक्षा रखने मात्र से केवल एकमें ही ठहर रहा मान छिया जाय । यदि बौद्ध यों कहें कि इस प्रकार द्वितीय आदि व्यक्तियोंकी अपेक्षाको धारने-बाला होने से उस सहश परिणामको अवस्तुपना हो जायगा । क्योंकि दूरवर्तीपन, निकटवर्तीपन, उरकीपार, परलीपार, आदिक पदार्थीके समाने आपेक्षिक पदार्थ अवस्त होते हैं। वस्तमत पदार्थीमें तो परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु अपेक्षासे होरहे उरलीपार परलीपार आदि धर्म तो इधर उधरके मनुष्योंकी अपेक्षा झट बदल जाते हैं। अतः आपेक्षिक धर्मोंको हम बस्तुभूत नहीं मानते है। आचार्य

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो विसदश परिणामको भी अवस्तुपनेका प्रसंग होगा। वैसादश्य भी तो दूसरोंकी अपेक्षासे व्यवहृत हो रहा आपेक्षिक है। पुद्रक्रके रूप, रस, या जीवके ज्ञान, सुखके तुल्य अपरिवर्त्तनीय नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह व्याप्ति किसने बना दी है ? कि जो आपेक्षिक है वह अवस्तु है। देखो, नील नीलतर, मधुर मधुरतर, उचाचार, नीचाचार, अल्पदु:ख महादु:ख, ये आपेक्षिक पदार्थ भी वस्तुभूत हैं। अतः द्वितीय आदिककी अपेक्षा रखते हुये भी दोनों सादश्य, वैसादश्य, परमार्थ है।

प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो विसद्दश्यरिणामो नापेक्षिक इति चेत्, सद्दश्यरिणामोपि तत्र प्रतिभासमानः परापेक्षिको माभूत् । सद्दश्यरिणामः प्रत्यक्षे प्रतिभातीति कृतो व्यवस्था- प्यते इति चेत्, विसद्दश्यरिणामस्तत्र प्रतिभातीति कृतः ? प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विसद्दश्यिक- स्पादिति चेत् तथाविधात्सद्दश्यिकस्यात्साद्दश्यप्रतिभासव्यवस्थास्तु कथमन्यथा यत्रैव जन्यदेनां तत्रैवास्य प्रमाणतेति घटते ।

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्षबुद्धिमें स्पट प्रतिभास रहा विसदश परिणाम तो अन्योंकी अपेक्षासे हुआ नहीं है। अविचारक प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया गया जो पदार्थ होगा वह वस्तुभूत होगा। नीळनीळतर या मधरमधरतरका प्रकरण होनेपर प्रत्यक्षज्ञान उसकी मीठा या अधिक नीळा जान रहा है इससे यह अधिक मीठा है, उससे यह न्यून मीठा है। यह पीछे होनेवाली कल्पनायें हैं, किन्तु यह इससे विसदृश है इस बातको प्रत्यक्षज्ञान निरपेक्ष होकर विशदरूपमे जान रहा है। यों कहनेपर तो आचार्य महाराज कहते है कि उसी प्रकार उस प्रत्यक्ष बुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा सदशपिरणाम भी परकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं होते । स्थाण और पुरुषमे ठहरनेवाली कर्श्वता जैसे प्रत्यक्षसे ही दीख जाती है उसी प्रकार मनुष्यपन, पशुपन, द्रव्यपन, आदिके सदश परिणाम भी वस्तुके दीख जानेपर ही प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय जान छिये जाते हैं। वस्तुके किसी धर्ममें यदि अन्यकी भी अपेक्षा रही आवे तो भी उसका वस्तुभूतपना छींड लिया नहीं जाता है। अग्निकी अपेक्षासे हुआ घटका लाल रंग या पक्कापन उस घटकी वस्तुभूत सम्पत्ति है। परापेक्ष हो जानेसे क्या कोई मर जाता है, तिसपर भी सदश परिणाम परापेक्ष तो नहीं है अतः परमार्थभूत है। बौद्ध कहते हैं कि अभी जैनोंने यह कहा है कि प्रत्यक्षज्ञानमें सदशपरिणाम प्रतिभास जाता है, इन पूंछते हैं कि इस प्रकार किस प्रमाणसे व्यवस्था कराई जाती है ? अर्थात्—परमाथप्राही प्रत्यक्षमें सदशपरिणाम देखा जा चुका है यह कैसे निर्णीत किया जाय ? कलको कोई यों भी कह देगा कि घोडेके सिरपर सींग भी प्रत्यक्ष द्वारा दीख रहे हैं। बौद्धोंके यों कहनेपर तो आचार्य सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि तुम बौद्धोंके कथन अनुसार उस प्रत्यक्ष ज्ञानमें विसदश परिणाम प्रतिभास रहा है यह कैसे जाना जाय ? बताओ । इसपर बौद्ध यदि यों उत्तर कहैं कि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले और उतने ही प्रत्यक्षगृहीत अंशका निर्णय करनेवाले विसद्दाप्राही विकल्पज्ञानसे यह निर्णय कर लिया जाता है कि पूर्ववर्त्ती निर्विकल्पक

प्रत्यक्षमे सहरापरिणामको अवस्य विषय किया है। तमी तो उसके पश्चाद्मावी विकल्पने विसहरा. परिणामका अध्यवसाय किया है। प्रामीण परिभाषा है कि " जो गेंहू खायगा वह गेंहू हंगेगा," " बोवे बीज बम्रके आम कहांसे होय ?" यों करनेपर तो आचार्य भी कहते हैं कि तिस ही प्रकार अविचारक प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विचारक सहराग्राही विकल्पनास्वरूप श्रुत- ज्ञानसे साहरयके प्रतिभासकी व्यवस्था बन जाओ। अर्थात्— मीठे, अधिक मीठेका विचार कर रहे पीछे होनेवाले श्रुतज्ञानोंसे जैसे यह जान लिया जाता है कि मीठेपनको जाननेवाला पूर्वमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो चुका है, उसी प्रकार सहरा परिणामोंकी भी पीछे अनेक कल्पनायें उठती हैं। अतः उनके मूल कारण सहरा परिणामको प्रत्यक्ष ज्ञानने अवस्य जान लिया है, बह प्रतीत हो जाता है। अन्यथा यानी प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं किये गये विषयमें यदि कल्पनायें उठा लीं जावेगी तो तुम बौद्धोंका यह सिद्धान्त बचन किस प्रकार घटित हो सकेगा कि निर्विकल्पक बुद्धि जिस ही प्रत्यक्ष गृहीत विषयमें इस सिवेकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करायेगी उस ही अंशमें इस निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमाणपना व्यवस्थित होता है। भावार्थ—इस तुम्हारे सिद्धान्त बचन से पुष्ट होता है कि प्रत्यक्ष द्वारा विसहरा परिणामके समान सहरा परिणाम भी गृहीत हो चुका है। तभी तो तदनुमार दोनोंको विषय कर रहे पीछे विकल्पज्ञान उपजते हैं।

नन्ववमध्यक्षसंविदि मितभासमानः सदृशपरिणामो विशेष एव स्यात् स्पष्टमितभास-विषयस्य विशेषत्वादिति चेत् ति मत्यक्षे मितभासमानो विशेषः सदृशपरिणाम एव स्यात् स्पष्टा-वभासगोचरस्य सदृशपरिणामत्वादित्यपि द्ववाणः कृतो निषिध्यते १ मतीतिविरोधादिति चेत्, तत एव सामान्यस्य विशेषतामापाद्यश्चिषिध्यतां ।

बौद्ध अपने पक्षका अत्रधारण करते हुये झुंझला कर कहते है कि इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानमें श्रितेमास रहा सदशपिरणाम तो विशेष ही बन बैठेगा। क्योंकि स्पष्ट हो रहे ज्ञानके विषयको विशेष-पना निर्णात हो रहा है। अर्थात्—प्रत्यक्षप्रमाणका विषय विशेष पदार्थ ही है। जो कुछ भी छूआ, चाटा, स्ंचा, देखा, खुना, जाता है या मन इन्द्रिय द्वारा संवेदा जाता है, वह विशेषक्षप ही पदार्थ है। सादश्य या सामान्यको छुआ, स्ंघा, या देखा नहीं जा सकता है। अतः सदशपिरणाम भी विशेष पदार्थ बन बैठा। बौद्धोंके यों कहनेपर तब तो हम यों कहेंगे कि प्रत्यक्षमें प्रतिभास रहा विशेष तो सदशपिरणाम ही हो जावेगा। क्योंकि स्पष्ट प्रतिभासको विषय हो रहे पदार्थको सदशपिरणामपन है। सदृशपिरणामसे आक्रान्त हो रहे ही पदार्थका छूना, देखना, सुनना, होता है। सभी प्रकारोंसे दूसरोंके साहरूयको नहीं पकड रहे खरविषाणके समान पदार्थका अद्यावधि सर्वज्ञको भी प्रत्यक्ष नहीं हो। सका है। तिर्थक् सामान्य सभी पदार्थोंमें ओत पोत भरा हुआ है। सजातीयता वस्तुकी गांठकी सम्पत्ति है। इस प्रकार भी कह रहा स्याद्वादी भळा किस झक्कडसे रोका जा सकता है शवात यह है कि पदार्थोंको सर्वथा अनित्य ही कहनेवाले बौद्धोंके प्रति हमारा नित्यत्वको सिद्ध करनेवाला अन्यर्थ

अस्त्र खडा है जब कि प्रत्यक्षमें सहशपरिणाम और विसहश परिणाम दोनोंसे विर रही वस्तुका प्रत्यक्ष हो रहा है तो एक ही के प्रत्यक्ष होनेकी चाल दिखाना बौद्धोंका अपनी सदातन देवके अनुसार अनुचित कार्य है। यदि बौद्ध यों कहैं कि सहश परिणामको ही विशेष कहना या सहशपरिणामका प्रत्यक्ष मानना तो प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। जिसमें प्रतीतियोंसे विरोध आवे ऐसा अख स्याद्धादि-योंको नहीं उठाना चाहिये, हम स्याद्धादियोंको रोक देंगे। इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी प्रतीतियों करके विरोध हो जानेके कारण ही सामान्यको विशेषपनेका आपादन करा रहा बौद्ध भी निषेध दिया जाय। प्रत्यक्षमें प्रतिमास जानेसे सामान्य भी विशेष पदार्य हो जायगा ऐसा कहनेमें भी प्रतीतियोंसे विरोध आता है। क्योंजी, प्रत्यक्षमें प्रतिभास जानेसे हाथ क्या पांच हो जायगा ? अर्थात्—नहीं।

प्रत्यक्षे सद्दशपरिणामस्याप्रतीतेः सकलजनमनोधिष्ठानत्वात् श्रांताध्यक्षे साद्दश्यप्रतीति-बीधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्वाधकं । वृत्तिविकल्पादिद्षणमिति चेक्न, तस्यानेकव्यक्तिव्यापि सामान्यविषयत्वात् । न हि वयं सद्दशपरिणाममनेकव्यक्तिव्यापिनं युगपदुपगच्छामोन्यत्रोप-चारात् । यतस्तस्य स्वव्यक्तिष्वेकदेश्चेन वृत्तौ सावयवत्वं, स्वावयवेषु चैकदेशांतरेण वृत्तेरनव-स्थानं यतश्च प्रत्यकपीरसमाप्त्या वृत्तौ व्यक्त्यंतराणां निःसामान्यत्वमेकत्र व्यक्तौ कात्स्यंन परिसमाप्तत्वात् सर्वगतत्वाच्च तस्य व्यक्त्यंतराले स्वप्रत्ययकर्त्त्वापत्तिरन्यथा कर्तृत्वाकर्तृत्वयो-धर्मयोः परस्परविरुद्धयोरध्यासादेकत्रावस्थानं स्वव्यक्तिदेशिभिव्यक्तौ तदंतराले चानभिव्यक्तौ तस्याभिव्यक्तेतराकारप्रसक्तिः सर्वथा नित्यस्यार्थिकयाविरोधादयश्च दोषः वसक्यरन् ।

प्रत्यक्ष ज्ञानमें सदरा परिणामकी प्रतीति नहीं होती रहनेसे पुनरिप प्रत्यक्षमें सदरापनकी प्रतीति होना मानना आन्तियुक्त है। क्योंकि बाधक प्रमाणोंका सद्भाव है। जिन विपरीत ज्ञानोंके बाधक प्रमाण विद्यमान हैं, वे बाध्य होते हुए आन्त ज्ञान हैं। मले ही संपूर्ण जनोंके मानसिक विचारोंमें अधिष्ठित बने रहनेसे सदरा परिणामोंकी कल्पना हो जाय। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणमें सादर्य नहीं दीखता है। जब कि वस्तु स्वकीय डील्से असाधारण या विसदरा है तो विशेष वस्तुमें सादर्यका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? सीपमें चांदीको जाननेवाले हुये प्रत्यक्षके समान विसदरोंको सदरा जानने बाला प्रत्यक्ष भी अश्वान्त नहीं है। यों बौद्धोंके कहनेपर आचार्य पूछते हैं कि भाइयो! वह कौनसा बाधक प्रमाण उस सदरापरिणामकी प्रतीतिका बाधक हो रहा है? बताओ तो सही। यदि आप बौद्ध यों कहें कि सदरा पदार्थोंमें भला सादर्य कैसे वर्तेगा? वृत्तिके विकल्प या सर्वगत, असर्वगतपनेके पक्ष उठानेपर अथवा विरुद्ध धर्मोंका आरोप हो जानेसे विरोध हो जाना आदिक अनेक दृषण आजाना ही सादर्य प्रतीतिका बाधक है। आप जैनजन विचारिये तो सही कि अनेक घट, पट, घोढे, गाय, आदिक विशेषोंमें न्याप रहा वह सदरापरिणाम भला अपनी आश्रय हो रहीं न्यिक्रयोंमें यदि एक

देशने वर्तेगा तब तो सावयव हो जायगा जैसे कि अनेक खम्मों या टोढोंपर छप्पर छादनेके छिये रखा हुआ बांस एक एक देशसे ठहरता सन्ता साययय हो रहा है। सदश परिणाममें गांठके पहिलेसे यदि निज अन्यय होंगें तभी तो वह अपने एक एक भागसे अनेकोंमें वर्त जायगा। तथा उन पहिलेको निज अवयवोंमें भी वह सदश परिणाम दूसरे अपने एक एक देशोंसे वर्तेगा अपने उन मागोंमें तीसरे निज भागोंसे ठहरेगा । कहीं भी द्रतक आकांक्षाकी शान्ति न होनेसे अनवस्था हो जायगी तथा अनेकोंमें रहनेवाले सादस्थको यदि प्रत्येकमें ही परिपूर्ण रूपसे ठहरा दिया जायगा तो अन्य व्यक्तियोंको साहत्र्यसे रहितपनेका प्रसंग होगा । क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण रूपसे साहस्य भर चुका है फिर भी प्रत्येक सहश पदार्थमें यदि परिपूर्ण रूपसे साहस्यकी बृत्ति मानी जायगी तो सादश्य अनेक हो जायेंगे तथा यदि सादश्यको सर्वगत माना जायगा तो न्यारे न्यारे स्थानोंपर धरी ह्रयीं सदश व्यक्तियोके मध्यवर्ती अन्तरालमें ठहर रहे सादश्यको अपना ज्ञान करा देनेका प्रसंग आधेगा जैसे कि यहां से वहांतक दो मनुष्योंके कन्धें।पर रखी ह्रयी पालकी मध्यमें भी अपना ज्ञान कराती है। अन्यथा व्यक्तियोंमें ज्ञान कराना और अन्तरालमें ज्ञान न कराना ये दो विरुद्ध धर्म एक साइस्यमें मानने पडेंगे। एकमें तो दो विरुद्ध धर्म ठहरते नहीं हैं। साइस्यको नित्य माननेपर भी व्यक्ति देशमें अभिव्यक्ती और रीते स्थान अन्तरालमें अनामिव्यक्ति इस ढंगसे बिरुद्ध धर्मीका समावेश हो जानेसे फिर भी विरोध दोष आता है। कहे जाचुके अनवस्था या विरोध दोषोंके समान संकर, व्यतिकर, आदिक दोष भी जैनोंके सादत्यमे लग बैठेंगे, अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धांको इस प्रकार हमारे माने गये सादस्यमें दूषण नहीं उठाने चाहिये क्योंकि " नित्यमेकमनेकानगतं सामान्यं " वैशेषिकों द्वारा माने गये एक होकर अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाले सामान्य (जाति) में वे दुषण आते है (विषयत्वं सराम्यर्थः) हमारे साहस्यमें नहीं । हम जैन उस सहशापरिणामको एक ही कालमें अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला नहीं स्वीकार करते हैं, उपचारके अतिरिक्त अर्थात-वैशेषिक जैसे त्रित्व चतुष्टव आदिक संख्याकी समयवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें वृत्ति मानते हैं । पर्यात सम्बन्धकी न्यारी बात है. उसी प्रकार हम जैन भी सहशपरिणामको एक कालमें एक ही व्यक्तिमें ठहरता हुआ मानते हैं । बस्तुभृत भर्म एक वस्तुमें ही ठहरते है । अनन्ताशनन्त बस्तुओंमेंसे किन्हीं भी दो तीन आदि वस्तुओंका द्रव्यरूपसे साझा नहीं है। कल्पना या व्यवहारसे भले ही साहराक दो, तीन, चार आदि पदार्थींका धर्म कह दिया जाय, कोई तुमको रोकता नहीं । अपने अपने नियत हो रहे अनन्तानन्त अंशोंमें तदात्मक होकर व्याप रही वस्त कथंचित विशेष रूप ही है। कोई भी वस्तु किसीके भी रोम मात्रको स्वायत्त नहीं कर सकती है। नैयायिकोंके अभिमत सामान्यमें उक्त दोष अवस्य आते हैं. अवयवोंमें अवयवीकी कृति या व्यक्तियोंमें जातिकी कृतिके विकल्प उठा कर नैयायिकोंके सिद्धान्तका निराकरण किया जा सकता है। हम जैनोंके यहां माने गये अवयवी या साहत्य परिणामस्वरूप सामान्यमें ये दोन नहीं आते हैं। सर्वधा

एक पदार्थका एक ही समय अनेक व्यक्तियोंमें व्यापक होकर वर्त्तना हम नहीं मानते हैं, जिससे कि उस सादृश्यका अपने आधार व्यक्तियोंमें एकदेश करके वर्त्तना माननेपर सावयवपना प्राप्त हो जाय और फिर उन अपने मित्र पूर्व अवयवोमे भी दूसरे अपने एक देशोंसे वृत्ति माननेकी आकांक्षा बढ़ती रहनेसे अनवस्था दोष हो जाता तथा जिस कारणसे कि प्रत्येक आश्रयमें सदशपरिणामरूप सामान्यकी परिपूर्णरूपसे वृत्ति हो चुकनेपर अन्य व्यक्तियोंको सामान्यरहितपनेका प्रसंग होता। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण स्वकीय अंशों करके वह सामान्य परिसमात होकर वर्त चुका है। उसका बाळाप्र भी अवशेष नहीं बचा है। तथा वैशेषिकोंके विचार अनुसार उस सादश्यरूप सामान्यको सर्वगतपना हो जानेसे आश्रय व्यक्तियोसे रीते बीचके अन्तरालमे सामान्यको अपना ज्ञान करा देने-पनकी आपत्ति आवेगी, अन्यथा यानी अन्तरालमे वह सामान्य ठहर रहा भी यदि अपना ज्ञान नहीं करा पाता है तब तो व्यक्ति देशोंमें ज्ञानका यत्तीपन और अन्तरालमे ज्ञानका अकर्तापन इन परस्पर विरुद्ध दो धर्मीका युगपत् आक्रमण हो जानेसे एक पदार्थमे अवस्थान मानना पडेगा, जो कि विरोध दोषकी जड है। सर्वथा नित्य हो रहे सामान्यका अपनी आश्रय व्यक्तियोके देशमें प्रकट होना माना जाय और उन व्यक्तियोक्ने दस हाथ, सौ हाथ, दश कोस, पांचसौ कोस मध्यवर्ता अन्तराल देशमें नित्य सादृत्यको प्रकट हुआ न माना जाय तब ते। उस सामान्यके अभिन्यक्त और उससे न्यारे अनिभन्यक्त इन दो विरुद्ध आकारोंका प्रसंग आता है। सर्वधा कूटस्थ नित्य पदार्थके अर्धक्रिया होनेका विरोध है। वैविधकरण्य, संशय, आदिक दोषोंका प्रसंग भी जैनोके ऊपर तभी लागू होता, अन्यया नहीं । बात यह है कि सर्वथा भेदबादियोंके ऊपर लागू होनेवाले दोष कथंचित् पक्षका आदर करनेवाले हम स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं आते है। ऐसी दशामें प्रत्यक्षज्ञानके विषय हो रहे साहस्यरूप सामान्यको जाननेवाली प्रतीतिकः कोई बाधकप्रमाण नही है. जिससे कि वह अभ्रान्त सिद्ध न होय । अतः सिद्ध हुआ कि विशेषके समान एक एक व्यक्तिमें तदात्मक हो रहा सदश परिणाम स्पष्ट जाना जा रहा है।

नतु च सदशपरिणामोपि प्रतिन्यक्तिनियते स्याद्वादिनाभ्युपगम्यमाने तद्वस्वापित्तराव-इयकी तस्यां च सत्यां स्वसमानपरिणामेष्वप्येकैकव्यक्तिनिष्ठेषु समानप्रत्ययोत्पत्तेः सदशपरि-णामांतरानुषंगादनवस्या तेषु समानपरिणामांतरमंतरेण समानप्रत्ययोत्पत्तौ खंडादिव्यक्तिष्विप समानप्रत्ययोत्पत्तिस्तमंतरेण स्यात्ततः सदशपरिणामकल्पनमयुक्तमेवेति कश्चित् । तस्यापि विसदशपरिणामकल्पनानुपपत्तिरेतद्दोषानुषंगात् । वैसाद्दर्यष्विप हि प्रतिव्यक्तिनियतेषु बहुषु विसदश्मत्ययोपजननाद्देसदशांतरकल्पनायामनवस्थानमवश्यंभावि तेषु वैसादश्यांतरमंतरेणं विसदश्मत्ययोत्पत्तौ सर्वत्र वैसादश्यकल्पनमनर्थकं तेन विनापि विसदश्मत्ययसिद्धेरिति कथं विसदश्यपरिणामे कल्पनोपपद्येत ।

पनः पूर्वपक्षीका स्वसिद्धान्त अवधारण है कि जब जैनोंने सदश परिणामको प्रत्येक व्यक्तिमें नियत मान लिया है तो स्याद्वादी विद्वान करके सहर्ष स्वीकार किये गये प्रत्येक व्यक्तियोंमें नियत हो रहे सदश परिणाममें भी पुनः उस सदश परिणामसे सहितपनेकी प्राप्ति होना आवश्यक पड गया अर्थात - जैसे व्यक्तियोंमें सदशपरिणाम ठहर रहा माना गया है, यों सदश परिणाम भी विशेष व्यक्तिरूप जब हो गया तो सदश परिणामरूप व्यक्तिमें भी पनः सादश्य धरना चाहिये और तैसा होनेपर वे दबारा ठहरे हुये सदश परिणाम भी घट, पटके, समान व्यक्तिस्वरूप बन बैठेंगे। उनमें पुनः तीसरे सदरा परिणामोंसे सिहतपना धरना आवश्यक हो जायगा । ऐसी दशामें एक एक व्यक्तिमें ठहर रहे अपने अपने उन समान परिणामोमें भी यह सादस्य इस सादस्यके समान है, इस ढंगका सादस्य ज्ञान उपजानेके कारण पुनरपि अन्य अन्य सदश परिणामोके सद्भावका प्रसंग आनेसे अनवस्था दोष होगा । यदि जैन जन उन द्वाराके सदृश परिणामोंमें तीसरे समान परिणामोंके विना भी यह इसके समान है इस प्रकार समान ज्ञानकी उत्पत्ति होना मान छेंगे, तब खण्ड, मुण्ड, शावलेय, बाहु-लेय, आदिक गौकी विशेष व्यक्तियोंमें भी उस सादस्य परिणामके बिना ही '' समान है '' '' समान है, '' इस आकारबाले ज्ञानकी उत्पत्ति हो जायगी। तैसा हो जानेसे मूलमें ही सदश परिणामकी कल्पना करना अनुचित ही पडता है, इस प्रकार बौद्धका पक्ष छेकर कोई एकदेशी कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उस किसी बौद्धके यहां बैसा साइज्य-परिणामकी कल्पना करना भी असिद्ध हो जायगा । क्योंकि उनको भी इसी दोषका प्रसंग आता है । कारण कि प्रत्येक व्यक्तियोंमें नियत हो रहे बहुत वैसादश्योंमें भी "यह इससे विरुक्षण है " '' यह इससे विसदश है '' इत्याकारक विसदशज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेसे अन्य दूसरे वैसादश्योंकी कल्पना करते हुथे अनवस्था दोष अवस्य होगा । भावार्थ —बौद्धोंने व्यक्तियोंमें जैसे वैसाहस्य प्रत्यय करानेका उपयोगी वैसादस्य धर्म मान लिया है उस व्यक्तिरूप वैसादस्यमें भी पनः विसद्शताका ज्ञान करानेके लिये व्यक्तिकृप वैसादस्योंकी उत्तरोत्तर कल्पना बढती रहनेसे कहीं भी अवस्थान नहीं हो सकेगा । यदि अनवस्था दोषको हटानेके लिये आप बौद्ध उन बहुतसी उत्तरोत्तर भावी न्यारी न्यारी वैसाद्द्य व्यक्तियोंमे अन्य वैसाद्दर्योंके विना ही विलक्षणपने या विसद्दरापनेका ज्ञान उपजालोगे फिर मूळसे ही सभी व्यक्तियोंमें वैसादस्यकी कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि जब वैसादस्योंमें उन दसरे वैसादश्योंके विना भी विसदश बान सिद्ध हो रहा है तो मुलमें वैसादश्यका बोझ क्यों बढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार सदश परिणामके समान विसदश परिणाममें भी कैसे विसदशपनकी कल्पना बन सभेगी ! विचारो तो सही । बात यह है भि सादृश्य और वैसादृश्यके साथ वस्तुका कथांचित् भेर, अभेद, होनेसे पुनः सादश्य और वैसादश्योंकी धारा नहीं बढ़ानी पड़ती है। हां, विशेषेकान्तवादी बौद्धके यहां या मेदवादी वैशेषिकके मतमें अनवस्था होगी । जैनसिद्धान्त अनुसार सदृश परिणाम और ¹विसदश परिणामस्वरूप सामान्य, विशेष आत्मक वस्तुका आवालवृद्ध विदित प्रत्यक्ष हो रहा है । यदि

सहरापिरणामका अपल्यप किया जायमा तो विसदश परिणाम भी जगत्से उठ जायमा । जहां राग नहीं वहां द्वेष भी नहीं है ।

अत एव सहन्नेतरपरिणामविकलमस्त्रिलं स्वलक्षणमनिर्देश्यं सर्वथेति चेत् कथमेवम-सादश्यं न स्यात् । न हि किंचित्तथा पश्यामो यथाक्षीक्रियते परेः सहन्नेतरपरिणामात्मनीन्त-विद्यि वस्तुनोन्नुभवात् ।

बीद्ध कहते हैं कि इस ही कारणसे अर्थात-साहत्य, वैसाहत्य कल्पनाका शंक्षट अवास्तविक है, ऐसा होनेसे ही हम बौद्ध सम्पूर्ण वस्तुभृत स्त्रलक्षणोंको सदृश परिणाम और विसदृश परिणामसे सर्वथा रीते हो रहे अवक्तव्य स्वीकार करते हैं। भावार्थ-स्वलक्षण तत्त्व सम्पूर्ण धर्मीसे रहित हो रहा किसी भी शब्दसे नहीं कहा जाता है, निर्विकल्प वस्तुमें सभी प्रकारोसे शब्द योजना नहीं होती है। स्यलक्षणमें विसदृश परिणाम है सदृश परिणाम नहीं है. ये भी सब अमत्य कल्पनाये है। बहुत बढिया पदार्थकी प्रशंसा नहीं हुआ करती है। चप रहकर उसके गुणोंका मनन करना ही उसकी तहपर पहं-चना है। मध्यम श्रेणिके सीन्दर्य, विद्वत्ता, तपस्या, बल, आदिकी प्रशंसाके चाहे जितने बडे पुल बांध लो ठल्लुआ बैठेको कौन रोके । अतः परमार्थभूत स्वलक्षण ते। सादस्य वैसादस्यसे रहित होता हुआ परिशेपमें स्वलक्षण शहरो भी अवक्तव्य हो जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो भला सददापना या विसददापना कैसे नहीं हो जायगा ? स्वलक्षण पदार्थ ब्रह्माद्वैतुके समान एक तो है नहीं, अनेक ही हैं। स्वलक्षणपने करके या अनिर्देश्यपने करके अथवा साहस्य वैसाहस्यसे रहितपने करके तो उन स्वलक्षणोंमें सहराता मानी ही जायगी तथा अनेकोंमें विस-दुशपना तो विमा परिश्रम ही सध जाता है। तभी अनेकपनकी रक्षा हो सकती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे विद्वान् बौद्धों करके वस्तुका स्वरूप अवक्तव्य या सद्शविसद्श परिणामरिहतपना अपना स्वलक्षण अंगीकार किया जाता है, उस प्रकार किसी भी स्वलक्षणको हम नहीं देख रहे हैं। यथार्थमें सददा और विसद्श परिणाम आत्मक हो रही ही अन्तरंग अथवा बहिरंग वस्तुका अनुभव हो रहा है। ज्ञान, मुख, इच्छा, दु:ख, वेदना, चित्तवृत्ति, ब्रद्मचर्य, क्रोध, शक्ति, प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि अन्तरंग और घट, पट, पुस्तक, गृह, रुपया, पैसा, आदि बहिरंग पदार्थीमें सदश परिणाम और विसदश परिणतियां हो रहीं सबके अनुभवमें आती हैं।

यदि पुनर्वेसाद्दर्यं वस्तुस्वरूपं तत्र विसद्दशत्रत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुव्यतिरिक्ते वैस-दृश्ये तस्याभावात् कल्पनया तु ततोपोध्दृतेरर्थान्तरत्वया वैसादृश्ये विसद्दश्यत्यय औपचारिक एव न मुख्यो यतो वसादृश्यांतरकल्पनपसंग इति मतं, तदा सादृश्यमि वस्तुस्वरूपं तत्र सदृश्यत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुव्यतिरिक्ते सादृश्ये तस्याऽभावादर्थान्तरत्यापोद्धृते सदृश्यिर-णामे सदृश्यस्ययो भाक्त एव न मुख्यो यतः सादृश्यांतरकल्पनादनवस्थाश्सक्तिरिति समा- भानं विविधितवादिनीः समानमासेपबदुक्छद्द्वते । तसे व्यत्तसत्सामान्यं विवेषक्षत्र व मन-र्वमानो विकल्पो वस्तुनियस्तं संवादकत्वादञ्जणसम् एव मत्यस्वत् तादश्चाच विकल्पाछ्द्य-सभणभावो व्यवस्थाप्यवानो न पृथ्यास्य एव यतः सांद्रतः स्यात् । पान्यार्थिकथ कक्ष्य-सभणभावः सिद्धः सम्रयं त्रीवोषयोगयोः क्यंनियादात्स्यादपप्यते अन्यक्ष्यवतः ।

यदि फिर बीद्धांका यह मन्तव्य होय कि विसहशपना कोई वस्तका औपाधिक धर्म नहीं है. वह विसद्शपना तो वस्तुका स्वकीय निजरूप है उस वस्तुके स्वरूप माने गये वैसादस्थमें हो रहा निसद्वापनेका हाम तो वस्तुमें ही होरहा है। वस्तुके अतिरिक्त किसी वैसाद्वस्य नामके श्रिक्त धर्मको विषय करनेवाळा वह बान नहीं है। क्योंकि वस्तसे अतिरिक्त शरीरवाळे उन वैसादश्य धर्मीका अभाव है। अर्थात् स्वलक्षण या अनिदेश्य जो कुछ भी वस्तु है वह असाधारण, विशेष, वा विसद्धा परिणाम स्वरूप ही तो है। हां कल्पना करके तो मळे ही उस वस्तुसे भिन्न अर्थपते करके न्यारे किये गये वैसादस्यमें विसदशपनेका धर्ममूलक ब्रान उठाको । किन्तु वह ब्रान उपचारसे किया गया ही है, मुख्य नहीं है जिससे कि उस वैसादस्यमें भी विसदशपनेका हान करानेके किये अन्य वैसाद-श्योंकी फिर उन वैसादश्योंमें भी विलक्षणपनेका हान करानेके किये न्यारे अवेक वैसादश्योंकी कल्पना करते रहनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग हो जाय । " राहोः क्षिरः " ऐसी अपोदार कल्पना करतेसे राइसे शिर व्यतिरिक्त समझा जाता है, उसी प्रकार वैसारस्य कोई वस्तसे न्यारा धर्म नहीं है। आजार्य कहते हैं कि बीदोंका यह मत है तब तो हम कहेंगे कि साहत्य भी क्स्तुका स्वरूप है। उस साहत्यमें सदस्यपनेका ज्ञान होना वस्तुके निज डीलमें ही ज्ञान होना है। वस्तरे व्यतिशिक हो रहे सादस्यमें वह सादश प्रत्यय नहीं है। क्योंकि वस्तुसे सादश्य न्यारा नहीं है। भन्ने ही अर्थान्तरफ्नेसे न्यारा कविपत कर उस सक्ता परिणाममें "यह इसके सदश है" "वह इसके समान है " ऐसे सदशपनेको प्रहण करनेवाळे ज्ञान उठालो, किन्तु वे ज्ञान गौण ही हैं, मस्य " शिळापुत्रकस्य शरीरं " केतुका धड है, सोनेका फासा है, यह भेदका द्वान गीय है। जिससे कि व्यक्तिरूप न्यारे सादृश्योंमें भी अन्य सादृश्योंकी कलाना करते रहनेसे हम जैकोंके ऊपर अनवस्था दोषका प्रसंग होता, इस प्रकार वादी जैन और प्रतिवादी बौद्ध दोमोंका समाधान करना समाम दीखता है। जैसे कि पहिले दोनों ओरसे किये गये आक्षेप समान देखे जा जुके हैं हम तो बहुत पहिलेसे हैं। वस्तुको सामान्य विशेष आत्मक कहते चळे आ रहे हैं। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विशेषके समान सादृश्य या सामान्य भी वस्तुभूत होता हुआ सद्भु है । उस वस्तुभूत सामान्यमें प्रवर्त रहा विकल्पन्नान (पक्ष) वस्तुका ही यथार्थ प्रतिभास करनेवाला है (साध्य) बाधारहितयन या सकलम्बतिजनकलक्ष्य सम्बाद करानेवाला होनेसे (हेतु) प्रसाक्षके समान (दूष्टान्त)। युत नहीं होता हुआ परमार्थभूत बस्तुका बाह्क है और तैसे वस्तुप्राही विकल्पक्रानको छक्ष्यछक्षणभाव व्यक्त्थापित किया जाता है। यह वस्तुको स्पर्श नहीं कर केवल कल्पना बुद्धियोंमें ही आरूढ़ हो

रहा है। यह बौद्धोंको नहीं मान बैठना चाहिये, जिससे कि वह लक्ष्यलक्षणभाव न्यवहारस्वरूप संवृत्तिमें ही कोरा गढ लिया गया माना जाय। अतः तुम बौद्धोंने जो बहुत पहिले आक्षेप किया था कि संवृतिसे लक्ष्यलक्षणभाव है। स्वप्नविचारोंके समान युद्धिमें यों ही गढ लिया गया है। यह तुम्हारा मन्तन्य न्यवस्थित नहीं रहा। यह लक्ष्यलक्षणभाव पारमार्थिक सिद्ध हो रहा संता जीव और उपयोग का कथंचित् तादाल्यसम्बन्ध हो जानेसे बन जाता है। जैसे कि " अग्निः उष्णः " यह अग्नि और उष्णका कथंचित् तादाल्य हो जानेसे लक्ष्यलक्षणभाव जगत्प्रसिद्ध हो रहा है।

कश्चिदाइ—नोपयोगलक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् विपर्ययमसंगादिति, तं पत्याइ । नात-स्तित्सिद्धेः । उभयथापि त्वद्वचनासिद्धेः स्वसमयिवरोधात् केनचिद्दिज्ञानात्मकत्वात् तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरनीरवत् । निःपरिणामे त्वितपसंगार्थस्वभावसंकराविति । स चायमाक्षेपसमाधानविधिर्जीवीपयोगयोस्तादात्म्यैकांताश्रयो नयाश्चयः प्रतिपत्तच्यः ।

कोई बादी पूर्वपक्ष कह रहा है कि जीवका रुक्षण उपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि उपयोग और जीवका तदात्मकपना हो रहा है, घट घठ ही से उपयुक्त नहीं हो सकता है। तथैव जीव अपने तदात्मक उपयोगसे उपयुज्यमान नहीं बन सकता है । जैनों द्वारा जीव और पुद्रलका अभेद माननेपर विपर्यय हो जानेका प्रसंग हो जायगा, अर्थात्—अभेद पक्षमे उपयोगका लक्षण जीव ही क्यों न बन बैठे। जीवकी हुई उपयोग परिणतिके समान उपयोगकी ही जीवस्वरूप परिणति क्यों न हो जाय. इस प्रकार कहनेवाले उस वादिके प्रति श्री विद्यानन्दस्यामी समाधानको कहते है कि उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि इस ही से उस उपयोगको लक्षणपनेकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात --- जिस ही कारणसे तुम अभेदको कह रहे हो इसी कारणसे उपयोग मिद्ध हो जाना है। सर्वथा अभेद पक्षमें जैसे आकाराकी रूपके साथ उपयुक्तता नहीं होती है, उसी प्रकार सर्वथा भेद माननेपर जीव भी ज्ञान दर्शन उपयोगोंसे उपयुक्त नहीं हो सकेगा । देखो, घास, पानी, खल, विनोला, दरिया, जीरा, आदि -कारणोंसे दूध बननेके अभिमुख हो रही दुरध शक्ति ही तो उत्तर क्षणमें दूधस्वरूपसे परिणम जाती। है। उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान दर्शन स्वभावशाक्तियोंके वशसे घटज्ञान, पटज्ञान, स्वरूप उपयोग करके परिणति कर छेता है, इस प्रकार कथंचित भिन्न अभिन हो रहा उपयोग उस जीवका छक्षण बन जाता है। दूसरी बात यह है कि दोनों प्रकारोसे भी तुम्हारे बचनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात् --- अनेकान्त प्रक्रियाको नहीं समझ कर तुमने जो यह कहा था कि जो जिस स्वरूप है वह उसी करके परिणाम नहीं धार सकता है। इसपर तुम यह विदारों कि तुम्हारे वचन स्वपक्षके साधक और परपक्षके दुषक स्वरूप हैं। स्वपक्ष साधन और परपक्ष दुषण यदि उनका स्वभाव मानो तो तुम्हारा पिंदेला एकान्त वचन हाथसे निकल गया और हमारा जैनसिद्धान्त पुष्ट हो गया और तद्रुप परिणति नहीं मानो तो भी तुम्हारा बचन असिद्ध हो जाता है। जो प्रतिपक्षमें दूषण नहीं दे सके वह नहीं कहा गया सारिला है । सर्वत्र सर्वदा सबकी सत्ता साधनेमें क्या प्रयोजन रक्ला है ? तीसरी बात यह है कि तमको अपने सिद्धान्तसे विरोध हो जायगा । आपने स्वयं इस बातको इष्ट किया है कि पृथ्वी, अप, तेज, बायु ये महाभूत चार तत्त्व गंध, रस, ऋष, स्पर्श, आत्मक होते हुये शुक्लरूप आदिक परिण-तियोंको धारते हैं। अतः तुम " जो जिस स्त्ररूप है वह उस करके ही उपयुक्त नहीं हो सकता है " इस कटाक्षको छोटा छो । आत्मा यदि ज्ञानस्वरूप नहीं होगा तो क्या पत्थरकी परिणति ज्ञान होगी ? देखें बाद्धकी रोटी बना तो लो । चौथी बात यह है कि जिसके यहां आत्मा सर्वथा ज्ञान आत्मक है उसके यहां धारारूपसे ज्ञानस्वरूप परिणतियां नहीं बन सकतीं है। किंत अनुसार किसी अंशसे आत्मा ज्ञानात्मक है तथा अन्य अंशोंसे सुख आत्मक इच्छा आत्मक, भी है । अतः अन्य आत्मक हो रहे आत्माका ज्ञानस्वरूप परिणाम होना उचित है । यदि एकान्त करके आत्माको ज्ञानआत्मक या अन्य इच्छा ही मान लिया जायगा तो तिस भावका कभी विराम नहीं होगा। उसका विराम माननेपर आत्मा द्रव्यके विराम होनेका भी प्रसंग आजायेगा जो कि इप्ट नहीं है। अतः आत्मा किसी भी विवासित स्वरूपसे उपयोगात्मकं है और अन्य स्वरूपोंसे अन्य आत्मक है। ऐसे कथंचित् उपयोगात्मक आत्माका उपयोग धर्म करके उपयुक्तपना बन सकता है। पांचवी बात यह है कि उस आत्मक हो रहे पदार्थका ही उस करके परिणाम हो रहा देखा जाता है। जैसे कि दूध, पानीका उस है। रूपसे परिणाम होता है। देखिये, गीळापन, मीठा, आदि अपने स्वभावींको नहीं छोडता हुआ दूध, बूग, या जरुके सम्बन्धसे मीठा दूध, लस्सी, आदि अन्य परिणामोंको प्राप्त हो जाता है । गौके स्तनसे निकलते ही दूध धारोष्ण रहता है थोडी देरमें दूध शीतल हो जाता है। पुनः अपनिक सम्बन्धसे उष्ण या रवडी, खोआ, मलाई, बन जाता है। अतः दूधके दूधरूप विवर्त हैं। दूधका परिणाम घट, पट, नहीं हो सकता है। जल भी शीतल जल अथवा हिम (बरफ) आत्मक होता हुआ उस रूपसे परिणम जाता है। बुद्धिमान् शिशु ही भाविष्यमें उत्तम कोटिका विद्वान हो जाता है । कडे स्वरूप होने योग्य सुवर्ण ही खडुआ परिणामको धारता है । चूनकी रोटियां बनती हैं । खांडका पेडा बनता है। ससका नही। तिस ६६ प्रकार उपयोगस्यरूप आत्मा अपने उपयोग स्यभावको नहीं छोडता हुआ ज्ञानस्वरूप करके परिणमता रहता है। छटी बात यह है कि एक पदार्थका दूसरे पदार्थीके स्वरूप करके तो परिणाम होता ही नहीं है । यदि तुम्हारे कथन अनुसार निज आत्मक परिणामों करके भी पदार्थकी परिणातियां नहीं मानी जावेगी तो पदार्थ सभी परिणामोंसे रहित होता हुआ कूटाथ अपरिणामी, हो जायगा । सर्वथा नित्य पदार्थके माननेपर क्रिया, कारक, प्रमाण, फल, आदि व्यवहारका छोप हो जायगा । यदि निज परिणामोंके सिवाय अन्य अथाँके परिणाम करके वित्रक्षित पदार्थकी परिणति मानोगे तो सम्पूर्ण पदार्थीके स्वभावोंका संकर हो जायगा । जल अपने शीतद्रव्यपनेसे तो पंरिणित करेगा नहीं। ऐशी दशामें जळका ज्ञान, सुख, रूपसे परिणाम होना बन बैठेगा। आत्माके स्वभाव रूप, रस भी हो जायेंगे। कोई भी अपने

निज स्वभावीकी रक्षा नहीं रख सकेगा। यदि अपरिणामीयन और स्वभाव सांकर्यकी इष्ट गंहीं करना चाहते हो तो अपने अपने स्वस्पेत ही अपनी अपनी अपनी परिणात होना इष्ट करना चाहिये। बात यह है कि हम जिन इन जीव और उपयोगका एकाम्तरूपोरे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नवसे अमेद और पर्धायार्थिक नयसे जीव सथा उपयोगका भेद स्वीकार करते हैं। अतः पूर्व प्रकरणोमें वह आक्षेपकी विधि तो जीव और उपयोगके एकाम्तरूपते तादात्म्यका आश्रय कर उठाई गयी है। तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्धायार्थिक नयका अवस्था केनर वाचार्य महाराजने समाधानका विधान कर दिया है। यह शिष्योंको मछे प्रकार समझ लेना चाहिय ।

अत्रापरः माह्-उपयोगस्य छक्षणत्वानुपपत्तिर्छक्ष्यस्यात्मनोसन्वात् । तथाहि । नास्त्या-त्मानुपर्छभादकारणत्वादकार्यत्वात् त्वरिवषाणादिवदिति । तदयुक्तं । साधमदोषदर्शमात् । अनुपर्छभादयो हि हैतवस्तावदिसद्धाः प्रत्यक्षानुमानागमैरात्मनोऽनायनंतस्योपर्छभात् । योगि-प्रत्यक्षस्य तदुपर्छभक्षस्यागमस्य च प्रमाणभूतस्य मिणेयात्तदनुपर्छभोसिद्ध एव वा अनैकांति कश्च यार्वीकस्य पर्यतोषुत्तिविशेषैः ।

यहां कोई चार्वीकमतानुयायी दूसरा विद्वान सगर्व पूर्वपक्ष कहता है कि उपयोगको जीवका रुक्षणपना बन नहीं सकता है। क्योंकि उपयोग नामका रुक्षणके रुक्य माने जा रहे, आत्माका सद्भाव नहीं है। सद्भूत देवदत्तका उक्षण दण्ड हो सकता है। असत् आकारापुण्यका कोई भी पदार्थ लक्षण नहीं बन सकता है। जब आत्मा पदार्थ है। कोई नहीं है तो फिर लक्षण किसका किया जारहा है? दुल्हाके विना यह किसका विवाह रचा जा रहा है ? देखिये, उस आत्माके अभावको हम अनुमान द्वारा यों सामते हैं कि आत्मा (पक्ष) नहीं है (साध्य) उपलब्ध नहीं होनेसे (पहिला हैत्) निजका पूर्ववर्ती उत्पादक कारण नहीं होनेसे (दूसरा हेतु) निजका उत्पाध उत्तरवर्ती कोई कार्य नहीं होनेसे (तीसरा हेतु) खरविषाण, वन्ध्या पुत्र, आदिके समान (अन्वयद्रष्टांत), इस प्रकार आत्माका अभाव सिद्ध है। अब आचार्य कहते हैं कि वह भूतवादियोंका कथन युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि उनके कहे हुये हेतुओंमें अनेक दीष देखे जाते हैं। अनुपलम्भ, अकारणत्व, आदिक हेतु ती सबसे पहिले असिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाणी करके अनादि, अनन्त, आत्मा द्रव्यका उपलम्म हो रहा है। उस आत्माका उपलम्भ करनेवाले प्रमाणमृत सर्वेश प्रत्यक्षका निर्णय हो रहा है। स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष भी सबके पास विद्यमान है तथा आत्माको जाननैवाले प्रमाणभूत अनुमान और आगंग का निर्णय हो रहा है। अतः उसका अनुपलम्भ संब्रक हेतु अपने पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिंद हेत्वामास ही है तथा (अथवा) चार्वाककी औरसे दिया गया अनुपछम्भ हेत् दूसरे पुरुषोंकी विराप चित्तपृत्तियों करके व्यमिचार दोषयुक्त भी है, अर्थात् अंकेले इम अपनी अपनी स्यूलचित्त वृत्तियौंका प्रत्यक्ष भी करले किन्तु दूसरोंके मनमें या जात्मामें क्या वर्त रहा है, इसका सर्वब्रके सिवाय

किसीको उपलम्भ होता नहीं । अनुमान या आगमसे भले हैं। उनको जानले । सर्वेज्ञका निषेध करने-बाले और इन्द्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले चार्याकको तो दूसरेकी चिच्छतियोंका कथमपि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । किन्तु वे हैं तो सही, चाहे उन्हें भूतकदम्ब कहो या सादि चैतन्य मानो भलें ही अनित्य आत्मा कहते फिरो । अकेले चार्याकसे अतिरिक्त उसके माता, पिता, गुरु, अथवा संसारके अन्य प्राणी और उनकी आत्मीय दृतियां सभी मर तो नहीं गयी है । अतः नास्तित्व साध्यके नहीं रहते हुये अनुपल्पम हेतुके वर्तजानेसे अनेकान्तिक दोष लग जाता है ।

तथा पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वपर्यायदेतुकत्वादुत्तरोत्तरात्मपर्यायस्याकारणत्वादित्ययमप्य-सिद्धो हेतुः ।

तथा आत्मा बालक होकर युवा होता है युवा अवस्थाको छोडकर अर्द्भवृद्ध होता है, अध बूढी अवस्थाको कारण मानकर पीछे बुद्ध हो जाता है, अतृप्त आत्मा मोजन कर छेनेपर तृप्त हो जाता है। मूर्ख पुरुष अभ्यास करते करते पण्डित बम जाता है, रोगी जीव औषध सेवन करता हुआ नीरोग बन बैठता है। मनुष्य मरकर देव हो जाता है। देव पुनः तिर्यंच हो जाता है। इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे पहिछी पिहछी पर्यायोंको हेतु मानकर उत्तर उत्तरवर्ती आत्माकी पर्या-मोंका उत्पाद होता रहता है। इस कारण चार्बाककी ओरसे दिया गया कारणरहितपना यों यह हेतु भी पक्षमें नहीं बर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात्—पर्याय दृष्टिसे देखनेपर आत्माकी सभी बाल्य, कुमार, देव, मनुष्य, संसारी मुक्त, आदि पर्यायें हीं तो दीख रहीं हैं। उन पर्यायोंकी पूर्व समयवर्ती पर्यायें कारण हैं अतः आत्मा कारणोंसे सहित होगया। कारणरहितपना हेतु पक्षमें नहीं रहा।

द्रव्यार्थादेशाद्विरुद्धः । तथाहि । अस्त्यात्मा अनाद्यनंतोऽकारणत्वात् पृथिवीत्वादिवत् । मागभाषेन व्यभिचार इति वेश्वः, तस्य द्रव्यार्थादेशेऽनुपपद्यमानत्वाद्नुत्पादव्ययात्मकत्वात् सर्व-द्रव्यस्य । पृथिवीद्रव्यादिभ्योऽर्तातरभूतस्तु मागभावः परस्याप्यसिद्धं एवान्यथा तस्य तत्त्वां-तरस्वमसंगात ।

चार्यातों के अकारणत्य हेतुको असिद्ध बताकर अब उसे विरुद्ध दोषयुक्त भी बताते हैं कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे यह अकारणत्य हेतु विरुद्ध भी है। इभी बातको प्रन्थकार तैसा प्रसिद्ध करते हुये कहते हैं कि आत्मा (पक्ष) अनादि कालसे अनन्त कालतक ठहरनेवाला द्रव्य है (साष्य) अकारणपना होनेसे (हेतु) पृथ्वीत्व या पृथिवी तत्व, जलतत्व, आदिके समान (अन्वयद्धान्त) अर्थात् पृथिवीत्व जाति या चार्याकोंके यहां माने गये पृथिवीतत्त्व, जलतत्व, तेज-सात्व, बाह्यत्व, ये चार तत्व अवादि अनन्त नित्य हैं। उन्हींके समान चेतन आत्मा तत्व नित्य है। इस अनुमान द्वारा अकारणत्व हेतुसे आत्माका नित्यपना साथ दिया है। पहिले चार्वाकोंके अनुमान द्वारा आत्माके नास्तित्व साधनेमें प्रयुक्त किया गया अकारणत्व हेतु तो नास्तित्व साध्यसे विपरीत हो से नित्यस्य या अनाधनन्त अस्तित्वके साथ व्यक्तिको रखता है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास हुआ। यहां

किसीकी शंका है कि कारणरहित तो खरिवाण मी है। किन्तु वह नित्य नहीं है। अतः नित्यके **उक्षणमें "** सदकारणविन्तयं " कहकर सत् विशेषण लगाया गया है। तिससे खरविषाणमें अति न्याप्तिका बारण हो जाता है। वह सत् नहीं है, असत् है। यदि सत् विशेषण न लगाकर केवल अका-रणत्य ही कहा जायगा तो वैशेषिकोक यहां माने गये प्रागमात्रसे भी व्यभिचार होता है। देखिये. अनादि कालसे चले आये हुये प्रागभावका कोई कारण नहीं है। किन्तु वह अनन्तानन्त नहीं है '' अनादिः सान्तः प्रागमावः ''। हां, सत् विशेषण लगा देनेसे प्रागमावका निवारण हो सकता था, '' न कारणं यस्य '' ऐसी निरुक्ति कर पक्ष पर्युदासका अवलम्ब छेनेसे ही अथवा अकारण शहसे मतुप् प्रत्यय करते हुथे अकारणवत्त्व हेतु कह देनेसे ही खरिविजाण आदि सर्वधा असत् हो रहे पदा-र्थोंका निराकरण भले ही हो जाय, असत्में अकारण उपाधिसे सहितपना नहीं है, किन्तु प्रागभाव करके हुआ व्यभिचार तदवस्थ रहेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि नित्य हो रहे द्रव्य अर्थ का कथन करनेपर सम्पूर्ण द्रव्योंको उत्पाद, व्ययोंसे रहित आत्मकपना है। उत्पत्तिके पहिले प्रामभाव माना जाता. और उन्यका नाश होने लगता तो इन्यके पीछे उसका ध्रंस माना जाता । पर्यायोंका ही उत्पाद न्यय होता हुआ प्रागभाव और ध्वंस माना जाता है । द्रव्योंका नहीं। " नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्रलभावतोस्ति । (बृहत्स्वयम्भू) " । तभी तो द्रव्य अर्थकी अपेक्षा हमने अकारणत्व हेतुको विरुद्ध कहा है। अतः प्रागभाव करके व्यभिचार नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि वैशेषिकोंने भावोंसे भिन्न प्रागभाव पदार्थ माना है। किन्तु दूसरे चार्वाकोंके यहां तो पृथिनो द्रव्य, जलतत्त्र आदिकोसे मिन्न हो रहा प्रागमान सिद्ध ही नहीं है। अन्यथा यानी चार तत्वोंसे भिन्न प्रकारका प्रागमावतत्व यदि माना जायगा तब तो, उस प्रागमावकी चार तत्त्वोंसे निराले पांचरें तत्त्वका प्रसंग चार्वाकोके ऊपर आता है, जो उन्हें इष्ट नहीं है। अतः चार्वाकोका अकारणत्य हेत विरुद्ध ही रहा । यहां अकारण शद्ध ही साध हैं । " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्यीयो बहबीहि श्रेदर्धप्रतिपत्तिकरः " ऐसा नियम है । हां " सदकारणवित्रयं " इस प्राचीन ऋषिवाक्यकी न्यारी बात है।

यश्राकार्यत्वादिति हेतुः सोप्यसिद्धः मुखोदरात्मकार्यस्य पर्यायार्थापणात् प्रसिद्धः कादा-चित्कार्यविशेषस्याभावादकार्यत्वमनैकांतिकं मुर्धुराद्यवस्थेन।प्रिना, कार्यत्वाभावोऽकार्यत्वं विरुद्धं। तथाहि—सर्वदास्त्यात्माऽकार्यत्वात् पृथिवीत्वादिवत् । न प्रागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावैरनै-कांतस्तेषां द्रव्यार्थाश्रयणेनुपपत्तेः । पर्यायार्थाश्रयणे कार्यत्वात् । कुटस्य हि प्रागभावः कुन्नलः स च कोन्नकार्ये कोन्नस्य च निवकः स च स्थासांतरकार्यमिति ।

और आत्माके नात्तित्वको सिद्ध करनेके छिये चार्वाकोंने तीसरा हेतु जो अकार्थत्व ऐसा दिया था, आचार्य कहते है कि वह भी अकार्यत्व हेतु असिद्ध है। क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा कर.

नेसे आत्माके कार्य हो रहे सुखझान, वेदना, पुरुषार्थ, इच्छा या रक्त, वीर्य, उत्पन्न कराना आदि कार्योकी प्रसिद्धि हो रही है । अतः कार्यरहितपना हेतु आत्मा स्वरूप पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद हेत्वाभास है । पूर्वमें जैसे आत्माके कारणोंको साध दिया था । अब आत्माके उत्तरवर्ती कार्योंको प्रसिद्धकर दिखा दिया है। सन्तानरूपी नदी दोनों ओर अनादि, अनन्त, किनारोंसे घिरी हुई है तथा आत्माके नास्तित्वको सिद्ध करनेके ढिथे प्रयुक्त किया गया चार्याकोंका अकार्यत्व हेतु व्यीभचारी हेत्वाभास भी है। मुरमुर या भुभड आदि अवस्थामें पड़ी हुई अग्नि भविष्यमें किसी भी कार्यको नहीं कर रही है। अतः कभी कभी विशेष कार्यके नहीं करनेसे अकार्यत्व हेतु उस अग्नि करके अनैकान्तिक हो जाता हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार सभी पर्यायें भविष्यमें किसी किसी पर्यायको उत्पन्न कर तब नष्ट होती है। इसकी आग या फुलिंगा भी कुछ कार्योंको करते है। हुई या वारूदमें फुलिंगा आग लगा देता है। शरीरको थोडा भरसा देता है, कुछ देर उष्णता रखता है, उससे बैसी ही लम्बी चौडी ज्वाला या फुलिंगा ही भिवेष्यमें सदा उपजता रहे, ऐसा हम जैनोंको एकान्त अभीष्ट नहीं । हां. फंसक दाह हो चु भनेपर पीछ भी बच रही आग कुछ भी कार्य नहीं कर रही है, ऐसा चार्वाक मानते हैं। तणोसे रहित बाल रेतमें पड़ी हुई अग्नि भी जलाना प्रभाना फफोड़ा डाल्ना, सोखना, आदि कार्योको नहीं कर रही मानी है। जैसे कि नैयायिकोने अन्तके चरम अवयवीका पुनः कोई अवयवीको उत्पन कराना कार्य नहीं माना है। अतः चार्वाकोंके अकार्यत्व हेतुको उन्हींके मन्तव्य अनुसार मुरमुर फुलिंगा, आदिकी अग्निसे व्यभिचारी कर दिया है। इस अग्निमें उत्तरवर्ती कार्यको करनेसे रहितपना है। किन्तु असला गाध्य वहां नहीं है, तथा चार्वाकोंका कार्यलके अभावस्वरूप अकार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी है। उनीको प्रभिद्ध कर दिखाते हैं। आत्मा (पक्ष) सदा विद्यमान रहता है. (साध्य) अकार्यपना होनेसे (हेत्) प्रथिशीत्व या प्रथिशीतत्त्व आदिके समान (अन्वयद्दष्टान्त) घट, पट, आदि प्रथियी पर्यायोंका नारा हो जानेपर भी चार्याक प्रथियी तत्त्रका नारा हो जाना नहीं मानते हैं। अतः इस अनुमान द्वारा आत्माको नित्यत्व सिद्ध करनेवाला अकार्यत्व हेत् तो चार्वाकोंके उक्त साध्य नास्तित्वसे विरुद्ध हो रहे सदा अस्तित्वके साथ अविनामाव रखता है। अतः साध्यसे विपरीत हो रहे के साथ व्याप्तिको रखनेवाला अकार्यत्व हेत् विरुद्ध हेत्वाभास है। आत्माका सदा अस्तित्व साधनेवाले इमारे अकार्यत्व हेतुका प्रागमाव, इतरेतरामाव या उत्पन्न हुआ अमाव याने ध्वंस, अथवा अत्यन्तामाव करके व्यभिचार नहीं आता है । क्योंकि द्रव्य अर्थका आश्रय करनेपर उन प्रागमाव आदि अभावोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। सर्वदा नित्य प्रत्य विद्यमान रहता है। द्रव्यरूपसे किसीका कोई नहीं है। हां, पर्यायरूप अर्थमा आश्रय करनेपर तो वे प्रागभाव, प्रश्वंस, अन्यो-न्याभाव, अत्यन्ताभाव, कार्य ही हैं । अतः अकार्यत्व हेतुके न रहते हये असत्व साप्य नहीं भी रहा तो कोई क्षति नहीं है । ध्वंस अभावको सभी बादी कार्य मानते है । अतः अकार्थत्व हेतुका धंस करके व्यभिचार होना कथमपि सम्भावित नहीं है। अतः उत्पन्नाभावके

स्थानपर अव्यन्तामाव पाठ अच्छा है। दोखिये, पर्याय अर्थोका अवलम्ब केनेपर घटकी पूर्ववर्ती कराह पर्याय ही घटका प्रागभाव है और वह कुरुहुछ तो उस कुरुहुछके पूर्ववर्ती कोष पर्यायका कार्य है। अतः कुरालका प्रागमाव कोष हुआ तथा कोषका प्रागमाव उसकी पूर्व पर्याय शिवक हुआ और वह शिवक दूसरे स्थासका कार्य है। इस ढंगसे पूर्ववर्त्ता पर्यायोंको ही हम उत्तरवर्त्ता पर्यायोंका प्रागभाव मानते हैं। इसपर प्रागमावको अनादि माननेवाले वैशेषिक यदि यो कटाक्ष करें कि हमारे यहां तो प्रागभाव माना गया है। अतः अनादिकालसे अवतक कार्यकी उत्पत्तिको रोकता हुआ बैठा है। किन्तु जैनोंके यहां जब पूर्वपर्याय ही का नाम प्रागभाव है तो उस पूर्वपर्यायकी पूर्व अवस्थाओंमें घटकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये । क्योंकि घटकी उत्पत्तिका प्रतिबन्धक अभी प्रागभाव तो उपजा ही नहीं है। धंस तो घटके उपज जानेपर पीछे होनेवाला अभाव है। इतरेतराभाव और अख्कताभाव भी घटके उपज जुकनेपर व्यवहार प्राप्त होते हैं। अतः किसी भी प्रतिबन्धक अभावके विचमान नहीं होनेसे लम्बी अनादिकालीन पर्यायसन्ततिमें घटकार्यके सद्भावका प्रसंग आता है। अब आचार्य समाधान करते हैं कि वैशेषिकोंका उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि प्रागभावके विनाशको ही हम कार्यरूप करके स्वीकार करते हैं। अनादि पूर्वपूर्यायकी सन्तानमें अभीतक जब प्रागमात्र उत्पन्न ही नहीं हुआ है तो भला उसका खंस कहांसे होय ? अतः प्रागभावके खंसरूप कार्यका पूर्व अवस्थाओंमें सद्भाव हो जानेका प्रसंग नहीं उठा सकते हो । जैसे कि उत्तर अवस्थारूप घंसका चंस हो जानेपर पुनः कार्यके उजीवनका प्रसंग नहीं दे सकते हो । भावार्थ-पूर्व अवस्थारूप प्रागमावका व्यंस हो जाना कार्य सद्भाव है। '' कार्योत्पादः क्षयो हेतोः '' और कार्यकी उत्तर अवस्थारूप व्वंसका प्रागमावस्वरूप कार्य सद्भाव है। अतः कार्यसद्भावके आगे पीछेकी पर्यायोंके समयोंमें कार्यसद्भावका आपादन करना उचित नहीं है। धांस और प्रागभावको हम तुच्छ पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु मीमांस हों के समान हमारे यहां रिक्तभाव ही अभाव माना गया है।

कुटपटयोरितरेतराभावः कुटपटात्मकत्वात्कार्यः चेतनाचेतनयोरत्यंताभावीपि चेतना-चेतनात्मकत्वात् कार्य इति । परस्य तु पृथिच्यादिभ्योर्थोतरभूताः मागभावादयो न संत्येवा-न्यथा तेषां तत्त्वांतरत्वप्रसंगात् । तथेतरेतराभावात्यंताभावयोः सर्वदास्तीति मत्ययविषय-त्वात् न ताभ्यामनेकातः ।

आत्माका सदा अस्तित्व साधनेके लिये दिये गये जैनोंके अकार्यंत्व हेतुका ही निर्दोषपना दिखाया जा रहा है कि घट और पटमें परस्पर ठहर रहा उनका अन्योन्यामान तो घट और पट स्वरूप ही है। अतः जब घट, पट कार्य हैं तो उनका तदात्मक अन्योन्यामान भी कार्य हुआ। अतः अकार्यत्वहेतु अन्योन्यामानमें नहीं ठहरा। ऐसी दशामें साध्य भी नहीं रहे तो हमारे अकार्यत्व हेतुमें (न कि चार्त्र कोर्यत्व हेतुमें) व्यभिचारदोष नहीं चढ बैठेगा। जो पुद्रल या जीवकी पर्याय वर्तमानमें तद्र्प नहीं है, किन्तु आगे पीछे कालोंमें तद्र्प हो सके ऐसी देव, मनुष्य, घोडा,

हाकी, आदि अथवा घट, पट, चीकी, पुंस्तक, आदिन जीव पर प्रक्रक्की वर्षायोंका वंतीयानकाळ्यें अन्योन्धानान माना गया है । तथा तीनों कार्की को पयीन या अन्य तक्य व हो सके ऐसी जब, चेतन, या धर्मद्रव्य या अधर्मद्रव्यका एक दूसरेमें अवस्तामान बाना नया है, जो कि तैवादिक-श्रीसमीयिक्तिया है। वैशेषिकोंको भी इसी मार्गका अनुसरण करनेपर निराक्तिकता मिण सकती है। प्रकरणमें हमारे अकार्यत्वहेतुका अल्बन्ताभाव करके व्यक्तिकार नहीं आता है। क्योंकि चेतना अनेतन, पदार्थोका परस्पर अव्यन्तामाव भी चेतन, अचेतनपर्यायानरूप हो जानेसे कार्य ही है इस कारण अकार्यत्व हेतुके न रहनेपर साध्य नहीं भी रहो कोई श्रुटि नहीं है। हेतुके रहते हुने वंक्षां साध्य नहीं ठहरता तो व्यभिचार दोष उठाया जा सकता था । दूसरी बात यह है कि असानींका अपन्हम करनेवाले उन परपक्षभूत चार्वाकोंके यहां तो पृथिकी आदिक चार तत्वोंसे कोई अर्घान्तरभूत ही रहे प्रागभाव आदिक माने ही नहीं गये हैं। अन्यथा उन प्रागभाव, अन्योन्याभाव, आदिकोंको चार तत्वोंसे अतिरिक्त तत्वन्तरपनेका प्रसंग हो जायगा। तथा तीक्षरा उपाय यह भी है कि व्यक्तिकार उठानेवाले चार्वाक यदि इतरेतराभाव और अत्यन्ताभावमें किसी हंगसे अकार्यव्यक्तिको स्व देना चाहते हैं तो अच्छी बात है. उन इतरेतराभाग और अत्यन्ताभागमें सदा अस्तियनके बालकी विकास हो जानेसे उन करके व्यभिचार नहीं हुआ. अकार्यत्व हेत रह गया तो साधमें सर्वदा अंक्तिपन वह साध्य भी वहां ठहर गया । कुछान पतिपत्नीके समान साध्य हैतओंमें अविनामान वर्ष जातेसे व्यक्ति-चारकी शंका भी नहीं रहती हैं। विषमव्याप्ति न होकर यदि हेत सम्बंधिं खडां समव्याप्ति हो रही है, वह। हेतु तो क्या, एकपत्नीवत पतिके समान साध्य भी व्यभिचारी नहीं हो पाता है।

सरविषाणादिदृष्टांतश्च साध्यसाधनविकलः, सरविषाणादेरप्येकांतेन नास्तित्वानुष्ठभ्य-मानत्वाधिसद्धेः । गोमस्तकसमवायित्वेन हि यदस्तीति प्रसिद्धं विषणं तत्स्वरादिमस्तक-समवायित्वेन नास्तीति निश्चीयते, येषादिसमवायित्वेन च मसिद्धानि रोमाणि, कूर्यसमवायित्वेन च न संति, नोपलभ्यंते च वनस्यतिसमवायित्वेन मसिद्धान्तित्वोषलं मं, कुनुषं गमनसम-बायित्वेन नास्तित्वानुपलभ्यमानत्वधर्माधिकरणं दृष्टं न पुनः सर्वत्र सर्वद्या सर्वथा किष्यं-भाष्तित्वानुपलंभाधिकरणं मसिद्धं विरोधात् । ततो नात्मनः सर्वधा सर्वत्र सर्वद्या नास्तित्व साध्ये तथानुपलंभादिहेत्नां निदर्शनमस्ति साध्यसाधनविकलस्यानिदर्शनस्वात् ।

चार्नाकोंने अनुपलम्भ, अकारणत्व, अकार्यत्व, इन तीन हेतुओंसे आखाके नास्तित्वको साधते हुये जो कि खरविषाण, कच्छपराम, आदि अन्त्रयदृष्टान्त कहे थे वे दृष्टान्त भी महस्तत्व साध्य और अनुपलम्भ आदि हेतुओंसे रहित हैं। क्योंकि खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदि दृष्टान्तोंका एकान्तः करके (सर्वया) नास्तिपन और अनुपलम्यमानत्व (अनुलम्भ) आदिकी सिद्ध नहीं हो सकी है। देखिये अवयत्री गीके मस्तकमें समवायसम्बन्धसे क्तरहंपन करके जो ही सींग प्रसिद्ध हो रहा है, वहीं सींग तो गधा, घोडा, हाथी, आदिके उत्तमांगों (हारोभाग) में समवायसम्बन्धसे कर्तमानपने

करके नहीं है। इस प्रकार निश्चय किया जाता है तथा मेंढा, छिरिया, बन्दर, आदिके अवयवी शरीरमें अवयव होकर समवायसहितपने करके प्रासिद्ध हो रहे रोम ही तो कळवेमें समवायीपने करके नहीं है, और नहीं देखे जा रहे हैं। इस ढंगसे तो नास्तित्व साध्य और अनुपलम्म हेतुको कुर्म रोम धार सकता है, तथा बनस्पतिमें समवायी होकरके प्रसिद्ध हो रहा है अस्तित्व और उपलम्भ जिसका, ऐसा पुष्प ही गगनके समवायीपने करके नास्तित्व (साध्य) और अनुपरुम्यमानत्व (हेतु) धर्मका अधिकरण हो रहा देखा गया है । किन्तु फिर सब ही स्थानोंपर सदा सभी प्रकारोंसे जगत्का कोई भी पदार्थ नास्तिपन और अनुपूजम्भका अधिकरण हो रहा ते। अद्यावधि प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि विरोध दोष आता है। अर्थात्—जो नास्तिपन या अनुपळम्भ धर्मीका आश्रय होगा वह सत्रूपसे ही प्रसिद्ध होगा । धर्म तो सद्द्रपधर्मीमें रहते हैं और जो सत् पदार्थ है उसमें नास्तिपन, अनुपलम्भ, कारणरहितपन, कार्यरहितपन, ये धर्म नहीं ठहर सकते हैं। " संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादते कचित् '' अखण्डपदकी संज्ञावाले पदार्थका प्रतिषेध करना प्रतिषेध्यकी सत्ता माने विना असम्भव है। एक स्थानपर प्रतिषेच्यकी सत्ता सिद्ध होनेपर अन्य स्थानोंपर उसका निषेध किया जा सकता है। अष्ट-सहस्री प्रन्यमें " अद्वेत शद्धः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमाधापेक्षो नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत् " इस अनुमानसे द्वेत, आत्मा, आदि शद्बोंके सद्भावरूप वाच्य अर्थ साध दिये गये हैं। जब कि अस-म्भव कहे जा रहे खरविषाण आदि समसित पदोंके वाच्य अर्थकी भी सिद्धि करते हुये उनमें सर्वथ। नास्तिपन और अनुपळम्भ नहीं साथे जा सकते हैं तो आत्मा या चैतन्यका अस्तित्व साधना तो सुळमसाध्य है । वैशेषिकमत अनुसार अवयवोंमें अवयवी समवाय सम्बन्धसे रहता है । अतः सींग या बाळस्वरूप अवयवोंमें भैसा, मेढा, गाय, आदि अवर्भवी समवाय सम्बन्धसे वर्त्त रहे सन्ते समवेत कहे जाते हैं। अवयवीके समवायको धार रहे अवयव समवायी माने जाते है। किन्तु जैनसिद्धांत अनुसार मडी हुई चूनकी खंडमें थोडा आटा और मिला देनेसे पुनः एक अवयवी बन जाता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त अवयवीमें भी कुछ अवयव मिला देनेसे द्वितीय अवयवी उत्पन्न हो जाता है। यानी अव-यवीमें भी अवयवका रहना जैनिसिद्धान्त अनुसार अभीष्ट है। यहां वैशोषिक यों मान रहे हैं कि मनभर दूधमें छटांक भर दूध मिलानेपर अथवा दश सेर आटे की छुंडमें छटांकभर आटा या न्यारे छटांक भर आटेकी छंडको मिला देनेस एवं चालीस गज लम्बे वसमें एक सत मिलाने या निकालनेसे अव-यवीका नारा हो जाता है ! अवयवी पनः अवयव उसके भी अवयव आदि पञ्चाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, बणुक, इस विनाश कमसे परमाणु हो जाते हैं। यों पूर्व अवयवीका नाश होकर पुनः सम्मिलित हुये दूसरे अवयवोंके साथ द्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, पञ्चाणुक, षडणुक, सप्ताणुक, इस क्रमसे अवयव, अवयवी, महावयवी, चंरमावयवी, द्रव्यकी पुनः सृष्टि होती है। दो अणुओंसे एक **ब**णुक बनता है । तीन बणुकोंसे एक त्र्यणुक बनता है । चार त्र्यणुकोंसे एक चतुरणुक बनता है । पांच चतुरणुकोंसे एक पंचाणक बनता है। यही ढंग अवयवी पर्यन्त चला जाता है। यह सब

वैशिषिकों की उत्पाद विनाश प्रक्रियाका दिखळाना, तो बकना मात्र है। इसमें प्रत्यक्षसे ही विरोध आता है। पांच शेर इक्षुरसमें छटाकभर दूसरा इक्षुरस मिला देनेसे तत्काल नवीन अवययी बन जाता है। " भेदसंघाताभ्यामृत्पद्यन्ते " ज़ैन सिद्धान्तमें भेद और संघात तथा कुछका भेद कुछका संघात इन तीनों प्रकारोंसे अवयवीकी उत्पत्ति मानी गुद्धी है। अतः वैशेषिकोंका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध पडता है। अवयवीमें भी अवयवों भे समन्रेत हो जानेका कोई विरोध नहीं है। वैशेषिकोंने तीन खणुकोंसे एक त्रयणक और चार त्र्यणुकोंसे एक चतुरणुक इत्यादि जो सृष्टिप्रिक्रिया मानी है वह भी ठीक नहीं है। तीन अणुओंसे या एक द्युपक और एक अणुसे ही त्र्युपक पैदा होता है। दो द्युपक या एक त्र्युपक और एक अणु अथवा चार अणुओंसे ही चतुरणुक स्कन्ध उपजता है। बात यह है कि चतरणुकमें चार ही अणुरें होनी चाहिये। पंचाणुकमें द्रव्यरूपसे पांच अणुरें ही पर्याप्त हैं, न्यून अधिक नहीं। शब्दके बाच्य अर्धपर भी दृष्टि डालनी चाहिये । यो चाहे जहां मन चाहा अंडगा लगा देना शोभा नहीं देता । वैशेषिकोंके मतानुसार एक सौ वीस अणुओंका पंचाणुक स्कन्ध और सातसीकीस परमाण द्रव्योंका बना हुआ एक षडणुक स्कन्ध हम जैनोंको अभीष्ट नहीं है । वैरेगिषकोंको यह डर छगा हुआ है कि सृष्टिकी आदिमें ईश्वर इच्छा या अन्यदा अग्निसंयोग, ईश्वर, आदि कारणोंसे जब सभी परमाणुओंने बणुक बन गये तो अब त्र्यणुक बननेके लिये बणुकका साथी अकेला परमाणु कहांसे आवे ? अथवा वहां रखे हुये सब बणुकोंके जब त्र्यणुक बन गये तो जैन मतानुसार चतुरणुको बना-नेके लिये वहां द्यागक और परमाणुयें कहां रखे हुये हैं ! जिनसे कि चार परमाणु या दो द्याणकोंसे झट एक चतुरणुक बना लिया जाय । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि जगत्में अनन्तानन्त बणुक या परमाणुयें ठसाठस भरे हुये हैं । अनन्ताअनन्त परमाणुयें तो ऐसी पढी हुई है जो अधापि स्कन्धस्यरूप नहीं हुयीं और होंगी भी नहीं । जहां घट, पट, षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक रहे हैं वहां भी अनेक परमाणुयें, अनन्ते बणुक, विद्यमान हैं । वहां रखी हुयी सभी परमाणुयें बणुक नहीं बन जातीं है । बणुक सभी त्र्यणुक नहीं बन जाते हैं । दूरसे भी परमाणुयें खेंची जा सकती हैं। या कारणबरासे वे चली आती हैं। अपनी अपनी योग्यता अनुसार ही नियत पहलोंकी नियमित परिणातियां होती हैं, आगे चलकर भी तो वैशेषिकोंने दो कपालिकाओंसे एक कपाल और दो कपा-लोंसे एक घट अवयवीकी उत्पत्ति स्वीकार की है । फिर पहेले पडणुक, सप्ताणुक, स्कन्धोंमें यह अनुचित (बैहदेपनका) क्रम क्यों बना रखा है ! इस बातको जगतमें ढेड बुद्धिको मानकर अपने ही एक पूरी बुद्धिको समझ बैठे औद्धक्य मतानुयायी वैशेषिक ही जानें प्रकरणमें यह कहना है कि खरविषाण भी नास्ति और अनुपळम्यमान नहीं है । चार पांववाला गधा पशु प्रसिद्ध है। सींग भी गाय, भैसामें प्रसिद्ध होरहे केवल गंधा और सींगका समवाय हो जाना धर्म ही नहीं देखा जा रहा है। तब तो खरविषाणका एक छोटासा धर्ममात्र ही अप्रसिद्ध हुआ । सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, खरविषाण पदार्थ तो नास्ति और असुपलम्भका अधिकरण नहीं है । इसी प्रकार कछनेके रोम या आकाशका फूछ भी सर्वथा अप्रसिद्ध

वड़ी है। मण्डवाशिक्ष्यक भी अस्ति क्षीकर जाना जा रहा एक संगले प्रसिद्ध है। देखो, कर्याचित असत् हो रहे पदार्थके ही अस्तित्व और उपलम्म धर्म हैं तथा क्यंबित सत् पदार्थके ही नास्तिषन और अनुपलम्भ याने गये हैं । न तो सभी प्रकारोंसे सत् हो रहे पदार्थके ही अस्तित्व और उपलम्भ क्षर्स हैं। क्योंकि यों तो घटका पट कापसे या जीवकापसे भी सद्भाव बन बैठेगा। यों चाहे जो पहार्य चाहे जिस पदार्थस्करूप होना हुआ सर्वसंकरदोष प्रस्त हो जायगा । यदि सर्वथा असत्के ये नास्तित बा अनुपरुष्म धर्म माने जायंगे तब तो सर्वश्चन्यवादमें बोलने, सनने, समझने, समझने, का व्यवहार ही नष्ट हो जायगा । " स्यादादो विजयतेतरां" । संचितकर्मोकी पराधीनतासे चौरासी काख योनियोंमें अमण करते हुये जीवको मण्डुक (मैड्का) मक्की प्राप्ति हो चुक्तेपर पुनः वह जीव मनुष्य गतिमें कमारी अवस्थाको धारण करता है, उस समय उस स्तिक जो कौआके पंख समान केश रचना विशेष है बह कुमारी छड़कीकी चोटी या वेंनी पूर्वमण्डककी कही जा सकती है। देचदत्तकी दकान बिक अपनेपर भी किसी अपेक्षा देवदत्तकी कही जा सकती है। पार्श्वनाथके पहिले भवोंके कर्ताल्योंको पार्चनाथकी कृति वय्तमा जाता है। जब फूलको आकाश अवगाह दे रहा है तो आकाशका पुरूप कहनेमें क्या क्षति है ? देखो कुक्षमें जितनी देर या जितने अंशते पुष्प संयुक्त हो रहा है, उससे कहीं अधिक देरतक सर्वागरूपसे आकाशके साथ पुणका संयोग बन रहा है। वृक्षसे वियक्त हो सवा भी इंड कभी आकाशसे प्रच्युत नहीं होता है। इस प्रकार जबतक पुष्प विधमान रहेगा आकाराके साथ उसका सम्बन्ध नहीं छूट सकता है। थोडा माता, पिताका पुत्रके साथ हुँये सम्बन्धको अथवा देवदत्तका धन या खेत अथवा शत्रुसे हुयै सम्बन्धको निरख हो । जब ऐसे स्तीक सम्बन्धवाळे स्थलोंमें प्रष्टी विभक्ति आसक्त होकर उतर आती है तो शशिवपण, वन्ध्यापत्र, मृगतणा-जक आदिमें विचारशाली वैयाकरणोंके द्वारा समासके प्रथम उतार ली जा चुकी सम्बन्धवाचक पद्धी विभक्तिको 'निर्मूल क्यों कहते हो ? बात यह है कि " सिद्धिरनेकान्सात् " अनेकान्समे पटार्थीकी सिद्धि हो रही है । खरविषाण आदिमें भी नास्तित्व साध्य और अनुपलम्भ आदि हेस विद्यमान नहीं हैं। तिस कारणसे चार्वाकों द्वारा आत्मद्रव्यका सभी प्रकारोंसे सर्वन सद्या नास्तिपन साध्य करते सन्ते तिस प्रकार अनुमानमें कहे गये अनुपटम्म, अकारणल, अकार्यत्व, सम्भवद्वाधकत्य, आदि हेतुओंका जगत्वर्ता कोई पदार्थ अन्वयदृष्टाम्त नहीं है । जो चार्वा-कोंने खर्किपण आहि रहान्त रुपात्त किये थे, वे तो साध्य और साधन दोनोंसे रहित हो रहे सिंद वार दिये गये हैं। जो साध्य और साधनसे विकल है (खाली है) वह अन्वयदशान्त नहीं हुआ वस्ता है, अन्यपष्टान्तमें ही हेतु और साध्यकी व्याप्तिका प्रदर्शन कर ही चार्कक अपना आस्मके नास्तिया सिद्धिका प्रयोजन साथ सकते थे। अब तो उन चार्वाकोंके पास कोई उपाय शेष नहीं है 4 जम कि अस्पक्ष, अनुमान और आंतनाक्पसे आत्माका अस्तित्व प्रजीत हो रहा है, तो ऐसी इसामें अध्याका नारिताय सिद्ध करमा व्यक्तिकोंका स्वयं अवनको अवस्त साधनेका मिन्छ प्रयत्न है ।

तयात्मा नास्तीति पक्षश्र भत्यक्षाञ्चमानागमवाधितीवगम्यत इति साधने दोषदर्शनात् नातः साधनादात्मनिन्द्रवसिद्धिर्यतीस्य नोपयोगो छक्षणं स्यात् ।

तथा चार्याकोंने आत्माक अभावको साधनेके छिये जो अनुमान बनाया था, उस अनुमानका आत्मा नहीं है । इस प्रकार पश्च (प्रतिक्षा) भी तो प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणसे बाधित हो रहा जाना गया है । पूर्व प्रकरणोंमें साध दिये गये केवळज्ञानसे संपूर्ण मुक्त, संसारी, आत्माओंका प्रत्यक्ष हो रहा है । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान द्वारा भी संसारी बद्ध आत्माका विकल प्रत्यक्ष हो जाता है, तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे मै मुखी हूं, मै दुःखी हूं, म्र हूं, आदि आकारोंका उक्षेख करते हुये आत्माका स्वतः प्रत्यक्ष हो रहा है । एवं बाधकोंका असम्भव या हित, अहितके प्राप्तिपरिद्वारक्षी क्रिया आदि हेतुद्वारा आत्माका अनुमान हो जाता है, सर्वञ्चकी आम्नायसे चले आ रहे " जीवाश्च, जीवो उपओगमओ, गुणजीवा पञ्जत्ती, इत्यादि आगमवान्योसे आत्माका अस्तित्व निर्णीत है । अतः प्रमाणोंसे बाधित होकर जाने जा रहे साध्यके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त हो जानेसे चार्वाकोंका हेतु कालत्ययापदिष्ट है । इस प्रकार चार्वाकोंद्वारा कहे गये अनुपल्म्भ आदि हेतुओंमें असिद्ध व्यभिचार विरुद्ध, बाधित, इन दोषोंके दीख जानेके कारण इन हेतुओंसे आत्माक अपलाप (होती हुई वस्तुके लिये मुकर जाना) की सिद्धि नहीं हो सकती है । जिससे कि इस आत्माका लक्षण उपयोग न हो सकते । अर्थात्—चार्वाकोंने पहिले जो ये कहा था कि लक्ष्य बनाये जा रहे आत्माका असत्व होनेसे उसका लक्षण उपयोग नहीं घटित होता है, यह उनका कहना ठीक नहीं पडा । आत्मतत्त्वकी सिद्धि कर दी गयी है । अतः उपयोग उसका लक्षण बन सकता है । कोई आपत्ति नहीं है ।

किं च, स एवाइं द्रष्टा, स्पृष्टा, खादियता, घ्राता, श्रोतानुस्पृता, वेत्यनुसंधानमत्ययो पृहीतृकृतः करणजिक्कानेषु चाऽसंभाज्यमानत्वात् तेषां स्वविषयनियतत्वात् परस्परविषय-संक्रमाभावात् ।

आत्मतत्त्वकी सिद्धि करनेका एक विचार यह भी है कि जो ही मैं चक्षुसे देखनेवाला हूं, वहीं मैं छू रहा हूं वहीं मैं स्वाद ले रहा हूं, सूंघ रहा हूं, अथवा सुननेवाला हूं, इन्द्रियों या मनसे अनुभव कर चुकनेपर धारणा ज्ञानद्वारा वहीं में स्मरण करनेवाला हूं। इस प्रकारके अनुसंधान करनेवाल ज्ञान (पक्ष) गृहीता आत्मा करके बनाये गये हैं (साध्य) क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये अविचारक विज्ञानोंमें उक्त प्रकारके अनुसंधान होनेका असम्भव हो रहा है (हेतु) वे स्पर्शन आदिक इन्द्रियां अपने अपने नियत विषय हो रहे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, सञ्चेतना, को जानकर परितार्य हो जाती हैं। छः मासका छोटा बचा या, असंज्ञी या चौड़न्द्रिय जीव दर्पणमें अपने प्रति विम्वको चक्कुसे देख लेता है, किन्तु यह मेरि छाया है इसके अनुसार मुझे अपने मुखका धव्वा मिटा हालना काहिय इत्यदि विचार नहीं कर पाता है। चक्कु केवल क्रपको देख लेगी। रसना रसको

चाट छेगी। किन्तु ये इन्द्रियां ऐसे प्रत्यवमर्थोंको नहीं कर सकती हैं कि यह वही सूंघा जा रहा है जो कि पापड पहिले देखा या खाया था यह उससे अधिक भुग्भुरा है, यह उससे न्यून लक्षणवान है। यह शब्द उस शब्दसे गम्भीर है, तीक्ष्ण है, कर्कश है। जैसे कि टेलिफीनोंके यहां वहां जाने, आने, सम्बन्ध मिलाने का संयोजक एक प्रधान कार्यालय होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा आगे पिछे हुये ज्ञानोंका अधिकारी एक विमर्धक आत्मा ही उपयोग लगाकर उनका अनुसंधान कर सकता है। इन्द्रियां इस कार्यको कालत्रयमें नहीं कर सकती हैं। क्योंकि उनके द्वारा प्रहण किये जा चुके विषयोंका परस्परमें संक्रमण नहीं हो पाता है। रुपया स्वयं अपना परिवर्तन (एक्सचेंज) नहीं कर लेता है। इस कार्यके लिये चारों ओर का भाव निरख कर ठीक ठीक व्यस्था कर देने वाले कोषाध्यक्ष (बैंकर) की आवश्यकता है। इससे इन्द्रियज्ञानों या विचारक ज्ञानोंका अनुसंधान रखनेवाला गृहीता आत्मा सिद्ध हो जाता है।

गर्भादिमरणपर्यतो महांश्रेतन्यविवर्तो दर्शनस्पर्शनास्वादनाघाणश्रवणानुस्मरणलक्षणचैत-न्यविशेषाश्रयो ग्रहीता तद्धेतुरिति चेम, तस्यैवात्मत्वेन साधितत्वादनाद्यनंतत्वोपपत्तेः। न चायं निर्हेतुकः कादाचित्कत्वादिति परिशेषादात्मसिद्धेश्र नात्मनोभावो युक्तः।

चार्वाक कहते हैं कि आत्मा तत्व अनादि अनन्त नहीं है । गर्भसे आदि छेकर मरण लम्बा चौडा महान् चैतन्य परिणाम ही देखना, छना, चाखना, सूंघना, सुनना, पीछे स्मरण करना, ऐसे लक्षणवाले विशेष चैतन्योंका आश्रय है वही गृहीता है और गर्भसे मरणतक ही ठहरनेवाला आत्मा उस अनुसंघान ज्ञान करनेका हेतु है। गर्भसे प्रथम और मरणके पश्चात् भी उसका अन्वय मानते जाना उचित नहीं है। आचार्य पहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस महान चैतन्य विवर्तको ही आत्मपने करके साथ दिया गया है, उस चैतन्यका अनादि काल्से छेकर अपन्त काल्तक द्रव्यक्रपसे ठहरना बन जाता है। यह चैतन्य विशेष या अनुसंधानज्ञान भला हेतुओंसे रहित तो नहीं है। क्योंकि कभी कभी होता है। जो कार्य कभी कभी होते हैं उनका कोई नियत हेत अवस्य है। विशेष चैतन्यका हेत् यह शरीर तो नहीं है। मृत शरीरमें व्यभिचार हो जायगा। इन्द्रियां भी चैतन्यका हेतु नहीं हैं । क्योंकि चक्ष या श्रवण इन्द्रियका घात हो जानेपर भी देखे सुने हुओंका स्मरण हो रहा देखा जाता है। शरीर, इन्द्रिय, नोइन्द्रिय, ये जड पदार्थ तो घट, पट, आदिके समान विचार नहीं कर सकते हैं। चार्वाकों द्वारा माने गये प्रथिवि, जल, तेज, वायु, चार तत्त्वोंके बते उक्त कार्य करना अशक्य है। अतः परिशेष न्यायसे चैतन्यविशेषका हेतु आत्माद्रव्य सिद्ध हो जाता है। इस कारण चार्त्राकोंको आत्माका अभाव कर देना समुचित नहीं है। गर्भसे प्रारम्भ कर वैतन्य विशेषकी जो उत्पत्ति मानी गयी है वह उपादान कारणसे ही सब सकती है। उपादानके बिना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती है। शब्द, बिजली, आदिके भी अदृश्य उपादान वर्त रहे हैं तथा मरण ने पश्चात् किसी उपादेयको उत्पन्न कर ही चैतन्य ट्रुट सकता है। उत्तर अधिकारिको नहीं

उत्पन्न कर किसी भी गुणगरिष्ठको नष्ट होनेका अधिकार नहीं है। आद्य प्रकरणमें विस्तारके साथ आत्माके अनादि अनन्तपनकी सिद्धि की जा चुकी हैं। अर्छ विस्तरेण।

किंच, अस्मदादेरात्मास्तीति मत्ययः संश्रयो विपर्ययो यथार्थनिश्रयो वा स्यात् १ संश्रयश्रेत् सिद्धः मागात्मा अन्यथा तत्संश्रयायोगात् । कदाचिदमसिदस्याणुपुरुषस्य मतिपचु-स्तत्संश्रयायोगवत् । विपर्ययश्रेत्तथाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मनि विपर्ययस्य तिश्रणियपूर्वकत्वात् । ततो यथार्थनिर्णय पवायमात्मसिद्धिः ।

चार्वाकोंके प्रति आचार्य महाराज प्रश्न करते हैं कि क्योंजी, हम जैन या मीमांसक, नैयायिक आदिकोंके यहां हो रहा " आत्मा है " इस प्रकारका ज्ञान क्या संशयक्कान स्वरूप है ? या विपर्ययज्ञान स्वरूप है ! अथना क्या यथार्थ वस्तुका निर्णय समझा जाय ! बताओ । प्रथम पक्ष अनुसार आत्मा तत्त्व विद्यमान है, इस ज्ञानको यदि संराय माना जायगा तब तो चार्वाकोंके यहां पहिले आत्मा तत्त्व सिद्ध हो चुका कहना चाहिये। अन्यथा यानी आत्माका कहीं न कहीं अस्तित्व माने विना अन्यत्र उसके संशय होनेका अयोग है। जैते कि तलघरमें उपजकर पले हुये जिस प्रतिपत्ताको आजतक कभी ठंठ और पुरुषकी यदि प्रसिद्धि नहीं हो सकी है, उस पुरुषको उन स्थाण जीर पुरुषको विषय करनेवाले संशय ज्ञान होनेका अयोग है। अर्थात--वो जिसका संशय करता है वह उसका कही न कहीं निश्चय अवश्य कर चुका है। साधारण धर्मीका दर्शन और विशेष अंशोंकी स्पृति हो जानेपर संशय ज्ञानकी उत्पत्ति सबने मानी है । अवस्तुको विषय करनेवाला संशय नहीं होता है । तथा आत्मा है इस ज्ञानको चार्वाक द्वितीय विकल्प अनुसार यदि विपर्यय ज्ञान मानेंगे तिस प्रकार होनेपर भी आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि कभी कभी आत्मामें उसका निपर्नय ज्ञान तभी होगा. जब कि कहीं न कहीं पूर्वमें उस आत्माका निर्णय किया जा चुका होगा। धीपमें रजतकी स्नान्ति उसी पुरुषको उपजती है जो कि कमी कहीं यथार्थ चादीका सम्यम्बान कर चुका है। इससे भी न्यारे आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। तिस कारणसे तृतीय विकल्प अनुसार "आत्मा है " यह ज्ञान यथार्थ निर्णय स्वरूपी है । यों बडी सुलभवासे सभी विकर्णोंमें आत्मा द्रव्यकी सिद्धि हो जाती है।

नन्वेवं सर्वस्य स्वेष्टसिद्धिः स्यात् प्रधानादिष्यत्ययस्यापि सर्वविकल्पेषु प्रधानाद्यस्ति-त्वसाधनात् । तस्येतदसाधनत्वे कथमात्मास्तीति प्रत्ययस्यात्मास्तित्वसाधनत्वमिति कश्चित् । तद्यसत् । प्रधानस्य सत्वरजन्तमोरूपस्याविरुद्धत्वात् तद्धर्मस्यैव नित्यैकत्वादेनिराकरणात् । एवमीश्वरस्यात्मविश्वेषस्य ब्रद्धादेवीभिमतत्वा । तद्धमस्य जगत्कर्तृत्वादेरपाकरणात् सर्वयैकांत-स्वापि सर्वयैकांतरूपाय कदाचित्मसिद्धेस्तस्य सम्यक्त्वेन श्रद्धानस्य निराचिकीर्षितत्वात् । सर्वया सर्वस्य सर्वत्र संशयविषययातुपयत्तेः ।

चार्वाकोंका स्वपक्ष अवधारणके लिये आचार्योंके ऊपर कटाक्ष है कि इस प्रकार विकल्प उठानेपर तो सभी प्रवादियोंके यहां अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि हो जायगी सांख्योंकी मानी हुई प्रकृति, या नैयायिकोंका ईश्वर, अथवा एकान्त, वैशेषिकोंका सातवा पदार्थ अभाव, अद्भैतवादियोंका ब्रह्मतत्त्व, अपदि पदार्थीकी भी सिद्धी बन बैठेगी। क्योंकि " प्रधान है " " ईश्वर है " इत्याकारक ज्ञानको संशय या विपर्यय अथवा यथार्थ निर्णय माननेपर सभी विकल्पोंमें सिद्ध कर छिये आत्मतत्त्रके समान प्रधान आदिके अस्तित्वका भी साधन हो जाता है। प्रधानके ज्ञानको संशय होनेपर भी प्रधानका कही सद्भाव बन चुकता है। या विपर्यय माननेपर भी कचित अस्तित्व मानना आवश्यक हो जाता है। यथार्थ निर्णय तो उनकी सिद्धीका सर्वमान्य प्रयत्न है। यदि जैन उन विकल्पोंके अनुसार उस प्रधान आदिके ज्ञानको उन प्रधान, ईश्वर, आदिका साधन करनेवाला नहीं मानोगे तब तो '' आत्मा है '' इस ज्ञानको भी कैसे सर्व त्रिकल्पोंमें आ माके अस्तित्रका साधकपना बन सकता है ? यो यहांतक कोई चार्त्राक मतानुषायी कह रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि प्रधान, ईसर, आदिको हम जैन स्वीकार करते हैं । सत्त्वगुण, रजेागुण, तमोगुण, स्वरूप प्रधानके साथ हमारा कोई विरोध नहीं है। हां, कापिलोंके यहां उस प्रधानके मान लिये गये नित्यत्व, एकपन, बुद्धि, सुख, दःख, आदि धर्मीका ही हम निराकरण करते हैं। छत्रपना, प्रकाशपना, प्रेरकपना, मारीपन, प्रतिकच रूपन, आदि स्वरूपोंसे तदात्मक हो रहे पुद्गळ नामधारी प्रधानका खंडन इम थोडे ही करते हैं ? इसी प्रकार एक विशेष आत्मा ईश्वरको अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेशा, सुगत, अद्भैत, (अनुपम) आत्मा, खुदा, हुसैन, ईसा, आदि त्रिशेष व्यक्तियोंको हम जैन स्वीकार करते हैं। हां केवल उन पौराणिक, अद्वैतवादी, यवन, आदि द्वारा माने गये उन ईश्वर आदिके जगत्कर्तापन, न्यापकपन आदि धर्मीका निराकरण करते हैं । खुदा असत् द्रव्योंका उत्पाद नहीं कर सकता है। ईश्वर असम्भवको सम्भव नहीं कर सकता है। वृक्षपर फल फूडके समान मनुष्य लगकर नहीं उपजते हैं । उपादान कारण या निमित्त कारणोंके विना कोई भी कार्य कोरे अतिशय, माया या ईश्वरक्रीडा-मात्रसे ही नहीं उपन हो सकते हैं। कोई भी आत्मा सर्वन्यापक नहीं हो सकता है। ब्रह्मा, सुगत, सात्यकि. ये अपने माता पिताओंके रजोवीयिसे उत्पन्न इये हैं। तपश्चरण कर इन्होंने कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं करते हुथे अनेक ऋदियां, सिद्धियां प्राप्त की हैं। किन्तु ऐसी सृष्टि प्रक्रिया युक्तिओंसे बाबित है कि विष्णु की नामिसे उत्पन्न हुये कमळसे बद्धाकी उत्पत्ति है और ब्रह्माने सबसे पहिले (सर्गत्यादावपोऽअजत् या सृष्टिः सृष्टराबा) जलको बनाया पीछे पृथिती, सूर्य, चन्द्रमा, आदिका निर्माण किया। क्योंजी, पृथिनी या आकाशके बिना ब्रह्माने कहां बैठकर जल बनाया ? समुद्र जलमें विराजमान विष्णु भगवान् और कमल तो ब्रह्माके जन्मसे प्रथम ही बन चुके होंगे इत्यादिक अनेक प्रकारोंसे दूषणगण आते हैं। इस कारण ईश्वर या ब्रह्माका जगत् कर्रापन आदिक

धर्म नहीं सब पाते हैं। तथा बीद, सांख्य, मीमांसक, आदि द्वारा सर्त्रथा श्राणिकपन, निरमपन, आदि एकान्तांकों भी सर्त्रथा एकान्ताखरूप करके कभी कभी हम प्रसिद्धि मानते हैं। हां, केवळ उन एकान्तांका ही समीचीनपने करके श्रद्धान करनेके निराकरणकी अभिलाषा हमारे हो चुकी है। ऋजुस्त्रनयामास, संग्रहाभास नयों करके सर्त्रथा क्षणिकपन और सर्त्रथा निरमपन धर्म श्रान्तज्ञानों हारा कदाचित् जाने जाते हैं। तभी तो उनका समीचीन रूपसे श्रद्धान करनेका निराकरण हमें अभीष्ट हो रहा है। बात यह है कि सभी प्रकारोंसे सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण प्राणियोंको किसी भी विषयका संशय, विपर्यच होना नहीं बन सकता है। कहीं प्रसिद्ध हो रहे ही धर्मका अन्यत्र, अन्यदा, संशयज्ञान, विपर्यज्ञान, होना सम्भवता है। अतः आत्मतत्त्वका सद्भाव विना खटके मान लेना चाहिये।

नन्वेबमात्मनि सत्यपि नोपयोगस्य लक्षणत्यमनवस्थानादिति चेन्न, उपयोगसामान्य-स्थावस्थापितत्वात् । परापरोपयोगविश्लेषस्य चानुपरमात्तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः सर्वयोपरमे प्रनरनुस्मरणाद्यभावमसक्तेः ।

यहां आत्मद्रव्यको न माननेवाले चार्वाक या किसी बौद्धकी शंका है कि इस प्रकार युक्ति-पूर्वक आत्माका सद्भाव सिद्ध हो जानेपर भी तो उपयोगको छक्षणपना नहीं बन पाता है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप या दर्शनस्वरूप उपयोग क्षाणिक है। क्षणस्थायी पदार्थ तो कालान्तरतक ठहरता नहीं है। प्रतिपादक वक्ताके बताये अनुसार शिष्य जबतक आत्माको पिंहचाननेके लिये लपकेगा तबतक क्षणस्थायी उपयोग बिगड जायगा । दौडती हुई डांक गाडीमें तीर या बन्द्रकका चिन्ह साधना अतीव कठिन है । देवदत्तके घरको कौआकी स्थितिसे चीन्हना नहीं वनेगा। कारण कि **कौ**आके उड जानेपर वह लक्षणयुक्त घर ही एक प्रकारसे बिगड जाता है। अतः अस्थायी पदार्थको किसीका रुक्षण बनाना ठीक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना। क्योंकि सामान्यरूपसे कोई न कोई उपयोग आत्मामें सदा उपस्थित रहता साथ दिया गया है। एक उपयोगके बिगड जानेपर भी उत्तरीत्तर सन्तानरूपसे होवेवाले अन्य विशेष उपयोगोंका कभी विरास तहीं हो पाता है। उपयोगकी परम्परा बनी रहती है। इस कारण उस उपयोगको लक्षणपना बन जाता है। यदि सभी प्रकारोंसे पर, अपर, सभी विशेष उपयोगोंका आत्मामें अभाव मान लोगे फिर तो पश्चात् स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, इष्ट, साधनताज्ञान, कृतिसाध्यता ज्ञान आदि होनेके अभावका प्रसंग हो जायगा । जसे कि विशेष व्यक्तियोंके मर जानेपर भारतवर्षमें यदि उत्तरोत्तर जन्म धार रहे अन्य बिशेष मनुष्योंका भी अभाव मान छिया जायगा तो ऐसी दशामें भारतवर्ष सर्वथा मनुष्योंसे खाली हो जायगा । किन्तु ऐसा होना अलीक है । आसाके भी उपयोगका सर्वधा अभाव मान लिया जाय तो **बह आत्मा पीछेसे स्मरण नहीं कर सकेगा । स्मरण तो उपयोगअवस्थामें किसी विशेष उपयोगका ही** होता है । अझान जड पदार्थको अनुपयोग दशामें स्मरण नहीं हो पाता है । जो आत्मा पूर्व काल्में

अनुभव कर चुका है, वही पीछे अनुभूत अर्थका स्मरण कर सकता है। दूसेर व्यक्तिसे अनुभूत अर्थका स्मरण नहीं कर पाता है।

संतानैकत्वादनुस्मरणादिरिति चेन्न, तस्यात्मनिन्हवे संवृतिसतोनुस्मरणादि हेतुत्वाची-गात् । परमार्थसत्त्वे वा नाममात्रभेदात् ।

यदि शंकाकार यों कोई कि उपयोगोंको क्षणिक मानते हुये भी उपयोगोंकी लडी बंधजानारूप सन्तानका एकपना होनेसे अनुस्मरण, परामर्श, आदिक हो जांयगे। लोहेकी सांकलमें अनेक काडियोंके त्यारे त्यारे होते हुये भी एक दूसरेका सम्बन्ध बना रहता है। एक कडीके खींचनेपर पूरी सांकल खिचती, लटकती, बंधी, रहती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम बौदोंने अन्वयी आत्म द्रव्यको छिपाया है, माना नहीं है, और सन्तानको संवृत्ति यानी व्यवहारसे सत् माना है। बस्तुतः संवृत्तिको असत् पदार्थ बतलाया है। ऐसी दशामें आत्मतत्वका अपलाप करनेपर केवल व्यवहारसे सत् हो रही, उस सन्तानको अनुस्मरण आदिका हेनुपना घटित नहीं होता है। हां, यदि बौद्ध उस संतानका परमार्थरूपसे सद्भाव स्वीकार कर ले, तब तो हमारे आत्मतत्व और तुम्हारे बस्तुम्त सन्तानमें केवल नामका ही भेद हो रहा कहना चाहिये। अर्थमे कोई भेद या विवाद नहीं रहा। सम्पूर्ण उपयोग विशेषोंमें आत्मद्रव्य अन्वित हो रहा है, जैसे कि सांकलकी कडीमे कडी सन्तानरूपसे पुत्र रही है। उपयोगका सर्वथा विनाश नहीं हो पाया है। किन्तु कथांचित् विनाश और कथांचित् स्थिति है, इस बातको हम अनेक बार कह चुके हैं।

जपयोगसंबंधो लक्षणं जीवस्य नोपयोग इति चेत्, स तर्हि जीवस्यार्थीतरभूतेनोपयो-गेन स संबंधो यदि जीवादन्यस्तदा न लक्षणमर्थीतरवत्, अन्यथोपयोगस्यापि लक्षणत्वसि-देरिविश्वेषात् । अर्थीतरभूतेन संबंधेनाप्यपरः संबंधो लक्षणमिति मतं, कथमनवस्थापरिहारः १ द्विद्रमपि गत्वा यदि संबंधः संबंधिनः कथंचिदनन्यत्वाल्लक्षणमिष्यते तदोपयोग एवात्मनो लक्षणमिष्यतां तस्य कथंचित्तादात्म्योपपत्तेः ।

यहां वैशेषिकका कटाक्ष है कि उपयोगक सम्बन्ध हो जानेको जीवका छक्षण कहना चाहिये। उपयोग तो जीवका छक्षण नहीं सम्भवता है। जिस चिन्ह करके छक्ष्य व्यावृत्त कर छिया जाय वह चिन्ह छक्षण कहा जाता है। कौनेमें रखा हुआ दण्ड तो देवदत्तका छक्षण नहीं है, किन्तु पुरुषके साथ दंडका संयोग सम्बन्ध हो जाना पुरुषका छक्षण है। तभी वह संसर्ग ही दण्डरहित पुरुषोसे दण्डी पुरुषकी व्यावृत्ति कराता हुआ ज्ञापक छक्षण हो जाता है। उसी प्रकार भिन्न पडे हुये उपयोग को जीवका छक्षण नहीं कहकर कुष्णयोग के समवायसम्बन्ध को जीवका ज्ञापक छक्षण मानना चाहिये। भोज्य पदार्थका उदरमें संसर्ग हो जाना तृतिका हेतु है, थाछीमें रखा हुआ भोज्य पदार्थ नहीं। आचार्थ कहते हैं कि इसं प्रकार यदि वैशेषिक कहेंगे तब तो हमारा यह विचार

है कि तम्हारे मन्तव्य अनुसार जीवसे सर्वथा भिन्न हो रहे उपयोगके साथ जीवका हो रहा सम्बन्ध यदि जीवसे भिन्न है तब तो वह सर्वथा भिन्न हो रहे पदार्थके समान वह सम्बन्ध भी लक्षण नहीं हो सकता है। अन्यथा यानी भिन्न हो रहे भी सम्बन्ध नो यदि लक्षण मान लिया जाय, तब तो विचारे उपयोगको भी लक्षणपनकी सिद्धि हो जायगी, कोई अन्तर नहीं है। अर्थात-भेदबादी वैदेषिकीके यहां दण्डद्रव्यका परुषके साथ हो रहा संयोग तो गुण पदार्थ माना गया है और संयोगका दण्डमें न्यारा हो रहा समनायसम्बन्ध तो छठवां स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। उसी प्रकार उपयोगका समनाय सम्बन्ध भी तो जीवसे अर्थान्तरभूत ही पडेगा। अतः जिस भेद हो जानके दरसे तम उपयोगको छोडकर उपयोग सम्बन्धकी शरण ली थी. तदवस्थ है। है । उपयोगके न्यारे समवाय सम्बन्धको जोडनेके लिये स्वरूप सम्बन्धकी और पनः न्यारे स्वरूप सम्बन्धका योग करनेके लिये अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता होती. जाती है। फिर भी सर्वथा भिन्न हो रहे सम्बन्धके साथ भी उसका न्यारा सम्बन्ध रुक्षण माना जायगा तब तो उस न्यारे सम्बन्धका भी मिलाप करनेके लिये अन्य सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढती चली जायेगी। यों भेदवादियोंके मतमे अनवस्था दोषका परिहार कैसे हो सकता है ? सो तुम्हा जानो । हां, यदि उपयोगको भी मानते हुये उपयोगके सम्बन्धको वैशेषिक अभिन्न मान छेते होते तब तो यह उनका कटाक्ष करना हम हो और उनको दोनोको लाभदायक होता । किन्त वे तो सम्बन्ध और सम्बन्धियोंका सर्वधा भेट माननेकी सौगन्ध हे चुके हैं। अनवस्थाके निवारणार्थ यदि बहुत कुछ दूर भी दशवी, पचासवी, कोटिपर जाकर स्वसम्बन्धिक साथ कथंचित अमेद हो जानेसे सम्बन्धको रुक्षण अमीष्ट किया जायगा तब तो उपयोग ही आत्माका लक्षण अभीष्ट कर लिया जाओ। क्योंकि जैन भिद्धान्तमें उस उपयोगका अपने सम्बन्धी लक्ष्यभत आत्माके साथ कथांचित् तदात्मकपना युक्तियोंसे सिद्ध हो रहा है। अतः जीवका आत्मभूत हो रहा उपयोग समीचीन लक्षण है, कोई दोष नहीं है।

तस्योपयोगस्य भेदमतिपादनार्थमाइ।

जीवके लक्षण उस उपयोगके मेदोंकी प्रतिपत्ति व रानेके लिये जिज्ञासु शिष्यके प्रति श्री उमास्यामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

स द्विविधोष्टचतुर्भेदः ॥ ९॥

वह प्रित्द हो रहा उपयोग दो प्रकारका है एक ज्ञानोपयोग, दूसरा दर्शनोपयोग, तिनमें पहिला ज्ञानोपयोग आठ मेदबाला है, और दूसरे दर्शनोपयोगके चार भेद हैं।

स उपयोगो दिविधस्तावत्, साकारो ज्ञानोपयोगः सविश्लेषार्थविषयत्वात्, निराकारो दर्शनोपयोगः सामान्यविषयत्वात् । तत्राद्योऽष्टभेदश्चतुर्भेदोन्य इति संख्याविश्लेषोपादानात्पूर्वे ज्ञानं सुक्तं अभ्यर्हितत्वाभिश्लीयते । एतत्सूत्रवचनादेव ।

सूत्रके अर्थको श्री निचानन्द स्वामी यों कहते हैं कि वह उपयोग दो प्रकारवाला है। सबसें प्रथम तो आकारसहित होरहा जानोपयोग है। विशेष अंशोंस सहित हो रहे अर्थको विषय करनेवाला होनेसे ज्ञानोपयोग साकार कहा जाता है। यहां आकारका अर्थ प्रतिबिंब पडना नहीं है। किन्तु ज्ञेय अर्थकी विकल्पना करना है । " ज्ञानादिना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सङ्क्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सर्वे नाकारमात्काः। आकारोर्थिविकल्पस्त्यादर्थः स्वपरगोचरः। सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैत-द्विरुक्षणम् '' यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विरोषभाक् '' इत्यादि पंचाध्यायीके वाक्योंसे भी ज्ञानमें सिवकल्पकपना ही आकार निर्णात किया गया है। ज्ञानके सिवाय अन्य गुणोंकी केवल स्वांशमें स्वसत्ता मात्र अनुभूति होती रहती है। ज्ञान ही स्व, परका विशेष रूपकरके उल्लेख करता है। अतः ज्ञानोपयोग साकार है तथा केवल महासत्ता सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे दर्शनोपयोग निराकार या निर्विकल्पक माना जाता है। उन दो भेदबाले उपयोगोंमे आदिके उपात ज्ञानीपयोगके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवल्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, विभंग, इस प्रकार आठ प्रमेद हैं । तथा ज्ञानोपयोगसे दूसरा भिन्न दर्शनोपयोग तो चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अविदर्शन, केवलदर्शन, इस प्रकार चार प्रभेदोंको धार रहा है। यद्यपि मूलसूत्रमें पहिले ज्ञान शहू और पीछें दर्शन शहका सूत्रकारने कण्ठोक्त प्रयोग नहीं किया है, तो भी विशेषसंख्या आठका वाचक अष्ट शद्भका सूत्रमें उपादान करनेसे ज्ञानोपयो। का प्रथम प्रहण करना ही लक्षित हो जाता है। ज्ञानक ही आठ मेद हैं। आलोचन करना स्वरूप दर्शनसे अधिक पूज्य होनेके कारण सूत्रमें ज्ञान पहिले कहा गया है, ऐसा इस सूत्रके वचनसे ही निर्णीत हो रहा है। अन्यथा आठ और चार संख्याका द्वन्द्रसमास होनेपर " संख्याया अन्पीयस्याः " इस मूत्र अनुसार चतुर् शद्भका पूर्वमें निपात हो जाता । जब कि अष्टराद्वका प्रयोग पहिले दीख रहा है, तब तो पुज्य होनेसे ज्ञान ही पहिले कहा गया है. यह निर्णात है।

यथोक्तोपयोगव्यक्तिच्यापि सामान्यमुपयोगोऽस्य स्नक्षणमिति दर्श्वयति ।

यद्यपि सम्यन्त्रान पांच ही हैं, फिर भी उपयोगका प्रकरण होनेसे तीन विपरीतक्रान भी पकड़ लिये जाते हैं। सम्यन्दिष्ट या मिथ्यादिष्ट जीव सदा क्रान करते समय आठ उपयोगोमेंसे किसी एक उपयोगसे उपयुक्त अवश्य होगा। इस प्रकार सर्वक्ष आम्नाय अनुसार सूत्रमें ठीक कहे जा चुके आठ उपयोग व्यक्तियों में व्याप रहा सामान्य उपयोग तो इस जीवका लक्षण है। इस बातको श्री विद्यामन्द आचार्य वार्तिक द्वारा शिष्योंके सन्मुख दिखलाते हैं।

स द्विविधोष्टचतुर्भेद इत्युक्तेः सूरिणा स्वयम् । रोषभावत्रयात्मत्वस्यतिलक्ष्यत्वसिद्धितः ॥ १ ॥ वह उपयोग आठ और चार प्रभेदों के क्रमसे धार रहा दो प्रकार है, यों श्री उमास्वामी आचार्य करके स्वयं मण्डोक्त कथन कर देनेसे यह निर्णीत हुआ समझो कि रोष बचे तीनों मान स्वरूप जीवको इस उपयोगका उस्यपना सिद्ध हो जाता है। क्षायिक और क्षायोपशिमकों रोष पन्द्रह और तीनों के अन्य उन्वीस यों इकतालीसका पिण्ड हो रहा जीव उस्य है। अर्धात्—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके साथ जीवका तदात्मक सम्बन्ध मान छेनेपर प्रभ उठ सकता है कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके अतिरिक्त आत्माका डीठ क्या बच रहता है, जिसको कि उपयोग नामक उक्षणका उत्थ बनाया जाय ! इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं कि अग्निका उक्षण उष्णता करनेपर रोष रहे रूप, तेजस्विता, दाहकन्व, पाचकत्व, आदि गुणोंका पिण्ड हो रहा अग्नि उक्षण उष्णता करनेपर रोष रहे रूप, तेजस्विता, दाहकन्व, पाचकत्व, आदि गुणोंका पिण्ड हो रहा अग्नि उक्षण वाता है। शाखाको बोक्से वृक्ष दूट पड़ा है, देवदत्त दो पैरोसे चलता है, इन्द्रदत्त हाथो करके मुखमे खाता है, जिनदत्तको पण्डिताई शोमती है। यहा उन गुणों या अवयवोंसे रोप बचा हुआ पिण्ड जैसे उद्देश्य या उक्ष्य हो जाता है। उसी प्रकार कुछ क्षायोपशिमक और कुछ क्षायिक भावोसे रोष बच रहे औपशिमक औदियिक और पारणामिक भावोसे तदातमक हो रहे जीवको उत्थ समझ छिया जाता है।

जीवस्योपयोगसामान्यमिह लक्षणं निश्चीयते इति शेषः, स द्विविध इत्यादिस्त्रीण तद्वि-शेषकथनात् । अष्टाभ्यो ज्ञानव्यक्तिभ्यश्चतस्भ्यो दर्शनव्यक्तिभ्यश्चान्ये शेषा अष्टी क्षायोपश्च-मिकभेदाः सप्त च क्षायिकभेदाः परिगृहांते । भावत्रयं पुनरीपश्चमिकीद्यिकपारिणामिकविकल्पं प्रत्येयं । शेषाश्च भावत्रयं च शेषभावत्रयं तदात्मा स्वभावो यस्य जीवस्य स शेषभावत्रयात्मा तस्य भावः शेषभावत्रयात्मत्वं तस्यतिह्यक्ष्यत्वसिद्धेः प्रतिपादितोपयोगव्यक्तिगतसामान्येन स्वक्ष-णत्वोपपत्तेरित्यर्थः ।

उक्त कारिकामें " छस्यत्र सिद्धितः, ऐसा हेतुपरक वाक्य होनेसे जीवका उपयोग सामान्य यहा छक्षण निश्चित हो रहा है । इस प्रकार प्रतिज्ञा वाक्य रोष रह गया है । अतः प्रतिज्ञावाक्य और हेतुको मिलाकर वाक्यार्थ कर छेना चाहिये। "स द्वित्रिधः " इस्यादि सूत्र करके उस उपयोगके विरोधोंका कथन हो जानेसे जान छिया जाना है कि इससे पूर्व स्त्रमें किया गया जीवका छक्षण उपयोग सामान्य है । वार्तिक पूर्वार्द्धका विवरण हो चुका। उत्तरार्द्धकी व्याख्या इस प्रकार है कि आठ संख्यावाली ज्ञान व्यक्तियोंसे और चारदर्शन व्यक्तियोंसे भिन्न रोष बच रहे क्षायोपश्चित्रके आठ भेद और क्षायिकभावके सात भेद पकड़कर प्रहण कर लिये जाते हैं । अर्थात् वारह प्रकारके उपयोगमें मित, श्रुत, अवधि, मनःपर्धय, कुमति, कुश्रुत, विभंग, ये सात ज्ञान और चश्चर्दर्शन, अचश्चर्दर्शन, अचश्चर्दर्शन ये तीन दर्शन इस प्रकार दश भेद तो क्षायोपश्चिक भावोंके हैं और केवल्जान, केवल्दर्शन ये दो उपयोग क्षायिक भावोंके गिनाये गये हैं । सम्पूर्ण अठारह क्षायोपश्चिक भावोंके पूर्विक्त दश भावोंका उपयोगमें परि- प्रह कर छेनेसे रोष पांच छिध्यां, सम्यक्त चारित्र संगमासंयम ये आठ क्षायोपश्चिकभाव बचे रह

जाते हैं। और नी क्षायिक भावोंमेंसे केवल्जान और केवल्दर्शन के लिये गये तो कांच लिवयां, सम्यक्त, चारित्र ये सात क्षायिक भाव शेष रह जाते हैं। तथा पुनः दो भेदवाले औपशामिक, इस्कीस भेदबाले औदियक, और तीन या अनेक विकल्पोंको धार रहे पारिणामिकभाव ये तीनों भाव समझ छेने चाहिये। शेष शब्द और मात्रत्रय शब्दों का समाहार द्वन्द्वकर जिस जीवके क्षयोपशिमक और क्षायिकभावोंमेंसे रोष बच रहे पन्द्रहभाव तथा औपरामिक, औदियक, और पारिणामिक ये तीनों भाव तदात्मक होकर स्वभाव हो रहे हैं, वह शेष भावत्रयात्मा है, उसका भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करने पर रोष भावत्रयात्मकपना अर्थ हो जाता है । वे रोष पन्द्रह्माव और औपशमिक आदिके छन्त्रीस-भाव यों इकतालीस भावोंके साथ तदात्मक हो रहे उस जीवको इस उपयोग लक्षणका लक्ष्यपना सिद्ध है। भिन्न भिन्न समझा दिये गये बारह उपयोग न्यक्तियोंमें प्राप्त हो रहे सामन्य धर्भकरके उपयोगको छक्षणपना बन रहा है। यह वार्तिकका अर्थ है। भावार्थ-कारिकामे कहे गये शेष शब्दका। भाव-त्रयके साथ कर्मधारय समास नहीं करना चाहिये । किन्तु द्वन्द्व समास कीजियेगा, यह श्रीविद्यानन्द-स्वामीका स्वोपन्न विवरण है। सम्यन्नान प्रमाण है, यह लक्ष्यलक्षणभाव एक ढंगका है, तथा अग्नि उष्ण है, सींग सासनावाली गौ होती है, यह लक्ष्यलक्षणभाव दूसरे ढंगका है। यहां अप्निका उष्ण-पना रुक्षण करनेपर अग्निके शेष गुण या स्वभाव रुक्ष्यभूत माने जाते हैं। सींग और सासना (गलकंबल) को लक्षण मान लेनेपर रोष हाथ, पैर, पेट मस्तक पाँठ, आदि अवयवोंको धार रही गाय छक्ष हो जाती है। इसी प्रकार त्रेपन भावोंसे तन्मय होकर सद्भूत हो रहे जीव पदार्थके तदारमक बारह भाव तो लक्षण हैं । और इकतालीस भावोंका तदारमक पिण्ड हो रहा जीव पदार्थ लक्ष्य 🕏 । एक बात यह भी प्रन्यकार कह रहे हैं कि सामान्यरूपसे बारह उपयोगको हमने जीवका लक्षण कहा है, जिस जीवको जितने उपयोग सम्भव होय वैसा लक्षण घटित कर लेना । वैसे तो छग्नस्थ जीवोंके एक समयमें एक ही उपयोग सम्भवता है। हां, केवलज्ञानीके एक साथ दो उपयोग सव जाते हैं। यह भी युगपत्पना ज्ञानावरण दर्शनावरणोंका क्षय हो जानेसे कह दिया जाता है। वस्तुतः सामान्य विशेषात्मक सम्पूर्ण पदार्थीको जान रहे केवल ज्ञानके चमकते रहनेपर महासत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदरीन नगण्य है। एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होनेका नियम सर्वत्र सर्वदा सबके लिये लागू है, केवलज्ञानी जीवका चेतना गुण भी उसी नियमके अनुसार परिणमेगा । तथा इकतालीस भावोंके पिण्डस्वरूप जीवको लक्ष्यपना भी सामान्यरूपसे कहा गया है। विशेष रूप से तो इकतालीस भातोंमें जितना भी जिस जीवके सम्भवने योग्य हैं, उतने भावोंके समुदायात्मक जीवको छक्य बनाना चाहिये। जैसे बारहों उपयोगोंका एक जीवनें एकदा सद्भाव पाया जाना असम्भव है. उसी प्रकार इकतालीसों भावोंका एकदा पिण्ड बन जाना भी असम्भव है। क्षायोपशासिक भानका क्षायिक ज्ञानके राथ जैसा विरोध है, वैसे ही औपशमिक सम्यक्त्वका क्षायिक रूपक्त्वके सार्य या क्षायोपशमिक चारित्रका क्षायिक छन्त्रियोंके साथ त्रिरोध है। उपयोगमें गिनाये गये

मनः पर्यय ज्ञानका छक्ष्य जीवके अवयव हो रहे उपराम सम्यक्त्वके साथ विरोध है। अतः क्रयंचित् मेद, अभेदको रखते हुये जीव और उपयोगका छक्ष्यछक्षणभाव सिद्ध कर दिया है।

एवं सूत्रद्वयेनोक्तं स्वक्षणं स्वयंत्ररं । कायाद्वेदेन संश्वेषमापन्नादपि तत्त्वतः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजने " उपयोगो रुक्षणं " और " स दिविधोष्टचतुर्भेदर्भे इन दो सूत्रों करके जीवका रुक्षण कह दिया है। परस्पस्में संसर्गको प्राप्त हो रहे भी शरीरसे वह रुक्षण वास्तविक रूपसे जीवका मिन्नपने करके परिचय करा देवेगा। अर्थात्—पुद्रस्वतत्त्व और जीवकत्व दोनोंसे मिरुकर बने हुथे शरीरधारी जीवमें अनुभूत हो रहा उपयोग उस जीवको तात्विक रूपसे न्यारा न्यारा चिन्हा देगा। जैसे कि न्यारिया टांका मिर्छ हुथे सोनेको विशेष रुक्षण द्वारा सुवर्णपने करके न्यारा परख रुता है।

यथा जलानलयोः संश्लेषमापत्रयोरप्युष्णोदकावस्थायां द्रवोष्णस्वभावस्थाणं भित्रं भेदं साथयित तथा कायात्मनोः संश्लेषमापत्रयोरिष सूत्रद्वयोक्तं लक्षणं भेदं लक्षयेत्सर्वत्र लक्षण-भेदस्यैव भेदन्यवस्थाहेतुत्वात् । तद्भावे मितिभासभेदादेरभेदकत्वात् ।

जिस प्रकार कि अग्नि द्वारा उच्चा किये गये तसजककी अवस्थामें एकम एक संसर्गको प्राप्त हो रहे जल और अग्निका बहने योग्य पतलापन स्वभाव और उच्चास्वभाव ये दो भिन्न भिन्न लक्षण उन जल अग्नियों के भेदकों सार्घ देते हैं, तिसी प्रकार एकत्वबुद्धिजनक सम्बन्धरूप बन्धको प्राप्त हो रहे भी काय और आत्माका पूर्वोक्त दो सूत्रोंमें कहा गया रुक्षण, उनके भेदको मान प्रेरणापूर्वक चिन्हा देवेगा । सभी दार्शनिकोंके यहां छक्षण द्वारा किये गये भेदको ही भेदकी व्यवस्था करा देनेका हेतपना प्राप्त है । यदि किसीका वह छक्षण भिन्न भिन्न नहीं है तो ऐसी दशामें न्यारा ज्यारा प्रतिभास होना या न्यारे देशमें रहना आदि तो लक्ष्य पदार्थीका भेद करानेवाले नहीं हो सकते हैं। बात यह है कि जैन सिद्धान्त अनुसार उष्ण जलमें कोई अग्नितन्त्र और जलतन्त्र दो न्यारे न्यारे मिल रहे पदार्थ नहीं हैं । पौद्गलिक अग्निका निमित्त मिलनेपर जल ही उच्ण स्पर्शवाला बन जाता है । निमित्तके हट जानेपर कुछ देर पश्चात अपेक्षाकृत शीतल हो जाता है । किन्तु चार्वाक या वैशेषिकके सिद्धान्त अनु-सार आचार्य महाराजनै उनके सन्मुख उन्हींका दृष्टान्त धर दिया है। हां, दूधमें घुळे हुये पानीके समान अभिके कण तो जलमें घुल नहीं सकते हैं । क्योंकि जल और ईंधनकी अभि दोनोंमें क्य घातक बिरोध है। देखी समुद्रकी अप्नि बडवानलकी जाति न्यारी है। वह भी योग्य परिमाणमें जलको जलाती रहती है। और जल भी उसकी बुझाता रहता है। पेटकी आग उदरामिकी भी ऐसी अवस्था है। करायोंके नेमितिक परिणमनों की विचित्र पद्धति है। बहुभाग व्यक्तियोंको उचित पानी पी छेनेपहं ही उदरामिहारा अन्नका अच्छा परिपाक होता है। दाल भी पानी डालनेपर सीझती है, सूखी दाल नहीं

पकती है। किसी अवसरपर विवादापन विषयको शीघ निवटानेके छिये आचार्य महाराज प्रतिवादियों में प्रसिद्ध हो रहे दृष्टान्तसे ही उनके सन्मुख अपने अभीष्ट तत्त्वको साध देते हैं। छक्षणके भेदसे ही छक्ष्यका भेद समझना न्यायमार्ग है। प्रतिभास भेदसे छक्ष्योंका मेद नहीं हो सकता है। देखिये, दूरसे, निकटसे, अतिनिकटसे, देखनेपर एक ही वृक्षके अनेक प्रतिभास (ज्ञान) हो जाते है। एक ही अग्निको आगम, असुमान, प्रत्यक्ष ज्ञानोंसे जाना जा सकता है। सादश्यवश या आन्तिवश अनेक छक्ष्योंका भी प्रतिभास कभी कभी भेदरहित हो जाता है। ऐसे ही देशभेद या काछभेद अथवा आकारभेदसे भी छक्ष्योंका भेद नहीं सब पाता है। एक देशमें वात, आतप, के समान अनेक पदार्थ ठहर जाते हैं। एक बांस या छम्बा विद्यार्थी कई काष्टासनोंको घर सकता है। एक काछमें अनेक पदार्थ वर्त्त रहे हैं। एक पदार्थ भी काछान्तरनक भ्थायी रह जाता है। आकारोंके भेदको छक्ष्यका ज्यावर्त्तक माननेपर भी ऐसे ही अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार आते है। अतः प्रकरणमें जीवका छक्षण उपयोग साध दिया गया है।

के पुनर्जीवस्य भेदा इत्याह।

अब आगेके सूत्रका अवतार दिखानेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी संगतिको समझाते हैं। किसी शिष्यका प्रश्न है कि फिर यह क्ताओ कि उपयोग लक्षणको धारनेवाले जीवके भेद कितने हैं। ऐसी जिज्ञासाको प्रकट कर रहे प्रतिपाद्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज समाधानके वचन कहते है।

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, काल परिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन, इन पांच प्रकारके संसारको धार रहे संसारी जीव और पांचो प्रकारके संसारसे छूट चुके मुक्त जीव इस प्रकार सामान्यरूपसे जीव दो भेदोंमें विभक्त हैं। अर्थात् — जीवके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीव बहुत यानी अक्षय अनन्तानन्त हैं तथा मुक्तजीव उन संसारिओसे यद्यपि अनन्तवे भाग स्वल्प हैं, फिर भी अनन्तानन्त गिनाये गये हैं।

जीवस्येत्यजुर्वतनाद्धेदा भवंतीत्यध्याहारः । आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवांतरा-वाप्तिः संसारः तत्संबंधात् संसारिणो जीवविशेषाः । निरस्तद्रव्यभाववंधा युक्तास्ते जीवस्य सामान्यतोभिहितस्य भेदा भवंतीति सुत्रार्थः । ततो नोपयोगेन छक्षणेनैक एव जीवो छक्ष्य इत्यावेदयति ।

द्वितीय अध्यायके प्रथम सूत्रमेंसे " जीवस्य " इस शद्धकी अनुवृत्ति कर छेनेसे संसारी और मुक्त ये दो भेद जीवके हो जाते हैं। इस प्रकार " भेदा " और " भवन्ति " इन शद्धोंका अध्याहार करते हुये अर्थ बन जाना है। अपने ही द्वारा उपार्जित किये आठ प्रकारके कर्मोंकी अधीनतासे आत्माकी अन्य अन्य भवोंमें प्राप्ति होना संसार कहा जाता है। उस संसारका सम्बन्ध हो जानेसे

अतन्तानन्त जीविश्लिष संसारी बन रहे हैं तथा जिन जीवोंका पौद्रित्न द्रव्यबन्ध और राग, हेष, अञ्चान, मूर्ति, गुरु, छघुपना, आदि भावबन्ध अपने पुरुषार्थद्वारा अनन्तकाळतकके ळिये निरस्त कर दिया गया है, वे मुक्त हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे कह दिये गये जीवके ये दो भेद संसारी और मुक्त हो जाते हैं। यों सूत्रका अर्थ घटित हो जाता है, तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि उपयोग नामके छक्षण करके एक अद्देत जीव ही छक्ष्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूपकरके अनन्तानन्त संख्याको धार रहे जीव ही उपयोगकरके चीन्हे जाते हैं। इसी बातको श्रीविद्यानन्दस्थामी सम्पूर्ण विद्वानोंके सन्मुख निवेदन करें देते हैं, उसको समझ छीजियेगा।

लक्ष्याः संसारिणो जीवा मुक्ताश्च बह्वोन्यथा। तदेकत्वप्रवादः स्यात्स च दृष्टेष्टबाधितः ॥ १॥

इस उपयोगके प्रकरणमें मुक्तोंसे अनन्त गुणे बहुतसे संसारी जीव और बहुत अनन्तानन्त मुक्त जीव इस उपयोगके छक्ष्य हो रहे हैं । अन्यथा यानी उपयोग छक्षणसे व्याप्त हो रहे बहुत जीव न माने जाकर दूमरे प्रकारसे अद्वेत ब्रह्म ही माना जायगा तब तो उस जीव तत्त्वके एकपनका प्रवाद फैल जायगा, और वह ब्रह्माद्वेत वादियों द्वारा ढोल पीटकर प्रसिद्ध कर दिया गया आत्माके एकपनका प्रवाद तो दृष्टमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्टप्रमाण अनुमान आदिसे बाधित हो रहा है।

संसारिण इति बहुत्वनिर्देशाद्धह्वो जीवा लक्षणीयास्तथा मुक्ताश्चेति वचनात्ततां न दृंद्व-निर्देशो युक्तः संसारिमुक्ताविति । तिश्चेदेशे हि संसार्येक एव मुक्तश्चेकः परमात्मेति मवादः मसज्येत । न चासौ श्रेयान् दृष्टेष्टवाधितत्वात् ।

इस कारिकाका विवरण यों है कि गुरूणां गुरु श्री उमास्त्रामी महाराजने इस स्त्रमें संसारिणः ऐसा बहुत्य संख्याको कहनेत्राछी जिस विभक्तिको धार रहे "संसारिणः " इस प्रकार बहुवचन राह्य स्वरूपका कथन किया है। इससे प्रतीत होता है कि एक नहीं किन्तु बहुतसे जीव इस उपयोग छक्ष-णसे छक्ष्य बनाने योग्य हैं। तथा " मुक्ताः " इस प्रकार बहुवचनान्त मुक्त राह्यका कथन करनेसे बहुतसे मुक्त जीव उस उपयोगके छक्ष्य हैं, यह निर्णीत हो जाता है। तिस ही कारणसे छाघ्य गुणका विचार कर " संसारी च मुक्ताश्व " यों दंद्य समास कर " संसारिमुक्तों " ऐसा सूत्र कथन करना श्री उमास्त्रामी महाराजको समुचित नहीं जचा। यदि अर्थको विघात करनेवाली कोरी छघुताका विचार कर वह संसारी एक और मुक्त एक यों उन दो ही जीवोंका निर्देश किया जाता, तब तो नियमसे संसारी जीव एक ही है और मुक्त जीव परमात्मा एक ही है, इस प्रकारके प्रवादका प्रसंग प्राप्त हो जाता। किन्तु वह प्रवाद तो श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि उस सिद्धान्तमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोसे अनेक बाधायें प्राप्त हो रहीं हैं। उन्हीं बाधाओंको दिखाते हैं।

संसारिणस्तायदेकत्वे जननपरणकरणादिमतिनियमो नोपपचते । श्रांतोसाविति चेक, भवत इत्र सर्वस्य तद्श्रांतत्विश्रयमसंगात् । मंपैव तिश्रश्रयस्तदिवद्यामक्षयादिति चेक, सर्वस्य तदविद्यामक्षयमसंगात् । अन्यथा त्वत्तो भेदमसक्तिविरुद्धधर्माध्यासात् ।

देखी, पहिले कहे गये संसारी जीवको यदि एक ही माना जायगा तो जन्म लेना मरण करना, आदिका प्रत्येक आत्मामें नियम हो रहा नहीं बन सकता है। अर्थात-देवदत्तका जन्म हुआ है भनदत्तने मरण किया है, इन्द्रत अपनी आंखोंसे देखता है, जयचन्द्र अपने मनमें विचारता है, एक पण्डित है, दूसरा मूर्ख है, तीसरा नीरोग है, चौथा सुखी है, इत्यादिक प्रत्येक प्रत्येक जीवकी नियत हो रही व्यवस्थायें नहीं बन सकती हैं । जैसे कि आकाशको सर्वथा एक माननेपर अनेक द्रव्योंमें सम्भवनेवाले अनेक विरुद्धधर्म उसमें नहीं ठहर पाते है । संसारी जीवोंको एक ही जीव मान छेनेपर एकके उपज जानेपर सबका जन्म हो जायगा और एकके मर जानेपर सब मर जायेंगे । एकके पण्डित, सुखी, पुर्हिग, कोशी, तत्त्वज्ञानी, बन जानेपर सभी पण्डित आदि बन बैठेंगे। भेदभाव मिट जायगा। यदि एक ही संसारी जीवको माननेवाला पण्डित यों कहे कि वह जन्म, मरण, आदिका प्रतिनियम करना तो म्रान्त है, जैसे स्वापके व्यवहार भान्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह प्रतिनियम यदि भान्त है तो आपके समान सभी जीबोंको उसकी भान्तताका निश्चय हो जाना चाहिये। जैसे कि सर्यविमान या चन्द्रविमानके अल्पपरिमाणको विषय करनेवाले ज्ञानका स्नान्तपना सबको निर्णीत हैं। रहा है। स्वप्नकी विकल्पनाओंको सभी जीव भान्त माननेके लिये उच्क है। किन्तु जन्म, मरण, बढापा, युवावस्था, मनुष्य, पञ्च, आदि प्रतिनियत अवस्थाओंको आप अद्दैतवादी भले ही श्रान्त कहते फिरें, किन्तु सभी विद्वान तो उसके भ्रान्तपनका अनुभव नहीं कर रहे है। यदि तुम अद्देलवादी यों कहो कि सभी विद्वानोंको उस प्रति नियमके श्रान्तपनके निश्चयका प्रसंग यों नहीं आता है कि उनको अविद्या लगी 🥦 है। सभी बालक अपने अपने डण्डेमें बोडा जाननेकी आन्तिको अस्रम जान बैठे हैं। हां, अविद्याका प्रकृष्ट क्षय हो जानेसे मझे अद्वेतवादीको ही उन विशेष व्यवस्थाओं के स्रातपनका निश्चय हो सका है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, जब कि आत्मा एक ही है ती तुम्हारे समान सभी जीवोंको उसमें हो रही अविद्याके प्रकर्षरूपसे क्षय हो जानेका प्रसंग हो जायगा । अन्यया यानी तम अपनेमें तो अविधाका क्षय मानो और दूसरोंके अविधाका प्रक्षय न ंमानी इस अन्य ढंगसे तो तमसे उन अन्य जीवोंको भिन्न हो जानेका प्रसंग आया। क्योंकि विरुद्ध धर्मीका अधिकार हो जानेसे भेद होना ही चाहिये । तुममे अविद्याका प्रत्यक्ष है और अन्य सब जीवोंमें अधिषा घुस रही है । यह १पष्टक्रपसे विरुद्धधर्म . अधिकार किये बैठे हैं । जो अनेक आत्माओंका मिन्नपना साथ देंगे । तुम बालक नहीं हो. इस बातको स्वयं विचार सकते हो।

ममाविद्यामक्षयो नान्येषामित्यप्यविद्याविद्यस्तिमेनेति चेत्, सर्वोष्येवं संप्रतिपद्यते तवैद्य इत्थं प्रतिपत्तौ परेषामप्रतिपत्तौ तु न कदाचिद्विरुद्धधर्माध्यासान्युच्यते । ततोयं प्रत्यात्य-दृष्ट्रमात्मभेदेन वाधितः संसार्यात्मैकत्ववादः ।

यदि अद्देतवादी यों कहें कि मैं जो यह मान रहा हूं कि मेरे ही अविद्याका प्रक्षय हो रहा है, अत्य जीवों के अविद्याका प्रक्षय नहीं है, सच पूछो तो वह भी अविद्याका विष्ठास ही हुआ कहना चाहिये। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि क्योंजी, जब कि सभी संसारी जीव एक ही हैं तो समी जीव इस प्रकार भछा समझ बैठों। कि मुझे ही अविद्याका प्रक्षय हो गया है। अन्योंके नहीं। यह अविद्याकी चेटा है। किन्तु हम देखते हैं कि तुम्हारे विचार अनुसार कोई भी जीव ऐसा नहीं समझ बैठा है, और जब कि तुमको ही इस प्रकारकी प्रतिपत्ति हो रही है, अन्य जीवोंके तो ऐसा विश्वास नहीं हो रहा है, तब तो आप कभी भी विरुद्ध धर्मोंके आख्ड हो जानेसे नहीं छुटी पा सकते है। भावार्थ—तुम्हारी आत्मामें ही यह श्रद्धा जम गयी है कि किसी जीवके अविद्याका क्षय और किसी जीवके अविद्याका क्षय नहीं, यह सब भेदव्यवहार अविद्याका ही नम्नत्व है। वास्तविक नहीं है। किन्तु फिर दूसरी आत्माओंमें ऐसी अन्यश्रद्धा हो रही नहीं देखी जाती है। अतः यही तो आत्माओंमे परस्पर भेदके साधक हो रहे विरुद्ध धर्मोंका अधिकार जमा लेमा है। तिस कारणसे प्रत्येक आत्मामें स्वसचेदन प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा रहे आत्माके विभिन्नपनेकरके यह सम्पूर्ण संसारी आत्माओंके एकपनका पक्ष परिग्रह करना बाधाप्रसित हो जाता है। यहांतक कारिकामें कहे गये भूद्ध हाथित " अंशका व्याख्यान कर दिया जा चुका है। अब उस एकत्वके प्रवादको "इष्ट "प्रमाणोंसे वाधित बना रहे है।

तथेष्टेनापि प्रतिपाद्यप्रतिपाद्कभावादिनेति पद्रितिपायं।

तिसी प्रकार अद्वेतवादियोंका यह संसारी आत्माओंके एकपनका सिद्धान्त इष्ट हो रहे प्रतिपाद प्रतिपाद माय, पितृपुत्रभाय, आदि करके भी बाधा प्राप्त हो जाता है। इस बातको कई बार बढिया ढंगसे पिहले प्रकरणोंमे हम दिखला चुके हैं। अर्थात्—कोई समझाये जाने योग्य शिष्य है, दूसरा समझानेवाला गुरु है, एक राजा है, दूसरा प्रजा है, संसारमें एक जीव न्याय करनेका अधिकारी है, दूसरा अपराध करनेवाला अभियुक्त है, इत्यादिक रूपसे इष्ट हो रहे भेदभावसे वह संसारी जीवोंके एकपनका कदाप्रह बाधित हो जाता है। अनेक अनुमान या युक्तियोंसे भी उक्त एकपनेमें बाधायें प्राप्त हो जाती हैं।

तथा ग्रुक्तात्मनोप्येकत्वे मोक्षसाधनाभ्यासंवैकल्यं, ततोन्यस्य ग्रुक्तस्यासंभवात् । संभवे वा ग्रुक्तानेकत्वसिद्धिः । यो यः संसारी निर्वाति स स परमात्मन्येकत्र स्त्रीयत इत्यप्यमुक्तं, तस्यानित्यत्वप्रसंगात् । तथा च कृत्सनस्तदेकत्वप्रवादः इत्यसाविष दृष्टेष्टवाधितः ।

जैसे संसारी जीवोंके एकपनका पक्ष पकड लेना प्रमाणोंसे बाबित है, तिसी प्रकार मुक्त आत्मको एकपना मानने पर भी मोक्षके कारणोंका अभ्यास करना विफल पड़ेगा। क्योंकि उस अभ्यास करनेवाले जीवसे अन्य हो रहे मुक्तात्माका असम्भव है। वह विचारा किसके लिये व्यर्थ परिश्रम उठावे। जो बम्बईमें बैठा है वह बम्बई जानेका कष्ट क्यों उठाने लगा ? फिर भी मुमुक्ष जीवसे मुक्त जीवको यदि न्यारे होनेकी सम्भावना करोगे ते अनेक मुक्तात्माओंकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात-मुक्तात्मा जब एक ही है और दूसरा कोई मक्त हो नहीं सकता है तो ऐसी दशामें कोई उदासीन जीव मोक्षके साधन बन रहे स्वाध्याय, दीक्षा, तपस्या, ध्यान, आदिका अभ्यास क्यो करेगा ! यदि श्रवण, मनन, आदि द्वारा चाहे किसी जीवके मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करना मान लिया जायगा तो ऐसी दशामें असंद्य जीव मुक्तिके साधनोंको साधते हुये मुक्त हो जायंगे और यही मुक्तोंकी अनंतसंख्या मानना जैन भिद्धान्त है। कितनी ही कठिन परीक्षा क्यों न हो, यदि उसका पठनक्रम बना हुआ है और अध्यापक, विद्यालय, आदिका समुचित प्रबन्ध है, तब वर्षमें एक सहस्र या बारहसी सोलहसी विद्यार्थी तो परीक्षा देकर उत्तर्णि हो ही जायंगे । अभ्यासी, ज्ञानवान्के लिये कोई काम असम्भव नहीं है । यदि अद्वेतवादी यों कहें कि जो जो संसारी जीव मुक्तिके सावनोंका अभ्यास करता हुआ निर्वाणको प्राप्त हो जाता है वह वह जीव परमब्रह्म एक अहैत आत्मामें लीन हो जाता है, जैसे कि घट उपाधिके फूट जानेपर घटाकाश महान् आकाशमें लयको प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना यक्तियोंसे रीता है। क्योंकि यो तो उस मुक्त जीवके अनित्यपनका प्रसंग आयेगा। अनादि काळसे चले आरहे अभाका मुक्त हो जानेपर खोज मिट जायगा, अतः आत्माके मुक्त अवस्थामें सर्वथा नप्ट हो जानेमे अनित्यपनकी आपत्ति हुई । इससे तो पिहेर्छ सुख, दु:ख, कैसी भी अवस्थामे जीवित बना रहना कहीं अच्छा था । कोन विचारशील पुरुष अपना खोज खो देनेके लिये ऐसी प्रलयकारिणी मुक्तिकी अभिलाषा करेगा ! करोडों, असंख्यों, रुपयोंका पारितोषिक देनेपर भी कोई दरिद्रानिदरित्र जीव भी अपना जीवन अपण करनेके लिये उचक नहीं होता है । क्योंकि पारितोषिकका भोग भोगनेके लिये उसका जीवन ही नहीं रहा । तिस कारणसे सम्पूर्ण मुक्त जीवोंके उस एकपनका प्रवाद बकते रहना यों वह भी सिद्धान्त विचारा दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधित हो जाता है।

यदि पुनः संसारिम्रका इति इन्द्रो निर्दिश्यते तदाप्यर्थीतरप्रतिपत्तिः पसज्येत संसारिण एव मुक्ताः संसारिम्रका इति, तथा संसारिम्रकेकत्वभवादः स्यात् स च दृष्टेष्टवाधितः, संसारिणां मुक्तस्वभावानाश्रयसंवेदनात् संसारित्वेनैवानुभवात् मुक्तिसाधनाभ्युपगयविरोधाच मुक्तस्यापि संसार्यात्मकत्वापच्युतेः ।

यदि फिर कोई यों कहे कि " संसारिमुक्ती " यों इन्द्र करनेपर तो सभी संसारी जीव एक और सभी मुक्त जीवोंकि एक हो जानेका प्रसंग आता है। किन्तु " संसारिमुक्ताः " ऐसा सूत्र कर

देनेपर तो संसारी और मुक्त जीवोंका बहुपना रक्षित हो जाता है। ऐसी दशामें पांच स्वरवाले वर्णीका सूत्र न बनाकर श्री उमास्त्रामी महाराजने सात स्वरीवाले वर्णीका बढा सूत्र क्यों बनाया ? सूत्रकारको न्यूनसे न्यून शब्दोंके कथनका सर्वदा विचार रखना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि " संसारिणस मुक्ताश्च इति संसारिमुक्ताः '' अनेक संसारी और अनेक मक्त जितने भी अनन्तानन्त जीव है वे सब " संसारिमुक्ताः " कहे जाते हैं। इस प्रकार यदि द्रन्द्रसमासका निर्देश किया जायगा तो भी एक निराष्टे अर्थकी प्रतिपत्ति हो जानेपर प्रसंग बन बैठेगा । संसारी ही मुक्त हैं यों कर्मधारय समास द्वारा एक विरुक्षण अर्थ ही निवास सकता था जो कि सिद्धान्तमृदासे अनिष्ट है। संसारी ही जीव तो उसी समय मुक्त नहीं हैं । विद्यार्थी मण्डलको गुरुसंघ कहना या पशुसमूहको नरेशमण्डल कहना जैसे अलीक है, उसी प्रकार संसारी जीवोंको ही मुक्तजीव कहना अनिष्ट पढेगा। और तिस प्रकार दीनोंको एक मान छेनेपर शुद्धाद्वैत वादियोंका संतारी और मुक्त जीवोंके एकपनका पक्ष पकडना बन बैठेगा । किन्तु वह एकत्वका प्रवाद तो दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो रहा साधा जा चुका है। फिर भी उस बाधाको सुन लीजियेगा । बोडा, गाय, स्त्री, पुरुष, आदिक संसारी जीवोंको अपनी अपनी आत्मामें मुक्तस्वभावके आश्रयरहितपनेका स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष हो रहा है. जैसे किसी रोगी या दरिद्रको स्वयं स्वस्थपने या सेठपने का अनुभव नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा हुई। तथा संसारी जीवोंको ही यदि मक्त मान लिया जायगा तो मोक्षके उपाय हो रहे श्रवण, मनन, तत्त्वहान, संन्यास आदिके स्वीकार करनेका विरोध हो जायगा । पाठशालामें प्रवेश करते ही विद्यार्थी यदि महान पण्डित हो जाता है तो परदेशनिवास, कुटुम्बी जनोंका परित्याग, घोषण, अनुमनन, जागरण, भोगोपभोगमें उदासीनता आदि साधनोंका मिलाना भला कौन चाहेगा ? यह इष्टविरोध हुआ। दूसरी बात यह है कि संसारी और मुक्तोंके एकपनके सिद्धान्तमें मुक्तजीवोंका भी संसारी आत्मकपना कथमपि छट नहीं सकता है, जैसे कि विद्यार्थी और पण्डितके सर्वया एक हो जानेपर महान् पण्डितीका भी अ आ इ ई पढना या " अ इ उ ण् " " अचिकीयण् " की रटन्त लगानेसे पिण्ड नहीं छूट सकता है। नमस्करणीय आचार्य महाराज महान् उपकारी पुरुष हैं। शिष्योंको विश्रलम्भ न होकर मुळभतासे मुखपूर्वक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय इसलिये उन्होंने समासवृत्तिको नहीं कर " संसारिणो मुक्ताश्व " ऐसा असन्देहार्थ सूत्र कह दिया है । कण्टकाकीर्ण और हिंसक प्राणियुक्त मार्गको एक दिनमें पूरा कर छेनेकी अपेक्षा सुखपूर्वक निरुपदव मार्ग द्वारा दो दिनमें इष्ट स्थानपर पहुंचना बहुत अच्छा है। निरापद पद्धतिका अन्वेषण करो ।

संसारिम्रक्तमिति द्वंद्वनिर्देशिप संसार्येव मुक्तं जीवतत्त्वमित्यनिष्टार्थमतीतिमसंगात् तदेकत्व-मबाद एव स्यात्, स च रष्टेष्टवाधित इत्युक्तं ।

संसारी और मुक्त इन दो पदोंका समाहार इन्द्र कर देनेसे " संसारिमुक्तं" इस प्रकार इन्द्र-समास द्वारा कथन करनेपर भी संसारी जीव ही मुक्त जीवस्वरूप तत्त्व है, इस प्रकार नहीं अभीछ हो रहे अर्थ की प्रतीति हो जाने का प्रसंग आजानेसे वह का वही दोनों जीवों के एकपन का कुल्सित आपह ही पुनः उपस्थित हो जायगा और वह एकरन पक्ष तो हट और इष्टसे बाधित है, इस बातको हम दो, तीन, वस कह जुके हैं। ठाघनका निचार कर यदि संसारी और मुक्त इन दो परोंका हंद्र किया जाता तो अक्ष्यअक्षर और पूज्यपना होनेसे मुक्त शद्धका पूर्व निपात हो जानेपर " मुक्तसंसारिणः " ऐसा पद कन जाता। और ऐसी दशामें छोड़ दिया है संसार जिसने वह मुक्त संसार स्वरूपमान है, और तदिक्ति मुक्त जीवोंको ही उपयोग सहितपना प्रात होता। शेष उन मुक्तोंसे अनन्त गुणे संसाकी जीन क्षूट जाते। अतः " रपप्यक्ता न वंचकः " इस नीतिक आधारपर श्री उमास्वामी महाराजने इष्ट अर्थकी होती जलानेवाले समासके झगड़ेमे न पड़कर न्यारे न्यारे परोंवाला सूत्र रच दिया है।

च शहानर्थक इति चेन्न, इष्टविशेषसशुच्यार्थत्वात् । नासंसारिणः सयोगकेविन्नः संसारिनासंसार्यसंसारित्वच्यपेतास्त्वयोगकेविन्निभीष्टास्ते येन समुचीयंते । नोसंसारिणः संसारिण एवति चेन्न, ते । संसारिवैधम्बीद्भवांतरावाप्तरभावात् । मिथ्याद नाविरतिप्रमादः कषायाणां संसारकारणानामभावान् । न चेवमसंसारिण एव ते, ये।गमात्रस्य संसारकारणस्य कभीगमनहेतोः सद्भावात् । क्षीणकषायाः संयोगकेविन्नन्नासंसारिण एवति चन्न किंचिदनिष्टं ।

किसीको शंका है कि इस सूत्रमें च शद्ध व्यर्थ है। क्योंकि प्रथानिभक्तित्राले बहुवचनान्त दे पर्नेक्स त्रयोग कर देनेसे ही संसारी और मुक्त जीवोंमें अर्थभेद सिद्ध हो जाता है। अब आन्धर्य कहते हैं कि यह तो न कहना । कारण कि इए ही रहे विशेष आत्माओंका समुद्रय करनेके किये संब-कारने च शहका प्रयोग किया है। सनुचय, अन्याचय, इतरेनरयोग, समाहार, इस प्रकार चकारकी अर्थक्वीकडीमेंसे यहां च का अर्थ समुमय पकडा गया है। जिन जीवोंका संसारमें निवास अत्यल्प शेष रह गया है, अन्तर्भुद्धत्ते अधिक आठ वर्षसे कमती एक कोटि पूर्व वर्ष इतना अधिकारे अधिक संसार शेप है, ऐसे तेखे गुणस्थानवर्ती सथोग भेवली भगवान् नोसंसारी जीव हैं। गर्भके नो मास मिन्यकर आठ वर्षका अर्थ पीने नो वर्ष करना चाहिये । <u>मोगभूमियोंमें मनुष्योंके</u> उन्तास दिनमें सम्यक्त हो सकता है और भोग मूमिक तिर्यंचोंक सात आठ दिनमें सम्यक्त हो सकता है। इसमें भी गर्भवास के दिन और जोड छेने चाहिये। इसी प्रकार कर्मभूमिक तिर्यचमें छह महीने पश्चात् सम्यक्त्व या वतधारण करनेकी योग्यता हो जाती है। यहां भी गर्भके दिनोंको अधिक जोड लेना चाहिये। कई प्रन्थोमें मनुष्य तिर्थचों के आठ वर्ष या उनचास दिन और छह महीने यह सात आठ दिन छिख दिये है। उनमें गर्मके दिनोंको जोडनेकी विवक्षा नहीं की गयी है। किन्तु उनका जोडना आवश्यक है । तथा पहिले गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान या बारहवें गुणस्थानतकके संसाह जीव और तेरहर्वे गुणत्थानवर्ता नोसंसारी जीव तथा संसारीपनेसे सर्वथा छूट गये सिद्धजीव इन तीनों मनारके जीवोंसे रहित हो रहे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली जीव भी तो हमें अभीह

हैं। वे तरहवें, चौदहवें, गणस्थानवर्ती जीव जिस च शब्द करके समझ्य प्रस्त कर छिये जाते हैं। अतः वह " चं " शब्द सार्थक है। यहां कोई कहे कि ईपत् संसारको पारनेवाळे तेरहवें गुणस्थान वर्ती नोसंसारी जीव तो संसारी ही हैं। जबतक कोई जीव संसारमें ठहरेगा उसका संसारी अन्तर्भीव किया जायगा, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन सयोग नेवर्लियोंका पैच-परिवर्तन करनेवार्छ संसारीजीवींसे विधर्मपना है। कारण कि संसारीजीव तो अनेक दसरे देसरे भवींको प्राप्त हीते रहते हैं। किन्तु सयोगकेवली जीवोंको पुनः दूसरे भवकी प्राप्ति होना रूप संसारका अभाव है। ऐसी दशामें उनको संसारी कहनेमें जी हिचकिचाता है। खात, चने, छंड्डेरे. सब एक कोटिमें नहीं गिने जाते हैं। संसारके कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, अविरिति, प्रमाद, कर्पार्थ, इनका संयोग केवलियोंमें अभाव है। इन चारोंकी सहायताके विना केवल योग विचारा एक समर्य स्थितिको रखनेवाले सातावेदनीय कमें मात्रका आस्त्रव करता है, जो कि अकिचित्कर है। यदि यहाँ कीई यों कह बैठे कि जब सयोग केवलीक अन्य भवेंकी प्राप्तिरूप संसार नहीं है और संसारके मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, और कषाय ये चार कारण भी नहीं हैं, तब तो इस प्रकार वे संयोगकैवली असंसारी ही हो गये । प्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाना चाहिये । क्योंकि विशेषस्पर्म सैसारका कारण हो रहे और कमोंके आगमनका हेतु बन रहे केवळ योगका सद्भाव सयोगंकेवळीके पाया जाता है। उस योगके द्वारा शरीर, भाषा और मनको बनानेके उपयोगी नौकर्महत्यका और साता वेदनीय अर्म मा अतिक्षण आगमन होता रहता है । अतः संसारी और असंसार (सिद्ध) दोनी प्रकारके जीवोंसे रहित तेरवें गुणस्थानवाले जीव नोसंसारी हैं। यहां पुनः किनीका कटाक्ष है किं क्षपक श्रेणीवालोंको छोडकर ग्यारहवे गुणस्थानतक है जीव भले ही संसार परिश्रमण करते हुये संसारी. कहै जांय, किन्तु जिनकी कवायें क्षयको प्राप्त हो चुकी है, ऐसे बारहवें गुणस्थानवंती जीव तो सर्वीगकेविष्टियोंके समान नोसंसारी ही कहे जांयगे। तुम जैनोंको अभीष्ट हो रहे नोसंसारीपनके र्जभागका श्रीणकषाय जीवोंमें सद्भाव है। संसारके चार प्रधान कारणों और अन्य भवोंकी प्राप्तिका उनकी अभाव है। आचार्य कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ अनिए नहीं पडता है। मेळे ही बारहवें गुणास्थानवालोंकी भी नोसंसारी कइ दो । उनका भी च शब्द करके समुचय कर लियां जायगा । " बांखादिप हितं प्राह्म युक्तियुक्तं मनीषिभिः " इन नीतिके अनुसार किसीकी भी युक्तिपूर्ण बाराकी मामनेके लिये हम सकद हैं।

अयोगकेविलनो ग्रुक्ता एवेति चेक, तेषां पंचाक्षीतिकर्मप्रकृतिसद्भावात, कृत्स्वकर्म-विषमोक्षाभावादसंसारित्वायोगात् । न चैवं ते नोसंसारिणः केविलनः संसारिनोसंसार्य-संसारित्वण्येताश्रायोगकेविलनो दीष्टास्ते संसारकारणस्य योगमात्रस्याप्यभावात् तत एवं नं संसारिणस्तित्वित्यच्यपेतास्तुं निश्चीयंते ।

कोई पण्डित यहां आक्षेप करता है कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान् तो मक्त ही हैं। अ इ उ ऊ व्ह इन पांच व्हा अक्षरोंका जितने कालमें उचारण होय उतने ही कालतक संसारमें ठहरना तो कोई ठहरना नहीं है। अतः अयोगकेवलीयोंका मक्तोंमें ही अन्तर्भाव करलेना चाहिये । पंचपरिवर्तनरूप संसारका और संसारके कारण योगतकका भी उनके अभाव है । विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अयोगकेवलियोंके पिचासी कर्म प्रकृति-योंका सदाव है। अतः सम्पूर्ण कर्मीका विप्रमोक्ष हो जाना रूप मक्तिका अभी अभाव हो जानेसे चीदहवें गुणस्थानवाळोंको असंसारीपन यानी मुक्तपनका अयोग है। सम्पूर्ण प्रकृतियां एकसी अडता-हीस है। उनमें आधीसे अधिक प्रकृतियां चौदहवें गुणस्थानमें आत्माको परतंत्र कर रही हैं। धातिया कमीकी सैतालीस प्रकृतियां तो बारहवें गुणस्थानके अन्ततक नष्ट हो चकी हैं। तिनमें क्षायिक सम्यक्तवको प्रहण करते समय चौथेसे सातवें गुणस्थानतक कहीं भी चार अनन्तानुबन्धियोंका विसंयो-जन और तीन दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाता है और नवमें गुणस्थानमें स्त्यानगृद्धित्रिक, अप्रत्या-रम्यानाबरण चार, प्रत्यारन्यानावरण चार, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह नो कषाय, पुरुषवेद, और संज्वलन तीनका क्षय हो जाता है। दशवेंमें लोभ नष्ट हो जाता है। बारहवेंमें **इानावरण पांच, द**र्शनावरण चार, अन्तराय पांच, निद्रा, प्रचला, इन सोलह प्रकृत तियोंका क्षय हो जाता है। चरमशरीरी जीवके नरक आयु तिर्याय और देवायका सद्भाव ही नहीं है। नामकर्मकी तेरह प्रकृतियां नवमें गुगस्थानके पहिले भागमें क्षयको प्राप्त हो जाती है। अतः नामकर्मकी शेषप्रकृतियां पाच शरीर, पांच वंधन, पांच संघात, छह संस्थान, छह संहनन, तीन अंगोपांग, आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध, पांचवर्ण, स्थिरद्विक, शुभद्विक, स्वरद्विक, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, प्रशस्त विद्यायोगति, अप्रशस्त विद्यायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशस्त्रीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छुमस, इस प्रकार ये सत्तर प्रकृतियां और वैदनीयकर्मकी दोनोंमेंसे अनुदय रूप एक, तथा नीचगोत्र ये बहत्तर प्रकृतियां अयोगकेक्लीके दपान्त्य समयमें नष्ट होती हैं और अयोग नेवलीके अन्त समयमें वेदनीयकी कोई एक तथा नाम कमैकी मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुमग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थेकर, मनुष्यगत्यानु-पूर्व, ये दस प्रकृतियां, आयुओंमें मनुष्य आयु तथा उच्चगोत्र इस प्रकार तेरह प्रकृतियां अन्त समयमें छटती हैं। इस ढंगसे अयोगियोंके पिचासी प्रकृतियोंका सद्भाव माना गया है। अतः वे मुक्त जीवोंमें नहीं गिने जा सकते हैं। फिर भी कोई यों कहे कि इस प्रकार होनेपर तो सयोगकेवालयोंके समान बे अयोगकेवली भी तो संसारी गिन लिये जांय । चौथी जातिके जीवोंको माननेकी क्या आवश्यकता है ! आचार्य कहते हैं कि यह विक्षेप नहीं डाल सकते हो । क्योंकि संसारीपन, नोहंसारीपन और अपंसारीपन, (सिद्धत्व) इन तीन जातियोंसे रहित हो रहे चौथी जातिवाले वे अयोगकेवली भग-श्रन् अभीष्ट किये गये हैं। संसारके कारण हो रहे के वल योगका भी अभाव हो जानेसे वे तेरह दें

गुणस्थानवर्ती भगवान् नोसंसारी जीवोमें नहीं गिने जा सकते हैं। तथा तिस ही कारणसे यानी संसार और संसारके पांचों कारणका अभाव हो जानेसे वे अयोगी महाराज संसारी भी नहीं हैं। हां, उन संसारी, नोसंसारी और असंसारी इन तीनों जातिके जीवोंसे पृथग्भूत हो रहे तो वे निश्चय किये जा रहे हैं। अतः च शहू करके विशेष रूपसे इष्ट हो रहे तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती (बारहवें गुणस्थानवर्त्ती भी) और चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती जीवोंका समुचय हो जाता है। "न कर्मधारयः स्थान्मत्त्वर्थीयो बहुनीहिश्चेदर्थमितपत्तिकरः" यह परिभाषा आनित्य है। अतः असंसारी और नोसंसारी ये शहू भी साधु समझे जाय।"

तथान्ये वर्णयंति—मुक्तानां परिणायांतरसंक्रमाभावादुपयोगस्य गुणभावपदर्शनार्थे च श्रद्धोपादानमिति, तश्र बुध्धामहे तेषां नित्योपयोगसिद्धेः पुनरुपसंहारपादुर्भावाभावात् । तत्रोपयोगन्यवहाराभावात् गुणीभूतोत्र तूपयोग इति चेति ।

तथा श्री अकलंकदेवके सिद्धान्त अनुसार अन्य दूसरे पण्डित यो वर्णन करते हैं कि मुक्त जीवोंके अन्य दसरे दसरे परिणामोंका संक्रमण होता नहीं है। इस काइण उन मक्तोंके गीणरूपसे उपयोगका सद्भाव बढिया दिखलानेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराजने इस सूत्रमें च शहका प्रहण किया है। अर्थात संसारी जीवोंके तो दर्शनोपयोगके पश्चात ब्रानोपयोग या चाक्षपप्रत्यक्षके पीछे रासनप्रत्यक्ष और उसके भी पीछे श्रुतज्ञान इत्यादिरूपसे एक उपयोगको बदल कर दूसरे उपयोगमें लग जाना घटित हो जाता है। तभी तो मेरा इस पदार्थमें उपयोग लगा हुआ है, अमुक पदार्थमें उपयोग नहीं लगता है, मुनिजन आत्मतत्त्वमें बहुत देरतक उपयोग लगाये रहते हैं, आखें खुली रहते इये भी उसकी ओर उपयोग न होनेसे मैं उस पुरुषको नहीं देख सका, न्याय प्रन्थोंके पढनेमें उपयोग लगाओ, इयादिक व्यवहार प्रसिद्ध हो रहे देखे जाते हैं। किन्तु केवलज्ञानी मुक्त जीवोंके किसी उपयुक्त दशाको छोडकर अन्य दूसरे पदार्थमें उपयोग लगता नहीं है। त्रिलोक त्रिकाल-वर्ती पदार्थ सर्वदा उनके ज्ञानमें झलकते रहते हैं। ऐसी दशामें कहांसे हट कर उपयोग कहां दूसरे विषयमें लगे ? विद्यमान स्थानोंपर सर्वत्र व्याप रहा आकाश यदि जावे भी तो कहांसे खिसक कर कहां जावे ! इसी प्रकार एक विषयको छोडकर दूसरे विषयको पकडनेवाला मुख्य उपयोग केवल-**क्रानियोंमें नहीं माना गया है।** अतः मुक्तजीयोंके उपयोगकी गौणता दिखलानेके लिये व्यवच्छेदक च शद्ध सूत्रमें डालना आवश्यक है, यों कह चुकनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उस अकलंकदेवके रहस्यको हम नहीं समझ रहे हैं। उन मुक्तजीवोंके नित्य ही उपयोगकी सिद्धि हो रही है। पुनः पुनः न्यारी जातिक उपयोगोंका निकटवर्ती संहार या प्रादुर्भाव नहीं होता है। एकसा सदा चमक रहा केवलज्ञान वर्त्त रहा है। उसमें लोकप्रसिद्ध हो रहे उपयोगके व्यवहारका अभाव है। अतः इन मुक्त जीवोंमें तो उपयोग अप्रधानभूत बना बनाया है। इसके छिये च शहकी आवश्यकता मही दीखती । व्यर्थ होकर भी च शब्द इस अप्रकृत अर्थका ज्ञापन नहीं कर सकता है । जैसे कि एक अर्थमें अपनी चित्तवृत्तिका निरोध कर लेना ध्यान है। छग्नस्थ जीवोंमें यह ध्यान मुख्यरूपसे वट जाता है। इधर उधर अनेक स्थानोंपर चिन्ताको फैंकनेवाला जीव पुरुषार्थद्वारा कुछ देरतक मानसिक प्रवृत्तिको यहां इहांसे हटा कर वहीं एक पदार्थमें मनको ठहरा सकता है। किन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जीवन्मुक्तके ध्यान मानना उपचार मात्र है। तिस ही प्रकार उपयोगकी प्रवृत्ति भी मुक्तोंमें गीणस्थ मानी गयी है। इस विषयकी व्याख्यान द्वारा विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है। च शद्ध तो अपने कार वर्थोंमेंसे किसी एक अर्थका बोतक हो जाता है।

संसारिग्रहणमादौ कुत इति चेत् , संसारिणां बहुविकल्पत्वात्तत्पूर्वकत्वान्धुक्तेः । स्वर्य-वेद्यत्वाचेत्येके, उत्तरत्र प्रथमं संसारिप्रपंचप्रतिपादनार्थे चेत्यन्य ।

यहां किसीकी शंका है कि बताओ, सूत्रमें संसारी जीवोंका प्रहण आदिमें किस कारणसे किया गया है ! इन्द्र समास न होते हुये भी न्यारे न्यारे परोंका उच्चारण करो तो भी पूज्यंजीव माने गये मुक्तोंका पहिले निर्देश करना उचित था। यों कहनेपर तो कोई एक आचार्य यह समाधान करते है कि संसारी जीवोंके वहुत भेद प्रभेद हैं तथा मोक्षको संसारपूर्वकपना है। पहिले संसार है पीछे मोक्ष होती है। अतः वाज्यकी प्रवृत्ति अनुसार वाचक शद्ध कहने चाहिये। तीसरी बात यह है कि प्रन्थकार श्री उमास्त्रामी महाराज स्वयं संसारी जीव हैं, जिसका दिन रात सम्वेदन होता रहता है, उसकी विना बुलाये शीघ उपस्थिति हो जाती है। संसारीपनका उनको स्वयं सम्वेदन होता रहता है। संसारी जीव ही प्रन्थोंके निर्माता, श्रोता, प्रचारक, हैं। अतः एक अपेक्षा यहां संसारियोंकी मान्यता है। इतकृत्य हो चुके मुक्तजीय अपनी स्वात्मिक्षिद्रमे पगे हुये है, वे यहां अल्यन्त परोक्ष होनेसे गीण विविद्यत किये गये है। दूसरे अन्य आचार्य उक्त शंकाका समाधान यों करते हैं कि उत्तरवर्ती प्रन्थमें सबसे प्रथम संसारी जीवोंके भेद, प्रभेद, जन्म, शरीर, आदिक प्रपंचका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रमें पहिले संसारी शद्धका प्रहण है। श्री विद्यानन्द स्वामीको एक आचार्य और दूसरे अन्य आचार्य दोनोंका मन्तव्य अभीष्ट हो रहा दीखता है।

यद्येवं किं विशिष्टाः संसारिण इत्याह सुत्रं।

किसीका प्रश्न है कि यदि इस प्रकार बहुत विकल्पवाले संसारी जीव हैं तो बताओ, वे संसारी जीव किन किन विशेषणोंसे चिरे हुये हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कर रहे हैं |

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

उन संसारी जीवोंमें कुछ जीव तो मनसे सहित हो रहे समनस्क हैं और शेप एकेन्द्रियसे छेकर असै-ब्रिपंचन्द्रिय पर्यन्त गिनाये जा रहे संसारी जीव अमनस्क हैं, यों संसारी जीवोंकी दो वही मण्डियां हैं। मनसो द्रव्यभावभेदस्य सिवधाणात्सक्षमस्ताः तदसंनिधानादमनस्ताः । समनस्ताश्रा-मनस्ताश्र समनस्तामनस्ता इति समनस्ताद्रणमादौ युक्तमभ्यिहतत्वात् । संसारिधक्तमकर-णात् यथासंख्यप्रसंग इति चेत् तथेष्टं संसारिणामेव समनस्तत्वान्धक्तानाममनस्तत्व।दित्येके । तद्युक्तं । सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसंगात् ।

आठ पत्रबाछे कमलके समान ब्रव्यमन तो संज्ञी जीवके हृदयस्थलमें होता है। पांच पौद्रलिक इन्द्रियोंके समान बह मन भी अतीन्द्रिय है, जो कि अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर मनोवर्गणासे नियन होता है। तथा वीर्यान्तराय कर्म और नोइन्द्रियावरण नामक मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोप-रामकी अपेक्षा रखनेवाली जीवकी विशुद्धि तो भावमन है। इन द्रव्य, भाव, दो भेदोंको धार रहे मनकी सिनकटतासे जीव समनस्क माने जाते हैं और उन दोनों मनोंके सिन्धान नहीं होनेसे अनेक जीव अमनस्क कहे जाते हैं। समनस्क जीव अमनस्क जीव यों इतरेतर इंन्द्र करनेपर '' समनस्का-मनस्का '' ऐसा वाक्य बन जाता है। सूत्रकारद्वारा समनस्क जीवोंका सूत्रके आदिमें प्रहण करन पूज्य होनेसे समुचित ही है। यहां कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र अनुसार संसारी और मुक्त जीवोंका प्रकरण होनेसे इस सूत्रमे यथाक्रम दो संज्याके अनुसार संसारी समनस्क होते हैं और मुक्त अमनस्क हैं ऐसे अर्थ करनेका प्रसंण हो जायगा। यों प्रसंग उठानेपर कोई एक पण्डित उत्तर देनेके लिये बांचमें अनिधितर कूद बैठते है कि तिस प्रकार अर्थ करना इष्ट है। बयोंकि संसारी जीवोंको ही मनसहितपना है और मुक्तोंको अमनस्कपना है। पूर्वसूत्रका इस सूत्रके साथ यथासंख्य अन्वय करनेमें कोई क्षति नहीं दीखती है। अब श्री विद्यानन्द स्वामी कहते है कि उन एक पण्डितजीका कहना युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि यों तो सम्पूर्ण एकेन्द्रिय, द्विहन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, और असंबि-पंचेन्द्रय इन संसारीजीवोंको भी मनसहितपना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

कुतस्ति यथासंख्या असंगः, पृथन्योगकरणात् । यथासंख्यं तदिभसंबंधेष्टौ संसारिणो सुक्ताश्च समनस्कामनस्का इत्येकयोगः क्रियेत उपरि संसारिवचनमत्यासत्तेश्च । संसारिणस्त्रस-स्थावरा इत्यत्र हि संसारिण इति वचनं समनस्कामनस्का इत्यत्र संबध्यते त्रसस्थावरा इत्यत्र च मध्यस्थत्वात् ततो न यथासंख्यसंभत्ययः।

किसीका प्रश्न है कि यो है तब तो बताओं कि यहां यथासंख्यका प्रसंग कैसे नहीं हुआ ? कोस मनमाना सिद्धान्त इष्ट कर टेमेंसे किसी न्यायप्राप्त प्रसंगका निवारण नहीं हो सकता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि पृथक् पृथक् योग करनेसे यानी न्यारा सूत्र बनानेसे वह प्रसंग नहीं हो पाता है। इस सूत्रमें संसारी जीवका ही सम्बन्ध हो रहा है। यदि सूत्रकारको आक्षेपकारके विचार अनुसाह यथाएं इ्य स्क्रमें, उन पूर्व सूत्रोक्त उदेश्योक। और इस सूत्रमें कहे गये विधेयोंका सम्बन्ध अभीष्ट

होता तो " संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्का " इस प्रकार दोनों सूत्र मिलकर एकयोग कर दिया जाता। यों कर देनेपर बडी सरलतासे आक्षेपकारको अभिप्रत हो रहे संसारी जीव समनस्क हैं और मुक्त जीव अमनस्क हैं, इस अर्थकी प्राप्ति हो सकती थी। इस सूत्रमें संसारी जीवोंका ही सम्बन्ध है, इसके लिये दूसरी बात यह है कि अगले वक्ष्यमाण ऊपरके सूत्रमें संसारी शहकी निकटता हो रही है। भविष्यके " संमारिणम्त्रसस्थावरा, " ऐसे इस सूत्रमें नियमसे संसारिणः ऐसा शह प्रयोग हो रहा है। वही " संसारिणः " यह शह " समनस्कामनस्काः " इत्याकारक इस सूत्रमें और त्रसस्थावरा इस उत्तरवर्षी सूत्रमें मध्यस्थ होनेके कारण सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। " देहली दिपक " न्यायसे " संसारिणः " शहका दोनों ओर अन्वय है। तिस कारणसे यथासंख्यका भले प्रकार प्रसंग या ब्रान हो जाना नहीं बन पाता है।

अथवा संसारिणो मुक्ताश्चेत्यत्र संसारिण इति वचनमनेन संबध्यते न मुक्ता इति तेषां प्रधानिश्चष्टत्वान्मुक्तानामप्रधानिश्चष्टत्वात् । तथा सित समनस्कामनस्काः त्रसस्थावरा इति यथासंख्याप्रयोगः, सर्वत्रसानां समनस्कत्वासिद्धेः मध्यस्थसंसारिग्रहणामिसंबंधेपि बा पृथग्योगकरणास्त्र त्रसस्थावरयथासंख्याभिसंबंधः स्यात् अन्यथैकमेव योगं कुर्वीत, तथा च द्विःसंसारिग्रहणं न स्यात् । ततः संसारिण एव केचित्समनस्काः केचिद्मनस्का इति सुत्रार्थो व्यवतिष्ठते ।

अथवा एक बात यह भी है कि " संसारिणो मुक्ताश्च " इस पूर्ववर्त्ती सूत्रमेंसे " संसारिणः " ये वचन ही इस समनस्कामनस्काः इम सूत्रके साथ सम्बन्धित हो जाता है । " मुक्ता " इस राइका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि " प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः " प्रधान और अप्रधानका अवसर आनेपर प्रधान अर्थमें ही सुलभतासे ज्ञान उपज बैठता है । इस प्रकरणमें प्रधान हो रहे उन संसारी जीवोंको प्रधान कपसे शिष्टपना है तथा मुक्तोंको अप्रधान रूपसे परिशेष न्याय द्वारा शिष्टपना है अर्थात्—विधेयप्रतिपादक उत्तरवर्ती न्यारे सूत्रमें पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योंका उद्देश्योंका उद्देश्योंका शिर धानको भरनेके लिये " अवशेष न्याय " करके ही सम्पेलन हो सकता था। अतः प्रधानरूपसे अवशिष्ट हो रहे उद्देश्यका ही अन्वय इस सूत्रमें माना जायगा। तैसा होनेपर " समनस्कामनस्काः" इस सूत्रका उत्तरवर्ती " त्रसंधावराः " इस सूत्रके साथ भी यथासंख्यसे प्रयोग नहीं हो सकता है। यानी त्रस समनस्क हैं और स्थावर जीव मनोरहित हैं, ऐसा यथासंख्य भी सिद्धान्तसे बाधित है। सम्पूर्ण द्वीन्त्रिय, जीदिय, आदि त्रसोंको समनस्कपना असिद्ध है केवल संज्ञी पंचीन्त्रिय त्रस ही मनसे सहित हैं। इच्छाके वशसे सम्बन्ध हुआ करता है। इस सूत्रमें उत्तरसूत्रके संसारी पदका ही सम्बन्ध करना, त्रस स्थावरका नहीं। मध्यमे स्थित हो रहे संसारी शब्दके प्रहणका ठीक सम्बन्ध होनेपर भी पृथक्सूत्र योगके करसेसे त्रस और स्थावरके साथ इस सूत्रका यथासंख्यरूपकरके पूरा सम्बन्ध महीं हो सकेगा

अन्यथा यानी सूत्रकारको त्रसस्थावर प्रहणके साथ मी यदि इस सूत्रका सम्बन्ध अभीष्ट होता तो वे दोनों सूत्रोंको मिलाकर एक योग कर देते। और तैसा " समनस्कामनस्काः संसारिणखस-स्थावराः " यों एक योग कर देनेपर दो बार संसारिका प्रहण नहीं करना पडता। लाघव हो जाता। किन्तु ऐसा एकयोग नहीं किया है। अतः सिद्ध है कि पहिले कहे जाचुके संसारी मुक्त प्रहणका और मिविष्यके त्रसस्थावर प्रहणका इस मूत्रके साथ सम्बन्य नहीं जुडता है। तिस कारणसे सिद्ध है कि संसारी ही कोई कोई समनस्क हैं और बहुमाग कितने ही संसारी जीव अमनस्क हैं, इस प्रकार सूत्रका अर्थ व्यवस्थित हो जाता है।

कुतस्ते तथा मता इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि किस कारणसे वे संसारी जीव तिस प्रकार मनसहित अथवा मनरहित दो प्रकारके माने गये है ? अच्छा होता कि वैशेषिक मत अनुसार सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि प्रत्येक जीवोंमें एक एक मन मान लिया जाता अथवा चार्वाक मत अनुसार किसी भी जीवके एक अतीन्द्रिय मनकी कल्पना न की जाय । जैनोंने भी तो मुक्त जीवोंके मन नहीं माना है । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

समनस्कामनस्कास्ते मताः संसारिणो द्विधा । तद्वेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरिष्टविशेषतः ॥ १ ॥

वे संसारी जीव कुछ मन इन्द्रियसे सिहत हैं और शेष मन इन्द्रियसे रिहत हैं, यों दो प्रकार माने गये हैं। क्योंकि इस विचारशाली मनके द्वारा बनाये गये विशेष ज्ञानक्रप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। या मनसे रिहत दशामें होनेवाले विलक्षण ज्ञान यानी अविचारक बुद्धि रूप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। तथा विशेष रूपसे इष्ट हो रहे आगमप्रमाणसे भी मनसे सिहत और मनोरिहत दो प्रकारके संसारी जीवोंकी व्यवस्था बन रही है।

समनस्काः केचित्संसारिणः शिक्षाक्रियालापग्रहणसंवेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरन्यथातु-पपचेः, केचित्पुनरमनस्काः शिक्षाचग्राहिवेदनकार्यस्य सिद्धेरन्यथानुपपचेः। इत्येतावता द्विविधाः संसारिणः सिद्धाः।

कोई तोता, मैना, घोडा, हाथी, मनुष्य, स्त्री, देव, देवी, आदिक संसारी जीव (पक्ष) नो इन्द्रिय मनसे सिहित हैं (साध्य)। क्योंकि शिक्षापूर्वक क्रिया करना, आळाप करना, कथन अनुसार समझकर उठाना, धरना, इत्यादिक ज्ञानस्वरूप कार्यकी सिद्धि होना अन्यथा यानी मनको माने विना बन नहीं सकता है। अर्थात्—वोडा, हाथी, बैळ, कुत्ता, विद्यार्थी, कन्या, ये जीव कहे हुये को सीख केते हैं। इनका कोई विदेश नाम धर देनेपर तदनुसार आ जाते हैं, चळे जाते हैं, उठाते,

धरते हैं, उपदेश सुनते हैं, इस प्रकार विचारपूर्वक झान और उसके अन्य भी कार्य अन्तरंग मन इन्द्रियको माने विना अन्य प्रकारोंसे नहीं हो पाते हैं। अतः अतीन्द्रिय मनकी उसके कार्य द्वारा सिद्धि कर दी जाती है। तथा हुक्ष, चींटी, मक्खी, आदि कितने ही जीव (पश्च) फिर अमनस्क हैं (साध्य) शिक्षा आदिको नहीं प्रहण करनेवाले साधारण ज्ञान होना स्वरूप कार्यकी सिद्धि अन्यथा यानी अमनस्क हुये विना दूसरे ढंगों करके नहीं वन सकती है। मक्खी या चींटीको कोई शिक्षा दी जाय उसको वह नहीं समझ पाती है। कल्पित नाम रखनेपर तदनुसार आती जाती नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वर्र आदि जीवोंके विचारकपन नहीं है। इस प्रकार इतनेसे इन दो हेतुओं करके दो प्रकारके संसारी जीव सिद्ध हो जाते हैं।

इष्टविशेषतेश्व । इंदेष्टं हि पवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवपवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवपकाशि वाक्यं, संति संक्षिते। जीवाः संत्यसंक्षित इति । ततश्च ते व्यवतिष्ठंते सर्पया वाश्वकाभावात् ।

तथा इष्टिक्शिपसे भी दो प्रकारके जीवोंकी सिद्धे हो जाती है। यहां प्रकरणमें इष्टपदसे प्रकृष्ट वचन यानी आगम लिया जाता है। सर्वज्ञ भी आम्नायसे चले आ रहे उस आगमका विशेष हो रहा समनस्क और अमनस्क जीवोंको कहनेबाळा शास्त्र है । उस शास्त्रका भी विशेष ही रहा समनस्क और उससे न्यारे अमनस्क जीवोंको प्रकाश रहा एक वाक्य है । जो कि इस प्रकार है कि संसारमें संबी जीव हैं और असंज्ञी जीव भी हैं। जयववला सिद्धांत आदि प्राचीन प्रन्थोंमें अनेक वाक्य हैं। गोम्मटसारमें भी लिखा है '' सिक्खा िर्युवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण, जो जीवो सो सण्णी तिब्ब-वरीओ असण्णी दू ॥ १ ॥ '' मीमंसदि जो पुत्र्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च । सिक्खदि णामेणेदिय समणो अमणो य विवरीदो ॥ २ ॥ इन्यसंप्रहमें कहा गया है कि समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सन्त्रे "। अतः तिस आगम रमाणसे भी वे संबी. असंबी जीव न्यवस्थित हो रहे हैं। सभी प्रकारोंसे कोई वाधक प्रमाण नहीं हैं। जगत्में अनन्तानन्त पदार्थ हैं। तिनमें बहुभाग हम छोगोंके स्थूछ ब्रानसे छिपे पडे हुये हैं। उन भी सिद्धिका सरल उपाय बाधक प्रमाणोंका असम्भव ही श्रैक पहता है। किसको इतना अवकाश या मुक्स योग्यता प्राप्त है जो कि सबको बिशेष विशेष रूपसे देखता फिरे ! संजी, असंजी, जीवोंकी सिद्धिका बाधक कोई प्रमाण नहीं है। " असम्भवद्वाधकप्रमाणत्व " हेत्से चाहे किसी भी पदार्थकी सिद्धि हो जाती है। धनिकों के रुपयोंको सभी मनुष्य नहीं गिम पाते हैं। फिर भी उनको सेठजी कहते हैं। ठोस विद्वानकी गम्भीर पन्डिताईको कौन टटोळता फिरता है. तप-स्विओंकी साधनाओंको कौन परखै, कुछ, जातिका सूक्ष्म गत्रपेण कौन कर पाता है, केवछ बाधाओंक असद्भावसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

अत्र त्रसा एव संसारिणः समनस्कायनस्का इति केषांचिदाकृतं, तद्पसारणाचाइ ।

यहां किन्हीं विद्वानोंकी ऐसी चेष्टा हो रही है, कि त्रस जीव ही संसारी जीव हैं, संसारवर्ती त्रसोंके ही समानस्क और अमनस्क ये दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, इन शरीरोंको आरनेबाला कोई जीव संसारमें नहीं है। इस कुचेष्टाका निराकरण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज स्पष्टरूपके अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

संसारी जीव दूसरे ढंगसे ऋस और स्थावर इन दो बड़े भेदोंको धार रहे हैं । अर्थात्— सममस्क और अमनस्क इन दो मेदोंमें सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं, उसी प्रकार ऋस और स्थावर दो भेदोंमें मी संसारी जीव अन्तःप्रविष्ट हो जाते हैं। छोक या शास्त्रमें जिस प्रकार संसारी जीवोंके भेद प्रसिद्ध हैं उस ढंगसे यहां भेदच्यवस्था कर दी गयी है।

त्रसनामकर्मीद्यापादितवृत्तयस्ताः प्रत्येतन्याः न पुनस्तस्यंतीति त्रसाः पवनादीनां त्रसत्वप्रसंगात् गर्भादिष्वत्रसत्वानुषंगाच, स्यावरनामकर्मोद्योपजनितविशेषाः स्थावराः । स्थानशिलाः स्थावरा इति चेन्न, वाय्वादीनामस्यावरत्वप्रसंगात् । इष्टमेवेति चेन्न, समयार्थानववोधात् । न हि वाय्वादयस्ता इति समयार्थः ।

कितने ही मोटी बुंद्रिवाले चलने फिरनेवाले जीवोंको त्रस और एक स्थानपर ठहरनेवाले जीवोंको स्थावर कह देते है किन्तु यह मन्तन्य सिद्धान्ताविरुद्ध है। जिन जीवोंकी आत्मसम्बन्धी या सिरास्त्वन्धी प्रशृतियां त्रस नामक नामकर्मके उदयसे सम्पादित की गयी हैं, वे जीव त्रस समझ लेमे चाहिये। फिर जो उद्देगको प्राप्त होते रहते हैं भागते दौडते हैं इस निरुक्ति द्वारा प्राप्त हुये अर्थ करके त्रस नहीं विश्वस्त कर लेने चाहिये। यों यौगिक अर्थका आदर किया जायगा तो चलते, फिरते, पवनको या बहते हुये जल अथवा रेलगाडी, मोटर कार, आदि पदार्थोंको भी त्रसपनेका प्रसंग होगा। यह अतिन्याति या आपत्ति हुई और साथसे अन्याति या अनुपपत्ति भी है कि गर्भ अवस्था, मूर्चित अवस्था, अण्डदशा आदिमें त्रस जीवोंको भी त्रसरहितपनेका प्रसंग हो जायगा। त्रसकर्मका उदय होनेपर मनुष्य या तिर्थवकी आत्मामें रक्त, मांस, हुई।, चर्म, मज्जा आदि धातुओंको उदयक्त करनेके लिये व्यक्त, अन्यक्त, पुरुषार्थ हो जाते हैं। देव नारकियोंके धातुरहित वैक्षियिक शरीरके सम्पादक प्रयत्न हो 'जाते हैं। किन्तु स्थावर जीवोमें तादश पुरुषार्थ नहीं हो पाते हैं। स्थावरोंका शरीर रक्त, मांस, हुई।मय नहीं है। तथा नाम कर्मकी विशेष हो रही जीवमें स्थावर अनुमव देनेवाली स्थावर प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुये विशेष जीव ना स्थावर कहे जाते हैं। किन्तु तिश्वत्व इति स्थावराः इस प्रसार शब्दकी निरुक्ति कर उद्दर्श कराव देनवाले स्थावर इस प्रसार शब्दकी निरुक्ति कर उद्दर्श स्थावर हो हो। क्षावर कहे जाते हैं। क्षावर इस प्रसार शब्दकी निरुक्ति कर उद्दर्श स्थावर है वहनेवाले जीव स्थावर ही है। क्षावर अध्वतिक इति स्थावराः इस प्रसार शब्दकी निरुक्ति कर उद्दर्श तिरहा बहनेवाले

बायु जीव, नीचे प्रदेशकी ओर हुलक जानेवाले जल जीव, ज्वालारूप अग्नि अवस्थामें उर्ज्व ज्वलन करनेवाले अग्निकायिक इत्यादि जीवोंको स्थावर रहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। यदि कोई स्थूल बुदिबाला प्रामीण पंडित यों कह देवे कि इस प्रकार तो हमको इष्ट ही है। अर्थात्—वायु जलके जीव
मले ही स्थावर न होकर त्रस हो जाओ, पृथिवी कायिक वनस्पति कायिक जीव स्थावर वने रहेंगे।
मेताम्बर भी तेज और वायुको त्रस मान बैठे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि
आम्नायसे चले अत्रहे सर्वज्ञप्रतिपादित शाखोंके अर्थको तुम नहीं समझते हो। व्याकरणके चक्रमें
पडकर व्याव, कुशल, सम्यग्दर्शन आदि शहोंके समान स्थावर शब्दकी भी निरुक्ति कर देनेसे ही
पारिभाषिक अर्थ प्राप्त नहीं हो जाता है। वायु, जल, आदिके जीव त्रस हैं, ऐसा ऋषिप्रोक्त
शाखोंका अर्थ नहीं है। दिइन्दिय जीवोंसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतक के जीव त्रस माने गये हैं। अतः
त्रस और स्थावर कर्मके उदयसे ही त्रस स्थावर जीवोंको लक्षण युक्त करना ठीक पडेगा, चलने और
नहीं चलनेकी अपेक्षा त्रसस्थावरपना नहीं है। योगिक अर्थसे कृदि अर्थ और ततोपि पारिभाषिक
अर्थ बलवान् होता है।

त्रसाथ स्थावराथ त्रसस्थावराः । त्रसग्रहणमादावल्याक्षरत्वादभ्यहिंतत्वाच । संसारिण एव त्रसस्थावरा इत्यवधारणान्ध्रक्तानां तद्भावन्युदासः, त्रसस्थावरा एव संसारिण इत्यव-धारणाद्विकल्यांतरनिश्वत्तिः ।

त्रस और स्थावर अथवा स्थावर और त्रस भी चाहे कैसा भी विपह करो, दोनों पदोंका समास हो जानेपर " त्रसस्थावराः " पद बन जायगा। अन्य अक्षर होने के कारण और पूज्यपना होने से शब्दशक्तिहारा त्रसका प्रहण आदिमें आजाता है। संसारी इम उद्देश दलके साथ अन्ययोग व्यवच्छे-दक एवकार लगा देने से संसारी जीव ही त्रस और स्थावर दो भेदवाले हैं। अतः पूर्वोक्त दूसरे मुक्त जीवोंके त्रसपन और स्थावरपनका व्यवच्छेद हो जाता है तथा संसारी जीव तो त्रस स्थावर ही है। इस प्रकार विधेय दलमें अयोग व्यवच्छेदक एवकार हारा अवधारण कर देने से अन्य विकल्पों यानी भेदोंकी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात्—सभी संसारी जीव त्रस और स्थावर दो भेदों है। गर्भित हो जाते हैं। अन्य विकल्पों की आकांक्षा नहीं रहती है।

कुत पुनरेवं प्रकाराः संसारिणो व्यवतिष्ठंत इत्याह ।

किसी शिष्यकी जिज्ञासा है कि यों त्रस और स्थावर यों दो प्रकारोंको धार रहे संसारी जीव मला किस प्रमाणसे व्यवस्थित हो रहे हैं ? बताओ, ऐसी विनीत प्रतिपाद्यकी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

> त्रसास्ते स्थावराश्चापि तदन्यतरनिन्हवे । जीवतत्त्वशभेदानां ज्यवस्थानाप्रसिद्धितः॥ १ ॥

बे संसारी जीव त्रस हैं और स्थावर भी हैं। यदि उन दोनोंमेंसे किसी भी एकका अविश्वास या अपलाप किया जायगा तब वो जीवतत्त्वके प्रमेदोंकी व्यवस्था करना अप्रसिद्ध हो जायगा । भावार्थ-जीवतन्त्र आकाशतन्त्रके समान अकेला नहीं है। किन्तु उसके मंग्रिरी और मक्त दो भेद हैं। संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर एवं त्रसेंकि भी द्विइन्द्रिद, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा स्थावरोंके पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि प्रभेद हैं। इन प्रभेदोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो रही है। हिताहित पूर्वक किया, जन्म, मरण, स्मरण, परुषार्थ, आदिक कार्यीको कर रहे त्रस जीव न्यारे न्यारे अनेक प्रसिद्ध ही हैं। तथा प्रथिवी या बृक्ष आदि वनस्पतियोंमें भी यक्तियोंसे जीवसिन्धि कर जाती है। कोई कोई वैज्ञानिक वृक्षोंमें स्पर्शन, रसन, ब्राण, चक्ष, श्रोत्, इन पांची इन्द्रियोको सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। किन्त उनका यह प्रयत्न व्यर्थ पड़ेगा । भले हा वनस्पति जीत्रोंमें चक्षः, कर्ण, आदि इन्द्रियों द्वारा होनेवाले कार्यसारिव परिणाम पाये जांय । चींटियां, मक्त्वी, आदि छोटे छोटे कीट पतंग भी मेघ बरसनेके पहिले बिलोंमें या घरोंमें घुसकर अपनी रक्षाका उपाय कर लेते हैं, सहर, काक, कितनी ही देर पहिलेसे आंधी आनेका अर्व्यर्थ, अचक, ज्ञान कर छेते हैं। एतावता वे कीट पनंग या पशपक्षी बिचारे ज्योतिषशाल या निभित्तशास्त्रोंके ज्ञाता नहीं कहे जा सकते हैं। बात यह है कि जगत्के पदार्थीमे प्रतिक्षण अनेक परिणाम होते रहते हैं। बृष्टिके पाईले वायु या पृथिशीमें ऐसी परिणितियां हो जाती हैं जिनको कि अपनी प्राप्त एक या दो तीन इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर वे जीव अहित मार्गसे अपनी रक्षा कर छेते हैं । बृक्षकी जड गीछे स्थल या पानी अथवा गढे हुये धन की ओर अधिक जाती है। इतनेसे ही वह आंखवाला नहीं कहा जा सकता है। छुई मुई नामक बनस्पतिको छ छेनेसे कुछ देखे छिथे मुस्झा जाती है, एतावता उसको लज्जाशील कुलीन बीके समान मनइन्दियवाली नहीं कह सकते हैं। जीव पदार्थ तो क्यां, जड पदार्थ भी निमि-त्तोंके मिल जानेपर नाना परिणितयोंको धार लेते हैं। जो कि चेतन जीवोंको भी विभयकारक हो रही है। वृक्षमें मही, खात या जलसे बन गया रस यहां वहां वृक्षसम्बन्धी आत्माके अव्यक्त अस्व-संभेच पुरुषार्थद्वारा फल, पत्ते, शाखार्थ, छाल आदिके उपयोगी होकर भेजा जा रहा है। किन्त बहा आंखे नहीं हैं। चक्कष्मान् मनुष्य या पशुओंके पेटमैंसे भी अन्य शरीरके अवयवोंकी पृष्टिके लिये रस रुधिर, आदि रवाने किये जाते है, किन्तु वहां पेटके भीतर चक्षका व्यापार नहीं है। वैज्ञानिकांके घरमें रक्खे हुये यंत्र भी वृष्टि, भूकम्प, प्रहगतिको बता देते हैं, किन्तु वे जड पदार्थ अष्टाङ्ग निमि-त्तके ज्ञाता विद्वान् नहीं हैं । घडी, धर्मामेटर, आदि विशेष यंत्रो करके समयका परिज्ञान या उष्णता (गर्मी) शीतता (सर्दी) का ज्ञान हो जाता है। तराजू या कांटा अथवा फुटा जितना ठीक पदार्थको तील देते हैं, बडा भारी नैयायिक या सिद्धान्तशास्त्री भी उतनी ठीक ठीक तील या नापको नहीं बता सकता है। छोटे बच्चेके अण्डकोषोंकी सिकुडन या ढींछेपनसे ठंड और उष्णताकी परीक्षा हो जाती है। हाथीकी ठीक तौल कर ली जाती है। नदीमें वहा देनेसे ठीक गोल डण्डेके

काठका ऊपरला, नीचला भाग जान लिया जाता है। बात यह है कि जगत्वर्ती सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण आश्चर्यकारक परिणितयोंका सम्पादन कर रहे हैं। न जाने किस परिणितसे अचित्रय निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धद्वारा कहां जड या चेतनद्वारा कैसा कैसा भाव उपज बैठे हैं । यह पक्का सिद्धान्त है कि कारणके विना कार्य नहीं होता है। साइन्स, न्याय, और गणित इसी राद्धान्तपर अवलम्बित हैं। जिनशासनमें कार्यकारणभावकी पोल नहीं चलती है। अतः उन ज्ञान हो जानेरूप कार्योमें मात्र तस्त्रोंके परिणाम कारण हैं, इन्द्रियां नहीं । माताके उदरमें बचा बन जाता है, इतने ही से उस पेटको विश्वकर्मा नहीं कह दिया जाता है। इसी प्रकार वृक्षोंमें अन्तरंग, विहरंग, कारणी द्वारा हुये परिणामोंके कार्योंको चक्षः, रसना, कान, इन इन्द्रियोंका कर्त्तव्य नहीं गढ-लेना चाहिये । पांच स्थावर काय जीनोंके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय है, अधिक नहीं । गि**डार आ**दि त्रसोंमें दो आदिक इन्द्रियां हैं। गिडारे, दीमकें अपने रहनेके स्थानोंको बनां लेती है। चींटियां योग्य ऋतुओंमें धान्योंका संप्रह कर लेतीं है। संचित धान्य विगडे नहीं इसलिये वे धान्यको बाहर निकाल-कर उचित बाम, वाय, चिद्धिता, लगा देती है। पुनः भीतर धर देती है। बरें, भोंरी, मध्र, मक्खी, ये अपने छतोंको बनाती हैं। बचोंके शरीरके उपयोगी पुद्गल पिण्ड या झींगुर, लटों को लाकर स्वकीय जातिके प्राणियोंको बनालेती हैं। भिन्न भिन्न ऋतओमें एक स्थानको छोड कर अन्य उपयोगी स्थानपर पहुंच जाती हैं। पनः उसी स्थानपर आजाती है। मकडी चालाकीसे जीवोंको फसानेके िलये जाला पूरती है। एक प्रकारका छोटासा कीट रेतमें चारों ओरसे छुडकाऊ गोल गड्डा बनाकर उसमें छिपा रहता है और रपटकर खड़ेमें गिर पड़े, चीटिया, गुबरीले, आदिको मक्षण कर बनकी झाडियोंमें या किन्ही किन्ही जार, बाजरा या मेंदीके बूक्षोपर एक मायाचारी, भयालु विशेष अपने चारों ओर गाढ़े चेंपवाले फस्कुरुको फैलाकर मध्यमें बैठ जाता है। और यहां वहांसे आकर फसकरमें चपटकर फंसगये कीट पतंगीको खाजाता है। कोई बृक्ष भी कीट, पतंग, या पक्षियोंको पक्रडकर फसा छेते हैं। ये सब कार्य विचारनेवाछे मनके द्वारा होनेवाछे कार्यसारिखे दिखते है। किन्तु उक्त कीट पतंगीके मन नहीं माना गया है। बात यह है कि ज्ञान भी बहुत बड़े बड़े कार्योंको साधता है। कीट पतंगोंके ज्ञान, इच्छा, राग, देष, कषायें विश्वमान है। उनके द्वारा उक्त कार्य क्या इनसे भी अत्यधिक विरमयकारक कार्य हो सकते हैं। जैन न्यायशास्त्रमें " हिताहितप्राप्तिपरिहार-समर्थे हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" इस सूत्र अनुसार हितकी प्राप्ति कर छेना और अहितका परिहार करते रहना ज्ञानका ही कार्य बताया गया है। जड कर्म भी बहुत कार्य कर देते हैं। शरीरमें प्रविष्ट होकर औषि वहां ऊथम मचा देती है । आम्र रम रेचक है। दूध भी रेचक है। किन्तु आम खाकर दूध पीछिया जाय तो मल थंव जाता है। खरवजा रेचन करता है, सरवत भी मलको पतला कर देता है। हां, खरबूजा खाकर बरेका सरवत पीछेनेसे पाचन हो जाता है। आत्माकी अनेक कियाओंमें जड र्रामका भी हाथ है। यहां प्रकरणमें इतना ही कहना है कि अनेक प्रकारके अस और स्थावर जीवोंकी व्यवस्था प्रसिद्ध हो रही है।

स्थावराः एव सर्वे जीवाः परममहत्त्वेन निष्कियाणां चलनासंभवात्त्रसत्वानुपपत्तिरिति त्रसनिन्हवस्तावन युक्तः, स्वयमिष्टानां जीवतत्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिप्रसंगात् सर्वगतात्म-न्यक्त्रेव नानात्मकार्थपरिसमाप्तिः । सकुन्नानात्मनः संयोगो हि नानात्मकार्थे तन्त्रकत्र्यापि प्रयुज्यते नभसि नानाघटादिसंयोगवत् । एतेन युगपन्नानाशरीरोद्दियसंयोगः प्रतिपादितः ।

यैरोषिक या फिसी अन्य विद्वानका कुस्तित पश्च है कि जगतके सम्पूर्ण जीव स्थावर ही हैं। क्योंकि परम महा परिणाम होनेके कारण क्रियारहित हो रहे न्यापक जीवोंका देश देशान्तरमें चलाय मान होना असम्भव है। जो जीव यहां, वहां, नहीं चल सकता है, उसको त्रसपना नहीं बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार त्रसजीवोंका अपलाप (निषेध) कर देना ते। युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यों तो स्वयं उनको अभीष्ट हो रहे जीवतत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं पडेगा। अर्थात् —आत्माको व्यापक मान छेनेपर फिर अनेक जीवोंके मान-नेकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। सर्वस्थानोंपर प्राप्त होकर व्यात हो रहे एक ही आत्मामें अनेक आत्माके कार्योकी परिपूर्ण रूपसे समाप्ति हो जायगी । अतः अनेक आत्माओंकी कल्पना करना व्यर्थ पड़ेगा । देखिय एक ही वारमें अनेक आत्माओंका संयोग हो जाना ही तो अनेक आत्माओंका कार्य माना गया है। किंतु वह कार्य तो एक व्यापक आत्मामें भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे कि एक न्यापक आकाशमें अनेक घट, पट, आदि पदार्थीका संयोग होना युक्तिघटित हो जाता है, इस उक्त कथन करके प्रन्थकारने यह भी समझा दिया है कि न्यापक एक आत्मामें युगपत अनेक शरीर और अनेक इन्द्रियोंका संयोग हो जाना भी बन जाता है, ताकि वैशेषिक यो न कह सके कि एक आत्माके माननेषर अनेक शरीर और नाना इन्द्रियोंका एक नाथ संयोग कैसे हो सकेगा है। सदक्ष प्रन्थकार स्थावरजीवोंका ही एकान्त माननेवाले पण्डितके सन्मख व्यापक एक आत्माका ही आपादन कर अभीष्ट अर्थको मनत्राना चाहते है । अन्य मतका खण्डन और अपने मतका स्थापन इसके कई मार्ग हैं। सभी स्थलोपर एक ही औषधि कार्यको नहीं साधती है।

युगपन्नानाशरीरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुःखादीनामनुपपत्तिविरोधात् इति चेत्, युग-पन्नानाभर्यादिष्वाकाशसमवायिनां विततादिशन्दानामनुपपत्तिमसंगात् तिद्दिरोधस्याविशेषात् । तथाविधशन्दकारणभेदान्न तदनुपपत्तिरिति चेत् सुखादिकारणभेदान्तदनुपपत्तिरप्येकत्रात्मिन माभूत् विशेषाभावात् । विरुद्धधर्माध्यासादात्मनो नानात्विमिति चेत्, तत एवाकाशनानात्व-मस्तु । मदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्यदोषः । जननमरणादिनियमोपि सर्व-गतात्मवादिनां नात्मबहुत्वं साधयेत्, एकत्रापि तदुपपत्तेष्ट्यकाशादिजननविनाशवत् । निद्धिष्यकाशस्योत्पत्ती पद्यद्याकाशस्योत्पत्तिरेव तदा विनाशस्यापि दर्शनात् । विनाशे वा न विनाश एक अवसस्यापि तदीपळंभात् स्थिती वा न स्थितिरेव विनाशीत्पादयोरिप तदा समीक्षणात् ।

यदि अनेक न्यापक आत्माओंको माननेवाले नैयायिक यों कहें कि एक ही न्यापक आत्माके माननेपर तो नाना शरीररूपी उपाधियोंमें आत्मस्य होकर समनाय सम्बन्धर्स ठहर रहे सख. द:ख. देष, प्रेम, श्वन, जागरण, आदिकी युगपत सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि विरोध है। अनेक आत्माओं भाननेपर तो किसीमें सुख है, अन्य जीवमें दु:ख है, तीसरा सोता है, चौथा जागता है, इत्यादि अनेक कार्य सब जाते हैं । किन्तु एक ही आत्मामें व्यापक मान छेनेपर भी एक साथ विरुद्ध कार्य नहीं हो सकते है, यो कहनेपर तो थोड़ी देखे छिये विनोदपूर्वक एक ही आत्माकी पृष्टि करने-वाले आचार्य कहते है कि तब ता अकेले आकाशमें भी एक ही साथ अनेक नगाड़े, ढोल, तुर्छ, आदि उपाधियोंमें अवळित्र हो रहे आकाशमे समवायको धारनेवाले वितत, धन, सुषिर, निषाद, आदि शब्दोंकी असिद्धि हो जाने (सिद्धि नहीं हो सकने) का प्रसंग होगा। उस विरोध और विरोधका कोई अन्तर नही है । अर्थात्-एक आकाशमें यदि भिन्न जातिके मन्द, तीक्ष्ण, कर्कश, मृद्, पंचम, मध्यम, आदि अनेक शब्दोको मान छोगे तो उसी प्रकार एक ही आत्मामें नाना शरीरोकी उपाधिके भेदसे सुख, दु:ख, आदि होना बन जाएगा। यदि भिन्न जातिके सुख, द:ख, आदिकी सिद्धिका विरोध मानो तो एक आकाशमे नाना, मृदंग, शतरंगी (सारंगी) आदि उपाधियो द्वारा वितन, घन, आदि शद्बोंकी सिद्धिका भी वैसा ही विरोध बन बैठेगा । यदि वैशेपिक या नैयायिक यीं कहीं कि तिस प्रकारके वितत आदि शर्द्धोंके कारण हो रहे वादित्र, बाजे, तार, चर्म, आदि पदार्थीं भेदसे हुये नाना राह्नोंको अनेला आकाश धार छेता है। अतः उन अने म शहों की आ मारामें असिद्धि नहीं है। यों कहनेपर आचार्य कहते हैं कि सुख. दःख. आदिके न्यारे न्यारे कारण बन रहे पदार्थीके भेदसे एक साथ एक आत्मामें भी सुख, दुःख, आदि हो जायेगे. उनकी भी आसिद्धि नहीं होने पाये । उपाधिभेदसे एक साथ अनेक समवेत गुणोंको धार लेनेकी अपेक्षा आकाश और आत्मामे कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यी कही कि कोई पण्डित है, अन्य प्रामीण मूर्व है, एक नागरिक प्रनिक है, चौथा अपव्ययी दिरद्र हो गया है, एक सराग है, दूसरा वीतराग है, कोई शृंगार रसका अनुरागी है, दूसरा शांतिरसमें निमम है, एक दाना है, दूमरा पात्र है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, इत्यादिक विरुद्ध धर्मीक आरूढ हो जानंसे जीव तत्व हो अने कपना साथ दिया जाता है। या कहनेपर तो आक्षेपकार हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारणसे आकाश द्रव्य भी नाना हो जाओ । आकाशमें भी अनेक विरुद्ध धर्मीका अध्यास हो रहा है। नहीं मन्द शद्ध है, कहीं तीत्र शद्ध है, किचित छोटा, बडा, शद्ध गूंज रहा है। यदि वैशेषिक यो छहे कि एक अखण्ड आकारा है भी उपचारत भिन्न भिन्न प्रदेश मान छिये जाते हैं। अतः आकाश के किसी प्रदेशमें ढोल का शद्ध है अन्य प्रदेशमें त्रतीका शद्ध है। तीसरे प्रदेशमें धन हैं । चौथे प्रदेशमें वितत है । यो वहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि तिस ही कारणाने आत्मारें भी कोई दोष नहीं आता है, अर्थात्—सर्वव्यापम एक ही अखण्ड आत्माके उपचारसे

प्रदेश भेदोंको मानकर कहीं सुख, अन्यत्र दुःख, कचित् मूर्यता, वहीं कहीं पण्डिताई इन धर्मीका सम्बन्ध बन जाता है। आत्माको सर्वगत कहनेवाले वादियोंके यहां जन्म लेना, मरना, बंध जाना, मुक्त हो जाना, आदि नियम भी आत्माके बहुतपनको नहीं साथ सकेंगे। क्योंकि एक भी आत्मामें उपाधिओंके भेदसे उन जन्म लेना, मरण करना, आदिकी सिद्धि बन जाती है, जैसे कि एक आत्मामें घटाकाशका उपज जाना और कपाल आकाश या पटाकाशका थिनाश होना युगपत् सिद्ध हो जाता है। घट उपाधिसे नापे गये आकाशकी उत्पत्ति हो जानेपर पट उपाधियोले आकाश या कपाल उपाधियारी आकाशकी मी उत्पत्ति हो होने, ऐसा कोई नियम नहीं है। उस समय एक उपाधियाले आकाशकी उत्पत्ति होनेपर अन्य उपाधियाले आकाशको जिनाशका भी दर्शन हो रहा है अथवा किसी विशेषणसे अविच्छन हो रहे आकाशका विनाश हो जानेपर सभी विशेषणोवाले अन्य अन्य आकाशका मी विनाश ही हो जाय ऐसा नहीं है। किन्तु उस विनाश होनेक समय अन्य कार्याविच्छन आकाशकी उत्पत्ति भी देखी जा रही है। किसी उपाधियारी आकाशकी स्थिति होनेपर सभी उपाधियाले आकाशकी स्थिति हो नहीं होती रहती है। उस स्थितिक समयमें विनाश और उत्पादका भी भला दर्शन हो रहा होती रहती है। उस स्थितिक समयमें विनाश और उत्पादका भी भला दर्शन हो रहा है। बात यह है कि आकाशको एक माननेपर जीव तत्त्व भी एक ही मानना अनिवार्य पढेगा। यदि जीवतत्त्वको अनेक मानोगे तो आकाश तत्त्व भी अनेक मानने पढेंगे। न्यायमार्गमें किसीका पक्षपात नहीं चळता है।

सित बंधे न मोक्षः सित वा मोक्षे न बंधः स्यादेकत्रात्मिन विरोधादिति वेका, आका-भेषि सित घटत्रके घटांतरमोक्षाभावमसंगात् । सित वा घटविश्लेषे घटांतरिविश्लेषमसंगात् । मदेशभेदोपचाराक्ष तत्मसंग इति चत्, तत एवात्मिन न तत्मसंगः । कथमेक एवात्मा बद्धो मुक्तश्च विरोधादिति चेत्, कथमेकमाकाशं घटादिना बद्धं मुक्तं च युगपदिति समानमेतच्चोद्यम् । नभसः मदेशभेदोपगमे जीवस्याप्येकस्य मदेशभेदोस्त्वित कृतो जीवतत्त्वमभेदञ्यवस्था । तत-स्तामिच्छता कियावंतो जीवाश्चलनतो असर्वगता एवाभ्युपगंतञ्या इति त्रससिद्धः ।

यदि पूर्वपक्षी वैशोपिक यो कहें कि एक ही आत्माके स्वीकार करनेपर तो एक आत्माका बन्ध हो जानेपर मोक्ष न हो सकेगी अथवा मोक्ष ो जानेपर बन्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि एक ही आत्मामें विरुद्ध माने गर्थ वन्ध या मोक्ष दोनोके होनेका विरोध है । किन्तु जगत्में बहुतसी आत्माओंके बन्ध हो रहा है और अनेक आत्माओंको मुक्ति प्राप्त हो रही है । आचार्य वहते हैं कि यह उपाय तो नहीं रचना । क्योंकि यों तो एक आकाशके माननेपर भी आकाशको घटसहितपना होनेपर अन्य घटोंसे या पट आदिसे मोक्ष होनेके अभावका प्रसंग होवेगा अथवा प्रकरणप्राप्त घटका आकाशके साथ विश्वेष हो जानेपर अन्य घटोंके साथ मी विश्वेषण हो जानेका प्रसंग वन बैठेगा । अर्थास्त्र जब आकाश एक ही है तो घटके साथ संयोग हो जानेपर सभी घटोंके साथ संयोग ही

बना रहना चाहिये या गृहमें आकाशके साथ घटका विभाग हो जानेपर अन्य घट, पट, आदक साथ भी बिभाग हो जायगा । एक अखण्ड आकाशमें किसीके साथ विश्लेष और अन्यक साथ अंयोग मानना तो विरुद्ध पडेगा । यदि वैशेषिक उपचारसे आकाशके छोटे छोटे प्रदेशोंके भेड़क उस प्रसंगका निवारण करेंगे तब तो उस ही कारणसे यानी अखण्ड, एक, व्यापक, आत्माने उपचारसे प्रदेशभेदोंकी कल्पना कर उस बन्ध या मोक्ष है प्रसंग हा भी निषेध हो जाता है तो पि : एक्स प्राको आकाराके समान एक माननेमें अथवा अनेक आत्माओंके समान आकाराको भी अनेक माननेम क्यों आपत्तियां उठाई जाती हैं ? । यदि पूर्वपक्षी यों कहे कि एक ही आत्मा भला बद्ध और मक्त भी कैसे हो सकता है ! क्योंकि सहानवस्थान नामका विरोध है । जिस आत्मामें बद्धपना है वहां मिक्त नहीं और जहां मुक्तपना है वहां बद्धपना नहीं घटित हो पाता है। यों कहनेपर तो जैन भी कटाक कर सकते हैं कि एक ही आकाश विचारा घट, पट, आदि करके बध रहा और उसी समय दूसरीसे छट रहा भला युगपत् किस ढंगसे साधा जा सकता है ! इस प्रकार एक आत्माका पक्ष ले लेनेपर हमारे ऊपर उठाया गया यह आपत्ति या अनुपपत्तिरूप चोद्य आकाशको सर्वथा एक माननेवाले तुम्हारे ऊपर भी समान रूपसे छागू हो जाता है। हां, यदि तुम आकाशके प्रदेशोंको भिन्न भिन्न स्वीकार कर लोगे तब तो हमारे यहां एक ही जीवके भी प्रदेशोका भेद हो जाओ । इस प्रकार जीव तत्त्वके भेद प्रभेदोंकी न्यवस्था भला कैसे हो सकेगी ! मनुष्य, पद्य, पक्षी, माता, पिता, गुरु, बहिन, बेटी, ये सब अनेक प्रकारके जीव तुम्हारे यहां माने गये हैं। तिस कारण उस जीव तत्त्वके प्रभेदींकी व्यवस्थाको चाहनेवाले तम करके कियासिंदत हो रहे जीव चलने, फिरनेकी अपेक्षासे असर्वगत ही स्वीकार कर छेने चाहिये । कीट, पतंग, पशु, पक्षी, सब चलते, घूमते, अन्यापक ही देखे जा रहे है । इस यक्तिभे त्रस जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। " स्थावरा एव " यहांसे छेकर " त्रससिद्धिः " तक प्रकरण द्वारा स्थावर जीवोंके एकान्तका निराकरण कर त्रसजीवोंको भी साध दिया है।

त्रसा एव न स्थावरा इति स्थावरिन्हवोपि न श्रेयान्, जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थाना-प्रसिद्धिप्रसंगात् । जीवतत्त्वसंतानांतराणि हि व्यवस्थापयका प्रत्यक्षाद्यवस्थापयितुपर्हति तस्य तत्राप्रवृत्तेः । व्यापारव्याहारिलंगात्साध्यतीति चेत् न, सुषुप्तमूर्ण्जिताण्डकाद्यवस्थानां संतानांत-राणापव्यवस्थानुषंगात्तत्र तद्भावात् । आकारिवशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, तत एव वनस्पति-कायिकादीनां स्थावराणां प्रसिद्धिरस्तु ।

कोई एकान्तवादी कह रहे हैं कि संशारमें सब जीव त्रस ही हैं। स्थावर जीव कोई भी नहीं है, प्रन्थकार कहते हैं कि यों अन्यायी राजाकी आज्ञाके समान स्थावरजीवोंका अपलाप करना (होते हुओंका निषेध करना) श्रेष्ठ नहीं है। हेतु हमारा वहीं है जोकि वार्तिकके उत्तरार्धमें कहा मथा है। अर्थात्-जीव तत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग तुम्हारे ऊपर उठा दिया जावेगा।

देखिये जीव, तत्त्वके प्रमेद स्वरूप गुरु, माता, पिता, मित्र, पशु, पक्षी आदिकी मिन्न मिन सन्तानोंके नियमसे व्यवस्था करा रहे आप या और कोई आपका मित्र मळा प्रत्यक्षसे तो उनकी व्यवस्था करा-नेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि उस युष्पदादिकोंके प्रत्यक्ष प्रमाणकी उन अनेक सन्तानोंके जाननेमें प्रश्नृति नहीं हो रही है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो जब पदार्थीके रूप, रस, आदिको ही जान पाता है । और मानस प्रत्यक्ष केवल अपनी आत्मा या उसके सुख, दु:ख, आदिकोंकी संवित्ति कर लेता है। अन्य आत्माओंकी व्यवस्था करानेमें प्रत्यक्षकी सामर्थ्य नहीं है। हां, यदि तुम शारीरिक न्यापार करना, वचन बोलना, हित अहित क्रिया करना, आदि ज्ञापक हेतुओंसे उन अन्य संतानोंकी सिद्धि वराओंगे सो उस अनुमानका हेत् तो ठीक नहीं पडेगा । भागासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा । क्योंके यों गाढरूपसे सोजानेकी अवस्था या मूर्छा प्राप्त हो अण्डेकी दशा आदिक अवस्थाओंको प्राप्त हो रहे सन्तानान्तरीकी अन्यवस्था. अथवा व्यवस्था नहीं हो सक्तनेका प्रसंग होगा। क्योंकि उन सुबुस आदिक दशाओंमें जीव है. किन्तु उन दशाओंमें उन शरीरिकिया, वचन, उचारण, आदिक ज्ञापक लिंगोंका अभाव है। यदि भागासिद्ध हेतका परित्याग कर जीवित अवस्थामें होनेवाले आकारविशेषसे सुब्रह आदि दशाओंमें भी उन सन्तानान्तरोंके जीविततत्त्रोंकी व्यवस्था करोगे तब तो उस ही आकार विशेषसे बनस्पतिकायिक. पृथिवीकायिक, आदिक स्थावर जीवोंकी भी प्रक्षिद्ध हो जाओ । मतुष्य, पश्च, पश्ची, पतंग, कीटके समान घास, मही, आदिमें भी चैतन्यका साधक आकार विशेष पाया जाता है। मग्नक्षत संरोहण ही रहा देखा जाता है।

कः पुनराकारिवसेषो वनस्पतीनां आद्दारलाभालाभयोः पुष्टिग्लानलक्षणः ततो यदि वनस्पतीनामसिद्धिरात्मनां तदा संतानांतराणामपि मूर्खितादीनां क्रुतः सिद्धिरिति जीवतस्त्र-प्रभेदं व्यवस्थापयता त्रसस्थावरयोरन्यतरिनन्दवो न विधेयः।

सन्भुख बैठा हुआ एकान्तवादी पूंछता है कि वनस्पति जीवोंके कीनसा आकार विशेष है, जो कि उनको जीवतत्त्वका प्रभेद साध देगा ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आहारके लाम और अलाम होने पर पृष्टि और ग्लानि हो जाना यही उनके आकार विशेषका लक्षण है। अर्थात्—वनस्पतियोंको खात, जल, मृत्तिका, वायु, आदिका आहार प्राप्त हो जाता है, तब तो वे हरे, भरे, पृष्ट, दीखते हैं और योग्य आहार नहीं मिलनेपर उनमें म्लानता आ जाती हैं, कोई कोई तो स्वकर मर जाते हैं। इस बातको वर्त्तमानके विज्ञानवेत्ताओंने भी युक्तियोंसे साध दिया है। मेघ, जल, स्पिकिरणें, स्वच्छ वायु, इनका आहार करना समान होनेपर भी कई जातिकी वनस्पतियां मिन मिन प्रकार के खातों की अपेशा रखतीं हैं। कोई कोई वनस्पति तो रक्त, मांसका खात मिलनेपर परिपुष्ट होती है। कई वनत्पतियां अप्री द्वारा तपानेपर शीतबाधाके मिट जानेसे पृष्ट होती हैं। शाखा, उपशाखाके टूट जानेपर पुनः प्ररोह हो जाता है। अतः हक्ष, वेल, घास, आदि वनस्पति-

योंमें अनुमान प्रमाण द्वारा जीव तत्त्वको साघ छेना चाहिये। पर्वतों या खानोंमें भी आकार विशेष पाया जाता है। अग्नि, जछ, वायुंम भी युक्ति और आगमसे जीव तत्त्वको साघ छेना चाहिये। विकान (साइन्स) के प्रयोगोंकी वृद्धि होनेपर इनमे भी जीवके साधक अनेक उपाय प्राप्त हो सकते हैं। तिस कारणसे यदि वनरपति जीवोंकी उस आकारविशेषसे सिद्धि नहीं मानोंगे तब तो मूर्छित या गाढ सोरहे आदि जीवोंके न्यारी न्यारी चैतन्य सन्तानोंकी भी सिद्धि भछा कैसे कर सकोंगे! सन्तानान्तर या मूर्छित, गर्भस्थ, आदिके जीव तत्त्वोंकी ज्ययस्थाका जो उपाय है वही स्थावर जीवोंका भी निर्णायक है। इस प्रकार जीव तत्त्वके प्रभेद हो रहे सन्तानान्तर या सुपृत्त भादिक प्रभेदोंकी ज्यवस्था करानेवाछे विद्वान् करके त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोमेंसे किसी भी एकका निन्हव नहीं करना चाहिये। यहांतक त्रस और स्थावर जीवोंकी सिद्धि कर दी गयी है।

कोत्र विशेष १ स्थावरा इत्याह।

इन सामान्य रूपते जान लिये गये त्रस, स्थावर जीवोमें कौन कौन विशेष प्रमेद हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रथम ही स्थावरोंके विशेष हो रहे भिन्न भिन्न जाति है जो स्थावर हैं, इस बातको प्रन्यकार श्री उमास्वामी महाराज अभिम सूत्र द्वारा स्पष्ट कह रहे है । त्रम जीवोंका व्याख्यान अधिक करना है । अतः आनुपूर्वीकी अपेक्षा नहीं कर " सूचीकटाह " न्याय अनुसार पिहले स्थावर जीव ही कहे जा रहे हैं । छहारके पास एक मनुष्य पहिले करेह्या बनवाने आया । उसके पीछे दूसरा छहका सुई बनवाने आया । यहां क्रम हा उल्लिंग कर लुटार पाहले सुईवाले को निवटा देता है । इस कियाका नाम " सूचीकटाह न्याय " है । सुई पाय घडीमें बनती है, करेह्या बनानेमें दिन भर लग जायगा ।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनम्पस्ति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं। यहां पृथिवीजीव, पृथिवीकायिक, जलनीव, जलनायिक, तेजोजीव, तेजस्मायिक, वायुजीव, वायुकायिक, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकायिक, ये स्थावर जीव माने जाते हैं।

पृथिवीकायिकादिनामकर्मोदयवक्षात्यृथिव्यादयो जीवाः पृथिवीकायिकादयः स्थावराः प्रत्येतव्या न पुनरजीवास्तेवामभस्तुतत्वात् ।

मूल प्रकृति माने गये नामकर्मकी उत्तर प्रकृति स्थावर नामक कर्म है। उसके भेद हो रहे पृथिबीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, आदि नामकर्मके उदयकी अधीनतास अथवा असंख्याते उत्तरभेदोंको धारनेवाली गति नामक प्रकृतिकी विशेष हो रही तिर्यगातिके प्रभेदोंके उदयसे पृथिबी आदिक जीव ही पृथिभी कायिक, जलकायिक, आदिक स्थावर समझ लेने चाहिये। किन्तु फिर पृथिबी,

प्रियेशकाय. जल, जलकाय, आदि अजीव पदार्थ तो स्थावर नहीं हैं। क्योंकि जीव तत्त्वके भेद प्रभे-दोंको गिमानेके अवसरपर उन अजीवोंका प्रस्ताव प्राप्त नहीं हैं। अर्थात —ऋपिप्रोक्त शास्त्रोंमें इन प्रत्येकके प्रथिती आदिक चार भेद कहे हैं। प्रथिती, प्रथितीकाय, प्रथितीकायिक, प्रथितीजीव, एवं जल, जलकाय, जलकायिक, जलजीव, इत्यादि समझ लेना । मोटी, कठिनता, आदि गुण स्वरूप हो रही अचेतन मिरी, पत्थर, खडी, गेरू, कंजड, रत्न ये तो मामान्य रूपसे प्रथित्री हैं। प्रथितीकायिक जीव द्वारा मरकर शीघ्र छोड दिया गया जडपिण्ड तो पृथिवीकाय बोला जाता है । जैसे कि मनण्य मरता हुआ अपने शबको छोड देता है। वर्तमानमें जिस जीवके प्रथिवीकाय वर्त रही है वह जीव प्रियंगिकायिक है. जिसका कि अपनी आयपर्यन्त उस कायसे सम्बन्ध बना रहता है। और जिस जीवके प्रथिवीकारिक नामकर्मका उदय प्राप्त हो गया है, किन्तु अभीतक विग्रह गतिमे पड़ा हुआ कार्मण काय योगमें स्थित है, जबत क वह प्रिविश्वों नोकर्म शरीररूप करके प्रहण नहीं करता है तबतक वह प्रथिबीजीव है। यही ढंग अन्य जल आदि चारों भेदोमे लगा लेना। पहिलेके प्रथिवी और प्रियंत्रीकाय ये दो भेद तो अजीव स्वरूप हैं। और तीसरे चौथे ये दो भेद जीवतत्त्व हैं। अथवां पहिले दो भेदोमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, कुछ देर पहिले मरे हुने और बहुत दिन पहिले मरे हुने सब भाशान भामेमें गर्भित हो जाते हैं । अतः पृथिबीको सामान्य मान कर उत्तरवर्ती तीनों भेदोंमें उसका अन्त्रय कर लेना चाहिये । प्रथितीकाय और प्रथितीकायिक, जलकाय और जलकायिक, तेजस्काय और तेजस्कायिक, वायुकाय और वायुकायिक वनस्पतिकाय और वनस्पति काथिक ये स्थावर जीव हैं। शेष प्रियो या प्रियोकाय आदि जडोंको यहां स्थावरोंमें गिनना नहीं चाहिये।

कुतस्ते अवशेद्धच्या इत्याह ।

वे पृथिवीकायिक आदिक जीव कैसे किस प्रमाणसे समझ लेने चाहिये १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं । उसको दत्ताववान होकर श्रवण करो ।

जीवाः पृथ्वीमुखास्तत्र स्थावरा परमागमात् । सुनिर्वाधात्प्रबोद्धव्या युक्त्या एकेंद्रिया हि ते ॥ १॥

उन जीवोंमें पृथिशीकायिक, जलका,यिक, आदिक जीव स्थावर हैं। ये सिद्धान्त प्ररूपित जीव तो मले प्रकार बाधाओं से रहित हो रहे सर्वज्ञ उक्त, उत्कृष्ट, आगमसे अच्छे समझ लेने चाहिये। वे पृथिवीकायिक आदि जीव नियमसे युक्तियों करके भी एक स्पर्शन इन्दियबाले साध दिये जाते हैं। अर्थात्—सर्वज्ञकी प्रवाह धारासे चले आ रहे आगम द्वारा स्थावरों की सिद्धि प्रधान रूपसे हो जाती है तथा वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा युक्ति करके भी पृथिशी, जल, आदि शरीरों को धारनेवाले जीवों की सिद्धि हो जाती है। सूक्ष्म यंत्रों से मही या जलमें छोटे छोटे रेंगते हुये जो कीट दीखते हैं वे सब अस जीव हैं। किन्तु मिट्टी या जल हैं। जिन जीवोंका शरीर है वे स्थावर जीव हैं। एक मिट्टीकी छोटी डेली लाखों करोडों वस्तुतः असैख्याते जीवोंका जीदारिक शरीर पिण्ड है। इसी प्रकार एक जलकी बूंद भी असंख्य जलकायके जीवोंके प्रहण किये हुये शरीर हैं। अप्रि, बायु, वनस्पतिके शरीरोंको भी अनेक एकेंद्रिय जीवोंने प्रहण कर रक्खा है। धनाङ्गुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग एक जीवकी अवगाहना है। हां, वनस्पतिजीव घास वृक्ष आदि थोंडेसे तो संख्यांत धनाङ्गुल प्रमाण भी हैं। किन्तु बहुभाग धनाङ्गुलके असंख्यातवें या संख्यातवें भाग छोटी अवगाहनावाले है।

संति पृथिवीकायिकादयो जीवा इत्यागमात् पृथिवीकायिकादिसिद्धिः । कुतस्तदागमस्य शामाण्यनिश्वय इति चेत् , सर्वथा बाधकरहितत्वात् । न ह्यस्य प्रत्यक्षं वाधकं तद्विषयत्वात् ।

उक्त कारिकाका विवरण यो है कि " पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि जीव विद्यमान हैं " इस प्रकारके आगमवाक्यसे पृथिवीकायिक, आदि जीवोंकी अच्छी सिद्धि हो जाती है। कोई प्रश्न करता है कि उस आगमको प्रमाणपनेका निश्चय कैसे किया जाय है जिसमें कि पृथिवीकायिक आदि जीवोंका सदाव माना गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते है कि सभी प्रकार बाधक प्रमाणोंका रहितपना होनेसे आस पुरुष करके उपन्न हो रहे आगमका प्रमाणपना जान लिया जाता है। देखिये, " सुदुर्मणिवातेआभूवातेआपृणिपदिद्विदं इदरं। " " पुढिविदगागणिमारुदसाहारणधूल सुहमपत्तेया" " पुढवीआऊतेऊवाऊ कम्मोदयेण तत्त्येव, णियवण्णच उक्क जुटो ताणं देहो हवे णियमा" इत्यादिक इन आगम वाक्यों या इनसे भी प्राचीन आर्ष प्रन्थोंको बाधा देनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण तो नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण उन अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय नहीं करता है। जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं चलता है वह उसका साधक या बाधक नहीं समझा जाता है। जो प्रमाण भोला किसान वैद्य विद्याको नहीं जानता है, उसमें उसका सपक्ष या विपक्ष रूपसे टांग अदाना अनुचित है।

पृथिव्यादयो अचेतना एव व्यापारव्याहाररहितत्वाद्धस्मादिवत् इत्यनुमानं बाधकमिति चेक, अस्य सुषुप्तादिनानेकांतात् । तस्यापि पश्लीकरणमयुक्तं समाधिस्थेनानेकांतात्, पश्लस्य प्रमाणबाधानुषंगात् । सांख्यस्य सुक्तात्मना व्यभिचारात् ।

कोई कटाक्ष कर रहा है कि पृथिवी, जल, आदिक (पक्ष) अचेतन ही हैं (साध्य)। क्योंकि वे शारीरिक व्यापार करना, बोल्ला, विचारना, इष्टमें प्रवर्तना, अनिष्टसे निवृत्त हो जाना, आदि क्रियाओंसे रहित हैं, (हेतु) मस्म, रेता, उष्णजल, सूखा काठ, आदिके समान (अन्वयद्द्यान्त)। इस प्रकारका अनुमानप्रमाण तुम्हारे आगमका बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इस अनुमानमें कहे गये हेतुका अचेत सी रहे मनुष्य या मूर्जाप्रास जीव, अण्डस्थ जीव, आदि करके व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् निर्भर सो रहे या मूर्जिंग्र मनुष्यके

कोई शारीरिक किया, वचनव्यवहार, आदिक नहीं हैं। किन्तु वे चेतन हैं। अतः हेतुके ठहर जानेपर साध्यकी स्थित नहीं होनेसे तुम्हारा हेतु व्यक्तिचारी हो जाता है। उस सोते हुये या मूर्छित हो रहे को भी पक्ष कोटिमें कर लेना तो उचित नहीं है। क्योंकि समाधि या व्यानमें स्थित हो रहे जीवकरके व्यभिचार आ जावेगा। अतः प्रतिकारकरूप पक्षकी प्रमाणोंसे बाधा हो जानेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें तुम्हारा हेतु बाधित भी बन बैठेगा। भावार्थ—सोते हुये या मूर्छित पुरुषको भी यदि व्यापार आदि नहीं होनेसे अचेतन मान लिया जायगा तो भी ब्यान लगाकर बैठे हुये पुरुषके व्यभिचार दोध तदवस्थ रहेगा। सोते हुये पुरुषको मरा हुआ कहना बाधित है। दूसरी बात यह है कि सांस्थ्यमितयोंके यहां प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेसे व्यापार करना, बोलना, आदि कियाओंसे छूट चुके मुक्तजीव करके व्यभिचार आता है। अर्थात्—वैशेषिक मले ही मुक्त अवस्थामें जीवको अचेतन कह दे, किन्तु किपलमतके अनुयायी तो मुक्तजीवोंको बहुत अच्छा चेतन कह रहे हैं। वहां हेतुके रह जानेपर भी अचेतनपना साध्य नहीं है। विपक्षमें हेतुका वर्तजाना व्यभिचार है।

पत्यागमो बाधक इति चेन्न, तस्याप्रमाणत्वापादनात् स्याद्वादस्य प्रमाणभूतस्य व्यव-स्थापनात् । तदेवमागमात्सुनिर्वाधात् पृथिवीप्रमुखाः स्थावराः प्राणिनो बोद्धव्याः ।

यदि कोई यों कहे कि जैनोंके आगमसे प्रतिकृत हो रहा दूसरा चार्वाक आदिका आगम उस जिनागमका बावक है, आचार्य कहते है कि यह तो न कहना। क्योंकि उस स्थावर जीवोंका निषेध करनेवाले आगमको अप्रमाणताका अपादान किया गया है। अप्रमाणसे प्रमाणको कोई ठेस नहीं पहुंच पाती है। हां, स्यादाद सिद्धान्तको ही प्रमाणभूत होनेकी व्यवस्था पूर्वप्रकरणोंमें कर दी गई है। तिस कारण इस प्रकार भले ढंगपूर्वक बाधाओंसे रहित हो रहे आगमप्रमाणसे पृथिवी, आदिक स्थावर प्राणी समझ लेनी चाहिये। सुखपूर्वक प्रहणका हेतु होनेसे तथा मोदी मूर्ति होनेसे अथवा भोजन, गृह, वस्त्र, अलंकार, आदि रूप करके बहुत उपकार करनेवाली होनेसे पांचों स्थावरोंमें पृथिवीको प्रमुख माना गया है। उसके अनन्तर जल, तेज, वायु, और वनस्पतिका वचन करना भी साभिप्राय है।

युक्तेश्व, ज्ञानं कविदात्मनि परमाञ्चकर्षमायाति अपकृष्यमाणविशेषत्वात् परिमाणव-दित्यतो यत्र तद्पकर्षपर्यंतस्तेऽस्माकमेकेद्रियः स्थावरा एव युक्त्या संभाविताः ।

तथा युक्तिसे भी स्थावर जीवोंको समझ लिया जाता है। सुन लीजिये। ज्ञान (पक्ष) किसी न किसी आत्मामें अव्यधिक अपकर्ष (हीनता) को प्राप्त हो जाता है (साध्य) विशेष रूपसे कमती कमती हो रहा होनेसे (हेतु) परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाश, लोक, सुमेरुपर्वत, सम्मेदिशिखर, गृह, घर, नारियल, वेल, वेर, कालीमिरच, पोस्त, आदिमें उत्तरोत्तर घट रहा परिमाण जैसे परमाणुमें पहुंचकर अन्तिम अपकर्षको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान, श्रुतज्ञान, आचार्यका ज्ञान, शास्त्रीका ज्ञान, साधारण पण्डितका ज्ञान, पश्च, पक्षी, पतंग, कीट, इनका ज्ञान यों

उत्तरोत्तर घटते घटते ज्ञान भी कहीं न कहीं अन्तिम घटीको पहुंच जाता है। ऐसे इस अनुमानसे जहां कहीं जीवोंमे उस ज्ञानकी न्यूनताका अन्तिम आधार है। वे ही हम स्याद्वादियोंके यहां एक स्पर्शन इन्दियवाले स्थावर जीव माने गये हैं। इस प्रकार अनुमानस्वरूप युक्तिकरके स्थावर जीवोंके सद्भावकी सम्भावना की जा चुकी है।

नतु च भस्मादावनात्मन्येव विज्ञानस्यात्यंतिकापकर्षस्य सिद्धर्न स्थावरसिद्धिरिति चेक, स्वाश्रय एव ज्ञानापकर्षदर्शनात् अनात्मनि तस्यासंभवादेव हान्यज्ञुपपत्तेः । मध्वंसो हि हानिः सत एवोपपद्यते नासतोज्जुत्पद्मस्य वंध्यापुत्रवत् ।

उक्त अनुमान द्वारा स्थायर जीयों भी सिद्धि कर रहे आचार्यके ऊपर स्थावर जीयोंको नहीं माननेवाले किसी पण्डितकी ओरसे पुनः स्वपक्षका अवधारण है कि जीवतत्त्वसे मिन्न हो रहे जड़, भस्म, पीतल, ईट, आदि पदार्थमें ही विज्ञानके अत्यन्त रूपसे होनेवाले अपकर्षकी सिद्धि हो रही है। अतः स्थावर जीवोकी सिद्धि न हो सकी। मन्द्रबुद्धि जीवोमे ज्ञानकी कमी होते होते जड़ राखमें सर्वथा ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो गया है। अपकर्षका बिद्धि आधार जब मिल गया है तो उस अनुमानसे भला स्थावर जीवों भी सिद्धि कहां हुयी ? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञानके निज आश्रयमें ही ज्ञानका अपकर्ष हो रहा देखा जाता है। आत्मतत्त्वसे सर्वथा मिन्न हो रहे जड़में उस ज्ञानका असम्भव हो जानेसे ही हानिकी सिद्धि नहीं बन सकती है। हानिका अर्थ यहां नियमसे अच्छा घंस हो जाना है। वह धंस तो प्रतियोगीकी सत्तावाले पदार्थकी हानि नहीं हो सकती है। रोगकी हानि जीवके बन सकती है, जड़के नहीं। जहां प्रतियोगीका सद्भाव है बहां ही उसका धंस है। वैश्वापिकाने भी धंसका प्रतियोगीके समवायी देशमे नियत होकर रहना माना है। घटका धंस कपालोमें और पटका धंस तन्तुओंमें ठहरता है। मस्ममे तो ज्ञानका अत्यन्तामाव है और हम ज्ञानके धंस या व्यनपनको साथ रहे है। वह एकेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जावेगा। किसी मनुष्यको ही निर्धन या अपट कहा जाता है, पत्थर या डेलको नहीं।

कचिदात्मन्यप्यत्यंतनाशो ज्ञानस्यास्तीति चेन्न, सतो वस्तुन उत्पत्तिविनाशानुपपत्तेः।

पुनः कोई बैरोषिकका पक्ष छेकर कहता है कि भस्ममें नहीं सही, किन्तु किसी किसी आतमा (मुक्तजीव) में भी तो ज्ञानका अत्यन्त रूपसे नारा विद्यमान है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्यों के अनादि अनन्त सदूप हो रही वस्तुके उत्पत्ति और विनाश बन नहीं सकते हैं। अर्थात्— " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः " " नैवासतो जन्म सतो न नाशो "। जैसे पुद्रल द्व्यमें रूप, रस, आदि गुण अनादि कालसे अनन्त कालतक विद्यमान रहते हैं, कोई नया गुण उपजना नहीं है और न किसी सत् गुणका विनाश होता है। यदि नया गुण उपजने लगे तो जह

द्रत्यमें क्वान, मुख, गुण भी उपज जायेंगे। ऐसी दशामें जह और चेतनका विभाग करना अशक्य हो जायगा। तथा यदि विद्यमान गुणोंका विनाश होने लगे तो किसी दिन संपूर्ण गुणोंका अभाव हो जानेसे करनका ही अभाव हो जायगा। गुणोंका समुदाय ही तो द्रव्य है। हां, विद्यमान हो रहे गुणोंकी पर्यायोमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता, आधिकता, या विभावपरिणाम होते रहते हैं। तभी तो ज्ञानगुणकी अत्यन्त हानि होते हुये भी सूक्ष्मनिगोदिया लिख अपर्यातक जीवमें अक्षरके अनन्तवें भाग नित्य प्रकाशनेवाला निरावरण ज्ञान माना गया है। मनुष्य भी कितना ही पागल, मूर्छित, मूर्ख, पौंगा, दुःखित, क्यों न हो जावे, उसमें धोडा ज्ञान तो अवश्य ही बना रहता है। पण्डिताईके ज्ञानोंका धंस मूर्खता पूर्वक हुये ज्ञानोंके विद्यमान होनेपर पाया जाता है। एकेन्द्रिय दशामें सामान्य अत्यल्पज्ञान होनेपर विशिष्ट ज्ञानोंकी हानि मानी जाती है, ज्ञानका सर्वधा नाश कहीं नहीं हो पाता है।

कर्मणां कथमत्यंतिवनाञ्च इति चेत्, क एवमाइ १ तेषामत्यंतिवनाञ्च इति । कर्मरूपाणां इ पुद्रस्नानामकर्मरूपतापत्तिविनाञ्चः सुवर्णस्य कटकाकारस्याकटकरूपतापत्तिवत् । ततो नमन-परिमाणादारभ्यापकृष्यमाणविश्चेषं परिमाणं यथाः परमाणौ परमापकर्षपर्यतन्नाप्तं सिद्धं तथा ज्ञानमपि केवस्नादारभ्यापकृष्यमाणविश्चेषमेकेंद्रियेषु परमापकर्षपर्यतमाप्तमवसीयते । इति सुक्ति-मत्यथिवीकायिकादिस्थावरजीवमतिपादनं ।

पूर्वपक्षवाला कहता है कि बताओ कर्मीका अत्यन्तरूपसे विनाश भला कैसे हो जाता है ! मुक्त जीवोंमें भी ज्ञानके समान थोडे, बहुत, कर्म विद्यमान रहे आवेंगे । आप जैनोंने अभी कहा था कि सतका विनाश नहीं हो पाता है। यों कहनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि कौन अविचारी इस प्रकार कह रहा है कि उन कर्मीका अत्यंतरूपसे विनाश हो जाता है कि कर्मस्वरूप हो रहे पुद्रलोंकी अकर्मस्वरूपपने करके प्राप्ति हो जाना ही विनाश है। जैसे कि कडोंके आकारको धारनेवाले सोनेकी कडे रहित हो रहे कुन्डल, केयूर, आदि अलंकाररूपसे प्राप्ति हो जाना ही सोनेका व्यंस माना जाता है। सोनेका समूळच्ळ नाश नहीं होता है। मैळे बखको निर्मूळ कर देनेपर मळकी पानीमें कीचडरूप अवस्थासे स्थिति बनी रहती है। साबन, तेजाब, आग, किसीसे भी शुद्धि करो, जग़त् से मल उठा दिया जाय, ऐसा मलका सत्यानाश कभी नहीं हो सकता है। आत्मासे, सम्बन्ध छ्टकर कर्म भी अन्य पदलकी अवस्थामें अन्यत्र बने रहते हैं। अर्थात्-मुक्तिके लक्षणमें कर्मीका देशसे देशान्तर हो जानारूप विभाग और कर्म अवस्थासे अकर्म अवस्था हो जाना अभीष्ठ है । तिस कारण सबसे बढ़े आकाशके परिमाणसे प्रारम्भकर कमती कमती हो रही विशेषताको छिये ह्रये परिमाण जैसे परमाणुमें उत्कृष्टरूपसे अपकर्षके पर्यतको प्राप्त हो चका सिद्ध है. उसी प्रकार ज्ञान भी केवळज्ञानसे प्रारम्भ कर विशेषविशेषरूपसे वट रहा संता एकेन्द्रिय जीवोंमें सबसे बढिया हीनताके पर्यन्तको प्राप्त हो चुका जान लिया जाता है। इस प्रकार प्रथिवीकायिक, जलकायिक, आदि स्थावर जीवोंका सूत्रकार द्वारा प्रतिपादन करना बुक्तियोंसे सहित है।

के पुनर्विशेषतस्त्रसा इत्याह।

श्री उमास्त्रामी महाराजने संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दी भेद कहे थे, उनमेंसे स्थावर विंशोंचोंका वर्णन किया जा चुका है। पुनः अब ये बताओं कि विशेषरूपसे त्रस जीव कौन कौन हैं! ऐसी जिज्ञासा होनेपर सूत्रकार महाराज उत्तर वचन कहते हैं।

द्वीन्द्रियादयस्रसाः॥ १४॥

दो स्पर्शन, रसना, इन्द्रियोंको धारनेवाले और स्पर्शन, रसना, घाण, इन तीन इन्द्रियोंको धारनेवाले आदिक जीव त्रस हैं।

द्दे स्पर्शनरसने इंद्रिये येषां ते द्वींद्रियाः क्रम्यादयस्ते आदयो येषां ते इमे द्वींद्रियादय इति व्यवस्थावाजिनादिशक्केन तद्वणसंविज्ञानलक्षणान्यपदार्था द्वतिरवयवेन विग्रहो समुद्रायस्य क्ष्यर्थत्वात् ।

जिन जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां विद्यमान हैं, वे लट, जींक, मेंडुआ, संख, सीप, आदिक द्वीन्त्रिय जीव हैं। वे द्वीन्द्रिय जीव जिन जीवोंके आदिभूत हैं वे जीव ये द्वीन्द्रिय आदिक है, इस प्रकार आगममें हो रही व्यवस्थाको कहनेवाले आदि राह्नके साथ अन्य पदार्थको प्रधान रखने-नाली बहुनीहि समास नामकी वृत्ति है। समासमें पढे हुये उन शहूँ कि गुण (अर्थ) का अच्छ विज्ञान करादेना जिस वृत्तिका स्वरूप है अथवा एक देश हो रहे अवयवके साथ समासका पूर्ववर्त्ती विग्रह कर छिया जाता है और समासन्नतिका अर्थ समुदाय हो जाता है। भावार्थ—समासन्नदित पर्दोंके अर्थसे अन्य अर्थको प्रधानरूपसे कहनेवाली बहुवीहि समास नामक इसि है जैसे कि " दृष्टसागरमानय " जिसने समुद्रको देखा है ऐसे पुरुषको छाओ, यहां समासमें पडा हुआ परका कर्य न समद्र लाया जाता है न देखना लाया जाता है किन्तु जो मनुष्य पहिले कभी समुद्रको देख चुका है वह पुरुष छाया जाता है, जो कि इन दो पदों मेंसे किसीका भी अर्थ नहीं है। ऐसी दशामें जिन जीवोंके आदिमें द्वीन्द्रिय जीव हैं ऐसी वृत्ति करनेपर त्रीन्द्रिय आदि जीव तो पकड लिये जावेंगे। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवोंका प्रहण नहीं हो सकेगा, जैसे कि पर्वतसे आदि डेकर परली ओर देवदत्तके खेत द इस बाक्यमें खेतोंमें पर्वत नहीं गिम लिया जाता है । बात यह है कि " तद्गुणसंविज्ञान " और अतद्गुण संविद्यान " ये दो बहुबीहि समासके भेद हैं। जहां समासघटित पदोंका अर्थ भी बाच्य हो जाता है वह तट्गुण संविज्ञान है, जैसे कि " छम्बकर्णमानय " जिसके छम्बे कान है उसकी छाओ, इस वाक्यके अनुसार कम्बे कानवाछा मनुष्य छाया जाता है। यहां छम्बे कानका भी छे आमा या शहण हो जाता है। इसी प्रकार तट्गुण संविज्ञानसे (अनुसार) द्वीन्द्रव जीवका भी अन्तर्भाव हो जाता है। द्वीन्द्रियको भी प्रहण करनेका दूसरा उपाय यह है कि पूर्णरिशमेंसे एक अवयवके साथ

निग्रह करो और समास्त्रिका अर्थसमुदाय कर छो । जैसे कि " सर्व " आदि रुद्ध सर्वनाम माने जाते हैं, यहां अकेछ सर्वको कहकर सभी विश्व, उम, उमय, आदिका संग्रह हो जाता है। "सर्वपद" छीड नहीं दिया जाता है। " जम्मूदीप छवणोदादयः " इस सूत्रमें भी ये ही उपाय करने पढेंगे।

ते च मगाणतः सिद्धा एवेत्याह ।

तथा वे त्रसंजीव तो प्रमाणोंसे सिंद ही हो रहे हैं, इसी बातको श्री विकानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

त्रसाः पुनः समारव्याताः प्रसिद्धा द्वीन्द्रियादयः । इत्येवं पंचभिः सुत्रैः सर्वसंसारिसंप्रहः ॥ १ ॥

स्थावर जीवोंसे न्यारे फिर श्रसजीव तो भले प्रकार व्याख्यान किये जा चुके द्वीन्द्रिय, श्रांत्रिय, श्रांदिक प्रसिद्ध ही हैं। बालक, बालिका, भी दो इन्द्रियवाले लट, सीप, जोंक, आदिको जान रहे हैं। स्पर्शन, रसना, प्राण, इन तीन इन्द्रियोंको रखनेवाले चींटी, विष्ट्र, खटमल, लीख, जूंआ, दीमक, आदि प्रसिद्ध हैं। स्पर्शन, रसना, नाक, आंखे इन चार इन्द्रियोंके धारी मोरा, पतंगा, मक्खी, वर्र, झींगुर, मकडी आदि विख्यात हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, ये सब पांचों इन्द्रियोंको लिये हुये हैं। इनके कान भी विद्यमान हैं। यहांत के "संसारिणों मुक्ताश्च "समनस्काऽमनस्काः, संसारिणस्रसस्थावराः, पृथिव्यतेजोवायुवन स्पत्यः स्थावराः, द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः, इस प्रकार पांच सूत्रों करके सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संप्रह सूत्रकारने कर लिया है। गुणस्थान या मार्गणाओं द्वारा किये गये भेद, प्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विव्रहगत्यापन्नस्य संसारिणोऽसंब्रह इति चेन्न, तस्यापि त्रसस्यावरनामकर्मोदयरहित-स्यासंभवात् तद्वचनेन संग्रहीतत्वात् । सोपि नैकेंद्रियत्वं द्वींद्रियादित्वं वातिकामित प्रक्तत्व-मसंगात् । ततो भवत्येव पंचिभः सूत्रैः सर्वसंसारिसंब्रहः ।

कोई शंका करता है कि एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरके प्रहण करनेके छिये हुयी विप्रहगितिको प्राप्त हो रहे संसारी जीवका संप्रह नहीं हो पाया है। क्योंकि इन्द्रियोंकी शक्ति पूर्णता या चार, छह, आदि प्राणोंकी प्राप्ति तो दूसरा शरीर प्रहण कर चुकनेपर होगी। तभी त्रस या स्थावरका व्यवहार शोमता है। आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। कारण कि उस नवीन शरीरको प्रहण करनेके छिये उद्यम कर रहे कार्मणकाय योगवाछे जीवके भी त्रस नामकर्म और स्थावरनामकर्मका उदय विद्यमान है। पूर्व शरीरका सम्बन्ध छूटते ही जीवके उत्तरमवकी आयुके उदयके साथ त्रस या स्थावर इनमेंसे किसी भी एक प्रकृतिका उदय अवश्य हो जाता है। त्रस और स्थावर नामकर्म ने उदयसे रहित हो रहे किसी भी संसारी जीवका जगत्में असम्भव है। अतः उस त्रस या स्थावरके क्चन करके

विश्वह गतिवाले जीवका संग्रह कर लिया जाता है। पहिला शरीर छूट चुका है और दूसरा नोकर्म शरीर अमीतक गृहीत नहीं हुआ है, ऐसी बीचकी विश्वहगतीमें शानावरणका क्षयोपशम विद्यमान होनेसे लिक्क्स इन्द्रिया है। इन्द्रियजन्य मित, श्रुतशान भी हैं। अतः वह जीव भी एक इन्द्रिय घारकपनका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। यदि विश्वहगतिमें इन्द्रियां न मानी जांयगी तो उस जीवको मुक्तपनेका प्रसंग हो जावेगा। " णवि इन्द्रियकरण जुदा " इन्द्रियोंसे रहित तो सिद्ध मगवान् ही हैं। इन्द्रियसहितपन या त्रसस्थावरपनका जन्स तो परमब्रह्म परमाला सिद्धोंमें ही है। तिस कारणसे उक्त पांच सूत्रोंकरके यहां सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संग्रह हो जाता ही है।

न कानिचिदिंद्रियाणि नियतानि संति यत्संबंधादेकेंद्रियादयो व्यवतिष्ठंत इत्याशंकां निराकर्तुकामः सूरिरिदमाइ।

किसीकी शंका है कि इन्द्रियां कितनी हैं ? यह कोई नियत व्यवस्था नहीं हैं । पांच, छह, ग्यारह, भी इन्द्रियां मानी जा रहीं हैं अथवा कोई भी इन्द्रियां क्रमसे नियत नहीं हैं । जिनके कि सम्बन्धसे एक इन्द्रियवाछे या दो इन्द्रियवाछे आदिक जीव आगम अनुसार व्यवस्थित हो जावें ? इस प्रकार ह्यी आशंकाका निराकरण करनेके छिये अभिछाषा रख रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि ॥ १५॥

इन्द्रियां पांच ही हैं अर्थात्—पहिले स्त्रमें दीन्द्रियको आदि लेकर त्रसजीवोंका निर्देश किया था। इन्द्रियोंकी अंतिम संख्या नहीं बतलाई थी जिनको कि अधिकसे अधिक धारण कर वहांतकके जीव "त्रस" समझ लिये जांय शक्तः इन्द्रियोंकी संख्याके परिमाणको नियत करते हुये श्री उमा-स्वामी आचार्य पांच इन्द्रियोंका निरूपण करते हैं। वे स्पर्शन आदिके क्रमसे व्यवस्थित हो रही पांच हैं।

संसारिणो जीवस्य संतीति वाक्यार्थः । किं पुनरिंद्रियं १ इंद्रेण कर्मणा सच्टमिंद्रियं स्पर्शनादींद्रियनामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इंद्रस्यात्मनो लिंगमिंद्रियं इति वा कर्ममलीमसस्यात्मनः स्वयमयीनुपलन्धुमसमर्थस्य हि यदर्थोपलन्धौ लिंगं निमित्तं तदिंद्रियमिति भाष्यते ।

" संसारिणः " इस पदकी अनुष्टाति कर संसारी जीवके पांच इन्द्रियां हो सकती हैं, इस प्रकार इस सूत्रके वाक्यका अर्थ हो जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि फिर इन्द्रिय पदार्थ क्या है ! वैद्रो- धिकोंने तो "शब्देतरोद् मूतविदेशपगुणानानाश्रयत्वे सित झानकारणमनः संयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम् " ऐसा छक्षण बांधा है। अब इस वित्रयमें जैन सिद्धान्त क्या है! सो बताओ। श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं कि परमशक्तिशाली इन्द्र अर्थात् पीद्गलिक कर्म करके जो रची जाय वह इन्द्रिय है। यह " तेन

मिहर्च " इस सूत्र द्वारा च प्रत्यय कर शद्धनिरुक्तिसे अर्थ निकलता है। गित नामकर्म या अंगोपांग नामकर्मकी उत्तरोत्तरभेदवाली विशेष प्रकृति हो रहीं स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियनामक नामकर्मके उदयको निमित्त पाकर स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां बन जाती हैं। यहां नामकर्म निमित्त हेतु है और इन्द्रियां हेतुमान् कार्य हैं अथवा आत्मा ही अनन्त शक्तियोंको चार रहा परमेश्वर इंद्र है। उस आत्माका झापक लिंग इन्द्रिय है। इस निरुक्तिका भाष्य इस प्रकार है कि कर्म सम्बन्धसे मिलन हो रहे और इसी कारण स्वयं अकेले ही अर्थोको प्रहण करनेके लिये असमर्थ हो रहे आत्माको अर्थकी उपलब्ध करनेमें जो निमित्त हेतु है वह इन्द्रिय है, अर्थात्—उपमोक्ता आत्मा अनन्तशक्तियौंसे भरपूर है। स्वाभाविक अवस्था प्राप्त ही जानेपर पदार्थोको जाननेमें उसको किसी अन्य सहायककी अपेक्षा नहीं है। फिर भी कर्मोके आधात करके अधिक मालन हो रहा आत्मा स्वयं अकेला पदार्थोकी उपलब्धि नहीं कर सकता है। यो उसके सहायक कारणेंको इन्द्रिय कहते हैं। सम्भव है स्वामी समन्तमद आचार्यकृत गन्धहस्तिमहाभाष्यमें यों इन्द्रियशब्दका निर्वचन किया गया होय। "ऐतिह्यान्वेषका विद्यन्तो मार्गयन्तु "।

नन्वेवमात्मनोर्थक्षानमिद्रियिलगादुपजायमानमनुमानं स्थात् । तश्चायुक्तं । स्थित्सा-परिक्षानेनुमानानुद्यात् । तस्यानुमानांतरात्परिक्षाने अनवस्थानुपंगादिति कश्चित्। तदसत् । भावें-द्रियस्योपयोगकक्षणस्य स्वसंविदितत्वात्तदवलंबिनोर्थक्षानस्य सिद्धेः । न वैतद्नुमानं परोक्ष-विशेषरूपं, विशदत्वेन देशतः प्रत्यक्षत्वविरोधात् । परोक्षसामान्यमन्यत्तु शुक्यतस्तदिष्टमेव परमत्ययापेक्षस्य परोक्षत्ववचनात् ।

यहां कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार तो आत्माक उत्पन्न हो रहा पदार्थोंका ज्ञान तो इन्द्रिय नामक लिंगसे उत्पन्न होनेके कारण अनुमान हो जायगा। और वह मानना तो युक्त नहीं है। क्योंकि इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं। पीद्रलिक बाह्य निर्नृति ही इन्द्रिय है जिसका कि इन्द्रियों हारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। ज्ञापक हेतुका परिज्ञान नहीं होनेपर अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होपाती है। यदि उस अतीन्द्रिय इन्द्रिय हेतुको पुनः साध्य बनाकर अनुमानान्तिरसे परिज्ञान करोगे तब तो उस हेतुको भी जाननेके लिये तीसरे, चौथे आदि हेतुओंकी कल्पना करते करते अनवस्था दोषका प्रसंग होगा, यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है। आचार्य कहते हैं कि यह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि '' लब्ल्युपयोगों मानेन्द्रियम् '' उपयोगस्वरूप मानइन्द्रियां स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष हारा प्रत्यक्ष कर लीं जा चुकीं हैं। अतः उन प्रत्यक्ष की जाचुकीं इन्द्रियोंका जनकपनेसे अवलम्ब लेनेवाले पदार्थज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। आत्मा और भावेन्द्रियां अभिन्न हैं। अतः पर्याय और पर्यायीकी मेद विवक्षा कर इन्द्रिय द्वारा हुआ अर्थज्ञान अनुमान नहीं कहा जा सकता है। वह विशद हो रहा प्रत्यक्ष है। जहां सान्यसे मिन मान लिथे गये हेतुसे ज्यातिस्मरणपूर्वक, अविशद साम्य

कान होता है, वह अनुमान कहा जाता है, अर्थको जाननेमें इन्द्रियां निमित्त हो उड़ी कारक हेत हैं। ज्ञापक हेत नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि यह कोई कोई अनुमान जैनिसिद्धान्त अनुसार विशेषत्या परोक्षज्ञान स्वरूप ही नहीं है। एकदेशसे विशदपना होनेसे अनुमानको प्रत्यक्ष-पनेका कोई विरोध नहीं है। अर्थसे अर्थान्तरको जान छेना रूप परार्थानुमान भछे ही सर्वथा परोक्ष होने। किन्तु आभीनिबोधरूप स्वार्थानुमान तो सांच्यत्रहारिक प्रत्यक्ष भी हो सकता है। हां, सामान्य-रूपसे परोक्ष हो रहे अन्य अनुमान ज्ञानोंको तो मुख्यरूपसे वह परोक्षपना हम स्याद्धादियोंके यहां अभीष्ठ ही किया गया है। क्योंकि जो अपनी उत्पत्तिमें अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा रखता है उस ज्ञानको परोक्षपना कहा गया है। पहिछे प्रकरणोंमें भी इसका विचार हो चुका है।

कथं पुनः पंचैवेंद्रियाणि जीवस्थेत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि आचार्य महाराज ! फिर यह बताओ कि जीवके पांच ही इन्द्रियां हैं, यह सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाणसिद्ध माना जावे १ ऐसी अभिळाषा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि जीवस्य मनसोनिंद्रियत्वतः। बुद्ध्यहंकारयोरात्मरूपयोस्तत्फलत्वतः॥१॥ वागादीनामतो भेदासिद्धेर्थीसाधनत्वतः। स्पर्शादिज्ञानकार्याणामेवंविधविनिर्णयात्॥२॥

संसारी जीवके इन्द्रियां पांच ही हैं | क्योंकि द्रव्यमन तो अनिन्द्रिय है तथा बुद्धि और अहं अहं " में मैं इस प्रतीतिका उद्धेख करनेत्राला अहंकार भी तो आत्मास्वरूप है। वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और मनके कार्य हो रहे फल हैं। हां, यचन बनानेवाले अवयव (जवां) हाथ, पांव, आदिक अवयवोंको इस स्पर्शन इन्द्रियसे भिन्न मानना असिद्ध है ज्ञानका साधन होनेसे त्रस्पर्श, रस, आदिके ज्ञानोंको कार्य बना रहीं स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका ही इस प्रकार पांच भेद रूपसे शेषतया निर्णय किया गया है | कर्मेन्द्रियां मानीं गयीं वाक् आदिक भले ही क्रियाओंकी साधन हो जाय, किन्तु ज्ञानको करानेमें उन बाक् आदिका कोई उपयोग नहीं है | तभी तो ज्ञान इन्द्रियां पांच ही मानी गयीं हैं |

न हि मनः षष्टमिद्रियं तस्येद्रियवैधर्म्यादनिद्रियत्वसिद्धः । नियतविषयाणीद्रियाणि, मनः पुनरनियतविषयमिति तद्दैधर्म्ये प्रसिद्धभव । करणत्वाद्विद्दिर्छिगत्वादिद्रियं मन इति चेत्, तद्दत्र भूमादिनानेकांतात् । तदपि हि करणमात्मनोर्थोपछन्धौ छिगं च भवति न चेद्रियमिति । पुष्यादंकारयोरिद्रियत्वाम पंचैवेद्रियाणीति चेत् न, तयोरात्मपरिणामयोरिद्रियानिद्रियफछत्वात् । सूत्रकार द्वारा स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षुं, कान, इन पांच इन्द्रियोंका क्यन कर कुकनेपर कोई विचारशाली पुरुष अपने मनमें खटका उत्पन्न करता है कि छंड़ी इन्द्रिय मन भी तो है, आचार्य कहते हैं कि सो नहीं समझना। क्योंकि पांच इन्द्रियोंसे विधर्मापन होनेके कारण मनको इन्द्रिय भिन्न अनिन्द्रियमा सिद्ध है। पांच इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शहू ये नियत हो रहे हैं। किन्तु फिर मनका विषय कोई नियत नहीं है। सभी विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति योग्यतानुसार मानी गयी है। इस कारण '' नोइन्द्रियं अनिन्द्रियं, या न इन्द्रियं '' यो इन्द्रियका ईषत् प्रतिषेध करनेसे उन इन्द्रियोंका विधर्मपना मनमें प्रसिद्ध हो ही जाता है। यदि कोई यों कहे कि अर्थकी उपख्किय करनेमें कर्ती आत्माका करण होनेसे मन छठा इन्द्रिय मान छेना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि वह करणव या इन्द्रियक्षिमत्व हेतु तो यहां धूम, शहू, आदिक करके व्यभिचार दोष हो जानेसे आदर नहीं पायेंगे। देखिये, वे धूम आदिक भी आत्माको अर्थकी उपख्किय करनेमें साधकतम हो रहे करण हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं। किन्तु वे इन्द्रिय नहीं है। हेतु रह गया साध्य नहीं रहा अतः व्यभिचारदोष आया। फिर भी कोई कहें कि खुद्ध और अहंकारको इन्द्रियपना होनेसे पांच ही इन्द्रियां नहीं रहीं, सात हो गयीं, प्रच्यकार कहते हैं कि यों तो नहीं समझ बैठना। कारण कि आत्माक परिणाम हो रहे वे बुद्ध और अहंकार तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियके फछ हैं। विचारमें प्राप्त हो रहीं इन्द्रियां जब होती हुयीं, करण हैं। यें महान अन्तर है।

बाक्षाणिपादपायूपस्थानां कर्मेद्रियत्वास पंचैवत्यप्ययुक्तं, तेषां स्पर्शनांतर्भावात् । तत्राः नंतर्भावेतिग्रसंगात् ।

कपिल मतानुयायीकी शंका है कि वचनिकयाका निमित्त हो रही वाक् इन्द्रिय, हाय, पांव, गुदास्थान, जननेन्द्रिय ये पांच कर्मेन्द्रिय भी हैं। अतः पांच ही इन्द्रियां नहीं हुयीं, ग्यारह हो गयीं। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते है कि सांख्योंका यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि उन कर्मेन्द्रियोंका स्पर्शन इन्द्रियमें अन्तर्भाव हो जाता है। हाथ, पग, आदि सब व्यचाके अवयव हैं। यदि हाथ, पैर, आदिका उस व्यचा इन्द्रियमें अन्तर्भाव नहीं करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात्—कर्म यानी कियाओंको करनेवाले ओठ, अंगुली, नितंब, सिर, भोयें, ग्रीवा, आदिको भी पृथक इन्द्रियां मानना पढेगा, जो कि हम तुम किसीको भी इष्ट नहीं है।

पंचामामेव बुद्धिसाधनत्वाचेंद्रियाणां पांचिवध्यनिर्णयः कर्तव्यः स्पर्शादिक्षानकार्याणि हि तानि । तथाहि—स्पर्शादिक्षानानि करणसाधनानि क्रियात्वादिद्विपक्रियावत् । स्वसंवित्ति-क्रिययानेकांत इति चेका, तस्या अपि समनस्कानामंतःकरणकारणत्वात् परेषां स्वशक्तिविश्रेष-करणत्वात् । न चैकत्रात्मिनि कर्तृकरणरूपविरोधः प्रतीतिसिद्धत्वादिति निरूपितं प्रास्त् । ततः स्पर्शादिक्षानेभ्यः कार्यविश्रेषेभ्यः पंचभ्यः पंचेन्द्रियाणीति सामध्यात् मनोनिद्वियं षष्ठिमिति सूत्र-कारेण निवेदितं भवति । सेनैतैर्व्यवस्थितैर्योगो दिनिचतुः पंचेद्वियाः संक्रिनश्र त्रसा इति निश्रीयते ।

ं दूसरी बात यह है कि यहां उपयोगका प्रकरण है। अतः बुद्धिको साधनेवाली होनेसे पांच ही क्रानेन्द्रियां हैं । तुमको भी बुद्धि इन्द्रियोंके पांच प्रकारपनका निर्णय करना होगा वे पांच है। इन्द्रियां स्पर्श, आदि पांच विषयोंके हानस्वरूप कार्योंको करती हैं। उसीको स्पष्ट कर यों कहा जाता है। स्पर्श, रस, आदिके ज्ञान (पक्ष) करणसे साधे गये कार्य हैं (साध्य) किया होनेसे (हेतु) इन्द्रियोंकी कियाके समान (अन्ययद्षष्टांत) । कोई इस अनुमानमें दोष उठाता है कि ज्ञानकी स्वयं अपने आप संवित्ति हो जाती है। किसी अन्य करणकी आवश्यकता नहीं है। यें। स्वसंवित्ति क्रियामें कियाल हेत तो रह गया, किन्तु करणसे साधन होना यह साध्य नहीं रहा । अतः हेत्का व्यभिचारदोष हुआ । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि ज्ञान स्वयंको अपने आप जानता है। उस स्वसंवित्ति कियाकी भी मनवाले जीवोंके यहां अन्तरंग करण हो रहे मन इन्द्रिय को कारण मानकर उत्पत्ति हो रही है। हां, दूसरे मनरहित जीवों के अपनी शक्तिविशेषको करण मान कर ज्ञानका स्वयं सम्बेदन हो जाता है, अर्थात-मनवाले जीवोंके ज्ञान, सख, द:ख, इच्छा आदि चेतनात्मक पदायीका ज्ञान तो नोझन्द्रियमनसे होता है और एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों-तक ब्रान, सख, बेदना, इच्छा आदिका ब्रान उस अन्तरंग विशेष क्षयोपशमरूप करणशक्तिसे उपज जाता है। वह करणशक्ति आत्मासे अभिन हो रही आत्माका ही परिणाम है। एक आत्मामें कर्तापनका और करणस्वरूप इन दो धर्मोंके ठहरनेका विरोध नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे एकमें कई स्वभावोंका स्थित रहना सिद्ध होचुका है। अग्नि अपने दाहपरिणाम करके ईंधनको जलाती है, दीपक अपनी प्रभासे प्रकाश रहा है, कक्ष अपने बोझसे आप ही झुक गया है, यहां परिणाम और परिणा-मीकी भेदिबिवक्षासे कर्तापन और करणपन एक ही पदार्थमें ठहर जाता है। इस बातको हम पहिले ' प्रकरणमें विस्तारपूर्वक कह चके हैं। तिस कारणसे सूत्रकार श्री उमास्त्रामी महाराज करके यह सिद्धांत निवेदन कर दिया गया हो जाता है कि इन्द्रियोंक विशेषरूप करके कार्य हो रहे स्पर्श आदि सम्बन्धी पांच ज्ञानोंसे पांच इन्द्रियां जान छी जाती है तथा पूर्वापर सूत्रोंकी सामर्थ्यसे छठा अवस्थित होनेसे अनिन्द्रिय कहा जानेवाला मन भी इन्द्रिय है। तिस कारण जीवोंका इन व्यवस्थाको प्राप्त हो चुकी पांच इन्द्रियोंकरके सम्बन्ध हो जाता है । दो इन्द्रियोंका योग हो जानेसे सीप, शंख आदि दो इन्द्रिय जीव जान लिये जाते हैं । स्पर्शन, रसना, व्राण, तीन इन्द्रियोंके योगसे जुआं, खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। उक्त तीन इन्द्रियोंमें चक्षको मिला देनेसे भोरा, मक्खी. आदिक चतुरिन्दिय प्राणी हैं। त्वचा, जिह्ना, नाक, आंखें, कान, इन पांचों इन्द्रियोंके सम्बन्धसे कोटी कोटी मेंडकी, मछली, आदि असंबी पंचेंब्रियजीव हैं। पांचों वे और छटे मनकी धार रहे घोडा, बैछ, तोता, मैना, मनुष्य आदि संक्षी पंचेंद्रिय जीव हैं। ऐसा युक्ति, आगम, अनुभव और प्रत्यक्ष प्रसाणसे निश्चय किया जा रहा है।

तानि पुनरिद्रियाणि पौद्रलिकान्येकविधान्येवेति कस्याचिदाक्तपपाक्वकाह ।

वे पांच इन्द्रियां फिर जड पुद्रलसे ही निर्मित की गयां हैं। आत्म परिणामरूप नहीं हैं तथा वे एक प्रकार ही हैं, इस प्रकार हुये किसी वैशेषिक या अन्य तटस्थ पण्डितकी कुचेष्टाका निराकरण कर रहे, सन्ते श्री उमास्वामी आचार्य आईत सिद्धान्तको अग्रिमसूत्र द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

द्विविधानि ॥ १६ ॥

वे पांचों भी इन्द्रियां द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन भेदोंसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं।

द्विः प्रकाराणीत्यर्थः प्रकारवाचित्वाद्विषश्चस्य । श्रक्तींद्रियाणि व्यक्तींद्रियाणि चेति द्विविधानि केचिन्यन्यते, मूर्तान्यमूर्तानि वेत्यपरे । सूत्रकारास्तु द्रव्येंद्रियाणि भावेंद्रियाणि चेति चेति निधायवमाहुः ।

विध शब्दके विधान, प्रकार, युक्त, गत ऐसे कई अर्थ होते हैं | किन्तु इस सूत्रमें प्रकार अर्थको कहनेवाले विध शब्दका प्रहण किया गया है | अतः प्रत्येक इन्द्रयां दो दो प्रकारवाली हैं | यह वाक्यका अर्थ हो जाता है | कोई मीमांसक यों मान रहे हैं कि शक्तिरूप इन्द्रियां और व्यक्तिरूप इन्द्रियां इस ढंगसे इन्द्रियोंके दो प्रकार है अथवा दूसरे कोई पण्डित मूर्त इन्द्रियां और अमूर्त इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो भेद बखान रहे हैं | कान, आकाशस्त्ररूप होनेसे अमूर्त हैं शेष चार इन्द्रियां और मन मूर्त हैं, किन्तु यहां तत्वार्धसूत्रको बनानेवाले श्री उमास्वामी महाराज तो प्रत्येक इन्द्रियां क्र्य इन्द्रियस्वरूप और भाव इन्द्रिय स्वरूप हैं, इस प्रकार चित्तमें धारण कर इस " द्विविभाने " सूत्रको कह रहे हैं । अर्थात्—किन्हीं वैशेषिक या अन्य विद्वानोंके मतका हम विरोध नहीं करते हैं । लिन्धरूप शक्ति इन्द्रिय और व्यक्ति रूप उपयोग अथवा शक्तिरूप इन्द्रियाविक्त आत्मप्रदेश और पीद्रिकिक रचनास्वरूप व्यक्त इन्द्रिय हमको भी अभीष्ट हैं । इन्द्रियोंके मूर्त अमूर्त भेदोंका भी हम तिरस्कार नहीं करते हैं । लिन्ध, उपयोग, ये भावन्द्रियां और आतम प्रदेशक्तप निर्वृत्तिको जैन सिद्धान्तमें अमूर्त माना गया है । हां, उन आत्म प्रदेशोंपर रचे गये इन्द्रियाकार पीद्रिकिक परिणामको मूर्त इन्द्रिय इष्ट किया है । किन्तु ये और इनसे न्यारे अन्य भी भेद, प्रभेद, इन्हीं दो द्रव्येन्द्रिय और मावन्द्रिय भेदोंमें गतार्थ हो जाते हैं । सूत्रकारका यह अभिप्राय व्यनित हो रहा है ।

यद्येवं कानि द्रन्येंद्रियाणीत्याह ।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इस प्रकार द्रव्येदिय और भावेन्द्रिय दो भेद हैं, तो इन्द्रियोंक। पहिला भेद द्रव्येन्द्रियां कौन हैं ? बताओं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधान-कारक सूत्रको कहते हैं।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥ १७ ॥

पौद्रिक कर्मको धेरक निमित्त पाकर कर्ता आत्मा जिस आत्मसम्बन्धी या पुद्रलसम्बन्धी परिणामको बनाता है वह निर्शृत्ति है तथा निर्शृत्तिका उपकार करनेवाला उपकरण होता है। यों निर्शृत्ति और उपकरण यों दो दो भेदस्वरूप पांचों द्रव्येन्द्रियां हैं।

निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः सा देघा बाह्याभ्यंतरभेदात् । तत्र विश्वद्धात्मप्रदेशवृत्तिरभ्यंतरा तस्यामेव कर्मोदयापादितावस्थाविश्लेषः पुद्रस्थ्रपचयो बाह्या ।

अप्रेरक निमित्त हो रहे आत्मा कर्ताको परवश करनेवाले प्रेरक निमित्त नाम कर्म करके आत्म पुरुषार्थ द्वारा जो आत्मा या पुद्रलकी परिणतियां बनवाई जाती है वे निर्वृत्तिस्बरूप इन्द्रियां है। इस प्रकार अन्याप्ति, अतिन्याप्ति, असम्भव, दोषोका निवारण करनेवाले कई विशेषणोंको लगाकर निर्वति शदकी निरुक्तिसे निर्दोष अर्थ निरुक्त लिया गया है। यह निर्वति बाह्य और अभ्यंतर भेदोसे दो प्रकार है। तिन दो प्रकारोंमें विशुद्ध आत्माक प्रदेशोंका वर्त्तना तो अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आतमादेश स्वरूप अस्यन्तर निर्वत्तिमें ही कर्मीके उदयसे विशेष अवस्थाको प्राप्त कराया गया पुद्रल पिण्ड तो बाह्यनिर्दाति है। अर्थात ---अंगुलके असंख्यातवें भाग या संख्यातवें भाग अथवा संख्यात घनांगुल परिमित विद्युद्ध आत्मप्रदेशोंकी चक्षु, श्रोत्र, प्राण, जिह्वा, त्वचा, स्वरूप रचना हो जाना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है । यह जीवतत्त्र आत्मक पदार्थ है तथा योग द्वारा प्रहण आहारवर्गणाओंमेंसे शरीर और श्वासोच्छुासके उपयोगी द्रव्यसे शेप बचे हुये की गयी स्वलप बढिया पुद्रल द्रव्यकी मसूर, यवनाली, तिलपुष्प, (या धतुर पुष्प,) खुरपा अथवा अपने अपने शरीर अनुसार अनेक प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय आकृति ऐसी रचनाको धार रहा पटल प्रचय तो बाह्यनिर्वृत्ति है। यह पुद्रल तत्त्व है, जैसे कि आंखोंके भीतर इन्द्रिय आकारवाले आत्माके चेतन प्रदेश आंखडिन्द्रयकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आत्मप्रदेशीपर उपादान कारण आहारवर्गणाका इन्द्रिय पर्याप्तिस्वरूप आत्मपुरुपार्थ द्वारा बना दिया गया मसर सारिखा अतीन्द्रिय पदल विवर्त तो आंखकी वाद्य निर्वृत्ति है। यह द्रव्येन्द्रिय अतीन्द्रिय है। अन्य दर्शनोंमें प्रायः यही इन्द्रिय बखानी गयी है। शेष इन्द्रिय भेदोंकी गहराईतक वे नहीं पहुंच पाय है।

उपक्रियतेनेनेत्युपकरणं । तदिप द्विविधं बाह्याभ्यंतरभेदात् । तत्र बाह्यं पक्षपुटादि, कुष्ण-सारमंडलाद्यभ्यंतरं । निर्दृत्तिश्चोपकरंणं च निर्दृत्युपकरणे द्रव्येद्रियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं ।

जिस अवयव करके विशेष आत्म प्रदेश और विशेष पुद्रल रचनास्त्ररूप निर्मृतिका उपकार किया जाता है वह उपकरण इन्द्रिय है। वह उपकरण भी बाह्य और अभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका है। उनमें बाह्य उपकरण तो नेत्रइन्द्रियके दोनों पलक, रोमावली, आदि हैं तथा नेत्रके भीतरका शुक्ल भाग और उसके भी बीचमें पड़ा हुआ गोल काला था तिल अंश ये सब नेत्र इन्द्रियके अभ्यन्तर उपकरण है। कृष्णसारका अर्थ चक्षुगोलक किया जाय। निर्कृति और उपकरण यो इतरेतर योग इन्द्र करने

पर निष्टाति और उपकरण ये दो द्रव्येन्द्रिय हैं। यो जातिकी अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय शब्दमें एक वचन कह दिया गया है। अन्यथा निर्वृत्ति और उपकरण इस दिवचनान्त उदेश्य दलका सामानाधिकरण होनेसे दिवचन "द्रव्येन्द्रिये " कहना चाहिये या। अथवा पांची इन्द्रियोंको द्रव्येन्द्रियकी विधि करनेकी अपेक्षा द्रव्येन्द्रियाणि यह बहुवचनपद प्रयोग उपयोगी पडता। किन्तु जाति शब्द मानकर एक वचन कह देनेसे सभी प्रयोजन सिद्ध होजाते हैं। गेंद्रू मन्दा है, चना तेज है, यहां जातिमें एक बचनका प्रयोग है। वैसा ही सूत्रमें जान लेना।

कुतः पुनस्तानि प्रतिपद्यंत इत्याह ।

वे निर्वृत्ति और उपकरणस्वरूप इन्द्रियां फिर किस प्रमाणसे जान्हीं जातीं हैं शबताइये, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

द्विविधान्येव निर्वृत्तिस्वभावान्यनुमिन्वते । सिद्धोपकरणात्मानि तच्च्युतौ तद्विदश्च्युतेः ॥ १ ॥

बाह्य, अभ्यन्तर, निर्वृत्ति स्वरूप और प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे बहिरंग अन्तरंग उपकरण स्वरूप दो प्रकारकी ही इन्द्रियोंको विद्वान अनुमान द्वारा जान रहे हैं, यहां व्यतिरेक घट जाता है। यदि उन इन्द्रियोंकी च्युति कर दी जायगी तो उन निर्वृत्ति और उपकरणसे उत्पन्न हुई सैविसिओं-की भी च्युति हो जायगी।

बाह्याभ्यंतरोपकरणेंद्रियाणि तावत्यासिद्धान्येव तद्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायिनां स्पर्कादिक्षानानाधुपलंभात् । बाह्याभ्यंतरनिर्द्धत्तिस्वभावानि चेंद्रियाणि तत एवानुपीयंते व्यापार-वत्स्वप्युपकरणेंद्रियेषु विषयालोकमनस्यु च संनिहितेषु सत्यपि च भावेंद्रिये कदाचित्स्पर्कादि-क्रानानुत्पत्तेरन्यथानुपपत्तेस्तच्च्युतावेव तद्दिद्रच्युतिसिद्धेः ।

सबसे प्रथम बाह्य उपकरण और अभ्यन्तर उपकरण स्वरूप इन्द्रियां तो बालक बालिकाओं, पशु पिक्षयों, तकको प्रसिद्ध हो ही रहीं हैं | क्योंकि उन बिहरंग, अन्तरंग, उपकरणोंके व्यापारके साथ अन्वय, व्यतिरेकका अनुविधान करनेवाले स्पर्श, रस, आदि ज्ञानोंकी उपलब्धि हो रही है | कारणके होनेपर कार्यका होना अन्वय है और नियत किये जानेवाले कारणके विना कार्यका न होना व्यतिरेक है | स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शद्धके ज्ञानोंका उपकरण इन्द्रियोंके साथ अन्वयव्यतिरेक बन रहा है | आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें जो निमित्तकारण पढ़ेगा वह इन्द्रिय है | यह लक्षण पहिले बांधा जा चुका है | तथा तिस ही हेतुसे यानी स्पर्श, आदिके ज्ञानोंकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे ही बाह्यनिवृत्ति और अभ्यन्तरिवृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंका भी अनुमान कर लिया जाता है | देखिये, व्यापारको धार रही भी उपकरण इन्द्रियोंके होनेपर और स्पर्श, स्पर्शवान्, रस, रसवान्

आदि विषयोंको जाननेके लिये उत्सुक हो रहे मनके सिनिहित होनेपर भी तथा लिथस्वरूप भावेन्द्रियके होते हुये भी कभी कभी स्पर्श आदिके ज्ञान नहीं उपज पाते हैं। वह ज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा यानी निर्वृत्तिस्वरूप इन्द्रियोंको माने विना नहीं वन पाती है। अतः निर्वृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंको ध्युति होनेपर ही उन स्पर्श आदिके ज्ञानोंकी च्युति हो जाना सिद्ध है। इस प्रकार अविनामावी हेतुसे निर्वृत्ति इन्द्रियां सिद्ध कर दी गयी हैं। पांचों इन्द्रियोंमें और मनमें भी दोनों प्रकारके निर्वृत्ति और उपकरणोंको समझ लेना चाहिये।

कानि पुनर्भावेंन्द्रियाणीत्याह ।

दो प्रकारकी इन्द्रियोंमें पिछलीं भावेन्द्रियां फिर कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहतें हैं ।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

लिय और उपयोग स्वरूप भावेंद्रियां है। भावार्थ-पांचों इन्द्रियां और छठे मनके भावेंद्रिय रूपसे प्रत्येकके लिय और उपयोग ये दो दो भेद हो रहे हैं।

इन्द्रियनिर्श्वतिहेतुः क्षयोपश्चमविशेषो लिन्धः तिन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः क्रन्थ-श्रोपयोगश्च लन्ध्युपयोगौ भावेंद्रियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं ।

द्रव्य इन्द्रियों की निर्शृति (बनाने) का निमित्त कारण हो रहा क्षयोपशम विशेष तो छन्धि है। अर्थात् जानावरण कर्मों के क्षयोपशमसे हुयी विश्विद्ध द्वारा आत्मा द्रव्येदियों का सम्पादन करता है। जिस आत्माके पास स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होगा उस आत्माके केवल एक ही स्पर्शन हव्य इन्द्रिय बनेगी। मनुष्य जीवके विश्वहगतिमें छक्त इन्द्रियोंका क्षयोपशम हो रहा है। अतः गर्भावस्थामें जन्म लेते ही छक्त द्रव्येदियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है तथा उस लिक्षको निमित्त मानकर हुआ आत्माका परिणामविशेष तो उपयोग है। लिक्ध और उपयोग यों द्वन्द्व समास करनेपर कल्युपयोगों " यह पद बन जाता है। ये दोनों माव इन्द्रिय हैं, ऐसा वाक्यार्थ कर लिया जाता है। छह इन्द्रियोंके दो दो मेद होकर बारह भावेदियां हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा करके "भावेदियम्" ऐसा वष्टन सूत्रमें कह दिया है। एकेंद्रियसे लेकर संज्ञी पञ्चेदियपर्यंत अनेक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके भी द्रव्येदियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है। पूर्णता नहीं हो पाती है। तदनुसार उनके लिधकप इन्द्रियां मानी जाती है।

कुतः पुनस्तानि परीक्षका जानत इत्याह ।

परीक्षक विद्वान् फिर उन भावेंद्रियोंको किस प्रमाणसे जानते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानंद स्वामी उत्तर कहते हैं ।

भावेन्द्रियाणि लब्धात्मोपयोगात्मानि जानते । स्वार्थसंविदि योग्यत्वाद्यापृतत्वाच संविदः ॥ १ ॥

लिधस्त्ररूप और उपयोगस्त्ररूप हो रहीं भावेंद्रियोंको पण्डितजन जान रहे हैं (प्रतिशाक्त्रा) स्व और अर्थके ज्ञानमें योग्यता होनेसे तथा सम्वित्तिके न्यापार युक्त होनेसे (हेतु) अर्थात्—स्वार्थसम्बित्तिकी योग्यतासे लिधस्वस्त्य भावेंद्रियका अनुमान हो जाता है और सम्बित्तिके न्यापारसे उपयोग आत्मक इन्द्रियोंका अनुमान कर लिया जाता है।

छन्धिस्वभावानि तावद्भावेद्रियाणि स्वार्थसंविद्यो योग्यत्वादात्मनः प्रतिपद्यंते । न हि तत्रायोग्यस्यात्मनस्तदुत्यत्तिराकाशवत् स्वार्थसंविद्योग्यतेव च छन्धिरिति छन्धिद्रियसिद्धिः । उपयोगस्वभावानि पुनः स्वार्थसंविदो च्यापृतत्वािक्षित्रिन्वंति । न ह्यच्यापृतािन स्पर्शादिसंवेद-नािन पुंसः स्पर्शादिप्रकाशकािन भवितुमहित सुषुप्तादीनामपि तत्प्रकाश्चनप्रसंगात् ।

प्रथम ही लिब्धस्वरूप छह भावेन्द्रियां तो स्वार्थोंकी संवित्ति करनेमें योग्यतासे आत्माके हो रही समझ ली जातीं हैं या विद्वान् इन्द्रियोंको समझ लेते हैं। उस स्वार्थसम्वेदनमें अयोग्य हो रहे आत्माके उन विद्युद्धिस्वरूप लिब्धयोंकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। जैसे कि आकाश द्रव्यके क्षयोपशम विशेष नहीं उपजता है। और स्वार्थसम्वित्तिकी योग्यता ही तो लिब्ध है। इस प्रकार अनुमान प्रमाणसे लिब्ध स्वरूप इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है तथा फिर उपयोगस्वरूप दूसरीं भावेन्द्रियोंको स्वार्थसम्वित्तिका व्यापार करनेसे पण्डितजन निर्णीत कर लेते है। व्यापाररहित हो रहे स्पर्श आदिके सम्बेदन तो आत्माको स्पर्श आदिके प्रकाशक नहीं हो सकते हैं। अन्यथा गाढ सोती हुयी अवस्थावाले या मूर्छित हो रहे आदि पुरुषोंको भी उन स्पर्श आदिके प्रकाश जानेका प्रसंग हो जायगा। अतः व्यापार कर-स्पर्श आदिको प्रकाश रहे ज्ञान या दर्शन तो उपयोगस्वरूप भावेन्द्रियां हैं।

स्वार्थप्रकाशने व्यापृतस्य संवदनस्योपयोगत्वे फळत्वादिंद्रियत्वानुपपत्तिरिति चेक्क, कारण-धर्मस्य कार्यानुवृत्तेः । न हि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं विरुध्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येंद्रियत्वं तेनैव फळत्विपष्यते यतो विरोधः स्यात्, साधकतमत्व-स्वभावेन हि तस्येंद्रियव्यपदेशः क्रियारूपतया तु फळत्वं प्रदीपवत् । प्रदीपः प्रकाशात्मनाः प्रकाशयतीत्यत्र हि साधकतमः प्रकाशात्मा करणं क्रियात्मा फछं स्वतंत्रात्मा करोंति प्ररूपितमायं ।

किसीकी शंका है कि स्वार्धोंके प्रकाशनेमें व्यापार युक्त हो रहे सम्वेदनको उपयोगपना मान-नेपर फल होजानेके कारण इन्द्रियपना नहीं बन सकता है, अर्धात्—इन्द्रियोंका फल उपयोग है, वह मला करणस्वरूप इन्द्रिय कैसे हो सकता है ? आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि कारणोंके धर्मकी कार्योमें अनुवृत्ति हो जाती है। कारणमें इन्हियपना है तो उसके कार्य बन रहे उपयोगमें भी इन्हियपनेका व्यवहार हो जाता है। देखो, अग्निको प्रकाशकपना माननेपर उस अग्निके कार्य हो रहे दीपकको प्रकाशकपना विरुद्ध नहीं पडता है। एक बात यह है कि जिस ही स्वभाव करके उपयोगको इन्हियपना कहा जाता है उस ही स्वभाव करके फल्पना इष्ट नहीं किया जाता है, जिससे कि विरोध दोष हो जाय। देखो, स्वार्थसम्बित्ति कियाको करनेमें प्रकृष्ट साधकपन स्वभाव करके ही उस उपयोगको इन्हियलका व्यपदेश है और कियास्वरूप होनेसे उपयोगको फल्पनेका निरूपण है। प्रदीपके समान। एक पदार्थमें भी करणपना और फल्पना घटित हो जाता है, अर्थात्—प्रदीप (कर्ता) अपने प्रकाश स्वभाव करके (करण) पदार्थोको या स्वयंको (कर्म) प्रकाश रहा है (क्रिया)। यहां इस वाक्यमें प्रकाशन कियाका साधकतम हो रहा प्रकाशस्वरूप करण है और प्रकाशन कियास्वरूप फल है तथा स्वतंत्र हो रहा प्रदीप आत्मक कर्ता है। इस बातको हम कई बार निरूपण कर चुके हैं। इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगमें प्रधानतासे विद्यमान है। कथंचित् भेद, अभेद, होनेसे उपयोगमें कितने ही अनेक स्वभाव घटित हो जाते हैं।

किं न्यपदेशलक्षणानि तानींद्रियाणीत्याइ।

किसीका प्रश्न है कि उन इन्द्रियोंका नाम निर्देश क्या है ! और किस लक्षणवाली वे इन्द्रियां है ! इस प्रकार बुमुत्सा होनेपर शिष्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्र द्वारा इन्द्रियोंके नाम कीर्त्तन, आनुपूर्वी और निरुक्तिपूर्वक लक्षणको कह रहे है ।

स्पर्शनरसन्द्राणचक्षुः श्रोत्राणि ॥ १९॥

जिससे छुआ जाय ऐसी स्पर्शन इन्द्रिय १ आत्मा जिससे रसको चाटे यानी पुद्रलके स्वादको जाने ऐसी रसना इन्द्रिय २ सूँघनेमें आत्माका हेतु बन रही ब्राण इन्द्रिय ३ अथींको देखनेमें आत्माका निमित्त हो रही चक्षुः ४ तथा आत्माको शद्ध सुनानेवाला कान ५ इस प्रकार पांच इन्द्रियां है ।

स्पर्धनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्वहुलवचनात्। तैनान्वर्थसंक्षाकरणादेवंव्यपदेशान्येवेलक्षणानि च पंचेंद्रियाणीत्यभिसंबंधः कर्तव्यः।

सूत्रमें कहे गये स्पर्श आदि राद्वोंको करणसाधनपना है। क्योंकि वे परतंत्र हैं और स्वतंत्रता होनेसे स्पर्शन आदि राद्व कर्तामें भी साध छिये जाते हैं। भावार्य नुदादि गणकी "स्पृश संस्पर्शन" धातुसे करणमें युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन राद्व साध छिया जाता है। चुरादि गणकी "रस आस्वादन-केहनयोः" धातुसे करणमें युट् प्रत्यय कर देनेपर रसन राद्व बन जाता है। भ्यादि गणकी "ब्रांगन्धीपादाने" धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर ब्राण राद्व सध जाता है। अदादि गणकी 'ब्रांगन्धीपादाने" धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर ब्राण राद्व सध जाता है। अदादि गणकी 'ब्रांशन्व व्यक्तायां वाचि" धातुसे उसि प्रत्यय कर देनेसे चक्षः राद्व साधु हो जाता है। स्वादि

गणीय " श्रु श्रवणे " धातुसे वर्ष् प्रत्यय करनेपर श्रोत्र राह्नकी सिद्धि हो जाती है। इतनकी उत्पत्तिमें इन्द्रियां करण हैं। अतः परतंत्रपनेकी विवक्षासे करणमें युट् आदि प्रत्योंको कर छेना। हां, स्पर्शन इन्द्रिय छू रही है, रसना इन्द्रिय चाट रही है, यों स्वतंत्रताकी विवक्षा होनेपर कर्तामें भी उक्त पांचों शद्धोंको साध छिया जाता है। " युड्च्या बहुछम् " यहां " बहुछ " वचनसे कर्तामें भी युट् प्रत्यथकी विधि हो जाती है तिस कारण इन स्पर्शन आदिकोंकी शद्ध निरुक्तिके अनुसार अर्थवाचक संज्ञा कर देनेसे इस प्रकार स्पर्शन, रसन, आदि व्यपदेशको धारनेवाछी ये इन्द्रियां हैं। यों शद्धार्थ कर छिया जाय तथा निरुक्ति अनुसार निर्दोष छक्षण घट जानेसे इस प्रकार छक्षणवाछी भी पांच इन्द्रियां हैं। इस ढंगसे पूर्व सुन्नोको मिळाकर वाक्यार्थका सम्बन्ध कर छेना चाहिये।

स्पर्शनस्य प्रहणमादौ शरीरच्यापित्वात्, वनस्पत्यंतानामेकमित्यत्राभीष्टत्वात् सर्वसंसारिष्ट्रपल्रब्धेश्च । ततो रसनद्राणचश्चषां कमवचनश्चत्तरोत्तराल्पत्वात्, श्रोत्रस्यति वचनं बहुपकारित्वात् । रसनमपि वक्तृत्वेन बहूपकारीति चेत् न तेन श्रोत्रप्रणालिकापादितस्योपदेशस्योचारणात् तत्यारतंत्र्यस्वीकरणात् । सर्वक्षे तदभाव इति चेक्, इन्द्रियाधिकारात् । न हि
सर्वक्षस्य शब्दोचारणे रसनव्यापारोस्ति तीर्थकरत्वनामकर्मोद्योपजनितत्वात् भगवत्तीर्थकरावगमस्य करणव्यापारापेक्षत्वे कमश्चत्तित्रसंगात् । सकल्वीर्यीतरायक्षयान् कमश्चतिस्तस्येति
चेत्, तत एव करणापेक्षापि मा भूत् । ततः स्रकं श्रोत्रस्यांते वचनं बहूपकारित्वादिति ।

सम्पूर्ण पौद्रलिक रारीरमे ओत, पोत, व्याप रही होनेसे स्पर्शन इन्द्रियका सम्पूर्ण इन्द्रियोंके आदिमें प्रहण किया गया है और " पृथ्वित लेकर वनस्पतिपर्यत जीवोंके एक, प्रधान, या प्रथम स्पर्शन इन्द्रिय है, " इस प्रकार यहां भविष्य सूत्रमें अभीष्ठ होनेसे भी सबके पिहले स्पर्शन इन्द्रियका प्रहण है। सबसे बढ़ी बात तीसरी यह है कि संपूर्ण संसारी जीवोंमें स्पर्शन इन्द्रियकी उपलब्ध हो रही है। अतः नाना जीवोंकी अपेक्षा व्यापक होनेसे आदिमें स्पर्शनका उपादान सूत्रकारने किया है। उसके पीछे रसना, प्राण, और चक्षुः इन तीन इन्द्रियोंका क्रमसे वचन किया है। क्योंकि उत्तर उत्तर थोड़े प्रदेश अथवा थोड़े थोड़े स्वामी हैं। अर्थात्—''चक्ख् सोदं घाणं जिम्भायारं मस्रजवणाली। अतिमृत्तखुरप्पसमं पासं तु अणेय संठाणं॥ अंगुलअसंखभागं संख्यातुणां तदो विस्सिहियं। तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेज्जयं तत्तु " इन गोम्मटसार जीवकाण्डकी दो गाथाओंके अनुसार सब से थोड़े प्रदेश चक्कुःके माने हैं। चक्कुःसे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश संख्यात गुणे हैं। श्रोत्र इन्द्रियने जितने आत्मप्रदेशोंको घेरा है, उनसे पत्यके असंख्यातमें माग अधिक आत्मप्रदेशोंको प्राण इन्द्रियने प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर अल्प है। हां, श्रोत्रके प्रदेश चक्कुसे अधिक हैं। उसका अभी कथन ही नहीं है। तथा " वितिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेणहिदपदरं " इस गाथा अनुसार दीन्द्रयोंकी अपेक्षा

श्रीन्त्रिय जीव और त्रीन्द्रियोंकी अपेक्षा चतुरिन्द्रियोंके धारी जीत्र भी थोडे थोडे हैं। सर्व इन्द्रियोंके अंतमें क्का इन्द्रियका कथन यों किया गया है कि सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय इस जीवका बहुत उपकारी है। कानोंसे उपदेशको सुनकर अनेक जीव हितकी प्राप्ति और अहि-लका परिहार कर छेते हैं। उत्कृष्ट बानी या तत्त्वकानी बन जाना कानोंसे ही साध्य हो रहा कार्य है। सभी मोक्षरामी जीव कानेंसि उपदेशको सनकर देशनालन्धि द्वारा साक्षात या परम्परास मिकलाम कर सके हैं। जीवको विशेषन बनानेवाला श्रोत्र ही है। यहां किसीकी शंका है कि रसना इन्द्रिय भी तो वक्तापने करके बहुत उपकारी हो रही है। स्वर्ग या मोक्षके उपयोगी पर्दीका उचारण करना, अध्ययन करना, जाप्य देना, इनमें रसना इन्द्रिय कारण है । अतः रसना ही अन्तमें कहनी चाहिये । आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि तुमने श्रोत्रको बहुत उपकारी स्वीकार कर पुनः रसनाका भी बहुत उपकारीयना आपादान किया है । अतः तुम्हारे मुखसे ही हमारी बातका समर्थन हो जाता है। एक बात यह भी है कि श्रोत्रकी प्रंणालिकासे विषयको निर्णीत कर पुनः उस रसनासे उपदेशका उचारण होता है । अतः रसनाको <mark>श्रोत्रकी परतंत्रता तुमको स्वीकार करनी पडेगी।</mark> यहां रसन शब्दसे जिह्नाका ख़ुरपाके समान क्या, चौडा, मोटा उपकरण लेना, कर्मेन्द्रियोंको माननेवाले जिसको कि वाक शब्दसे पकडते हैं। सच पछो तो रसना केवल स्वाद लेनेमें चिरतार्थ हो रही है। हा. चर्मकी जिव्हा वक्तापनेमें न्यापार करती है। यों बोलनेमें उपकरण हो रही जिन्हाने श्रोत्र इन्द्रियकी पराधीनता अङ्गीकार कर रक्खी है। पुनः यहां कोई यो शंका करता है कि सर्वज्ञमें उस श्रोत्रकी परतंत्रताका अभाव है। अर्थात-सर्वज्ञ मगवान तो श्रोत्रेन्द्रियके बलाधानसे अन्य वक्ताओसे पदार्थका निर्णय कर पुनः वक्तापन को प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु सर्वज्ञदेव तो ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे केवळज्ञानको उपजाकर वक्ता-क्न करके सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश कर देते हैं । अतः रसना ही बहुत उपकारक प्रतीत होती है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यहां प्रकरणोंने इन्द्रियोका अधिकार चला आ रहा 🕯 । अतः जिन जीवोंमें इन्द्रियोंसे किया गया हित. अहित. उपदेश है, उन जीवोंके प्रति श्रोत्र इन्द्रिय अधिक उपकारी मानी गयी है। अतीन्द्रियज्ञानधारी सर्वज्ञ देव भी बात न्यारी है। सामान्य पुरुषोंमें देखी गयी टेक्का विशिष्ट पुरुषोंमें भी आपादान नहीं करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि उच्चारण करनेमें सर्वज्ञके रसना इन्द्रियका व्यापार नहीं है। नामकर्मकी विशेष प्रकृति तीर्थकरत्वके उदयसे भग-बानुके सर्व अंगोंसे निकल रही मेघगर्जनके समान दिव्यध्वनि भन्योंके भाग्यवश उपज जाती है। अतः सर्वद्वकी वक्तृत्व कलामें रसनाका कोई व्यापार नहीं है। हां, अन्य वक्ताओंकी वचनकलामें रसना की श्रोत्रकी पराधीनता अनिवार्य है। वे वक्ता पहिले अपने गुरुओंसे स्वकीय श्रोत्र द्वारा वाच्यार्थका निर्णय कर पश्चात् जिन्हासे उपदेश देते हैं। भगवान् तीर्थकरके ज्ञानको यदि इन्द्रियोंके व्यापारकी आपेक्सा मानी जावेगी तो ज्ञानकी कम कामसे प्रश्नति होनेका प्रसंग होगा। जोकि किसी भी सर्वज्ञवादीको

इष्ट नहीं है। सर्वज्ञ देव युगपत् त्रिकोक त्रिकाळवर्ती पदार्थीका प्रत्यक्ष ज्ञान कर रहे हैं। यदि कोई यों कहें कि सम्पूर्ण वीर्यान्तराय कर्मीका क्षय हो जानेसे उस सर्वज्ञके ज्ञानकी क्रमसे प्रश्चति नहीं होगी। अनन्तशाकिहाए सबका ज्ञान युगपत् हो जायगा। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे अर्थात्—वीर्यान्तरायका क्षय हो जानेसे ही सर्वज्ञके ज्ञानको इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी नहीं होने। सर्वज्ञके ज्ञानमें प्रथम इन्द्रियोंकी अपेक्षा मान कर पीछे अनन्त वीर्य होनेसे क्रम प्रवृत्तिका रोकना क्रिष्ट कल्पना है। तिस ही से तो हमने बहुत अच्छा यो कहा था कि बहुत उपकारी होनेसे उमास्वामी महाराजने सर्व इन्द्रियोंके अन्तमें श्रोत्रका कथन किया है। इस प्रकार प्रकरणको समाप्त कर दों तो अच्छा है।

एकैकबुद्धिशापनार्थे वा स्पर्शनादिक्रमवचनं ।

अथवा यह सिद्धान्त उत्तर सबसे अच्छा है कि भविष्य चौथे सूत्रमें छट, चीटी, भोरा, मनुष्य, आदिकोंके एक एक बढी हुयीं इन्द्रियां कहीं जावेंगी । अतः एक एक इन्द्रियकी योग्यतानुसार वृद्धिको समझानेके छिये स्पर्शन, रसन, आदि इन्द्रियोंका क्रमसे वचन किया गया है। अन्यथा इन्द्र करनेपर अल्प अक्षरवाछी या पूज्य इन्द्रियका पिहले प्रयोग हो जाता। बात यह है कि जीवोंके इन्द्रियोंकी वृद्धि जिस जिस क्रमसे हुई है, उसी ढंगसे सूत्रमें इन्द्रियोंका पाठकम है।

कुतः पुनः स्पर्शनादीनि जीवस्य करणान्यर्थोपलब्धावित्याइ।

यहां कोई जिज्ञासु पुनः पूंछत। है कि जीवके अर्थकी उपलब्धि करनेमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियां करण हो रहीं हैं, यह किस प्रमाणसे निर्णय किया जाय १ इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

स्पर्शनादीनि तान्याहुः कर्तुः सांनिध्यवृत्तितः । क्रियायां करणानीह कर्मवैचित्र्यतस्तथा ॥ १॥

कर्त्ता आत्माके सिनिकट वर्तीपनसे प्रवृत्ति करनेसे आचार्य उन स्पर्शन आदिकोंको इसि कियामैं करण कह रहे हैं तथा कर्मोंकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेंद्रिय हो। रहीं हैं, अर्थात् नामकर्मकी विचित्रतासे उत्पन्न हुयीं द्रव्य इन्द्रियां तो ज्ञान करनेमें आत्माकी करण हो जातीं हैं और ज्ञानावरमं तथा वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेन्द्रिय हो जाती हैं।

स्पर्धनादीनि द्रव्येंद्रियाणि तावशामकर्मणो वैचित्र्याद्युपलब्धेरात्मनः स्पर्धादिपरिच्छे-दनिक्रयायां व्यापियमाणस्य सांनिध्येन दृत्तेः करणानि लोके मतीयंते । भावेंद्रियाणि पुनस्त-दावस्णवीर्योतदायक्षयोपश्चमस्य वैचित्र्यादिति मंतव्यं ।

जगत्के विधाता नामकर्मकी विचित्रता, चमत्कृति, आदि देखी जा रही हैं। अतः स्पर्शन आदिक पांच द्रव्येद्रियां तो स्पर्श, रस, आदिकी परिन्छित्ति कियाको करनेमें साधकतम हो रहीं कर्त्वा आत्माकी सहायक कारण हैं। क्योंकि परिन्छिति क्रियामें व्यापार कर रहे आत्माके निकटवर्त्तीपने करके वर्तनेके कारण वे इन्द्रियां छोकमें करण हो रहीं जानी जाती हैं। हां, फिर उन उन स्पर्शज्ञान, रसज्ञान, आदिका आवरण करनेवाले ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां आत्मपरिणति स्वरूप भावेन्द्रियां हैं, ऐसा मान लेना चाहिये।

तेषां परस्परं तद्वतश्च भेदाभेदं प्रत्यनेकांतोपपत्तः। न हि परस्परं ताबिदिद्वियाणामभेदैकांतः स्पर्शनेन स्पर्शस्येव रसादीनामपि ग्रहणप्रसक्तिरिंदियांतरप्रकल्पनानर्थक्यात् । कस्यचिद्वैकल्पे साकल्पे वा सर्वेषां वैकल्पस्य साकल्पस्य वा प्रसंगात् । नापि भैदैकांतस्तेषामकत्वसंकलन्द्रान-जनकत्वाभावप्रसंगात् । संतानांतरिंदियवत् । मनस्तस्य जनकिमिति चेन्न, इंद्रियनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वासंभवात् । इंद्रियापेक्षं मनोनुसंधानस्य जनकिमिति चेत्, संतानांतरिंदियापेक्षं कृतो न जनकं ? प्रत्यासत्तरभावादिति चेत्, अत्र का प्रत्यासत्तिः अन्यत्रैकात्मतादात्त्स्यादेशकालभाव-प्रत्यासत्तीनां व्यभिचारात् । ततः स्पर्शनादीनां परस्परं स्यादभेदो द्रव्यार्थादेशात्, स्याद्रदः पर्यायार्थदेशात् ।

उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोका परस्परमे और उस उस इन्द्रियवाले आत्माके साथ भेद तथा अभेदके प्रति अनेकान्त बन रहा है। अर्थात्-इन्द्रियोंका परस्परमें कथांचिद् भेद, अभेद है तथा इन्द्रिय वाले आत्माके साथ भी इन्द्रियोंका कथांचित भेद अभेद है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद नहीं है। देखिये, इन्द्रियोंका परस्परमें एक दूसरेके साथ एकान्त रूपसे अभेद मानना तो ठीक नहीं पढ़ेगा । क्योंकि स्पर्शन इन्द्रियसे जैसे स्पर्शका प्रहण हो रहा है, वैसे ही अकेळी स्पर्शनसे रस, गन्ध, आदिकों-के भी प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा । जब स्पर्श, रसना, घाण, आदि सभी इन्द्रियां अभिन हैं तो ऐसी दशामें स्पर्शनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा । दूसरी बात यह है कि किसी एक इन्दियकी विकलता या सकलता हो जानेपर सभी इन्द्रियोंकी विकलता या सफलता हो जाने-का प्रसंग होगा । आंख या कानके टट जानेपर सभी इन्द्रियां नष्ट श्रष्ट हो जायंगीं, एकेन्द्रिय जीवके भी पांचों इन्द्रियां वन वैढेंगीं। अतः इन्द्रियोंका परस्परमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं। तथा उन इन्द्रियोंका परस्परमें एकान्त रूपसे भेद भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि एकपन और सकलन रूपसे क्कानकी उत्पत्ति करानेके अभावका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अन्य सन्तान यानी दूसरी दसरी भारमाओंकी इन्द्रियोंमें एकत्व रूपसे संकल्न ज्ञान नहीं हो पाता है । भावार्थ-देवदत्तसे जिन दत्त सर्वथा मिन है। देवदत्तने अपनी चञ्चसे घटको देखा, जिनदत्तने स्वकीय स्पर्शन इन्द्रियसे बटको छआ, ऐसी दशामें जिनदत्त यों नहीं कह सकता है कि जो ही मैं देखनेवाला था वही मैं घटको छ रहा है। कारण कि सर्वथा भिन्न ज्ञाताओं या उनकी इन्द्रियों द्वारा हुये ज्ञानों में जोडनेबाला संकलन बान नहीं बनता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंका भेद माननेपर जो ही मैं देख चुका हूं वहीं मैं हु रहा

हं, ऐसा एकत्व प्रत्यभिन्नान नहीं हो सकेगा । यदि कोई यों कहे कि दर्शन और स्मरणको कारण मान कर हुये उस प्रत्यभिद्वानका जनक तो मन है। इन्द्रियोंका अधिष्ठापक मन परस्परकी योजना कर देता है। आचार्य कहते हैं कि वह तो न कहना, क्योंकि इन्द्रियोकी मही अपेक्षा रखनेवाछे मनको उस प्रत्यभिन्नानका असम्भव है । यदि जनकपना यों कहें कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन तो प्रत्यमिज्ञानका जनक हो जायगा। यों कहनेपर तो हम • जैन कहेंगे कि तब तो सर्वथा भेद पक्षमें अन्य आत्माओं के इन्द्रियों की अपेक्षा रख रहा मन भला क्यों नहीं प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जाय ! अर्थात्—देवदत्तके देखे हुयेका यज्ञदत्तको अनुसन्धान हो जाना चाहिये । एक आत्माकी भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरे आत्मार्जीकी इन्द्रियोंका अधिष्ठायक मन हो जाय । यदि भेदवादी वैशेषिक यों कहें कि सम्बन्ध विशेषके न होनेसे वह मन अन्य आत्माओं के इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रख सकता है । हां, प्रकरणप्राप्त आत्माकी पांचों इन्द्रियोंके साधन इस मनका कोई विशेष नाता है। अतः उन इन्द्रियोंके विषयोंको अन्वित कर देता है, अन्यके विषयोंको नहीं, यो कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि भाई, एक आत्मद्रव्यके साथ तदात्मकपन हो जानेके अतिरिक्त यहां प्रकरणमें दूसरी भळा क्या प्रत्यासत्ति (नाता या सम्बन्ध) हो सकती है ं देशप्रत्यासत्ति, काळ प्रत्यासत्ति, भावप्रत्यासत्ति, इनका तो व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्—पांचों इन्द्रियोंकी एक द्रव्य (आत्मा) प्रत्यासत्ति माननेपर तो देवदत्तकी पांचों इन्द्रियोंमें अनुसंधान होना घट जाता है । साथमें सन्तानान्तरोंकी इन्द्रियोंमें परस्पर अनुसन्धान होनेका भी निराकरण हो जाता है। किन्त देशप्रत्यासत्ति मान लेनेसे इष्टकी सिद्धि और अनिष्टका दूषण ये नहीं बन पाते हैं। एक परीक्षा भवनमें बैठे हुये एक देशवर्त्ती अनेक छात्रोंमें परस्पर अनुसन्धान हो रहा नहीं देखा गया है। हां, यदि सक्ष्मतासे विचार करोगे तब तो एक देवदत्तके शरीरमें आंख, कान, नाक, जीभका भी न्यारा न्यारा स्थान नियत है। उनमें अनुसंधान नहीं हो सकेगा । अतः देशप्रत्यासत्ति द्वारा अनुसन्धान होना माननेमें अन्वय व्यक्ति-चार और न्यतिरेक न्यभिचारदोष आते हैं । कालप्रत्यासितमें भी उक्त दोष आते हैं । अर्थात-एक ही काळमे वर्त्त रहे अनेक जीवोंमें काळप्रत्यासत्ति होते हुये भी परस्पर अनुसन्धान **क्षान नहीं हो रहा है। साथमें** उसी बालक, युवा, वृद्ध, देवदत्तमें कालप्रत्यासत्तिके विना भी संकलन बान हो जाता है। इसी प्रकार भावप्रत्यासात्तियाँके भी व्यभिचार आते हैं। समान बान या सख. दःखको धारनेवाले जीवोंमें भाव प्रत्यासित्तं होते हुये भी परस्पर देखे, सुने, ख्रुये, चाटे, सूंघेका विषयगमन होकर अनुसन्धान नहीं हो रहा है। परिशेषमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ही निर्दोष ठहरती है। तिस कारण द्रव्यार्थिकनयद्वारा कथन करनेसे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें कथंचित अभेट है और पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे स्पर्शन आदिकोंका कथंचित भेद है।

एतेन तेषां तद्दतो भेदाभेदैकांती प्रत्युक्तौ । आत्मनः करणानामभेदैकांते कर्तृत्व-प्रसंगाचात्मवत् । आत्मनो वा करणत्वमसंगः, उभयोरुभयात्मकत्वपसंगो वा विशेषाभावात् । ा सारतेमां भेरेकाते चात्मनः करणस्वाभावः संतानांतरकरणवस् विपर्ययो वेत्यनेकांत एवासप-जीकः, भतीतिसद्भाषाद्वाभकाभाषाच । तथा द्रव्यद्वियाणामपि परस्परं स्वारंभकपुरुखद्वव्याच भैदाभेदं मत्यनेकातावकोद्धव्यः पुरुखद्वव्यार्थादेशादभेदोपपत्तेः । प्रतिनियतपर्यायादिशात्तेषां भैदीपपत्तेश्च ।

इस उक्त कथनकरके उन इन्द्रियोंका उस इन्द्रियवान आत्माके साथ सर्वथा भेद और एकान्त अभेदका भी खण्डन कर दिया गया है। देखो, आत्माका इन्द्रियोंके साथ यदि एकान्तरूपसे अभेद माना जायगा तो आत्माके समान इन्द्रियोंको भी कत्तीपनका प्रसंग हो जायगा । ऐसी दशामें इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा आत्मा और इन्द्रियोंका अभेद माननेपर इन्द्रियोंके समान आत्माको भी करण बन जानेका प्रसंग होगा । तथा आत्मा, इन्द्रिय, दोनोंको कर्त्ता, करण. दोनों आत्मकपनका प्रसंग हो जावेगा । क्योंकि सर्वथा अभेदपक्षको पकड छेनेपर किसीमें कोई विशेष प्रकारका अन्तर नहीं है। तथा उन इन्द्रियोका तद्वान उस आत्माके साथ यदि सर्वथा भेद माना जायगा तो अन्य आत्माओंकी इन्द्रियोंके समान प्रकरण प्राप्त आत्माकी भी ये इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी। अयोत-दूसरेकी इन्द्रियां सर्वथा भिन्न हो रहीं जैसे हमारे ज्ञानमें करण नहीं हो पाती हैं. उसी प्रकार भिन हो रहीं हमारी आत्मासे भी हमारी इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा विपर्यय ही हो जावेगा । यानी हमारी भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरोंकी इन्द्रियां भी हमारे ज्ञानमें करण बन बैठेंगी। इस कारण क्यांचित् भेद, अभेदस्वरूप अने मान्तका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। क्यांचित भेद, अभेदके स्याद्वाद सिद्धांतमें प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंका सद्धात है और बाधक प्रमाणीका अभाव है। तिसी प्रकार उक्त भावेंद्रियोंके समान पांचों द्रव्येंद्रियोंका भी परस्परमें और अपनेको बनानेवाले पद्रल द्रव्यसे हो रहे भेद अभेदके प्रति अनेकान्त समझ लेना चाहिये। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका सर्वत्र अधिकार है। पुद्रल द्रव्यस्वरूप अर्थकी विशेष अपेक्षासे तो द्रव्येदियोंका अभेद बन रहा है और स्पर्शन, रसना, आदि प्रत्येकके लिये नियत हो रही पर्यायस्वरूप अर्थकी अपेक्षा उन द्रव्येन्द्रियोंका भेद सिद्ध हो रहा है। सप्तभङ्गी अनुसार एकत्व और नानात्वसे अतिरिक्त आगेक पांच भंग भी लगा द्धेना । अभ्यन्तरनिर्वृत्ति स्वरूप द्रव्येद्रियोंका परम्पर या उपादान कारण आत्माके साथ कथंचित भेदाभेद है ।

इतींद्रियाणि भेदेन व्याख्यातानि मतांतरं । व्यवचिच्छित्सुभिः पंचसूत्र्या युक्त्यागमान्वितैः ॥ २॥

यों यहांतक युक्ति और आमम प्रमाणसे अन्वित हो रहे तथा इन्द्रियोंकी एक, दो, ग्यारह, इन संस्थाओंको माननेवाले अन्य मतोंके व्यवच्छेद करनेकी इच्छा रखनेवाले श्री उमास्वामी महाराजने पांच स्मृत्योंके सहदाय द्वारा भिन्न मिन्न करके पांच इन्द्रियोंको क्खान दिया है। अर्थात्—'' पंचेंद्रियानि '' दिविधानि, निर्कृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ब्युपनोमी मार्केन्द्रबम्, स्पर्शनस्त्रवामचक्षुःश्रोजानिः ' इत पांच सूत्रों करके नियत पांच इन्द्रियोंका व्याख्यान किया गया है।

इदानीमिंद्रियानिंद्रियविषयपदर्शने कर्तञ्बे, के ताबदिंद्रियविषया इत्याह ।

अब ईस समय इन्द्रियों और आनिन्द्रियके द्वारा जानने योग्य विषय अर्थका प्रदर्शन करना कर्त्तव्य होनेपर शिष्यकी " इन्द्रियोंके विषय तो भला कौन है ? " ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये उनके इन्द्रियों द्वारा ज्ञातव्य विषय हैं। अर्थात्—स्पर्शन इन्द्रियसे पुद्रलका स्पर्श जाना जाता है, रसना इन्द्रियसे पुद्रलका रस चला जाता है। बाण इन्द्रियसे पुद्रलका गंध स्ंघा जाता है। चक्षु:इन्द्रियसे पुद्रलका रूप देला जाता है और कर्ण इन्द्रिय द्वारा पुद्रलकी पर्याय हो रहा शब्द सुना जाता है। गुण, और गुणिका अभेद होनेसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शनवान् पुद्रल भी छूआ जाता है, रसनेंद्रिय द्वारा रसवान् पुद्रल भी चला जाता है आदि।

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपयतेः । तन्त्रव्यद्विद्यपरामर्तः देषा-मर्थास्तदर्थाः स्पर्शनादीनां कर्मविषयः स्पर्शादय इत्यर्थः । तदर्था इति इत्यनुष्यत्विक्सायध्यी-दिति चेत्, न चात्र गमकत्त्रात् नित्यसापेक्षेषु संबंधिश्वन्दवत् । य एव हि बाक्येर्यः संवक्षियते स एव इत्ताविति गमकत्वं नित्यसापेक्षेषु संबंधिश्वन्देषु कथितं, यथा देवदत्तस्य एक्कुलं देव-दत्तस्य गुरुपुत्रः देवदत्तस्य दासभार्येति । तथेहापि तन्त्रक्रव्यस्य स्पर्शनादिसापेक्षत्वेषि क्यक-त्वात् वृत्तिर्वेदितव्या ।

द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा बन जानेसे स्पर्स, रस, अवदिक सन्द तो कर्म और भाव अर्थमें साध लिये जाते हैं, अर्थात्—जब प्रधान रूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, तब इन्द्रिय करके विषय हो रहा द्रव्य ही पकड़ा जाता है। इस पुद्रल द्रव्यसे न्यारे कोई स्पर्श आदिक नहीं हैं। इन्द्रिय करके जो छुआ जाय वह स्पर्श है, चखा जाय वह स्स है, स्ंघा जाय वह गंध्र है, देखा जाय सो वर्ण है, जो बोला जाय वह राज्य है, इस प्रकार स्पर्श आदिक राज्योंकी कर्मसाणन निरुक्ति कर दी ममी है। किन्तु जब प्रधान रूपसे पर्याय विवक्षित है, तब मेद बन रहा है। उदासीनपनेसे अवस्थित हो रहे भावका कथन हो जाता है, तब छुना ही स्पर्श है, चखना रस है, स्ंघना गंध्र है, देखना मात्र वर्ण है, उच्चारण या सुनना राज्य है, इस ढंगसे स्पर्श आदि राज्योंकी भावमें प्रत्यक्षकर सिद्धि कर दी गयी है। सुक्रमें पड़े हुये पूर्वका परामर्थ करनेवाले तत् राद्धसे इन्द्रियों का परामर्श करलेना चाहिये। तब खें अर्थ हुआ कि उन इन्द्रियोंके विषय-भूत अर्थ यहां तदर्थ कहे जाते हैं। स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियोंक क्षतान्य कनने योग्य विकास के स्पर्श

आदिक हैं। यों उद्देश्य, विधेय, वाक्योंका मिलाकर वाच्यार्थ हो जाता है । किसीकी यहां शंका है कि " समर्थः पदानिधिः " समर्थ अनयनोंकी समासन्ति हो सकती है। यहां सामर्ध्य नहीं है, इस कारण तेषां इन्द्रियाणां अर्थाः यों तद्थीः यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं हो सकता है। पूर्व सूत्रोंमें इन्द्रि-योंका स्वतंत्र (प्रथमांत) निर्देश है, तदथीः ऐसा समास कर वे इन्द्रियां गीण नहीं की जा सकती हैं। अतः " तेषां अर्थाः " यों व्यस्तपदकी ही बने रहेंगे । इस ढंगसे शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह दोष हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि गनकपन होनेसे नित्य ही एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाळे पदोमें समास हो जाता है। जैसे कि सम्बन्धी शहोंमें समास हो जाता है। देखो, जो ही अर्थ वाक्यमें भले प्रकार जाना जा रहा है वही अर्थ समासत्रत्ति करनेपर भी स्थिर रहता है। इस प्रकार नित्य अपेक्षासहित हो रहे संबंधी शद्धोंमें गमकपना कह दिया गया है। जैसे कि देवदत्तका गुरुकुल है. इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह कुछ है, इस प्रकार है। देवदत्तका गुरुकुछ है, यह अर्थ नहीं है। देवदत्तका गुरुपुत्र इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह लडका हो जाता है। "देवदत्तस्य दासभायी" इसका अर्थ देवदत्तके दास की यह पत्नी है। यहां गुरु शद्ध नित्य ही शिष्यकी अपेक्षा रखता है। अतः देवदत्त शिष्य है उसके गुरुका कुल अर्थ करना आवश्यक है। अन्यथा यह वाक्य ही अशुद्ध हो जायगा। दीक्ष क आचार्यके अधीन हो रहा पाठक, शिष्य तथा अन्य कर्मचारियोका समुदाय कुल कहा जाता है। समासमें पडे हुये गुरुके साथ देवदत्तका अभेद करना भी अनुचित है। तथैव दास राद्व भी स्वामीकी अपेक्षां रखता है। अतः देवदत्त स्वरूप स्वामीके दासकी स्वी यह अर्थ हो जाता है। " पटोलपत्रं पित्तब्नं नाडी तस्य कफापडा " यहां पटोलकी नाडी (नसें) कफ दोषको हरती है। यो संबंधी राद्व अनुसार व्यवस्था की जाती है। तिसी प्रकार यहां भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षा धारते इये भी तत शंद्रेको गमकपना है । अतः सामर्थ्य हो जानेसे " तदर्थाः " यहां षष्टीतत्परुषवृत्ति ह्रयी समझ लेनी चाहिये।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येष निर्देशः इन्द्रियक्रमाभिसंबंधार्थः ।

इस सूत्रमें स्पर्श, रस, आदिकोंका आनुपूर्वीपने करके कथन करना तो इन्द्रियोका कमपूर्वक एक एक विषयके साथ संबंध करानेके लिये हैं । अर्थात — पिहले कही गयी स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श जाना जाता है, इस्यादि सम्पूर्ण इन्द्रियोके ग्राह्य विषयोंमें लगा लेना चाहिये । तब तो इन्द्र समास किया जानेपर " अल्पाचतर, अम्यिहत, स्वंत आदि परोंके पूर्वमें प्रयुक्त किये जानेकां झंझंट नहीं लगता है । शह संबंधी न्यायसे अर्थसंबंधी न्याय प्रधान है ।

किं पुनः स्पर्शादयो द्रव्यात्मका एव पर्यायात्मका एव चेति दुराशंकां निराकरोात !

क्या स्पर्श, रस, आदिक विषय ये द्रव्यस्वरूप ही हैं ? अथवा क्या पर्यायस्वरूप ही है ? ऐसी खोटी शंकाका निराकरण श्री विद्यानन्द वार्तिको द्वारी करते हैं ।

स्पर्शादयस्तदर्थाः स्युर्द्रव्यपर्यायकात्मकाः । द्रव्यकांते क्रियापायात्सर्वथा कूर्मरोमवत् ॥ १ ॥ तथैव पर्ययेकांते भेदेकांतेऽनयोरिष । अनेकांतात्मना तेषां निर्वाधमुपल्रब्धितः ॥ २ ॥

उन इन्द्रियोंके विषय हो रहे स्पर्श आदिक अर्थ तो द्रव्य आत्मक और पर्यायआत्मक नियुक्त हैं वे स्पर्श आदिक न केवल द्रव्यस्वरूप है और केवल पर्यायस्वरूप भी वे नहीं हैं। यदि उनको सर्वथा द्रव्य होनेका एकांत माना जायगा तो कूर्मरोम (कलवेके बाल) के समान असत् हो रहे निख क्टस्थ द्रव्यमें किया उपजना इष्ट हो जायगा। " नित्यत्वैकांतपक्षेपि विकिया नोपप्यते" (श्री-समंतभदः) तिस ही प्रकार स्पर्शादिकोको एकांत रूपसे यदि पर्याय ही माना जायगा तो भी द्रव्यके विना कच्छपरोमके समान असत् हो रहे पर्यायीका विवर्त नहीं हो सकेगा तथा इन द्रव्य और पर्याय दोनोको एकांत रूपसे भेद माननेपर ही दोनोका असत्व हो जाता है। अग्निके विना अकेली उच्चता नहीं ठहरती हुयी असत् हो जाती है और उच्चता पर्यायके विना स्कंभद्रव्य अग्निभी असत् हो जाता है। अतः अनेक धर्मआत्मकपने करके उन स्पर्श आदिकोंकी बाधाओंसे रहित उपलब्ध होजानेसे स्पर्श आदिक द्रव्य पर्याय उभयात्मक हैं।

ततो अनेकात्मन एव स्पर्शादयः स्पर्शनादीनां विषयभावमनुभवंति नान्यथा मतीत्यभावात्।

तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि एकल, पृथक्त, या भेद, अभेद, अथवा द्रव्यपन, पर्यायपन, आदिक अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक एकरस हो रहे स्पर्श आदिक क्रेय ही स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय हो जानेका अनुभव करते हैं । अन्यथा यानी दूसरे प्रकारसे एक ही धर्म आत्मक हो रहे स्पर्श आदिक उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। क्योंकि पदार्थोंको द्रव्यस्वरूप ही या पर्यायस्वरूप ही इस प्रकार एक ही धर्म आत्मक सिद्ध करनेवाठी प्रतीतियोंका अभाव है।

अथानिद्रियस्य को विषय इत्याह ।

बहिरंग पांच इन्द्रियोंका विषय कहा जा चुका है। अब अनिन्द्रिय छटे मनका विषय क्या है! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधानकारक अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके समान नियत देश, निषय, अत्रस्थान, नहीं होनेसे इन्द्रिय भिन्न ईषत् इन्द्रिय हो रहे मनका क्षेय विषय तो श्रुतज्ञानगम्य पदार्थ है। अर्थात्—मतिज्ञानसे पदार्थको जानकर पुनः अधीतरका विशेषतया अवधारण करना या विचार करना अंतरंग इन्द्रिय मनके द्वारा होता है। अन्यथा नहीं। उक्त कार्य पांचों बहिरंग इन्द्रियोंसे साध्य नहीं है। शब्दको सुनकर उसके वाच्यार्थका झान करना, हिताहित विचारपूर्वक किया करना, शिक्षा या उपदेश ग्रहण करना, तथा कर्तव्य, अकर्तव्य या तत्त्व, अतत्त्वकी मीमांसा करना ने सन विचारक मन इन्द्रियके कार्य हैं।

अर्थ इत्यभिसंबंधः सामध्यीत् । नशु चाश्यमाणमनिद्रियमत्र तत्कवं तस्य विषयो निक्त्यते इत्याह ।

पूर्वस्त्रमें पहे हुये " तदर्थाः " शहसे अनेले अर्थकी अनुवृत्ति कर लेना । पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाले वाक्यार्थकी सामध्येस " तत् " और बहुवचर्नात " अर्थाः " की अनुवृत्ति नहीं कर केवल अर्थ शहका ही अनुवर्तन किया जायगा । यहां शंका है कि अनीदिय मन तो यहां प्रकरणमें नहीं सुना जा रहा है तो किर यहां कैसे उस अप्रकृत मनका विषयनिरूपण किया जाता है शब्ताओ, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानंद आचार्य उत्तरको कहते है, सावधान होकर सुनिये ।

सामर्थ्योद्गम्यमानस्यानिंद्रियस्येह सूत्रितः । श्रुतमर्थः श्रुतज्ञानगम्यं वस्तु तदुच्यते ॥ १ ॥

जब कि इन्द्रियोंके विषय प्रतिपादनका प्रकरण है पूर्वापार कथनकी सामर्थ्यसे जान लिये जा रहे भनका विषय श्रुत है, को यहां सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है। " मतिश्रुतावधिमनः पर्ययक्षेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रमें श्रुतका अर्थ श्रुतका है। किंतु इस सूत्रमें श्रुतकानद्वारा जानी जा रही वस्तु वह श्रुत कही जा रही है।

पंत्रियाणीति बदता मनोनिद्रियमंतःकरणं सामर्थ्यादित्युक्तं भवति तस्य च विषयः श्रुतमितीर सूत्रवतो न सूत्रकारस्य विरोधः । श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तूच्यते विषये विषयिण उपचारात् ।

" पंचेंद्रियाणि " इस सूत्र द्वारा पांच है। बहिरंग इन्द्रियोंको कह रहे सूत्रकार करके ईषत् इन्द्रिप हो रहा अंतरंग करण मन सो सामध्येस ही ग्राप्त हुआ, यो कह दिया जाता है । अतः उस मनका विषय श्रुत है। इस प्रकार यहां स्वतंत्र सूत्र बमाकर कह रहे सूत्रकार श्री उमास्यामी महाराजको कोई विरोध ग्राप्त नहीं होता है । अर्थात्—पहिले अध्यायमें " तर्दिद्रियानिद्रियनिमित्तम् " मनःपर्यय-झानं, " न चक्कुरनिद्रियान्याम् " ये कथन किये हैं। दूसरे अध्यायमें भी अभी "समनस्काऽमनस्काः" कहा है। एताबसा अंतरंग करण तो मन इन्द्रिय है, ऐसा कह दिया गया ग्राप्त हो जाता है। बहिरंग इन्द्र-पाक अक्षराजनें अनको मही कहा सो क्या हुआ । मनके भी दोनों प्रकार निवृत्ति उपकरण और छिन्ध उपयोग ये भेद अभीष्ट है। हां, मनका विषय अभीतया नहीं कताया था, प्रकरणकी सामर्थ्यसे भी नहीं जाना जा सकता है। उसके लिये विषय निरूपण के प्रकरणमें अन्य इन्दियों के साथ लगे हाथ इस सूत्र द्वारा मनका विषय कण्ठोक्त किया है। सूत्रमें पडे हुये श्रुत शब्दका अर्थ फिर श्रुतज्ञान नहीं करना। किंतु श्रुतज्ञानसे मले प्रकार जान लिया गया पदार्थ कहा गया है। विषयमें विषयीका उपचार है। जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हो रहे घटको प्रत्यक्ष कह देते है, वैसे यहां भी श्रुतज्ञानसे जानने योग्य विषयको श्रुत कह दिया है। विषयी हो रहे ज्ञानका धर्म श्रुतपना विषयमें धर दिया है।

मतिक्रानपरिच्छेद्यं वस्तु कथमनिन्द्रियस्य विषय इति चेका, तस्यापि श्रुतक्रानपरिच्छेद्य-त्वानतिक्रमात्। अवधिमनःपर्ययकेवलक्रानपरिच्छेद्यमपि श्रुतक्रानपरिच्छेद्यत्वादनिद्रियस्य विषयः स्यादिति चेत्, न किंचिदनिष्टं। तथा हि—

यहां कोई शंका करता है कि जब श्रुतज्ञानका विषय ही मनसे जाना जायगा तो मतिज्ञानसे जान छिये गये दुःख, इच्छा, पीडा, आदिक पदार्थ मछा मनके विषय किस प्रकार हो सकेंगे ? बताओ । प्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि मतिज्ञानसे जाने हुये उस पदार्थको भी श्रुत्तज्ञान द्वारा जानने योग्यपनका अतिक्रमण नहीं होता है । अर्थात्—जो मतिज्ञानसे जाना गया है वह श्रुतज्ञानसे अवश्य जाना जा सकता है । हां, श्रुतज्ञानसे जान छिया गया विषय तो बहुभाग मतिज्ञान द्वारा जानने योग्य नहीं है । देखो श्रुतज्ञान द्वारा परोक्षरूपसे विषय की गर्यी अनेक अर्थपर्यायोंको मतिज्ञान नहीं छू पाता है । अतः श्रुतज्ञानके विषयको मन जानता है । इतने कथनसे ही मतिज्ञानके विषयको भी मन विचार छेता है, यह विना कहे अर्थापात्त द्वारा कह दिया जाता है । अकाण्ड ताण्डव बढाना व्यर्थ है । पुनः कोई कटाक्ष करता है कि यों तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवळ्ज्ञान करके जानने योग्य अर्थ भी श्रुतज्ञान द्वारा जानने योग्य होनेसे मनका विषय बन वैठेगा । क्योंकि अवधि द्वारा प्रत्यक्ष किये हुये पदार्थमें भी श्रुतज्ञान करके विकल्पनाये उठाई जाती हैं । जैसे मतिज्ञान द्वारा रूप, रस, आदिका एकदेश प्रत्यक्ष होकर उनमें अर्थान्तरोंको विचारनेवाला श्रुतज्ञान प्रवर्तता है उसी प्रकार मनःपर्यय और केवळ्ज्ञान द्वारा पूर्ण विश्वद जाने जारहे पदार्थोमे भी श्रुतज्ञान प्रवर्तता है । अतः सभी ज्ञानोंके विषय इस मन इन्द्रियके अर्थ हो जायंगे । प्रंथकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुळ भी अनिष्ठ नहीं पडता है । इसी बातको स्पष्ट कर वार्तिकद्वारा कहे देते हैं ।

मनोमात्रनिमित्तत्वात् श्रुतज्ञानस्य कार्त्सनतः। स्पर्शनादींद्रियज्ञेयस्तदर्थों हि नियम्यते॥२॥

पदार्थों को सम्पूर्णरूपसे विषय करनेवाले श्रुतज्ञानका निमित्तकारण केवल मन है। उक्त दो स्त्रोंमें स्पर्शन आदि इन्द्रियोद्वारा जानने योग्य स्पर्श आदिक ही उन इन्द्रियों के अर्थ हैं। ऐसा नियम किया जा रहा है। अर्थात्—स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय तो नियन हैं। मनका विषय सोई नियत नहीं है, सभी ज्ञानोंद्वारा जानने योग्य विषयोंको श्रुतज्ञानसे जानमेके अवसरपर मन निमित्त हो जाता है। "सुद्केवलं च णाणं दोण्णिव सिरसाणि होति बोहादो। सुद्रणाणं तु परोक्खं प्रचक्खं केवलं णाणं" (गोम्मटसार) यो श्रुतज्ञानको केवलज्ञानका लघुश्राता माना जाता है।

अत्र स्पर्जनादींद्रियपरिच्छेद्यः स्पर्कादिरेवेति नियम्यते न पुनरनिंद्रियपरिच्छेद्यः तस्या-नियतत्वात् । साकल्येन श्रुतज्ञानमात्रानिमित्तात् परिच्छिद्यमानस्य वस्तुनः श्रुतज्ञब्देनामिधानात् । नन्वेवं सर्वपनिंद्रियस्येति वक्तव्यं स्पष्टत्वादिति चेत्र, परोक्षत्वज्ञापनार्थत्वाच्छ्रुपतवपनस्य । न हि यथा केवलं सर्वे साक्षात् परिच्छिनात्ति तथानिंद्रियं तस्याविज्ञदरूपतयार्थपरिच्छेदकत्वात् । ततः स्कं श्रुतमनिंद्रियस्येति ।

यहां इन्द्रियों का विषय निरूपण करनेवाले प्रकरणमें स्पर्शन आदि पांच बहिरंग इन्द्रियोंसे जानने योग्य स्पर्श, रस आदिक ही हैं, यह नियम किया जा रहा है। किंतु किर अनिदिय यामी मनसे जानने योग्य श्रुत ही है ऐसा नियम नहीं किया है। क्योंकि मन इन्द्रियसे जानने योग्य वह श्रुत ही नियत नहीं है। सभी झानोंके झेयको श्रुतज्ञानसे जाननेपर मन निमित्तकारण बम जाता है। पिहिले सूत्रमें अवधारण करना इस सूत्रमें नहीं। क्योंकि पांचों ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण रूपसे जानने योग्य वस्तुओंको यहां सूत्रमें श्रुत शब्द करके उपलक्षणतया कहा जाता है। रहस्य यह है कि जगत्के सम्पूर्ण पदा-धींको जाननेमें अकेला श्रुतज्ञान निमित्त हो सकता है। पुनः किसीका कटाक्ष है कि "श्रुतमानिदियस्य।" ऐसा सूत्र न कह कर " सर्वमनिदियस्य" यो स्पष्टपनेसे सूत्र कहना चाहिये, जिससे कि व्यामोह नहीं होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको " मनके विषय सम्पूर्ण पदार्थ हैं " यह स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय। आचार्थ कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परोक्षपना समझानेके लिये सूत्रमें श्रुत शब्द कहा है। जिस प्रकार केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थीको पूर्ण विश्वद रूपसे प्रत्यक्ष जान लेता है, उस प्रकार मन विश्वदरूपसे सबको नहीं जान पाता है। वह मन अविश्वद रूपसे सम्पूर्ण अर्थीका परिच्छेदक हैं, यह बात श्रुत कहनेसे ही व्यञ्जित हो सकती है। तिसी कारणसे सूत्रकारने यों बहुत अच्छा कहा था कि श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञेय पदार्थ सभी मनका विषय है।

किमर्थमिन्द्रियमनसां विषयपरूपणमत्र कृतमित्याइ ।

यहां तत्त्वार्थ सूत्रमें पांच इन्द्रिय और छठे मनके विषयोंका निरूपण किस छिये किया गया

इति सूत्रद्वयेनाक्षमनोथीनां प्ररूपणं । कृतं तज्जन्मविज्ञाननिरालंबनताछिदे ॥ ३॥ अप प्रकार " स्पर्करसर्गाधवर्णाताह्वास्तदर्धाः, श्रुतमनिद्धियस्य " इन दोनों सूर्वो करके इन्द्रिज और मनके विषय हो रहे अर्थोका निरूपण किया गया है, जो कि उस अर्थेस विज्ञानका जन्म स्वीकार करनेवाले बौद्धमतका खण्डन करनेके लिये हैं। भाक्य बौद्ध पण्डित विषयजन्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। घटका ज्ञान घटसे जन्य है। पटका ज्ञान घटसे जन्य है। परका ज्ञान घटसे जन्य है। परिका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे या कर्मोके क्षयोपरामसे ज्ञान जन्य है, किन्तु इनको विषय नहीं करता है। स्पर्शका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे जन्य है, फिर भी वह अर्तीद्विय हो रही स्पर्शन इन्द्रियको नहीं जानता हुआ स्पर्शको ही जान रहा है। अतः इन्द्रियोक विषयका निरूपण करनेसे ज्ञानकी अर्थजन्यताका निराकरण हो जाता है। तथा ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सम्पूर्ण ज्ञानोंको निरालक्ष्म स्वीकार करते हैं। घटज्ञानका विषय कोई बहिर्भूत कस्बुपीवा वाला जड पदार्थ नहीं है, सभी ज्ञान निर्विषय हैं। यों इन बौद्धोंका प्रत्या- करनेके लिये इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको स्वतंत्र विषय निरूपण किया गया है। अन्त ज्ञानोंको लोड-कर सभी सम्यन्ज्ञन सविषय हैं। येद विषयको ज्ञानका कारण माना जायगा तो भूत, भविष्य, पदा- धौको सर्वज्ञ नहीं जान सकेंगे। केवल अन्यवहित पूर्वसमयवर्ती पदार्योका है। ज्ञान उपज सकेगा। एवं ज्ञानोंके विषय नहीं माननेपर सम्पूर्ण जीवोंके अनुभव सिद्ध हो रहे लेकिक, पारलैकिक, कर्तव्य अलीक हो जायेंगे।

केषां पुनः माणिनां किमिद्रियमित्याह ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि कौन कौनसे प्राणियोंके कौन इन्द्रिय है ? ऐसी आकांक्षा होते-पर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्र द्वारा उत्तर वचन कहते हैं ।

वनस्पत्यंतानामेकम् ॥ २२ ॥

अन्त राद्वके अवयन, धर्म, अनसान, समीप, पिछला, कई अर्थ हैं। उनमेंसे यहां अनसान अर्थ अभीष्ट है। एक राद्वके भी असहाय, मिल, केवल, अन्य, संख्या, विशेष, प्रधान, प्रथम, कश्चित्, ये अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार एक राद्वका प्रथम अर्थ लिया गया है। पृथिवीको आदि लेकर वनस्पतिपर्यंत जीवोंके पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है।

बनस्पतिरंतीवसानं येषां ते वनस्पत्यंताः सामर्थ्यात्पृथिच्यादय इति गम्यंते तेषांमकं प्रथमपित्रियं स्पर्धनमिति प्रतिपत्तच्यम् ।

जिन जीवों के बनस्पति अन्त अर्थात्—अवसानमें है वे जीव " वनस्पति अन्त " कहे जाते हैं। अन्त साद आदिकी अपेक्षा रखता है। अतः सामर्थ्यसे पृथ्वीको आदि छेकर वनस्पति पर्यन्त जीव यों जान छिये जाते हैं। उन पांच काय के जीवोंके एक पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है, यह समझ

केना चाहिय । पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, इन पांचों स्थावर जीवोंके एक व्यचा इन्द्रिय ही है।

कुत इत्याइ।

किसीका प्रश्न है कि वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय है। यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे निर्णीत कर लिया जाय १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिक द्वारा युक्तिको कहते हैं।

वनस्पत्यंतजीवानामेकं स्पर्शनमिंद्रियं । तज्जज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्तेरुपलंभनात् ॥ १ ॥

वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके (पक्ष) एक स्पर्शन इन्द्रिय है (साज्य) उस स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये ज्ञानको निमित्त पाकर हो रही प्रवृत्तिका उपलम्म होनेसे (हेतु)। भावार्थ—वृक्षोंमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानसे हुयीं प्रवृत्तियां देखी जातीं हैं। केला वृक्ष, केली वृक्षके रजका संपर्क पाकर फलता है। यद्यपि सम्पूर्ण वृक्ष नपुंसक लिंग हैं। फिर भी किन जनोंके अलंकार या कोषकारकी लिंगन्यवस्था अनुसार कितने ही मनुष्योंने उनमें लीपन या पुरुषपनकी हुंठी कल्पना गढ ली है। वनस्पतिकायकी दस लाल जातियां हैं, अहाईस लाल करोड कुल हैं, यह जाति कुलन्यवस्था उस कल्पनाकी भित्ति है। योग्य प्रकरण मिलनेपर केला, अमरूद, आम, आदिकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि इसको कारक पक्ष माना जाय तो ज्ञापकपक्षके भी उदाहरण मिलते हैं। कई दृक्ष आहार करने योग्य जब या चेतन पदार्थोंको पक्षड लेते हैं। जल या गीली मिडीकी ओर जरों (अपनी जडों) को फैलाते हैं। योग्य खातको प्रहण कर अपने अधीन कर लेते हैं। महीकी खान, कङ्कड, पत्थरके कोयलेकी खान, पर्वत इन पृथिनी कायके जीवोंमें भी स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान हारा प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है। जल विंदु दूसरी जलनेन्द्रकी ओर झुक जाती है। अफ्रिजाला भी सजातीय दूसरी अफ्रिजालामें मिलनेको उत्सुक रहती हैं। निकटवर्ती वृक्ष या लकडीको सहारा पानेके लिये वेले उनकी ओर झुकपडती हैं। इत्यादि युक्तियोंसे स्थानर जीवोंमें एक स्पर्शन इन्द्रिय सिद्ध हो जाती है।

यथास्मदादीनां स्पर्धनजज्ञाननिमित्ताहिताहितस्य संग्रहणपरित्यागलक्षणा प्रवृत्तिरूप-स्रभ्यते तथा वनस्पतीनामपि सोपलभ्यमाना स्पर्धनजज्ञानपूर्वकत्वं च साधयित तज्जं च ज्ञानं स्पर्शनमिदियमिति निर्वाधं । तद्वत्यृथिच्यादिजीवानामेकमिदियं संभाष्यते बावकाभावात् ।

जिस प्रकार हम छोगोंके स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानको निमित्त पाकर होती हुई हितकर पदार्थ का संप्रह करना और अहितपदार्थका परित्याग करना स्वरूप प्रश्वति देखी जा रही है, तिसी प्रकार अन्वय दशन्त अनुसार वनस्पति जीवोंके भी वह प्रश्वति देखी जा रही सन्ती स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान पूर्वकपनको साध देती ह और वह स्पर्शन इन्द्रियंजन्य झान तो स्पर्शन इन्द्रियको साध देता है। इस कारण बाधारिहत होकर उन वनस्पति जीबोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय सब जाती है। उस वनस्पतिके समान पृथिवी, जल, आदि जीबोंके भी एक स्पर्शन इन्द्रियकी सल्य संभावना की जाती है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

केषां द्यादींद्रियमित्याइ।

अब महाराज, यह बताओ कि किन किन जीवोंके फिर दो, तीन, आदि इन्द्रियां हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

क्रमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

लट आदिक, चीटी आदिक, भोरा आदिक, मनुष्य आदिक, इन जीवोंके स्पर्शनको मूल मान-कर रसनासे प्रारम्भ कर एक एक बढ रही इन्द्रियां है | कृमि आदिकोंके रसनासे बढ रही स्पर्शन हैं, चीटी आदिकोंके प्राणसे बढ चुकी स्पर्शन और रसना हैं । इत्यादि लगा लेना ।

एकैकमिति वीप्सानिर्देशाद्वृद्धानीति बहुत्वनिर्देशाच्च वाक्यांतरोषप्छवं कथमित्याइ।

सूत्रमें एक एक इस प्रकार कई बार आशृत्त होकर कहा जा चुकनेवाला वीसा निर्देश किया है और बुद्धानि इस प्रकार बहुल संख्याको कहनेवाला बहुवचन निर्देश किया है। अतः अन्य वाक्योंका उपन्लव (प्रवाहरचना) कर लिया जाता है। वे वाक्य किस प्रकार बढ़ा लिये, जाते हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकोंको कहते हैं।

तथा कृमित्रकाराणां रसनेनाधिकं मतं ।

बृद्धे पिपीलिकादीनां ते घाणेन निरूप्यते ॥ १ ॥

चश्चषा तानि वृद्धानि भ्रमरादिशरीरिणां ।

श्रोत्रेण तु मनुष्यादिजीवानां तानि निश्चयात् ॥ २ ॥

तत्तद्धेतुकविज्ञानम्लानामुपलिधतः ।

विषयेषु प्रवृत्तीनां स्विस्मिन्निव विपश्चिताम् ॥ ३ ॥

तिस प्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका उपन्छव करनेपर यों अर्थ हो जाता है कि ंछट, गेंडुआ, जौंक, सीप, आदि प्रकारवाले जीवोंके वह स्पर्शन इन्द्रिय तो दूसरी रसना इन्द्रियसे अधिक हो रही मानी है। अर्थात्—छट आदिक क्षुद्र कीटों हे स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियां हैं। ये स्पर्शनसे शीत,

उन्जा, आदिको जानते हैं, जीअसे चानल, गेहूं, रक्त, मटी, आदिका स्वाद लेते हैं। और चीटी, स्वायक, जुआं, दीमक, आदि जीनोंके ने स्पर्शन, रसना, दो इन्द्रियां बढ चुकी तीसरी नारिका इन्द्रिकों अधिक हैं। ऐसा मन्तव्य कहा जाता है। मीरा, मक्खी, मकडी, मच्छर, पतंगा आदि शरीरधारी तथा जीनोंके ने स्पर्शन, रसना, ब्राण, इन्द्रियां चौथी चक्षु इन्द्रियसे बढ रहीं मानी गयी है। एवं मनुष्य, घोडे, बैल, देन, आदि जीनोंके तो ने स्पर्शन, रसना, ब्राण, चक्षु इन्द्रियां, पांचनी श्रोत्र इन्द्रियसे बढ रहीं विधमान हैं। ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण और युक्तियोंसे निश्चय हो रहा है। देखिये, उन उन जीनोंके नियत हो रही दो, तीन, चार, या पांच इन्द्रियोंको कारण मानकर हुये विज्ञानके मूलपर होनेनाली विषयोंमें प्रवृत्तियां देखी जा रहीं हैं। विद्वानोंके यहां अपनेमें किसी भी नियत इन्द्रियजन्य ज्ञानकी मित्तियर हुयी प्रवृत्तिकों उपलब्धि हो जानेसे जैसे उत्त इन्द्रियका सद्भाव मान लिया जाता है। हम देखकर पुस्तकको उठा रहे हैं, अतः हमारे चक्षु इन्द्रिय अवश्य है, शब्दोंका श्रवणकर प्रवृत्ति होरही दीखती है, जतः श्रोत्र इन्द्रियका सद्भाव है, उसी प्रकार कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, अमर आदिक, मनुष्य आदिक जीनोंके अतीन्द्रिय इन्द्रियां जान ली जाती है, उपकरण इन्द्रियोका बहुत अशोमें प्रत्यक्ष भी हो रहा है।

के पुनः संसारिणः समनस्काः के बाञ्मनस्का इत्याह ।

पूज्य गुरुजी महाराज, अब यह बताओ कि कौनसे संसारी जीव फिर मनकरके सहित है ? और कौनसे संसारी जीव मनसे रहित हैं । इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्यामी महाराज सूत्र द्वारा उत्तर कहते हैं ।

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

हितप्राप्ति, अहित परिहार, तथा गुण अथना दोषको विचार करना स्वरूप संज्ञा जिनके पायी जाती है वे जीव मनसहित हैं।

सामर्थ्यादसंक्षिनो अमनस्का इति सुत्रितं, तेनामनस्का एव सर्वे संसारिणः सर्वे सम-नस्का एवेति निरस्तं भवति । क्रुतः पुनः संक्षिनां समनस्कृत्वं सिद्धमित्युपद्रश्चयित ।

संज्ञावान् जीवोंको विधिमुखसे समनस्क कह दिया गया है। अतः परिशेष न्यायकी सामर्थ्यसे असंज्ञी जीव अमनस्क हैं, यह भी सूत्रहारा कहा जा चुका है। तिस कथन करके सम्पूर्ण संसारी जीव मनरहित ही हैं अथवा सभी संसारी जीव मनसहित ही हैं, इस प्रकार एकान्तमन्तच्य खण्डित हो जांता है। कोई कोई दार्शनिक तो किसी भी आत्माक मनइन्द्रियको नहीं मानते हैं और वैशेषिक तो प्रतेषक आत्माको मनसहित स्वीकार करते हैं। जितनी ही आत्मायें हैं उतने ही उनके एक एक नियत हो रहे अनन्ते मन है। ये दोनों ही एकांत युक्तियों। बाधित हैं। जैसे कि सर्वको निर्धन या

धनिकपन माननेका एसांत पंजडना गहित है। किसीका प्रश्न है कि फिर यह बताओं कि संवाक्षे जीवोंका मनसहितपना भला किस प्रमाणसे सिद्ध है ! ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री विधानंद स्वामी वार्तिकों द्वारा कुक्तियोंको दिखलाते हैं।

संज्ञिनां समनस्कत्वं संज्ञायाः प्रतिषत्तितः । सा हि शिक्षािकयालापप्रहणं मुनिभिर्मता ॥ १ ॥ नानादिभवसंभृतविषयानुभवोद्भवा । सामान्यधारणाहारसंज्ञादीनामधीरिष ॥ २ ॥

संज्ञी जीत्रोंके (पक्ष) मनसहितपना है (साध्य) विचारआत्मक बुद्धिकी प्रतिपत्ति होनेसे (हेत्) और वह संज्ञा तो निश्चयसे मुनियों करके शिक्षा किया करना, आलाप करना, प्रहण करना. मानी गयी है। अर्थात् — बंदर, घोडा, मैना, तोता, सर्प, आदिक प्राणी सिखाये अनुसार क्रिया करते हैं. कल्पित नाम रख छेनेपर तदनुसार आते जाते हैं, सतर्क रहते हैं, मंगानेपर पदार्थीको ले आते है। अतः संज्ञाकी प्रतिपत्ति होनेसे बहुतसे पशु, पक्षी, तथा मनुष्य, जी, देव, देवी, ये सब मनसिंदत जीव है। किंतु अनादिकालकी जन्मपरम्परासे हुये विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हुयी सामान्य धारणा, सामान्य अत्राय, आदिक और आहार संज्ञा, भय संज्ञा आदिक तो यहां प्रकरणमें संज्ञा नहीं मानी गयीं हैं। नाम मतिज्ञान भी यहां संज्ञा नहीं है। अर्थात-" अनायविद्यादोषोत्य-चतुःसंज्ञाञ्चरातुराः '' आहार आदिक चार संज्ञायें तो सम्पूर्ण जीवोंके अनादि कालसे लग रही है तथा मधुमक्षिका, भोरी, चींटियां, दीमक, मकडी, आदिक कीट पतंग भी सामान्यधारणास्तप संज्ञाके अनुसार गृह बनाना, बच्चे बनाना, बच्चें हा मोह करना, खाद्य एकत्रित करना, ठहरने योग्य रक्षाका स्थान बनाना आदि विस्मय जनक कार्योको कर रहे हैं । मधु मक्खी, तते या बर्र, घरघुळी. तो यहां वहां जाकर अपने खाद्य पदार्थींको और घर बनानेके लिय मही या काठको लाकर पुनः अपने नियत उसी स्थानपर छीट आते हैं । ये कार्य तो मनके विना अनादि काळीन विषयानुभवकी तृष्णासे बना छिये जाते है। किसीका नाम रख छेना या सामान्यरूपसे ज्ञान करना भी संज्ञा सिद्ध है। किन्त यहां इन संज्ञाओंका ग्रहण करने पर तो सभी संसारी जीव समनस्क हो जायेंगे। कोई असंज्ञी होनेके छिये नहीं बचेगा। अतः इन संज्ञाओं का प्रहण नहीं करना । किन्तु " सिक्खाकिरियु-वदेसालावग्गाही मणोक्लंबेण जो जीवो सो सण्णी, तन्त्रवरीओ असण्णी दु "। शिक्षा, क्रिया, उपदेश, आलाप, को मनके अवलम्बसे प्रहण करनेवाले बैल, हाथी, तीता, आदि जीव संजी है। ठीक हितका प्रहण और आहितका त्याग जिससे हो सके बह ।शिक्षा है, इच्छा अनुसार हाथ, पांव, आदिको च**ळाना** क्रिया है, क्चन, कोडा, आदि द्वारा उपदेश देकर कर्तन्य पालन करना उपदेश है, श्लोक आदिका पाठ आलाप है तथा जो कार्य अकार्यको विचारता है तत्व, अतत्व, की शिक्षा छेता है, नाम छेकर बुकाया गया चला आता है, वह समनस्क है। शेष संसारी जीव अमनस्क है।

न समनस्कानां शिक्षािकयालापप्रहणलक्षणा संज्ञा संभवित यतस्तदुपलब्धेः केषांचि-त्समनस्कत्वं न सिध्येत् । न चामनस्कानां स्मरणसामान्याभावोऽनादिभवसंभूतविषयानुभवो-ऋावायाः सामान्यधारणायास्तद्धेतोः सद्भावात् आहारसंज्ञादिसिद्धेः प्रश्नुत्तिविशेषोपलब्धेः । न च सैव संज्ञा सुनिभिरिष्टा स्मृतिविशेषनिमित्तायास्तस्याः प्रकाशनात् ।

मनरहित एके न्द्रिय, दीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंजी पंचेन्द्रिय, जीवोंके वह शिक्षा, किया. आलापोंको प्रहण करना स्वरूप संज्ञा नहीं सम्भवती है। जिससे कि उस संज्ञाकी उपलब्धि रूप हेत्से किन्हीं दूसरे विचारक जीवोंके मनशहितपना सिद्ध नहीं होता, अर्थात्-घोडा, मनुष्य, आदि जीवोंमें हेतुके वर्त्तजानेसे समनस्कपना सिद्ध होजाता है। यहां कोई आक्षेप करे कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीवोंके भी आहार. जल. निवासस्थान, आदिमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः उनके आहार संज्ञा आदिक और उनका कारण धारणा या स्मृति, माननी पड़ेगी। स्मृति तो मनवाले जीवके होते हैं। अतः द्वीन्द्रिय आदिके भी मनकी सम्भावना है। आचार्य महाराज कहते हैं कि मनरहित जीवोंके सामान्य रूपसे द्वये स्मरणका अभाव नहीं है । अनादि संसार परम्परांमें जात द्वये विषयोंके अनुभवसे उत्पन ह्रयी सामान्यधारणा रूप उसके हेतका सद्भाव अमनस्क जीवोंके भी पाया जाता है। उससे आहार संज्ञा. भयसंज्ञा. आदिकी सिद्धि हो जानेसे अमनस्कोंकी विशेष प्रवृत्तियां हो रही दीख रहीं हैं। फिन्त वह आहारसंज्ञा या सामान्य धारणा ही तो यहां मनिवर उमास्वामी महाराज करके संज्ञा अभीष्ट नहीं की गयी है। विशेष रूपसे स्मृतिका निमित्त हो रही उस धारणाका यहां प्रकाश किया · है। भावार्थ-सामान्य धारणापूर्वक द्वयी सामान्य स्मृति तो मनरहित जीवोंके भी हो जाती है। किन्त विशेष धारणा होतुक स्मरण तो मनसहित जीवोके ही होता है। सामान्य ईहा पूर्वक अवाय और सामान्य अवाय पूर्वकं धारणा तथा सामान्य धारणा पूर्वक हुये स्मरण ज्ञानोंसे मनरहित जीव भी आहार आदि विषयोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति कर रहे देखे जाते हैं। ज्ञानकी सामर्थ्य भी कुछ कम नहीं है। कोई भी ज्ञान अपने अपने अभीष्ट हो रहे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर देता है। इस सामान्य कियामें मनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

पतेन यदुक्तं कैश्विदमनस्कानां स्मरणाभावेष्यभिछाषसिद्धेस्तदहर्जातदारकस्य स्तन्या-भिग्नुस्तं ग्रुस्वमर्जयतोभिछाषः स्मरणपूर्वकोऽभिछाषत्वात् अस्मदाद्यभिछाषवदित्यत्र हेतोरनै-कांतिकत्वात् परछोकासिद्धिः । तथा च " न स्मृतेरभिछापोस्ति विना सापि न दर्शनात् । तदि जन्मांतराचाहर्जातमात्रेपि छक्ष्यते " इत्यक्छंकवचनमविचारचतुरमायातं इति । तद्पि कस्याख्यातं, स्मरणसामान्यमंतरेण क्वचिद्प्यभिछापासंभवात् तदेतोरनैकांतिकत्वानुपपत्तेः ।

इस उक्त कथनकरके जो किन्हींने दो तीन पंक्तियोंद्वारा यों कहा था वह भी निराकृत वर दिया गया है कि देखो मनरहित जीबोंके स्मरणके बिना भी आहार आदिकी अभिलापायें सिद्ध हो रही हैं। अतः दूधयुक्त स्तनके अभिमुख अपने मुखको उद्योगी कर रहे, उसी दिनके उत्पन्न हुये बालककी अभिलावा (पक्ष) स्मरणपूर्वक है (साध्य) अभिलावा होनेसे (हेत्) अस्मदादिकोंकी अमिलापाके समान (अन्वयद्दष्टान्त) । इस प्रकार यहां अनुमानमें कहे गये हेतुका व्यभिचार दोष हो जानेसे परलेक भी सिद्धि नहीं हुयी और तैसा होनेपर स्मृति होनेसे ही अभिलायाका सद्भाव नहीं बना । अतः अकलं कदेवने जो अनुष्ट्रम छन्ददारा कहा था कि स्मृतिके विना जीवों के अभिलाषा नहीं उपजती है, और वह स्मृति भी अनुभवस्वरूपदर्शनके विना नहीं होती है। और वह दर्शन तो उसी दिनके उत्पन्न हुये बच्चेमें भी पूर्व जन्मांतरोंसे हुआ छक्षित किया जाता है। इस प्रकार श्रीअक-लंकदेवका वचन बिचारपूर्वक चातुर्यको लिये हुये नहीं है यह प्राप्त हुआ। भावार्थ-मक्खी, बर्र, आदि मनरहित जीवोंके स्मरणके विना भी अभिछाषा हो जाती है। इसी प्रकार उसी दिनके हुये मनसहित बच्चेमें माताके स्तनकी ओर मृख करते हुये उताबलेपनके साथ अभिलाषा करना भी जन्मान्तरके अनुभूत विषयोंकी स्मृतिके विना ही हो जायगा । ऐसी दशामे आत्मा विचारा अनादि अनन्त सिद्ध नहीं हो सकता है। श्रीअकलंकदेवने स्वकीय प्रन्थमें जो परलोकी, अनाधनन्त, जीवको सिद्ध करनेके छिये युक्ति दी है, विचार करनेपर उसमें चातुर्य नहीं दीखता है। कश्चित्से छेकर "आयातम्" तक चार्वीक कह चुके हैं । अब प्रन्थकार कहते हैं कि वह चार्वीकका कहना भी हमने खण्डित कर दिया है। क्योंकि स्मरणसामान्यके त्रिना असंज्ञी या संज्ञी किसी भी जीवमें अभिलाषा होनेका असम्भव है । अतः उस अभिलाषत्व हेतुका अनैकान्तिकपना नहीं बन पाता है । हमारा स्मरण पूर्व-कपना सिद्ध करनेको दिया गया अभिलाषत्व हेतु निर्दोष है। अमनस्क जीवोके सामान्यस्मरणपूर्वक अभिलाषायें होकर विशेष प्रवृत्तियां हो जातीं है । हां, मनःसहित संज्ञी जीवोंके विशेष स्मरणपूर्वक विष्ठक्षण अभिलाषाओंसे मनः द्वारा है। शिक्षा, किया, अलाप, प्रहण, करनारूप संज्ञा सम्भवती है। संज्ञी, असंज्ञी, दोनों प्रकारके जीनोंके परलोककी सिद्धि अनिवार्य है। पूर्वजन्मोंकी वासना अनुसार ही असंबिओंके चमत्कारक कार्य देखे जाते हैं। कार्यकारणभाव तो तर्कके अगोचर है।

न चामनस्तेषु स्मरणसामान्यसद्भावात्स्मरणिवशेषस्य सिद्धिः तस्य तेनाविनाभावा-भाषात् । न हि यस्यानुभूतस्मरणसामान्यमस्ति तस्य स्मरणिवशेषो नियमादुपल्रभ्यते विशेष-समयाभावमसंगात् । विशेषमात्राविनाभात्रेपि वा न शिक्षाक्तियालापग्रहणिनिमत्तस्मरणिवशेषा-विनाभावः सिध्येत् पाणिमात्रस्य तत्मसंगात् । ततो नाममतिवदाहारादिसंशा तद्धेतुश्च स्मृति-सामान्यं घारणासामान्यं च तिम्रिमत्तमवायसामान्यमीहासामान्यमवग्रहसामान्यं च सर्वमाणि-साधारणमनादिभवाभ्याससंभूतमभ्युपगंतव्यं, न पुनः क्षयोपशमनिमित्तम् भावमनः तस्य प्रतिनियतमाणिविषयत्यानुभूयमानत्वात् । अन्यथा सर्वत्र भावमनसो व्यवस्थापयितुमञक्तेः।

कोई कह रहा है कि मनरहित जीवोंमें सामान्यरूपसे स्मरणका सद्भाव आप जैनोंने स्वीकार किया ही है। उस सामान्य स्मरणसे विशेष स्मरणकी भी मनरहित जीवोंमें सिद्धि हो जायगी। आचार्य कहते हैं कि यह तम नहीं कह सकते हो, क्योंकि उस सामान्यस्मरणका उस विशेषस्मरणके साथ अविनाभाव नहीं है। देखो, जिस मनुष्यके अनुभव किये हुये पदार्थका सामान्यरूपसे स्मरण है. उस मनुष्यके उस अनुभृत पदार्थका स्मरणविशेष भी होय, ऐसा नियमसे नहीं देखा गया है। अन्यथा विशेषरूपसे संकेत प्रहण करना पुनः पुनः पर्यालोचन, पुनः विशेषरूपसे धारण करना, इनके अभावका प्रसंग हो जायगा । स्थलबुद्धियाले विद्यार्थियोंको भी सामान्यरूपसे प्रनथका स्मरण बना रहता है। किन्त उन उन प्रकरणोंका विशेषतया स्मरण नहीं होनेसे वे परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं पाते हैं। तभी तो उनको उत्कट अभ्यास, दढ परामर्श, करनेकी आवश्यकता समझी जाती है। दसरी बात यह है कि स्मरणसामान्यका कैसे न कैसे ही केवल विशेषस्मरणके साथ अविनामाव मान भी लिया जाय तो भी स्मरणसामान्यका शिक्षा, क्रिया, आलापके प्रहणके निमित्त हो रहे स्मरण विशेषसे अविनाभाव तो कथमपि सिद्ध नहीं होगा । अन्यथा सभी कीट. पतंग, वनस्पति, यावत् प्राणियोंके उन शिक्षा किया आदिके ब्रहण करनेमें निमित्त हो रहे स्मरणिशेषका प्रसंग हो जायगा। किन्त कीट आदिकोंके शिक्षा, किया, या स्मरणविशेषका मानना किसी भी वादीको अभीष्ट नहीं है। प्रत्यक्षबाधित या अनुमानबाधित पोले सिद्धान्तको भला कौन विचारचत्र पुरुष स्वीकार कर लेगा । तिस कारण सिद्ध होता है कि किसीका देवदत्त, जिनदत्त आदि संज्ञापूर्वक नामनिर्देश करलेने अथवा संज्ञानरूप ज्ञानसामन्यको यदि संज्ञा माना जायगा तो सभी प्राणियोंमें समनस्कपना प्राप्त हो जायगा । इस विशेषणसे किसी विशेष जीवकी व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी । केला, आम, शीषम, पत्थर, मही, ज्वाला, जल, व्यंजनपवन, गेंडुआ, चींटी, मक्बी, झ्यादि सभी जीवोंका रूढि संज्ञाओंद्वारा स्वकीय नाम कथन किया जाता है। कुक्ष, चींटी, आदि जीवींके ज्ञान भी यथायोग्य पाया जाता है। आहार आदि संज्ञायें तो सभी संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंके विद्यमान हैं। कतिपय निर्प्रन्थोंके यदि नहीं हुयीं तो इससे कोई बोझ नहीं घट सकता है। उन आहार, भय, आदि संज्ञाओं के हेत हो रहे स्मरण सामान्य भी सब जीवोंके पाये जाते हैं । धारणाक्कानके विना स्मृति नहीं हो पाती है । अतः सामान्यधारणा भी स्मरणका कारण सब जीवोंकें इष्ट किया जाता है। उस संस्कारस्वरूप धारणा ज्ञानका निमित्त अवाय-बान सामान्य और उसका भी कारण ईहा सामान्य तथा ईहाका भी कारण अवप्रहसामान्य ये सम्बर्ध प्राणियोंमें साधारण रूपसे विद्यमान हैं । अनादि काल की जन्मपरम्परामें हुये अभ्याससे उपज सहे वे अवग्रह आदि सामान्य स्वीकार कर लेने चाहिये। भावार्थ नामनिर्देश और सामान्य मतिज्ञानके समान अवहरू भय, आदि संज्ञा और उनकी कारणपरम्परामें पडे हुये स्मरण, धारणा, ईहा अवाय, अवप्रह ये मुझी संबी. असंबी, जीवोंमें साधारण हो रहे मानने चाहिये। किन्तु फिर विशेषक्षयोपशामको निमित्त पाकर हुआ भावमन तो सभी जीबोंका साधारण स्वभाव नहीं है। वह भावमन तो अधेक अधेक

नियत हो रहे विचारशाली मनःसहित प्राणियोंमें वर्त रहा ही अनुभवा जाता है। अन्यथा यानी विद्येष क्षयोपशमपूर्णक होतेवाले स्मरणिवशेष, धारणाविशेष, अवायिवशेष, आदिके विना ही विचारने बाले महत्वमनकी सिदि कर लोगे तो सभी संझी प्राणियोंमें या सभी दार्शनिकोंके यहां भावमनकी न्यवस्था नहीं हो सकती है। अतः विशेषक्षयोपशमसे हुये भावमनःस्वरूप रूप, शिक्षा, निया, आक्राप उपदेशप्रहणरूप संज्ञाको धारनेवाले जीव समनस्क हैं शेष प्राणी अमनस्क हैं। यह सिद्धान्त व्यवस्थित हो जाता है।

भावमनो अन्ययातुपपत्त्या द्रव्यमनोपि सिध्चतीत्याह ।

भावमनकी अन्यथा यानी द्रव्यमनको स्वीकार किये विना असिद्धि है। इस कारण द्रव्यमन भी उन मनःसहित जीवोंके सिद्ध हो जाता है, इसी बातको श्री विद्यानन्दस्वामी वार्तिकद्वारा कह रहे हैं।

> श्वयोपशमभेदेन युक्तो जीवोनुमन्यते । सद्भिभीवमनस्तावत् कैश्चित्संज्ञाविशेषतः ॥ ३ ॥ तत्सद्द्रव्यमनो युक्तमात्मनः करणत्वतः । स्वार्थोपलंभने भावस्पर्शनादिवदत्र नः ॥ ४ ॥

विशेष हो रहे क्षयोपश करके युक्त हो रहा जीव किन्हीं सजन पुरुषों करके शिक्षा, किया, आलाप, प्रहणक्ष्य संज्ञा विशेष हेतुसे अनुमान द्वारा भावमन तो जान लिया ही जाता है। वह विध-मान हो रहा भावमन (पक्ष) द्वय मनसे युक्त है (साध्य) स्व और अर्थकी उपलब्धि करनेमें आत्माका कारण होनेसे (हेतु) भावस्पर्शन इन्द्रिय आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। हम स्याद्वादि-योंके यहां इस प्रकरणमें दोनों प्रकारके मन अभीष्ट हैं, जो कि संज्ञी जीवोंके पाये जाते हैं। अर्थात्— एकेंद्विय जीवोंके लिखे, उपयोग, स्वरूप भावस्पर्शन इन्द्रिय है । तथा आत्मप्रदेश और पौद्रलिक पिंडस्वक्रप द्वव्य स्पर्शन इन्द्रिय भी है। उसी प्रकार मनवाले जीवोंके धनांगुलका असंख्यातवां भाग प्रमाण आत्मप्रदेश (अभ्यन्तरनिवृत्ति) और मनोवर्गणासे बनाया गया छोटा पौद्रलिक पिण्ड स्वरूप इत्यमन (बाह्मनिर्वृति) तथा मानस मतिज्ञानावरण एवं विशेष श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे हुई विश्वद्वि (लिख) और अनुभन या विचारक्रप उपयोग भावमन ये विद्यमान हैं।

न हि संज्ञाविशेषाहते सयोपसमिवशेषण युक्तो जीव एव भावमनः कैश्विद्तुमातुं शक्यते । मज्ञामेष्मदेः कार्यविशेषानुभिताच्छक्यत एवेति चेन्न, तस्यापि संज्ञाविशेषरूपत्वात् । ऊहापोहा-स्मिना हि मज्ञा शिक्षादिक्रियाग्रहणलक्षणैव, मेथा पुनः पाठग्रहणलक्षणाळापग्रहरूपैवेति । ततो मावमनः स्वार्थोपल्ड्यो द्रव्य-क्रियाग्रहण्यादे सिद्धं द्रव्यमनो वाक्षपेयति । तथाहि-भावमनः स्वार्थोपल्ड्यो द्रव्य-क्रियाग्रहण्याद् स्पर्धनादिभावकरणवत् ।

"क्षयोपराम विशेष करके युक्त हो रहा जीव ही भावमन है " यह किन्ही विद्वानों करके संज्ञा विशेषक विना अनुमान करने के लिये शक्य नहीं है। भावार्य—कर्मोंका विशेषक्षयोपराम अर्ती-द्विय है। शिक्षा, किया, आदि संज्ञा विशेषोंसे ही क्षयोपराम और तद्विशिष्ट जीवका अनुमान किया जा सकता है। यदि कोई यों कहे कि क्षयोपरामसे जन्य कार्यविशेषों द्वारा अनुमान किये जा चुके प्रज्ञा, मेघा, प्रतिभा, मनीषा, आदि हेतुओंसे भावमनका अनुमान किया जा सकता है। संज्ञा विशेषकी आवश्यकता नहीं है, आचार्य कहते है यह तो न कहना। क्योंकि उन प्रज्ञा या धारणाशालिनी बुद्धि मेघा, अथवा नवीन नवीन उन्मेषवाली प्रतिभा आदिको भी विशेषसंज्ञा स्वरूपमना है। देखिये तर्क, वितर्कणा, स्वरूप प्रज्ञा भला शिक्षा आदि कियाको ग्रहण करना स्वरूप ही है। फिर मेघा तो पाठका ग्रहण करना स्वरूप प्रज्ञा भला शिक्षा आदि कियाको ग्रहण करना स्वरूप ही है। इस कारण ये विशेष संज्ञा ही हैं। तिस कारण स्व और अर्थकी उपलब्धि हो जानेसे सिद्ध हो चुका भावमन पुनः पोद्रालिक द्रव्यमनका आकर्षण करा लेता है। उसी बातको अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि स्वार्थोंकी उपलब्धि करनेमें भावमन (पक्ष) द्रव्यकरणकी अपेक्षा रखता है (साध्य)। भावस्वरूपकरण होनेसे (हेतु) स्पर्शन आदि भावकरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्बश्रद्धान्त)।

मनसोऽनिंद्रयत्वात्करणत्वमसिद्धमिति चेक्क, अन्तःकरणत्वेन प्रसिद्धः । अनिंद्रियत्वं तु पुनस्तस्यानियतविषयत्वादिंद्वियवेधम्यात् नाकरणत्वात्, स्वार्थोपल्रब्धौ साधकतमत्वेन करणत्वोपपत्तेः । न चैवं सूत्रविरोधः, पंचेन्द्रियाणि द्विविधानि द्रव्यभावविकल्पादित्यत्रानिंद्रियस्यापि द्विविधस्य सामर्थ्यसिद्धत्वात् । अरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानामित्यत्र सूत्रे पौद्गिककस्य द्रव्यमनसः सूत्रकारेण स्वयमभिधानात् ।

कोई कहता है कि मन तो इन्द्रिय नहीं है। अतः करणपना हेतु पक्षमें नहीं वर्त्तनेसे असिद्र हेत्याभास है। आचार्य कहते है यह तो न कहना। क्योंकि अन्तरंगके करणपने करके मनकी प्रसिद्धि हो रही है। हां, फिर अनिन्द्रियपना तो उस मनका नियत विषय नहीं होनेके कारण इन्द्रियोंके विधर्मपनसे हैं, करणरहितपनेसे नहीं। अर्थात्—इन्द्रियां करण हैं और मन इन्द्रियोंसे भिन्न अनिन्द्रिय है। अतः करण नहीं होगा, यह नहीं समझ बैठना। देखो, बात यह है कि स्पर्शनादि पांचों बहिरंग इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, आदिक नियत हैं और मनका कोई विषय विशेषक्रपसे नियत नहीं किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति सबने मानी है। अतः इन्द्रियोंके धर्म नियत विषयत्वसे यैधर्म्य रग्वनेवाले अनियत विषयत्व हो जानेसे मनमें अनिन्द्रियपना है। अन्य इन्द्रियोंके समान मनमें भी स्वार्थोंकी उपलब्धिमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे करणपना समुचित बन रहा है। यदि कोई यों कहें कि यों मनको भी करणपना माननेपर सूत्रसे विरोध हो जायगा। सूत्रमें पांच इन्द्रियां ही करण मानी गयी है। आचार्य कहते हैं कि यों कोई सूत्रसे विरोध नहीं आता है। क्योंकि " पंचिद्रियाणि,

दिविधानि " ये दो सूत्र हैं। पांच इन्द्रियां हैं वे द्रव्य और मान भेदसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं इस प्रकार यहां दो प्रकारके मनकी भी विना कहे ही सामर्थ्यसे सिद्धि हो जाती है। " तदिन्द्रियानिन्दिय-निमित्तम् " इस सूत्रमें इन्द्रियोंके साथ अनिन्द्रिय भी प्रधानरूपसे कहा गया है तथा पांचमें अध्यायके " शरीरवाक्शन:प्राणापानाः पुद्रलानाम् " इस सूत्रमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने पुद्रल निर्मित इन्यमनका स्थयं कण्ठोक्त निरूपण किया है।

तस्मादिदियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोपीत्यकर्रुकैरिप द्विविधेद्वियसामान्यवाक्यत्वेन द्विविधस्य मनसोभीष्टत्वात् । द्रव्यमनःमतिषेधिवचनाभावाच तत्मतिषेधे प्रमाणाभावाद्युक्त्या-गमविरोधाच । तत्राहोपुरुषिकामात्रं केषांचिद्विभावितसिद्धांतत्वमाविर्भावयति ।

तिस ही कारणसे सम्माननीय श्री अकलंक महाराजने भी यों कहकर कि इन्द्रिय और मन दोनों ही विज्ञानके कारण हैं, किंतु विषय हो रहा अर्थ भी विज्ञानका कारण नहीं है। इस कथन द्वारा दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके प्रतिपादक सामान्य वाक्य होनेसे द्रव्यमन और भावमन दोनों प्रकारके मनको अभीष्ट किया है। तथा द्रव्यमनका प्रतिषेध करनेवाले वचनका 'अभाव है, उस द्रव्यमनका निषेध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। युक्ति और आगमसे भी विरोध आता है। फिर्मी वहां द्रव्यमनका निषेध करनेमें आश्र्य दिखलाते हुये नग्न, निर्लज, पुरुषकीसी केवल चेष्टाये करना तो किन्ही चार्वाक सदशवादियोंके सिद्धांतविषयक विचाररहितपनको प्रकट करा रहा है। अर्थात् द्रव्यमनका निषेध करनेवाले चार्वाक विचार सिद्धान्तरहस्यका परामर्श नहीं कर सकते हैं। यहांतक प्रन्थकारने भावमनके साथ द्रव्यमनको भी सिद्ध कर दिया है। मैं ही पुरुष हूं यो अभिमानजन्य अपनेमें उत्कर्ष सम्भावना (बहादुर) तो आहोपुरुषिका है।

कश्चिदाइ-द्रव्यमन एव भावमनोस्ति तचात्मपुद्गल्यतिरिक्तं द्रव्यांतरमिति तद्प्यपसारयति ।

कोई वैशेषिक या नैयायिक यों कह रहा है कि द्रव्यमन ही भावमन है और वह द्रव्यमन तो आत्मा और पुद्गल दोनों द्रव्योंसे अतिरिक्त हो रहा न्यारा नौवां द्रव्य है। " पृथिव्यापस्ते जोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि " यों कणादमुनिप्रणीत सूत्र है। इस प्रकार उस वैशेषिकसिद्धान्तका भी निराकरण श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा करते हैं।

आत्मपुद्गलपर्यायव्यतिरिक्तं मनो न तु । द्रव्यमस्ति परैरुक्तं प्रमाणाभावतस्तथा ॥ ५ ॥

अन्तरंग निर्दृत्ति और लिध, उपयोग, रूप मन तो आत्मद्रव्यस्वरूप है तथा बहिरंगनिर्दृत्ति और अष्टदलकमलरूप, उपकरण स्वरूप मन तो पुद्रलकी पर्याय है। आत्मा पर्याय और पुद्रल क्योंबरे व्यक्तिक्त हो रहा कोई मन नामक नौमा द्रव्य नहीं है, जो कि दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंने क्यारा कहा था । क्योंकि तिस प्रकार मनको स्वतंत्र नौमा द्रव्य माननेमें साधक प्रमाणोंका अभाव है ।

भाषमनो ह्यात्मपर्यायः तस्य लब्ध्युपयोगत्वात् । सत्यि द्रव्यमनिस तदभावे स्वार्थ-परिच्छेदभादुर्भावायोगात्तत्रसिद्धेः । द्रव्यमनः पुद्रलपर्यायस्तदुपकरणात् द्रव्येद्रियवत् । तद्यतिरिक्तं तु द्रव्यांतरं मनो न शक्यं परैः साधियतुं तथा प्रमाणाभावात् । युगपज्झानानु-त्विभैनसी लिंगमिति चेका, ततो मनोमात्रस्य प्रतिपत्तिस्तद्द्रव्यांतरत्वासिद्धेः । पृथिव्या-दिद्रव्यस्विभिधात्परिशेषात् तस्य द्रव्यांतरत्वसिद्धिरिति चेक्नैतत्, निषेधासिद्धेः । तथाहि स्पर्भवद्द्रव्यं मनोऽसर्वगतद्रव्यत्वात् पवनवदिति पुद्रलद्रव्यत्वसिद्धेः । कृतः परिशेषात्तस्य द्रव्यांतस्त्वं समर्थिष्यते च तस्याग्रतः पौद्रालकत्वमित्यलं प्रसंगात् ।

चूंकि मात्र मन तो आत्माकी पर्याय है। क्योंकि वह भावमन तो लिध और उपयोग स्वरूप 🕯 । हृदयमें आठ पत्तेवाले कमलके समान द्रव्यमनके होते संते भी उस भावमनका अभाव हो जानेपर स्वायोंकी इसि प्रकट नहीं हो पाती है। अतः उस भावमनकी युक्तिप्रमाणसे प्रसिद्धि हो जाती है। हां, दूसरा द्रव्यमन तो (पक्ष) पुद्रलकी पर्याय है (साध्य) क्योंकि उस भावमनका उपकार करनेवाला करण है (हेतु) जैसे कि स्पर्शन आदिक द्रव्येन्द्रियां उप कारक करण होनेसे पुद्रलकी पर्याय हैं। (अन्वयद्यान्त)। हां, दूसरे वैशेषिकों करके उन आत्मपर्याय और पुद्रलपर्यायसे व्यतिरिक्त तो दूसरे हम्यक्ती मन नहीं साथा जा सकता है। उनके पास मनको न्यारा द्रव्य साधनेवाले प्रमाणका अभाव है। **मदि वैरोपिकोंके सिद्धान्त अनुसार यह प्रमाण प्रस्तुत** करो कि " ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः " आत्मे-न्द्रियार्थसिककेषे ज्ञानस्य भात्रोऽभावश्व मनसो लिंगम् (वैशेषिकद्शीनम्) प्रयत्नायौगपद्याज्ञाना-मीगप्रयाचेकम् " " युगप्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो छिंगम् " एक वारमें कई ज्ञानोंका नही उपजना ही श्रापक लिंग है। मुरमुरी कचोडी या पापड, खानेपर भी पांचों ज्ञान क्रमसे ही होते हैं। आचार्य कहते हैं कि वह तो न कहना। उससे तो केवल मनकी विश्वासपूर्वक ज्ञाति हो जाती है। उस मनको स्वतंत्र न्यारा द्रव्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है । वैशेषिक कहते हैं कि मनकी प्रतिपत्ति हो जानेपर पुनः प्रथिवी, जल, आदि आठ द्रव्यपनका निषेध हो जानेसे परिशेष न्यायद्वारा उस मनको भिन्न स्वतंत्र द्रव्यपना सिद्ध ही हो जावेगा । अर्थात्-स्पर्शनवाले पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार द्रव्योंका परिणाम तो मन हो नहीं सकता है। क्योंकि खख, दुःख, ब्रान, आदिके असमनायी कारण हो रहे संयोग्रके आश्रय (उदेश्य) चार स्पर्शवान् द्रव्य तो नहीं हैं (विधेय) तथा सुख, दु:खके साक्षात्कारमें आकाश भी करण नहीं हो सकता है। मनपदार्थ छोटा फिर काल, दिशा, आभा-स्वरूप भी नहीं है। अतः पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, इन आठ द्रव्योंका बिकेश हो जातेसे मनको न्यारा नौमा द्रव्यपना सिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो त

कहना। क्योंकि मनको पृथिवी आदि आठ हव्यपनका निषेध करना आसित है। उसी निषेधकी आसित को हम अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं। मन (पक्ष) स्पर्श गुणवाला द्वव्य है (सान्य) अव्यापक द्वव्य होनेसे (हेतु) वायुके समान (अन्वयद्यात) इस ढंगसे मनको पुद्रल द्वव्यपना सिद्ध हो जाता हैं। फिर तुमने उस मनको आठ द्वव्योंसे अतिरिक्ष परिशेषसे नौमा द्वव्यपना कैसे सिद्ध कर दिया था ! बताओ। हम जैन सिद्धान्ती उस उस मनके पुद्रल निर्मितपनका आने समर्थन कर देवेंगे। "शरीरवाल्मनःप्राणापानाः पुद्रलानां " इस मनके पुद्रल निर्मितपनका आने समर्थन कर देवेंगे। "शरीरवाल्मनःप्राणापानाः पुद्रलानां " इस स्वर् द्वारा मनको पुद्रलका बनाया हुआ साथ दिया जावेगा। इस प्रकरणमें इतने ही प्रसंग अनुसार कथन पर्यास है। यहां मनके पुद्रल रचितपनके प्रसंगका बढाना अनुचित है। विद्वानोंको इशारा ही काफी है।

अत्रान्य द्रव्यम्नो भावमनःसहितं द्रव्यं करणत्वात् स्पर्शनादिद्रव्यकरणवदित्यावेद्यंति।
तद्युक्तं, योगिद्रव्यमनसानेकांतात् । योगिनो हि द्रव्यमनः सदिष न भावमनःसहितं द्रव्येद्रियं च न भावेद्रिययुक्तं क्षायिकज्ञानेन सह क्षायोपश्चिमिकस्य भावमनोक्षस्य विरोधात् । न च
केवलिनो द्रव्यमनोक्षाणि न संति " वहिरंतरप्युभयथा च करणमविघातीति, वचनात् । ततो
विज्ञानविशेषादेव भावमनः साधनीयं, सिद्धाच भावमनसो द्रव्यमनसः सिद्धिरित्यनवद्यं।

यहां कोई दूसरे पण्डित यो निवेदन कर रहे हैं कि द्रव्यमन (पक्ष) भावमनसे सिंहत हो रहा ही द्रव्य है (साध्यदछ) करण होनेसे (हेतु) स्पर्शन आदिक द्रव्यक्तरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्वयदछांत)। इनका अभिप्राय द्रव्य मनके साथ भावमनका अविनामाय नियत रखनेका है। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना युक्तिरहित हैं। क्योंकि यों योगियोंके द्रव्यमनसे हेतुमें व्यभिचार दोष आता है। त्रिकाछ त्रिलोकवर्षी पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष करनेवाले योगीका द्रव्यमन विद्यमान हो रहा सन्ता भी भायमनसे सहित नहीं है तथा तेरहमे, चौदहमे गुणस्थानवर्षी सर्वक्रके विद्यमान न हो रहीं पांच द्रव्येदियां भी भावेन्द्रियोंसे युक्त नहीं हैं। झानावरण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुये क्षायिक केवलज्ञानके साथ ज्ञानावरणके क्षयोपरामसे उत्पन्न हुये मावमन और भावइद्रियोंके होनेक्सी विरोध है। जिन जीवोंके पास क्षायोपरामिक ज्ञान है उनके मावेदियां सम्भवती हैं। द्रव्येन्द्रियां तो तेरहमे गुणस्थानवाले योगियोंके और चौदहमे गुणस्थानवाले अयोगी महाराजके भी पाई जाती हैं। केवली भगवानके पांच बहिरंग द्रव्य इन्द्रियां और छठा कर्नारंग द्रव्यमन मही है, यह नहीं समझ बैठना। क्योंकि गुरुजी महाराज श्री समन्तमद्राचार्यने खुहत् स्वयंभूस्तालमें नेमिनाथ भगवानकी स्तृति करते समय यों कहा है कि " बहिरन्तरप्युमयथा च करणमविज्ञात नार्थक्त्, नाथ युगपद्रक्षिलं च सदा विमर्थ तलामककवद्विवेदिय " अर्थात्—हे नाथ! बिहरंग इन्द्रियां और अन्तरंग इन्द्रियां भी दोनों प्रकारके करण आपमें हैं किन्तु तुम्हारे ज्ञानका विघात करनेवाले नहीं ह, वे छऊ द्रव्येदियां तो इन्द्रियजन्य कार्य करणक

कमसे झान कराना, एक साथ झान न होने देना, आदि प्रयोजनोंको तुममें करानेवाली नहीं है। हे नेमिनाथ भगवन् ! तुम इस सम्पूर्ण जगत्को हथेलीपर रक्खे हुये आमलेके समान सदा कभीके जान चुके थे । असहाय केवलझानका प्रकाश हो जानेपर फिर रोई भी द्रव्येन्द्रिय अपने कार्य मावेन्द्रियका सम्पादन नहीं कर पाती है। तिस कारण विज्ञानविशेषसे ही भावमनको साधना चाहिये। हां, भावमनके सिद्ध हो जानेसे द्रव्यमनकी सिद्धि हो जाती है यह निर्देष व्यवस्था करना है। जिन जीवोंके भावमन पाया जाता है उनके द्रव्यमन अवश्य होगा। किन्तु जिनके द्रव्यमन है उनके भावमन होय, नहीं भी होय, इस प्रकार भावमन और द्रव्यमनमें कार्यकारणभावगर्भित व्याप्यव्यापकमाव सम्बन्ध है।

येषां तु प्राणिनां शिक्षािकयालापग्रहणविज्ञानविशेषाभावः शश्वत्तद्भवे निश्चितस्तेषां संज्ञित्वाभावाश्व भावमनोस्ति तदभावाश्व द्रन्यमनोऽनुमीयत इत्यमनस्कास्ते ततो युक्तं संज्ञित्वासंज्ञित्वाभ्यां समनस्कामनस्कत्वं न्यवस्थापयितुम् ।

हां, जिन प्राणियोंके तो उस भवमे सर्वदा शिक्षा, किया, आलाप, ग्रहण करनेवाले विज्ञान विशेषोंका अभाव निश्चित हो रहा है, उन मक्की, चींटी, कोई कोई पशु, पक्षी भी आदि जीवोंके संज्ञीपनका अभाव हो जानेसे मावमन नहीं है और उस भावमनका अभाव हो जानेसे द्रव्यमनके सद्भावका भी अनुमान नहीं किया जा सकता है। कार्यस कारणका अनुमान हो सकता था। अर्थात्—भावमन इतना परोक्ष नहीं जितना द्रव्यमन परोक्ष है। हमको अपने भावमनका प्रत्यक्ष भी हो जाता है। दूसरेके भावमनका अनुमान सुल्ञभतासे हो जाता है। अतः भावमनके अभावसे द्रव्यमनका अभाव साध लिया है। व्यापकके अभाव (व्याप्य) से व्याप्यका अभाव (व्यापक) अनुमित हो जाता है। जैसे कि वन्ह्यभावसे धूमाभावका अनुमान कर लिया जाता है। व्यापक वस्तुका अभाव व्याप्य यानी अल्पदेशवृत्ती हो जाता है और व्याप्य पदार्थका अभाव व्यापक यानी बहुदेशवृत्ती हो जाता है और व्याप्य पदार्थका अभाव व्यापक यानी बहुदेशवृत्ती हो जाता है और अमनस्क जाने जाते हैं। तिस कारण संज्ञीपन और असंज्ञी-पनसे जीवोंका समनस्कपना और अपनस्कपना व्यवस्था करानेके लिये युक्तिपूर्ण है।

इति सूत्रत्रयेणाक्षमनसां स्वामिनिश्रयः। संज्ञासंज्ञिविभागश्र सामर्थ्याद्विहितोंजसा।। ६।।

इस प्रकार तीन सूत्रों करके इन्द्रिय और मनके स्वामी हो रहे जीवोंका निश्चिय कर दिया गया है। तथा संज्ञी जीवोंका विभाग करते हुये परिशेष न्यायकी सामर्थ्यसे असंज्ञी जीवोंका विभाग भी झटित कर दिया गया समझ छेना चाहिये। अर्थात्—" वनस्पत्यंतानामेकम् " कृमिपिपी- किकाश्रमरमनुष्यादीनामेकैकहुद्धानि " इन दोनों सूत्रोसे पांचों या छऊ इन्द्रियोंके अधिकारी या स्वामी

हो रहे जीवोंका वर्णन किया है तथा तीसरे " संज्ञिनः समनस्काः" इस सूत्रसे संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंका पृथग्माव श्री उमास्वामी महाराजने कह दिया है। एक एक सूत्रमें अपरिमित वाच्यार्थ भरा पड़ा है।

यथा स्पर्शनस्य वनस्पत्यंताः स्वामिनः, क्रम्यादयः तस्य रसनवृद्धस्य, पिपीलिकादय-स्तयोघीणवृद्धयोः, भ्रमरादयस्तेषां चक्षुर्वद्धानां, मनुष्यादयस्तेषामिप श्रोत्रवृद्धानां तथा संज्ञिनो मनस इति मतिपत्तव्यं । ये तु मनसोऽस्वामिनः संसारिणस्ते च संज्ञिनः इति संज्ञ्यसंज्ञि-विभागश्च परमार्थतो विहितः ।

तिस प्रकारकी पहिली स्पर्शन इन्द्रियके प्रथित्रिक्षे प्रारम्भ कर वनस्पतिपर्यंत जीव स्वामी हैं, और रसना इन्द्रियसे वृद्धिको प्राप्त हो रही उस स्पर्शन इन्द्रियके स्वामी छट, जैंक आदिक जीव हैं। तथा प्राण इन्द्रियसे बढ रहीं उन स्पर्शन और रसना यों दो मिलकर तीन इन्द्रियोंके स्वामी चीटी, खटमल, आदिक जीव हैं एवं चौधी चक्षु:इन्द्रियसे बढ चुकीं होकर उन स्पर्शन, रसना, प्राण, इन्द्रियोंके स्वामी मोंरा, मक्खी, पतंगा, आदि प्राणी है, तथेव पांचवी श्रोत्र इन्द्रियसे अधिक हो रहीं उन स्पर्शन, रसना, प्राण, और चक्षुके स्वामी तो मनुष्य, घोडा, हाथी, आदि जीव हैं। तिस प्रकार ही संज्ञी जीव उन पांचोंके और मनके स्वामी हैं, यों समझ लेना चाहिये। यहां यथाके साथ तथाका अन्वय कर पंक्तिका अर्थ लगा देना। और जो जीव मनके स्वामी नहीं हैं वे संसारी जीव तो संज्ञी नहीं हैं। इस प्रकार वास्तविक रूपसे संज्ञी और असंज्ञी जीवोंके विभागका विधान इस सूत्रहारा किया जा चुका है। केवलज्ञानी जीवोंमें संज्ञीपन, असंज्ञीपनका भेद नहीं है। वे दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं।

तदेवमान्हिकार्थमुपसंहरकाह ।

तिस कारण इस प्रकार प्रकरणोंके समुदायभूत आन्हिकके अर्थका उपसंहार (संकोच) कर रहे श्री विद्यानन्द महाराज अग्रिम वार्तिकको वंशस्थ छंदद्वारा स्पष्ट कहते हैं ।

इति स्वतत्त्वादिविशेषरूपतो निवेदितं तु व्यवहारतो नयात्। तदेव सामान्यमवांतरोदितात्त्वसंश्रहात्तदृद्वितयश्रमाणतः॥७॥

दितीय अध्यायके आदिमें इस उक्त प्रभार जीवके निजतत्त्व, लक्षण भेद, इन्द्रिय, आदिका सामान्य रूपसे कथन कर पुनः व्यवहार नय करके विशेष रूपसे उन स्वतत्त्व आदिका इन प्रकरणों में सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजद्वारा दार्शनिक और भव्यजीवोंके सन्मुख निवेदन किया जा चुका है। वह सामान्य निरूपण ही व्याप्य विशेषको कहनेवाले स्वकीय, संप्रक, व्यवहार, ऋजुसूत्र, नयोंद्वारा विशेष रूपसे कह दिया जाता है तथा दोनों सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको विषय करनेवाले प्रमाणसे सब कह दिया गया समझ लेना चाहिये। नय और प्रमाणोंके विषय हो रहे धर्म, धर्मियों, करके जीवतत्त्व गुन्फित हो रहा है। प्रत्यक्ष परोक्षस्वरूप दोनों प्रमाणोंसे सम्पूर्ण विषय परिज्ञात होजाते हैं।

प्रमाणनयैरिधगप इत्युक्तं तत्र जीवस्य स्वतन्त्विष्ट सामान्यं संप्रहादवांतरोक्तादिभिनंतं निवेदितं तद्भेदाः परीपश्चमिकादयो व्यवहारनयात् यज्जीवस्य स्वतन्त्वं तदीपश्चमिकादिभेदस्य-मिति । युनरप्योपश्चमिकादिसामान्यं तत्तंप्रहात् तद्भेदो व्यवहारात् । यदीपश्चमिकसामान्यं तिह्नभेदं, यत्शायिकसामान्यं तक्षवभेदः यन्मिश्रसामान्यं तद्दृष्टादश्चभेदं, यदौद्यिकसामान्यं तद्देकविंश्वतिभेदं, यत्पारिणामिकं सामान्यं तिविभेदं इति । युनरपि सम्यक्त्वादिसामान्यं तत्तंप्रहात् तद्भेदो व्यवहारादिति संग्रहव्यवहारिनरूपणपरंपरा पायुजुस्त्राद्दवगंतव्या । सम्मान्य-विश्वषात्मकं तु स्वतन्त्वं सकलं प्रधानभावात् प्रमाणतोधिगतं निवेदितं सूत्रकारेण । एवं जीवस्य लक्षणं भेद इन्द्रियं मनस्तद्विषयः तत्स्वामी च सामान्यतः संग्रहाद्विश्वषतो व्यवहारात् प्रधानभावापितसामान्यविशेषतः प्रमाणादिधगम्यते ।

प्रमाण और नयोंकरके जीवादि पदार्थीका अधिगम होता है। यह पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है। उन सात तत्वोंमेंसे जीवतत्त्वंका निजतत्त्व तो यहां द्वितीय अध्यायके पहिले सूत्रमें जो सामान्य कहा गया है, वह नयके अवान्तर व्याप्य भेदोंमें कहे गये संप्रहनयसे जान लिया गया कहा जा चुका है। हां, जीवके स्वतत्त्वके भेद हो रहे दूसरे औपशमिक, क्षायिक, आदि भाव तो न्यवहार नयसे यों गिनाये गये हैं कि जीवके जो स्वतत्त्व हैं वे औपशमिक, क्षायिक, आदि मेदस्वरूप हैं। फिर भी उस औपशमिक आदि सामान्यको संग्रहनयसे जानकर उन औपशमिक आदिके भेदोंका अधिगम व्यवहारनयसे यों जान लिया कह दिया है कि जो औपशमिक सामान्य है, वह दो भेदवाला तत्त्व है, और जो क्षायिक सामान्य स्वतत्त्व है, वह नी भेदोंको धार रहा है, तथा जो जीवका निजतत्त्व मिश्र सामान्य है, वह अठारह भेदोंमें विभक्त है, एवं जो संप्रहनयसे सामान्य अनुसार एक ही औदियिक निजतत्त्व है, वह व्यवहारनयसे इकईस भेदोमें बटा हुआ है। जी पारिणांमिक सामान्य भाव है, वह व्यवहारनयसे वह तीन भेदवान् है, इस प्रकार संप्रह और व्यवहारनयसे स्वतत्त्वके भेद प्रभेदोंका निरूपण आदिके सात सूत्रोंमे किया गया है, फिर भी वहीं सम्यक्त आदि सामान्यको जो संग्रहसे जाना गया है, उसके भेद व्यवहारसे जान छिये जाते हैं। व्यवहारनयसे जाने चकेके ऋजुस्त्रनयसे पुनः प्रभेद जान लिये जाते हैं । इस ढंगसे संप्रह और व्यवहारद्वारा निरू-पण करनेकी परम्परा सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयसे पहिलेत म समझ लेनी चाहिये। अर्थात्-जबतक एक समयवर्ती सूक्ष्म एक है। पर्यायतक नहीं पहुंचे, तबतक पहिलेके भेद प्रभेदीको संप्रह और व्यवहारम ही खतियाना चाहिये, जैसे कि प्रासादके दृढ भाण्डागारमें नडा सन्दृक है, वहां नडी तिजीरीमें डिन्ना रक्ता है। डिन्नेमें डिनिआ और डिनिआमें नक्षवेष्टित हो रहे रत्नभूषण सुरक्षित हैं। उसी प्रकार पिहेले व्यवहारसे जाने गयेको संप्रहका विषय बनाकर पुनः उसके व्याप्य विषयको व्यवहारसे जानी. फिर भी यदि विषयोंके परतींमें छीटे छोटे अनेक परत दीखें तो उस व्यवहारनयके विषयकी

संस्थानयहारा जानकर उसके भी व्याप्यको पुन व्यवहारनयसे जानो, जबतक ऋजुसूत्र नयका निषय विश्वास्त्र न होय तबतक संमह, व्यवहार नयोंकी परम्पराको बढ़ाये जानो । जीन पदार्थका सम्पूर्ण निजतल तो सामान्य विशेषात्मक है, नयोंद्वारा कोई भी एक धर्म या धर्मी प्रधान विवक्षित हो जाता है । शेष अंश अप्रधान समझा जाता है । हां, प्रमाणदारा तो संपूर्ण सामान्यविशेष आत्मक स्वत्त्व प्रधानरूपसे जान लिया ग्रधा । सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके निवेदन कर दिया गया है । इस प्रकार सात सूत्रोंद्वारा जीवका स्वतत्त्व और दो सूत्रद्वारा जीवका लक्षण तथा पांच सूत्रोंद्वारा जीवको मेद एवं अप्रिम पांच सूत्रोंकरके जीवकी इन्द्रियां और मन भी तथा आगेके दो सूत्रोंकरके जीवकी छह इन्द्रियोंक स्वामी ये सब जान लिये जाते हैं । यहांतक द्वितीय अध्यायके चौवीस सूत्रोंका निरूप्य अर्थ बता दिया है । सामान्यरूप करके संप्रहनयसे उक्त विषय जाना जाता है और विशेष रूप करके व्यवहारनयसे उक्त स्वतत्त्व लक्षण आदिको जान लिया जाता है तथा सामान्य और विशेष दोनोंको प्रधानरूपसे विवक्षा प्राप्त करनेपर प्रमाणसे उक्त सिद्धान्त निर्णीत कर लिया जाता है ।

इति तत्त्वार्थभ्येकवार्तिकालंकारे दिवीयाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् । यहांतक तत्त्वार्थस्त्रको अलंकारस्वरूप तत्त्वार्थभ्योकवार्तिक प्रन्थमे दितीय अध्यायका श्री विद्यानन्द स्वामी कृत पहिला आहिक समाप्त हुआ । ॐ व्हीं श्री द्वादशाङ्गप्रमृतिकमनधं मन्त्रमुखारयन्तः । शुक्लध्यानात्मिकां यां मतिमवधिमनःपर्ययौ चावहेल्य । श्रद्धाचष्टाङ्गपूर्णामनुपदमृषयोभावयन्त्युप्रभक्त्या प्रामाजीवस्वतत्त्वाद्यधिगतिक्रशला साहती भारती नः ॥ १ ॥

---×**×----

इसके अनन्तर जिज्ञासा होती है कि संसारी जीवके मर जानेपर यानी मुज्यमान आयु:कर्मके मुगत चुक्रनेपर पूर्वजन्म सम्बन्धी रारीरके नष्ट होते सन्ते विचारक द्रव्यमनका भी विनारा हो चुका है, ऐसी दशामें असहाय आत्माकी भविष्यमें जन्म छेने योग्य क्षेत्रके प्रति अभिमुखपने करके प्रदृत्ति भक्ता कैसे होती है बताओ । ईश्वर, खुदा, यमदूत आदि तो जैनसिद्धान्त अनुसार क्षेत्रान्तरमें छे बाकर जन्म करा देनेबाछे माने नहीं गये हैं । उनके पक्षपाती पण्डितोंने जैसे वे माने हैं वैसे ईश्वर खादि मानाप सिद्ध भी नहीं हैं । इस प्रकार सप्रतारण जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज इस खाकिम सूत्रका अवतार करते हैं ।

विग्रह्मती कर्मयोगः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण शारीरोंके प्ररोहका बीजमूत वह ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मोंका समुदायमूत कार्मण शारीर ही यहां कर्म कहा जाता है। मन बचन कायके उपयोगी वर्गणाओं मेंसे किसी भी एकका निमित्त पाकर हुआ आत्मप्रदेशोंका सकर्मना योग माना जाता है। उत्तरभव सम्बन्धी शारीरके प्रहण करने के लिये हो रही गतिमें कर्मयोग निमित्त हो जाता है। अर्थात्—उत्तर भवमें जन्म लेने के लिये आकाश प्रदेश श्रीणियों में चले जा रहे जीवके कार्मणयोग हो रहा गतिका सम्पादक है। जगतमें जड पदार्थ बहुत विस्मयजनक कार्योको कर रहे हैं। चेतनको अनेक वर्षोतक उनकी शिष्यता प्राप्त करना मान् आवश्यक हो जाता है। वैज्ञानिक विद्यानोंद्वारा जडके चमत्कारक कार्यदृष्टि गोचर करा दिये जाते हैं। चेतन तो मूर्व सरीखा उनके क्ष्मुख देखता ही रह जाता है। चेतनके भूक, प्यास, शीत, उष्णता, बाधा, रोग आदिको जड ही मेटता है जीवित शरीरमें भी चेतन जीव पोंगा सरीखा खडा रहता है, जिस समय कि शारीरिक प्रकृति अनेक आश्चर्यकारक कार्योका सम्पादन कर रही है अतः जीवकी करीरके लिये गतिमें अथवा पुदलके आधानके निरोधके साथ हो रही गतिमें कर्मयोग प्रेरक निमित्त हो रहा है।

विग्रहो देहः गतिर्गमनिकया विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः अश्वघासादिवदत्र शृक्तिः कर्म कार्मणं श्वरीरं कर्मैव योगः । कार्मणशरीरालंबनात्मपदेशपरिस्पंदरूषा क्रियेत्यर्थः । विग्रहगतौ-कर्मयोगोस्तीति प्रतिपत्तव्यं, तेन पूर्व शरीरं परित्यज्योत्तरश्वरीराभिग्रुखं गच्छतो जीवास्यांत-राले कर्मादानसिद्धिः ।

विश्रह शब्दके अर्थ देह, राजनीति सम्बन्धी छह गुणोंमें एक गुण, युद्ध, विस्तार, ये कई हैं। किन्तु यहां सूत्रमें पड़े हुये विश्रह शब्दका अर्थ देह पकड़ना चाहिये गित शब्दके गमन, मुक्ति, इति, प्राप्ति, अर्थोमेंसे यहां गमन करना स्वरूप किया अर्थ छेना चाहिये। विश्रहके छिये जो गित होती है वह विश्रहगित होती है। यहां कोई प्रश्न करे कि "रथाय दारुः रथदारुः कटकाय सुवर्ण कटकसुवर्ण" रथके छिये काठ है, कड़ेके छिये सोना है, इस प्रकार "प्रकृतिविकृतिश्राच " सम्बन्ध होनेपर उसके छिये इस अर्थमें चतुर्थी तत्पुरुष समासन्नति हो सकती है। किन्तु यहां तो शरीरको बनानेके छिये गित कोई प्रकृति नहीं है। अतः समास होना कठिन है। इसके छिये प्रथमसे ही आचार्य कह देते हैं कि विश्रहगती यहां "अश्ववास, छात्राल, इत्यादिके समान समासन्नति कर छेनी चाहिये, घोड़ेके छिये पास है, विद्यार्थोंके छिये अल रखा है, यहां प्रकृति विकृति भाव नहीं होते हुये भी तद्र्थपनेको कह रही चतुर्थी समासन्नति हो जाती है। तथा कर्मका अर्थ आत्मामें प्रवाह रूपसे उपचित हो रहा कार्मण शरीर है। कर्मस्वरूप ही जो योग है वह कर्मयोग है। यानी कार्मण शरीरका अवरुम्ब छेकर हुयी आत्मप्रदेश कम्पन सक्रप क्रिया इस कर्मयोगका अर्थ है, विग्रहके छिये गतिमें कर्मका थोग है यह समझ छेना चाहिये। तिस कारण पूर्वशरीरको छोडकर उत्तरमब सम्बन्धी शरीरके अभिमुख गमन कर रहे जीवके मध्यवर्ती अन्तराखमें कर्मोके ग्रहण करनेकी सिद्धि हो जाती है। कार्मणकाय योगहारा उस समय भी कार्मण वर्गणाओं का आकर्षण होकर जीवके ज्ञानवरणादि कर्म बनते रहते हैं।

कुतः पुनविंग्रहगतौ जीवस्य कर्मयोगोस्तीति निश्रीयत इत्याइ ।

फिर यह बताओ कि विप्रहगतिमें जीवके कर्मयोग विद्यमान है, यह किस प्रमाणसे निश्चित किया जाता है ! इस प्रकार प्रश्नस्वरूप बाणके छूटनेपर बालबालकी रक्षा करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामी वन्नकवचरूप समाधान वचनको कहते हैं।

गतौ तु वित्रहार्थायां कर्मयोगो मतोन्यथा। तेन संबंधवेधुर्याद्व्योमवित्रवृतात्मवत्॥१॥

विप्रहके उपार्जन अर्थ हो रही गतिमें तो कर्मयोग प्रेरक कारण माना गया है, अन्यथा यानी कर्मयोग नहीं माननेपर उस समय उन कर्मोंके सम्बन्धसे रीते रह जानेके कारण यह जीव आकाशके समान सर्वथा कर्मशून्य हो जायगा अथवा कर्मशुक्त हो रहा जीव मुक्तजीवोंके समान बन बैठेगा । ऐसी दशामें तो मर जानेपर सभी जीवोंको कर्मरिक्त हो जानेसे मुक्तिलाभ प्राप्त हो जायगा । संसारपरिवर्तन नहीं हो सकेगा, जोकि किसी भी आस्तिकके यहां अभीष्ट नहीं किया गया है।

येषां विग्रहिनिमित्तायां गतौ जीवस्य कर्मयोगो नाभिमतस्तेषां तदा पश्चाद्वा नात्मा पूर्वकर्म-संबंधवान्कर्मयोगरहितत्वादाकाशवन्युक्तात्मवच विपर्ययत्रसंगो वा ।

जिन प्रतिवादियों के यहां शरीरके निमित्त हो रही जीवकी गतिमें कर्मयोगको कारण नहीं माना गया है उनके यहां उस समय अथवा पीछे भी आत्मा (पक्ष) पूर्व कर्मोंके सम्बन्धवाला नहीं सम्भवता है (साध्य) कर्मयोगसे रहित होनेके कारण (हेतु) आकाशके समान और मुक्त आत्माक समान (दो अन्वयदृष्टान्त) पहिला दृष्टान्त तो सर्वथा कर्मोंके अत्यन्तामावको साथ रहा है और दूसरा दृष्टान्त कर्मोंके सद्भावपूर्वक रिक्तता (धंस) को पृष्ट करता है । अथवा दूसरी बात यह भी है कि विपर्यय हो जानेका भी प्रसंग होगा । अर्थात् भारते समय कर्मोंसे सर्वथा रीता हो गया आत्मा पुनः जन्मान्तरोंके फलोपयोगी कर्मोंका नवीन ढंगसे यदि उपार्जन कर लेता है तो कर्मोंके भूत, वर्तमान, भविष्य, विकाल, संसर्गाविच्छन अत्यन्तामावको धार रहा आकाश अथवा कर्मोंके वर्तमान, भविष्य, काल्द्रय संसर्गाविच्छन धंसको धार रहा मुक्त आत्मा भी पुनः कर्म लिस हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है।

आत्मनः परममहत्त्वात् गतिमत्त्वाभावादिग्रहगतिरसिद्धाः । तथोत्तरत्तरीरयोगः एव पूर्वशरीरवियोगः इत्येककालत्वात्तयोर्नान्तरालमदृष्ट्योगरहितं यतो पूर्वकर्मसंबंधभागात्माः न स्यादिति कश्चित् । तं प्रत्याहः ।

यहां कोई वैशेषिक कह रहा है कि विमु द्रव्योंमें पाये जानेवाले परम महस्व परिमाणका धारी होनेसे आत्माके गतिमान्पनेका अमाव है। अतः विप्रहके लिये गति करना जीवके असिद्ध है तथा एक बात यह मी है कि उत्तर शरीरके साथ सम्बन्ध हो जाना ही तो पूर्वशरीरका वियोग है। इस प्रकार पूर्वभवकी मृत्यु और उत्तर भवके जन्मका एककाल होनेसे उन दोनोंका अन्तराल तो पूर्वक्री

अद्दृक्ते योगसे रहित नहीं है। जिससे कि आत्मा पूर्वकर्मके सम्बन्धको धारनेवाला न हो सके। अर्थात् आत्मा व्यापक है, उत्तरमबक्ते जन्मस्थानोंमें पहिलेसे ही ठहरा हुआ है। अदः उत्तर स्थिरको प्रहृण करनेके लिये गमनकी कोई आवश्यकता नहीं है। पहिलेके योग और कर्मबन्ध सब, वैसेके वैसे ही बने रह सकते हैं। फिर हमारे ऊपर आकाश या मुक्तात्माके समान कर्मरहितपनेका प्रसंग अथवा विपर्यय हो जानेका प्रसंग व्यर्थमें क्यों उठाया जाता है! यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है। उस वैशेषिकके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

गतिमत्त्वं पुनस्तस्य कियाहेतुगुणस्वतः । छोष्टवद्वेतुभर्मोस्ति तत्र कायिकयेक्षणात् ॥ २ ॥

उस जीवको गतिसहितपना तो क्रियाको हेतु, गुण, से युक्त होनेके कारण सिद्ध हो जाता है, जैसे कि फेके जा रहे डेलमें क्रियाका हेतु वेगगुण विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मामें क्रिया करनेका हेतु प्रयत्न या जीवविपाकी गतिकर्मके उदयसे होनेवाला गातिभावनामक गुण (पर्याय) विद्यमान है। अब हेतुके असिद्ध हो जानेकी शंका हो जानेपर पुनः हेतुको साध्य कोटिपर लाया जाता है कि उस आत्मामें हेतु धर्म हो रहा क्रियाका हेतुभूत गुण विद्यमान है। क्योंकि शरीरमें उसके द्वारा की गयी क्रिया देखी जाती है। अर्थात—देखो, जिस समय देवदत्त हाथको उपर उठा रहा है या चळ रहा है उस समय आत्मामें क्रियाका उत्पादक प्रयत्न गुण अवश्य है। अन्यथा शरीरके अवयवोंसे उठाना या पावोंका चलाना आदि क्रियायों नहीं देखी जा सकती थी। हाथ या पानोंकों ओतपोत हो रही आत्मा ही उठती चलती किरती है। उसके साथ शरीर या उसके अवयव तो खिन्द जाते हैं। जैसे कि धिसहारे मनुष्यके चलनेपर उसके सिरपर रखी हुई घासकी पोटरी भी उसके साथ घिसटती चली जाती है। इस ढंगसे दो हेतुओं द्वारा आत्माकी गतिको साथ दिया गया है।

सर्वगत्वाद्गतिः पुंसः सवन्नास्तीति ये विदुः । तेषां हेतुरसिद्धोस्य कायमात्रत्ववेदनात् ॥ ३॥

आत्माके (पक्ष) देशसे देशान्तर होनारूप गित नहीं है (साध्य) जगत्के सभी स्थानोंमें प्राप्त हो चुका होनेसे (हेतु) विभु आकाशके समान (अन्ययदृष्टान्त), इस प्रकार जो नैयायिक मान बैठे हैं, उनके यहांका खीकृत सर्वगत्व हेतु असिद्ध है । पक्षमं नहीं वर्तता है । क्योंकि इस जीवका केवल गृहीत शरीरमें ही उतने ही लम्बे चौडे, मोटे परिमाणको विषय कर रहा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है । अपने अपने शरीरके बाहर आत्माका सम्वेदन किसीको नहीं होता है । अतः आत्मा अणुपरिमाण या महापरिमाण दोनोंसे रीता हो रहा मध्यम परिमाणवाला है । अन्यथा व्यापक मान लेनेपर वडा भारी व्यवहारसांकर्य होकर गुटाला मच जायगा । " सर्वमृत्द्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं" यह विभूपना अगुरमामें नहीं है ।

विभुः पुमानमूर्तत्वे सति नित्यत्वतः खवत् । इत्यादि हेतवोष्येवं प्रत्यक्षहत्गोचराः ॥ ४ ॥

फिर वैशेषिक पंडित अनुमान करते हैं कि आत्मा (पक्ष) व्यापक है (साध्य) पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच मृतीसे भिन्न होते सन्ते नित्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयद्द्यान्त) लथा आत्मा व्यापक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अणुपरिमाणका अधिकरण नहीं हो रहा सन्ता नित्यहच्य है (हेतु), जैसे कि आकाश व्यापक है (इंप्टांत) । अथवा देवदत्तकी अंगनाका सरीर या देवदत्तके सैकडों हजारों कोस दूर बन रहे वस्त्र, अलंकार, कांटे, विष, अंगूर, सेव, आदिक पदार्थ (पक्ष) संयक्त हो रहे देवदत्तकी आत्माके गुणोंद्वारा सम्पादित किये जाते हैं (साध्य रे क्योंकि कार्य होते हुये वे उस देवदत्तके उपकारक हैं (हेतु) जैसे कि कौर, गायन, अध्ययन, आदिक हैं। इस अनुमानसे भी आत्माके न्यापक सिद्ध हो जानेपर ही देशान्तरवर्ती भोग्य. उपभोष्य पदार्थींसे संयुक्त होकर किया कराना बन पाता है । तथा पुण्य पाप (पक्ष) अपने आश्रय आत्माक साथ संयुक्त (समवेत) हो रहे सन्ते ही दूसरे आश्रयोंमें कियाका आरम्भ करते हैं (साध्य), क्योंकि एक द्रव्यके गुण होते हुये वे कियाके हेतुभूत गुण हैं (हेतु), प्रयत्नके समान (अन्वय इंग्टांत)। एवं आत्मा (पक्ष) सर्वव्यापक है (साध्य), सर्वत्र जाने जा रहे गुणोंका आधार होनेसे (हेत) आकाशके समान (दृष्टांत) तथा बुद्धिका अधिकरण हो रहा आत्मा द्रव्य व्यापक है (साष्य), क्योंकि नित्य होते हुये अस्मदादिकोके द्वारा जानने योग्य गुणोंका अधिष्ठान होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयदृष्टांत) और भी आत्मा सर्वगत है (प्रतिज्ञा), द्रव्य होते हुए अमूर्त होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अन्य भी अनुमान लीजिये । आत्मा व्यापक है (प्रतिज्ञा) मनसे भिन्न होता हुआ स्परीरहित द्रव्य होनेसे (हेत्) आकाशके समान । अब आचार्य कहते हैं कि आत्माको व्यापकल सिद्ध करनेमें दिये गये इसी प्रकार अमूर्त होते हुये निल्यपना आदिक हेतु तो प्रलक्षवाधित सान्यको विषय कर जुकनेपर प्रयक्त हो रहे हैं। अतः बाधित हेत्वामास हैं। जब कि रासनप्रवाधने मिश्रीका मीठापन प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा गृहीत हो रहा है, ऐसी दशामें दो चार तो क्या सहस्रों हेतु भी मिश्रीको कटु सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। उसी प्रकार शरीरमें ही आत्माका स्वसम्वेदन हो रहा है। अतः आत्माके च्यापकलको साधनेवाले सभी हेत अकिंचित्कर हैं। तथा आत्मा (पक्ष) परममहा परिमाणवान् नहीं है (साध्य) क्योंकि द्रव्यांतरोसे उस साधारण हो रहे सामान्यका आधार हो रहा सन्ता अनेक हैं (हेत) घट,पट, आदिके समान (अन्वयद्यांत) तथा आत्मा सर्वगत नहीं है, दिक्, काल, आकाशसे भिन्न होता हुआ देन्य होनेसे पुस्तकके समान । एवं आत्मा विभु नहीं है, कियावान् होनेसे बाण आदिके समान । इला-दिक अनुमानींसे भी आत्माका व्यापकल बिगाड दिया जाता है। तब तो पूर्वीक सभी हेत संव्यतिपक्ष देलांभास हो जाते हैं।

हेतुरीश्वरबोधेन व्यभिचारी च कीर्तितः । तस्यामूर्तत्विनत्यत्वसिद्धेरिवभुता भृतः ॥ ५ ॥ अनित्यो भावबोधश्रेन स्यात्तस्य प्रमाणता । गृहीतग्रहणान्नो चेत् स्मृत्यादेः शास्त्रबाधिता ॥ ६ ॥

आचार्य महाराज दूसरी बात कहते हैं कि वैशेषिकींद्वारा आत्माके विभुत्वको साधनेमें प्रयुक्त किया गया हेत तो ईश्वरज्ञान करके व्याभेचार दोषवान भी असिद्ध हो रहा है। देखिये, वैशेषिकों के यहां दिक, काल, आत्मा, आकाश, ये चार द्रव्य व्यापक माने गये हैं । इनके गुण तो परम महापरि-माणवाले नहीं हैं। क्योंकि गुणमें पनः दूसरे गुण नहीं ठहरते हैं, ज्ञान गुणमें परिमाण गुण नहीं वर्तता है " गुणो गुणानंगीकारात । " " निर्गुणा गुणाः " । जबिक पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, इन पांच मूर्तद्रव्योंसे भिन्न हो रहा वह ईश्वर ज्ञान अमूर्त है, और नित्य भी सिद्ध है, किन्तु अन्या-पकलको धारनेवाले उस ज्ञानको ज्यापकपना नहीं माना गया है, अतः ईश्वरज्ञानमें हेतुके अविकल ठहर जानेसे और साध्यके नहीं वर्त्तनेसे व्यभिचार दोष हुआ । इस व्यभिचार दोषको हटानेके छिये वैरापिक यदि ईश्वरज्ञानको अनित्य कहें तब तो गृहीतग्राही होनेसे उस ईश्वराज्ञानको धारवाही ज्ञानके समान प्रमाणता नहीं हो पायगी। पहिले ज्ञानने जिन पदार्थीको विषय किया था दूसरे ज्ञानने भी भी नवीन उपज कर उन्हीं पदार्थीको जाना, यह गृहीतोंका ही प्रहण हुआ । हां, ईश्वर ज्ञानको नित्य, एक, मान छेनेपर तो गृहीतको है। पुनः दूसरे ज्ञानसे भी प्रहण करना यह प्रसंग उठानेका अवसर ही नहीं आता है। यदि तम वैशेषिक गृहीतग्राही होनेपर भी ईश्वरज्ञानकी अप्रमाणता नहीं मानोगे तब तो स्मृति, प्रत्यभिन्नान, धाराबाहि ज्ञान आदिको भी प्रमाणता आ टपकेगी, जोकि तम्हारे शाखोंसे बाधित है. साथमें आत्माका न्यापकपना तो सर्वोगीण निर्दोष उन धर्मी प्राहक प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे बाधित हो रहा है। यह समझे रही।

गतिमानात्मा क्रियाहेतुगुणसंबंधाङोष्ठवत्। क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्त्यात्मिनि काये तत्कृत-क्रियोपलंभात्। यत्र यत्कृतिक्रियोपलंभः तत्र क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्ति यथा वनस्पती वायुकृतिकि-योपलंभाद्वायौ तथा चात्मकृतिक्रियोपलंभः काये तस्मादात्मिनि क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्ति इति निश्चीयते। कः पुनरसावात्मिनि क्रियाहेतुगुणः ? प्रयत्नादिः। प्रयत्नवता शात्मना बुद्धिपूर्विका क्रिया काये क्रियते, अबुद्धिपूर्विका तु धर्माधर्मवतान्यया तदयोगात्।

आतमा (पक्ष) गमन करना रूप कियावाला है (साध्य) कियाके हेतु हो रहे गुणोंका सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे (हेतु) ढेल या गोलीके समान (अन्वयदृष्टान्त)। पुनः आचार्य हेतु रक्षको साधते हैं कि आत्मामें (पक्ष) कियाके हेतुभूत गुणोंका सम्बन्ध हो रहा है (साध्य)

शरीरमें उन गुणोंसे की गई कियाका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे (हेत्) जहां जिसके द्वारा की गयी कियाका उपलम्भ हो रहा है, वहां कियाने हेतुमृत गुणका सम्बन्ध है। या किया हेतुभृतगुणके समवायी द्रव्यका सम्बन्ध विद्यमान है (अन्वयदृष्टान्त) जैसे कि वृक्षस्वरूप वनस्पतिमें वायु द्वारा की गई कियाका उपलम्भ होनेसे वायमें कियाहेतगुण वेग या कंपानेवाला ईरण (धका देना) विद्यमान है (अन्वयदृष्टान्त) तिसी प्रकार कायमें आत्मा द्वारा की गयी कियाका उपलम्म हो रहा है (उपनय) तिस कारणसे शरीरी आत्मामें क्रियाके हेतु मृत गुणोंका सम्बन्ध है (निगमन)। यों अनुमानसे निश्चय-कर लिया जाता है। यहां कोई प्रश्न करता है कि फिर यह बताओ ? कि आत्मामें क्रियाका हेत् हो रहा वह गुण कीनसा है ? आचार्य उत्तर कहते हैं कि प्रयत्न, वीर्य, उत्साह, बळ, आदिक गुण आत्मामें क्रियाके सम्पादक हैं। चूंकि प्रयत्नवाले आत्मा करके कायमें बुद्धिपूर्वक क्रिया की जाती है जिससे कि खाना, पीना, चलना, पूमना, उडना, भित्ती (कुश्ती), भिरना, शास्त्र छिखना, खेळना, सीमना, कसीदा काढना, आदि कियायें हो जाती है। हां, शरीरमें हुईं अबुद्धिपूर्वक क्रियायें तो पुण्य पापवाले आत्मा करके अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा बनाली जाती हैं, जिससे नख, केश, आदिकी बृद्धि होना, रक्त संचार, अन परिपाक, मल उपमलोंका बनना, आदि कियाओंका सम्पादन हो जाता है। अन्यया यानी प्रयत्नवान् आत्माके विना शरीरमे उन बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक हुई क्रियाओंकी निष्पत्ति होनेका अयोग है। अतः ऋियाके सम्पादक गुणींका सम्बन्ध हो रहा होनेसे आत्मामें गति क्रिया सिद्ध हो जाती है।

नतु च कियाहेतुगुणयुक्तः कश्चिदन्यत्र कियामारभमाणः कियावान् दृष्टो यथा वेगेन युक्तो वायुर्वनस्पती, कश्चित्पुनरिक्तयो यथाकाशं पतित्रिणि तथात्मा कियाहेतुगुणयुक्तश्च स्याद-कियश्चेति नायं हेतुः कियावच्चं साथयेदाकाशेन व्यभिचारात् इति कश्चित्, सोत्रैवं पर्यनुयो-किव्यः । केन कियाहेतुना गुणेन युक्तमाकाशमिति १ वायुसंयोगेनेति चेन्न, तस्य कियाहेतुत्वा-सिद्धः । वनस्पती वायुसंयोगात् कियाहेतुरसाविति चेन्न, तस्मिन् सत्यप्यभावात् । विशिष्टे वायुसंयोगः कियाहेतुरिति चेत्, कः पुनरसौ १ नोदनमिष्यातश्चेति । किं पुनर्नोदनं कश्चाभिचातः १ वेगवदद्रव्यसंयोग इति चेत्, तिहं वेग एव कियाहेतुस्तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात् न त्वाकाशस्य वेगोस्तीति न कियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं ततो न तेन साधनस्य व्यभिचारः।

यहां कोई बैरोषिक मतका अनुयायी अपने आत्माके क्रियारहितपन मन्तन्यका और भी अव-धारण कर रहा है कि कोई कोई पदार्थ तो कियाके हेतुभूत गुणसे युक्त हो रहा अन्य पदार्थों में क्रियाका आरम्भ कर रहा सन्ता वह क्रियावान् देखा गया है, जैसे कि क्रियाके कारण वेग गुणसे सिंदत हो रहा वायु दूसरे वनस्पस्तियों में हल्न, कम्पन, क्रियाओं को उपजाता है। किन्तु कोई कोई पदार्थ तो फिर क्रियारिहत होता हुआ ही दूसरे पदार्थों के क्रियाका आरम्भ कर देता है। जैसे कि आकाश द्रव्य

दूसरे पक्षी या प्रतंगेमें कियाकी करा देता है। तिसी प्रकार आत्मा कियाके कारण गुणोंसे युक्त भी बन्ध रहे और किया रहित भी बना रहे कोई क्षति नहीं है। इस कारण अनुकुछ तर्कका अभाव हो जानेसे तुम जैनों का यह " क्रियाकारणगुण्ल " हेत् तो आत्मामें गमनक्रियासहितपनको नहीं साथ सकेगा । क्योंकि आकाशके साथ व्यक्तिकार दोष हो रहा है। पूर्व प्रकरणोंमें बायु बनस्पतिके संयोगके सहस वाय आन्द्राश संयोग आकाशमें वर्त रहा कियाहेत्राण साधा जा चुका है। किन्त आकाश क्रियात्रान नहीं है। यहांतक कोई प्रतिवादी कह चुका है, अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा वह: प्रतिवादी यहां मों पर्यनुसोग् लगाने योग्य है। अर्थात् - उसके ऊपर यह अभियोगु लगा देना चाहिसे कि भाई बताओ, कियाके हेतुभूत किस गुणसे युक्त आकाश हो रहा है ? हम तो समझते हैं कि आकारामें कोई भी कियाका हेत गुण नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यों कहा कि वायुसंयोग नामक कियाहेत गुणसे यक्त आकाश है सो यह तो नहीं कह सकते हो । क्योंकि उस आकाशवरी वायसंयोगको कियाका हेलपना असिद्ध है। यदि तम वैशोधिक पनः यह कही कि वनस्पिस्तिमें बाह्य संयोगसे किया हो जाती है ! अतः वह वायुसंयोग कियाका हेत्रभूत मान क्रिया जाय । आजार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस वायुसंयोगके होनेपर भी बुक्षमें क्रियाका अभाव हो रहा है। अर्थरित्रिमें वासुका मन्द संचार होनेपर भी वृक्ष अरुम्प रहे आते हैं। यदि तुम विशेषताको प्राप्त हो रहे वायुसंयोगको कियाका कारण मानोगे यो कहनेपर तो हम पूछेंगे कि तुम्हारे यहां '' अभिवातो नोदनञ्च शह्रहेतुरिहादिमः, शह्राहेतुर्दितीयः स्यात् '' इस प्रकार संयोगके दो भेद माने गग्ने हैं। अब फिर तुस यह बताओं कि कौनसा वह नोदन अथवा अभिचात नामका विशिष्टसंयोग मला कियाका कारण है ? तथा यह भी बताओं कि फिर वह नोदन क्या है ! और अभिघात क्या है ! इसके उत्तरमें यदि तम यों कहा कि राज्यका हेतुमूत संयोग अभिघात है, जैसे कि आट करते हुये ताली बजाते समय हाथोंका अभि-घात संयोग है और शब्दको नहीं उपजानेवाला संयोग तो नोदन है। शब्द किये विना हाथको चुपकेसे दूसरे हाथसे मिला देना नोदन है । यहां वेगवाले द्रव्यके साथ अन्यद्रव्यका विशिष्ट संयोग ही कियाका हेतु:इष्ट है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वेग ही कियाका हेतु हुआ। संयोग गुण तो किया संपादक नहीं बना । क्योंकि उस वेगके होनेपर कियाकी उत्पत्तिका अभाव है । यह अन्ययन्यतिरेक पूर्वक वेग और कियाका कार्यकारण भाव सिद्ध है। किन्तु आकाशद्वव्यके तो वे गुण नहीं हैं। " क्षितिर्जन्तं तथा तेजः, पत्रनो मन एव च । परापरत्वमूर्तत्वित्रयावेगाश्रया अमी " इस सिद्धांत अनुसार तुमने पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्योंमें ही वेगपुण, माना है। आकाशमें वेग नहीं है '' षडेत्र चाम्बरे '' आकारामें संख्या, परिमाण, प्रथक्त, संयोग, विभाग, शब्द, ये छह, गुण, माने गये हैं। अतः वेगके नहीं होनेसे कियाके हेत्रमृत गुणसे युक्त आकाश नहीं है। तिस कारण उस आकाशसे हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं लगता है। क्रियाहेतुगुएकल इस निर्दोष हेतुसे आलगका गतिसहितपना सिद्ध हो जाता है। , 1 अयं मतं न गतिमानात्मा स्विनतत्वादाकाश्चवदित्यत्वमानाद्रतिमेखस्य प्रतिपेषाद्रभुपाम-विरुद्धः पक्ष इति । तद्युक्तं, पुंसः सर्वनतत्वासिद्धः काय प्रव तस्य संवदनात् तती पहिः संवित्यभावत् । सर्वनतः पुमान् नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाश्चवदिति चैका, अस्य कालात्यया-पदिष्टत्वात् साधनस्य धर्मिग्राहकप्रमाणवाधितत्वात् प्रत्यश्चविरुद्धपक्षनिर्देश्चानंतरमयुक्तत्वात् श्चाती-प्रिर्द्रच्यत्वात् जलवदित्यादिवत् ।

अब यदि बैशेपिकोंका यह मन्तन्य होय कि आत्मा (पक्ष) गमनिकयावाला नहीं है, (साध्य) सर्वत्र न्यापरहा होनेसे (हेत्) आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त) यों आत्माके गति-सहितपनका बढिया निषेध हो जानेसे तम जैनोंका आत्माको कियाका साधक प्रतिद्वास्यरूप पक्ष तो इस अनुमानसे विरुद्ध पड गया । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तुम्हारा वह कहना युक्तिरहित है। क्योंकि आत्माका सर्वगतपना असिद्ध है। शरीरमें ही उस आत्माका सम्बेदन ही रहा है। उससे बाहर दूसरे शरीरमें या घट, पट, अथवा अन्तरालमें आत्माकी सम्वित्ति नहीं हो रही है। अतः सुम्हारे हेत स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। यदि वैशेषिक पुनः अनुमान उठाकर हेतुको यों सिद्ध करें कि आत्मा (पक्ष) सर्वत्र व्यापक है (साध्य) नित्य होते सन्ते अमृतिपना होनेसे (हेतु) आकाशके समान (इण्टांत)। अकेला नित्यत्व हेत देनेसे प्रथियी आदिकी परमाणुर्ये और मनसे व्यभिष्कार हो जाता। अतः अमूर्तत्व भी कहना पड़ा। क्योंकि ये मूर्त हैं और यदि अमूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो अनिस्य गुणोंसे व्यभिचार आता । अतः " नित्यत्वे सति अमूर्तत्व " इतना हेतु दिया गया है । प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह तुम्हारा साधन तो शरीरमें ही आत्मा नामक धर्मीके प्राह्मक प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध हो रहे पक्षके निर्देश अवन्तर प्रयुक्त होनेसे कालात्ययापदिष्ट हेत्वामास है, जैसे कि अग्नि शातल है, द्रव्य होनेसे जलके समान, अथवा आकाश अल्पपरिमाणवाला है, द्रव्य होनेसे, घटके समान, इत्यादिक अनुमानोंके हेतु बाधित हेत्वाभास हैं।

एतनामूर्तद्रव्यत्वात्सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादित्येवमादयो हेतवः मत्याख्याताः मत्यक्ष-बाधित्रविषयत्वाविशेषात् । किं च, नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादित्ययं हेत्वरीश्वरक्षानेन अनैकांतिकः तस्यासर्वेगतस्यापि नित्यत्वामूर्तत्वसिद्धेः नित्यं हीश्वरक्षानमनाधनंतत्वात् स्नुरवर्त्मवत् । तस्य सादिपर्यतत्वे सति महेश्वरस्य सर्वार्थपरिच्छेदाविरोधात् ।

बैशोषकोंने आत्माको ज्यापक साधनेके लिये अमूर्तद्रव्यपन हेतु दिशा है। उनके यहां पृथियी, जल, तेज, बांसु, मन, ये पाँच द्रव्य मूर्त माने गये हैं। शेष आकाश, काल, दिशा, आत्मा, ये चार द्रम्य व्यापक ही हैं। तीसरा हेतु सर्वत्र देखे जा रहे गुणसे सहितपना दिया है। चीथा हेतु '' अपु-

परिमाणानधिकरणत्वे सित नित्यद्रव्यत्वात् "दिया है। इत्यादि इस प्रकारके अन्य भी व्यापकत्व-साधकहेतओंका इस उक्त कथनसे प्रत्याख्यान कर दिया गया है। जब कि निजशरीरमें ही मध्यम परिमाणको धार रहे आत्माका बालिका, पशु, पक्षियोंतकको अत्यक्ष प्रमाणद्वारा सम्बेदन हो रहा है, तो नित्यत्वे सित अमूर्तत्व हेतुके समान इन हेतुओंमें भी प्रत्यक्षवाधित विषयका साधकपना अन्तर-रहित है। अतः ये सब हेत्वाधित हेत्वाभास हैं। दूसरा दोष यह भी कि नित्य होते सन्ते अमूर्तपना यों विशेषण विशेष्यदळवाळा यह हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्याभिचार दोषवान् है। देखिये, अभीष्ट-साध्यसे शून्य हो रहे, अव्यापक भी उस ईश्वरज्ञानको नित्यपना और अमूर्तपना सिद्ध है । पांच मूर्त इन्योंके अतिरिक्त सभी द्रव्य या गुण, कर्म, आदिक पदार्थ तुम्हारे मतमें अमूर्त माने गये हैं। अमूर्तद्रव्यत्व लगानेसे सम्भवतः तुम्हारी कुछ रक्षा हो सकती थी । किन्तु इसका विचार पहिले कर दिया गया है । ईश्वरका ज्ञान नित्य तो है ही । यदि नहीं मानना चाहते हो तो इस अनुमानदारा मानना ही पडेगा कि ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) नित्य है (साध्य), अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रवर्त्त रहा होनेसे (हेतु) देवोंका मार्ग यानी आकाशके समान (अन्वयद्ध्यन्त) । यदि उस ईश्वर ज्ञानको सादि, सान्त, माना जायगा तो हमारा हेतु अवश्य असिद्ध हेलाभास जायगा । किन्तु साधमें तुम्हारे अभीष्ट देवता महेश्वरको सम्पूर्ण अर्थोकी करनेका विरोध हो जायगा । पदार्थोंके अधीन होकर दूसरे दूसरे क्षणमें उपजने, नशनेवाछ ज्ञान द्वारा लाखों या असंख्याते वर्षोमें भी ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको जान नहीं सकता है। अतः आत्माके न्यापकत्वको साधनेवाला तुम्हारा हेत न्याभेचारी है।

योग्याह, अनित्यमीश्वरज्ञानमुत्पत्तिमन्त्रात् कल्ञादिवत् उत्पत्तिमन्तदात्मांतःकरण-संयोगापेक्षत्वादस्मदादिज्ञानवत् । योगज्ञधर्मानुम्रहीतेन हि मनसेश्वरस्य संयोगे सित सर्वार्थे ज्ञानमुत्पाधते । न नैवं, तदादिपर्यतवत् संतानरूपतयानादिपर्यतत्वोपपत्तेः । योगसंतानो हि महेन्नस्यानादिपर्यतः सदा रागादिमलैरस्पृष्टत्वात् । अनादिशुद्धचिष्ठानत्वान्ततश्च धर्मविश्चेषः तदनुम्रहश्च मनसः तेन संयोगश्चेति तिन्निमित्तं सर्वार्थज्ञानमनादिपर्यतमुपपद्यते प्रमाणफल्ला-नेश्वरज्ञानमनित्यं नित्यत्वे तस्य प्रमाणफल्त्विनिरोधात् विश्वेषगुणत्वाञ्च तदनित्यं मुस्तादि-वदिति, तस्यापि महीतम्राहीश्वरज्ञानमायातं । ततश्च न प्रमाणं स्मरणादिवत् मृहीतम्राहिणोपि तस्य प्रमाणत्वे प्रमाणसंप्लववादिनामनुभूतार्थे स्मरणादेः प्रमाणत्वानुषंगः केन निवार्येत ।

वैशेषिकके मतको पृष्ट कर रहा जो भी कोई यों कह रहा है कि ईस्वरका ज्ञान (पक्ष) अनित्य है (साध्यदछ) उत्पत्तिवाछा होनेसे (हेतु) कछश, कपडा, आदिके समान, (अन्वयदृष्टान्त)। पुनः हेतुके स्वरूपासिद्ध हो जानेकी कोई शंका न करे। अतः वैशेषिक इस हेतुको साध्यकोटिपर छाते हैं कि वह ईश्वरज्ञान (पक्ष) उत्पत्तिवाछा है (साध्य) आत्मा और मनके संयोगकी अपेक्षा

रखनेबाला होनेसे (हेत्) हम आदिकोंके ज्ञानसमान (अन्वयदृष्टान्त)। देखिये, योगाभ्याससे उत्पन्न हुये श्रति, पुराण, प्रसिद्ध धर्मसे अनुप्रहील हो रहे मनके साथ ईस्वर आत्माका संयोग हो जानेपर ईस्त्ररको सम्पूर्ण अर्थोमें ज्ञान उपजा दिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानको उत्पत्तिमान् साध देनेसे वह ज्ञान आदि, अन्तवाळा हो जावेगा, यह नहीं समझ बैठना । हम बीजाङ्कर न्याय अनुसार सन्तानरूपसे ईश्वरज्ञानको अनादि अनन्तपना उचित बताते हैं । कारण कि महेश्वरके योगकी सन्तान धाराप्रवाह अनादिकालमे अनन्तकालतक वह रही है। क्योंकि ईश्वर सदा ही राग, क्रेश, विपाकाशय, आदि मलों करके अलता रहा है, अनादिकालसे श्रुद्धिका अधिष्ठान है। अतः यों उस योगसन्तानसे विशेष चमत्कारक धर्म उत्पन्न होता है और उस धर्मका अनुग्रह मनके ऊपर हो जाता है। पश्चाद उसी मनका ईश्वर आत्माके साथ संयोग होता है। उस ईश्वर मनःसंयोगको निमित्त पाकर अनादि, अनन्त, काळतक, ईश्वरके सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान होना बन जाता है। ईश्वर ज्ञानको अनित्य सिद्ध करनेके ळिये दूसरा तर्क यह भी है कि ईस्वरका ज्ञान अनित्य है (प्रतिज्ञा) प्रमाणका फल होनेसे (हेतु) देखिये, कारणोंसे उत्पन हो रहे सभी फल अनित्य होते हैं । यदि उस ईश्वर ज्ञानको नित्य माना जायगा तव तो उसको प्रमा-णके फलपनका विरोध होगा । तीसरी बात यह भी है कि वह ईश्वरज्ञान विशेषगुण होनेसे अनित्य है जैसे कि आत्माके सुख आदि गुण (अन्वयदृष्टांत) । हमने आत्मामें संख्या, परिमाण, प्रथक्त्व, संयोग, त्रिभाग ये पांच सामान्य गुण और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ विशेष गुण यों चौदह गुण माने हैं । ईस्वरमें भी पांच सामान्य गुण और ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न ये तीन विशेष गुण यों आठ गुण इष्ट किये हैं। आत्मा द्रव्यमे सभी विशेषगुण अनित्य हैं। '' योपि '' से प्रारंभ कर यहांतक वैशेषिक कह चुका । अब आचार्य कहते हैं कि उस वैशेषिकके यहां भी यों तो ईश्वरका ज्ञान प्रहीतका ही प्रहण करनेवाला प्राप्त हुआ और तिस कारणसे यानी गृहीतप्राही होने से वह ज्ञान विचारा स्मरण, धारावाहि ज्ञान आदिके समान प्रमाण नहीं हो सक्ता है। नैयायिक या वैशेषिकोंने गृहीत विषयको ही पुनरिप उतना ही विषय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण नहीं माना है। फिर भी भक्तिवश यदि उस गृहीतप्राहक ज्ञानको प्रमाण मानोगे तब तो प्रमाणसंख्ववादी नैयायिक, वैशेषिक, जैन, मीमांसक, आदि विद्वानोंके यहां अनुभव किये जा चुके विषयमें प्रवर्त रहे स्मरण, प्रत्यमिज्ञान, आदिको भी प्रमाणपनेका प्रसंग भळा किसके द्वारा रोका जा सकेगा ? अर्थात अर्थमें विरोष अंशोंको जाननेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रशृति हो जानेको प्रमाणसम्प्लव कहते है । नैया-यिक " प्रमाणसम्ब्व " को इष्ट करते हैं । अतः कुछ अंश जाने जा चुकेका भी पनः अन्य प्रमाणों-द्वारा सम्बेदन हो सकता है। ऐसी दशमें स्मरण आदिको भी प्रमाणता बन बैठेगी। कोई माईका छाछ रोक नहीं सकता है।

स्मान्मतं, ममाणांतरेणाग्रद्दीतस्य सकल्रह्यक्ष्माचर्यस्य महेश्वरद्वानसंतानेन ग्रहणाञ्च तस्य ग्रदीतग्राहित्वमिति । तदसत् । घारावाहिज्ञानस्याप्येवं ग्रहीतग्राहित्वाभावात् ममाणतापत्तेः । तस्वमाणस्वोषणमे तथैव श्रमाणांतराष्ट्रहीतप्राह्मनुभवस्मरणश्रत्यभिक्षानादिसंतानस्य श्रवतमानस्यापृद्दीतप्राहित्वात् श्रमाणत्वमस्तु । यदि पुनरनुभवादीनामेकसंतानत्वेष्यनुभवपृद्दीतथें स्मरणदिः
शृद्धतप्रमाणत्वं तदा श्रथमज्ञानेन परिच्छिक्षेथे तदुत्तरात्तरधारावाहितिज्ञानानां कुतः श्रमाणत्वं ।
तदुपयोगविश्वेषादिति चेत्, तत एव स्भृत्यादीनां श्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । तथा
सति श्रमाणसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेतेत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मादनेन पृद्दीतग्राहित्वात्कस्यचिद्दि
क्षानस्याश्रमाणत्वपुररीकुर्वता महेश्वरज्ञानस्याप्युत्तरोत्तरस्य पूर्वज्ञानपरिच्छिक्षार्थग्राहित्वादश्रमाणत्वं दुःशकं परिहर्तु ।

यदि इसपर वैशेषिक अपना मन्तव्य यों बतावें कि दूसरे दूसरे प्रमाणोंसे नहीं जाने जा चुके सम्पूर्ण सूक्ष्म, न्यबहित, विप्रकृष्ट, आदि अर्थीका महेश्वरकी ब्रानसन्तान करके प्रहण हो रहा है। अतः वह ईश्वर ज्ञानकी संतान गृहीतप्राही नहीं है, अगृहीत विषयों का प्राहक है, यों कह चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो घट है, घट है, घट है, ऐसे धाराबाहिक ज्ञानको भी गृहीतग्राहीपना न होनेसे प्रमाणपनेका प्रसंग आ जावेगा । धाराबाही ज्ञानमें भी ज्ञानोंकी लम्बी सन्तान अगृहीत विषयका प्रहण कर रही है। यदि उस धाराबाहि ज्ञानकी सन्ता-नका प्रमाण होना स्त्रीकार कर छोगे, तब उन है। प्रकार प्रमाणान्तरोंने नहीं गृहीत हो चुके अधीका प्रहण करनेवाले अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्भ, आदि ज्ञानोंकी प्रवर्तरही सन्तानको भी अमृहीत-प्राहक होनेसे प्रमाणपना हो जाओ । यदि फिर तुम वैशेषिक यो कहो कि अनुभव, स्मरण, प्रत्यिभ-कान, आदि ज्ञानों की एक सन्तान होनेपर भी अनुभव द्वारा प्रहण किये जा चुके अर्थमें स्मरणकी और स्मरणसे जाने जा चुके अर्थमें प्रत्यभिज्ञान आदिकी प्रवृत्ति हो रही है। अतः वे स्मरण आदिक गृहीत-प्राही होनेसे प्रमाण नहीं हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रथम ज्ञान करके जाने जा चके अर्थमें उसके उत्तर और उसके भी पीछे पछि अने क वह रहे धारावाही विश्वानों को प्रमाणपना कैसे आ सकता है ? अर्थात् -- कैले भी नहीं । यदि तम वैशेषिक उसमें विशेष उपयोग होनेसे प्रमाणपना लाओगे तब तो उस ही कारणसे यानी विशेष त्रिशेष उपयोग होनेसे ही स्मृति आदिकोंको भी प्रमाणपना हो जात्रो। सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। प्रत्युत धाराबाही ज्ञानोंकी अपेखा अनुभव, स्मरण, प्रत्यिभन्नानोंमें बिशेष उपयोग हो रहा अच्छा जाना जा रहा है। और तिस प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदिको अतिरिक्त प्रमाण माननेपर तुम्हारी नियत की गयी प्रमाणोंकी संख्या व्यवस्थित नहीं हो सकेगी: इसको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। तिस कारण गृहीतप्राही होनेसे किसी भी विज्ञानको अप्रमा-णपना स्वीकार करनेवाले इस वैशेषिक पण्डित करके पूर्वसमयवर्ती ज्ञान द्वारा जाने जा <u>ज</u>्यके अर्थीका प्राह्क होनेसे महेश्वरके उत्तरोत्तरसमयवर्ती क्वानोंका अवमाणपना कठिनतासे भी नहीं हटाया जा सकता है । अतः महेरास्के बानको अनित्य माननेमें अनेक विपक्षियां खडी हो जायंगी ।

यद्युकं, यहेश्वरक्षानस्य नित्यवे ममाण्यास्ताभाव इति, तद्य्ययुक्तं । तस्योपचारतः प्रमाण्यास्त्रक्षेत्रं । यथैच ईश्वरस्यांतःकरणसंयोगादिसामग्री नित्यक्षानस्याभिन्यञ्जिकत्वा-दुणचारतः प्रमाणं तथा तद्यंग्यत्वाश्वित्वस्यापीश्वरक्षानस्योपचारतः प्रमाणपळत्वग्रुपपचत एव । न चाभिन्यक्तिरुत्पिचिरेव सामान्यदेः स्वन्यक्तिभिरभिन्यंग्यस्योत्पत्तिमस्वप्रसंगात् । ततो नित्यमेवेश्वरक्षानमिति । तेन हेतोर्न्यभिचार एव ।

और भी वैशेषिकोंने जो यह कहा था कि महेश्वरका ज्ञान यदि नित्य माना जायगा तो वह प्रमाणका फल नहीं हो सकेगा। आचार्य कहते हैं कि यों वह कहना भी युक्तियोंसे रिता है। कारण कि ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना सथता है। जिस ही प्रकार तुम्हारे यहां ईश्वरके साथ अंतःकरणका संयोग होजाना आदि सामश्री ईश्वरके नित्यज्ञानकी अभिन्यञ्जक होनेसे उपचारसे प्रमाण मान की गयी है, उसी प्रकार उस सामश्रीस व्यंग्य होनेसे नित्य भी ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना बन जाता ही है, सर्वज्ञके अनमें प्रमाणका की फलपना अभिन्न ही है, उपचारसे भक्ते ही न्यारा न्यारा किपत कर को। इसि सामग्रीको प्रमाण कह को, साथमें ज्ञासिको फल कहको। सामग्रीहारा अभिन्यिक होजाना ही ज्ञानको उत्पत्ति नहीं है। अन्यथा अपनी अभिन्यंजक आश्रय व्यक्तियोंसे प्रकट होने योग्य सामान्य (जाति) समजाय, आदिको भी उत्पत्तिमान् हो जानेका प्रसंग होगा। किन्तु सामान्य और समयाय पदार्थको तुमने नित्य माना है। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि ईश्वरका ज्ञान नित्य ही है। ऐसा होनेपर उस ईश्वर ज्ञानकरके तुम्हारे आत्माको व्यापक साधनेके किये दिये गये नित्य होते हुये अमूर्तपन हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ ही रहा। ईश्वरका ज्ञान नित्य है। अमूर्त भी है किन्तु व्यापक नहीं है। आत्माको व्यापक माननेवाके वैशेषिकोंने आत्माके ज्ञानगुणको व्यापक नहीं माना है, शरीरावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान है, घटावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान नहीं है। ऐसा उनका अभिमत है।

भवतु वा महेश्वरज्ञानमनित्यं तथापि सिळिलपरमाशुरूपादिभिरस्यानैकांतिकता दुष्प-रिहरेत्यलं प्रसंगेन, सर्वथात्मनो गतिमत्त्वस्य प्रतिषेद्ध्मञक्तेः ।

अथवा तुम्हारे मन्तन्य अनुसार भन्ने ही महेश्वरका ज्ञान अनित्य हो जाओ । अतः पूरा हेतु नहीं घटनेसे ईश्वर ज्ञानकरके न्यभिचार दोष नहीं हो सकता है तो भी जल परमाणुके या अग्नि-परमाणुके रूप रस आदि करके इस प्रकृतहेतुका न्यभिचार दोष आना कथमपि टाला नहीं टल सकता है। पृथिविको परमाणुओं रूप, रस, आदिक अनित्य हैं। वे पाकज माने गये हैं। किन्तु जल, केज, वासुके परमाणुओंके रूप, रस, आदि गुण नित्य हैं। साथमें जलपरमाणु या अग्नि परमाणु मले ही मूर्त होय, किन्तु इनके गुण तो मूर्त नहीं हैं। अमूर्त हैं। अतः नित्यत्वे सित अमूर्तल हेतुका पूरा शरीर घटित हो जानेसे और न्यापकल साल्यके नहीं ठहरनेसे।

व्यमिचार दोष तदवस्य रहा । अब अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता है । तुम्हारे आक्षेपोंका मुख, पराङ्मुख, उत्तर हो चुका है । अब तुम्हारे बूते आत्माका गतिमान्पना सभी प्रकारोंसे निषेधा नहीं जा सकता है । कियाहेतु गुणके सम्बन्धसे आत्मा गतिमान् डेलके समान सिद्ध करा दिया जाता है, कोई प्रत्यूह नहीं रहा ।

कथं पुनरत्ररीरस्यात्मनो गतिरित्याइ।

महाराज जी ! यह बताओ, कि शरीर सम्बन्धवाले आसाकी गति तो प्रसिद्ध है। किन्तु मरकर शरीररहित हो गये आत्माकी गति फिर किस प्रकार होती है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

लोकके बीचसे प्रारम्भ कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, छऊ दिशाओं में बरफीके समान छह पैळवाळी अखण्ड परमाणुसे नापे गये सम संख्यावाले प्रदेश इस अखण्ड लोका-काशमें तदात्मक होकर जड रहे हैं। दोनों ओर समसंख्यावाले पदार्थोंका सबसे छोटा ठीक बीच दो होता है। चारों ओर सम संख्यामें फैल रहे पदार्थोंका बीच चार होता है तथा छऊ ओर सम संख्यामें फैल रहे पदार्थोंका बीच चार होता है तथा छऊ ओर सम संख्यावाले पदार्थोंका बीच आठ होता है। लोकके ठीक मध्य सुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित हो रहे गोस्तन आकारवाले आढ प्रदेशोंसे छऊ ओर अखण्ड आकाशमें प्रदेशोंकी श्रेणियां गढ ली जाती हैं। उस श्रेणीके आनुपूर्व्य करके जीवोंकी अन्य भवोंका संक्रमण करनेपर मरणकालमें गति होती है।

आकाशमदेशपंकिः श्रेणिः अनोरातुपूर्व्यं दृष्तिः श्रेणेरातुपूर्व्यंणातुश्रेणि जीवस्य पुद्रलस्य च गतिरिति मतिपत्तव्यं । जीवाधिकारात्पुद्रलस्यासंमत्ययः इति चेका, पुनर्गति- प्रहणात्तत्संमत्ययात् क्रियांतरिनदृत्यर्थिमह् गतिग्रहणिमति चेका, अवस्थानाद्यसंभवात् क्रियां- तरिनदृत्तिसिद्धेः । उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाचेह शरीरपुद्रलस्य जीवस्यातुश्रेणिगतिः संमत्तीयते ।

छोक, अछोक, पूरे आकाशमें प्रदेशोंकी छम्बी पंक्ति बन रही श्रेणि कही जाती है। अनु-अव्ययका अनुपूर्वीपना अर्थ होनेपर श्रेणिपदकी अनु उपसर्गके साथ अव्ययीमान समास हाति हो जाती है। श्रेणिके आनुपूर्व्य करके जीव और पुद्रछकी श्रेणि अनुसार गति हो जाती है। यह समझ छेना चाहिये। कोई आक्षेप करता है कि यहां प्रकरणमें जीवद्रव्यका अधिकार होनेसे पुद्रछकी भी श्रेणि अनुसार गति होनेका समीचीनज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि " विश्रहगतों कर्मयोगः " इस सूत्रसे गतिका अधिकार चला ही आरहा था। पुनः इस सूत्रमें गति शब्दका प्रहण किया है। इससे उस पुद्रछकी गतिका संप्रत्यय हो जाता है। अन्यथा यदि जीवकी ही श्रेणि अनुसार गति इष्ट होती तो पुनः गति शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ

पडता । अत्यल्प बोलनेवाले सूत्रकारके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते हैं । अतः यहां सम्पूर्ण गतिवाले पदार्थीका प्रश्नण कर लिया जाता है । कोई पण्डित गति प्रह्मणका प्रयोजन यों कह रहा है कि अन्य क्रियाओंकी निवृत्तिके लिये यहां सूत्रमें गति कहा गया है, जिससे जीवकी गतिकिया है। ली जाय, अन्य क्रियायें नहीं पकड़ी जायं । आचार्य कहते हैं कि यह प्रयोजन तो ठीक नहीं है । क्योंकि दूसरे शरीरको प्रहम करनेके लिये उखुक्त हो रहे जीवके बैठना, सोना, बढना, जगना, नमना, पढना आदि क्रियाओंकी तो संभावना ही नहीं है । अतः स्वतः ही अन्य क्रियाओंकी निवृत्ति सिद्ध है । " सम्भव-व्यिभचाराभ्यां स्यादिशेषणमर्थवत् " । दूसरी बात यह है कि अव्यवहित उत्तरकालमें कहे जानेवाले " अविप्रहा जीवस्य " सूत्रमें जीवका प्रहम है । अतः इस सूत्रमे शरीर या पुद्रल और जीवकी भी श्रेणि अनुसार गति हो रही अच्छी जानी जा रही है ।

ननु च कुतो जीवस्य पुद्रलस्य चानुश्रेणिगतिर्निश्चिता ज्योतिरादीनां विश्रेणिगतिदर्शः नात् तिश्वयमानुपपत्तेरिति कश्चित् । तं प्रत्याह ।

यहां शंका उठती है कि जीव और पुद्रलकी गति श्रेणि अनुसार ही है, यह सिद्धान्त कैसे निर्णात कर लिया जाय ? जब कि सूर्य, चंद्रमा आदि ज्योतिष्क विमान, चक्र, व्यजन, आदि अथवा विद्याधर या खिलाडी बाल को आदिकी श्रेणिका व्यातिकम कर भी टेडी, मेडी, चूमती, फुद्कती, आदि अनेक प्रकारकी गतियां देखी जारही है। अतः आकाशकी ठींक बनी हुयी श्रेणियोंके अनुसार सीधी रेखामें ही गति होनेका नियम नहीं बन सकता है, यहांतक कोई कह रहा है, जिसका कि नाम या मत अनिवचनीय है। उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक हारा समाधान कहते हैं।

सिद्धा गतिरनुश्रेणि देहिनः परमागमात् । लोकांतरं प्रतिक्षेयं पुद्गलस्य च नान्यथा ॥ ७ ॥

जीवकी मरण समय या मुक्त अवस्था होनेपर अन्य लोक या सिद्ध लोकके प्रति और पुद्रलोंको भी लोकपर्यंत प्राप्त करानेवाली गित श्रेणि अनुसार होती है, यह मन्तव्य सर्वज्ञोक्त परम आगमसे सिद्ध है। अन्य प्रकारोंसे नियम नहीं हैं, यह समझ लेना चाहिये। अर्थात् श्रेणि अनुसार ही गित होती है, इसमें काल और देशका नियम है। कालनियम तो यह है कि संसारी जीवोंकी मरणकालमें अन्य भवका संक्रमण करते समय और मुक्त जीवोंकी ऊर्घ्य लोकके तनुवातवलयमें स्थित सिद्धालयतक गमन करते समय प्रदेशपंक्तियोंके अनुसार सरल रेवा बनाती हुयो गित होती है। तथा देशका नियम भी यह है कि ऊर्घ्य लोकसे अधोलोकमें जानेपर या अधोलोकसे ऊर्घ्य लोकमें गित करनेपर अथवा तिर्यम् लोकसे अधोगित या ऊर्घ्य गित जहां होगी वह श्रेणि अनुसार ही होगी। इसी प्रकार पुद्रलोंकी लोकके अन्ततक प्राप्त करानेवाली गित भी श्रेणी अनुसार ही होगी। हां, नियमसे अतिरिक्त दशामें घूममा, नाचना, आदि गतियां भी हो सकती है।

कः पुनरसौ परमागमस्तदावेदकः कुतो वास्य प्रमाणत्विमित्याह ।

फिर कौनसा उत्कृष्ट आगम मला उस गतिका निवेदन करनेवाला है ? बताओ और उस आगमको प्रमाणपना कैसे सिद्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भी विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

षोढा प्रक्रमयुक्तोयमात्मेति वचनं प्रमम् । संप्रदायात्सुनिर्णीतासंभवद्वाधकत्वतः ॥ ८॥

यह जीव छह प्रकारके गमन करना स्वरूप प्रक्रमसे युक्त हो रहा है यह वचन प्रमासिहत है। क्योंकि सर्वज्ञकी परम्परासे संप्रदाय चला आरहा है और बाधक प्रमाणोंके असंभव होनेका भले प्रकार निर्णय कर लिया गया है। अर्थात्—जीवका ऊपरसे नीचे जाना या ऊपरसे ठीक नीचे जाना अथवा पश्चिमसे पूर्व या पूर्वसे पश्चिम एवं दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिण ये छह प्रकारके गमनोंको कहनेवाला वचनप्रमाण है। इस सत्य सिद्धांतका कोई बाधक नहीं है।

षद्भक्रमयुक्तो जीव इति परमागमः स्वतः संप्रदायाविच्छेदात्प्रमाणं सुनिर्णीतासंभव द्वाधकत्वाद्वा मोक्षमार्गवदिति निरूपितपायं। ततो जीवस्य पुद्रस्य च देशकास्त्रनियमादतु-श्रोणि गतिः सिद्धा बोद्धच्या।

छह प्रक्रमोंसे युक्त हो रहा जीव है यह परम आगम (पक्ष) स्वतः प्रमाण है (साध्य) सर्वज्ञ युक्त सम्प्रदायका विच्छेद नहीं होनेसे (पहिला हेतु) अथवा बाधकोंके असम्भवका अच्छा निर्णय हो चुका होनेसे (दूसरा हेतु) सभी आस्तिकोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अतीन्द्रिय मोक्ष मार्गके समान (अन्वयद्यांत) इस बातको हम पूर्व प्रकरणोमें बहुलतासे कह चुके है। तिस कारण जीव और पुद्रलकी विशेष देश और विशेष कालका नियम कर देनेसे श्रेणि अनुसार ही गति सिद्ध हो चुकी समझ लेनी चाहिये।

मुक्तस्यात्मनः कीद्दशी गतिरित्याह ।

त्रिविध कर्मीसे अनन्तकाळतकके लिये छूट चुके मुक्त आत्माकी गति कैसी है ? ऐसी जिज्ञास होनेपर श्री उमाखामी महाराज भविष्य सूत्रको समाधानार्थ उतारते हैं उसको झेलियेगा।

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कुटिलता कर रहित है अर्थात्—ऊर्ज लोकके ठीक बीचमें पैतालीस लाख योजन लंबा चौडा गोल सिद्ध क्षेत्र है और उतना ही लंबा चौडा मनुष्य क्षेत्र मध्य लोकमें है। मनुष्य लोकमें कहींसे भी मोक्ष होगी उसी समय यह जीव ठीक ऊपर सीधा सिद्धलोक प्रति गमन कर जाता है। कर्मभूमिके तपस्या स्थानोंक अतिरिक्त सभी समुद्ध, पर्वत, भोगभूमि, सुमेरु आदि स्थलोंसे संहरण अपेक्षा जीवोंकी मोक्ष हो चुकी है। सिद्ध लोक सर्वत्र द्वस रहा है। एकप्रदेश मात्र भी सिद्ध आत्माओंसे खाळी नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक स्थल या परमात्माओंमें अनन्तानन्त मुक्तजीव निराबाध संप्रविष्ट हो रहे हैं, तब कहीं सिद्धलोक अनादिकालीन अमूर्त सिद्धोंका आश्रय बन चुका है और वर्तमान इन सिद्धोंसे अनन्तानन्त गुणे सिद्धपरमेष्टी मविष्यकालमें होकर वहां विराजमान होनेवाले हैं। उनमें और आकाशमें अनन्त अवगाह शक्ति है। आकाशके एक प्रदेशपर मी संपूर्ण जीवोंसे अनंतगुणी पुद्रल परमाणुयें बैठ सकती हैं, फिर अमूर्तद्रव्योंका तो कहना ही क्या है।

उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह सुक्तस्य गतिः । विग्रहो व्यायातः कौटिल्यमिति यावत्, न विद्यते विग्रहोस्या इत्यविग्रहा सुक्तस्य जीवस्य गतिरित्यभिसंबंधः । कुतः इत्याह ।

उत्तरवर्ती " विम्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः " इस स्त्रमें संसारी जीवोंका प्रहण हो जानेसे यहां मुक्तजीवकी गति समझी जाती है। विम्रहका अर्थ व्याघात हो जाना है, कुटिल्ता करना, यह विम्रहका तात्पर्य अर्थ है। जिस गतिमें विम्रह यानी कुटिल्ता नहीं विद्यमान होय इस प्रकारकी मुक्त जीवकी गति अविम्रह है, यों आवश्यक पदोंका उपस्कार कर सूत्रका वाक्यार्थ करते हुये पदोंका चारों ओरसे सम्बन्ध करलेना चाहिये। कोई पूछता है कि मुक्तजीवकी गति कुटिल्तारहित है, यह कैसे समझा जाय ! इसके लिये मंथकार समाधानवचन कहते हैं।

गतिर्मुक्तस्य जीवस्याविष्रहा वक्रतां प्रति । निमित्ताभावतस्तस्य स्वभावेनोर्ध्वगत्वतः ॥ १ ॥

चौदहमें गुणस्थानके अंत समयमें सम्पूर्ण द्रव्यक्रमं, भावकर्म, नोक्रमींका नाश कर उत्तर क्षणमें मुक्त हो रहे जीवकी गति कुटिल्तारहित है। कारण कि गतिकी वक्रताके प्रति होनेवाले निमित्तकारणोंका अभाव है। क्योंकि उस मुक्तजीवका स्वभाव करके ही ऊर्घ्य लोक प्रति गमन करनेका परिणाम विद्यमान है। जैसे कि अप्रिकी ज्वाला स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। हां, सुनार या पाचककी इंकनी द्वारा प्रेरी गयी वायुका निमित्त पाकर भले ही तिरछी, नींची, ली चली जाय। इसी प्रकार वक्रताका निमित्त कारण शेष नहीं रहनेसे ऊर्घ्यगतिस्वभाववाले जीवकी मुक्त हो जानेपर कुटिलता रहित ऋजुगति होजाती है।

जर्ध्वव्यास्वभावो जीव इति युक्त्यागमाभ्यायुत्तरत्र निर्णेष्यते, तती युक्तस्यान्यत्र गमने तद्वकीभावे च कारणाभावाद्वकीभावाभावादाविष्रहा गतिः।

यह जीवद्रन्य ऊर्घ्य गमन करनेके स्वभावको सर्वदा छिये हुये हैं, इस सिद्धांतका उत्तरवर्त्ती प्रन्थमें युक्ति और आगमप्रमाण करके निर्णय कर दिया जात्रेगा । तिस कारण मुक्तजीवका अन्य स्थानोंमें तिरछा, ऊंचा, नीचा, गमन करनेमें और उस गमनके अनुसार वक्रता होनेमें कोई प्रेरक

निमित्त कारण अवशिष्ट नहीं रहा है। अतः अकुटिलको कुटिल होनेका अभाव हो जानेसे मुक्तजीवका नमन बाणके समान कुटिलता रहित है।

संसारिणः कीदशी गतिरित्याइ।

कोई जिज्ञासु कह रहा है कि मुक्तजीवकी गतिका अवधारण किया । हे कृपासिन्धो ! अब यह बताओ कि संसारी जीवकी गति पूर्वभवका आयुष्य पूर्ण हो जानेपर कैसी ! यानी टेडी या घूमती अथवा इतराती चळती कैसी होती है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तर'सूत्रको कहते हैं।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

मर कर उत्तरभवसम्बन्धी आयुका उदय आ जानेपर संसारी जीवकी चार समयोंसे पहिले अर्थात्—तीन समयतक कुटिलतात्राली भी गति हो जाती है। अर्थात्—जीवको ऊपर, नीचे या तिरछे देशमें ठीक पंक्तिके अनुसार यदि जन्म लेना है तब तो इन्नुगति है। हां, यदि उससे कुछ नीचा ऊंचा या बगलमें जन्म लेना होगा तो एक मोडा लग जायगा। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके, अधीन कुछ और भी टेडी विदिशामें जन्म छेना पड़े, तो जीवको वहां जानेमें दो मोडे छग जायंगे। हां, ऊर्घ्वलोक्रमें मृदंग (पखवाज) और अधीलोक्रमे आधे मृदंगके आकारवाले लोक्रमें जीवको ब्रह्म-छोकके निकटवर्ती तिरछे डेढ राज् परली ओरके स्थावर लोकमेंसे यदि नीचे महातम:प्रभाके निकट-वर्सी दो राजू परे स्थावरलोकर्मे कुछ वगलमें चलकर जन्म लेना है, ऐसी दशामें वह जीव कर्ष्व कोकसे एक दम सीधा अधीलोकमें नहीं उतर सकता है । क्योंकि मध्यमें अलोकाकाश पडता है। वहां गमनका उदासीनकारण धर्मद्रव्य नहीं है। अतः ऊर्ध्वलोकके स्थायर लोकसे वह जीव तिरछा चलकर पिंहले समय बहालोकमें आयगा। वहांसे पिंहला मोडा लेकर त्रसनालीमें उतरता ्रहुआ सातर्वी पृथिवीपर आ जायगा । वहांसे दूसरा मोडा लेकर तिरछा चलता हुआ सातवें नरकके पार्श्ववर्ती स्पावरत्नेकमें आ जायगा । वहांसे तीसरा मोडा छेकर कुछ इधर उधर चारों दिशाओंमें किसी निवक्षित दिशाके स्थानपर चौथे समयमें जन्म छेता हुआ आहार कर छेता है। एक समयमें चौदह राजुत क सीधी छळांग मार सकनेवाले जीवके लिये लोकमें चौथा मोडा लेनेके लिये कोई स्थान शेष नहीं 🔰 । अधिकसे अधिक तीन मोडेमें ही जीवकी कहींसे भी किसी भी स्थानतक अव्याघात गति हो जाती है।

च शद्वादिवग्रहा चेति समुचयः तेन संसारिणो जीवस्य नाविग्रहगतेरपवादो, विग्रह-मत्या विश्वानादिति संमत्ययः कालपरिच्छेदार्थः माक् चतुर्भ्यः इति वचनं । आङ्गे ग्रहणं स्टब्ये कर्तव्यमिति चेन्न, अभिविधिमसंगात् । उभयसंभवे व्याख्यानतो मर्यादासंम्रत्यय इति चेन्न, मतिपत्तगीरवात् । मतिपत्तिगीरवाद्दरं ग्रंथगीरवं इति वचनाच माग्रहणमस्तु ।

सूत्रमें पढ़े हुये च शहका अर्थ समझय है। इस कारण च शहसे अकुटिल गति भी पकडी जाती है। तिस कारण संसारीजीवकी कुटिछताबाछी गतिका विधान कर देनेसे अकुटिछ गति होनेका अपनाद नहीं हो जाता है। हां, च अन्ययके स्थानमें एव होता तो अकुटिल गतिकी व्यावृत्ति हो जाती, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार यहां समीचीन विश्वास कर छेना चाहिये। कालकी मर्यादा करनेके लिये सुत्रमें चार समयसे पहिले ऐसा वचन पढ़ा गया है। कोरे लाधनकी ओर टकटकी लगाकर बैठा हुआ कोई वावद्क आक्षेप करता है कि लाववगुणके लिये सूत्रकारको आङ्का प्रहण करना चाहिये था । अर्थात्—" प्राकु चतुर्म्यः " के स्थानपर " आचतुर्म्यः " कह देनेसे परिमाणकृत लाघव है। यदि पतले शरीरवाले चंचल मनुष्यसे कार्य बन सके तो स्थूल-काय पुरुषको दुर्बल टट्टूपर चढाकर प्रामान्तरके प्रति भेजना अनुचित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि आङ् अव्ययके, ईषत्अर्थ, अभिन्याति, मर्यादा, अभिविधि ऐसे कई अर्थ हैं। तेन विना मर्यादा, तत्सिहतोऽभिविधिः, उससे रहित मर्यादा होती है और अभिविधि उस विवक्षितसे सहित होती है। आङ् कह देनेसे अभिविधि अर्थ भी लिया जा सकता था। ऐसी दशामें चौथा समय भी वक्रता करनेमें धिर जाता है। यो जीवको पांचवें समयमें आहार करनेका प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं है। यदि कोई यों कहे कि मर्यादा और अभिविधि इन दोनों अर्थीके सम्भव होनेपर न्याख्यान करनेसे आङ्के अर्थ मर्यादाका ही सम्प्रत्यय हो जायगा । पचासों स्थलोंपर विवादापन विषयका व्याख्यान कर देनेसे निर्णय कर लिया जाता है। '' व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणं ''। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों पहिले संरायापन्न कहना, फिर कटाक्षोंका आघात सहना, उसको दूर करनेके लिये व्याख्यानका मठा बढाना, ऐसा करनेसे प्रतिपत्ति होनेमें व्यर्थ गौरव हो जाता है। अतः प्रतिपत्तिके व्यर्थगौरवसे प्रन्थका गौरव करना कई गुणा श्रेष्ठ है। ऐसा सभी विद्वानोंके यहां कहा भी गया है। तिस कारण श्वगडेके बीज आङ् प्रयोगकी अपेक्षा प्रशान्तिवर्द्धक प्राक् पदका प्रहण ही स्पष्टार्थ बना रहो ।

कुतश्रतुर्भ्यः समयेभ्यः प्रागेव विग्रहवती गतिः संसारिणो न पुनश्रतुर्थे समये परत्रेत्या-शंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि चार समयोंसे पहिले ही यानी तीन समयतक संसारी जीवकी गति वक्ततावाली है | क्योंजी | फिर चौथे समयमें या परले समयोंमें मोडे क्यों नहीं लेती है ? जब कि नर्त्तकी या खिलाडी बालक पचासो मोडे लेकर गमन करता है, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं ।

> संसारिणः पुनर्वकीभावयुक्ता च सा मता । चतुर्भ्यः समयेभ्यः आक परतस्तदसंभवात् ॥ १॥

चार समयोंसे पहिले पहिले संसारी जीवकी वह गति फिर कुटिलपन करके युक्त मानी गयी है। क्योंकि चौथे समयमें या उससे परले समयोंमें उस कुटिलगतिके होनेका असम्भव है।

त्रिवक्रगतिसंभवः कुत इत्याह ।

तीन मोडेवाळी गतिका सम्भव किस ढंगसे हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेस्त्रिवक्रगतिसंभवः । एकद्विवक्रया गत्या कचिदुत्पत्त्ययोगतः ॥ २ ॥

बात यह है कि छह पैल आठ कोनवाले वरफीके समान सम्पूर्ण अलोकाकाराके ठीक बीचमें अनादिनिधन लोकका विन्यास यों हो रहा है कि पूर्व, पश्चिम, दिशाकी ओर नीचे सात राज् है कमसे घटता हुआ सात राज् ऊपर चढकर एक राज् चौडा रह गया है। पुनः कमसे बढता हुआ साढे दस राज् ऊपर चढकर पांच राज् चौडा है, फिर अनुक्रमसे घटता हुआ चौदह राज्की ऊंचाईपर एक राज् हो गया है। दक्षिण, उत्तरमें, सर्वत्र सात राज् मोटा है। जीव और पुद्रलको गमनमें सहायक हो रहा धर्मद्रल्य तो लोकमें ही न्यापक है। इस कारण अलोकमें कोई भी जीव गमन नहीं कर पाता है। जीवको सीधे जानेमें अलोकाकाश पड़े ऐसे निष्कुट क्षेत्रमें, टेढा, मेढा, जन्म लेनेका जब अवसर आ जाता है, तब जीवको तीन मोडा, लग जाते हैं। यह लोक सर्वथा गोल या अण्डाके समान लम्बा गोल अथवा चौकोर, तिकोर, नहीं है। अतः टेढे कोठावर्त्ती क्षेत्रसे तिरखे कोनवाले क्षेत्रतककी रचनाको धारनेवाले निष्कुट क्षेत्रकी अवाधित जिनागम द्वारा निर्देशिसिद्ध हो जानेसे तीन वक्रतावाली गति हो जानेका सम्भव है। कहीं कहीं टेढमें पड गये उस निष्कुट क्षेत्रमें एक मोडा, या दो मोडा-वाली गति करके उपजनेका अथोग है। अतः वहां जन्म लेनेवाले जीवको तीन मोडावाली गति करनी पड़ती है।

यदि शेकवका गतिः स्याद् द्विवकैव वा तदा वेत्रासनाधाकारे लोके निष्कुटक्षेत्रे कचि-त्यदेशे जीवस्य क्रुतिश्वदेशांतरादागतस्योत्पत्तिर्न स्यात् ।

यदि शंकाकारके विचारानुसार एक मोडावाली अथवा दो मोडावाली ही गति मानी जाय, तब तो अथोलोक्तमें वेत्रासन (मृद्धा या स्टूल) और मध्यलोक्तमें झल्लरी (बजाये जानेवाली विशेष ढंगकी थाली) तथा ऊर्ध्व लोक्तमें मृदंग (पखवाज या लोटे मुंह बड़े पेटवाली ढोलक) ऐसे आकारवाले लोकमें किसी किसी निष्कुट क्षेत्र बन चुके प्रदेशमें किसी भी देशान्तसे आये हुये जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः तीन मोडेवाली गतिका आश्रय लेना समुचित है।

सूक्ष्मबादरकेजींवैः सर्वो छोको निरंतरं। निश्चितः सर्वदेत्येतद्भचः कास्तु तथा सति ॥ ३॥

अनन्तानन्त सूक्ष्मजीव तथा अनंत और असंख्यात छोक प्रमाण बादर जीवोंकरके सर्वदा यह संपूर्ण छोक छिद्ररहित ठसाठस भरा हुआ है, यह परम आगम सिद्धान्तोंका वचन है। यदि तिस प्रकार एक या दो मोडेवाछी गतियां ही मानी जायंगी तो तैसा होनेपर यह वचन कहां रक्षित रहा। अर्थात्—सूक्ष्म या बादर जीव भछा जन्म, मरणसे रहित तो नहीं है। छोकमें किसी भी स्थानसे चाहे किसी भी स्थानपर जन्म छे सकते हैं। छोकमें ठेडे, मेडे कोनेवाछे अनेक स्थछ आगये हैं। अतः वहां तीन मोडेवाछी गतिसे ही जन्म छेना सधता है। एक दो मोडेवाछी गतिसे वहां वक्र-स्थानोंमें पहुंचना नहीं वन सकता है।

सूक्ष्मैजीवैः सर्वछोको निरंतरं निचितः बादरंकैश्व यथासंभविमिति परमागमवचनं । तथैकेन जीवेन सर्वछोकः प्रतिप्रदेशं क्षेत्रीकृत इति बक्रावक्रमछभत । ननु द्विबक्रया गत्या यतो यत्र व्याप्तिः संभवति ततस्तत्र जीवस्योत्पत्तेः सर्वमसमंजसमेतद्वचनमिति चेत्, सर्वस्मा-छोकप्रदेशात्सर्वस्मिन् छोकप्रदेशांतरे जीवस्य गतिरिति सिद्धान्तव्याइतिप्रसंगात् ।

यह सम्पूर्ण लोक सूक्ष्मजीवों करके खचाखच छदरहित दुस रहा है और बादर जीवों करके भी वहां ही यथायोग्य स्थानपर सम्भवते अनुसार भरपूर हो रहा है। यह सर्वब्रधारासे चले आ रहे ऋषिप्रोक्त परम आगमका वचन है। तथा पंच परावर्त्तनोंमें क्षेत्रपरिवर्त्तन करते समय एक जीवने भी प्रत्येक प्रदेशोंका स्पर्श करते हुये सम्पूर्ण लोकको अपना जन्म क्षेत्र कर लिया है। इस कारण जीवका गमन वक्रपन और अवक्रपनको प्राप्त हो चुका है। यहां यदि कोई शंका यों करे कि दो मोडेवाली गित करके जहांसे जहां क्षेत्रतक व्यापना सम्भवता है, वहांसे वहांतक जीवकी उत्पत्ति हो जायगी। दो, तीन, बार जन्म लेकर निष्कुट क्षेत्रमें भी उपज जायगा, एक ही जन्ममें निष्कुट क्षेत्रन तक पहुंचनेकी क्या आवश्यक्ता पडी है! जब कि एक दो मोडेवाली गितसे ही निर्वाह हो सकता है, तो ये सब परमागमके वचन न्यायोचित नहीं हैं। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों तो " सभी लोकाकाशके प्रदेशोंसे चाहे जहां सभी लोकके अन्य प्रदेशोंमें जन्म लेते हुये जीवकी गिति हो जाती है " इस प्रकार सिद्धान्त वचनोंके व्याघात हो जानेका प्रसंग होगा। चाहे जहांसे लोकमें चाहे जहां कहीं भी जन्म हो जाता है, यह सिद्धांत अट्ट है।

येशं च चतुरस्नः स्यालोको वृत्तोपि वा मतः । निष्कुटत्वविनिर्मुक्तस्तेषां सा न त्रिवकता ॥ ४ ॥ किन्तु जिन प्रवादियों है यहां छोक चौकोर अथवा गोछ भी माना गया होय उनके यहां तो टेडे कौनदार या पैछदार स्वरूप निष्कुटपनेसे सर्वथा रीता यह छोक हुआ। अतः उनके यहां तीन कक्रपना नहीं बनता है। एक दो वक्रताओंसे कहींसे भी किसी भी स्थानमें जीवकी गति बन जाती है। एक समयमें एक ओर चाहे जितना सीधा चछनेवाछे जीवको यदि अपने समतछसे अपर नीचे टेडे स्थानमें जन्म छेना है तो दो मोडे अवश्य छोंगे। इससे अधिककी आवश्यकता नहीं है। हां, परमागम अनुसार छोकरचना मान छेनेपर निष्कुट क्षेत्रमें गति करना तो तीन मोडा छेकर ही सम्भवता है।

मा भूदित्ययुक्तं, तथा पाणिमुक्ता लांगलिका गोमृत्रिका चैकद्वित्रिवक्रा संसारिणो गतिरिति सिद्धांतविरोधात् । तदविरुद्धमनुरुध्यमानैः त्रिवका तु गतिरभ्युपगंतन्या, न चासौ निष्कुटत्वविनिर्मुक्ते चतुरस्रे इते वा लोके संभवतीति न तदुपदेशसंभवः।

यदि कोई अतिसाहसी प्रवादी यो कह देवे कि जीवकी गतिमें तीन मोडे मले ही नहीं होवें, हमारी क्या क्षित है। टेढेपनको कमकर जीवमें जितनी सरलता बढे उतना ही अच्छा है। आचार्य कहते हैं कि यों शिद्धांतवाक्यका अतिक्रमण कर मलमानुषी दिखाते हुये प्रशंसा छूटना अनुचित है। क्योंकि तिस प्रकार त्रिवक्तपने का अभाव मान लेनेपर इस सिद्धान्तप्रश्यसे विरोध हो जायगा कि संसारी जीवकी लम्बे बाहु या हाथको ऊपर झुका देनेपर तत्सदृश हुई पाणिमुक्ता गित तो एक मोडेनवाली है और दो स्थानीपर टेढे झुक रहे हलके समान आकारवाली लंगलिका गित तो दो वक्रतानाली है तथा चलते हुये बैलके मूत्र समान आकारवाली गोमूत्रिका गित तो तीन वक्रताओंको धारती है, ये सिद्धान्तके वचन अक्षुण्ण हैं। निर्दोष निर्वाध उन सिद्धान्त वचनोंके अविरुद्ध अनुरोध मानकर प्रवक्तनेवाले विद्वानों करके तीन मोडेवाली गित तो अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिये और वह तीन मोडेवाली गित निष्कुटपनसे सर्वधा निर्मुक्त हो रहे चौकोर अथवा गोल लोकमें नहीं सम्भवती है। इस कारण लोकके चौकोरपन या गोलपनका वह उपदेश देना सम्भव नहीं है।

कियत्समया पुनरवका गतिरित्याह ।

गुरुजी महाराज ! अब यह बताओ, फिर नहीं मोडा लेनेवाली गति भला कितने समयोंमें पूरी होती है ? ऐसी शिष्यकी तीव्र आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

एकसमयाविग्रहा ॥ २९ ॥

गतिवाळे जीव पुद्रलोंकी जिस गतिमें मोडा नहीं है वह लोकपर्यन्त भी हो रही गति एक समयवाली है। अर्थात् सरल्रूपसे गमन करनेका अवसर मिल जानेपर जीव और पुद्रल एक समयमें असंख्यात योजनोंवाले चौदह राज्तक चले जाते हैं। गतिका उदासीन कारण धर्मद्रव्य यदि लोकके बाहर भी होता तो असंख्याते राजुओंपर्यन्त जा सकते थे। किन्तु परवश हो जानेके कारण चौदह राज्से अधिक गमन करनाः निषद्ध हो जाता है।

गतिरित्यतुवर्तनेन सामानाधिकरण्यात्सीलिंगनिर्देशः कृतः । एकः समयोजस्या इत्यकः समया, न विद्यते विग्रहो न्याघातोस्या इत्यविग्रहा ऋज्वी गतिरित्यर्थः । कृतश्विविगत्वाह ।

" अनुश्रेणिगतिः " इस स्त्रसे गति इस शहकी अनुवृत्ति करके समान अधिकरणपना है। जानेसे गतिकी अपेक्षा एक समया और अविग्रहा शहोंका कीलिंगमें कथन किया गया है। जिस गतिका समय एक ही है इस कारण वह एक समय कही जाती है। इस एक समयमें होनेवाली गतिका विग्रह अर्थात् आधात यानी कुटिलता नहीं विद्यमान है। इस अविग्रहाका अर्थ यह हुआ कि एक समयमें होनेवाली गति बाणगमनके समान सरल है। कोई पूंछता है कि इस प्रकार गतिका सरल्पना कैसे निर्णीत किया जाय ? यों आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक अग्रिम वार्त्तिको कहते हैं।

अविष्रहा गतिस्तत्र शोकैकसंगयांखिला । प्राप्तिः समयमात्रेण लोकाष्रस्य तनोरपि ॥ १ ॥

उन गतियों में एक समयवाली सम्पूर्ण गतियां तो कुटिलता रहित हो रहीं सरल हैं। कारण कि केवल एक समय करके ही लोकके अप्रवर्ती दूसरे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् जर्ब लोकमें सबसे ऊपर स्थित हो रहे पन्द्रहसी पिचत्तर बढ़े घनुष मोटे तनुवातवलयके ऊपरके पन्द्रहसी भागमें उसी समय जाकर मुक्तजीव लोकाप्रमें विराज जाते हैं। सबसे बढ़ी सिद्धोंकी अवगाहना पांचसी पचीस छोटे धनुषकी है और सबसे छोटी अवगाहना साढ़े तीन हाथकी है। पन्द्रहसी पिचत्तर धनुषके उपरिम्न तनुवातवलयको पांचसीसे गुणा कर देनेपर छोटे धनुष हो जाते हैं। उनमें बढ़ी अवगाहनाका भाग देनेसे पन्द्रह सी लब्ध आते हैं तथा साढ़े तीन हाथ यानी सात बटे आठ धनुषकी छोटी अवगाहनाका भाग देनेसे नी लाख लब्ध आते हैं। तनुवातवलयके पन्द्रहसीमे भागमें बढ़ी अवगाहनाक सिद्ध हैं और नी लाखमें भागमें छोटी अवगाहनाक सिद्ध हैं। मध्यवर्ती अवगाहनाओंक अनेक भेद हैं। मध्यवर्ती अवगाहनाओंक अनेक भेद

छोकाग्रमापणी गतिर्धुक्तस्य ताबदेकसमया समाविर्भूतानंतवीर्यस्य तस्यैकसमयमात्रेण छोकाग्रमाप्त्युपपचेः । पूर्वतनुपरित्यागेन तन्वंतरमापणी ऋजगतिरेकसमयेव संसारिणोपि, समाप्तताद्यवीर्योतरायक्षयोपन्नमस्य छोकांतरवितन्याः तनोरिप समयमात्रेण माप्तिघटनात् । ततः सक्छाप्यविग्रहा गतिरेकसमयत्युपपन्नं । सामध्यीदेकवका द्विसमया, द्विवका त्रिसमया, त्रिवका चतुःसमयेति सिद्धं ।

मुक्तजीवकी छोकके उपरिम अप्रभागमें प्राप्त करानेवाछी गति तो एक समयमें पूरी हो जाती है। क्योंकि वीर्यान्तराय कर्मका क्षय हो जानेसे जिस मुक्त जीवके अनन्तवीर्यगुण भछे प्रकार प्रकड

हो गया है, उस जीवकी केवल एक समयमें ही लोकके अप्रभागमें प्राप्ति हो जाना बन जाता है। हां, संसारी भी जीवकी पूर्वशरीरका परित्याग करके दूसरे भवके शरीरान्तरको प्राप्त करानेवाली ऋजु गति भी एक समयवाली ही है। तिस प्रकारका राजुर्जीतकका लम्बा उछलनेके उपयोगी वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपराम जिस जीनको भल्ने प्रकार प्राप्त हो गया है उसको एक ही समयमें लोकान्तमें वर्त्त रहे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाना घटित हो जाता है। अर्थात - ऊर्ध्व छोकके तनुवातवलयमें स्थित बात कायिक जीव मरकर उसी समय अधोलोकके वातवलयमें चौदहराज नीचे जन्म ले लेता है या नीचेके वातवलयका जीव चौदह राजू ऊपर जाकर ऊपरके वातवलयमें उसी समय जनम जाता है। सातों प्रथिवियोंमें दक्षिणकी ओर मरकर प्रथिवीकायिक जीव उसी समय सात राजू चल सातों पृथि-वियोंमें उत्तरकी ओर जन्म है हेता है। क्योंकि होक सर्वत्र दक्षिण उत्तर सात राजू मोटा है। कोई भी एकेंद्रिय जीव एक ओरसे दूसरी ओर एक समयमें ऊंचा, नीचा, तिरछा, सीधा सात राजू गमन कर जाता है। उतने अनन्त अविभागवितच्छेदोंको धार रहा उनके वीर्यगुणका विकास हो रहा है। सुरुमनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके जघन्य ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं और अनन्त चतुष्टय धारीके केवलज्ञानमें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं । हां, यह अनन्त उस अनन्त संख्यासे अनन्तानन्तगुणा बडा है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवके जघन्य वीर्य गुणमें अनन्त शक्त्यंश 🖹 और अनन्तचतुष्टयधारी जीवन्मुक्त या मुक्तजीवके भी वीर्य गुणमें भी अनन्तानन्त इक्त्यंश वर्त रहे हैं। मलें ही वे पिहले अंशोंसे अनन्तानन्त गुणे अधिक हैं। एकेन्द्रिय जीव भी चौदह राजू ऊपर या नीचेतक गमन करनेकी शक्तिको रक्षित रखता है। पूर्वभव सम्बन्धी मरण और वहांसे उत्तरभवके लिये चौदह राजूतक गमन करना तथा वहां जाकर नवीन शरीरका प्रहण कर लेना ये सब एक ही समयमें हो जानेवाले कार्य हैं। हां, पहिले पीछे होते हैं । किन्त समयभेद नहीं है एक समयमें भी असंख्यातासंख्यात शक्त्यंश हैं । तिस कारणसे सन्पूर्ण भी कुटिलतारिहत गतियां एक समयमें ही निष्पन कर ली जाती हैं, यह सिद्धान्त बन चुका है। साथमें विना कहे ही सामर्थ्यसे यह भी सिद्ध हो चुका है कि एक मोडेवाली गति में दो समय चिरते हैं, दो मोडेवाली गति तीन समयमें संपादित होती है, तीन मोडेको धारनेवाली गति तो चार समयमें निष्पन होती है।

यद्येवं सर्वत्राहारको जीवः प्रसक्त इत्याकृतं प्रतिषेधयञ्जाह ।

यदि उस प्रकार अविप्रहागतिमें जीव सदा आहारक बना रहता है, यानी पाहिले समयमें भी आहार करता हुआ मरा था और अप्रिम समयमें झट वहां पहुंचकर उसी समय नोकर्मका आहार कर छिया, उसी प्रकार सभी एकवका, दिवका, त्रिवका, गतियोंमें भी जीवको आहारी बना रहनेका प्रसंग प्राप्त हुआ। इस प्रकारके सिद्धांतविरुद्ध कुचेष्टितका निषेध करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अप्रवर्ती सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

एकं द्वी त्रीन् वानाहारकः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, मोडेवाली गतियोंमें यह संसारी जीव यथाक्रमसे एक या दो अथवा तीन समयोंतक अनाहारक रहता है। अर्थात्—कार्माण काययोगद्वारा केवल आयुरहित सप्तविध कर्मोंका ही प्रहण करता रहता है। नोकर्मका प्रहण नहीं कर पाता है। वहां पहुंचकर जन्म लेनेके अगले समयमें आहारक बनता है। उसके पिहले एक, दो, तीन, समयतक वह जीव आहारी नहीं है।

एकं वा समयं द्वी वा समयी त्रीन् वा समयाननाहारक इति संत्रत्येयं, त्रत्यासचेः समयस्याभिसंबधात्, वा त्रब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तेश्च । सप्तमी प्रसंग इति चेन्न, अत्यंतसंची मास्य विवक्षितत्वात् ।

वा शब्दका अर्थ यहां विकल्प है | उसका एक, दो, तीन, प्रत्येकमें परिसमाप्तिसे अन्वय कर देना चाहिये | निकटवर्ती होनेसे | "एकसमयाविष्रहा" इस सूत्रसे अनुवृत्ति कर प्राप्त हुये समय शद्धका यहां तीनोंमें सम्बन्ध हो जाता है । अतः चाहे एक समय अथवा दो समयतक किम्बा तीन समयतक संसारी जीव अनाहारक रहता है, यह पका विश्वास रखना चाहिये | यहां किसीकी शंका है कि आहार कियाका काल तो अधिकरण है । अतः एक, दो, तीन, इन संख्या वाचक शब्दोंमें सप्तमी विभक्तीकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग आता है, आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां अत्यन्त संयोग की विवक्षा हो रही है । जहां अति अधिक संयोग विवक्षित होता है वहां सप्तमीका अपवाद कर दितीया विभक्ति कर दी जाती है ।

कः पुनराहारो नाम येनाहारको जीवः स्यादित्यभिधीयते—त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्रलप्रहणमाहारः तदभावाद्विग्रहगतावनाहारकः न हि तस्यामाहारकश्चरीरस्य संभवः, नाप्योदारिकवैकियिकश्चरीरयोः षण्णां पर्याप्तीनां व्याघातात् । पुनरात्मैकसमये द्वी त्रीन् वानाहारको न पुनश्चतुर्थमपीत्याह ।

कोई पूछता है कि फिर यह बताओं कि आहार मछा क्या पदार्थ है ? जिस आहार करके कि जीव आहारी हो जावेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी करके यों उत्तर कहा जाता है कि औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीरों और आहारपर्याप्ति १ शरीरपर्याप्ति २ इन्द्रिय-पर्याप्ति ३ श्वासत् उश्वास पर्याप्ति ४ भाषापर्याप्ति ५ मनःपर्याप्ति ६ इन छइ पर्याप्तियोंके योग्य हो रहे पुद्रछद्रव्यका प्रहण करना आहार है। यानी जैसे भूंख, प्यास, छगनेपर यह जीव पित्त अग्नि हारा अन्न, जलका आहार कर लेता है। उसी प्रकार विशेष कर्मोका उदय होनेपर योग द्वारा यह जीव अतीन्द्रिय नोकर्म वर्गणाओंका आहार करता है। कारण नहीं मिळनेपर विप्रहगतिमें उस आहारका अभाव हो जानेसे जीव अनाहारक माना जाता है। उस विप्रहगतिमें तीसरे आहारक शरीरकी तो

सम्मादना ही नहीं है। क्योंकि आहारकशरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर असंयमका परिहार या गृदिविषयों उपजे हुये सन्देहको दूर करनेके छिये छठे गुणस्थानवर्ती किसी ऋदि प्राप्त मुनिके क्यान करते समय आहारक शरीर निपजता है। अधिकसे अधिक चौथे गुणस्थानमें हो रही विप्रह-गितिको दशामें आहारक शरीरके उपजनकी योग्यता प्राप्त नहीं है। अतः उस समय आहारक शरीरका प्रहण नहीं है। तथा औदारिक, वैकियिक शरीरोंका प्रहण करना भी असम्भव है। क्योंकि व्याचात है। मोद्रा छेते समय आहारकिया कथमपि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार छह पर्याप्तियोंके वोग्य पुत्रछ दन्यके प्रहणका भी व्याचात है। अर्थात जैसे कि कोई बहुत पिट रहा या अत्यधिक परिक्रम कर रहा अथवा परवश अधिक दौड रहा मनुष्य खाना पीना भूछ जाता है। उसी प्रकार विप्रह गितिकों नोकर्म आहारका व्याचात है। उस समय तो फिर आत्मा एक मोडा छेनेपर एक समयमें अथवा दो मोडेवाछी गतिमें दो समयतक तथा तीन मोडेवाछी गतिमें तीन समयतक अनाहारक रहता है। फिर चौथे समयमें भी अनाहारक नहीं है। आहार अवश्य कर छेता है, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों हारा कह रहे हैं कि—

एकं समयमात्मा द्वी त्रीन् वा नाहारयत्ययं । शारीरत्रयपर्याप्तिप्रायोग्यान् पुद्गलानिमान् ॥ १ ॥ चतुर्थे समयेवश्यमाहारस्य प्रसिद्धितः । ऋज्वामिषुगतौ प्राच्ये पुंसः संसारचारिणः ॥ २ ॥ द्वितीये पाणिमुक्तायां लांगलायां तृतीयके । यथा तद्वत्त्रिवकायां चतुर्थे विष्रहष्रहः ॥ ३ ॥

यह संसारी जीव एक समयतक या दो समयतक अथवा तीन समयतक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके स्वयोग्य होरहे नोकर्मवर्गणास्त्ररूप पुद्रलोंका आहार नहीं कर पाता है। चौथे समयमें अवस्य ही आहारकी सिद्धि होजाती है। धनुषपरसे फेंक दिये गये बाणकी गतिके समान सर्छ (सीधी) ऋजुगतिमें तो इस संसारअमण करनेवाले जीवका पूर्वसमयमें ही आहार होजाता है। पूर्वमवका वियोग, उत्तरभवके प्रति गमन, वहां जाकर नोकर्मवर्गणाओंका आहार करलेना और पर्याप्तियोंका कार्य प्रारंभ होजाना ये सब कार्य एक समयमें ही सम्पन्न होजाते हैं। मुढे हुये हाथके समान एक मोडेवाली पाणिमुक्ता नामकी गतिमें तो दूसरे समयमें जीवको आहारकी प्राप्ति होजाती है। हुछ या सिंहपुच्छके समान दो मोडेवाली लांगलिका गतिमें जैसे तीसरे समयमें नोकर्म आहारकी प्राप्ति हो जाती है उसीके समान तीन मोडेवाली गोमूनिका गतिमें चौथे समययें जाकर शरीरका फ्रहण किया जाता है।

संमृति क्षणिकाधेकांतव्यवच्छेदेन स्याद्वादपक्ष एव विग्रहगतिजीनस्य संभवतीत्याह्।

अब इस समय क्षणिकपन, नित्यपन, आदि एकान्त पक्षोंके व्यवच्छेद करके स्याद्वाद पक्षमें ही. जीवकी विप्रह गति होना सम्भवता है, इस रहस्यको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्तिकों द्वारा स्पष्ट खोळ कर कहते हैं।

क्षणिकं निष्कियं चित्तं स्वशारीरप्रदेशतः। भिन्नं चित्तांतरं नैव प्रारभेत सविष्रद्दं॥ ४॥ सर्वकारणश्रन्ये हि देशे कार्यस्य जन्मनि। काले वा न कचिज्जातुमस्य जन्मन सिद्ध्यति॥ ५॥

पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें समूल चूल नष्ट हो गया कियारहित क्षणिक चित्त तो अपने शरीर प्रदेशसे भिन्न दूसरे शरीरसहित चित्तको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। सम्पूर्ण कारणोंसे शून्य हो रहे देशमें अथवा कारणिकिल कालमें यदि कार्यका जन्म माना जायगा तब तो कहीं भी देश या कालमें इस कार्यका जन्म नहीं जाना जा सकता है। अतः किस कारणके किसका जन्म हुआ ! यों कार्यकारणमाव सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्यात् विश्व आत्मद्रव्यको क्षणिक, निष्क्रिय, अणु, विज्ञान स्वरूप मानते हैं। पिहले समयका चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है। दूसरे समयमें सर्वथा नवीन चित्त उपजता है। उनके यहांकी यह दशा बालक, युवा, बृद्ध, अवस्थाओं में भी घटना कठिन है। क्षणिक चित्त जन्मान्तरमें जाकर उपज जाय, यह तो असम्भव ही है। बीद्ध तो बाणका भी देशांतरमें पहुंच जाना नहीं मानते. हैं। पूर्व प्रदेशोंपर स्थित हो रहा बाणस्करूप अवयवोंकी राशि सर्वथा नष्ट हो जाती है। अगले प्रदेशोंपर दूसरे समयमें अन्य ही बाण उपजता है। यही उत्पादिननाशका कम लक्ष्यदेशकी प्राप्ति तक बना रहता है। बहुका वही बाण उस्पतक नहीं पहुंच पाता है। बीद्धोंको असत्के उत्पाद और सत्के विनश जानेका डर नहीं है। घूमते हुये चाकमें भी वे कियाको न मानकर प्रत्येक प्रदेशपर नवीन नवीन चाकका उत्पाद विनाश स्वीकार करते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेपर निष्क्रिय चित्त भला जन्मान्तरमें जाकर दूसरे चित्तको नहीं उत्पन्न करा सकता है। अतः बीद्धोंके यहां विग्रहगति नहीं सम्भवती है।

क्टस्थोपि पुमानेव जहाति पाच्यविष्रहं। न गृह्यात्युत्तरं कायमनित्यत्वप्रसंगतः॥ ६॥

सर्वया नित्यपक्ष छेनेपर कूटस्थ आत्मा मी पूर्वजन्मके शरीरको नहीं छोड पाता है और उत्तरभवसम्बन्धी कायको नहीं प्रहण कर सकता है। क्योंकि यों तो अनित्यपनेका प्रसंग हे जावेगा, किसीका प्रहण करना अन्यका त्याग करना तो कथंचित् अनित्य पदार्थके ही सम्भवता है, कूटस्थके नहीं।

परिणामी यथा कालं गतिमानाहरत्यतः । स्वोपात्तकर्मसृष्टेष्टदेशादीन् युद्गलान्तरं ॥ ७ ॥

अतः न तो क्षणिक और न कूटस्थ, किन्तु परिणामी जीव गतिमान् हो रहा सन्ता अपने पूर्वजन्मोंमें प्रहण किये गये कमी द्वारा रचे गये इष्ट देश, इष्ट फल, आहार्य पदार्थ आदिकोंका यथा-समय आहार कर लेता है तथा अपने योग्य अन्यपुद्रलोंका भी आहार कर लेता है। अर्थात्—एक दो अथवा तीन समयोंको टालकर अपने पुण्य, पाप, अनुसार यह उत्पाद, व्यय, धौव्य, स्वरूप-परिणामका धारी और देशसे देशान्तरको जानेवाला जीव अनेक जातिके न्यारे न्यारे पुद्रलोंका आहार कर लेता है।

इति विम्रहसंप्राप्ये गतिर्जीवस्य युज्यते । षड्जिः सूत्रैः सुनिर्णीता निर्बाधं जैनदर्शने ॥ ८ ॥

इस प्रकार शरीरकी भछे प्रकार प्राप्ति करने के छिये संसारी जीवकी गति होना युक्त हो जाता है। श्री अरहन्त देव द्वारा आद्य प्रतिपादन किये गये जैनदर्शनमें अथवा स्वरचित "तत्त्वार्थशास्त्र" नामक जैनदर्शन प्रन्यमें " विग्रहगती कर्मयोगः, अनुश्रेणि गतिः, अविग्रहा जीवस्य, विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः, एक समयाविग्रहा, एकं द्वी त्रीन् वानाहारकः " इन छह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने जीवकी गतिका बाधारिहत अच्छा निर्णय कर दिया है। वोई खटका नहीं रह जाता है।

अथैवं निरूपितगतेर्जीवस्य नियतकालात्मलाभस्य पष्टिकाद्यात्मलाभवत्संभाव्यमानस्य जन्मभेदमतिपादनार्थमाइ ।

अब इसके अनन्तर जिस जीवकी गतिका इस प्रकार निरूपण किया जा चुका है, नियत किये गये कालमें आत्मलाम कर रहे और साठी, चावल, वाजरा, कांगुनी, आदिके आत्मलाम समान सम्भावना किये जा रहे उस जीवके जन्ममेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं। मावार्थ—साठी चावल जैसे साठ दिनमें पकते हैं, न्यून अधिक समयमें नहीं, इस प्रकार कई धान्य और अनेक फलोंके परिपाकका समय नियत है। गायें, भैंसे, तथा किन्हीं किन्हीं लियोंके गर्भधारणका समय भी नियमित रहता है। उसी प्रकार जीव भी नियत कालमें अपने उत्पत्ति क्षेत्रको प्राप्त कर लेता है। वहां जाकर जीवके कितने प्रकार जन्म होते हैं ? उसका निर्णायक सूत्र यह है। इसको अब समाधियेगा।

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

सन्मूर्कन, गर्भ, और उपपाद य तीन संसारी जीवोंके जन्मके प्रकार हैं।

समंततो मूर्छनं श्ररीराकारतया सर्वतः पुद्रह्मानां सम्मूर्छनं, श्रुक्रशोणितगरणाद्वर्भः मातृ-प्रयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा, उपेत्य पद्यतेस्मिश्वरपुपपादः । एतेषामितरेत्रयोगे द्वन्द्वे संमूर्छनस्य प्रहणमादावितस्थू छत्वात् अल्पकालजीवित्वात् तत्कार्यकारणमत्यक्षत्वाश्च, तदनंतरं गर्भस्य प्रहणं कालप्रकर्षनिष्यत्तेः, उपपादस्य प्रहणमंते दीर्घजीवित्वात् । त एते जीवस्य जन्मेति प्रत्येयं ।

तीनों छोकमें ऊपर, नीचे, तिरछे, कहींसे भी चारों ओरसे भी देहके अवयवीको रच छेना संमुर्छन है। पुद्रलोंका सब ओरसे शरीरके आकारपने करके अवयव गढ जाना सन्मुर्छन जन्म है। जैसे कि सडे हुये मल, मूत्र, फल, रोटी, दाल, आदिमें जीव, आकर चारों ओरसे उन्हीं पदार्थीका शरीर रच छेता है । स्त्रिक उदरमें पुरुषके शुक्र और माताके रक्तका मिश्रण हो जानेसे गर्भ नामका जन्म होता है अथवा माताके द्वारा खाये गये आहारको अपने अधीन करनेसे गर्भ माना जाता है । गर्भमें हाथी, घोडे, बालक, बालिका, तोता, मैना, हिरण, बन्दर, आदिक जीव अपनी माताके खाये हुये आहारको अपने शरीररूप मिलाते रहते हैं । जिन कोमल राप्यास्थान या मकर मुख, आदि स्थानोंको प्राप्त होकर इनमें जन्मा जाय, इस कारण यह उपपाद **है।** देव या नारिक्योंके उत्पत्ति स्थानकी विशेषसंज्ञा उपपाद है। इन सम्पूर्छन, गर्भ, उपपादोंका चाहे कैसे भी आगे पीछे रखकर इतरेतर योग नामक द्वन्द्र समास करनेपर सम्पूर्छन शद्धका आदिमें प्रहण हो जाता है। कारण कि सम्पूर्छन शरीर अधिक स्थल है, अर्थात्-हजार योजन ऊंचा कमल, बारह योजन छंबा संख, तीन कोस छंबी गिंजाई, चार कोस लंबा भौरा और हजार योजन लंबा राघव मत्स्य ये सब जीव मीटे सन्पूर्छन शरीरको धार रहे हैं । कमलका क्षेत्रफल सातसौ पचास योजन है । संखका घनफल तीनसौ पेंसठ योजन है । गिंजाईका क्षेत्रफल सत्ताईस योजनके इक्यासी सौ बानवैमे भाग है। अमरका क्षेत्रफल तीन बटे आठ योजन है। स्वयंभूरमण समुद्रमें निवास करनेवाले मत्स्यका धनफल साडे बारह करोड योजन है। इन जीवोंके सम्भूर्छन जन्म है । नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर अधिकसे अधिक पांचसी धनुष है । देवोंका भी मूलशरीर पन्चीस धनुषसे अधिक नहीं है, उत्कृष्ट भोगभूमिक भी मनुष्योंका शरीर तीन कोस लम्बा है। यहां कर्मभूमिमें मनुष्य शरीरकी अपेक्षा घोडे, वृक्ष आदिमें जो वृद्धिका तारतम्य है. वहीं तारतम्य भागभूमिमें लगाया जा सकता है। अतः गर्भज, और उपपादजकी अपेक्षा सम्मूर्छन शरीर अधिक मोटा है, तथा वैसे भी सम्मूर्जन शरीरकी गढ़ंत गर्भ, उपपादवालोंकी अपेक्षा मोटी है। प्रन्थकार स्वयं " परम्परं सूक्ष्मं " आगे कहनेवाले हैं । दूसरी बात यह है कि गर्भजन्मवाले और उपपादजन्मवाले जीवोंकी अपेक्षा सम्पूर्छन प्राणी अस्पकाल जीवित रहते हैं । देखी, सम्पूर्छन मत्स्यकी आयु सातहजार छप्पनके ऊपर सत्रह बिन्दी छगाकर जितनी संख्या होती है उतने वर्ष प्रमाण

अर्थात् कोटि पूर्ववर्षकी उत्हृष्ट है। किन्तु गर्भजन्मवाले मनुष्यकी उत्हृष्ट आयु तीन पल्य है और उपपाद जन्मवाले देव, नारिकयोंकी आयु तेतीस सागर उत्हृष्ट है। जिनमें कि असंख्याते वर्ष कीनेमें पड़े हुये हैं। उपपाद जन्मवाले की जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है और गर्भजन्मवालोंकी जघन्य आयु कुछ बड़ा अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु सम्मूर्ज्जन जीवोंकी जघन्य आयु नाडीगित कालके अठारहमें भाग है। अतः अल्पकालतक जीवनेवाले विचारे सम्मूर्ज्जन जन्मवालोंका आदिमें प्रहण करना उचित है। तीसरी बात यह है कि गर्भ और उपपाद जन्मके कार्य और कारणका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। किन्तु उस सम्मूर्ज्जन जन्मके कार्यकारण दोनोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष हो भी जाता है। सम्मूर्ज्जन हारीरके कारण गले सड़े पदार्थों या बीज, शाखा, आदिका लोकमें प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा उनके कार्य बन गये लट, गिराड, अंकुर आदिका भी प्रायः प्रत्यक्ष हो जाता है। उस सम्मूर्ज्जन के पश्चाद गर्भका प्रहण है। क्योंकि सम्मूर्ज्जनकी अपेक्षा अधिक बढ़े हुये कालमें गर्भजन्मकी निष्यत्ति होती है। सम्मूर्ज्जन शरीर तो अन्तर्मुहूर्तमें भी बन जाता है।किन्तु गर्भके लिए चिरैच्या मुर्गी छिरिआ, कुत्ती, खी, घोडी भैंस आदिके शरीरमें मास, दो मास, लह मास, नौ मास, बारह मास, तक बननेकी अपेक्षा है। सबके अन्तमें दीर्घकालनक जीवित बना रहना होनेसे उपपादका प्रहण किया है। व सब इस जीवके जन्म हैं, यह विश्वास रखना चाहिये।

संमुर्छनादिभेदात् जन्मभेदे वचनभेदमसंग इति चेश्व, जन्मसामान्योपादानात्तदेकत्वोपपत्तः।

यहां किसीकी शंका है कि सम्पूर्च्छन आदिके भेदसे जब जन्मके तीन भेद हैं, तब ती जन्मशद्भके बहुवचन रूपसे भेद करनेका प्रसंग आता है। अर्थात् जब जन्मके प्रकार तीन हैं तो " जन्मानि " यों बहुवचन होना चाहिये। तभी सामानाधिकरण्य बनेगा। आचार्य कहने हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जाति अर्थमें प्रयुक्त किये गये जन्म शद्ध करके जन्म सामान्यका उपादान है। अतः उस जन्मशद्भकी एकवचन रूपसे सिद्धि हो जाती है। सामान्यको कहनेमें एक वचन कहा जाता है। जैसे कि " जीवाजीवास्त्रववंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तर्त्वं " यहां विधेय दलमें एक वचनान्त तत्त्व शद्धका प्रहण करना साधु है।

क्कतः पुनः संमूर्छनादय एव जन्मभेदा इत्याह ।

स्वामीजी महाराज ! फिर यह बताओ कि संमुक्ति आदिक ही जन्मके भेद किस कारणसे हो जाते हैं ? अर्थात्—सम्मूर्क्त आदिक तीन ही जन्मके प्रकार हैं, अधिक क्यों नहीं हैं ! तथा ऐसे जन्मोंका कारण क्या है सो स्पष्ट कहिये, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकको कहते हैं।

संगुर्छनादयो जन्म पुंसो भेदेन संब्रहात्। सतीपि जन्मभेदस्य परस्यांतर्गतेरिह् ॥ १॥ सामान्य रूपसे जन्मका एक भेद ही है। विशेषतया सैकडों, हजारों, जन्मके भेद हैं। हां, कित-पय भेदों करके ही संग्रह करनेसे जीवके सम्मूर्छन आदिक तीन जन्म कहे गये हैं। यद्यपि दूसरे दूसरे भी जन्मके विशेष भेद विद्यमान हैं, किन्तु उन विशेष भेद, प्रभेदोंका, इन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अतिरिक्त प्रकारोंके माननेकी आवश्यकता नहीं है।

संस्वेदोद्धेदादयः परे जन्मभेदाः संमूर्छनात् तेषां तत्रैवांतर्गमनात् । भेदेन तु संप्रमाणं जन्म त्रिविधं व्यवतिष्ठते संमूर्छनादिभेदः पुनर्जीवस्य तत्कारणकर्मभेदात्, सोपि स्वनिमित्ता-ध्यवसायभेदादिति प्रतिपत्तव्यं ।

छट, डांस, जुआं, आदिक जीव पसीनासे उत्पन्न हो जाते हैं, इनका स्वदेज जन्म कहा जाता है। इस, वेलि, आदिक उद्भिज हैं। शरीरमें पुण्पमाछा पहिननेसे पुणोंके रूप आदिकी परावृत्ति हो जाती है। अतः अनुमान किया जाता है कि ऊष्मा या स्वेद निकछता रहता है, जिससे कि जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है तथा भूमिको भेद कर ऊपर निकछ आये उद्भितसे जन्म ठेनेवाछे हुस, बास, आदि हैं। इस प्रकार संस्वेद, उद्भेद, आदिक दूसरे भी जन्मके भेद हैं। किन्तु समन्तात् मूर्छन, होनेसे उन अतिरिक्त प्रकारोंका उन तीन जन्मोंमें हा अन्तर्गमन हो जाता है। हां, भेदकरके संग्रह किये जा रहे जन्म तो तीन प्रकारके ही व्यवस्थित हो रहे हैं। हां, फिर जीवके सम्मूर्छन आदिक जन्मभेद तो उनके कारण कर्मोंके विशेष भेदोंके अनुसार हो जाते हैं और वह कर्मोंका भेद भी अपने निमित्त कारण हो रहे कपायोंके अध्यवसाय स्थानोंके भेदसे बन बैठता है। मावार्थ—जीवोंके परिणाम असंस्थात छोक प्रमाण हैं। उनको निमित्त पाकर कर्मबन्धोंके असंख्याते विकल्प हो जाते हैं। उनकामित पाकर कर्मबन्धोंके असंख्याते विकल्प हो जाते हैं। उनकामोंके अनुसार सम्मूर्छन आदिक जन्मके तीन प्रकार हो जाते हैं। विशेषतया विचारनेपर उन्हीं कर्मोंके अनुसार संख्यात और असंख्यात भी जन्मके प्रकार हैं। जो कि पूर्णरूपसे श्रुतज्ञान या केवछ ज्ञानहारा गम्य हैं। इस प्रकार समझ छेना चाहिये।

तद्योनिमतिपादनार्थमाह ।

उन जन्मोंके योनिस्थानोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे है।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्तद्योनयः॥३२॥

सचित्त १ शीत २ संवृत ३ और इनसे इतर अर्थात्—अचित्त ४ उष्ण ५ विवृत ६ तथा इनके मिले हुये यानी सचित्तअचित्त ७ शीतोष्ण ८ सम्वृत विवृत ९ ये नौ उन जन्मोंकी एक एककी योनियां हैं। अर्थात्—सचित्त आदि स्थल विशेषोंमें जीव उन तीनों जन्मोंको यथायोग्य धारते हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं, श्चीतः स्पर्शविशेषः, संवृतो दुरुपलक्ष्यः । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः, श्चीतोस्यास्तीति श्चीतः, संत्रियते संवृतः । सचित्तश्च श्चीतश्च संवृतश्च सचित्तश्च श्चीतश्च संवृतश्च सचित्तश्चातः सहतरैरचित्तोष्णविवृतैर्वर्तते इति सेतराः समितपक्षाः, मिश्रग्रहणसुभ-पात्मसंग्रहार्थे ।

आत्माके चेतन्यान्यित विशेषपरिणामको चित्त कहते हैं। आठ प्रकारके स्पर्शोमें शीत एक स्पर्शविशेप है, जो कि प्रसिद्ध ही है। संवृत्तका अर्थ मले प्रकार आच्छादित हो रहा यह जो प्रदेश बड़ी काठनतासे देखा जा सके या नहीं देखा जा सके वह संवृत्त है। चित्तके साथ जो वर्तता है, इस कारण वह सचित्त कहा जाता है, शीतस्पर्श नामक गुण जिसके विद्यमान है, इस कारण यह बोनिस्थान शीत है, गुणवाचक शीत शब्दसे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय कर लेना। जो मले प्रकार ढक दिया जाय वह संवृत्त है। सचित्त और शीत तथा संवृत्त इस प्रकार इतरेतर योग इन्द्र समास करने पर "सचित्तशीतसंवृताः" पद बन जाता है। ये सचित्त, शीत, संवृत, यदि इतर हो रहे, अचित्त, उप्ण, विवृतोंके साथ वर्त जाते हैं, इस कारण सेतर यानी प्रतिपक्षसहित हो जाते हैं। सस सूत्रेम मिश्रका प्रहण करना तो सचित्त, अचित्तका उभय और शीत उष्ण दो अवयववाला उभय तथा संवृत, विवृत्त इन दोनों आत्मक उभयका संग्रह करनेके लिये हैं।

च श्रद्धः पत्येकं समुचयार्थ इत्येकं, तद्युक्तं, तमंतरेणापि तत्पतीतेः, शृथिच्यप्तेजी-वायुरिति यथा। इतरयोनिभेदसमुचयार्थस्तु युक्तश्रश्चद्धः, एकशो प्रहणं क्रममिश्रमतिपत्त्यर्थे तेन सचित्तोचित्तो मिश्रश्च श्रीतउष्णो मिश्रश्च संष्ठतो विष्ठतो मिश्रश्चेति नवयोनिभेदास्तस्य जन्मनः प्रतीयंते तच्छद्वस्य पद्धतापेक्षत्वात्।

कोई एक विद्वान् यों कह रहे हैं कि सूत्रमें पड़ा हुआ च शब्द तो प्रत्येकका समुचय करने के लिये है । अर्थात्—प्रत्येक साथ च शब्द लगा देनेपर ही मी भेद हो सकते हैं । अन्यथा यानी च शब्द नहीं डाला जायगा तो सचित्त, शीत, संवृत, जब सेतर होकर मिल जांय, तब योनियां हो जाती हैं, यह अर्थ निकल पड़िंगा । और च शब्द कर देनेसे प्रत्येक प्रत्येक योनि हो जाती हैं । प्रत्येकार कहते हैं कि उनका कहना युक्तिरहित हैं । क्योंकि उस च शब्द के विना भी प्रत्येकका समुच्चय हो सकता है । जैसे कि " पृथिव्यप्तेजोवायुरित तत्वानि" यहां च शब्द के विना भी प्रत्येकका समुच्चय हो सकता है । जैसे कि " पृथिव्यप्तेजोवायुरित तत्वानि" यहां च शब्द के विना ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये प्रत्येक प्रत्येक होकर चार तत्व हैं, यह अर्थ निकल आता है । हां, संक्षेप प्रतिपादक सूत्रमें योनियोंके जो अन्य भेद नहीं कहे गये हैं, उनका समुच्य करनेके लिये तो च शहका प्रयोग करना समुचित है । इस सूत्रमें एक एक इस प्रकार वीप्सामें शस् प्रत्येय कर एकशः शहका प्रहण करना तो कमपूर्वक मिश्र योनियंकी प्रतिपत्तिके लिये है । तिस " एकशः " शह करके सचित्त और अचित्त रूप मिश्र तथा शील और उष्ण

रूप मिश्र एवं संदत और विवृत रूप मिश्र यों जान लिया जाता है। सचिच शीतका मिला हुआ या शीत और संदतका मिला हुआ मिश्र नहीं समझ बैठना चाहिये। इस प्रकार उस जन्मकी योनियोंके नी भेद प्रतीत हो रहे हैं। सूत्रमें पड़ा हुआ तत् शह तो प्रकरण प्राप्त सम्मूर्छन आदि जन्मोंकी अपेक्षा रख रहा है।

सिनादीनां द्वंदे पुंवज्ञावाभावी भिन्नाश्रयत्वादित्येके, तदयुक्तं । पुल्लिंगस्य योनि-श्रहस्येहाश्रयणात्तस्योभयलिंगत्वात् । स्नीलिंगस्य वा प्रयोग औत्तरपदिकद्रस्यत्वस्य विधानात् द्वतायां तपरकरणे पध्यपविलंकितयोख्यसंख्यानियत्र द्वंदेपि तस्य दर्शनात् ।

कोई एक पण्डित यहां कह रहे हैं कि सिचित्ता, अचित्ता, आदि क्षीलिंग पदोंका इन्द्र समास करनेपर विभिन्न आश्रय होनेसे पुंबद्भाव होकर हूस्व नहीं हो सकता है। यानी जब कि सिचित्ता योनि न्यारी है और शीता योनि भिन्न है तो एकाश्रय नहीं बनता है। हां, सिचत्तस्वरूप ही जो अचित्ता यों सामानाधिकरण्य होता तो पुंबद्भाव हो सकता था। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना अयुक्त है। क्योंकि • "योनिईयों" यों अमरकोषके वाक्य अनुसार वह योनि शह पुष्ठिक्ग और बीलिंग दोनों किंगोंमें प्रवर्तता है। यहां पुष्ठिक्गके योनि शहका आश्रय किया गया है। अतः सिचित्तः, शीतः, संहतः, यों पुष्ठिक्ग शहीका समास कर " सिचत्तशितसंहताः " शह बना लेना चाहिये। अथवा बीलिक् भी बोनि शहका प्रयोग करनेपर उत्तर पदके अनुसार हस्व होनेका विधान है। मध्यमा च विलंबिता च " मध्यमिवल्लिते " यहां दुतायान्तपरकरणे मध्यमिवल्लितयोरुपसंख्यानं इस वार्त्तिक अनुसार उत्तर-पदके परे रहते उस हस्व हो जानेका विधान देखा जाता है।

योनिजन्मनोरिवसेष इति चेस्न, आधाराधेयभेदादिसेषोपपत्तेः । सचित्तग्रहणमादौ तस्य । चेतनात्मकत्मात्तदनंतरं सीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् । अंते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् तत्राचित्तयोनयो देवनारकाः, गर्भजा मिश्रयोनयः, सेषास्त्रिविकल्पाः ।

कोई आक्षेप करता है कि योन और जन्ममें कोई अन्तर नहीं है। जो ही जन्म है वही योनि है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना। क्योंकि आधार और आध्यक भेदसे योनि और जन्ममें विशेषता बन रही है। योनि आधार है, जन्म आध्य है। सचित्त आदि योनियोंमें जीव सम्मूर्छन आदि जन्मों करके पुत्रलोंका प्रहण करता है। यहां सूत्रके आदिमें प्रधान चेतन आत्मक होनेसे सचित्तका प्रहण किया है। उसके पश्चात् उस सचित्त अर्थकी वृद्धिका कारण होनेसे शितका कथन किया गया है। अन्तमें गुप्तरूप होनेसे संवतका प्रहण है। उन नौ योनियोंमें देव और नारकी जीवोंकी योनि अचित्त है। क्योंकि उनके उपपाद स्थानोंमें किसी भी जीवका सम्बन्ध नहीं है। गर्भव जीवोंकी योनि सचित्त, अचित्त मिली हुयी है। अर्थात्—माताके उदरमें शुक्त, शोणित, तो अचित्त हैं। किन्तु गर्भाशयका स्थान जीवित हो रहा सचित्त है। मरे हुये गर्भाशयमें यदि शुक्त, शोणित, रख दिये जाय

तो बालक या अण्ड आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा शेष द्वीन्द्रिय या वृक्ष, आदिक जीव तीनों भेदबाले हैं। अर्थात्—किसीकी योनि सचित्त है, अन्य किसीकी योनि अचित्त है तथा अन्योंकी सचित्त, अचित्त है।

श्रीतोष्णयोनयो देवनारकाः, उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः, इतरे त्रिप्रकाराः, देवनारकैकेंद्विपाः संवृत्तयोनयः, विकलेंद्रिया विवृतयोनयः, मिश्रयोनयो गर्भजाः तद्भेदाश्वराद्धसम्बताः
प्रस्यक्षज्ञानदृष्टाः, इतरेषामागमगम्याश्रतुरश्चीतिशतसदृष्ट्यसंख्याः। तदुक्तं—" णिश्चिदरधादुसत्तयतस्दसविपलिंदिए दो दो अ । सुर्णिरयतिरियचदुरो चोद्दस मणुए सदसदृस्सा "।

देव और नारिक्योंके योनि स्थान कुछ शीत प्रदेशवाले हैं और कुछ उष्ण प्रदेशवाले हैं। जैसे कि चौचे नरकतक उन स्थानोंमें उष्णता अधिक है और छठे, सातमें, नरकमें शीत वेदनावाछे ही प्रदेश हैं। पांचमें नरकमें ऊपर दो लाख बिले उष्ण स्थान हैं, और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत अव्यधिक है, देवोंके योनिस्थानोंमें भी सुखकी उत्पादक कहीं शीत व्यवस्था है, और कचित मनोहर उष्णता है। 'तेजस्कायिक जीवोंके योनिस्थान उष्ण हैं, दियासलाईके रगडते ही ली उठनेपर झट उस उष्णस्थान में तेजस्कायिक जीव जन्म छे छेते हैं। इसी प्रकार लक्षडीके जलनेपर या तारमें विजलीका प्रवाह **ब्रह्म चमक जानेपर उस उच्चास्थलमें अग्निकायके जीव उत्पन्न हो जाते हैं ।** अन्य शेष जीव कोई तो उच्चा प्रदेशोंमें उपजते हैं। इनसे भिन्न कोई शीत या शीतोच्या स्थालोंमें जन्म धारते हैं। तथा देव, नारकी और एकेन्द्रिय इन जीवोंकी योनियां संष्ट्रत हैं। जन्मते समय इनके उत्पादस्थान ग्राप्त रहते हैं । हां, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनके योनिस्थल स्फूट हैं । गोबर, मल, द्विदल, सडा-फल, इनमें त्रसजीव उपज रहे शीघ्र प्रतीत हो जाते हैं । हां, गर्भज जीवोंकी उत्पादस्थान संवृत. विवृत, मिळे हुये हैं । समुज्यय अर्थको कहनेवाछे च शब्द करके उन नी योनियोंके भेद प्रभेद संप्रक्रीत कर लिये जाते हैं। उन चौरासी लाख संख्यावाली योनियोंको विशदरूपसे केवल्जानियोंने प्रत्यक्षज्ञान द्वारा देख लिया है। हां, अन्य संज्ञी जीवोंमेसे किसी किसीको योनियोंके भेद्र, प्रभेदका बान आगमप्रमाणद्वारा परोक्षरूपसे हो जाता है। उन्हीं प्रभेदों को सिद्धान्तप्रनथों में यो कहा है कि बनस्पति कायके भेद हो रहे नित्यनिगोद और इतर गति निगोदवाले जीवोंकी सात सात लाख योनियां 🖥. प्रियंबीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, जीवींकी भी सात सात लाख योनियां 🖁 । बनस्पतिकायमें प्रत्येक जीवोंकी दस छाख योनियां हैं, दीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवोंकी दो छाख योनियां हैं। देव और नारिकयों तथा पंचेंद्रिय तिर्थेचोंकी न्यारी न्यारी चार चार छाख योनियां हैं। मनुष्योंकी चीदह लाख योनियां हैं।

अर्थतेषां योनिभेदानां सद्भावे युक्तिम्रुपदर्शयति ।

इसके अनन्तर योनियोंके इन भेदोंका सद्भाव साधनेमें श्रीविद्यानन्द आचार्य युक्तिको अभिम-वार्तिकोद्दारा दिखलाते हैं।

तस्यापि योनयः संति सचित्ताद्या यथोदिताः । स्वावारेण विना जन्म क्रियाया जात्वनीक्षणात् ॥ १ ॥ तद्वैचित्र्यं पुनः कर्मवैचित्र्याद्विनियम्यते । कार्यवैत्रित्र्यसिद्धेस्तु कर्मवैचित्र्यनिर्णयः ॥ २ ॥

उस जन्मके भी इस सूत्रमें कह चुके अनुसार सचित्त आदिक योनियां हैं (प्रतिक्का) अपने (जन्मको) ढकनेवाले (योनिस्थान) के बिना जन्म लेना रूप कियाका कदाचित् भी देखना नहीं होता है (हेतु) उन योनियों और जन्मकी विचित्रता तो फिर अन्तरंग कारण हो रहे कमींकी विचित्रतासे हो जाती है। यों विशेषरूपसे नियम किया जा रहा है और सुख, दुःख आदिक कार्योंके विचित्रपनकी सिद्धिसे तो कर्मीकी विचित्रताका निर्णय हो रहा है। भावार्थ—परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर अतींद्रिय कारणोंकी सिद्धि हो जाती है। जब कि सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके विलक्षण पदार्थ दिख रहे हैं, अतः योनि, कुल, कर्म, आदिकी युक्तियोंसे सिद्ध कर ली जाती है।

न हि स्वभावत एव माणिनां सुखदुःखानुभवादिकार्यवैचित्र्यं नियमाभावमसंगात् । काळादेवेति चायुक्तं, एकस्मिन्नपि काळे तद्दैचित्र्यानुभवात् । भूतवैचित्र्यात्सुखादिवैचित्र्यमिति चेत् न, सुखादेः भूतकार्यत्वनिषेधात् । ततः कर्मवैचित्र्यमेव सुखादिकार्यवैचित्र्यं गमयति, तद्यतिरेकेण दृष्टकारणसाकल्येपि कदाचिदनुत्पचेः, तत्र कर्मवैचित्र्यमस्य जन्मनिमित्तमिति पर्याप्तं प्रपंचकेन ।

अनेक प्राणियोंका सुख, दु:खंके अनुभव या धन, पुत्र, आदिकी प्राप्ति अथवा शोक, हास्य, आदिकी दशामें डुवे रहना, उत्कृष्ट विद्वान् या मूर्ल वने रहना इत्यादिक कार्योक्षी देखी जा रहीं विचित्रतायें स्वभाव ही से तो नहीं हो जाती हैं। दूसरे निमित्त कारणोंके विना ही सुख: दु:ख, आदिकी उत्पत्ति माननेपर तो नियमके अभावका प्रसंग होता है। चाहे कोई भी जीव सुलभतासे विद्वान्, रोगी, मूर्ख, धनवान्, सुकुलवान्, दरिद, आदि वन बैठेगा। कोई देश, काल, व्यक्ति, आदिका नियम नहीं वन सकेगा। किन्तु उक्त कार्योके होनेमें नियम देखा जा रहा है। अतः ये कार्य स्वभावसे ही न होकर किन्हीं अतान्दिय निमित्तोंसे होरहे मानने पडते हैं। कालसे ही सुखदु:ख, आदि कार्योकी विचित्रता बन बैठती है यह कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि एक मी किसी कालमें उन कार्योकी विचित्रताका अनुभव हो रहा है। अर्थात्—उसी समयमें किसीको लाम होता है अन्यको व्यापारमें हानि हो रही है। कोई बीमार हो रहा है, कोई उसी समय नीरोग, बलिष्ठ, खडा हुआ है, एक ऋतुमें कोई बक्ष फलता फलता है, दूसरा बक्ष सूख जाता है, यहांतक कि अक्रीआ, खरबूजकी बेल, रास्ना, वायसुरई, आदिक

कार पाया वर्षाकालमें सूख जाती हैं, जब कि अन्य असंस्य वनस्पतियां हरीं भरें। रहतीं हैं। अतः काल साधारण कारण मले ही होय किन्तु असाधारण कारण काल नहीं है। यदि कोई यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, इन भूतोंकी विचित्रतासे सुख आदि कार्योंकी विचित्रता बन जाती है, जैसा जहां भूतद्रव्य होगा वैसा वहां सुख दु:ख, ज्ञान, आदि हो जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि भूतके कार्य सुख, दु:ख, आदि है। इसका पूर्वप्रकरणोंमें निषेध किया जा चुका है। अतः अन्वय, व्याभिचार, व्यातिरेक व्याभिचार, दोष आजानेसे काल, भूत, दुग्ध, व्यापार, गुरु, स्थान, औषि, आदि पदार्थ तो सुखादि कार्योंके विचित्रपनका अव्यर्थ संपादन नहीं कर पाते है। तिस कारण परिशेष न्यायसे कर्मोंकी विचित्रता ही को सुखादि कार्योंका विचित्रपना ज्ञापित कराता है। उस कर्मकी विचित्रताके विना दृष्टकारणोंकी पूर्णता होनेपर भी कभी, कहीं, उन कार्योक्षी उत्पत्ति नहीं देखी जा रही है। वही कर्मोंकी विचित्रता यहां प्रकरणमें इस जन्म या योनियोका निमित्त कारण समझी जाती है पूर्व प्रकरणोंमें पौद्रलिक कर्मोंकी विलक्षण शक्तियोंका हम निरूपण कर चुके है। यहा अधिक विस्तार-लिखनेकी अपेक्षा इतनेसे ही पूरा पड़ो। अधिक प्रकरण बढ़ानेसे कुळ विशेष प्रयोजन नहीं साधता है।

केषां पुनर्गर्भजन्मेत्याह ।

संसारवर्ती कौन कौन प्राणियोंके गर्भ नामका जन्म होता है ? अथवा क्या सम्पूर्ण प्राणियोंके नियम विना चाहे कोई भी जन्म हो जाता है ? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको उतारते है ।

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

जरायुमें उत्पन्न हुये मनुष्य, बछरा, पडरा, आदि प्राणियोक्षे और अण्डेसे उत्पन्न हुये तोता, मैना, कबूतर, आदि जीवोंके तथा उदरसे निकलते ही उछलने दौडनेवाले हिरण आदि पोत तिर्यचोंके गर्भ नामक जन्म होता है।

जालवत्त्राणिपरिवरणं जरायुः जरायां जाता जरायुजाः, शुक्तकोणितपरिवरणग्रुपाच-काठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं, अंडे जाता अंडजाः, पूर्णावयवः परिस्पंदादिसामध्यों-पलक्षितः पोतः । पातज इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात् । आत्मा पोतज इति चेन्न, तस्यापि पोतप-रिमाणादात्मनः पोतत्वात् । जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोता इति सिद्धं ।

प्राणियोंके ऊपर जालके समान चारों ओरसे ढक नेवाला झिल्ली स्वस्त्य पदार्थ जरायु कहा जाता है, जो कि फैले हुये मांस और श्रेणितका पत्तर है। जरायुमें जो उपजते हैं वे जीव जरायुज हैं। पुर्लिग तिर्येचका वीर्य और स्नीलिंग तिर्यचका रक्त अपनी अवस्थाको बदलकर काठिन्यको प्रहण करता हुआ नखके वकला सरीखा कुळ लम्बाई लेता हुआ गोल पदार्थ अण्ड कहा जाता है। अर्थात् — ग्रुक्त और रक्तसे जीवका आद्य नोक्षम शरीर बनता है। उनके कुछ बचे हुये भागसे लीची फलके छिलका समान अण्डेका उपरिम कठोर भाग बन जाता है। पश्चात् बह अन्य आहार्य पदार्थीसे भी बनकर बढ़ता रहता है। उस अण्डेमें उत्पन्न हुये जीव अण्डज कहे जाते हैं। िकसी ढक्कनके विना ही परिपूर्ण अवयववाला होता हुआ योनिसे निकलते ही चलना, फिरना, आदि कियाओंके करनेकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहा शरीरी पोत कहा जाता है। कोई कोई जरायुज और अण्डजके समान पोतज शद्ध झट मुंहसे निकाल बैठते है, उनका कथन अयुक्त है। क्योंकि पोत और पोतजमें कोई अर्थका भेद नहीं है। यदि तुम यों कहो कि पोत नो शरीर है और उस पोतमें उत्पन्न हुआ आत्मा पोतज है, यों अर्थका भेद बन गया। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पोतजनमधारी शरीरके अनुसार उस आत्माका भी पोत परिणतिसे परिणाम हो जाता है। अतः आत्मा भी पोत समझा जाता है, पोतज नहीं। जरायुज और अण्डज तथा पोत इस प्रकार इतरेतरयोग नामक इन्द्र समास करनेपर "जरायुजाण्डजपोताः" यह सूत्र उक्तपद सिद्ध हो जाता है।

द्वंद्रे जरायुजग्रहणमादावभ्यिहतत्वात् कियारंभशक्तियोगात् केषांचिन्महाप्रभावत्वान्मार्ग-फल्लाभिसंबंधाच । तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यहितत्वात् । एतेषां गर्भ एव जन्मेति सुत्रार्थः ।

जरायुज, अण्डज, पोत, इन तीनों पदोंको चाहे केसे भी आगे पीछे बोलकर द्वन्द्व समास करने पर पूज्य होनेसे जरायुज शद्धका प्रहण आदिमें प्रयुक्त हो जाता है। जरायुज जीवोंके पूज्य होनेमें ये तीन कारण है कि बढिया कियाओंके आरम्भ करनेकी शक्तिका योग जरायुज जीवोंमें है। अर्थात् — उत्तम भाषा बोलना, अध्ययन करना, बड़े बड़े आविष्कार करना, अनेक ऋद्धियें प्राप्त करना, ये अद्भुत कियाये जरायुजोंमें है तथा जरायुजोंमें सभी तो नहीं किन्तु कोई कोई चक्रवर्ती, बासुदेव, रुद्र तपस्त्री आदि जरायुज जीव महान् प्रभाववाले होते हैं। तीस्मे सम्यन्दर्शन आदिक मोक्ष मार्गके फल हो रहे मोक्षसुखका परिपूर्ण सम्बन्ध जरायुजोंके ही पाया जाता है। अन्य जीव मोक्षके साक्षात् अधिकारी नहीं है। उस जरायुजके अध्यवित पीछे अण्डज जीवोंका प्रहण है। क्योंकि पोत जीवोंसे अण्डज जीव अभ्यहित है। अण्डजोंमें तोता, मैना, आदिक तो अक्षरोंका उच्चारणतक करते हैं। कबूतर, हंस, आदिक जीव तो कदाचित् दूतका कार्य भी कर देते हैं। कतिपय पक्षी तो शत्रके सद्भाव या ठीक प्रातःकाल समयको बता देना, आंधीकी सूचना देना, आदि कर्म करनेमें कुशल समझे जाते हैं। इन तीन प्रकारके जीवोंके गर्भ नामका ही जन्म होता है, यह इस सूत्रका अर्थ है।

उद्देशे च निर्देशो युक्त इति चेन्न, गौरवप्रसंगात् । शेषाणां संमूर्छनिमति लघुनोपायेन गर्भोपपादानंतरं वचनोपपत्तेः ।

कोई शंका करता है कि उदेशके अनुसार ही निर्देश करना उचित था। जब कि जन्मोंमें ही सम्मूर्छन जन्म पहिले कहा गया है तो सन्मूर्छन जन्मवाले जीवोंका सूत्रकारको प्रथम निरूपण करना

चाहिये । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेसे बड़े भारी प्रन्थगौरव दोष हो जानेका प्रसंग होगा । गर्भजन्म और उपपाद जन्मके अनन्तर शेषजीवोंके सन्पूर्छन जन्म होता है, इस प्रकार छघु उपाय करके निर्देश करना अच्छा बन जाता है । अर्थात्—यदि आदिमें सन्पूर्छन जन्मवाले जीवोंका कथन किया जाता तो एकेंद्रिय, दीन्द्रिय, प्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा कितने ही बहु भाग पंचेन्द्रिय तिर्यच और छब्ध्यपर्याप्त मनुष्यके सन्पूर्छन जन्म होता है । इतना छम्बा सूत्र कहनेसे शासका व्यर्थ बोझ बढ जाता । किन्तु दो प्रकारके जीवोका निरूपण कर, पुनः शेषोंके सन्पूर्छन जन्म होता है, यो थोडंसे अक्षरोंमें ही अधिक प्रयोजन सध जाता है ।

कुतः पुनर्जरायुजादीनां गर्भ एव युक्त इत्याह ।

जरायुज आदिक जीत्रोंके गर्भ ही होता है यो निधेय दलमें एवकार लगाना, फिर किस प्रमा-णसे युक्त सिद्ध कर दिया गया है ² बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि—

युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भीवधारणात् । देवनारकरोषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥ १ ॥

जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्भ जन्म मानना युक्त है। क्योंकि यों उद्देश्य दलमें एवकार द्वार् अवधारण कर देनेसे देव और नारको तथा शेष एकेन्द्रियादि जीवोंके गर्भके अभावका विचार कर लिया जाता है। तथा विधेय दलमें एवकार लगानेसे जरायुज आदि जीवोंके गर्भसे अतिरिक्त उपपाद और सम्मूर्छन जन्मोंका निपेध हो जाता है। अतः अन्ययोगव्यवच्छेदक और अयोग व्यवच्छेदक दो एवकारों द्वारा दोनों ओर ताले लगाकर अवधारण कर दिया है अथवा पहिला अवधारण ही लगाना ठीक है। " देवनारकाणामुपपादः" और "शेषाणां संमूर्छनं" इन सूत्रोंके उद्देश्य दलमें एवकार लगाना आवश्यक ही होगा। उसीसे ही यहाके "गर्भ एव" इस अवधारण द्वारा होने योग्य कार्यको साध लिया जावेगा।

यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु समसज्येत । यदा तु जरायुजादीनामंवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः।

कारण कि जरायुज आदिक जीनोंके गर्भ ही होता है, यदि इसी प्रकार निघंय दलके साथ एक्कार लगाकर अनधारण किया जाता तब तो जरायुज आदिक जीन अकेले गर्भ जन्मसे ही नियत होते, उनके सन्मूर्लन जन्म और उपपाद जन्मकी न्यावृत्ति हो जाती, किन्तु उन ही जीनोंमें गर्भ तो नियत न होता। अतः देन और नारकी तथा रेाष एकइन्द्रियादि जीनोंके भी नह गर्भजन्म प्रसंग प्राप्त हो जाता जोकि इहु नहीं है। हा, जन जरायुजादिकोंके ही गर्भ होता है यों पूर्व दलमें एन लगाकर अवधारण

किया जाता तब तो उन देवनारक और शेष जीवोंमें गर्मका अभाव निर्णीत किया जा सकता है। इस कारण जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्म होता है, यह अवधारण कर कथन करना युक्तिपूर्ण है।

केवलग्रुपपादेपि जरायुजादीनां प्रसक्तौ ताश्रिवारणार्थमिदमाइ।

अधवा " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः" इस सूत्रमे पूर्व अवधारण कर जरायुज, अण्डज, पोत, जीबोंके ही गर्भ होता है, यें। अर्थ करिवया जाय, तब तो केवल जरायुज आदिकोंके ही गर्भ हुआ, देन नारिकयोंके गर्भके प्रसंगका निवारण होगया, किन्तु जरायुज आदि जीबोंके दूसरे उपपादमें भी जन्म छेनेका प्रसंग आता है। क्योंकि विधेय दलमे अवधारण तो है नहीं। अतः उस प्रसंगका निवारण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते है।

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

देव और नारकी जीवोंके उपपाद नामका जन्म होता है।

स्याद्देवनारकाणामुपपादो नियतस्तथा । तस्याभावात्ततोन्येषां तेषां जन्मांतरच्युतेः ॥ १ ॥

देव और नारक जीवोंके तिस प्रकार उपपाद जन्म ही नियत हो जायगा। क्योंकि उन देव नार-कियोंसे भिन्न हो रहे दूसरे जीवोंके उस उपपाद जन्मका अभाव है। तिस कारण उन देव नारिकयोंके उपपादसे अतिरिक्त अन्य गर्भ, सन्मूर्छन जन्मोंकी निवृत्ति सिद्ध हो जाती है।

देवनारकाणामेवीपपाद इति हि नियमे देवनारकेषु नियत उपपादः देवनारकास्तूपपादे न नियता इति गर्भसंमूर्छनयीरिप प्रसक्ताः पूर्वीत्तरसूत्रावधारणात् तत्र निरवधारणोसौ । उपपाद एव देवनारका अवतिष्ठंतं न गर्भे संमूर्छने वा प्रसज्यते, ततस्तेषां जन्मांतरच्युतिसिद्धे-रुपषाद एव ।

चूंकि देव और नारिकयांके ही उपपाद जन्म होता है, ऐसा नियम कर देनेपर देव और नारकियोंमें ही उपपाद जन्म नियत हो जाता है। ऐसा होनेपर जरायुज आदिक और रोष जीवोंके उपपाद
जन्मकी व्यावात्ति हो जाती है। किन्तु देव और नारिक जीव तो उपपाद जन्ममें नियत नहीं हुये। इस
कारण गर्भ और सम्मूर्छम जन्मोंमें भी देव और नारिकयोंके उपज जानेका प्रसंग आ जाता है। हां,
वहां पूर्वसूत्र " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः " और उत्तर सूत्र " रोषाणां संमूर्छनं " इनमें उद्देश्यदलमें
अवधारण लगा देनेसे वह उपपाद जन्म अवधारणरहित होता हुआ ही प्रसंगको टाल देता है।
आगे पिछेके सूत्रोंमें अवधारण लगा देनेसे देव और नारिकी उपपाद जन्ममें ही उपस्थित रहते हैं।

गर्म अथवा संमूर्छनमें जन्म छेनेफ छिय प्रसंग प्राप्त नहीं हो पाते है। तिस कारण उन देवनारिकयोंके उपपादके सिवाय अन्य जन्मोंकी च्युतिकी सिद्धि हो जानेसे उपपाद जन्म ही नियत हो जाता है। इस सूत्रके विधेय दलमे एवकार लगानेकी आवश्यकता नहीं है, जैने कि पूर्व सूत्रके विधेय दलमें एवकार लगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी।

नन्त्रेतं जरायुजादीनां देवनारकाणां च संयुर्छनेपि प्रसक्तिरित्याख्यातं प्रतिघ्नकाह ।

यहां शंका है कि जब गर्भ एव, उपपाद एव, इस प्रकार दोनों सूत्रोंके विधय दलमे एवकार नहीं लगाया गया है तब तो जरायुज, अण्डज, आदि जीवोंका और देव नारिकयोंका संमूर्छन जन्म होनेमे भी प्रसंग आता है। भले ही उक्त दोनों सूत्रोके उदेश्य दलमें एवकार लगाकर जरायुजादिनकोंके उपपाद जन्मका निराकरण कर दिया जाय और देवनारिकयोंके गर्भजन्मका निवारण कर दिया जाय। किन्तु इन जीवोंके संम्मूर्छन जन्मका निवारण उन एवकारोंसे हो नहीं सकता है। इस प्रकारके भाषितका साटोप खण्डन करते हुये श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे है।

शेषाणां संमूर्छनं ॥ ३५ ॥

गर्भ जन्मवाले जीव और उपपाद जन्म धारनेवाल जीवोक्षे शेष बच रहे एकेद्रिय, द्वान्द्रिय आदि जीवोंके सम्मूर्छन जन्म होता है।

शेषाणामेव संमूर्छनिमत्यवधारणीयं। के पुनः शेषाः कुता वा तेपामेव संमूर्छनिमत्याह।

पूर्वोक्त दो सूत्रोके समान इस मूत्रके उद्देश्य दलमें भी एवकार लगाकर शेप जीवोके ही सम्मू-र्छन जन्म होता है यों अवधारण कर लेना चाहिये। कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराज बताओ, वे शेप जीव फिर कौन हैं ? और क्या कारण है कि उनके ही सम्मूर्छन जन्म माना गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अश्रिम वार्त्तिकको कहते है।

निर्दिष्टेभ्यस्तु शेषाणां युक्तं संमूर्छनं सदा । गर्भोपपादयोस्तत्र प्रतीत्यनुपपत्तितः ॥ १ ॥

निर्दिष्ट कर दिये गये जरायुज आदिकोंसे और देवनारकोंसे अतिरिक्त शेप बच रहे एकेन्द्रि आदि जीवोंके सर्वदा सम्मूर्छन जन्म होना ही युक्तिपूर्ण है । क्योंकि उन एकेन्द्रियादि जीवोंसे गर्भ जन्म. और उपपाद जन्मकी प्रतीति हो जाना सिद्ध नहीं है ।

उक्तेभ्यो जरायुजादिभ्यो देवनारकेभ्यश्च अन्ये शेषास्तेषामेव संमूर्छनं युक्तं सदा गर्भो-पपादयास्तत्र प्रतीत्यनुपपत्तः । तर्हि संस्वेदजादीनां जन्मप्रकारोन्यः मूत्रयितव्य इत्याशंकाम-पसारयकाह । कहे जा चुके जरायुज आदिक और देवनारक जीवोंसे अन्य बच रहे जीव यहां शेष जीव माने जाते हैं उन शेष जीवोंके ही सम्पूर्छन जन्म मानना समुचित है। क्योंकि उनमें गर्भ और उपपाद जन्मकी प्रतीति होना सर्वदा नहीं बनता है। यहां कोई पुनः शंका उठाता है कि तब तो जीवोंको अच्छा उपजानेवाले पसीना, कीच, आदिसे उपजते हुये स्वेदज, लट, जुंआं, डांस, आदि और भूमिको फोडकर निकले हुये उक्रिज्म, बृक्ष गुल्म आदि जीवोंका भिन्न चौथा जन्मका प्रकार न्यारे सूत्र हारा उमास्वामी महाराज करके कहना चाहिये ! इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण करते हुये श्री विधाननद स्वामी अगली वार्तिकको कहते हैं।

तथा संस्वेदजादीनामपि संमूर्छनं मतं । जन्मेति नापरो जन्मप्रकारो सूत्रितोस्ति नः ॥ २ ॥

तिन एकेदियादि रोष जीत्रोके समान उस ही प्रकारसे स्वेदज आदिक जीवोंके भी सम्मूर्छन जन्म माना गया है। इस क्रारण जन्मके तीन प्रकारोसे अन्य कोई चौथा, पांचवा, प्रकार हमारे जैन सिद्धान्तमें नहीं है। अतः सूत्रद्वारा हमने सूचित नहीं किया है।

इत्येवं पंचभिः सूत्रैः सूत्रितं जन्मजन्मिनां । भेदप्रभेदतश्चित्यं युक्त्यागमसमाश्रयं ॥ ३॥

यहातक इस प्रकारके " संमुळेन गर्भोपपादा जन्म, सिचचशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्त-चोनयः, जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः, देवनारकाणामुपपादः, शेषाणां संमूर्छनं " इन पांच सूत्रों करके जन्मवाले संसारी प्राणियोंका सूचन किया जा चुका है। युक्तिप्रमाण और आगम प्रमाणका अच्छा आश्रय रम्वते हुये विद्वानो करके मेद, प्रमेद, रूपसे उस जन्मका अन्य भी प्रामर्श कर लेना चाहिये। सूत्रमे तो संक्षेपसे ही प्रमेय कहा जा सकृता है।

अथ जीवस्य कति शरीराणीत्याह ।

हे करुणानिधान! अब यह बताओ कि संसारी जीवके कितने शरीर होते हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्टरूपसे कह रहे हैं।

औदारिकवैकियिकाहारकतैजसकार्मणानि श्रीराणि।३६।

ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्मण ये पांच शरीर है।

शरीरनामकर्मोदये सति शीर्येत इति शरीराणि । शरणिकयात्र व्युत्पत्तिनिमित्तं मद्दत्ति निर्मित्तं तु अरीरनामकर्मोदय एवोदितः शरीत्वपरिणामः न पुनरर्थोतरभूतशरी- इत्वसामान्यं तस्य विचार्यभाणस्यायोगात् ।

नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियों में गिनाये गये शरीर नामक कर्मका उदय होनेपर जो क्रिदने, मिदनेबाले पिण्ड बन जाते हैं, इस कारण ये पांच शरीर कहे जाते हैं। यहां शरीर शहमें शरण किया तो व्याकरण द्वारा शहकी साधता प्रतिपादक व्युत्पत्ति करनेका ही निमित्त है। रूढी किया व्युत्पत्ययेंब, किन्तु प्रवृत्तिका निमित्तकारण तो शरीर नामक अतीव्विय हो रहे नामकर्मका उदय ही कहा गया है, जो कि जैनसिद्धान्त अनुसार शरीरपना स्वरूप परिणाम है। जैनसिद्धान्तमें पीद्रिलिक शरीरसे सर्वथा भिन्न हो रहा नित्य एक और अनेकमें समवेत ऐसा शरीरत्व नामका सामान्य (जाति) नहीं माना गया है। क्योंकि उस वैशेषिकोंके यहां माने गये सामान्यका यदि विचार चलाया जाय तो उसकी सिद्धि होनेका योग नहीं बैठता है। मावार्थ— श्रृ हिंसायाम् धातुसे शरीर शह बनता है इसका अर्थ छिदना, भिदना, पिटना, नष्ट हो जाना है। यदि शहकी निरुक्तिको ही लक्षण मान लिया जाय तो घट, पटमें अतिव्यापि हो जायगी। अतः रूढि शहोंमें धात्वर्यरूप किया केशल ब्युत्पत्तिके लिये ही मानी गयी है। वस्तुतः लक्षणका बीज तो शरीर नाम कर्मका उदय ही है। वैशेषिकोंने शरीरत्वको एक विशेष जाति माना है, जो कि व्यापक, नित्य, एक और अनेकोंमें समवाय सम्बन्ध द्वारा वर्तनी है। पश्चात् संकरदोष आजानेके भयसे "चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वं " चेष्टाश्रयपनको शरीरत्व मानकर सखण्डोपाधि निर्णात किया है। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सदश परिणाम ही सामान्य है, जो कि शरीरसे अभिन्न है। सहश परिणामास्तर्वक् खण्डमुण्डादिष्ठ गात्ववत् (परीक्षामुख)।

केन पुनः कारणेन जन्मांतरं शरीराण्याद्वरित्युच्यते ।

किसीका प्रश्न है कि महाराजजी! यह बताओ कि किस कारणसे अन्य जन्म छेनेको प्राणियाँके शरीर कह देते हैं ? ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा यों समाधान कहा जाता है।

स्वयोनौ जन्म जीवस्य शरीरोत्पत्तिरिष्यते । तेनात्रौदारिकादीनि शरीराणि प्रचक्षते ॥ १ ॥

अपने अपने योग्य योनिमें जीवका जन्म लेना ही यहा शरीरकी उत्पत्ति मानी जाती है। कारण औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीर है यों आचार्य महाराज बढिया ढंगसे स्पष्ट कह देते हैं।

औदारिकादिशरीरनामकर्मविशेषोदयापादितानि पंचैत्रौदारिकादीनि शरीराणि जीवस्य यदुत्पत्तिः स्त्रयोनौ जन्मोक्तं, न हि गतिनामोदयमात्रं जन्म, अनुत्यक्षशरीरस्यापि तत्रसंगात् ।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृति शरीरसंज्ञक है। उस शरीर प्रकृतिके उत्तर भेद १ औदारिक शरीर नामकर्म २ वैक्रियिक शरीर नामकर्म ३ आहारक शरीर नामकर्म ४ तैजस नामकर्म और ५ कार्मण नामकर्म, ये पांच हैं। आहार वर्गणाको उपादान कारण मानकर और औदारिक नामकर्म, वैक्रियिक नामकर्म, आहारक नामकर्म, इन पौद्रलिक अतीन्द्रिय प्रकृतियोंको अंतरंग निमित्त पाकर व्यक्त, अव्यक्त,

पुरुषार्थ द्वारा जीवके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, ये तीन शरीर बन जाते हैं। तैजस नामकर्मका अन्तरंग निमित्त पाकर तैजसवर्गणा जीवके अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा तैजस शरीररूप परिणत हो जाता है। तथा आत्मामें बंधे द्व्ये पूर्वकाल संचित कार्मण शरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर जीवके अव्यक्त पुरुषार्थसे योगद्वारा गृहीत हुई कार्मण वर्गणायें ही कार्मण शरीर बन बैठती हैं, यों औदारिक आदि शरीर नामकर्मिविशेषोंके उदय होनेपर आत्मलाम कर चुके, औदारिक आदि पांच ही शरीर जीवके हैं। जिनकी कि उत्पत्ति हो जाना ही जीवका स्वकीय योनिमें जन्म कहा जा चुका है। केवल गतिनामकर्मका उदय ही जन्म नहीं है, अन्यथा यानी गतिनामकर्मके उदयको यदि जन्म मान लिया जायगा तो विम्नह गतिमें जिस जीवके नोकर्म शरीर उत्पन्न नहीं हुआ है, उसके भी जन्म होनेका मसंग हो जायगा। यद्यपि पूर्वशरीरको छोडते ही झट परभवकी आयुका उदय हो जाता है। विम्नहगतिमें जो एक दो या तीन समय लगते हैं, वे परभव सम्बन्धी गिनतिके आयुक्य निषेकोंमें परिगणित है। फिर भी स्वयोनियोंमें नोकर्मशरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ हो जानेपर जीवका जन्म माना गया है, गतिका उदय तो जन्म हो चुक्तनेपर मध्य अवस्थामे भी है। किन्तु जन्म और मरणके बीचमें तो पुनः जन्म नहीं माने जाते हैं।

तत्रोदारं स्थूलं प्रयोजनमस्येत्यौदारिकं उदारे भवमिति वा, विक्रिया प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकमाद्रियते तदित्याद्दारकं, तेजोनिमित्तत्वात्तेजसं, कर्मणामिदं कार्मणं तत्समूहो वा एतेषां द्वंद्दे, पूर्वमौदारिकस्य प्रदृणमतिस्थूलत्वात् उत्तरेषां क्रमवचनं स्रक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थे ।

उन शरीरोंमें पिहले औदारिक शरीरकी न्युत्पत्ति यों करनी चाहिये कि उदार शब्दका अर्थ स्थूल है, जिस शरीरका प्रयोजन स्थूलपन है इस कारण वह औदारिक है अथवा उदार यानी स्थूल में जो उपजनेवाला है इस कारण वह औदारिक शरीर है। उदार शब्दसे प्रयोजन अर्थ अथवा मय अर्थमें ठन प्रत्यय कर औदारिक शब्द बना लेना चाहिये। छोटा बढ़ा, लम्बा, नाना प्रकार शरीर कर लेना, विक्रिया है। जिस शरीरका प्रयोजन विक्रिया करना है इस कारण वह वैक्रियिक है। विक्रिया शब्दसे प्रयोजन अर्थमें ठन प्रत्यय कर वैक्रियिक शब्द साथ लेना चाहिये। छटे गुणस्थान वर्त्ती मुनि करके तत्वमें सन्देह होनेपर निर्णय करनेके लिये जो शरीर आहार प्राप्त किया जाता है, इस कारण वह आहारक शरीर है। आङ्पूर्वक ह धातुसे कर्ममें खुल प्रत्यय करनेपर आहारक शब्द बन जाता है। शरीरमें तेज उपजानेका निमित्त होनेसे तैजस शरीर है, तथा कर्मोका बनाया हुआ यह ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म समुदायक्ष्प शरीर अथवा उन कर्मोका समृह कार्मण है। तेजस् शब्द और कर्मन् शब्दसे अण् प्रत्ययक्षर तैजस और कार्मण शब्दोंकी सिद्धि कर लेना चाहिये। इन औदारिक, वैक्रियिक, आहार क्र, तैजस, कार्मण, पदोंका इतरेतरयोगद्वन्दसमास करनेपर सबके आदिमें औदारिकपदका प्रहण हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक शरीर अधिक स्थूल है। चोडा, बैल, पक्त, कीट, पतंग, मनुष्य आदिके स्थूल शरीरोंका बहिरंग इन्दियों द्वारा प्रहण हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक शरीर अधिक स्थूल है। चोडा,

है। हां, उत्तरवर्ती वैकियिक आदिकोंका कमशः पाठ पढना तो कम कमसे सूक्ष्मताकी प्रतिपत्तिके लिये है, जो कि अप्रिम सूत्र द्वारा उत्तरोत्तर शरीरोको सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, अतिसूक्ष्म, कृषसे कृष्टा ही जायगा।

कार्मणग्रइणमादौ युक्तमौदारिकादिशरीराणां तत्कार्यत्वादिति चेन्न, तस्यात्यंतपरोक्षत्वात् । जीदारिकमपि परोक्षमिति चेन्न, तस्य केषांचित्मत्यक्षत्वात् । तथाहि—

किसीकी शंका है कि सभी शरीरोंका अधिष्ठाता, निमित्त, जन के, आदि होनेसे पिताके समान प्रधान कार्मणशरीरका आदिमें प्रहण करना समुचित्त है। क्योंकि औदारिक आदिक पांचो शरीर उसके कार्य हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह कार्मणशरीर अत्यन्त परीक्ष है। जैसे प्रत्यक्ष योग्य घट आदि कार्यों करके अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार औदारिक आदि अथवा सुख, दुःख, आदिकी विचित्रताओंकी उपलिश्वसे अतीन्द्रिय कार्मण शरीरका अनुमान कर लिया जाता है। अतः ऐसे सूक्ष्म या अतीन्द्रिय पदार्थकी सर्व साधारण प्राणियोंमें प्रधानता नहीं मानी जाती है। अतः अधिक मोटा औदारिक ही सबको प्रधान, भाग्यशाली, प्रतीत हो रहा है। कोई पुनः शंका करता है कि साधारण जीवो या मूक्ष्म जीवों अथवा छोटे छोटे दीन्द्रिय आदिकोंके औदारिक शरीर भी तो परोक्ष है। इनमें बहुतसे बहिरिन्दियों द्वारा नहीं देखे जा सकते है प्रम्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस औदारिकका किन्हीं किन्हीं जीवोको तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इसी बातको प्रमाण द्वारा साधते हुये प्रन्थकार यों प्रसिद कर दिग्वाते है।

सिद्धमौदारिकं तिर्यञ्चानुषाणामनेकथा । शरीरं तत्र तन्नामकर्भवैचित्र्यतो बृहत् ॥ २ ॥

उन शरीरोंमें सृष्टा नामकर्मकी विचित्रतासे अनेक प्रकारका और मोटा हो रहा वह तिर्यच और मनुष्योंका औदारिक शरीर सिद्ध ही है।

बृहद्धि अरीरमौदारिकं मनुष्याणां तिरश्यां च प्रत्यक्षतः सिद्धं तेषु शरीरेषु मध्ये। तचा-नेक्था तम्रामकर्मणोनेकविधत्वात् ।

कारण कि उन पांच शरीरोंके मध्यमें प्रथम प्रोक्त मनुष्य और तिर्यंचोंका मोटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध ही है और वह औदारिक शरीर बृक्ष, वेछ, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंगा, मिट्टी, ाछ, आदि ढंगका अनेक प्रकार है। क्योंकि उसके कारण हो रहे नामकर्मके अनेक प्रकार हैं। कारणोंकी विचित्रतासे विचित्र कार्य उपज जाते हैं।

शेषाणि कृतः सिद्धानीत्याह।

किन्हीं किन्हीं जीवों ना मीटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्ष प्रमाणिसे सिंद्ध किया किन्तु शेष वैक्रियिक आदि शरीर भला किस प्रमाणसे सिंद्ध हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं ।

संभाव्यानि ततोन्यानि बाधकाभावनिर्णयात्। परमागमसिद्धानि युक्तितोपि च कार्मणं॥ ३॥

उस स्थूळ औदारिकसे मिन्न हो रहे सूक्ष्म औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारेक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर तो वायक प्रमाणोंक अभावका निर्णय हो जानेसे संभावना करंछेने योग्य है, अर्थात् अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है, बथा वे शरीर आसोक्त परम आगमसे भी सिद्ध हैं, और कार्मणशरीर तो युक्तियोमे भी सिद्ध हो जाता है।

नतु कर्मणामिदं कार्मणमित्यस्मिन् पक्षे सर्वमौदारिकादि कार्मणं पसक्तमिति चेन्न, प्रतिनियतकर्मनिमित्तत्वात् तंषां भेदोपपत्तः । कर्मसामान्यकृतत्वादभेद इति चेन्न, एकमृदादि-कारणपूर्वकस्यापि घटोदंचनादेभेददर्शनात् कार्मणप्रणालिकया च तन्निष्यत्तिः स्वापादान-भेक्द्रदः प्रसिद्धः ।

यहां किसीकी शैका है कि अतीन्द्रिय कमींके द्वारा बनाया गया यह कामीण शरीर है, "तस्येदम् " इस सूत्र करके तिद्वितमें कर्मन् शद्धसे अण् प्रत्यय करनेपर "कामीण " शद्ध साध-जाता है। यो इस पश्चमें सभी औदारिक, वैकियिक, आदि शरीरोंको बड़े अच्छे ढंगसे एकंसा कामीण शरीर बनजानेका प्रसंग प्राप्त हुआ। क्योंकि सभी शरीर पूर्वोपार्जित कर्मोंको सामध्येसे गढ़े गये हैं। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि प्रत्येकके छिये न्यारे न्यारे नियत हो रहे कर्मोंको निमित्त मानकर उपजना होनेसे उन शरीरोंका मेद सिद्ध हो जाता है। भावार्थ—इस दृश्यमाण औदारिक शरीरका निमित्त न्यारा अदृश्य औदारिक शरीरका निमित्त पृथक् ही वैकियिक शरीरका है, आहारकका निमित्त आहारक शरीरका है। तेजस शरीरका निमित्त पृथक् ही वैकियिक शरीरका है, आहारकका निमित्त आहारक शरीरका है। तेजस शरीरका निर्माण निमित्त अख्या ही तेजसशरीर नामकर्म हैं और एकसी अडताळीस प्रकृतियोंका पिण्ड हो रहे कार्मण शरीरका निमित्त तो एकसी अडताळीस प्रकृतियोंको एक कार्मण शरीरनामक नामकर्म हैं। मंजका पूरा मंजसे ही बांचा जाता है। पुनः किसीकी शंकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि मही, कुम्हार, चाक, डोरा, आदि एक कार्यणेद्वारा पूर्ववर्ती होकर बनाये गये घडा, घडिया, दीवळा, सकीरा, भोछुआ, आदिका भेद देखा जाता है। कारणोंकी विशेषताओंसे हो रहे न्यारे कार्योंको सामान्य कारण फिर अभेदकी और नहीं झुका सकता है। बस्तुतः भिन्न भिन्न भन्न कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्य उपजेते

हैं। कार्मणशरीरकी प्रणालिका (द्वार) करके उन शरीरोंकी निष्पत्ति हो जाती है। अतः निमित्त नैमित्तिक भेदसे उन शरीरोंका पृथ्यभाव है। और एक बात है कि अपने अपने उपादान कारणोंके भेदसे उन शरीरोंका भेद प्रसिद्ध हो रहा है। अर्थात्—उपादानकारण आहार वर्गणासे जीवका औदारिक, वैकियिक और आहारक शरीर बन जाना है। तेजीवर्गणाका विवर्त्त तैजस शरीर है और कार्मणवर्गणाका उपादेय कार्मण शरीर है।

पृथगुपलंभमसंग इति चेन्न, विश्वसोपचयेन स्थानात् क्रिन्नगुडरेणु क्षेत्रवदौदारिकादीनां कार्मणनिमित्तस्वे कार्मणं किं निमित्तमिति वाच्यं १ न ताविन्निर्निमित्तं तदिनिर्मोक्षमसंगादभाव-मसंगाद्दा अरीरांतरिनिमित्तत्वे तु तस्याप्यन्यशरीरिनिमित्तत्वेऽनवस्थापित्तिरिति चेन्न, तस्यैव निमित्तभावात् । पूर्वे हि कार्मणं कार्मणस्य निमित्तं तदिप तदुत्तरस्येति निमित्तनैमित्तिक-भावोऽविरुध्यते, न चैवमनवस्थापित्तः कार्यकारणभावेन तत्संतानस्यानादेरिवरोधात् ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि न्यारे न्यारे उपादान कारणोसे जब पांच शरीर भिन्न भिन्न निष्पन्न (तैयार) हुये है तो उनके पृथक् प्रथक् उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा। किन्तु यथासम्भव पाये जानेवाले औदारिक, तैजस, कार्मण, या वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, आदि शरीर प्रथक प्रथक तो नहीं दीख रहे हैं। आचार्य कहते है कि यह कटाक्ष नहीं करना। क्योंकि विससोपचय करके उन शरीरोका अवस्थान हो रहा है। जैसे कि स्वाभाविक परिणामसे गीले गडपर छोटी छोटी धूल चुपटकर अवस्थित हो जाती है, उसी प्रकार कार्मण शरीरमें औदारिक आदिकोका विस्नसोपचय-रूपसे अवस्थान हो रहा है, अतः उनमें नानापन सिद्ध है। भावार्थ—जैसे गीले गुडमें भूल चुपट जाती है, उसी प्रकार प्रवाहरूपसे अनादिकाळीन संचित हो रहे कार्मण शरीरमे नोकर्म शरीर लग बैठते हैं। पुनरपि कर्म, नोकर्म, शरीरोंके ऊपर '' जीवादोणन्तगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससो वचया, जीवेण य समवेदा एककेक्कं पडिसमाणा हु '' इस गाथानुसार विस्नसोपचय लदा रहता है । पनः किसीका आक्षेप है कि औदारिक, बैकियिक, आदि शरीरोका निमित्तकारण यदि कार्मण शरीर माना जायगा तो फिर कार्मण शरीरका निमित्त कारण क्या होगा ? यह कहो। वह कार्मण विचारा निमित्तकारणसे रहित तो नहीं है। अन्यथा यानी कार्मणको निमित्तरहित माननेपर उसकी मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग आवेगा । जिस सत् पदार्थका हेतु नहीं है, उस निख पदार्थका कभी विनाश नहीं हो सकता है।ऐसी दशामे किसी भी जीवकी मोक्ष नहीं हो सकेगी।सदा कर्म चिपके रहेंगे। तथा एक बार कर्मंपिण्डसे मुक्ति पा जानेपर भी पनः कर्म चिपट जायंगे । उनका कोई निमित्तकारण मिथ्यादर्शनादि तो अपेक्षणीय है ही नहीं। क्यों कि आप उन कमीं को निर्निमित्त मान चुके हैं अथवा कार्मण शरीरका निमित्त यदि कोई हेत् नहीं माना जायगा तो खरविषाण के समान उस कार्मण शरीरके अभावका प्रसंग होता । इन दो दोघोंको टाळनेके छिये कार्मणशरीरका निमित्त यदि दूसरा शरीर माना जायगा तब तो उस

दूसरे शरीरका भी निमित्तकारण न्यारा तीसरा शरीर एवं तीसरेको चौथा और चौथेको पांचवां आदि निमित्त कारणोंकी कल्पना करते करते कहीं दूरतक भी ठइरना नहीं होनेसे अनवस्था दोष हो जानेकी आपीत है। प्रत्थकार कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि कार्मण शरीरका निमित्त वहीं कार्मण शरीर है। वर्तमान कार्मण शरीरका निमित्त पूर्वसंचित कार्मण और वह वर्तमान कार्मण शरीर भी उसके उत्तरकालमें होनेवाल कार्मणशरीरका निमित्त बन नता है। इस ढंगसे संतानरूप करके निमित्त नैमित्तिक भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। रुपयोंसे रुपया उपजता है। मनुष्य मनुष्यका निमित्त है। पठन पाठन व्यवस्था बहुत दिनसे चली आ रही है। इसी प्रकार बीजांकुर न्यायसे कार्मण शरीरकी धारा बहरही हैं। यदि कोई यो पूंछ बैठे कि इस प्रकार तो अनवस्था दोष हो जानेकी आपत्ति है, आचार्य कहते है कि यह अनवस्था दोष नहीं है। क्योंकि उन कर्मोकी धारावाहिक अनादिकालीन सन्तानका कार्यकारणमाव करके चले आनेमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात्—अनवस्था सर्वत्र दोष नहीं है। कचित्त गुण भी है। व्यक्त या पार्पोको छोडकर प्रायः सभी दोष लौकिक अवस्थाओंमें कदाचित् गुणस्वरूप परिणम जाते हैं। अन्योन्याश्रय, अनवस्था, संकर, विरोध, अभिमान, संशय, अज्ञान, धनाभाव, इत्यादिक दोषाभास कई स्थलोपर गुण हो जाते हैं तथा पण्डिताई, एकता, धन, शीघता, कार्यदक्षता, प्रशंसा, यौवन, अधिकार दीर्घदर्शिता ये लौकिकगुण अनेक स्थलोपर दोष गिने जाते है। कार्यकारण भावकी रक्षा कर रही अनवस्था यहां गुण है।

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच नानिमित्तं कामणं ततो नानिर्मोक्षप्रसंगः । तचैवंविधं पर-माननात्सिद्धं वैक्रियिकादिवत् युक्तितश्च यथाप्रदेशं साधियष्यते ।

एक बात यह भी है कि मिध्यादर्शन, अविरित, आदि निमित्तकारणों द्वारा उपजना होनेसे कार्मण शरीर निमित्तरिहत नहीं है, तिस कारण उसके निश्शेष रूपसे मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग नहीं आता है। अर्थात्—कार्मण यदि निमित्तरिहत होता तो किसीकी भी मोक्ष नहीं हो पाती यह प्रसंग टळ गया और तिस कारण इस प्रकारका वैक्रियिक आदिके समान वह कार्मण शरीर सर्वज्ञप्रतिपादित परम आगमसे सिद्ध हो जाता है तथा युक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है। प्रकरण आनेपर यथायोग्य प्रदेश प्रन्थस्थळमें वह कार्मणशरीर युक्तियोंसे साथ भी दिया जायगा। शीष्रता न करो।

नजु यद्यौदारिकं स्थूछं तदा परं परं कीद्दशमित्याह

यहां किसिका प्रश्न है कि यदि औदारिक शरीर स्थूल है तो परले परले वैक्रियिक आदिक शरीर मला कैसे हैं ! बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं !

परं परं सुक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

सूत्रमें पढ़े गये अनुसार औदारिकसे परले, परले, वैक्रियिक आदिक शरीर गढन्तकी अपेक्षा सूक्ष्म सूक्ष्म हैं। औदारिकसे सूक्ष्म वैक्रियिक है और वैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है। आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण अतिशय सूक्ष्म हैं।

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः पृथग्भूतानां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः तेनीदारिकात्परं वैकियिकं सूक्ष्मं न स्थूलतरं, ततोप्याहारकं, ततोपि तेजसं सूक्ष्मं, ततोपि कार्मणमिति संप्रतीयते ।

पर शह्नके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट, शत्रु, ऐसे कई अर्थ हैं। किन्तु अनेक अर्थ होनेपर भी यहां विवक्षासे व्यवस्था अर्थ जाना जाता है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन, संख्या, आदि करके पृथक् पृथक् हो चुके भी शरीरोंका सूक्ष्म गुणके साथ वीप्सा करके कथन किया गया है। उस वीप्सा निर्देशसे यों मले प्रकार प्रतीति कर ली जाती है कि औदारिकसे परले ओरका वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, किन्तु मोटे औदारिकसे वैक्रियिक शरीर और भी अधिक मोटा नहीं है, उस वैक्रियिकसे भी आहारक शरीर सूक्ष्म ढंगसे रचा गया है, उस आहारकसे भी तैजसशरीर सूक्ष्म है तथा उस तैजससे भी कार्मण शरीर सूक्ष्म है। रुई, तेल, वायु, अग्निज्वाला, विख्तामा, विजलीका करन्ट, की पौद्रलिक रचनाओं में जिस प्रकार सूक्ष्मना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार शरीरों लगा लेना चाहिये।

मदेशतः परं परं कीदृगित्याह ।

पुनः किसीका प्रश्न है कि पांचों शरीर उत्तरोत्तर जब सूक्ष्म हैं, तब तो परछे परछे शरीर विचारे प्रदेशोंसे भी न्यून होवेंगे। यदि प्रदेशोंसे न्यून नहीं है तो बताओ प्रदेशोंकी अपेक्षा परछे परछे शरीर किस ढंगके रचे हुये हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं। कर्णकुहरको पवित्र करते हुये उसको सुनियेगा।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात् ॥ ३८ ॥

अवगाहकी अपेक्षा नहीं किन्तु परमाणुस्वरूप प्रदेशों करके उत्तरोत्तरशरीर ये तैजस शरी-रसे पहिछे पहिछे असंख्यात गुणे हैं । अर्थाच्—पल्यका असंख्यातवां भागरूप असंख्यात यहां असंख्यात शद्धेस पकडा गया है । औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुणे परमाणु वैक्रियिक शरीरमें के परमाणुओंसे आहारक शरीरके परमाणु असंख्यात गुणे अधिक हैं ।

प्रदेशाः परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणं परंपरितयभिसंबंधः । प्राक्तेजसादिति वचनात् न तैजसकार्मणयोरसंख्येयगुणत्वं । किं तर्हि १ औदारिकाद्वैकियिकं प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं तती-प्याहारकमिति निश्चयः ॥ जिन करके आकाश आदिकोंका क्षेत्रविभाग संकेतित किया जाय अथवा जो स्वयं घट आदिकोंमें अवयवपने करके निर्दिष्ट किये जायं वे परमाणु यहां प्रदेश कर जाते हैं, परले परले उत्त-रोत्तर शरीर उन प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं। इस प्रकार वाक्यका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर लेना चाहिये। सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने " तैजस शरीरके पाहिले" यों कण्ठोक्त निरूपण किया है। इस कारण तैजस और कार्मण शरीरमें असंख्यात गुणपन नहीं है तो फिर सूत्रकारका अभिप्राय क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर यों निश्चय करलेना चाहिये कि औदारिकसे वैकियिक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा है, और उस वैकियिकसे भी आहारक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा अधिक है।

तैजसकार्मणे किंगुणे इत्याह।

आदिके तीन शरीरोंमें वर्तनेवाछे दो असंख्यात गुणोंका निरूपण किया, अब यह बताओ कि अन्तके तैजस और कार्मणशरीर भछा प्रदेशोंकी अपेक्षा किस गुणाकारको धार रहे हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्ट रूपसे कहते हैं।

अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकशरीरसे तैजस शरीरमें परमाणु अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीर जितने परमाणुओंसे बना हुआ है उनसे अनन्तगुणे परमाणुओं करके कार्मणशरीर सम्पन्न हुआ है यहां अनन्तका अर्थ अभन्य जीवोंसे अनन्तगुणा और सिद्ध जीवोंके अनन्तमें भागस्वरूप कोई मध्यवर्ती जिनदृष्ट अनन्त (संख्या) छिया गया है। अतः पिछछे दो तैजस और कार्मण शरीर परमाणुओं सद्भावकी अपेक्षा अनन्त गुणे हैं।

मदेशतः इत्यञ्जवतेते परं परमिति च, तेनाहारकात्परं तैजसं मदेशतोऽनंतगुणं ततोपि कार्मणमनेतगुणमिति विद्यापते । तत एव नोभयोस्तुल्यत्वमाहारकादनंतगुणत्वाभावात् । अन्यदेव हि आहारकादनंतगुणत्वं तेजसस्य, तेजसाचान्यत् कार्मणस्य तस्यानंतविकल्पत्वात् ।

पूर्वके " प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात् " सूत्रसे प्रदेशतः इस पदकी अनुवृत्ति कर ही जाती है। और " परं परं सूक्ष्मं " सूत्रसे " परं परं " इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है। तिस कारण सूत्रवाक्यका अर्थ विशेषरूपसे यों जान हिया जाता है कि आहारक शरीरसे परहा तैजस शरीर प्रदेशोंकी अपक्षा अनंतगुणा है और उप तैजस शरीरसे भी परहा कार्मणशरीर उसके आद्यजनक परमाणुओंकी गणना करनेपर अनन्त गुणा है। तिस ही कारणसे दोनोंकी तुल्यता नहीं हुंथी। क्योंकि आहारकसे अनन्तगुणपना दोनोंमें एकसा नहीं है। अर्थात्—परहा परहा कह देनेसे तैजस और कार्मण दोनों शरीरोंमें परमाणुआंकी संख्या तुल्य नहीं ठहरती है। आहारकसे अनन्तगुणा

तैजस है, किन्तु आहारकसे अनन्तानन्तगुणा कार्मण है। मले ही सामान्यरूपसे कार्मण शरीरको आहारक या तैजससे अनन्तगुणा कह दिया जाय, किन्तु उस अनन्तके प्रकार अनंतानन्त हैं। आहारक शरीरसे तैजसशरीरका अनन्तगुणपना भिन्न ही है और तैजस शरीरसे कार्मणशरीरका अनन्तगुणा निराला ही है। पांच रुपयोंसे एक हजार हो जानेपर सैकडों गुणी वृद्धि कही जाती है। और चार हजार हो जानेपर भी सैकडों गुणी बढवारी समझी जाती है।

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात्परे इति निर्देशो न प्रसञ्यते बुद्धिविषयञ्यापारा-दुभयोरपि परत्वोपपत्तेः । व्यवहितेपि वा परश्चक्षपयोगात् ।

यहां किसी जिज्ञासका आक्षेप है कि भले ही सैकडों, हजारों, पदार्थ क्यों नहीं होय, परशद्भसे अन्तका एक ही पकडा जावेगा, जैसे कि छाखोंमेंसे आद्य एक ही छिया जाता है। अतः " आदे " या " परे " इस प्रकार द्विवचनान्त पदका प्रयोग करना ही अलीक है। " परापरे " कह सकते हो। परछे एक कार्मण शरीरके होते सन्ते उसके निकट पूर्ववर्ती तैजस शरीरको परपना नहीं प्राप्त होता है। इस कारण तैजस और कार्मणके लिये सूत्रमें मूत्रकार द्वारा प्रयुक्त किया गया द्विवचनान्त ''परे'' यह यों कथन करना प्रसंगप्राप्त नहीं हो पाता है। एक बचनांत ''परम् '' शद्ध कहना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग उठाना ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धिके विषय हो रहे व्यापारते दोनों तैजस, कार्मण शरीरोंको भी परपना बन जाता है। अर्थात-परार्थोंकी परिणति तम कहते हो बैसी ही है। आच पदार्थ या पर पदार्थ एक ही हो सकता है। किन्त अपनी अपनी बुद्धिक विचार अनुसार दो, चार, दस, बीस, पदार्थ भी आद्य या पर केहे जा सकते हैं। जैसा मनमें विचार छिया जाता है बैसा बिहर्रगमें व्यवहार कर दिया जाता है। अपनी अपनी बृद्धि विचारोंके सभी जीव स्वायत्त शासन करने-वाले राजा हैं। अतः दोनों शरीरोंमें भी वृद्धिकृत परत्व संघ जाता है। बुद्धिमें तिरछा फैळाकर आहारसे परले दो तैजस, कार्मण, शरीरोंको " अनन्त गुणेका " व्यपदेश है। शहके उच्चारणके क्रमसे दो में परपना कथमपि नहीं आ सकता है। दूसरी बात यह है कि व्यवधान युक्त पदार्थमें भी पर शहूका प्रयोग हो रहा देखा जाता है। जैसे कि काशीसे सम्मेदशिखर तीर्थ परे है, उसी प्रकार यहां आहारकसे तैजसको परत्व समुचित है। साथमें तैजससे व्यवधानको प्राप्त हो रहे भी कार्मणको आहारककी अपेक्षा परपना है।

नतु च यदि प्रदेशापेक्षया परं परवसंख्येयगुणपनंतगुणं चोच्यते सूक्ष्मं कथमित्याह ।

यहां कोई शंका करता है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा करके यदि परले, परले, शरीरोंको असंख्यात गुणा और अनन्तगुणा कहा जाता है तो ऐसी दशामें वे परले परले शरीर सूक्ष्म कैसे कहे जा सकेंगे ? परमाणुओंके बढ जानेसे परले, परले शरीर लम्बे चींडे महान् बन बैठेंगे, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

क्षेत्रावगाहनापेक्षां कृत्वा सूक्ष्मं परं परं । तैजसात्प्रागसंख्येयगुणं ज्ञेयं प्रदेशतः ॥ १ ॥ स्थूलमाहारकं विद्धि क्षेत्रमेकं विधीयते । तथानंतगुणे ज्ञेये परे तैजसकार्मणे ॥ २ ॥

यद्यपि प्रदेशोकी अपेक्षा तैजससे पाहिके औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर उत्तरोत्तर असंख्यात गुणें हैं तो भी क्षेत्रके अवगाहकी अपेक्षा करके परले परले शरीर सूक्ष्म समझ लेने चाहिये। औदारिक शरीर स्थूल है, इससे वैक्रियिक सूक्ष्म है, और वैक्रियिक तो स्थूल है। इससे आहारक सूक्ष्म है। तथा हस्तप्रमाण एक क्षेत्रको अनन्तानन्त परमाणुओं द्वारा बनकर अपना आधार कर रहे आहारक शरीरको स्थूल समझो। इसकी अपेक्षा परले तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणे समझ लेने चाहिय। अर्थात्—जैसे कि पांच सेर रुईको कितना भी दबा दिया फिर भी दश सेर लोहेका गोला बहुत प्रदेश होनेपर भी अल्प परिमाणवाला रहता है। लोहेसे सोना, या पारा छोटे परिमाणवाला है। अतः परमाणुओंके अन्यधिक होनेपर भी अवगाहनकी अपेक्षा छोटे क्षेत्रोंमें वे समाजाते हैं। जस्तेको अग्निमें जलाकर फूला हुआ बहुत सफेदा बना लिया जाता है।

तर्हि समतिघाते ते माप्ते इत्याइ।

किसीका प्रश्न है कि तैजस और कार्मण शरीरमें जब परमाणुएं ठसाठस खचित हो रही हैं, तब तो वे तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात सिहत प्राप्त हुये। देखिये, मूर्तिमान सघन बाण यदि वृक्ष या पाषाणसे टकरा जाता है तो वेग अनुसार थोडा घुसकर पुनः रुक जाता है। इसी प्रकार तैजस और कार्मण भी मूर्तिमान द्रव्यसे टक्कर खाकर रुक जावेंगे ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको उतारते हैं। इस सूत्रका अर्थ समझियेगा।

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

किसी मोटेसे मोटे भी पदार्थका अमूर्त पदार्थके साथ व्याघात होता नहीं है। किन्तु सूक्ष्म परि-णाम होनेसे मूर्त भी तैजस और कार्मण शरीरका किसी मूर्तिमान् पदार्थके साथ भी व्याघात नहीं हो पाता है। पर्वत, नदी, भूभियां, वज्रपटल, सूर्य, चन्द्रमा, आदिको व्याघात नहीं पहुंचा कर और स्वयं िलन, भिन्न, नहीं होते हुये तैजस, कार्मण, शरीर सर्वत्र चले जा सकते हैं। मरकर केवल तैजस और कार्मण शरीरको धार रहे संसारी जीवकी तीन लोकमें कहींसे कहीं भी गति रुक नहीं सकती है। अतः तैजस और कार्मणशरीर प्रतीघातरहित हैं।

परीयाती मूर्त्येत रव्यायातः स न त्रियते ययास्ते अपतीयाते तैजसकार्मणे । कुत इत्याह ।

प्रतीघात शद्धका अर्थ अन्यं पूर्त पदार्थीस टकरा कर व्याधालकी प्राप्त हो जाना है। वह गिर जाना या छिन्न भिन हो जाना अथवा रुक जाना कोई सा भी प्रतीघात जिन शरीरोंके विद्यमान नहीं है वे तैजस और कार्मणशरीर "अप्रतीघात " माने जाते हैं। कोई सविनय प्रश्न करता है कि यह अप्रतीघात किस कारणसे हैं ! ऐसी जिल्लासा होनियर श्री विद्यानन्द आर्थीर्थ उत्तरवातिकों कहते हैं।

सर्वतोप्यप्रतीघाते परिणामनिमित्ततः । न सर्वतो प्रतीघाते परिणामनिशेषतः ॥ १॥

तैजस और कार्मणशरीरका परिमाण इस ढंगका सूक्ष्म है जिस कारण कि निमित्तसे वे तैजस, कार्मण शरीर सभी स्थानोंमें प्रतीघात रहित हैं, परिणाम विशेष होनेसे। दूसरे वैकियिक और आहारक शरीर सर्वतः प्रतीघातरहित नहीं हैं। अर्थात्—शैकियिक शरीर त्रसनाठीमें यथायोग्य कुछ योजन या डेड राजू चार, पांच, छह, राजू, तेरह राजूतक गमन करनेकी शक्ति रखता है। आहारक शरीर ढाई द्वीपमें सर्वत्र अप्रत्याहत जा सकता है, इससे बाहर जानेपर वैकियिक या आहारक शरीर टूट, इटकर, नष्ट अष्ट हो जायगा, जा ही नहीं सकेगा। किन्तु तैजस और कार्मण शरीरकी परिणित उन सूक्ष्म विशेषताओंको लिये हुये हैं, जिनसे कि वे लोकमें सर्वत्र विना रोक टोकके अक्षुण्ण चले जाते हैं।

वैक्रियिकाद्दारकयोरप्यमतीयातत्विमिति न मंतव्यं, सर्वतोऽभतीघातस्य तयोरभावात् । न हि वैक्रियिकं सर्वतोऽभतीघातमाद्दारकं वा मितिनयतिषयत्वात्तद्मतीघातस्य । तैजसकार्मण पुनः सर्वस्य संसारिणः सर्वतोमतीघाते ताभ्यां सद सर्वत्रोत्पादान्यथानुपपत्तेः ।

कोई मान बैठा है कि स्थूल औदारिक मले ही पर्वत, वन्नपटल, आदिसे रुक जावे, किन्तु वैक्रियिक या आहारक शरीरका तो पर्वत, भित्ते, सूर्य, विमान, आदिमें (से) कोई प्रतीघात नहीं होता है। अतः तैजस, कार्मणके समान वैक्रियिक और आहारकको भी प्रतीघातरहितपना है। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं माननां चाहिये। क्योंकि लोकमें सब ओरसे सभी स्थलोंमें उनके अप्रतीघातका अभाव है। देखिये, वैक्रियिक अथवा आहारक शरीर सर्व स्थलोंमें प्रतीघात रहित नहीं हैं। क्योंकि उनका अवतीघात तो प्रतिनियत स्थानोंमें मर्यादित हो रहा है। त्रसनालीके बाहर स्थावर लोकमें आहारक या वैक्रियिक शरीर नहीं जा पाते हैं। किन्तु फिर सम्पूर्ण संसारियोंके तैजस और कार्मण तो सभी स्थानोंसे समी स्थलोंके लिये जाने, आने, में प्रतीघातरहित हैं। क्योंकि उन तैजस और कार्मण शरीरके साथ इस संसारी जीवकी सभी स्थलोंमें उत्पत्ति होना अन्यथा यानी तैजस कार्मण को अप्रतीघात माने विना बन नहीं सकता है। जबतक संसार है तबतक तैजस और कार्मण तो लगे ही रहेंगे। इनके साथ ही जीवका अम्ता, जानो, हो संकता है।

ततस्ति स्त्रे सर्वतो ग्रहणं कर्त्व्यमिति हेत् तः मुख्यात्य मनीस्मतस्त्रात्र विवासितत्वात्। इतः पुनस्तादशोऽमतीघात इति चेत्, स्क्ष्मणुरिणामित्रश्चेषाद्यस्थिहे तेज्ञोत्स्यवेश्ववतः।

कोई पण्डित आक्षेप करता है कि तैसा होनेसे यानी सर्वत्र अप्रतीघातकी विवक्षा करनेपर तब तो इस सूत्रमें सर्वतः यह पदम्रहण करना चाहिये, जब कि सर्व स्थलोंसे लोकके सभी स्थलोंमें वे प्रतीघातरहित हैं ? आचार्य वहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि मुख्य प्रती-घातकी यहां विवक्षा प्राप्त हो रही है। अतः विना कहे ही " सर्वत्र अप्रतीघात " यह अर्थ कह दिया जाता है। यों थोडी थोडी दूरके स्थानोंमें तो स्थूल औदारिकका भी अप्रतीघात बन रहा. है, इससे क्या हुआ ? सूत्रकारको यहां मुख्य प्रतीघातकी विवक्षा हो रही है। तैजस और कार्मण शरीरमें परिपूर्णरूपसे मुख्य प्रतीघात नहीं है । पुनः यहां कोई पूंछता है कि क्या कारण है ! जिससे तैजस और कार्मण शरीरका तिस प्रकारका सर्वत्र अप्रतीघात है ? कहीं भी इनको कोई रोक नहीं सकता है ? यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि छोहपिण्डमें जैसे तैजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है, तबेमें नीचेसे अग्ने घुसकर ऊपरकी रोटीमें संयुक्त हो जाती है, उसी प्रकार सक्ष्म विशेषपरिणाम होनेसे उनका कहीं भी प्रतीचात नहीं होता है। भावम्य-चडेमें भीतर पानी मर देनेपर कुछ आईता ऊपर झलक आती है । पाषाणमें, तेल घुस जाता है । ताडपीनका तेल चर्ममें प्रविष्ट होकर परली ओर निकल जाता है। चौसासेकी सील सात सन्द्रकोंके भीतर घुस जाती है। जब स्थूलपरिमाणत्राले पदार्थ भी नियत पदार्थीमें अन्तःमबिष्ठ हो जाते हैं, उसी प्रकार स्कमपरिण्य विशेष हो जानेसे तैजस और कार्मण शरीर सर्वत्र अप्रत्याहत चले जा सकते हैं। जैनसिद्धान्तर्में कारण अनुसार कार्यव्यवस्था मानी गयी है। कोई पोल नहीं है। जिस पदार्थमें जैसा जैसा जहां जहां प्रतीघात, अप्रतीघात, होनेका परिणामिनदोष होगा, वह पदार्थ वहांतक प्रतीघातवाला या अप्रती-घातवाळा माना जायगा। दीपक या मसाळका प्रकाश चर्म, मांस, कपडा, पत्र, आदिको भेदकर भीतर नहीं घुस सकता है । किन्तु " ऐक्सरे " नामक यंत्रद्वारा बिजळीका प्रकाश तो चर्म आदिके। पार कर जाता है। खदरमेंसे पानी छन जाता है, प्रकाश नहीं। किन्तु कांचमेंसे प्रकाश निकल जाता है, पानी नहीं ।

य त्वाहुः, पूर्व पूर्व सक्ष्मं युक्तं, मदेशतोह्यत्वादिति तान मत्याह ।

जो भी कोई विद्वान यों कह रहे हैं कि परमाणुओं की संख्याके अल्प, अल्प, होनेस तो पहिले पहिले शरीरोंको सूक्ष्म कहना युक्त है। उनके प्रति तो श्री विद्यानन्द आचार्य यों समाधान कहते हैं।

> पदेशतोल्पतातारतम्यं कायेषु ये विदुः । सक्ष्मतातारतम्यस्य साभनं ते कतार्विकाः ॥ २ ॥

तस्य कार्णसिपिंडेनानेकांताच्छिथिलात्मना । प्रदेशबहुतातारतम्यवत्स्योल्यबंधने ॥ ३ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा अल्पपनेका तारतम्य ही शरीरोंमें सूक्ष्मपनेके तारतम्यका ज्ञापक हेतु है, इस प्रकार जो नैयायिक समझ बैठे हैं वे खोटी तर्कको धारनेवाले है । क्योंकि उस हेतुका शिथिलस्वरूप फूल रहे रुईके पिण्ड करके व्यभिचार दोष हो जाता है । जैसे कि स्थूलपनके बन्धनको साधनेमें प्रयुक्त किये गये प्रदेशबहुतपनेका तारतम्य हेतु रुईसे व्यभिचारी हो जाता है । अर्थात्—जिसमें प्रदेश बहुत होते हैं, वह स्थूल होता है। यह हेतु लोहपिण्डसे व्यभिचारी है। उसी प्रकार जिसमें प्रदेश थोडे होते है वह अल्पपरिमाणवाला सूक्ष्म पदार्थ है । इस व्याप्तिका हेतु भी धुनी हुई रुईसे व्यभिचार दोषको धार रहा है । थोडे प्रदेश होनेपर भी शिथिल रुई लम्बे चौडे स्थानको घर रही है, जब कि बहुप्रदेशी लोहपिण्ड छोटे स्थानमें समजाता है ।

यथैव प्रदेशवहुत्वतारतम्यमुत्तरीत्तरश्चरीरेषु स्थूळत्वप्रकर्षे साध्ये निविडावयवसंयोग-परिणामेनायस्पिडेनानैकांतिकिमिति न तत्र स्थूळतातारतम्यं साधयति तथा प्रदेशाल्पत्व-तारतम्यमपि पूर्वश्चरीरेषु न सूक्ष्मतातारतम्यमिति स्वहेतुविशेषसांनिध्यात् तैजसकार्मणवोर-नंतगुणत्वेपि पूर्वकायात्सूक्ष्मपरिणामः सिद्धः सर्वतोष्ठतीघातत्वं साधयत्येवायस्पिडे तेजोतुष्ठमवे-शवदिति सूक्तं। न हि तेजसोयस्पिडेन प्रतीघाते तत्रानुप्रवेशो युज्यते।

जिस ही प्रकार पिछले पिछले शरीरोंमें स्यूलताके प्रकर्षको साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया प्रदेशोंके बहुतपनेका तारतम्य रूप हेतु तो अवयवों के सघन संयोग हो जाना रूप परिणामको धारने- बाले लोहिपिण्डकरके व्यभिचारी है, इ. कारण वह हेतु उन उत्तरोत्तर शरीरोंमें स्यूलपनके तारतम्यको नहीं साध पाता है, तिसी प्रकार प्रदेशोंकी अन्पताका तारतम्य होना रूप ज्ञापक हेतु भी पूर्व पूर्व शरीरोंमें सूक्ष्मताके तारतम्यको नहीं साध पाता है। इस कारण अपने अपने हेतु विशेषोंकी सिन्नकटतासे तैजस और कार्मणको अनन्तगुणा होते हुहे भी पूर्वशरीरसे सूक्ष्म परिणाम सहितपना सिद्ध हो जाता है, जो कि सब ओरसे उन दोनोंके अप्रतीधातपनेको साध ही देता है, जैसे कि लोह पिण्डमें तेजोद्दव्यका अनुप्रवेश हो जाता है। तभी तो इस बातको हम पहिली वार्तिकोंमें बहुत अच्छा कह चुके हैं। यदि तेजोद्दव्यका लोहिपिण्ड करके प्रतीधात माना जायगा तो ऐसी दशामें वहां लोहेमें अग्निका प्रवेश नहीं हो सकेगा। किन्तु लोहेके तवेमें या पीतल, तांबे के पात्रमें तेजोद्दव्य घुस जाता दीखता है, बिजली तो हजारो मील लम्बे ठोस तारमें घुसी चली जाती है।

स्यान्मतं, तेजसः संयोगविशेषादयस्पिडावयवेषु कर्मीत्यवते ततो विभागस्ततः संयोग-विनाशस्ततोपि तस्यायस्पिडावयविनौ विनाशस्ततोप्यीष्ण्यापेक्षादित्रसंयोगात्तदवयवेष्वतुष्णा- श्रीतस्पर्शिवनाशः परस्पादिप्रसंयोगादुष्णस्पर्शोत्पत्तिः ततस्तदुपभोक्तुरदृष्ट्विशेषवशाद्वयणुकादि प्रक्रमेण तादृशस्यैवायस्पिद्धस्योत्पत्तिः । एवं च नायस्पिद्धे तद्वस्थे तेजसोनुप्रवेशोस्ति यतांऽ-प्रतीयातस्य विधाने निदर्शनीकियतित । तद्युक्तं, प्रतीतिविरोधात् । स एवायमयस्पिद्धस्ते-जांच्याप्तः प्रतिभाति यः पूर्वपनुष्णः सम्रुपल्ञ्य इति प्रतीतः । परत्रं प्रक्रियामात्रस्य जातुनिद्पतिने भ्रांतत्वं । सदृशापरोत्पत्तेस्तथा प्रतीतिरिति चन्न, एकत्वादिवत् । न हि किंचिन्मूर्त-प्रति प्रविश्वद्मूर्ते दृष्टं । च्योमदृष्ट्यपिति चन्न, तत्र पूर्वमिति मूर्तेष्वपि तथा प्रसंगात् । तथा च तत्कथंचित्पत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धः। वाधकरहितात्ततस्तित्ति कथमयस्पिद्विपे प्रत्य-भिज्ञानादेकत्वं न सिध्येत् ? न हि तत्र किंचिद्धाधकमस्ति ।

यदि यहा वैशोषिकोंका मन्तव्य ऐसा होने कि छोहे । तवेमें अग्नि नहीं घुसती है। किन्तु लाल तपा हुआ तबा एक नया पदार्थ ही उत्पन्न हो जाता है। पिढला तबा रहता ही नहीं है। वह पहिले तवेके नाशकी और नये लोइपिण्डके उत्पादकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि तेजोद्रव्यके विशेषसंयोगसे लोहपिण्ड के अवयवोंमें पहिले किया उपजती है। किया या अनेक कियाओंके उपज-जानेके पीछे दूसरे समयमें उन लोह अवयवोंका विभाग हो जाता है। अर्थात्-मिले हुये अवयव उस कियाके द्वारा पृथक् पृथक् दूकडे हो जाते है। विभागगुण संयोगगुणका नाशक है। अतः पहिले हो रहे संयोगका विभागकरके तीसरे समयमें नाश हो जाता है । उसके भी पीछे संयोगका नारा हो चुकनेपर उस लोहपिण्ड अवयवीका विनारा हो जाता है । स्थूल अवयवीका भी नारा होते होते परमाण रह जाते है । उसके पीछे उष्णताकी अपेक्षा रखनेवाले अग्निसंयोगसे उन परमाणस्वरूप लोह अवयवोंमें अनुष्णशीत स्पर्शका विनाश हो जाता है। अर्थात् —वैशेषिक्रोने प्रथिवीमें अनुष्णाशीत स्पर्श माना है। जब कि लोहा प्रथित्री है। अतः उसका स्पर्श अनुष्णाशीत था, अगले क्षणमें अनुष्णाशीत स्पर्शका नाश हो गया। साथमे उन कियाओंका भी नाश हो गया। वैशेषिकोंके यहां किया चार क्षणमे अधिक नहीं ठहरती है। पहिले क्षणमें किया हुई दूसरे क्षणमें उसने विभागको किया, तीसरे क्षणमें पूर्व संयोगका नाश, चौथे क्षणमें उसी क्रियासे उत्तरदेश संयोग होकर पांच क्षणमें क्रियाका नाश हो जाता है। पुनः अन्य क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं। यहांतक अवयवी उसके अवयव उसके भी छोटे छोटे अवयव इस ढंगसे लोह पिण्डिक परमाणुर्ये हो गये हैं । यो अबतक पूर्विपिण्डका विनाश हो चुका। अब नवीन पिण्डका उत्पाद सुनिये। पुनः दूसरे अग्निसंयोगसे उन परमाणुओंमें नवीनस्पर्शकी उत्पत्ति होती है, उसके पश्चात् उस उष्णलोहपिण्डद्वारा रसोई जीमना, भूरस जाना. आदिका उपभोग करनेकले जीवोंके विशेष पुण्य, या पापकी अधीनतासे परमाणुओंमें किया होनेसे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप होना विभाग उपजाता है। विभागसे अन्य क्षेत्रके साथ हो रहे पूर्वसंयोगका विनाश हो जाता है। पीछे दूसरे परमाणुके साथ संयोग हो जाता है। दो दो परमाणुओंका संयोग हो चक्रनेपर पीछे बगणकोंकी उत्पत्ति होजाती है। तीन, तीन बणुकोंसे वहां सब छोह अवयवोंके त्र्यणक बन जाते हैं। चार चार त्र्यणकांके सब चतुरणक बन जाते हैं, यों पंचाणुक, षडणुक, इस क्रमसे एक वैसे ही अन्यण्ण नवीन लोहपिण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार हम वैशेषिकोंके यहां वैसाका वैसे ही लोहपिण्डके अवस्थित बने रहनेपर तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश नहीं माना गया है। जिससे कि अप्रतीघातका विधान करनेमें आप जैनलोग लोहपिण्डमें अग्निक प्रवेशको द्रष्टान्त कर तकें। यहांतक वैशेषिक कह चुके हैं। अब आचार्य कहते है कि यह कथन युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि प्रतीतिओंसे विरोध आता है। यह वहीं लोहपिण्ड भला तेजोद्रव्यसे व्याप्त हो रहा प्रतिभासता है. जो लोहपिण्ड पहिले अनुष्ण भले प्रकार दीख चुका था, ऐसी बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। दूसरे वैशेषिकोंके यहां जो उत्पादविनाशकी केवल प्रक्रिया गढ़ दी गयी है, उसकी तो किसीको कभी प्रतीति नहीं होती है। यदि नीचे अग्नि जलानेसे अनुष्ण लोहा या तांबेका बर्तन टट फ्रंट जाता तो उसमें का दूध या घी फैल जाता, किन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। किन्तु यह वही लोहपिण्ड है, वहका वही बर्तन है, यह प्रतीति हो रही है, जो कि भ्रान्तिस्वरूप नहीं है। यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि सदश ही दूसरे दूसरे छोहपिण्डोंकी उत्पत्ति हो जानेसे तुमको तिस प्रकार " यह वहीं है " ऐसी प्रतीति हो गयी है, जैसे कि दीपकिल काओं में या किसी चूर्णमें यह वहीं है, यह सादश्यको कारण मानकर प्रतीति हो जाती है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि घटके एकपन तदेवपन, आदिके समान छोहपिण्डमें एकत्व प्रतीति भी समीचीन है। मुर्तिमान पदार्थीमें प्रवेश कर रहा कोई अमूर्त पदार्थ नहीं देखा गया है। यदि कोई यहां यों कहे कि अमर्त्त आकाश तो मूर्तिमाम घटादि में प्रवेश कर जाता है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उस आकाशके मूर्तिमान् होते सन्ते ही घट, पट, आदि मूर्त पदार्थीमें भी तिस प्रकारका प्रसंग हो जावेगा । अर्थात्-आकाश मूर्त नहीं है, क्रियावान् भी नहीं है । अतः वह मुत्तीमें प्रविष्ट नहीं हो सकता है। (यहांका यह पाठ कुछ अप्रकृतसा दीखता है विशेष बुद्धिमान् पुरुष पूर्वापार संदर्भको ठीक मिला छेवें) । और तैसा होनेपर कथंचित् एकत्वको विषय करनेवाले प्रत्यभि-ज्ञानसे एकपनेकी सिद्धि होजाती है, बावक प्रमाणोंसे रहित हो रहे उस प्रत्यमिज्ञान द्वारा उस एकप-नकी सिद्धि होना मान चुकनेपर छोहपिण्डमें भी एकत्व प्रत्यमिज्ञानसे भछा एकत्व क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? कारण कि वहां भी तो कोई बाधक प्रमाण विद्यमान नहीं है।

स्यान्मतं, तेजोऽयस्पिहे तदवस्ये नातुमविशाति मूर्तत्वाङ्घोष्ठवदित्येतद्वाधकमिति तदस-देतोः संदिग्धविपक्षच्याद्यक्तिकत्वात् सर्वज्ञत्वाभावे वक्तृवादिवत् । न हि किंचिन्मूर्तिमति प्रवि-शदमूर्ते दृष्टं । व्योम दृष्टमिति चेत्, तत्र मूर्तिमतोतुम्वेशात्तथा प्रतीतेरवाधत्वादित्यलं प्रसंगेन ।

यदि वैशेषिक पाण्डित ''यह वही छोह पिण्ड है '' इस प्रत्यभिज्ञानमें बाधकप्रमाण उपाधित करते हुये अपना मन्तव्य यें। प्रकाशित करें कि छोहपिण्डकी ठींक वैसीकी वैसी ही। अवस्था बनी

रहनेपर उसमें तेजोद्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता है (प्रतिज्ञा) मूर्च होनेसे (हेत्) डेलके समान (अन्त्रय दृष्टान्त) अर्थात्—ढेल जिसमें प्रवेश करता है वह पदार्थ वैसाका वैसा ही नहीं बना रहता है। इसी प्रकार लोहमें अग्निके घुस जानेपर लोहा विनष्ट होकर दूसरा बदल जाता है। यह तुम्हारे एकत प्रत्यभिज्ञानका बाधक प्रमाण खडा हुआ है। आचार्य कहते हैं कि उन वैशेषिकोंका इस प्रकार कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उनके हेत्की विपक्षमें व्यावृत्ति होना संदिग्ध हो रहा है, जैसे कि अर्हन या बद्धको सर्वज्ञपनेका अभाव साधते समय दिये गये वक्तृत्व, प्ररुपत्व, हाथ पांव साहितपन आदि हेतुओं भी विपक्षसे ज्यावृत्ति होना संदिग्ध है। अर्थात्—अर्हन्त (पक्ष) सर्वज्ञ नहीं हो सक्ते 🖁 (साध्य) वक्ता होनेसे (हेतु) गळीके मनुष्य समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमानका वक्तापन हेत संदिग्धव्यभिचारी है। क्योंिक सर्वज्ञमें भी वक्तापन संभावित है। ज्ञानके प्रकर्ष होनेपर कोई वक्ता-पनका अपकर्ष हो रहा नहीं देखा जाता है। बल्कि जानके बढनेपर वक्तत्व शक्ति बढ रही प्रतीत होती है। अथवा विपक्ष हो रहे सर्वज्ञमें पुरुषपना भी वर्त्त सकता है। इसी प्रकार मूर्तत्व हेत भी संदिग्ध व्यभिचारी है। अतः वहका वही मूर्त पदार्थ बना रहनेपर भी तेजोद्रव्य प्रवेश कर सकता है । छेदोंबाली भीतमें डेला प्रवेश कर जाता है. किन्तु भीत वह की वही बनी रहती है। गढ़में गोली घस जानेसे सहसा अवस्था नहीं बदल जाती है। पेटमें अन, पान, का प्रवेश करलेने पर देवदत्तके शरीरकी सर्वथा परावृत्ति नहीं हो जाती है । मूर्तिमान पदार्थमें मूर्तपदार्थ प्रवेश करता है। मूर्त्तमें कोई भी अमूर्त प्रवेश करता हुआ नहीं देखा गया है। आकाश, धर्म, अधर्म, और काल ये अमूर्त, पदार्थ तो जहांके तहां अवस्थित हैं । ये कहीं जाकर प्रवेश नहीं करते। इनमें मले ही कोई मूर्त पदार्थ प्रवेश कर जाय। हां, शुद्ध जीव मोक्षगमन करते समय ऊर्घ्यलोक प्रति गमन करता है। वह कोई बाण, डेल आदिके समान प्रवेश करनेवाला नहीं माना गया है। शेष संसारी जीव तो कर्म बन्धकी अपेक्षा मूर्त्त ही बने बनाये हैं। यदि यहां कोई यें। आंक्षेप करे कि देखो आकाशद्रव्य अमूर्त्त हो रहा मूर्त्तपुद्रलोंमें प्रवेश कर रहा देखा गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां भी आकाशमे मूर्तिमानुका प्रवेश है। मूर्तिमानुमें आकाशका प्रवेश नहीं है। आकाश तो व्यापक है कहांसे कहां जाय ? बादलोंके चलनेपर किसी किसीको चन्द्रमा चलता दीखता है। कभी काले बादलोंमें चंद्रमा घुसता दीखता है, यह सब भ्रांति है। अतः छोहपिण्डमें तिस प्रकारकी एकत्व प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है। बाधारहित एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे वहां एकत्व सिद्ध हो जाता है। वाबदक वैशेषि मों में सन्मख हमने सारमूत कवन कह दिया है। अधिक प्रसंग बढानेसे कोई निशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा उनका उत्पाद विनाश प्रक्रियाको दिखळाना कोरा फटाटोप मात्र है।

नतु कर्मैव कार्मणमित्यास्मिन् पक्षे न तच्छरीरं पुरुषिवेशेषगुणत्वाद्वुध्यादिवदिति कश्चित्तं मत्यादः। यहां नैयायि त या वैशेषिक की ओरसे स्वपक्षका अवधारण है कि स्वार्थमें अण् प्रत्यय करनेपर कर्म ही कार्मण ग्रिश्त है यों इस पक्षमें वह कार्मण तो कोई शरीर नहीं है, प्रत्युत वह अदृष्ट तो बुद्धि, सुख, दु:ख आदिके समान पुरुषका विशेष गुण है, जिसको आप जैन कर्म कहते हैं। उसको हमारे यहां अदृष्ट यानी पुण्य, पाप, कहा गया है। इस प्रकार अनुमान बनाकर कोई वैशेषिक कह रहा है, उसके प्रति आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं, उसको सुनिय।

कर्मैव कार्मणं तन्न शरीरं नृगुणत्वतः । इत्यसद्द्रव्यरूपेण तस्य पौद्गलिकत्वतः ॥ ३ ॥

कर्म ही कार्मण है जो कि धर्म, अधर्म, कहे जाते हैं वह कर्म (पक्ष) शरीर नहीं है, (साध्य) आत्माका विशेष गुण होनेसे (हेतु) बुद्धिके समान (अन्वयदृष्टान्त) यों वैशेषिकोंका कहना सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि उस कर्मको द्रव्यरूपसे पुद्रलों करके निर्मितपना सिद्ध हो रहा है। अर्थात्—कर्म यदि आत्माके गुण होते तो आत्माको पराधीन नहीं कर मक्ते थे। जो जिसका गुण होता है वही उसको परतन्त्र नहीं बना देता है। जब कि यह संसारी जीव परवश हो रहा है, अतः सिद्ध हो जाता है कि कर्म विज्ञातीय पौद्रलिक द्रव्य है। द्रव्यका निज्ञ गुण उसको विभाव अवस्थामें नहीं पटक देता है। निज्गुणोंको नाश करनेके लिये मुमुक्षुका प्रयत्न नहीं होता है। अन्यथा आत्म द्रव्यका ही नाश हो जायगा।

न हि कर्म धर्माधर्मरूपमदृष्टसंद्गकं पुरुषविशेषगुणस्तस्य द्रव्यात्मना पौद्रलिकत्वात्ततो नाशरीरत्वसिद्धिः।

वैशेषिकों के यहां जिनकी संज्ञा अदृष्ट मानी गयी है, ऐसे धर्म, अधर्मस्वरूप कर्म तो आत्माके विशेष गुण नहीं हैं । क्यों कि द्रश्यस्क्रपसे वे पुद्रलके गढ़े हुये हैं । तिस कारण कर्मोको शरीर रहितपनकी सिद्धि नहीं है । संसारी आत्माका सूक्ष्मशरीर पौद्रलिककर्म है, जो कि आत्मद्रव्यसे मिन्न द्रव्यपुद्रलका बन रहा औपाधिक शरीर है, जैसे कि अस्थिमांस रक्तमय यह दश्यमान स्थूल शरीर पुद्रल निर्मित है ।

भावकर्भैवात्मगुणरूपं न द्रव्यकर्म पुद्गलपर्यायत्वमात्मसात्कुर्वत्र्वसिद्धमिति मन्यमानं मत्याह ।

वैरोषिक कहते है कि जैन पण्डित भी राग, हेष, अज्ञान, ईर्ष्या, अनुत्साहको भावकर्म मानते हुये आत्माका गुण (विभावपरिणाम) मानते ही हैं। सच पूछो तो आत्मामें अज्ञान, राग, हेष, आदि भारकर्म ही आत्माके गुणस्त्ररूप हो रहे विद्यमान हैं। पुण्यक्तमें तो पुद्रस्त्रके पर्यायपनको अपने अश्रीन करता हुआ कोई आजतक प्रथिद्ध नहीं है। कोई भी दार्शनिक विचारा अमूर्त आत्माके

जपर जम रहे पौद्रिक्टिक कर्मीको नहीं स्वीकार कर रहा है। इस प्रकार मान रहे वैशेषिकोंक प्रति आचार्य महाराज समाधानवचन कहते हैं।

कर्म पुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते । पारतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारादिबंधवत् ॥ ४ ॥

जीवके कर्म तो पुद्रलकी पर्याय समझे जा रहे हैं (प्रतिज्ञा) जीवकी परतंत्रताके निमित्त कारण होनेसे (हेतु) कारागार (जेळखाना) सांकल, लेज, आदिक बंध समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात् -देवदत्त या गायको जेळ घर या सांकलमे बांध दिया जाय ऐसी दशामें वह बंधन उन आत्माओका निजगुण नहीं है, किन्तु पौद्रलिक है। इसी प्रकार जीवकी परतंत्रताका निमित्तकारण हो रहा कर्म पदार्थ भी आत्मासे विजातीय द्रव्य माने गये पुद्रलकी पर्याय है।

कोधादिभिर्च्यभिचार इति चेक्न, तेषामपि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वे पौद्गलिकत्वो-पपत्तेः । चिद्र्पतया संवेद्यमानाः कोधादयः कथं पौद्गलिकाः प्रतीतिविरोधादिति चेत् न, निर्देतीर्व्यभिचारायोगात् तेषां पारतंत्र्य्यनिमित्तत्वाभावात् । द्रव्यक्रोधादय एव हि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तं न भावक्रोधादयस्तेषां स्वयं पारतंत्र्यरूपत्वाद्द्रव्यक्रोधादिकर्मोदये हि सति भावक्रोधाद्यत्पत्तिरेव जीवस्य पारतंत्र्यं न पुनस्तत्कृतमन्यित्किचिदित्यव्यभिचारी हेतुर्नागमकः सदा ।

यदि कोई यों कहें कि कोंघ, अभिमान, आदि करके आप जैनोंके हैतुका व्यभिचारदोष आता है। देखो, क्रोध आदिक मान भछा जीवको परतंत्र करनेके निमित्त तो हैं, किन्तु पुद्रछकी पर्याय नहीं है। जीवके औदियकमाव ये क्रोधआदिक तो स्वतत्व माने गये हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जीवको पराधीनताके निमित्त होनेपर उन क्रोध आदिकोको भी पुद्रछ निर्मितपना बन जाता है। हेतुके रहनेपर साध्य भी रहजाय ऐसी दशामें व्यभिचारदोष नहीं आता है। कहीं तो पुद्रछ निमित्त है, काचित् पुद्रछ उपादान कारण है, वे सभी कार्य पौद्रछिक है। यदि वैशेषिक फिर यों कहें कि क्रोध आदिक तो जीवके निज्ञ चैतन्य रूप करके सम्वेदन किये जा रहे हैं, वे आत्मीय पदार्थ भछा कैसे पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं है क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं है क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं है क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्रछके परिणाम होते तो घट, पट, आदिके समान बहिर्मृत देखे जाते और साधारण जीव भी उनको वहिरंग इन्द्रियों हारा देख छते। किन्तु देवदत्तके क्रोधका उसीके अंतरंगमें चेतन आत्मकपने करके सम्वेदन हो रहा है। दूसरे जीवोंको देवदत्तके क्रोधका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो नहीं पता है। प्रधक्त कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि हेतुके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार नहीं हो पता है। जन हेतु तो ठहर जाय और साध्य नहीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है।

हेतुके नहीं ठहरते हुये साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष नहीं छग पाता है। देखिये, उन कोधा-दिकोंको परतंत्रताके निमित्त कारण होनेका अभाव है, पुद्रछकी कार्मणवर्गणाओंसे बनाये गये द्रव्य कोध, द्रव्यमान, आदिक ही जीवकी परतंत्रताके निमित्त हैं। उन द्रव्यकोध आदिके निमित्तसे हुये जीवके भाव कोध, अभिमान आदिक जीवपर्याय तो परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। वे भावकोध आदिक तो स्वयं परतंत्रता स्वरूप है। क्योंकि पुद्रछ द्रव्यके बने हुये कोध आदिक कर्मोका उदय होते सन्ते ही भाव कोध आदि जीव परिणामोंकी उत्पत्ति हो रही जीवकी परतंत्रता है। उन पुद्रछ निर्मित द्रव्य कोध आदि हारा की गयी फिर अन्य कोई भी पदार्थ परतंत्रता नहीं है। अर्थात्—क्षमास्वरूप जीवका कोध रूप हो जाना ही पराधीनता है। सबको जान छेना इस स्वभावको धारनेवाछ जीवका पौद्रछिक ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर अज्ञानभाव हो जाना है। तो जीवकी पराधीनता है। इस कारण हेतुके नहीं घटित होनेपर और साध्यके भी नहीं ठहरनेपर भावकोध हारा व्यभिचार नहीं हो सकता है। हमारा प्रयक्तिया गया परतंत्रताका निमित्तपना हेतु व्यभिचार दोषरहित है। अतः सर्वदा अगमक नहीं है। किन्तु पुद्रछ पर्यायपन साध्यका सर्वदा ज्ञापक है।

अत्रापरः स्वप्नांतिकं वारीरं परिकल्पयति तमपसारयञ्जाह ।

यहां कोई दूसरा बौद्ध उक्त पांच शरीरोंमें अतिरिक्त स्वप्नमें होनेवाले स्वप्नान्तिक शरीरकी परि-कल्पना कर रहा है उसके मतका निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

स्वप्नोपभोगसिष्यर्थं कायं स्वप्नान्तिकं तु ये। प्राहुस्तेषां निवार्यते भोग्याः स्वप्नांतिकाः कथम् ॥ ५॥ भोग्यवासनया भोग्याभासं चेत्स्वप्नवेदिनां। शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनं न किम् ॥ ६॥

स्वप्न दशामें अनेक प्रकारके सुख दुःख मोगने पडते हैं। कभी कुयेमें गिर पडता है, कभी मोजन करनेका स्वप्न आता है, कभी नावमें बैठकर जाता है, इत्यादिक स्वप्नके उपभोगोंकी सिद्धिकी प्राप्ति करनेके लिये जो बौद्धपण्डित एक स्वप्नान्तिक शरीरको अच्छा कह रहे हैं, उनके यहां तो स्वप्न दशामें होनेवाले स्वप्नान्तिक भोग्यपदार्थ भला कैसे निवारे जा सकते हैं! अर्थात् स्वप्नान्तिक शरीरके समान स्वप्नान्तिक घोडा, नाव, धन, कूप, नदी, भोजन, अलंकार, आदिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। जैसे कि यह स्थूल शरीर खाटपर सो जाता है, कहीं बाहर नाव, घोडापर, चढ नहीं सकता है, खाता, पीता, चलता, फिरता नहीं है, हां, दूसरा स्वप्नान्तिक शरीर उक्त कियाओंको सुलभनतासे कर लेता है, उसी प्रकार निकटवर्ती भोग्य पदार्थ तो यथास्थान रखे रहते हैं। स्वप्न अवस्थामें

न्यारे ही घोडे, भोजन, वस्त, स्ती, धन, आदिक भोग्य पदार्थ गढ छेने चाहिये | इसपर बीद्ध यदि यों कहें कि स्वप्नका ज्ञान करनेवाछे जीवोंके पूर्वकाछसे छगी आ रही भोग्यपदार्थोंकी वासना करके भोग्यपदार्थोंका प्रतिभास हो जाता है। मिथ्यावासना द्वारा असंस्य झूंठे पदार्थोंका शोकी, मदोन्मत्त, मूर्छित, जीवोंके ज्ञान हो रहा देखा जाता है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो शरीरकी भी केवछ वासनासे ही शरीरका आभास हो जावो, वास्तवमे वहां कोई न्यारा शरीर नहीं है, जैसे कि भोग्य पदार्थ नदी, उपवन, पर्वत, मृतपिता, मित्र, आदिक कोई न्यारे वहां नहीं है। विचारा जाय तो किसी भयंकर पदार्थक स्वप्नमें दीख जानेपर इस स्थूछशरीरमें ही कम्प या हृदयमें धडकन हो रही प्रतीत होती है, युवा पुरुषोंको विशेष स्वप्न आनेपर इस स्थूछ शरीरमें ही विकार हुआ करते हैं। यों मूर्छित, उन्मत्त, भ्रान्त, दशाओंमें अनेक प्रकारके विपरीत ज्ञान होते हैं। उनके छिये कहांतक झुंठे मूठे अप्रमाणिक शरीरोंकी कल्पना करोंगे ?

यथैव हि स्वप्नद्शायां भोगोपलब्धः स्वप्नांतिकं श्वरीरमंतरेण न घटतं इति मन्यते तथा भोग्यानर्थानंतरेणापि सा न सुघटेति भवद्भिमननीयं, जाग्रहशायां श्वरीर इव भोग्येष्विप सत्सु भोगोपलब्धेः सिद्धत्वात् । यदि पुनर्भोग्यवासनामात्रात्स्वप्नदर्शिनां भोग्याभास इति भवतां मतिस्तदा शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनिमति किं न मतं १ तथा सति स्वप्न-मतिभासस्य मिथ्यात्वं सिध्येत्, अन्यथा शरीरमतीतेरिप भोग्यमतीतेः सुखादिभोगोपलब्धेः स्वप्नत्वप्रसंगात्। ततो न सौगतानां स्वप्नांतिकं श्वरीरं कल्पयितुं युक्तं नापि स्वाभाविकमित्याह ।

कारण कि जिस ही प्रकार जीवका स्वप्न अवस्थामें भोग, उपभोगोंकी उपलब्धि करना स्वप्नान्तिक शरीरको माने विना घटित नहीं होता है, यों बौद्ध मान रहे हैं। तिसी प्रकार भोग्य अर्थोंके विना भी वह भोगोंकी उपलब्धि भी मले प्रकार घटित नहीं हो पाती है। इस कारण आप बौद्ध करके स्वप्नान्तिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। क्योंकि जागृतदशामें जैसे शरीरके होनेपर ही भोगोंकी उपलब्धि होती है। अतः स्वप्नमें भी एक न्यारा शरीर मानना पडता है। उसी प्रकार जाप्रत दशामें भोग्य पदार्थोंके होनेपर ही भोगकी उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध है कि स्वप्नमें विलक्षण प्रकारके भोग्य पदार्थोंके होनेपर ही भोगकी उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध है कि स्वप्नमें विलक्षण प्रकारके भोग्य पदार्थों के जामामें जम गयी केवल वासनाओंसे ही भोग्योंका आभास हो जाता है, आचार्य कहते हैं कि यों आपका विचार होय तब तो शरीरकी केवल (कोरी) वासनासे स्वप्नमें शरीरका प्रतिभास हो जाता है, यह क्यों नहीं मान लिया जावे ? तैसा होनेपर ही स्वप्न प्रतिभासको मिथ्यापन सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा यानी स्वप्नान्तिक भोग यदि मान लिये जायेंगे तो स्वप्न सच्च वन बैठेगा अथवा शरीरकी प्रतीति हो जानेसे भोग्योंकी प्रतीति हो रही है, इस कारणके जामत दशाके सुख आदि भोगोंकी उपलब्धिको स्वप्नपनेका प्रसङ्ग हो जावेगा। तिस कारण बौद्धोंको निराले स्वप्नान्तिक शरीरकी

कल्पना करना उचित नहीं है । साथमें म्वामाविक वरीर कल्पना करना भी युक्त नहीं है । इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं ।

स्वाभाविकं पुनर्गात्रं शुद्धं ज्ञानं वदंति ये । कुतस्तेषां विभागः स्यात्तच्छरीरशरीरिणोः ॥ ७ ॥

जो बौद्ध विद्वान् फिर जीवके शुद्ध ज्ञानको स्वामाविक शरिर कह रहे है, उन बौद्धोंके यहा शरीर और शरीरवाले जीवका विभाग मला कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्—ज्ञानादैतवादी बौद्ध यदि ज्ञानको ही शरीर कह देगे तो फिर शरीरधारी आत्मा उनके यहां क्या माना जायगा ? बौद्ध ज्ञानवान् आत्माको स्वतन्त्रतत्त्व मानते नहीं हैं।

तदेव ज्ञानमशरीरिच्याष्ट्रस्या शरीरी स्यादशरीरच्याष्ट्रस्या शरीरमिति सुगतस्य शृद्ध-ज्ञानात्मनः शरीरत्वं, शरीरित्वं च विभागेन व्यवितष्ठते कल्पनासामर्थ्यादिति न मंतव्यं, तत्र्याष्ट्रतेरेव तत्रासंभवात । सिद्धे हि तस्य शरीरत्वे वा शरीरिणः शरीराच व्याष्ट्रतिः सिध्येत् तत्सिद्धौ च शरीरित्वमशरीरित्वं चेति परस्पराश्रयाश्रेकस्यापि सिद्धिः । तता न स्वाभाविकं शरीरं नाम ।

बौद्ध जनोंका यह मन्तन्य है कि ज्ञान परार्थ तो उपाग्याओंस रहित है, उसमे कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं उहरता है। घटत्व, पटत्व, कोई पदार्थ नहीं है। अघटपनकी न्यावृत्ति है। घटत्व है, और अपटपनकी न्यावृत्ति पट्य है, पटत्व कोई सहश परिणाम या जाति अथवा सखण्डोपाधि धर्म नहीं है। इसी प्रकार बुद्ध भगवान्के शरीर और शरीरीपन कोई धर्म नहीं है। ज्ञानांद्वेतवादियोंके यहा वह ज्ञान ही शरीरिरहितपनेकी न्यावृत्ति करके शरीरी कहा जाता है और शरीररहितपनकी न्यावृत्ति करके वह ज्ञान ही शरीर कह दिया जाता है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानस्कर धुद्ध भगवान्के शरीरपन और शरीरीपन ये दो धर्म विभाग करके न्यस्थाको प्राप्त हो जाते है। अन्यापोह या अतद्व्यावृत्तिको कल्पनाकी सामर्थ्यसे वस्तुभूत नहीं होते हुये धर्म भी ज्ञानमें गढ लिये जाते हैं। जगत्में भी यही न्याव्यस्था करनी पड़ेगी कि धनवान्का अर्थ "दरिद्द नहीं "इतना ही है। पण्डितका अर्थ "मूर्ख नहीं "एनन्मात्र है। पूर्ण धनवान् होना या पूर्ण पण्डित होना तो बहुत बडी बात है। सुंदर बलवान, कुलीन, पुष्ट, न्याख्याता, स्त्राहु भोजन, आदि प्रशंसनीय पदार्थोक्ता अर्थ केवल अन्यापोह मात्र है। अब आचार्य कहते है कि यह तो बौद्धोंको नहीं मानना चाहिय। क्योंकि उसका स्वभाव माने विना उससे भिन्नकी न्यावृत्ति हो जानेका ही उसमें असम्भव है। कारण कि उस ज्ञानको शरीरीपना यदि गाठका सिद्ध होता तब तो शरीरीकी शरीरसे न्यावृत्ति सिद्ध हो जाती और उस न्यावृत्तिके सिद्ध हो जानेपर शरीरीपन और अशरीरीपन सिद्ध ोते। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जानेसे एककी भी सिद्धा नहीं

हों सकती है। अर्थात्—अभि गांठकी उष्ण है तब तो अनुष्ण जरु आदि पदार्थीसे उसकी व्यावृत्ति हो सकती है। किन्तु जो निजस्वरूपसे उष्ण पदार्थ नहीं है उसकी अनुष्णव्यावृत्ति असंभव है। अन्यथा जरूके भी अनुष्णव्यावृत्ति वन बैठेगी। दूसरी बात यह है कि बान आत्मक बुद्धको शरीरीपना वस्तुभूत सिद्ध हो जाय, तब तो शरीरीसे भिन शरीर आदिसे उसकी व्यावृत्ति सधपार्थे और व्यावृत्ति सध चुकनेपर शरीरीपन (कल्पित) और अशरीरीपन सधसके। तीसरी बात यह भी है कि चालिनी न्यायसे बुद्धमें किसी भी व्यावृत्तिकी कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि शरीरत्व सिद्ध करते समय शरीरसे भिन्न शरीरीपन या अशरीरीपन भी व्यावृत्त हो जायगा। बुद्धमें इनकी भी व्यावृत्ति हो जावेगी तथा शरीरीपनको साधते समय शरीरत्वसे भिन्न शरीरत्वकी भी व्यावृत्ति बुद्धमें घुस जावेगी। तिस कारण उक्त पांच शरीरोसे न्यारा कोई स्वाभाविक शरीर नाममात्रको भी नहीं है।

यत्युनरातिवाहिकं नैर्माणिकं च तदस्मदिभमतमेवेत्याह ।

जो भी फिर किसीने आतिबाहिक और नैर्माणिक ये दो शरीर माने हैं, वे तो इमको अभीष्ट री हैं, इसी बातको प्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं |

कार्मणांतर्गतं युक्तं शरीरं चातिवाहिकं। नैर्माणिकं तु य्त्तेषां तन्नो वैकियिकं मतं॥८॥

दोनोंमें पहिला आतिबाहिक शरीर तो कार्मण शरीरमें अन्तर्भृत हो जाता है। अतः मले ही आतिबाहिक शरीर मान लो उचित ही है और जो उनके यहां नैमीणिक शरीर माना गया ह बह तो हम जैनोंके यहां बैकियिक शरीर माना जा चुका है। अर्थात् —यहां वहां अनेक योनियोमें परि-भ्रमण करानेवाला आतिबाहिक शरीर कार्मण शरीर ही तो है तथा स्वल्प कालमें अधिक भोगोंकी भोगनेके लिये रचे गये नैमीणिक शरीर बैकियिक शरीर ही समझे जाते हैं। अतः जैनिसहांतसे कोई विरोध नहीं आता है।

सांभोगिकं पुनरौदारिकादिशरीरत्रयमप्रतिषिद्धमेवेति न श्ररीरांतरमस्ति ।

जिनका प्रयोजन सम्भोग करना है ऐसे साम्भोगिक शरीर तो फिर औदारिक, बैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर जैनोंके यहां माने ही गये हैं। अतः साम्भोगिक शरीरका हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह माने गये पांच शरीरोंसे कोई न्यारा शरीर नहीं है।

नन्वौदारिकाद्यानि भिन्नानि पार्थिवादिश्वरीराणि संति ततोन्यत्रोपसंख्यातच्यानीति केचित् तान् मृत्यादः।

यहां वैशोषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जो औदारिक शरीरसे मिन्न हो रहे पृथिनी-निर्मित शरीर या जळानिर्मित शरीर अथवा तैजस और वायतीय शरीर हैं उनको उस औदारिकसे न्यारा 30 कथन करना चाहिये। यदि सूत्रकारकी त्रुटि हो गयी है तो वार्तिककारको उपसंख्यान द्वारा वह त्रुटि पूरी कर देनी चाहिये, यहांतक कोई कह रहे हैं, उनके प्रति श्री विधानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

पार्थिवादिशरीराणि येऽतो भिन्नानि मेनिरे । प्रतीतरपलापेन मन्यतां ते खवारिजम् ॥ ९॥

जो वैशेषिक पण्डित इस औदारिक शरीरसे भिन्न पार्थिव शरीर, जलीय शरीर आदिको मान बैठे है, प्रतीतिका अपलाप करके चाहे जिस अन्ट, सन्ट, पदार्थको मान लेनेवाले वे वैशेषिक यों आकाशकमलको भी मान लेवें, इसमें क्या आश्चर्य है |

न हि पृथिन्यादीनि द्रन्याणि भिन्नजातीयानि संति तेषां पुद्रलपर्यायत्वेन प्रतीतेः परस्परपरिणामदर्शनाद्धिन्नजातीयत्वे तदयोगात् । न ह्याकाशं पृथिवीरूपतया परिणमते कालादिर्वा । परिणमते च जलं प्रक्ताफलादि पृथिवीरूपतया । ततो न तज्जात्यंतरं युक्तं येन पार्थिवादिशरीराणि संभान्यंते ।

पृथिवी, जल, आदिक द्रव्य कोई मिन जातिवाले न्यारे त्यारे तत्व नहीं है। क्योंकि उन पृथिवी, जल, आदिकोंकी पुद्रलके पर्यायपने करके प्रतीति हो रही है, परस्परमें एक दूसरेकी पर्याय हो जाना देखा जाता है। यदि पृथिवी, जल, आदिक द्रव्योंको मिन मिन जातिवाला तत्वान्तर माना जावेगा तो उस परस्पर परिणाम होनेका योग नहीं बन सकेगा। तुम वैशेषिकोंके यहां भी पृथिवी स्वरूप करके आकाश द्रव्य नहीं परिणमना है अथया काल, आत्मा, आदिक द्रव्य भी पृथिवी या जल नहीं बन जाते है। अतः ये भिन्न जातिवाले द्रव्यान्तर है। किन्तु सीपके मुखमें पड़ा हुआ जल कुछ कालमें मोती हो जाता है, मेवजल ही अनेक वनस्पतियां बन जाता है, जलके लकडी, पाषाण आदि परिणाम हो जाते हैं, जो कि किन्त होनेसे आपके मतमें पृथिवी पदार्थ माने गये है। आकाशमें, विशेष वायुर्ये जल होकर वरस जाती है। अप्रिकी मस्म पृथिवी हो जाती है। कपड़ा, लकडी, आदिक पार्थिव पदार्थ जलकर अप्रि होजाते है। दीपकसे काजल बन जाता है। इस ढंगसे परस्परमे पृथिवी, जल, तेज, वायु-ओंका परिणामपरिणामी भाव देखा जाता है। तिस कारणसे उन पृथिवी, जल आदिकोंको न्यारी न्यारी जातिवाला कहना उचित नहीं है, जिससे कि पार्थिव शरीर या जलीय शरीर, आदिक न्यारे शरीरोके सद्भावकी संभावना की जा सके।

संत्यिप तानि नेतेभ्यः शरीरेभ्यो भिकानि मतीतेर्विषयभावमनुभवंति व्योमारविंदवत्। मार्थिवं हि शरीरं यदिंद्रलोके यच तैजसमादित्यलोके यदाप्यं वरुणलोके यच वायव्यं वायुलोके वेदितव्यं, तेंद्रैकिथिकमेव देवनारकाणामीपपादिकस्य शरीरस्य वैक्रिथिकत्वात्। यच चातुर्भू-

तिकं पांचभौतिकं वा कैश्विदिष्टं शरीरं मनुष्यातिरश्चां तदौदारिकमेव च, न ततोन्यदिति पंचैव यथोक्तानि शरीराणि व्यवतिष्ठंते सर्वविशेषाणां तत्रांतर्भावात् ।

और ये पार्थिव, जलीय, आदि शरीर विद्यमान हैं तो भी वे इम पांच शरीरोंसे भिन्न होते हये प्रतीतिके विषयपनको नहीं अनुभव कर रहे हैं। जैसे कि आकाशपर लगा हुआ कमल कोई सङ्गत प्रमेय नहीं हैं । उसी प्रकार इन औदारिकादि शरीरोंसे भिन्न कोई पथित्री तत्त्व निर्मित या जलतत्व निर्मित अथवा अकेले तेजो द्रव्यसे निर्मित तथा कोरी वायसे बने द्वये शरीर नहीं जाने जा रहे हैं । तुम वैशेषिकोंने प्रथिवीका बना हुआ जो शरीर इन्द्रलोकमें प्रसिद्ध माना है तथा जो सूर्यलोकमें तैजस शरीर कहा है और जो वरुण लोकमें जलनिर्मित शरीर माना गया है एवं वायुलोकमें जीवोंका शरीर जो वायुनिर्मित स्वीकार किया गया है वे तो सब शरीर वैक्रियिक ही हैं। देव और नारिक्योंके उपपाद जन्मसे निपजे हुये शरीर वैक्रियिक हुआ करते हैं। हां, जरायुज, मनुष्य, गाय, भैंस, आदिक और अण्डज पक्षी सर्प आदिकोंका योनिज शरीर तथा गिडार, डांस, बृक्ष आदिकोंका अयोनिज शरीर जो पार्थित माना गया है वह तो औदारिक ही है। जलकायके जीवोंका शरीर हो रहा सचित्त जल भी औदारिक शरीर है। इसी प्रकार अग्निकायिक जीव और वायुकायिक जीवोका सचित्त शरीर भी अग्नि और वायुस्वरूप होता हुआ औदारिक दारीर है। जो भी वैदेाषिक यों मान बैठे हैं कि मनुष्य और तिर्यचोंका दारीर तो प्रधिवी, जल: तेज, वाय, इन चार भूतीका बना हुआ है अथवा इन चारमै आकाराको मिलाकर पांच भूतोंसे बन रहा माना है । अर्थात्—मनुष्य और घोडा, हाथी, तोता, मैना, सांप, आदिके शरीगेंमें कठिन भाग पृथिविका है, दव भाग जलका है, उदरामि या उष्णता तो अमिका भाग है, उक्त सरीरोंमें वाय भी है. इस कारण चारों धातुओंसे ये शरीर बने द्वये हैं। उक्त शरीरोंमें भीतर पोल भी हैं वह आकाशका भाग है, यों पांच भूतोंसे बने हुये ये शरीर किन्हीं बादियों करके इष्ट किये गये हैं। आचार्य कहते है कि वह मनुष्य या तिर्यचोंका शरीर तो हमारे यहां औदारिक शरीर ही माना गया है । उनसे न्यारा कोई शरीर नहीं है। इस कारण आम्नाय अनुसार सूत्रकार द्वारा कहे गये शरीर पांच ही व्यवस्थित हो रहे है। शरीरके अन्य सभी भेद प्रभेदोंका उन पांचमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

नतु चामूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तिमद्भिः शरीरैस्संबंधो मुक्तात्मवदित्याशंकामपतुदश्चाह ।

यहा किसीकी शंका है कि मुक्त आत्माके समान अमूर्त हो रहे आत्माका भछा मूर्तिवाले शरी-रोंके साथ कैसे सम्बन्ध हो जाता है ! अन्यथा मुक्त परमात्माके भी शरीरके साथ सम्बन्ध बन बैठेगा | इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण कर रहे श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिमसूत्रको कह रहे हैं |

अनादिसंबंधे च ॥ ४१ ॥

वे तैजस और कार्मण शरीर दोनों आत्माके साथ अनादि कालते सम्बन्ध रखनेवाले हैं। अर्थात्—मोक्ष होनेके पूर्व कालोंमें अनादि कालते यह जीव प्रवाह रूप करके कर्मीके साथ बंधा रहनेके स्त्ररण मूर्त है। संसारी जीव विचारा मुक्तारमा या आकाशको समान अमूर्त नहीं है। अतः मूर्तजीवका ही मूर्त शरीरोंको साथ सम्बन्ध हो जाता है। अमूर्तका मूर्तद्रव्यको साथ बंध नहीं हो सकता है।

अनादिः संबंधो ययोगात्मना ते यथा तैजसकार्मणकारीरे, च शद्धात्सादिसंबंधे ते प्रति-प्रच्यो । ततो नैकांतेनामूर्तत्वमात्मनः परश्चरीरसंबंधात्पूर्व येन तद्बुपपत्तिः तत्संबंधात् प्रागपि सस्य तैजसकार्मणाभ्यां संबंधसञ्ज्ञावात् । ततः पूर्वमप्यपराभ्यां ताभ्यामित्यनादितत्संबंध-संतानः प्रतिविश्विष्टतेजसकार्मणसंबंधात सैव सादिता ।

जिन तैजस और कार्मणका आत्मांके साथ सम्बन्ध अनादिकालसे चला आता है, वे तैजस और कार्मण शरीर थथायोग्य अनादि सम्बन्धवाले कहे जाते हैं। सूत्रमें समुद्ययाचक च शह भी पढ़ा हुआ है। इस कारण वे तैजस और कार्मण शरीर सादि सम्बन्धवाले भी समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तैजस शरीर ल्यासठ सागरसे अधिक नहीं ठहरता है। कोई भी वर्तमानका कार्मण शरीर सत्तर कोटाकोटी सागरसे अधिक नहीं ठहर सकता है। किन्तु कार्यकारणभावकी सन्तानसे उनका प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है। तभी तो विशेष विशेष तैजस शरीर या कार्मण शरीरकी अपेकासे वे सादि सम्बन्धवाले भी हैं। जैसे कि बीज और बृक्षकी सन्तान अनादि है, किन्तु विशेष बीज या कोई एक पकड लिया गया बृक्ष तो सादिकालका है। तिस कारणसे दूसरे शरीरोंके सम्बन्धसे पहिले आत्माको एकान्तरूपसे अमूर्तपना नहीं है। जिससे कि उस शरीरके सम्बन्धकी असिदि हो जाय। जिस समय तैजस और कार्मण शरीरोंका वर्तमानमें सम्बन्ध हो रहा है, उस सम्बन्धसे पहिले भी उस आत्माका पूर्ववर्ती तैजस और कार्मण शरीरोंके साथ सम्बन्ध का सद्भाव था। और उससे भी पहिले तीसरे उन तैजस कार्मण शरीरोंके साथ आत्माका सम्बन्ध था। इसी प्रकार अनादिकालके जीवकी अनादिकालसे उन तैजस, कार्मण, शरीरोंके सम्बन्धकी सन्तान बन रही है। हां, प्रत्येक विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादियना उनका व्यवस्थित है। विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादियना उनका व्यवस्थित है।

नह्य कस्यचित्रानादिसंबंधे तेऽतः परशरीरसंबंधानुपपिचरित्याशंकायामिदमाह ।

यहां कोई शंका करता है कि सम्भवतः किसी किसी जीवके वे तैजस, कार्मण, शरीर तो अनादि सम्बन्धवाळे नहीं हैं। अतः जिस आत्माके तैजस या कार्मणका सादि सम्बन्ध हुआ है, उस अमूर्त आत्माके इस कारण दूसरे औदारिक आदिक मूर्त शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी असिद्धि हो जावेगी। इस प्रकार आशंका होनेपर श्री उमास्वामी इस अगळे सूत्रको कह रहे हैं।

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके ये दोनों ही शरीर होते हैं। अर्थात् कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं है जिसे कि वे तैजस कार्मण शरीर प्रवाह रूप करके अनादि काळसे छगे हुये नहीं होंय। सभी संसारी जीव कर्मोंसे वंध रहे हैं।

सर्वस्य संसारिणस्तैजसकार्यणग्नरीरे तथानादिसंबंधे न पुनः कस्यचित्सादिसंबंधे येना-त्यनः शरीरसंबंधानुपपत्तिः । कुतः इत्याह ।

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके वे तैजस कार्मण शरीर तिस प्रकार धारारूपसे अनादि सम्बन्धवाछे हैं। किन्तु फिर किसी भी एक जीवके वे मूळ्रूपसे सादि सम्बन्धवाछे नहीं है, जिससे कि आत्माके साथ औदारिक आदि शरीरोंके सम्बन्ध हो जानेकी असिद्धि हो जाय। कोई यहां आक्षेप करता है कि किस प्रमाणसे आपने यह जाना कि वे दोनों शरीर सभी जीवोंके अनादि सम्बन्धवाछे हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अगळी वार्तिकर्मे यों समाधान वचन कहते हैं।

सर्वस्यानादिसंबंधे चोक्ते तैजसकार्मणे । शरीरांतरसंबंधस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ १॥

सभी जीवोंके वे तैजस और कार्मण शरीर (पक्ष) अनादि कालसे सन्बन्ध रखनेवाले कहें जा चुके हैं (साध्य) अन्य शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे (हेतु) अर्थात्—मूर्त पदार्थका ही दूसरे मूर्त पदार्थके साथ सम्बन्ध हो सकता है। अमूर्त आकाशमें तलवार या विष अपना प्रभाव नहीं जमा सकते हैं। परतंत्र हो रहा यह आत्मा विजातीय पदार्थके साथ तभी बंध सकता है जब कि पहिलेसे अनादि कालीन कमेंकि साथ बंध रहा मूर्त होय, अन्यथा नहीं। एतावता जीवके साथ उन दो शरीरोंका अनादिसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

तैजसकार्मणाभ्यामन्यच्छरीरमौदारिकादि तत्संबंधोस्मदादीनां तावत्सुप्रसिद्ध एव सः च तैजसकार्मणाभ्यां संबंधोनादिसंबंधमंतरेण नोपपद्यते स्रुक्तस्यापि तत्संबंधप्रयोगात् ।

तैजस और कार्मण शरीरोंसे न्यारे शरीर औदारिक आदिक है। उन औदारिक आदिकोंका सम्बन्ध तो हम आदि संसारी जीवके भछे प्रकार प्रसिद्ध ही है और वह तैजस और कार्मणके साथ हो रहा सम्बन्ध माने विना नहीं बन सकता है। अन्यथा मुक्तजीवके भी उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रयोग होने छग जावेगा, जो कि किसीने नहीं माना है। अतः तैजस और कार्मणका जीवके साथ अनादिकाछीन सम्बन्ध मानना चाहिये। तभी जीवका औदारिक आदि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना बन सकेगा जो कि प्रायः सभी जीवेंके प्रत्यक्षगोचर है।

अथैतानि शरीराणि युगपदेकस्मिन्नात्मनि कियंति संभाव्यंत इत्याइ।

यहां श्री उमास्त्रामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि ये शरीर एक आत्मामें एक समयमें अधिकसे अधिक कितने हो रहे सम्भव जाते हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्टकर कह रहे हैं ।

तददीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

उन तैजस और कार्मणशरीरको आदि लेकर विकल्प प्राप्त किये जा रहे ये शरीर एक कालमें एक आत्मामें चारतक हो सकते हैं।

तद्ग्रहणं मकृतशरीरद्व्यमितिनिर्देशार्थमादिशब्देन व्यवस्थावाचिनान्यपदार्था वृत्तिः, तेन तैजसकार्मणे आदिर्थेषां शरीराणां तानि तदादीनीति संमतीयते । भाज्यानि पृथक्कर्तव्यानि । पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेत्, तश्चेकस्यचिद्वित्रिचतुःशरीरसंबंधविभागीपपत्तेः। युगपदिति कालैकत्वे वर्तते, आङ्गिविध्यर्थः । तेनैतदुक्तं भवित कचिदात्मिनि विग्रहगत्यापने द्वे एव तैजसकार्मणे शरीरे युगपत्संभवतः, कचित् त्रीणि तैजसकार्मणवैक्रियिकाणि, तैजसकार्म-णौदारिकाणि वा कचित्रत्वारि तान्येवाहारकसहितानि वैक्रियिकसहितानि वा ।

प्रकरण प्राप्त तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका प्रतिनिर्देश (परामर्श) करनेके लिये इस सूत्रमें तत् राब्दका प्रहण किया है । सर्वज्ञकी आम्नाय धारासे चले आ रहे आगमके अनुसार न्यवस्थाको कहनेवाले आदि शब्दके साथ तत शब्दकी अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली बहुबीहि समास वृत्ति कर ही जाती है। तिस कारण पूर्वसूत्रोंमे व्यवस्थाको प्राप्त हो रहे शरीरोंकी आनुपर्वी अनुसार जिन शरीरोंकी आदिमें तैजस और कार्मण शरीर है, वे तदादीनि इस पदके द्वारा भन्ने प्रकार प्रतीत कर लिये जाते हैं । अवयवके साथ विश्रह है और वृत्तिका अर्थ समुदाय है । अतः तैजस और कार्मण भी छे लिये जाते हैं । सूत्रमें पड़े हुये भाज्यानि इस शब्दका अर्थ ''संभावना प्रयुक्त पृथक् पृथक् करने योग्य है " यह समझ छेना। यदि यहां कोई यों शंका करे कि ये शरीर परस्पर में और जीवसे पृथक्भूत है ही, क्योंकि जीव उपयोगमय न्यारा है और वर्ण, गंध, स्पर्श, रस, बाले शरीर न्यारे हैं, अतः मूत्रमें भाज्यका प्रहण करना व्यर्थ है । यों कहनेपर तो आचार्य कहते है कि वह शंकाकारका वचन ठीक नहीं है । क्योंकि किसी किसी एक आत्माके दो, तीन, अथवा चार शरी-रोंके साथ सम्बन्ध हो जानेका विभाग बन रहा है। यह भाज्य शहका तात्पर्य है। इस सूत्रमें पड़े ह़ये " युगपत् " इस शद्धका अर्थ कालके एकपनेमें प्रवर्तता है । आङ्का अर्थ अभिविधि है, जिससे कि चार संख्यावाळे शरीर भी प्रइण कर छिये जाते है । आङ्का अर्थ मर्यादा करनेपर चार शरीरका सम्बन्ध छट जाता । तिस कारण सूत्रका समुदित वाक्य बनाकर यह कह दिया जाता है कि मरकर विमह गतिको प्राप्त हो रहे किसी एक आत्मामें नैजस और कार्मण ये दो ही शरीर एक कालमें संभवत हैं । हां, जन्म छे चुकनेपर किसी देव या नारकी जीवके तैजस, कार्मण, और वैक्रियिक ये तीन शरीर पाये जाते हैं अथवा कहीं मनुष्य या तिर्यचके तैजस, कार्मण, और औदारिक ये तीन शरीर संभव जाते हैं। कहीं छठे गुणस्थानवर्ती मनिके ये ही तीनों शरीर आहारकसे सिहत होते हये चार पाये जाते हैं अथवा वे तैजस, कार्मण, और औदारिक यदि वैत्रियिक शारीरसे सहित हो जांय तो भी एक समयमें एक साथ चार शरीर संभव जाते हैं । यद्यपि वैक्रियिकयोग द्वारा प्रद्रण की गई आहारवर्ग- णासे स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा देव नारिकयों करके बना लिया गया वैक्रियिक शरीर ही यथार्थ रूपसे वैक्रियिक शरीर है, फिर भी " बादरते उवाऊपंचिदियपुण्णगा विगुव्वंति, ओरालियं सरीरं विगुव्वणपं हवे जेसि " इस गाथा अनुसार कतिपय तैजस कायिक, वायुकायिक या कोई कोई पंचिन्द्रिय तिर्यच अथवा भोगभूमियां, चक्रवर्ती आदि मनुष्योंके जो पृथक् या अपृथक् विक्रियात्मक शरीर हैं वे भी वैक्रियिक शरीर माने जाते हैं। अतः तैजस, कार्मणसे युक्त हो रहे औदारिकके साथ वैक्रियिक शरीरके संभव जानेसे एक जीवके ये चार शरीर भी युगपत् सम्बद्ध हो रहे पाये जाते हैं।

पंच त्वेकत्र युगपक संभवंतीत्याह ।

पांचों शरीर तो एक जीवमें एक समय (एकदम) में नहीं संभवते हैं, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

तदादीनि शरीराणि भाज्यान्येकत्र देहिनि। सक्तसंत्याचतुर्भ्यो न पंचानां तत्र संभवः॥१॥

शरीरधारी एक आलामें एक समयमें विकल्प प्राप्त हो रहे उन तैजस, कार्मण दो शरीरोंको आदि लेकर चार शरीरोंतक पाये जाते हैं। उस आलामें पांचों शरीरोंके होनेकी एक बारमें संभावना नहीं है। क्योंकि " वेगुव्वियआहारयिकरिया ण समं पमत्तविरदिष्ट " छटे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीरका सद्भाव हो जानेपर उसी समय वैक्रियिक शरीर नहीं उपज सकता है। वैक्रियिक और आहारकका विरोध है।

न हि वैकियिकाहारकयोर्युगपत्संभवो यतः कचित्यंचापि स्युः ।

सहानवस्थान नाम किरोध होनेसे वैक्रियिक और आहारकका युगपत् सद्भाव नहीं पाया जाता है। जिससे कि किसी किसी आत्मामें पांचों भी शरीर सम्भव जाते। अर्थात्—तेजस और कार्मणका सदा सहचरभाव होनेसे एक आत्मामें एक समय केवळ एक शरीर भी नहीं सम्भवता है, जैसा कि ज्ञानोंमें अकेळा केवळज्ञान संभव गया था। तथा वैक्रियिक और आहारक ऋदिका विरोध पड रहा होनेसे पांचशरीर भी एक साथ नहीं पाये जाते हैं।

किं पुनरत्र शरीरं निरूपभोगं किं वा सीपभोगमित्याह।

कोई प्रश्न उठाता है कि इन पांचों शरीरोंमें फिर कौनसा शरीर उपमोगरिहत है ! अथवा कौनसा शरीर उपमोगसिहत है ! अर्थात्—पंचिन्द्रिय जीव अपने औदारिक शरीरके रूप, स्पर्श, ताडन, अभिधात, आदिको जैसे इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि कर लेता है, वैसे पौद्रलिक पांचों शरीरोंके रूप, रस, या उन शरीरोंके अन्नयनोंका संयोग अथवा विभाग हो जानेपर उपजे हुये शद्धका इन्द्रियों

द्वारा ज्ञान क्या हो जाता है ? अथवा क्या किसी किसी शरीरके पौद्राठिक भावोंका इन्द्रियोंसे उपलम्भ नहीं भी हो पाता है ? बताओ । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते है ।

निरुपभोगमंत्यम् ॥ ४४ ॥

शरीरोंको गिनानेवाली सूत्रकथनीके अनुसार अन्तमें प्रयुक्त किया गया कार्मण शरीर तो अन्त्य है। इन्द्रियों द्वारा उसके शद्ध, रूप, रस, आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकनेसे कार्मण शरीर उपभोगरहित है।

प्रागपेक्षया अंत्यं कार्मणं तिस्वरूपभोगिमिति । सामध्यीदन्यत्सोपभोगं गम्यते । कर्मा-दानसुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगं कार्मणिमिति चेस्न, विवक्षितापरिक्षानात् । इंद्रियनिमित्ता हि श्रद्धाद्युपलिधिरूपभोगस्तस्मान्निष्कांतं निरूपभोगिमिति विवक्षितं ।

पूर्ववर्ती चारों शरीरोंकी अपेक्षा करके अन्तमें कहा गया पांचवां कार्मण शरीर अन्य है, वह इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने योग्य नहीं है। अविश्वज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अथवा केवलज्ञानी महाराज यद्यपि कार्मण शरीरके रूप, रस, शद्ध, आदिकोंका विशद प्रत्यक्ष कर छेते हैं, किन्त वे भी बहिरंग इन्द्रियों द्वारा कार्मण शरीरके रूप रस आदिका सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान नहीं कर पाते हैं। जैसे कि सर्वज्ञको परमाणुके रूप, रस, आदिका इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं हो पाता है, शृंगार रसमें दूब रहा पुरुष क्रीक औदारिक या वैक्रियिक शरीरमें पाये जा रहे गन्ध, स्पर्श, रूप, आदिका उपभोग कर सकता है. दिन रात भोगोंमे लीन हो रहा देवेंद्र भी देवियोंके कार्मण शरीरका इन्द्रियों द्वारा परिभोग नहीं कर सकता है। अतः अन्तका शरीर इन्दियों बारा उपभोग्य नहीं है। इस कार्मण शरीरके उपभोग होनेका निषेध कर देनेसे विना कहे ही राद्धसामध्ये द्वारा यह अर्थ जान लिया जाता है कि शेष अन्य शरीर तो इन्द्रियों द्वारा उपभोगसिंहत हो रहे हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि कार्मण शरीरका अवलम्ब लेकर आत्मा अपने योगनामक प्रयत्न (पुरुषार्थ) करके कर्मोंका प्रहण करता है । कार्मण शरीर द्वारा आत्मा सुखका अनुभव करता है । अतः कर्मप्रहण, सुखानुभव, शरीररचना, वचन बोलना आदिका हेत होनेस कार्मणशरीर भी उपभोग सिंहत है, जैसे कि भोग, उपभोग योग्य सामग्रीका साधन होनेसे रुपया उपभागसिहत मामा जाता है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना । क्योंकि प्रकरण अनुसार विवक्षा प्राप्त हो रहे उपभोगका शंकाकारको परिज्ञान नहीं है। कारण कि इन्द्रियोंको निमित्त कारण मान कर हुई राद्व, रूप, आदिकोंकी इसि हो जाना यहां उपभोग माना गया है। उस उपभोगसे जो बाहर निकाल दिया गया है, वह मिरूपभोग है, यह अर्थ यहां विवक्षाप्राप्त है।

तैजसमप्येवं बिरुपभोगमस्त्वित चेन्न, तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारात् । यदेव हि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं भोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणमौदारिका-दिभ्यो भिन्नं निश्चीयत इत्याह ।

यहां किसीका प्रश्न है कि बिहरंग इन्द्रियोंद्वारा जिसके शब्द, रूप, आदिको नहीं जाना जा सकें, वह शरीर यदि निरुपभोग है, तब तो इस प्रकार तैजसशरीर भी उपभोगरहित होजाओ । ऋदिधारी मुनि या सर्वावधिज्ञानी अथवा देवेंद्र, अहमिन्द्रोंतकको इन्द्रियोंद्वारा तैजसरारिके रूप, रस. आदिकी ज्ञित नहीं हो पाती है। आचार्य कहते है यह तो नहीं कहना। क्योंकि योगका निमित्त-कारण नहीं होनेसे उस तैजसशरीरका यहां प्रकरणमे अधिकार नहीं है। जब कि जो ही आत्म-प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योगके निमित्तकारण हो रहे औदारिक वैक्रियिक आदिक शरीर हैं, वे डी उपभोगसहित भल्ने प्रकार कहे जा रहे हैं। निरुपभोग होनेसे ही कार्मण शरीर इन औदारिक आदिकोंसे भिन्न हो रहा निश्चय किया जा रहा है। भावार्थ —सात प्रकारके काययोगोंके निमित्त कारण औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मण ये चार शरीर हैं। औदारिक काययोग, औदा-रिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग, कार्मण काययोग, अथवा सत्य, असऱ्य, उभय, अनुभय, मनोयोग या वचनयोग इन पन्द्रह योगोंमेंसे यथायोग्य जिस समय कोईसा भी एक योग होगा, उसी योग करके आहार कर्गणा. भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके समान तैजस वर्गणा भी इनके साथ घिसटती हुई चली आती है। जब कि वचनयोगसे आहारवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा, खिच आती है। अथवा विग्रह गतिके कार्मणयोगसे सूक्ष्म स्थूल शरीर भाषा और मनके उपयोगी वर्गणाओंका आक-र्षण हो रहा है, ऐसी दशामें तैजस योगको माने विना भी तैजस वर्गणाका आकर्षण हो सकता है। बात यह है कि तैजसवर्गणा आत्माके प्रदेश परिस्पन्दका अवलम्ब नहीं है। भिन्न भिन्न पदार्थोंमें न्यारी न्यारी जातिकी शक्तियां हैं। जाडेके दिनोंमें शीतजल दातों या शरीरको कंपा देता है, अग्नि या उष्णजळ नहीं कंपा पाता है, आत्मप्रदेश परिस्पन्द स्वरूप द्रव्ययोगका अन्तरंग कारण भावयोग है। " पुग्गळिबेवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स, जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो "। जो कि पहिले गुणस्थानसे लेकर तेरहवें तक पाया जा रहा आत्माका पुरुषार्थ विशेष है। जैसे लोटाका जल, घडेका जल, यों उसी जलके आश्रय भेदसे कई भेद कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार संचित मन, वचन, काय, या प्रहण करने योग्य वर्गणाओंका अवलम्ब हो जानेसे योगके पन्दह भेद कर दिये गये हैं तैजस शरीरके निमित्तसे आत्मामें कंप नहीं होने पाता है हम क्या करें १। अतः योगके निमित्त हो रहे शरीरों के उपभोगसिहतपन और उपभोगरिहतपनका यहां निर्णय किया गया है। औदारिक शरीरोंके हाथोंकी ताली बजानेपर हुये शद्धकी या औदारिकके रूप, गंध, आदिकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि हो रही है। वैक्रियिक शरीरके रूप आदिकोंका देव और नारिक्रयोंको प्रत्यक्ष हो रहा है। यदि देच दिखाना चाहें तो उनके शरीरके रूपको मनुष्य भी नेत्र द्वारा देख छेते हैं। नाकसे गंधको सूंघ छेते हैं। हस्तप्रमाण घौछा आहारक शरीर भी अतीन्द्रिय नहीं है। हां, तैजस और कार्मण अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रियों द्वारा उनका उपभोग नहीं किया जा सकता है। इसी बातको प्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज अभिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

अंत्यं निरुपभोगत्वाच्छेषेभ्यो भिद्यते वपुः। शब्दाद्यनुभवो ह्यस्मादुपभोगो न जायते ॥ १॥

अन्तमें होनेवाळा कार्मण शरीर तो उपभोगरहित होनेसे योगनिमित्त हुये अवशिष्ट शरीरेंसे । भिन्न होजाता है । कारण कि इस कार्मणशरीरसे शद्ध, रूप आदिका अनुभव होजाना रूप उपभोग नहीं उत्पन्न हो पाता है ।

औदारिकं किंत्रिशिष्टामित्याह।

कोई पूंछता है कि किन विशेषणोंसे युक्त हो रहा औदारिक शगैर है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अगले सूत्रको कह रहे है।

गर्भसंमूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

मनुष्य या तिर्थचोको गर्भ और संमूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुये शरीर तो आदिको औदारिक शरीर माने जाते हैं।

गर्भसंपूर्छनजं पाटापेक्षयाधमौदारिकं तद्वर्भजं संमूर्छनजं च प्रतिपत्तच्यं। तत एव सोप-भौगाभ्यामपि पराभ्यां शरीराभ्यां तद्भिद्यते इत्याह ।

गर्भजन्य और संमूर्छनजन्यका अर्थ यह है कि " औदारिकवीक्रीयकाहारकतेजसकार्मणानि शरीराणि " इस सूत्र पाठ की अपेक्षा करके आदिमें उपात्त किया गया औदारिक शरीर है, वह गर्भ-जन्मा जीवोंके और संमूर्छन जनम्बाले जीवोंके सम्भवरहा समझ लेना चाहिये। तिस ही कारणसे उप् भोगसहित होरहे परले वैकियिक और आहारक दो शरीरोसे वह औदारिक शरीर मिन होरहा है। इसी बातको ग्रंथकार श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

आद्यं तु सोपभोगाभ्यां पराभ्यां भिन्नमुच्यते । गर्भसंमूर्छनाद्वेतोर्जायमानत्वतो भिदा ॥ १॥

सूत्रक्रमकी अपेक्षा आदिमें होनेवाला अथवा मोक्षप्राप्तिकी अपेक्षा प्रधान होरहा आद्य औदा-रिक शरीर तो (पक्ष) उपभोगसहित होरहे परले दो शरीरोंसे भिन्न कहा जाता है (साध्यदक्) उन वैक्रियिक, आहारक, दो शरीरोंसे भिन्न हो करके गर्महेतु, और सैमूर्छनहेतुसे उपज रहा होनेसे (हेतु) अर्थात्—उपभोगसिहत तीन शरीरोंमें गिनाया जा रहा, औदारिक शरीर अपने हेतु माने गये गर्भ, संमूर्छन जन्मका भेद होजानेसे शेष दो शरीरोंकी अपेक्षा निराला ही है ।

्यथैव कार्मणं निरुपभागत्वात्सोपभागेभ्यो भिन्नं तथीदारिकं सीपभागमपि कारणभे-दात् पराभ्यां भिन्नमभिधीयते ।

जिस ही प्रकार कार्मणशरीर उपभोगरहित होनेसे उपभोगसहित शेष शरीगेंसे भिन है, उसी प्रकार उपभोगसहित भी औदारिकशरीर अपने कारणोंका भेद हो जानेसे परछे दो शरीरोंसे भिन्न हो रहा कहा जाता है।

. वैकियिकं कीदशमित्याह ।

औदारिक शरीरसे परली ओर कहा गया वैक्रियिक शरीर मला कैसा क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज भविष्य सूत्रका अवतार करते हुये कह रहे हैं ।

औपपादिकं वैकियिकम् ॥ ४६ ॥

उपपाद जन्मसे होनेवाला देव, नारिकयोंका औपपादिक शरीर तो वैक्रियिक शरीर है।

उपपादो व्याख्यातः तत्र भवमीपपादिकं तद्वैिकायिकं बोद्धव्यं । कुतः पुनरीदारिकादिदं भिन्नमित्याह ।

" संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म " इस सूत्रके विवरणमें उपपादका व्याख्यान किया जा चुका है। देव और नार्यक्रेयोंके उपजनेका स्थानविशेष उपपाद कहा जाता है। उस उपपादमें उपज रहा शरीर औपपादिक है, वह सब वैक्रियिक शरीर समझ लेना चाहिये। कोई पूछता है कि किस कारणसे यह वैक्रियिक शरीर फिर औदारिकसे भिन्न है शबताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकको कहते हैं।

ं औपपादिकतासिद्धेर्भित्रमौदारिकादिदं । 'तावद्वैिकियिकं देवनारकाणामुदीरितम् ॥ १ ॥

उपपाद जन्मसे उपजनेकी सिद्धि हो जानेसे यह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो सूत्र-द्वारा उस औदारिकसे भिन्न कहा जा चुका है।

न श्रीदारिकमेव वैकियिक ततोन्यस्यीपपादिकस्य देवनारकाणा शरीरस्य वैकियिक-त्वात् । तच कारणभेदादीदारिकाद्विभग्रच्यते । कारण कि औदारिकरारीर ही तो वैक्रियिक नहीं है। किन्तु उससे न्यारे देव नारिकर्यों के अभिपंपदिक रारीरको वैक्रियिकपना है और वह वैक्रियिक रारीर अपने कारणोंकी विभिन्नता द्वारा औदारिकसे भिन्न कहा जाता है।

किमेतदेव वैक्रियिकमुतान्यदपीत्याह ।

क्या यह उपपादजन्मवाला शरीर ही वैक्रियिक शरीर है ! अथवा क्या अन्य भी कोई शरीर वैक्रियिक है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

लिब्धप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

लिंधको कारण मानकर उपजा हुआ विक्रियात्मक औदारिक शरीर भी वैक्रियिक शरीर माना गया है ।

तपोतिश्वयद्धिर्र्ञिब्धः सा प्रत्ययः कारणपस्येति लब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकमित्यनुवर्तते च शब्दस्तुक्त सम्रुच्चयार्थस्तेन लब्धिपत्यमीपपादिकं च वैक्रियिकमिति संपत्ययः।

अतिशययुक्त तपस्या करनेसे विशेषऋद्विकी प्राप्ति हो जाना यहां प्रकरणमें लब्धि कही गयी है। जिस शरीरका कारण वह लब्धि है, वह लब्धिप्रत्यय वैक्रियिक शरीर है। जैसे कि श्री विष्णुकुमार महाराजने स्वकीयऋद्धि स्वरूप पुरुषार्थ द्वारा लम्बा चौडा वैक्रियिक शरीर बनाया था। पूर्व सूत्रसे "वैक्रियिकं" इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है, और इस सूत्रमें पडा हुआ च शब्द तो पूर्वमें कहे जा चुके वैक्रियिककी विधिका समुचय करनेके लिये है। तिन वैक्रियिक पदकी अनुवृत्ति और समुचय वाचक च शब्द करके सूत्रका अर्थ यो मले प्रकार जान लिया जाता है कि लब्धिको कारण मानकर हुआ शरीर वैक्रियिक है, तथा उपपाद जन्मसे उपजनेवाले देव नारिकयोंका शरीर तो वैक्रियिक है, यह पूर्व सूत्रमें कहा ही जा चुका है।

नन्विद्मीदारिकादेः कथं भिन्नमित्याह ।

यहां किसीका प्रश्न उठता है कि औदारिकशरीरधारी तपस्वियोंके ऋदिविशेषसे उत्पन्न हुआ शरीर तो औदारिक ही होना चाहिये। जब कि उन मुनियोंके वैक्रियिक काययोग नहीं है, तो उनका वह शरीर वैक्रियिक नहीं हो सकता है। अतः बताओ कि यह लिधसे उपजा शरीर भला औदारिक आदिसे भिन्न किस ढंगभे माना गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान करनेके लिये अग्रिम वार्त्तिकको कहते है।

किंचिदौदारिकत्वेषि लब्धिप्रत्ययता गतेः। ततः पृथक् कथंचित्स्यादेतत्कर्मसमुद्भवं॥१॥

विकिया करनेवाले मुनियोंका औदारिकशरीर ही अनेक प्रकारकी रचनाओंको प्राप्त हो गया है। अतः विकियायुक्त शरीरमें कुछ कुछ औदारिकपना होते हुये भी लिन्धको उसके कारणपनेका निर्णय हो जानेसे यह लिन्धकन्य उत्पन्न हुआ शरीर उस औदारिकसे कथं-चित् भिन्न समझा जायगा। तथा इस वैक्रियिक शरीरनामक नामकर्मका उदय हो जानेपर उत्पन्न हुये देव नारक शरीरोंसे भी यह कथंचित् भिन्न है। मनुष्य या तिर्यचोंके तो विक्रिया करते समय भी औदारिक शरीरसंज्ञक नामकर्मका ही उदय है। मनुष्यगतिमें १०२ एक सौ दो प्रकृति तथा तिर्यच गतिमें १०७ एक सौ सात प्रकृतियां उदय होने योग्य हैं। इनमें वैक्रियिकशरीर नहीं गिनाया गया है। अतः विक्रियायुक्त मनुष्योंका औदारिक शरीर होते हुये भी अणु, महत्, आदि विविधकरणस्वरूप विक्रियाके प्रयोजनवाला होनेसे लिन्हीं किन्हीं वैक्रियिक कह दिया गया है। सिद्धान्तशालमें तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव और किन्हीं किन्हीं पंचेंद्रिय तिर्यच मनुष्योंके कदाचित् वैक्रियिक शरीरका भी सद्भाव कहा है।

यथौदारिकनामकर्मसमुद्धवमौदारिकं तथा वैकियिकनामकर्मसमुद्धवं वैकियिकं युक्तं तथा तदल्रिक्ष्मत्ययं वैकियिकं । न हि ल्लाब्स्यिकं कारणं वैकियिकनामकर्मोदयस्यापि कारणत्वादन्यथा सर्वस्य वैकियिकस्य तदकारणत्वप्रसंगात् । तेनेदमौदारिकत्वेपि कथंचिदौ-दारिकाद्भिनं ल्लाब्स्ययत्विविध्यात् । किंचिदेव हि ल्लाब्स्ययं वैकियिकिमष्टं न सर्वम् ।

जिस प्रकार औदारिक शरीर संज्ञक नामकर्मके उदयसे अच्छा उत्पन्न हुआ शरीर औदारिक कहा जाता है, तिस ही प्रकार नामकर्मकी शरीरनामक प्रकृतिके उत्तर मेद हो रहे वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मसे बहुत अच्छे उत्पन्न हुये शरीरको वैक्रियिक शरीर कहना उचित है। किन्तु तिस प्रकार वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ वह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो छन्धिको कारण मानकर नहीं उपजा है और तपस्त्रियोंके वैक्रियिक शरीरमें कारण तो छन्धि है। इस वैक्रियिक शरीरका कारण केवछ छन्धि ही नहीं है। किन्तु देव, नारिकयोंके, शरीरमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक नामकर्मका उदय नहीं माना जायगा तब तो उस वैक्रियिक नामकर्मक उदयको सम्पूर्ण वैक्रियिक शरीरोंके कारण नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। तिस कारण औदारिक शरीरपना होते हुये भी यह तपस्त्रियोक्ता विक्रियालक शरीर सार्वदिक औदारिकसे कथंचित् मिन्न है। क्योंकि उस विक्रियालक शरीर के विषयमें छन्धिको कारण हो जानेका ज्ञानी जीवोंको निश्चय हो रहा है। कोई ही वैक्रियिक शरीर छन्धिनामक कारणसे जन्य माना गया है। सभी वैक्रियिक शरीर तो छन्धिप्रत्यय नहीं हैं। देव नार-कियोंका वैक्रियिक शरीर न्यारा है तथा औदारिक शरीरधारी चक्रवर्ती आदिकोंका विक्रियालक शरीर भी इस छन्धिप्रत्यय वैक्रियिक शरीरसे निराख है, व्याख्याप्रज्ञतिदंडक नामक सिद्धांत शाखोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका कदाचित् होना इष्ट किया है।

तैजसमपि किंचित्तांद्रश्रमित्याह।

श्री उमास्वामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि क्या तैजस शरीर भी कोई तिस प्रकार कियको कारण मानकर उपज जाता है ? आज्ञा दीजिये, यों विनीत शिष्यकी जिज्ञासाकी हृदयङ्गत कर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

किन्हीं किन्हीं तपित्रयों के तैजस शरीर भी छव्धिको कारण मानकर उपज जाता है। छव्धियत्ययमित्यज्ञवर्तते, तेन तैजसमिष छव्धियत्ययमिष निश्चेयं।

पहिलेके " लिश्यप्रत्यंय च " सूत्रसे लिश्यप्रत्ययं इस पदकी अनुशत्ति कर ली जाती है तिस कारण तैजस शरीर भी कोई कोई लिश्यको कारण मानकर भी उपज बैठता है, यह निश्चय कर लेना चाहिये। पहिला अपि शद्ध वैक्रियिक का साहित्य करने के लिये है और दूसरा अपि शद्ध तो सभी संसारी जीवों के साधारण अल्लिश्यत्यय तैजस शरीरका सहभाव करने के लिये सार्थक है।

तदपि लब्धिमत्ययतागतेरेवं भिन्नमौदारिकादेरित्याह ।

लियको कारण मानकर उपजनेकी इति हो जानेसे ही वह लियप्रत्यय तैजस शरीर भी औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीरोंसि भिन्न है, इसी बातको प्रन्थकार अप्रिमवार्तिक ढारा कह रहे हैं।

तथा तैजसमप्यत्र लिध्धप्रत्ययमीयतां। साधारणं तु सर्वेषां देहिनां कार्यभेदतः॥ १॥

जिस प्रकार ठान्धप्रत्यय वैक्रियिक हारीर है उसी प्रकार यहां तैजत हारीर भी ठान्धिप्रत्यय समझ ठेना चाहिये। हां, पाइठे गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चीदहवें गुणस्थानतक सम्पूर्ण संसारी जीवोंके पाया जानेवाठा साधारण रूपका जो तैजत हारीर है वह तो अपने अपने कर्तन्य कार्योंके भेदसे निराठा है अर्थात्—तेजीवर्गणासे बन कर सभी संसारी जीवोंके पाया जा रहा सूर्म तैजसहारीर न्यारा है, जिसका कि कार्य सभी संसारी जीवोंके हारीरमें साधारण रूपसे प्रभाकी उत्पत्ति कर देना है। हारीरमें विरुक्षण कांति या विशेष ठावण्य तो आदेय संद्रक नामकर्मका कार्य है, तथा नियतदेशमें सुभिक्ष, दुर्मिक्ष, अग्निदाह, आदि कर देना इस ठान्धिप्रत्यय तैजसशरीरका कार्य है। इस कारण कार्मणहारीरके साथी साधारण तैजसहारीरसे इस ठान्धिप्रत्यय तैजसमें भेद है। औदारिक, बैकियिक, आहारक और कार्मणसे तो इसका भेद सुप्रसिद्ध ही है।

लिधमत्ययं तैजसं द्विविधं, निस्सरणात्मकमनिःसरणात्मकं च । द्विविधं निःसरणात्मकं च श्रवस्तामवास्तभेदात् लिध्यमत्यत्वदिव भिन्नं न्नरीरांतरं गम्यतां, यत्तु सर्वेषां संसारिणां साधारणं तैजसं तत्स्वकार्यभेदाञ्चिम्मीयतां ।

लिखको कारण मानकर उपजा जो तैजस शरीर है, वह दो प्रकारका है। एक तो शरीरसे बाहर निकल हुआ निस्सरणात्मक है और दूसए शरीरसे बाहर नहीं निकल रहा अनिस्सरणात्मक है। पहिला निस्सरणात्मक तैजसशरीर तो प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है। जो तप्स्ती ऋषिके मुसादकी अपेक्षा रखता हुआ और दुर्भिक्ष, महामारी रोग, आदि ब्याधियोंका निराकरण करता हुआ सुभिक्ष, सुख, शान्ति, अनुप्रह, आदिका संपादक है, वह प्रशस्त तैजस है। और जो अत्यन्त कुद्ध हुये द्वीपायन मुनिके समान ऋषिके वामबाहुसे निकलकर इधर उधर कितने ही नियत क्षेत्रको दाध करता हुआ पुनः मुनिके मृलशरीरको भी दाध कर देता है वह पुतला अप्रशस्त तैजस है। छठे या सातवें गुणस्थानसे उत्तरकर अत्यन्त कुद्ध हुये मुनिके पहिला गुणस्थान होजाता है। लिखस्वरूप कारणसे उत्पन्न हुआ होनेसे ही यह तैजसशरीर भिन्न हो रहा अन्य शरीरोंस निराला समझ लेना चाहिये। किन्तु जो सम्पूर्ण संसारी जीवोंके साधारण रूपसे पाया जा रहा तैजसशरीर है वह तो अपने अपने कार्यके भेदसे भिन्न ही समझ लिया जाओ। औदारिक, बैकियिक, और आहारक, शरीरोंके भीतर प्रविष्ट होरहा शरीरोंकी सामान्यदीसिका कारण आनिस्सरणात्मक तैजस है।

तैजसवैक्रियिकयोः लन्धिमत्ययत्वाविशेषादमेदमसंग इति चेक्क, कर्मभेदकारणकत्वाद्धे-दोपपत्तेः। सत्यपि तयोर्लन्धिमत्ययत्वे तैजसवैक्रियिकनामकर्मिक्शेषोदयापेक्षत्वाद्धेदो युच्यत एव।

यहा कोई रांका करता है कि लिब्धका कारण मानकर जब कोई तैजसशरीर उपज रहा है और लिब्धनामक कारणसे किसी वैक्रियिक शरीरका भी उपजना स्वीकार किया गया है, ऐसी दशामें कारणके अभेदसे कार्यका भी अभेद होजायगा। दोनों शरीरोंकी उत्पत्ति करनेमें लिब्धको कारणपना विशेषतारहित होकर विद्यमान है। अतः तैजस और वैक्रियिक शरीरोंकी अभेद होजानेका प्रसंग आता है। आचार्य कहते है यह तो नहीं कहना। क्योंकि मिन मिन कर्मोंको कारण मानकर वे दोनों शरीर उपजते हैं। अतः दोनोंमें भेद बन रहा है। यद्यपि उन दोनोंमें लिब्धकरययपना सामान्य रूपसे विद्यमान है, तो भी तैजस या वैक्रियिक इन दो विशेष नामकर्मोंके उदयकी अपेक्षा रखनेवाले होनेसे उनमें भेद पड जाना युक्तिपूर्ण ही है। अर्थात् त्यास्वर्णों या अन्य तियंच, मनुष्योंमें वैक्रियिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं है, बन्ध करके विक्रिया करते समय मुनिक औदारिक शरीर नामक नामकर्मका ही उदय है। किन्तु विक्रियासक प्रयोजनको धारनेवाले बिशेष औदारिक शरीर नामक नामकर्मका ही उदय है। किन्तु विक्रियासक प्रयोजनको धारनेवाले बिशेष औदारिक शरीर नामकर्मका यहां '' वैक्रियिक नामकर्म '' यह विशेष संज्ञा दे दी गई है। तेजोवर्गणासे साधारण स्वस्म तैजसशरीर बनाया जाय, अथवा लिब्धयर तैजस पुतला बनाया जाय, सर्वदा तैजसशरीर संज्ञक नामकर्मका उदय बना रहना स्पष्ट ही है। दूसरी बात यह है कि लिब्ध शह मन्ते ही एकादश होय किन्तु दोनों लिब्धयोंकी जाति न्यारी न्यारी है। मिन कारणोंसे मिन कार्य हो जाना समुचित है।

संमत्याहारकं शरीरमुपद्रश्रेवति ।

वैक्रियिक रारीर और प्रसंगव्राप्त विशेष तैजस शरीरका निरूपण कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अब वर्तमान कालमें प्रकरण प्राप्त आहारक शरीरका निर्धारण कराते हैं ।

शुभं विशुद्धमञ्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्येव ॥ ४९ ॥

ग्राभकर्म माने गये आहारक काययोगका कारण होनेसे आहारक शरीर ग्राम है। स्वयं मूलमें भी शुभ है, जैसे कि शुभ या परम अतीन्द्रिय सुखका कारण होरही अहिंसा निज गांठकी भी शुभ और परम सुखस्बरूप है । और पूर्व कालमें उपार्जित विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीर विश्रद्ध है। निजस्त्ररूपमें भी विशुद्ध है, धवल है, यानी सर्वार्थसिद्धिके देवोंके शरीर समान स्वच्छ शुक्र वर्ण है। आहारक रारीरसे किसी अन्य पदार्थको आघात नहीं पहुंचता है। अन्य पर्वत, जल, अग्नि आदि पदार्थीसे आहारकशरीरका भी व्याचात नहीं हो पाता है। ऐसा आहारक शरीर छठे गुणस्थान वर्ती प्रमादयक्त संयमी मुनिके ही कदााचित् पाया जाता है। अर्थात्-छठे गुणस्थानवर्ती मुनि कभी लिब्बविशेषको जाननेके लिये या कभी सूक्ष्मपदार्थका निर्णय करनेके लिये. जिनचैत्यालयोकी वंदना करनेके लिये अथवा असंयमको दूर करनेके लिये, स्वकीय अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आहा-रक शरीरको रचते हैं। निकटवर्ती स्थानोंमें केवली या श्रतकेवलीका सन्निधान नहीं होनेपर उक्त प्रयोजनोंको साधनेके लिये दूरवर्त्ती केवलियोंके पास पहुंचनेमें स्थूल औदारिक शरीरसे गमन करते हुये महान् असंयम हो जाना संभावित है। औदारिक शरीरसे वहां इतना शीघ्र पहुंच भी नहीं सकते हैं। अतः मुनि महाराज इल धातुरहित, संहननरहित, शुभसंस्थान, स्वच्छ धौले, अन्याघाति, आहारकरारीरको बनाकर अपने उत्तमांग शिरसे निकालते हैं। आहारकरारीरमें आंखे. कान, नाक, हथेली, अङ्गली आदि सम्पूर्ण अंग, उपांग पाये जाते हैं । ढाई द्वीपमें कहीं भी विराज रहे केवली या श्रुतकेवली मुनिका दरीन कर वह लौट आता है। अथवा जिनचैत्यालय या तीर्धकर महाराजके तपःकल्याणकका निरीक्षण कर छौट आता है. एक बार बनाया गया आहारकशरीर अन्तर्महर्त्ततक टिका रह सकता है, पश्चात् विघट जायगा ।

शुभं मनःपीतिकरं विशुद्धं संक्षेत्ररिहतं अन्याघाति सर्वतो न्याघातरिहतं च शद्घादु-क्तविशेषणसमुख्यं । एवं विशिष्टमाहारकं श्ररीरमरित्नमात्रं प्रमत्तसंयतस्यैव मुनेर्नान्यस्येति प्रतिपत्तन्यं ।

सूत्रमें पड़े हुये ग्रुभ शद्धका अर्थ मनको प्रीति कर देनेवाला है। विशुद्धका अर्थ तो वह आहारक शरीर संक्रेश परिणामोंसे रहित है। सब ओरसे न तो अपना व्याघात होय और न अपनेस दूसरे पदार्थोंको आघात पंहुंचे ऐसा व्याघातरहित आहारक शरीर अव्याघाति है। सूत्रमें पड़े हुये च शद्धसे उक्त दो विशेषणोंका समुच्चय हो जाता है। इस प्रकार कई विशेषणोंसे ग्रुक्त हो रहा यह हस्त (अरिल)

प्रमाण कोतीसे लेकर सबसे छोटी अंगुलीतक लम्बे हाथकी नापको अरिन कहते हैं। आहारक शरीर अतिशय युक्त ऋदिधारी प्रमक्तसंयमी मुनिके ही होता है। अधिकसे अधिक या न्यूनसे न्यून छठवें गुणस्थानसे अन्य गुणस्थानोंको धारनेवाल मनुष्योंके नहीं हो पाता है। देव, नारकी, और तिर्यच जीवके आहारक शरीर होनेका असम्भव है, यह समझ लेना चाहिये। आहारकके स्वामी कहे गये प्रमक्तसंयतके साथ एवकार लगा देनेसे प्रमक्तसंयमीके ही आहारकशरीर है, यो अवधारण करना उचित है। प्रमक्तसंयमीके आहारक ही है, यह अनिष्ट अधारण नहीं कर बैठना। अतः उक्त मुनिके औदारिक या वैक्रियिक शरीरकी निवृत्ति नहीं हो पाती है।

तच्छरीरांतरात्कृतो भिन्नमित्याइ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि शरीरोंमें परस्पर भेदको साधते हुये आप युक्तियां देते हुये चले आ रहे हैं। तदनुसार यह बताओ कि औदारिक, बैिक्रियिक आदि अन्य शरीरोंसे वह आहारक भला किस कारणसे भिन्न हो रहा है १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचन कहते है।

आहारकं शरीरं तु शुभं कार्यकृतत्वतः । विशुद्धिकारणत्वाच विशुद्धं भिन्नमन्यतः ॥ १ ॥ अञ्याघातिस्वरूपत्वात्प्रमत्ताधिपतित्वतः । फलदेतुस्वरूपाधिपतिभेदेन निश्चितम् ॥ २ ॥

औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, ये नहीं किन्तु आहारक शरीर (पक्ष) शुम है, (साध्य) शुमकार्य आहारक काययोगको करनेवाला होनेसे अथवा शुमक्रियाओं द्वारा बनाया जा चुका होनेसे (हेतु)। इस अनुमान द्वारा आहारक शरीरमें शुमपना सिद्ध होजाता है जो कि अन्य शरीरोंसे आहारकको मिन्न कर देने का ज्ञापकिलग है। तथा दूसरा अनुमान यह है कि आहारकशरीर (पक्ष) विशुद्ध है (साध्य) विशुद्धिका कारण होनेसे (हेतु)। बहुवीहि शृत्ति करनेपर निरवध विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे यह अर्थ भी निकल पडता है (हेतु)। इस अनुमानदार। विशुद्धता सिद्ध होजानेपर वह विशुद्ध आहारक शरीर अन्य चार शरीरोंमेंसे निराला साध लिया जाता है। अन्याधाति स्वरूप होनेसे और जिसका स्वामीपना प्रमत्तसंयमी, मुनि महाराजको है। प्राप्त होरहा होनेसे वह आहारक शरीर अन्याधाति और प्रमत्तस्वामिक होता हुआ अन्य शरीरोंसे मिन्न है। यों श्री उमास्वामी महाराज द्वारा इस सूत्रमें कहे गये फल, हेतु, स्वरूप और अधिपतिके भेद करके आहारक शरीरमें भेदका निश्चय कर लिया गया है। शुमं, विशुद्धं, अन्याधाति, ये आहारक शरीरके तीन विशेषण प्रथमा विमक्तिवाले है तथा पण्डी विमक्तिका अर्थ स्वामी कर प्रमत्तसंयतस्य का पर्याय

वाची शद्ध " प्रमत्तस्वामिकं " बना िव्या जाता है। प्रथमा विभक्तिवाले विशेषण मी क्रांचित् भाषक हेतु अर्थमें तत्पर माने जाते हैं। जैसे कि " गुरवा राजमाषा न अक्षणीयाः " प्रकृतिमें आरी हैं। मैसे रमास नहीं खाने चाहिये, उसी प्रकार इतर शरीरोंसे व्यावृत्तिको साधनेके लिये आहारक शरीरके सम्पूर्ण विशेषणोंको यहां अव्यक्तिचारी ज्ञापक हेतु बना दिया गया है। पहिला श्रुमविशेषण तो आहारक शरीरका फल है। दूसरा विशुद्ध विशेषण आहारक शरीरका कारण है। तीसरा अव्याद्याति विशेषण तो आहारक शरीरका सरक्ष्य है और चौथा विशेषण आहारक शरीरके अधिपतिका बखान करनेवाला है। भेद सिद्ध करनेके लिये ये विशेषण पर्याप्त है।

आहारकं वैक्रियिकादिभ्यो भिमं शुभफलत्वादिस्पत्रानिकातिकातं हिताः वैक्रियिकादेरिप शुभफलस्योपलभादिति न मंतव्यं, नियमेन शुभफलत्वस्य हेतुत्वात् । विश्वाद्धिकारणत्वात् तती भिन्नमित्यत्रापि लब्धिमत्ययेन वैकियिकादिना हेतोरनेकांत इति नार्शकनीयं, नियमेन विश्व-दिकारणत्वस्य हेतुत्वात् । सम्रदभूतलब्धेरिप कोधिदसंक्छेशपरिणामवशाद्विकियोदिनिवेतिनादि-शुद्धिकारणत्वनियमाभावात् ।

यहां किसीका आक्षेप है कि आपने जो पहिला अनुवान यह कहा है कि ध्रीम फलवाला होनेस आहारक शरीर वैकियिक आदिकोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें मुखारा दिया हुआ शुभ फलत हेत तो व्यभिचार हेलाभास दोषवाला है। क्योंकि कोई कोई वैक्रियिक, औदारिक आदि शरी-रों के भी शुभफल सहितपना देखा जाता है। यानी उपकारी पुरुष, ब्रह्मचारिणी विशल्या या परिहार विश्वद्धि संयमवाले अथवा औषध ऋद्धिधारी मुनियोंके औदारिक शरीर तथा संपंतियोंके वैक्रियिक श्रीर या उपकारी देवोंके वैकियिक शरीर भी श्रभ फल्दायक हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेपकारको नहीं मानना चाहिये । क्योंकि इमने हेतुमें नियमेन यह शह औड दिया है जो नियम करके द्राम फलवाला होय वह आहारक ही है। बद्धतसे कपायी, हिंसक, मनुष्य पशु पंक्षिओंके औदारिक या संक्रिष्ट असरोंके बैक्रियिक शरीर तो नियमसे शुभफळ्याले नहीं हैं। अतः व्यक्तियार दींपका निवारण हो जाता है। दूसरे हेतुमें पुनः किसीकी आशंका है कि आहारक शरीर (क्क्ष) उन वैक्रियिक आदिकोंसे भिन्न है (साध्य) विश्वद कारण होनेस (हेतु) यों इस अनुमानमें भी लिधकारणक वैक्रियिक आदि करके विशुद्धकारणल हेतुका व्यभिचार हो जाता है, मुनियेंकि हुआ वैिक्रियिक शरीर भी विशुद्ध कारणवाला है । प्रशस्त तैजस शरीर भी विशुद्ध कारण है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह आरोका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यहां भी हेतु दलमें नियमको कहमेवाला एवकार समा देना चाहिये । सभी बैक्रियिक या तैजसरारीर विद्युद्धि कारण नहीं हैं। '' प्रमत्तसंयतस्यैव '' यहां अंतर्मे पडे हुये एवकारको पूर्वपदोमें भी अन्वित कर छेना चाहिये। नियम करके विद्वादिकारण आहारक ही है। जिमको निरोध सपस्यासे ऋदि उत्पन हो चुकी है, ऐसे मुनिक भी कदाचित औष, अरित,

शाहि संकेश परिणामोंको अधीनतासे विकिया, तैजस, आदिका बना छेना देखा जाता है। अतः वैकि-विक या तैजसक्षरियों विद्युत कारणपनेका सार्विकक, सार्विवक, सार्वव्यक्तिक, नियम नहीं है। यों व्यभिचार दोषकी निष्टिक हो जाती है।

अन्यावातिस्वरूपत्वादाहारकं शरीरांतराद्धिश्रमित्वस्मिश्वपि तैजसादिनो हेक्नोर्न्यभि वार इत्यबोद्यं, प्राणिबाधापरिहारलक्षणस्यान्याघातित्वस्य हेतुत्वात् । प्रमत्ताथिपतित्वमपि नाहार-कस्य शरीरांतराद्धेदे साध्येनैकांतिकं, विश्विष्टप्रमत्ताधिपतित्वस्य हेतुत्वात् । ततः स्नूकं फलहेतु-स्वरूपाधिपतिभेदेन भिश्रमाहारकमन्येभ्यः शरीरेभ्यो निश्चितमिति ।

पनः किसीका तीसरे अनुमानपर कचोषा उठता है कि अन्याचातिस्वक्रप होतेसे आहारक-राधिर अन्य वैक्रिपिक आदि राधिरोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें भी तैजस आदि शरीरों करके अन्याचातिपन हेतुका न्यभिचारदोष आता है । सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीबीका औदाहिक शरीर अन्याचातिः है, कही रुकता नहीं है, किसीको रोकता भी नहीं है। तैजस और कार्मणशरीर तो " अप्रतीघाते " इस सूचकरके व्याघातरहित साथ ही जा चुके है, वैकियिक शरीर भी पर्वत या वज्र पटलमें हो हर चले जाते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह पर्यनुयोग हमारे ऊपर नहीं उठाया जा सकता है। क्योंकि प्राणियोंकी बाधाका परिहार कर देना यही अञ्याघातिपनका स्वरूप यहां हेतुकोटिमें विवक्षित है। आहारकशरीर जहां होकर निकल जाता है, वहांके श्राणियोंकी रोग, भय, आदि बाधायें दूर होती चली जाती हैं। वैक्रियिक शरीरधारी इन्द्रकी शक्तिका भी प्रतिघात हो जाना सुना गया है। किन्तु आहारकशरीरकी सामर्थ्य अप्रतिहत है। जिसके शरीरमें एक बार होकर निकल जाता है, उसको बार बार आहारक शारीरके आने, जाने, की आमिलाषायें बनी रहती हैं। प्राणियोक्षी बाधाओंका परिहार जितना आहारकशरीरसे होता है, उतना अन्य शरीरोंसे नहीं हो पाता है। भाहारक शरीरके स्वामी छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्तसंयमी हैं। यह चौथा हेतु भी आहारकशरीरके इतर शरीरोंसे भेदको साध्य करनेमें व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि सभी छठे गुणस्थानवर्ती मनियोंके नहीं. किन्त हजारों, लाखों, मेंसे किसी एक विशिष्ट प्रमत्तसंयमी मुनिको आहारक शरीस्का अधिपतिपना प्राप्त हो सकता है। उस विशिष्टताके लगा देनेसे प्रमत्ताधिपतिल हेतु निर्दोष बन जाता है। तिस कारण श्री उमास्त्रामी महाराजने सूत्रमें या मुझ विचानन्द स्वामीने उक्त दो वार्तिकोंमे यों बहत अच्छा कहा था कि फल १ हेत २ स्वरूप ३ और अधिपति ४ के भेद करके ये आहारक शरीर अन्य चारों शरीरोंसे भिन्न ही बिर्धात कर दिया गया है। यहांतक पांचों शरीरोंका निरूपण समाप्त होचुका है।

> चतुर्दशभिरित्येवं सूत्रेरुक्तं प्रपंचतः । शरीरं तीर्थिकोपेतशरीरविनिवृत्तये ॥ ३ ॥

यहांतक यों उक्त प्रकार चौदह सूत्रों करके विस्तारसे संसारी जीवोंके शरीरोंको श्री उमास्त्रामी महाराजने अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकार किये गये अनेक कल्पित शरीरोंकी विशेषतया निवृत्ति करनेके िक्ये स्पष्ट कह दिया है। अर्थात्—" औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजनकार्मणानि शरीराणि " से प्रारंभ कर "शुमं विशुद्धमञ्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव" इस सूत्र पर्यन्त चौदह सूत्रों करके पांच शरीरोंका व्याख्यान सूत्रकारने किया है, जो कि अन्य मतावल्लियों द्वारा माने गये शरीरोंकी निवृत्ति करता रहता है। कोई पंडित स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दो हींको स्वीकार करते हैं। वैशेषिक तो योनिज और अयोनिज इस प्रकार शरीरके दो भेद मानते हैं। बौद्धजन स्वप्नान्तिक अथवा स्वाभाविक शरीरोंको भी मान बैठे हैं। नैयायिक समाधिअवस्थाम योगी, स्नी, पुत्र, राज्य, आदि भोगोंको भोगनेके लिये अनेक शरीरोंका निर्माण कर लेता है, भोगे विना कर्मोका नाश नहीं हो पाता है, ऐसा मान बैठे हैं। इत्यादि मन्तव्योकी निवृत्तिके लिये आचार्योने पांच ही शरीरोंका अन्यूनानतिरिक्तरूपसे निरूपण किया है। अब न्यारा प्रकरण चलाया जाता है।

अथ के संसारिणो नपुंसकानीत्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछ रहा है कि कौनसे संसारी जीव नपुंसकछिगी हैं ? ऐसी आकाक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते है ।

नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

सात नरकोंमें निवास करनेवाले नारकी तथा एकेन्द्रिय, द्रीन्द्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय, जीव और पंचेन्द्रियोंमें अनेक तिर्यच एवं मनुष्योमें लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य ये संमूर्जन जन्मवाले जीव नपुंसक- लिङ्गी हैं । अर्थात्—अवाकी अप्निके समान कषायवाले इन जीवोंके मैथुनसंज्ञाजन्य तीववेदना बनी रहती है । इस कारण इनकी आत्मामें सर्वदा कलुपता रही आती है । स्त्री या पुरुषोंमें पाये जानेवाले स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख इनको नहीं प्राप्त होते है ।

नारकाः संमृष्टिंनश्च नपुंसकान्येव भवंति ।

घनांगुल परिमित प्रदेशोंकी संख्याके दूसरे वर्गमूलसे गुणा की गयी जगच्छ्रेणीके प्रदेशों बराबर सम्पूर्ण नारकी जीव असंख्याताऽसंख्यात है। तथा सम्मूर्लन जन्मवाले अनन्तानन्त संसारी जीव हैं। ये सब नपुंसक ही होते है। मावार्थ—इनमे स्त्री, पुरुष, व्यवहार नहीं है, कभी कभी दो मिन्ख्यां चिपटी हुई देखी जाती हैं। ये उनकी केवल शारीरिक किया है। कोई गर्भधारण किया नहीं है। यों तो कोई कोई खिलोने भी चिपटे हुये देखे जाते है, चीटियोंके अण्डे भी उनके पेटसे निकले हुये नहीं हैं। केवल यहां वहां मल, मूत्र स्थानोमेंसे सडे, गले, हुये पुदलोंको लेकर वे विशेष स्थानोमें धर लेती है, कालान्तरमें वहा जीवींका जन्म होकर वही पुदल चीटियोंका शरीर बन

जाता है। मधु मक्की, खटमल, शींगुर, ज्ंआ आदि जीवोंकी भी यही व्यवस्था है। माता पिताके शुक्र, शोणित, से गर्भाशयमें इन जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है। यों तो किव लोगोंने घडा घडी, कटोरा कटोरी, नद नदी, चादर चादरा, आदि जड पदार्थीमें भी स्नीलिंग, पुल्लिंगका व्यवहार कर लिया है। वैज्ञानिकोंने केला केली, भी मान लिये हैं। क्रियोंके पाद प्रहार या कुल्ला करनेसे कई वृक्षोंका फलना, फलना, अभीष्ट किया गया है। इसमें कल्पना भाग बहुत है। सम्मूर्छन शरीरोंके उपयोगी साधनोंके जुटानेमें सहाय कर देना मात्र भित्तिपर भारी कल्पनायें गढ ली गयी हैं, जो कि नियत कार्यकारणभावका भंग कर देनेवालीं हैं। सिद्धांत दृष्टिसे विचारनेपर सम्पूर्ण सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंगी ही सिद्ध होंगे। वृक्षोंमें स्नी या पुरुषोंके समुचित अंगोपांग ही नहीं है। द्वीन्द्रिय, त्रीदिय, चीइन्द्रिय जीवोंके गर्भाशय नहीं हैं। अतः आचार्योंने जो इन्हें नपुंसक लिंगी कहा है, वह युक्तिपूर्ण है।

देवेषु तत्प्रतिषेधमाइ।

देवोंमें उस नपुंसक लिंगका सर्वथा निषेघ करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे है ।

न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों निकायके सम्पूर्ण देव नपुंसक लिंगवाले भी नहीं है । सम्पूर्ण देविया श्रीलिंग हैं तथा देव सम्पूर्ण पुर्लिंग ही हैं ।

देवा नपुंसकानि नैव संभवंतीति सामर्थ्यात् पुंमासो देवाः स्त्रियश्च देव्यो भवंतीति गम्यते । कुत इत्याह ।

देव गतिवाले जीवोंमें नपुंसक लिंगकी सम्भावना नहीं है, यों निषेध कर देनेसे विना कहे ही शादकी सामर्थ्यसे विधिमुख करके यह जान लिया जाता है कि देवनिकायमें पुर्छिगवाले देव होते हैं। और खीलिंगवाली देवियां होती हैं। कोई पूंछता है कि यह उक्त सिद्धान्त किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम दो वार्तिकोंमें युक्तियोंको कहते हैं।

नारका देहिनस्तत्र प्रोक्ताः संमुर्छिनश्च ये । नपुंसकानि ते नित्यं न देवा जातुचित्तथा ॥ १ ॥ स्त्रीपुंससुखसंप्राप्तिहेतुहीनत्वतः पुरा । नपुंसकत्वदुःखाप्तिहेत्वभावाद्यथाक्रमं ॥ २ ॥

नारकी जीव और सम्पूर्छन शरीरघारी प्राणी जो वहां प्रकरणोंमें अच्छे ढंगसे कहे जा चुके हैं, व सम्पूर्ण जीव अपनी अवस्थापर्यन्त सर्वदा न र्ह्स हिंगी ही बने रहते हैं। हां, देव तो कभी भी तिस प्रकार चपुंसकिंगी नहीं हैं। इब दो सूत्रोंके प्रभेयमें वे वश्यमाण दो ज्ञापक हेतु हैं कि पूर्व जन्ममें लियोंके उचित सुखों और पुरुषोंके समुचित सुखोंकी अच्छी प्राप्तिके कारण होरहे शुभ कियायोंका अनुष्ठान या पुण्यविक्षेषकी हीनता हो जानेसे नारक और सम्मूर्छन जीव स्वकीय पापोदयसे इस जन्ममें नपुंसकिंगी होजाते हैं। जैसे कि पुण्यहीन अवस्थामे पापकर्मका उदय आजानेपर कई घोडे या बैद्ध बहिरा रूपसे नपुंसक कर दिये जाते हैं अथवा कोई कोई गर्मज मनुष्य या पशु भी नपुंसक देखे जाते हैं। देव नपुंसकिंगी नहीं हैं। क्योंकि पूर्वजन्ममें आधुनिक नपुंसकपते दुःखकी प्राप्तिका कारण मानी गयीं अञ्चमित्रया या नपुंसकवेदकर्मका उपार्जन नहीं होनेसे देव स्वकीय इस जन्ममें. नपुंसक नहीं होपाते हैं। यो दोनों सूत्रोंमें दोनों हेतुओको यथाक्रमसे छगा छेना चाहिये।

नारकाः संमृधिनश्च प्राणिनो नपुंसकान्येव, स्त्रीपुंससुरतसंपाप्तिकारणरहितत्वात् पूर्व-स्मिन् भवे नपुंसकत्वसाधनानुष्ठानात् । देवास्तु न कदाचित्रपुंसकानि जायंते नपुंसकत्वदुःखा-प्तिकारणाभावादिति यथाकमं साध्यद्वये हेतुद्वयं प्रत्येयं ।

श्री विद्यानन्द स्वामी दो अनुमान बनाते हैं कि नारक जीव और संमूर्छन प्राणी (पक्ष) नपुंसक ही होते हैं, (साध्य) । बासुख और पुरुष सुखकी समीचीन प्राप्तिके कारणोंसे रहित होनेसे (हेतु) साथमें पूर्वभवमें नपुंसकपनेके साधनोंका अनुसान करनेसे (हेतु)। अर्थात्—वर्तमानके नारक या संमूर्छन जीवोंने पूर्वभवमें ऐसे प्रशस्त कार्य नहीं किये थे जिससे कि इस जन्ममें स्नीसुख, या पुरुषसुखकी प्राप्ति हो जाती। अधिक लज्जा करना, कोरा शृंङ्गार करनेमे समय यापन करना, अधिक अभिमान करना, दन्त्र बने रहना, संज्ञी विचारशाली सामर्थ्यवान् होते हुये भी महान् कार्योंको नहीं कर सकता, पुरुषोसे प्रेमप्राप्तिके भाव रखना, इनसे और इनके अतिरिक्त कुछ चुभकर्म करनेसे भी भविष्यमे स्रीसुखोंकी प्राप्ति हो जाती है तथा अल्पकोध, स्वदारसन्तोष, श्रङ्गार करनेमें अनादर, महान कार्यीमे पुरुषार्थ करना, चित्तमें उदारता रखना, बीरता आदि क्रियाओंसे भविष्यमें पुरुष उचित सुखोंकी प्राप्ति होती है। ये दोनों प्रकारके कार्य नारकी और संमुर्छन जीवोंने नहीं कर पाये हैं। तथा प्रचुर क्रोध, गुप्त जनन इन्द्रियोंका घात, स्त्रीपुरुषोंके, कामसेवन अंगोंसे भिन्न अंगोंमें आसक्ति करना, व्यसन सेवना, परश्लीमें छोछपता रखना, तीत्र अनाचार आदिक नपुंसकत्वके साधनोंका पहिले जन्मोंमे अनुष्यन किया है । इस कारण इस जन्ममें क्युंसकक्रिंगवाला होता पड़ा है । इनके श्री और पुरुषोमें पाया जा रहा सनोज्ञ पंचेदियोंके विषय माने गये शहू, गन्य, रस, स्पर्श, रूपके, निमित्तसे होनेवाला स्वल्प भी सुख नहीं है। तथा दूसरा अनुमान यो है कि देव तो (पक्ष) कभी भी नपुंसक लिंगवाले नहीं उपजते हैं (साध्य)। नपुंसकपन दुःखनी प्राप्तिके कारणींक। अभाव होनेसे (हेतु), मोगोपभोगी, बालेख, धनाड्य, प्रेससुक्त दुम्पिके समान (अन्वयदृष्ट ।न्त) अर्थात्—देव देवियोंने पूर्वभवमें अत्यधिक छोमपरिणाम शुभकार्योंमें अनुसाह, व्यभिचार आदि कारणों द्वारा नपुंसकत्वके साधनों हो नहीं मिला पाया है, किन्तु प्रशस्त कृतियों द्वारा खीत्रख, और पुरुष

सुंखकी, प्राप्तिके कारणींको जुटाया है। अतः वे जीसम्बन्धी और पुरुषसम्बन्धी निरितशय सुखका अनु-भव करते रहते हैं। यों देन नपुंसकिंगवाले नहीं हैं। इस प्रकार दोनों साध्योंमें यथाकम दो हेतु-औंको लगाकर समझ लेना चाहिये। सूत्रकारके प्रतिज्ञावाक्योंमें है। समर्थहेतु लिया हुआ है। आनु-यानिक विद्वानींकी दृष्टिमें अतीन्द्रिय पदार्थ भी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास जाते हैं।

शेषाः कियद्वेदा इत्याह ।

नारक, संमूर्छन, प्राणी और देवोंसे अवशिष्ट रहे जीवोंके कितने वेद है, ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री उमास्त्रामी महाराज नवीन सूत्रको कहते हैं।

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

उक्त तीन प्रकारके जीवांसे शेष रहे गर्भजन्य जीवोंके श्रीकिंग, युक्तिंग, और नपुंसकलिंग ये तीनो वेद होते हैं।

उक्तेम्ये। वे शेषा गर्भजास्त्रिवेदाः मतिपत्तव्याः । क्रुत इत्याह ।

कहे जां चुके जीवोंसे जो रोष रहे गर्भज प्राणी हैं। वे तीनों वेदवाले समझ लेने चाहिये। कोई शिष्यं जिज्ञासा करता है कि यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे साधा जा चुका समझा जाय १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

त्रिवेदाः पाणिनः शेषास्तेभ्यस्ताहक् स्वहेतुतः । इति सुत्रत्रयेणोक्तं लिंगं भेदेन देहिनाम् ॥ १ ॥

तिन नारक, सम्मूर्छन, और देवजीवोंसे शेष रहे प्राणी (पक्ष) की, पुछिंग, नपुंसक, तीनों वेदवाले हैं (साध्य) तिस प्रकारके अपने अपने हेतुओंसे निष्पत्ति होनेसे (हेतु) तीन लिगवाले प्रसिद्ध सपौंके समान (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके विकल्प हो रहे वेदत्रयके उदयसे जो वेदा जाय वह वेद है। इसका अर्थ द्व्यलिग या भावलिंग हो जाता है। कहीं द्वय-लिंगके अनुसार ही भावलिंग होते हैं। हा, कर्मभूमिमें विषमता भी हो जाती है। क्षियोंके पुंवेदका उदय और पुरुषोंमें क्षीवेद या नपुंसक वेदका उदय भी कदाचित् पाया जाता है। गर्भज जीवोंमें अपने अपने नियंत कारणोंसे यथायोग्य तीनों वेद पाये जाते हैं। इस प्रकार "नारकसंमूर्छिनों नपुंसकानि, न देवाः, शेषाक्षिवेदाः " इन तीनों सूत्रों करके शरीरधारी प्राणियोंके भिन्न भिन्न रूपसे-लिंग कह दिये गये हैं।

श्रीवदोदयादिः श्रीवदस्य हेतुः पुंचेदोदयादिः पुंचेदस्य, नपुंसकवेदोदयादिः नपुंसक-चैदस्यति । तत एव माणिनां सीव्हिंगादिश्रयसिद्धिरिति भेदेण लिंगं सकस्रदेहिनां भूश्रियणोक्तं चेदितन्यं। वर्तमानमें किसी जीवके अन्तरंगकारण खीवेदका उदय होना या बहिरंगमें मृदुभाषण करना, पुरुषके साथ रमण करनेकी अभिलाषा रखना, अधिक श्रृंगार करना, स्वादिष्ट रस युक्त भोजन करना, आदिक कारण खीवेदके हेतु है। और अन्तरंगमें पुम्वेदका उदय होना और बहिरंगमें लोकमें उन्कृष्ट गुणोंका स्वामित्व प्राप्त करना, स्वादिष्ट गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करना, रसायन सेवन, वीररसवर्द्धिनी कियायें करना, आदि कारण जीवके पुम्वेद हो जानेमें हेतु है, तथा नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके पदार्थोंका सेवन आदिक हैं। तिस ही कारणसे (नौमें गुणस्थानतक) संसारी प्राणियोंके खीलिंग आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके लिंगकी श्री उमास्वामी महाराजने केवल तीन सूत्रों करके ही कह दिया है। यह समझ लेना चाहिये।

के पुनरत्र शरीरिणां ऽनपवर्त्यायुषः के वापत्रत्यीयुष इत्याह ।

उक्त देह थारी जीवों में फिर कौन जीव यहा अपवर्तन नहीं करने योग्य आयुष्यवाले हैं ! और किन जीवों की आयुक्त बाह्य कारणों से हास हो जाता है ! बताओ । अर्थात्—चारो गतियों के जीव क्या अपनी सम्पूर्ण आयुक्तो मोग कर मरते हे ! अथवा क्या पूर्णआयुक्ता मोग नहीं करके भी मरकर अन्य गतियों को प्राप्त हो जाते हैं ! बताओ । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज शिष्यों की व्युत्पत्ति बढाने के लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

उपपाद जन्मको धारनेवाले देव और नारकी जीव तथा चरम उत्तम शरीरको धारनेवाले तीर्थंकर महाराज एवं असंख्यात वर्षोतक जीवित रम्बनेवाली आयुको धारनेवाले भोगभूमिया, या कुभो-गभूमियां, तिर्यंच या मनुष्य इन जीवोंकी आयुका मध्यमें इस नहीं हो पाता है। परिपूर्ण आयुको भोगकर ही ये उत्तरगतिको प्राप्त करते हैं।

अंगिपादिका देवनारकाः चरमींत्यस्तज्जन्मनिर्वाणाईस्य देदः उत्तम उत्कृष्टः चरमश्रासी उत्तमश्र चरमोत्तमश्ररमिवश्रेषणम्भूत्तमस्याचरमस्य निष्टत्यर्थे उत्तमग्रहणं चरमस्यानुत्तमत्व-च्युदासार्थे । चरमोत्तमो देही येषां ते चरमोत्तमदेदाः । उपमानमाणगम्यमसंख्येयवर्षायुर्येषां ते द्वंद्वश्वत्या निर्दिष्टाः संसारिणोऽनपवत्यीयुषो भवंति इति वचनसामर्थ्यात्ततोन्ये अपवर्त्यायुषो गम्यंते ।

औपपादिक रान्दका अर्थ देव और नारकी जीव है। चरम रान्दका अर्थ सब शरीरोंके अंतमें होनेवाला मोक्षगामी जीवका पिछला शरीर है, जोकि उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य रखनेवाले जीवकी देह है। उत्तमका अर्थ उत्कृष्ट है। चरम होरहा संता जो वह उत्तम देह है, वह चुरमोत्तम

कहा जाता है। यों चरम और उत्तम शहमें कर्मधारय वृत्ति कर लीगयी है। उत्तमका विशेषण चरम दिया है । वह उत्तम शरीरके अन्तिमरहितपनेकी निवृत्तिके छिये है । अर्थात्-उत्तमशरीर अन्तमें मोक्षगामी जीवको प्राप्त होता है । अन्य संसारी जीवोंका उत्तमशरीर भी चरम नहीं है तथा चरमके विशेष्य दलमें उत्तम शहका प्रहण करना तो चरमशरीरके उत्तमरिहतपनकी व्यावृत्ति करनेके लिये है। अर्थात-व्यभिचारकी संभावना होनेपर ही विशेष्यविशेषणभाव सार्थक माना गया है। जैसे कि नीछं उत्पर्लं, यहां उत्पर्ल दसरे रंगका भी संभावित है तथा कम्बल, भीरा, जामून भी नीले होते हैं। किन्तु प्रक-रण प्राप्त होरहा कुवल्य नीला कुवल्य ही है। इस संघटित अवस्थामें विशेष्यविशेषणभाव बन रहा है। उसी प्रकार यहां भी चरमशरीरी अन्तकृत्केवली भी होते हैं। एवं ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती या वसुदेवके पुत्र श्री कृष्ण नारायण भी उत्तमशरीरवाळे माने गये हैं। अतः चरमशरीरवाळे होते हुये भी उत्तम देहधारी यहां तीर्थंकर महाराजका प्रहण किया गया है, ऐसा मेरी छघु बुद्धिमें आ रहा है। तत्त्वार्थसूत्रकी श्रुत-सागर आचार्य विरचित टीकामें चरमोत्तमदेहधारी पदसे तीर्थंकर परमदेव ही समझाये गये हैं । वहां यों लिखा है कि " चरमोंऽत्यः उत्तम उत्कृष्टो देहः शरीरं येषां ते चरमोत्तमदेहाः । तज्जन्मनिर्वाणयोग्या-स्तीर्थंकरपरमदेवा ज्ञातव्याः । गुरुदत्त पांडवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनात् नास्यऽनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति । तथा चोत्तमदेहत्वेऽपि सुभौमन्नसदत्तापवर्त्यायुर्दर्शनात । कृष्णस्य च जरत् कुमारबाणेनापमृत्युदर्शनात्मकलाई चक्रवर्तिनामध्यनपवर्त्यायुर्नियमा नास्ति इति राज-वार्त्तिकालंकारे प्रोक्तमस्ति '' । इसका अर्थ यह है । चरम यानी अन्तिम उत्तम यानी उत्कृष्ट देह अर्थात-शरीर जिन जीवोंका है वे जीव चरमोत्तम देहवाले हैं। जो कि उसी जन्ममें निर्वाण होनेके योग्य हैं । ये चरमोत्तम शरीरधारी जीव तीर्थंकर परमदेव ही समझने चाहिये । क्योंकि गुरुदत्त मुनी, तीन पांडव, या अन्य भी कितने ही महान् उपसर्ग सहनेवाले अन्तकृत्केवली महाराजोंकी उपसर्ग करके मुक्ति होना शास्त्रीमे देखा जाता है। अतः सम्पूर्ण चरमशरीरियोंके छिये आयुके हास नहीं होनेका नियम नहीं है। यों प्रभाचन्द्र स्त्रामीने न्यायनुमुदचन्द्रोदय नामक प्रन्थमें कहा हुआ है। तथा उत्तम देहवाले होते हुये भी सुभीम और ब्रह्मदत्त सकलचक्रवर्तीकी आयुका मध्यमें अपवर्त हुआ देखा जाता है एवं उत्तमशरीरधारी अर्धचकी कृष्ण नारायणकी जरतकुमारके बाण करके अपमृत्य धुनी जाती है। अतः सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती उत्तमदेहधारियोंकी आयुके मध्यमें नहीं छिन होनेका कोई नियम नहीं रहा । इस बातको श्री अकलंक देवने राजवार्तिकमें बहुत स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि " अंत्यचक्रधरवाद्यदेवादीनामायुषोपवर्त्तदर्शनादच्याप्तिः (वार्त्तिक) उत्तमदेहाश्वक्रधरादयोऽनपवर्त्त्यायुष इत्येतत् छक्षणमन्यापि । कृतः ? अत्यस्य चक्रघरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्तदर्शनात् । न वा चरमशद्वस्यो-त्तमिवशेषणत्वात् । (वार्त्तिक) न वैष दोषः किं कारणं ? चरमशद्धस्योत्तमविशेषणत्वात् । चरम उत्तमो देह एषां ते चरमोत्तमदेहा इति " इसका अर्थ यह है कि चरमदेहधारी और उत्तमदेहधारी यों 88

न्यास न्यास अर्थ करनेपर दितीय दलमें अन्यापि दोष आता है। कारण कि अन्तिम चक्रवर्ती और वास्तदेव आदिकांकी आयुका राखाचात आदि कारणोंसे मध्यमें ही अपकर्ष हो गया देखा गया है। उत्तम देहवाले च अवर्ती आदिक भी परिपूर्ण आयुको भोगते हुये अन्छित आयुवाले है, यो यह लक्षण अध्यापि दोषवान है। क्योंकि अन्तके चक्रधारी ब्रह्मदत्त और वसदेवके अपत्य कृष्ण तथा अन्य भी तैसे पाइव आदिकोंकी आयका बहिरंग निमित्तोंकी अधीनतासे अपनर्त देखा गया है। इस अन्याप्ति दोषका निराकरण करते हुये श्री अकलंक देव उत्तरवार्तिकको कहते है कि यह दोष हमारे यहां नहीं आताः है। क्योंकि चरम देइधारी और उत्तम देहवारी ये दो स्वतंत्र वाक्य नहीं माने गये हैं। किन्त उत्तमका विशेषण चरम शद्ध है। जिन जीवोंका देह चरम होता हुआ उत्तम है वे ही अन्छिम आसंबारे है। अथवा '' उत्तमविशेषणत्वात् '' यह। बहुब्रीहि समास करनेपर चरमका विशेषण उत्तम समझ लिया जाय । इस प्रकार कहनेसे चरमशरीरियोमें तीर्थ कर परम देवाधिदेवकी आयु है। अनपवर्ष्य है। शेष मोक्षगामी जीवोंकी आयुके अनपत्रचर्य होनेका नियम नहीं, यह किद्रान्त स्थिर हो जाता है। महान् उपसर्ग सहते हुये भी मुनि महाराज छडे गुणस्थानमें आयुष्य कर्मकी उदीरणा कर कतिपय अन्तर्महर्तीमें क्षपकश्रेणी या बारहरें, तेरहवे, चौदहवे गुणस्थानोंके कर्त्तन्योंको समाप्त कर इटिति मुक्तिलाभ कर छेते हैं। मनुष्य आयु कर्मकी उदीरणा छड़ेतक ही मानी गयी है। हां. " ओक्करणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिचरिमोत्ति " इस गाथा अनुसार मनुष्य आयुका अ**ष**कर्षण करण तो तेरहदे गुणस्थातक अभीष्ट किया है। उदीरणाके अन्य नियमोंको अन्तकृत केवलीके सिनाय अन्यत्र जीवोंमे छाग्र रखना जिससे कि सिद्धान्तविरोध नहीं होय । संजयंत, गजकुमार, आदि मुनि-योंने उपसर्ग सहते हुये मध्यमें आयुको छित्र कर मुक्तिलाम किया है। " असंख्येयवर्षाय " का अर्थ यह है कि अलोकिकगणितके मुख्य रूपसे संख्यामान और उपमामान ये दो भेद हैं। पत्य, सागर, आदि प्रमाणोंसे जिन जीवोंकी आयु नापकर जानी जाती है वे जीव "असंस्थेयवर्षायुष: " कहे जाते हैं । औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी तथा असंख्यात वर्षीकी आयुवाले यों द्वन्द्व समास इत्ती करके सूत्रमे कहे जा चुके संसारी जीव अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं। इस नियमकारक क्वनकी सामर्थ्यसे विना कहे ही यों समझ छिया जाता है कि इनसे अन्य संसारी जीवोंकी आयुका अपर्वत हो जाता है । भावार्थ- '' विसवेयणार तक्खयभयसत्थागहणसंकिलेसेंहिं । उस्सासाहाराणंः णिरोहदो क्रिजादे आऊ '' | बिष, शूल, आदिकी तीत्र वेदना, रक्त, आदि धातुओंका क्षय, तीत्र भय, शस्त्रघात, विशिष्ट संक्लेश, तथा श्वासीच्छास या आहारका निरोध होजाना इन कारणोंसे अपमृत्यु होकर बीचमें ही आख क्रिन होजाती है । पूर्वजन्ममें अध्युष्य कर्मका बन्ध करते समय क्याय अनुसार आय कर्ममें जिलामी स्थिति बाकी थी उतनी स्थितिका पूरा भोग नहीं कर मध्यमें ही विष, शक्षचात, आदि द्वास मिक्सी आने योग्य आयुष्योंके निषेकोंको स्वल्पकालमें भोग लेना ही अपमृत्य है । जैसे कि छड घंटेमें पचने योग्य अन्नका बढवानल चूर्ण द्वारा अतिशीघ पाँचन कर लिया जाता है, अथवा आप्रकल, नीच ,

आदि पर्किको भी मध्यकारूमें शीव्र पचा लिया जाता है, उसी प्रकार लब्ध्यपर्यासक जीव या कर्म मूमिके बहुतसे मनुष्य तिर्थिचेंकी आयु मध्यमें ही हासको प्राप्त होजाती है।

कुतः पुनरनपवर्त्यमायुरीपपादिकादीनामित्याइ।

कोई जिक्कासु कटाक्ष करता है कि फिर किस प्रमाणसे आप उक्त सिद्धान्तको स्राप्त हैं कि औपपादिक आदिकोंकी आसु बाह्य कारणोंसे हासको प्राप्त नहीं हो पाती है ? जितने कालमें मोमने योग्य आसु जन्होंने पूर्व जन्ममें बांधी थी उतने कालके एक समय पहिले भी वे मरते नहीं हैं । चाहे कितने ही वक्क्यात, मेघवर्षण, आदि उत्पातोंका प्रकरण प्राप्त होजाय, किन्तु ये परिपूर्ण आयुक्तो भोगकर ही अन्य गतियोंको प्राप्त होते है । बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विकासन्द स्वामी उत्तरवर्त्ती बार्तिकोंको कहते हैं ।

अत्रोपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन । स्वोपात्तमायुरीहश्चाहष्टसामर्थ्यसंगतेः ॥ १ ॥ सामर्थ्यतस्त्रतोन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः । सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः ॥ २ ॥

यहां प्रकरणमें औषपादिक आदि जीनेंकी निज पुरुषार्थ द्वारा पूर्वजन्ममें उपार्जन की गयी आयु (पक्ष) निज, राल, आदि बाद्य कारणों द्वारा कदाचित् भी खासको प्राप्त नहीं होती है (साच्य)। क्योंकि इस प्रकार आयुको छिन नहीं होने देनेवाले पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्टकी सम्मर्थ उन जीनोंको भले प्रकार प्राप्त हो रही है (हेतु)। अर्थात्—नारको अकालमें ही मरना चाहते हैं। किन्तु उन्होंने पूर्वजन्ममें ऐसा पापकर्म कमाया है, जिससे कि वे दुःखाकीर्ण पूरी आयुको मोग करके ही मरते हैं। छैकान्तिक देव या अन्यसर्वार्थिसिद्धिक देव आदिक सो शीव्र ही मनुष्य जन्म छेकर संयमको साधना चाहते हैं। किन्तु पहिले जन्ममें उपार्ज गये बहुतकालमें छैकिक सुख मुगताने योग्य अखण्डपुण्यकी सामर्थ्यसे ये बीचमें नहीं मर सकते हैं। तथा बहुतसे इन्हियलोखपी देव बिचारे आयुष्यसे भी अधिक कालतक जीवित रहना चाहते हैं। किन्तु मरपूर आयुको मोग खुक्तनेपर उनका मरण अवस्यमावी है। मुज्यमान आयुका उत्कर्षण करण नहीं हो सकता है। पिरपूर्ण आयुको मोगनंके लिये थ्री सीर्थकर महाराज केवल्हान हो जानेपर भी कुछ मुहूर्ती अधिक हो रहे खाठ वर्षसे कमीरी कोटिर्व वर्षतक अधिकसे अधिक संसारमें टिके रहते हैं। जीवन्यक आस्माका संसारमें छहरना एक प्रशासत कथन है। चार अधातिया कमीके वशमें पड़े रहना परम सिदिका अधिल है। किर भी आयुका चास नहीं होनेसे वे मन्यमें ही झाटीति सिद्धालयके अतिभिध

नहीं बन सकते हैं। अतः शुभ कहो या अशुभ कहो अनुकूछ कहो या प्रतिकृछ कहो आयुको मध्यमें नहीं छिन्न होने देनेवाछे विछक्षण स्वकीय पुण्यपापकी सामर्थ्य द्वारा औपपादिक आदि जीवोंकी आयु परिपूर्णरूपसे भोगी जा रही है। विना कहे ही सूत्रोक्त शद्धोंकी सामर्थ्यसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि उन औपपादिक आदि जीवोंसे शेष बच रहे अन्य जीवोंकी विष, वेदना, आदि बहिरंग कारणोंसे आयु अपवर्तनको प्राप्त हो जाती है। अन्यथा रोगीकी चिकित्सा (इलाज) करना या जीवोंपर दया करना, अभयदान देना, आदिकोंकी निष्फलता बन बैठेगी, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थाद् अनेक जीवोंकी अपमृत्यु हो जाती है। पांवके नीचे दबकर कीट, पिपीलिका, आदिक मर जाते हैं। यदि नहीं दबते तो नहीं मर पाते। देखिये, निर्धन या अज्ञानी रोगी योग्य चिकित्सा हुपे विना मध्यमें ही कालकवालित हो जाते हैं। भयके मारे अनेक जीव तत्काल प्राणोंको छोड देते हैं, तभी तो उनकी चिकित्सा करना, दया करना, उनको निर्भय कर देना, आदि क्रियाये सफल समझी गयी हैं। अतः बहुभागमें जीवोंकी अपमृत्यु होना सम्भव रही है।

बाह्यमत्ययानपवर्तनीयमायुः कर्म प्राणिदयादिकारणिवशेषोपार्जिते तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्यग्रुद्यस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्या-दन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्टविशेषाद्यवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं, चिकित्सित्।दीनामन्यया निष्फळत्वप्रसंगात् ।

प्राणियोंके ऊपर दया करना, नियतकालतक आप्रहपूर्वक क्लेश पहुंचाना, अनेक देशकालके जीवोंको पूर्णरूपसे मोक्षमार्गमें लगानेकी मावना रखना, अखण्ड प्रतिदिन दान देना, आदिक कारणिवशेषोंसे देव, नारकी, तीर्थकर महाराज, भोगभूमियां, जीवोंने पूर्वजन्ममें एक तिस प्रकारका अदृष्ट उपार्जित किया है। जिससे कि इनका आयुःकर्म वर्तमान कालमें किसी विष आदि बाह्य-कारणसे अपवर्त होने योग्य नहीं है। उस अदृष्टकी सामध्ये तो इस भवमें उसका समुचित उद्य होना है। उस उदयकी संगति अर्थात्—मले प्रकार प्राप्ति कतिपय जीवोंको हो रही है। तिस कारण देव, नारक, आदि जीवोंका संसारमें घरे रखनेवाला अथवा आत्माको इसी गृहीत शरीरमें टूंसे रखनेवाला आयुष्यकर्म हास होने योग्य नहीं है। यहांतक पहिली वार्त्तिकके उत्तरार्थका विवरण कर दिया है। दूसरी वार्त्तिकका तात्पर्य यह है कि विना कहे ही केवल सूत्रोक्त पदोंकी सामध्यसे यह सिद्ध हो जाता है कि उस विलक्षण जातिवाले अदृष्टके विपरीत हो रहे दूसरे जातिवाले निर्वल अदृष्ट विशेषसे अन्य संसारी जीवोंका संसारमें जीवित रहना तो विषप्रयोग, शक्षघात, आदि कारणोंद्वारा हास हो जाने योग्य है। अन्यया चिकित्सा करना, दयाधर्मका उपदेश करना, दुष्काल पीडितोंके लिये अन्न वस्त्र देना, अग्निकाण्ड, जलकाण्डसे प्राणियोंकी रक्षा करना, आदिके निष्कलपनेका प्रसंग होगा। जब कि वे बीचमें मरेंगे ही नहीं तो उक्त कियायें क्यों की जा रही हैं? किन्तु चिकित्सा

आदिक कियारों व्यर्थ नहीं हैं। कोई पक्षी या कीट, पतंग, यदि जलप्रवाहमें गिर पड़े तो द्यालु पुरुष उनको जलवाधासे उद्धार कर किनारेपर धर देता है, यह उनको अपमृत्युसे बचानेका ही उपाय है। यदि दयालु पुरुष उन जीवोंको नहीं निकालता तो उन जीवोंकी आयु:कर्मके निषेकोंका उत्कर्षणा या उदीरणा होकर हास होते हुये बीचमें ही मरण हो गया होता। जैसे कि असंख्याते जीव वर्तमानमें बचानेका निमित्त नहीं मिलनेसे मध्यमें ही अपमृत्युके प्राप्त हो रहे हैं। हत्यारी चिरैयायें उडती हुई हजारों लाखों मिलखयोंको खा जाती हैं, छपकिल्यां असंख्य कीटोंको निगल जाती हैं, उल्द्र, चील, नीलकण्ठ आदि पक्षी, सिंह, व्याघ्न, मेडिया, बिली, वीज्, आदि पग्न तथा अनेक जलचर मांसमक्षी प्राणी ये सब हत्यारे जीव उन निर्वल खेलते, खाते, पीते, प्राणियोंकी अक्तालमें हत्या कर डालते हैं। छेग, हैजा, आदि रोगोंमें लाखों प्राणियोंकी अपमृत्युयें हो जाती हैं। बालवैध या योग्य औषधियोंके न मिलनेसे लाखों बच्चे मर जाते हैं। इस निकृष्ट पंचम कालमें तो बहुत थोडे जीवोंको परिपूर्ण आयु मोगकर मरनेका सीमाग्य प्राप्त होता होगा। अनेक जातिके रोग, चिन्तायें, वैधन्य, दरिहता, अनिष्ठ बांधवोंकी संगति, टोटा, पराजय, अधमर्णता, कुमामवास, विधवाकन्याप्रयुक्त रोक अवस्था, आजीविकाकी क्षति, परामव, आदि कारणोंसे बहुतसे जीव आयुको पूर्ण किये विना मध्यमें ही मृत्यु मुखमें पड जाते हैं। जलकायिक, अग्निकायिक, घास, फल, पुष्प, शाक, तरकारी, आदि बहुभाग एकेंद्रिय जीवोंकी आयु छिन कर दी जाती है।

न ग्रामासकालस्य मरणाभावः खड्गमहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात् । प्राप्तकाळस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, कः पुनरसौ काळं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वाः द्वितीयपक्षे सिद्धसाध्यता, प्रथ-मपक्षे खड्गमहारादिनिरपेक्षत्वमसंगः सकलबिहःकारणिवशेषिनरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युका-लव्यवस्थितेः। शक्षसंपातादिबहिरंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्तेः।

कोई आप्रही पण्डितम्मन्य यों समझ बैठा है कि जिस जीवका मृत्युकाछ प्राप्त नहीं हुआ है, उसका कथमिप मरण नहीं होता है। विषप्रयोग या अग्निकाण्ड अथवा जलप्रवाहसे भी जीव रिक्षित (वचना) हो जाते हैं। गोली लग जानेपर भी पुनः वीसो वर्षतक जीवित रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना चाहिये। क्योंकि खड्गके प्रहार, तोप गोलेका लगना, तीव विषप्रयोग, प्रचण्ड अग्निदाह, अतिसंक्षेश, आदि घातक कारणोंसे जीवोंका मरण होना देखा जा रहा है। मले ही किचित् देवकृत या देवकृत रक्षा हो जानेसे अथवा घातक कारणकी अल्पशक्ति होनेसे अपमृत्यु नहीं हो सके। एतावता अपमृत्युका निराकरण नहीं हो सकता है। एक पुण्यशाली मनुष्य थोडा अपराध बन जानेसे एक, दो, तीन, वार तोप द्वारा उडाये जानेपर भी मर नहीं सका। जयपुर निवासी अमरचन्द दीवान सिंहके पींजरेमें बाल बाल बच गये। घुना अन पीसनेवाली चाकीमें कोई एक दो कीट नहीं मरे, दो पाटोंके बीचमें होकर भी वे जीवित मिकल आये, जैसे कि पीसती हुई चाकोंमेंसे कोई गेंहूं

जाहर निकल आता है। इतनेसे ही कदून, लोप, द्वारा हजारों भर चुके या चाकीमें छाखों पिस सुके जीवोंकी अपसूत्यु विभावका विवात नहीं हो सकता है। यदि वह आप्रही शंकाकार यों कहे कि जिसको आप मध्यमें आयुका हास कर अपमृत्युको मात हो जानेवाला जीव कहते हो खन जीवकी भी तिस प्रकार पूर्ण आयुष्य काल प्राप्त हो चुकनेपर ही उस निमित्तसे मृत्यु क्दि देखी जाती है। यों कहनेपर तो आचार्य विकल्प उठाकर उस आग्रहीको पुंछते हैं कि कताओं वह इष्ट पुष्ट तगडा युवा बिचारा गोर्छा या विषके प्रयोगसे स्वल्पकालमें जो मरगया है या द्वष्ट हिस्तकोंने मार्गमें द्वतगतिसे जा रहे सांपको लाटियोंसे कुचल डाला है, छपकलीने मक्लीको लील लिया है, क्या वे जीव फिर अपने पूर्ण मरणकालको प्राप्त हो चुके ये ? अथवा क्या मध्यमें ही उनका ·अपकृष्ट मृत्यु **होनेका काल प्राप्त होगया है ? ब**लाओ | दूसरा पक्ष प्रहण करनेपर तो तुम्हारे ऊपर सिद्धसाध्यता दोष हैं। क्योंकि साधने योग्य उसी अपग्रत्य कालको हम सिद्ध कर रहे हैं, उसीको तुम मान बैठे हो । ऐसी दशामें हमारा तुम्हारा कोई विवाद ही नहीं है। हां, पहिला पक्ष प्रहण करनेपर तो उनकी मृत्युमें असिप्रहार, विषप्रयोग, घातकप्राणी द्वारा शरीरका विदारण किया जाना आदि कार-ब्योंकी अपेक्षा नहीं रखनेका प्रसंग होगा । किन्तु जाना गया है कि बलिष्ठ योद्रा, युवा, मक्खी, हिरण, जादि जीवोंको यदि खड़ग प्रहार बुसुक्षित छपकली या व्यावका अवसर प्राप्त नहीं होय तो वे दीर्घ-काळतक जीवित बने रहते हैं। इत्यारे मनुष्यको कांसी देकर मार दिया जाता है। यह उसकी अपसृत्य नहीं तो क्या है ! हां, जो संक्रेश, असिप्रहार आदि अपघातक कारणोंके विना पूर्ण आयु भोग कर मरता है, वह अंपमृत्युशंहित होरहा मछ मृत्यु जालको प्राप्त हुआ कहा जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण बहिरंग कारण माने गये अन्ननिरोध, फांसी, विष, आदि विशेषोंकी नहीं अपेक्षा रख रहे मृत्युकारणको ही भूगे मृत्युका काल, व्यवस्थापित किया गया है। कांतिपय मनुष्य बैठे बैठे या जाप्य करते हुये मर जाते हैं । कोई वृक्ष थों ही सुख जाते हैं । चीटियां, मिक्क्यां, भी बहुतसी घातक कारण विना यों ही मर जाती हैं । घास पककर सूख जाती है । यह जीवोंका मृत्युकाल माना गया है । हां, जिस मृत्युका शक्काचात, विश्वत्वात, जलोदर, कसाई द्वारा इता जाना, आदि बहिरंग कारणोंके साथ अन्वय व्यातिरेक का विधान पाया जाता है. अर्थात्-शाससम्पात होनेपर मृत्युका होना और शस्त्राघात यदि नहीं होता तो कथमपि मृत्यु नहीं होती. यह अन्वय व्यतिरेक होरहा है, उस मरणकालकी अपमृत्युकाल-यना यक्त माना गया है।

त्रदमावे पुनराधुर्वेदभाषाण्यांचाकित्सितादीनां क सामर्थ्योपयोगः । दुःत्वप्रतीकारादा-विति चेत्, तथैवापम्रस्युपतीकारादी तदुपयोगीस्तु तस्योभयथा दर्शनात् ।

यदि रोग, विष, आदि द्वारा उस अपमृत्युकाल होनेको नहीं माना जायगा तो फिर आयुर्वेद या चिकित्साशासका प्रमाणपन अथवा चिकित्सामें नियुक्त होरहे सद्वैष, रोगप्रतीकारक मंत्र,तंत्र, आदिकोंकी स्हमार्थ्यक उपयोग होता कहां समझा जावना ? आधु लिख नहीं होनेवाले जीवोंके लिये ये सब प्रयोग व्यर्थ हैं। आयर्वेद या चिकित्सा दूरना विभाषहारक मंत्र ये कोई आयुष्यकर्मको बहुत नहीं देते हैं। हां, अपमृत्युको जुटे हुये कारणोंका विष्यंस कर देते हैं । मुज्यमान आयुष्यसे एक समय अधिक भी जीवित रख लेना इन्द्र, अहमिंद्र, प्रह्न, योगिनी, क्षेत्रपाल, मंत्र, तंत्रके बते अशक्यान्छान है। हां, प्रतिबन्धकोंको राक्तिका नारा करनेमें जो औषधि आदि समर्थ कारण हैं, वे मध्यमें अपकर्षण या उदीरणाको प्राप्त हो रहे आयुष्यकर्मके निषेकोंकी अवस्थाका घंस कर उतने ही पूरे नियत समयोंमें उदय आने योग्य कर देते हैं। आयुर्वेदके प्रमाणपन अनुसार या मंत्र आदि शास्त्रोंके यथार्थपन अनुसार मध्यमे मरता हुआ जीव यदि बचा लिया जाय, ये क्या थोडी सामर्थ्य है ! पूर्वजन्ममें बांधी हुई आयुको मध्यमें ही तोड सकनेबाले प्रतिबन्धक रोगोंका समुचित चिकित्सा प्रक्रिया द्वारा निराकरण समझाया जाकर पूर्ण आयुको भोगनेके छिये जिन शाखोंसे ज्ञान सम्पादन किया जाता है, वे आयुर्वेद शास्त्र हैं । न्याय प्रन्थ, ज्याकरणविषयक प्रन्थ, सिद्धान्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्रके समान आयुर्वेद भी एक आवश्यक वैश्वक विषयके प्रन्थोंका समुदाय है, कोई ऋग्वेद, युजुर्वेदके समान एक नियत प्रन्थ ही आयुर्वेद नहीं है। यदि कोई यहां यों कहे कि दःखका प्रतीकार हो जाना, कुछ कुछ सुख मिल जाना, चलने फिरने लग जाना, आदिक कार्योमें ही चिकित्सारमन्न या वैद्योंके पुरुषार्यकी सफलता हो जाती है। अर्थात्—नालन्याधि या कुछ, जल्लेदर आदि रोगों की चिकित्सा केवल इस खिये की जाती है कि रोगीका दुःख कम हो जाय, उसको कुछ कुछ चैन पडने छग जाय, कुछ चल, फिर सके, खा, पी ले, थोडी नींद ले लेवे, रोमका उपराम हो जाय, बस, इसीलिये रोगीकी चिकित्सा की जाती है। उसका मरना तो आयुके पूर्ण होनेपर ही होगा, और तब आयु पूरी हो जानेषर महान् सद्वैद्य, बढे बढे चरक, सुश्रुत, वाग्मह, या मंत्र तंत्र शासके प्रन्थ व्दर्थ धरे रहेंगे । जीवन एक विपल (एक सेंकिन्डका ढाईमां भाग) भी वह नहीं सकता है। यों कहनेपर तो आचार्य महते हैं कि जिस प्रकार असाता वेदनीयके उदयसे प्राप्त हुये दुःखके प्रतीकार आदिमें शास वैद्य. गाम्मंडिक, तंत्र आदिकी सामर्थ्य होना माना जा रहा है, उसी प्रकार अपमृत्युका प्रतीकार आयुष्य कर्मकी उदीरणा नहीं होने देने आदि कार्यीमें भी उनका उपयोग माना जाओ ! जो कारण द:खका प्रतीकार कर सकते है यानी दःख देनेवाले पापोदयको टाल सकते हैं वे अपमृत्युको भी इटा सकते है । उनकी उस सामर्थ्यका उपयोग होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है । दुःखोंके प्रतीकार हो जाते है। अपमृत्युका विनाश भी साथमें हो जाता है। चतुर वैच किसी सेगमें कुछ दिनोंके छिये दु:खकी अधिक बढाकर भी रोगीकी अपमृत्युका विनाश कर देता है। गले संडे अंगको शक्वचिकित्सा द्वारा काट कर रोगीको अपमृत्युसे बचा लिया जाता है. सिनपात रोगसे ज्वर रोगमें लाकर पुन: ज्वरका विनाश करता हुआ वैधा उस रोगीको मध्य मूखसे रक्षित कर छेता है। सतानेवाछ व्यक्त रोग और वर्तमानमें नहीं दुःख दे रहे रोगोंकी चिकित्सा होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है।

नन्वायुःश्रयनिमित्तोषमृत्युः कथं केनचित्यतिक्रियते तक्षसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःसं कथं केनचित्यतिक्रियतां १ सत्यप्यसद्वेद्योदयेन्तरंगे हेतौ दुःखं बिहरंगे वातादिविकारे तत्यतिपश्तौ-षभोषयोगोषनीते दुःखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत्, ति सत्यिष कस्यचिदायुख्द-येतरंगे हेतौ बिहरंगे पथ्याद्यारादौ विच्छिको जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधान-मेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः ।

यहा किसी अन्यवादीका स्वपक्ष अवधारण है कि आयुष्य कर्मका कारणवश पुरा खिर जाना-रूप क्षयको निमित्त पाकर होनेवाली अपमृत्य भला किसी भी एक औषधि, मंत्र या अनुष्ठान आदि करके कैसे प्रतीकारको प्राप्त की जा सकती है ? अर्थात -अपने अपने नियत समय अनुसार ही जीवोंका मरण होना अभीष्ट करनेवाला वादी यों कह रहा है कि चाहे किसीकी भी मृत्य या अप-मृत्यु क्यों न होय, वह पूर्व उपार्जित आयुष्यकर्मके क्षय होनेपर ही होगी । मध्यमें उसका प्रतीकार करना व्यर्थ है। लिखे, बदेसे एक क्षणमात्र भी आयु: न्यून या अधिक नहीं होपाती है। इस कुत्सित अवधारणका प्रत्याख्यान करते हुये आचार्य कहते हैं कि तब तो असातावेदनीयकर्मके उदय को निमित्त मानकर हुआ दुःख भला किस ढंगसे किस चिकित्सा, मंत्र, आदि करके प्रतीकारको प्राप्त किया जा सकेगा ? बताओ । जैसे आप " नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरिप " इस सिद्धान्त अनुसार आयुष्यकर्मका पूरा भोग होकर ही जीवोंका मरण होना स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार असातावेदनीयकर्म भी अपना परिपूर्ण कार्य दुःख देना कितने ही दिनों, महिनोंतक पीडा पहुंचाना, परिताप कर देना, आदि फलोंको देकर ही निवृत्त होगा । औषधि आदिसे असदेखका प्रतीकार नहीं किया जा सकेगा, किन्तु आप पिहले चिकित्सा आदि द्वारा दुःखोंका मध्यमें ही प्रतीकार हो जाना स्त्रीकार कर चुके हैं । यदि तुम यों कहो कि दुःखके अभ्यन्तर कारण असतावेदनीयकर्मका उदय होते संते भी और दुःखके बहिरंगकारण वातन्याधि, उदरशूल, नेत्रपीडा, मस्तकवेदना आदि रोग या बात, पित्त, कफ, दोषजन्य विकारोंकी प्राप्ति हो जानेपर हुये उस दुःखको मेटनेवाली प्रतिपक्ष औषिविके उपयोगका प्रसंग मिळ जानेपर दुःग्वकी उत्पत्ति नहीं होनेसे ही दुःखका प्रतीकार होना समझ छिया जायगा । तुम्हारे यौ कहनेपर तब तो हम जैनसिद्धान्ती भी कह देंगे कि किसी जीवके जीवित रहनेके अंतरंगकारण लंबे चौडे आयुःकर्मका उदय होते रहते हुये भी यदि जीवित रहनेके बहिरंग कारण पथ्यआहार उचित जलवायुसेवन, पाकाशयकी शुद्धि, आदिका विच्छेद प्राप्त होजानेपर जीवित रहनेके अभावका प्रसंग प्राप्त हो चुका समझो । ऐसी दशामें उस आयुःके मध्यविच्छेदको रोककर उसी दीर्घ जीवनका संपादन करनेके लिये जीवित रहनेको वैसाका वैसा ही पुनः संधारण कर छेना ही अप-मृत्युका प्रतीकार होजाओ । भावार्थ-" यत्पूर्व विधिना छ्ळाटिळाखितं तन्मार्जितं कः क्षमः" इस निय-मको सर्वत्र छगा बैठना। आत्माके पुरुषार्थ या अन्य कारणोंसे जैसे खींच छी गयीं कार्मण वर्गणायें कर्म

बना ली जाती हैं। बंधे हुये वे कर्म पुन: नियत समय अनुसार उदयावलीमें प्राप्त होकर आत्माको सुखदुःख देना, स्थूल शरीरमें रोके रहना, आदि फल देते हैं, उसी प्रकार आत्मपुरुषार्थ या अन्य नियत कारणीं द्वारा उन कमींकी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, उपश्रम, निधत्ति, निकाचना, आदि अवस्थाये भी की जा सकती हैं। हां, भुज्यमान आयुकी बढानेके लिये या ज्ञानावरणका उपराम कर-नेके लिये अथवा नामकर्मका क्षयोपराम करनेके लिये आत्मा यदि ऐसे अराक्यानुष्ठान कार्यीका प्रयत्न करेगा तो उसका परिश्रम या कारणोंका न्यापार पहाडसे माथा टकरानेके समान सर्वथा न्यर्थ पडेगा। किन्तु उचित्र कालसे पूर्वकालमें ही आयः कर्मकी उदीरणा या अपकर्षण करनेवाले अथवा उस आय-ष्यको मध्यमें ही विच्छेद करनेके लिये मुख फाडे बैठे हुये कारणोंकी सामर्थ्यको नष्ट कर देनेवाले कारणोंका न्यापार न्यर्थ नहीं जाता है। आयुको मध्यमें छेद करनेवाला विष, शस्त्रवात, आदि कारण पूर्ण समर्थ होता हुआ यदि प्रतीकारक मंत्र, औषधि, आदिकी शक्तियोंका भी ध्वंस कर देगा तो आयुका न्हास अवस्थरभावी है । किन्तु आयुःके मध्यमें छेदनेवाले कारणोंकी शक्तिका चिकित्सा आदि समर्थ कारणों द्वारा विनाश कर दिया गया है तो " अनी टल जानेपर हजार वर्षकी आय " इस प्रामीण किम्बदन्ती अनुसार दीर्घ जीवन बना बनाया ही है । बात यह है कि चिकित्सा प्रणाली द्वारा अपमृत्युका प्रतीकार किया जा सकता है, जैसे कि सुखके या दुःखनिवृत्तिके कारण मिला देनेपर असद्वेष. अरति. शोक. आदि कर्मीके उदय निमित्त परिणामीका प्रतीकार कर दिया जाता है। जो खाया हुआ पदार्थ प्रमाद दशा होनेपर छह चण्टेमें पच पाता वह व्यायाम या सानन्द वाय सेवनार्थ स्वक्रद गमनरूप प्रवार्थ द्वारा तीन घंटेमें ही पचा लिया जाता है।

सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावप्रसक्तौ कृतपणाशः स्यात् इति चेत्, तर्हि सत्यप्यसद्देचोदये दुःखस्योपशमने कथं कृतपणाशो न भवेत् ?

त्रैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि दीई काळतक जीवित रखनेके उपयोगी आयुःकर्मका सत्त्व होते हुये भी यदि मध्यभे ही जीवित रहनेके अभावका प्रसंग मिळ जाना माना जायगा तब तो कृतका विनाश होजाना, यह बढा भारी दोष आंता है। यानी "जो करता है वह अवश्य भरता है" "न कर तो कुछ भी नहीं डर" ऐसी छोक्वप्रीसिंद्रया हैं। किये हुवे कर्मों का यदि फळ दिये विना ही बढिया माश होजाय तब तो दान, पूजा, अध्ययन, अध्यापन, सभी शुभक्तर्म व्यर्थ पडेंगे। हिंसक, व्यभिचारी जीव भी दयावान् ब्रह्मचारी पुरुषोंकी पंक्तिमें साथ बैठ जायंगे, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो असदेदनीय कर्मका उदय होनेपर भी यदि चिकित्सा आदि द्वारा दुःखका उपशम होना माना जायगा तो तुम्हारे ऊपर भी कृतका नाश हो जाना दोष किस प्रकार नहीं बन बैठेगा? बताओ। भावार्थ—तुम जो समाधानं उस दुःखके उपशम हो जानेमें करते हो वही समाधि इस अपमृत्युमें भी कर केना। यदि किसी जीवने पहिले पुण्यका उपार्जन किया पश्चात् तीव पाप कर लिया ऐसी दशामें पुण्यकर्मका पापकर्म रूपसे संक्रमा हो बाने पर कोई कृतअणाश नहीं है। सपैके मुखमें पडे हुये

जिल्ला परिणाम निष होजाता है, निरोध सीपमें प्राप्त हुये जलका बिंदु मोती बम जाता है। जिस तमस्यासे सीममें इन्द्र छोकान्तिक देव, सर्वार्धिसिद्धिके देव इन पदों भी अथवा मुक्तिकी भी प्राप्ति हो सकती है, लोखपी जीव निदान नामक पुरुषार्थ हारा छोटेसे फलको प्राप्त करनेमें ही परितृप्त होजाता है। यह कमीकी अवस्थाओंका परिवर्तन होना ही तो है। इसमें इतप्रणाश क्या हुआ ? व्यायाम कर अनको शीघ पना लिया या औषि करके रोगसे शीघ छुटी था ली इसमें कोई इतप्रणाश दोष नहीं है। सातिश्व पुण्यक्षीन नित्तान धीर प्रस्थिम हारा अत्यल्प आय कर पाता है। इसमें इतप्रणाश कुछ भी नहीं है। जो नियम यों कर रहा है कि इस जीवको इस वर्षतक दुःख या सुख भोगना है अथवा जीवित रहना है साथमें वही नियम यों भी कह रहा है कि यदि इसके प्रतिकृत्र कारण इन्य, क्षेत्र, काल, भाव, मिल जायंगे तो अलप कालमें मी उन कमीका भोग होकर निवारण कर दिया जायगा। केवली भगवान भी तेरहवें गुण-स्थानमें केवली समुद्धलस्वस्प स्वभीय पुरुषार्थ हारा तीन अधातिया कमीकी स्थितीको अपने आहुष्य कमीकी स्थितीके समान छोटी कर लेते है। इसमें इतप्रणाश रत्ती भर भी नहीं है। लोकमे भी कारण वश सबामें घटा दी जाती है।

कदुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वफलं दत्वैवासद्देवस्य निष्टत्तर्न कृतप्रणाञ्च इति चेत् , तर्क्षायुषोषि जीवनपात्रं स्वफलं दत्त्वैव निष्टत्तेः कृतप्रणाञ्चो मा भूत् विशिष्टफलद्रानाभावसत् -भयत्र समानः। तत्वोस्ति कस्मचिदपपृत्युश्चिकित्सितादीनां सफलत्वान्यथानुष्पत्तेः कर्मणामयथा-कालविपाकोपपत्तेश्चान्त्रफलदिवत् ।

प्रतिग्रदी करता है कि कड़वी, कपैली, उणा, पीडाफारक, आदि नहीं रूचनेकाली औप-धियोंके उययोगसे उत्पन्न हुई वेदनामात्र ही अपने फलको देकर असहेद्रमिष कार्यक्री निद्धत्ति हो जाती है। अतः दुःखके उपराम करनेमें कृतकर्मका समूल्यूल नास नहीं हुआ। अर्थात् कड़वी औषधी (दर्वाई) पी लेने या हुई। चढ़ाते समय मर्दन (मालिश्च) का दुःख सुमतने अथवा क्षेपमें चारों ओरसे दुबर कर पसीना लेने एवं शकहारा कीर पढ़ड़की वेदना सहने आदि फलोंको देकर ही असहेदनीय कर्मकी निवृत्ति हुई है। फल दिये किना कोई कर्म टलता नहीं है।अतः भी जा चुकी करनीका प्रणाश नहीं हुआ, यों कहनेपर हम जैन भी कह देंगे कि तब वो अपवर्तमीय आयुवाले जीवोंके आयुःकर्मकी भी स्वल्पबीवनमें ही अपवा पूर्व रस दे देना मान अपना फल देकर ही निवृत्ति हुई है। अतः कृतका प्रणाश मत होओ। यानी सेरभर खांडमें जितनी मधुरता है तोले भर मिठाईका सार भी उतना ही मीठा है। भले ही सारसे डेड सेर तीलमें लड़्ड़ नहीं बन सकें, किन्तु मिष्टजल (सरबत) उतना ही बन जायगा जितना एक सेर खांडसे मीठा पासी हो जाता है। यह फल क्या न्यून है?। यदि तुम यों कही कि अषमुत्सु मान लेनेपर आयुष्य कर्मका परिपूर्ण काड़तक विश्विष्ट एक देना तो नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो परिपूर्ण काड़तक विश्विष्ट एक देना तो नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो परिपूर्ण काड़तक विश्विष्ट एक देना तो नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो

ज्यर रोम चार चिनतक संक्षेत्रा देता, वह कडमी कुटकी, चिरायतामिधिल औषधिक पी लेमेपर एक ही दिनमें उपशान्त हो जाता है. यहां भी लो असंदेख द्वारा पूर्ण कास्त्रक जिशिष्ट फरू दिया जाना नहीं है। अतः पूर्व व्यवस्था अमुसार कर्मीके त्रिशिष्टफल देनेका अभाव तो हमारे, तुम्हारे, दोनोंके यहां समान है। तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि किसी किसी जीवकी मध्यमें ही अपमृत्यु हो जाती हैं। (प्रतिज्ञा) चिकित्रितत, मंत्रप्रयोग, पुरुषार्थविशेष आदिकाँची सफलता अन्यया यानी अपमृखुसों स्वीकार किये विना नहीं बन पाती है (हेतु)। एक बात यह भी है कि नियस कालका असिकामण कर भी अपकर्षण, उत्कर्षण, अनुसार कर्मीक विपाक आगे, पीछे, हो जाते हैं। जैसे कि आम्रफल, पनस, नीवू, खाबूजा, आदि फल समयसे पूर्व ही भुस, रुई, आदिमें पन्ना लिये जाते हैं। अपीत्— मगीं, या कबतारीके उदरमें विशेष उष्णताको पहुंचाकर नियत कालसे पाइने ब्रसक करा छिया जाता है। उपयोगमें ठाने या आतपमें अधिक रखनेसे वस शीव्र जीर्ण हो। जाता है। गौला कपडा फैला देनेसे शीघ सुख जाता है। थोडी उमरमें ही गृहस्थीका बोह आपडनेपर समझके पहिले बुद्धि परिपक हो जाती है। गम्भीरता आ जाती है। इसी प्रकार अपमृत्य दशामें आयु:कर्मके निषेक श्रीम झड जाते हैं। दस वर्षतक उदयमें आनेके छिने रची गयी आयुष्यकर्मकी पंक्तिको शीघ उदयमें छाकर मोगता हुआ जीव मध्यमें मर जाता है। अपमृत्युवाले जीवके भी आवृष्य कर्मकी भेग (फल प्राप्ति) भोग कर ही निवृत्ति हुई है। अनुमानम निर्वराके समान कमीकी उपक्रम किर्जय भी बौती है। कार्बीका फल यथा अवसरपर है। सुनवानेवाले जैसे सारण हैं उसी प्रकार भविष्यमें उदय आनेवाले कर्मकी कारण द्वारा वर्तमानमें भी उदय प्राप्त किया जा सकता है। मूर्व छोकरा युवा अवस्थाकी परिपकताके प्रथम है। मोह-वरा युवल मानोंको प्राप्त कर छेता है। बृद्धल और मृत्युको भी शीघ बुछा छेता है। अतः निर्मात हो जाता है कि देव. नारकी, और तीर्थकर महाराज तथा भोगभूमियां, क्रमोगभूमियां, जीवोंके असि-रिक्त शेष संसारिजीवोंकी आयका मध्यमें हास हो सकता है।

यश्राह, विचादापन्नाः प्राणिनः सापवर्त्यायुपः शरीरित्वादिद्विपवस्त्वाद्वाः प्रसिद्धसापकः र्त्यायुष्कप्राणिवत् ते वानपकर्त्यायुष्करतत एवीपपादिकवदिति, सोपि न युक्तवादीरयुपहर्शयति ।

जो भी कोई आक्षेपकार यों अनुमान बना कर कह रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रहे देव, नारकी, तीर्थकर और भोग्रभूमियां, प्राणी भी (पक्ष) हासको प्राप्त होने योग्य आयुक्ते सिहत हैं (साध्य) राष्ट्रिकार और भोग्रभूमियां, प्राणी भी (पक्ष) हासको प्राप्त होने (दितीयहेतु) अपवर्तसिहत आयुवाछे प्रसिद्ध कर्मभूमियां मनुष्य, तिर्वच, प्राणियोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानसे देव आदि जीवोंकी आयुक्ता हांस होना सभ जाता है । अथवा जैनसिद्धान्तको बिगाइनेके छिये दूसरा अनुमान यह भी किया का सकता है कि वे कर्मभूमियां मनुष्य या एकेन्द्रिय, द्वीन्त्रिय, आदि जीव भी (पक्ष) आवण्डनीय आयुवाछे हैं (साध्य) उस ही कारणसे अर्थात् रार्थिवारी होनेसे अथवा इन्द्रियवारों होनेसे (हेतुद्वय) देव, नारकी जीवोंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अब अन्वार्ध कहते हैं कि वहा

आक्षेपकार भी युक्तिपूर्ण वाद करनेकी टेनको रखनेवाला नहीं है। मावार्थ—जैनसिद्धान्त कोई बचोंका खेल नहीं है, जो कि चाहे जब बिगाड लिया जाय और बना लिया जाय। जैनसिद्धान्तकी मित्ति द्वन्यके वस्तुभूत परिणामेंपर अवलिन्दत है। जैसे जलका दृष्टान्त देकर अग्निमें अनुष्णत्व सिद्ध करनेवाला द्वन्यत्व हेतुं अथवा अग्निका दृष्टान्त देकर जलमें भी उष्ण स्पर्शको साधनेवाला द्वन्यत्व हेतु, व्यभिचार, बाध, सत्प्रतिपक्ष दोषोंसे परिपूर्ण है। उसी प्रकार शरीरसिहतपन या इन्द्रियधारीपन हेतु भी व्यभिचार आदि हेत्वाभास दोषोंसे दूषित है। अतः अविनाभावस्वरूप प्राणको धारनेवाले जीवित हेतुओंसे नियत साध्योंकी सिद्धिको चाहनेवाले निद्धानोंको अविनाभावविकल मृतहेतुओंसे (हेत्वाभासोंसे) अन्ट सन्ट साध्यको साधनेके लिये कुत्सित प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अन्यथा घृणापात्र बननेके अतिरिक्त उन्हें बाध, अनिष्टप्रसंग, अपसिद्धान्त, अप्रमाणिकपन, आदि दोषोंको भी हेलना पढेगा। इसी बातका श्री विधानन्द स्वामी अग्निम दो वार्त्तिकों द्वारा प्रदर्शन कराते हैं।

तदन्यतरदृष्टत्वाच्छरीरित्वादिहेतुभिः । सर्वेषामपवर्त्यं तत्रापपवर्त्यमितीरयन् ॥ ३ ॥ प्रबाध्यते प्रमाणेन स्वेष्टभेदाप्रसिद्धितः । सर्वज्ञानिविरोधाश्च मानमेयाव्यवस्थितेः ॥ ४ ॥

उन अपवर्तनीय आयुवाले और अनपवर्तनीय आयुवाले कर्मभूमियां या देव, नारकी आदि जीव इन दोनोंमेंसे किसी एकमें इष्टसाध्यके साथ देखा जा चुका होनेसे रारीरधारीपन, इन्द्रियधारीपन, प्राणयुक्तपन, संसारीपन, आदि हेतुओं करके यदि सभी रारीरधारी जीवोंकी वह आयु न्हास होने योग्य है अथवा नहीं न्हास होने योग्य है, इस प्रकार कथन कर रहा आक्षेपकार (पक्ष) अच्छे प्रकार प्रमाणों करके बाधित हो जाता है (साध्य) अपने इष्ट भेदोंकी अप्रसिद्धि होजानेसे (प्रथम हेतु) और सर्वक्र, जगत्कर्तृत्व, आकाशक्यापकत्व आदि सिद्धान्तोंका विरोध प्राप्त होजानेसे (ष्रितीय हेतु) स्थान्त्यप्रमाणों हारा जानने योग्य प्रमेय पदार्थीकी अन्यवस्था प्राप्त होजानेसे (ष्रतीय हेतु) अर्थात्—पक्ष और विपक्षमें सामान्य रूपसे पाये जा रहे धर्म करके जो दूसरेके निर्दोष सिद्धान्तपर कुठाराधात करता है वह स्वयं प्रमाणोंसे बाधित होरहा संता अपने अभीष्ट मेद, प्रमेदोंको नहीं साध सकता है । वह सर्वन्न आदिको भी नहीं मान सकेगा । उसकी मानी हुई प्रमाणप्रमेयच्यवस्था सब लित होजायगी । मनुष्यत्व हेतुसे दरिद्रका धनिकपना, या मूर्खका पण्डितपना, न्यभिचारीका ब्रह्मचारीपन, साधुका गृहस्थपन, वादीका प्रतिवादीपन, अपसिद्धांतीका सिद्धांतीपन, पराजितका जेतापन, स्वामीका मृत्यपन, आदि भी सब सध जायंगे । भारी पोळ मच जायगी । अतः अविनामावसे विकल होरह सामान्य हेतुओं करके विशेष साध्यक्ष सिद्धि करना स्वयं अपने किये कुठाराघात है । बालक भी अपने लिये कांटे बखेरना महीं चाहता है ।

न ग्रापवर्त्यानपवर्त्ययोरायुषोरन्यतरस्यापि त्रतिक्षेपं कुर्वन् प्रमाणेन न बाध्यते, अनुमाने-नागमेन च तस्य बाधनात् स्वेष्टभेदमसिष्या चायं प्रबाध्यते । स्वयमिष्टं हि केषांचित्पाणिनाम-ल्पायुः केषांचिद्दीर्घ तत्र शक्यं वक्तुं । विवादापन्नाः प्राणिनोल्पायुषः श्वरीरित्वात् प्रसिद्धाल्पा-युष्कवत् ते वा दीर्घायुषस्तत एव प्रसिद्धदीर्घायुष्कवदिति स्वेष्टविभागसिद्धिः प्रबाधिका ।

विपक्षको अन्वयहप्टांत बनाकर व्यभिचारी हेतुओं द्वारा अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय दो आयुओंमेंसे किसी भी एक आयुके निराकरणार्थ आक्षेप कर रहा स्थळबुद्धि पंडित प्रमाण करके बाधित नहीं होता है, यह नहीं समझ बैठना । क्योंकि अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणसे उस आक्षेप कर्ताके मन्तव्यकी बाधा होजाती है। जब कि प्राणिदया आदि कारण विशेषोसे उपार्जित किये गये तिस प्रकारके अदृष्टकी सम्प्राप्ति होजानेसे देव आदि जीबोंकी आयुको अनुमान द्वारा अनपवर्तनीय साधा जा चुका है तथा उसके विपरीत माने गये विशेष अदृष्टके वश हुये कर्मभूमियां जीत्रोंकी आयुका विष ' आदि द्वारा ऱ्हास हो सकना सिद्ध कर दिया गया है, ऐसी दशामें आक्षेपकारके अनुमानाभास उक्त निरवष दो अनुमानोंसे बाधित हो जाते है एवं सिद्धान्तप्रन्थोंमें आयुका परिपूर्ण मोग और कदाचित मध्यबिच्छेद होना भी समझाया गया है। अन्तकृद्दशांगमें दारुण उपसर्ग सह कर कर्मका क्षय करनेवाले जीवोंकी वर्णना है। अनुत्तरीपपादिकदशांगमें भी उपसर्गवाले मुनियोंका वर्णन है। तथा सिद्धान्तप्रन्थ अनुसार गोम्मटसारमें आयुःकर्मके संक्रमण विना नी करण स्वीकार किये हैं। " संकमणा करणूणा णव करणा होति सन्व आऊणं "। वैद्यक प्रन्थोंमें भी आयुःका पूर्ण भोग होना अथवा किसी जीवकी आयुः का मध्यमें हास हो जाना भी परिपृष्ट किया है। अतः आक्षेप-कारके मन्तन्यको आगमप्रमाणसे भी बाधा (करारी ठेस) प्राप्त हुई । तथा यह सर्वत्र पोल चलानेवाला आक्षेपकार अपने अभीष्ट किये गये भेदोंकी प्रसिद्धि करके भी चोखा बाधित कर दिया जाता है। देखिये । इस आक्षेपकारने स्वयं किन्हीं किन्हीं चींदी, मक्खी, गिडोरे, घास, पतंग, प्राणियोंकी अल्प 🗸 आय अभीष्ट की है और किन्हीं किन्हीं बृक्ष, हाथी, बिछ मनुष्य, सर्प, आदि जीवोंकी लम्बी आयः मानी है। उस दशामें हम भी इसके ऊपर कटाक्ष करते हुये यों कह सकते हैं कि जिन जीवोंकी लम्बी आयु तुमने मानी है वे विवादशस्त हो रहे वृक्ष आदि प्राणि भी (पक्ष) अल्प कालवाली आयुको धारते हैं (साध्य), शरीरधारी होनेसे (वही तुम्हारे घरका हेतु) अल्प आयुवाले प्रसिद्ध घास जीव या रातको दीपकके चारों ओर यूमनेवाले पतंग आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा दूसरा अनुमान यो भी बनाया जा सकता है कि अल्प आयुवाले अभीष्ट किये गये वे खटमल मेंढकी, गिडार, राजयक्मा रोगवाले प्राणी (पक्ष) दीर्घ आयुवाले हैं (साध्य) तिस ही कारणसे अर्थात्— तुम्हारा अभ्यस्त लालित, पालित, वही शरीरधारीपन हेत उनमें घटित हो रहा है (हेत), प्रसिद्ध हो रहे दीर्घ आयुवाले वटबुक्ष, हाथी, मञ्ज पुरुष, आदि जीवोंक समान (अन्वयद्यान्त)। यहां प्रशं-साकी बात ते। यही है कि हमने तुम्हारे अभीष्ट हो रहे हेतुसे है। तुम्हारे अभिमतसिद्धान्तका निरा-

करण कर दिना है। प्रतिकारामण के अमीध माने जा रहे शखकर के तास्यया द्वारा प्रतिनारायणका खाद्यता कर दियां जाता है। इस प्रकार आक्षेपकार द्वारा अपने इस हो रहे अल्पआयुवाले और दीर्घ आयुवाले जीवोंके दो तिमार्गोंकी शिक्षि करना भी उस अनपनर्तनीय आयुवाले जीवोंको सामवर्त आयु उक्त साधनेत्वाले और सामवर्त आयुवाले प्राणियोंकी आयुक्तो हासरहित साधनेत्वाले अनुमानोंको भले प्रकार बाध देता है। यो अपने इस विभागकी सिद्धि उसीकी प्रवाधिका हो जाती है।

सर्वज्ञादिषिरोधाणासी नाध्यते तथाहि-विवादापणः पुरुषः सर्वज्ञां वीतरामी वा न भवति शरीहित्वाङ्न्यपुरुषवत् वेदार्थज्ञो ना न भवति जैभिन्यादिस्तत एव तद्वत् विपर्यसमसंगीः वेति शर्मापर्यानस्य कर्तुं श्रम्यत्यात् ।

लया वह आक्षेत्र तारका निस्सार अभिगत तो सर्वज्ञ, व्यापक आत्या या संकर्षसे स्वर्धप्राप्ति आदि स्वीकृतियोंसे निरोध आ जानेके कारण भी काश्वित हो जाता है । उसी बातको यो स्पष्टरूपसे काहती हैं कि बौदों करके माद्या गया बुद्ध या सांख्यों द्वारा माना गया कापिल अथवा और भी विवादमें पड़ा हुआ पुरुष (पक्ष) सर्वक् अथवा वीतराग नहीं है (साध्य) शरीरधारीपना होनेसे (हेकु) अन्य रथ्याः पुरुष, या किसान आदि मनुष्योंके समान (अन्वयदशान्त) । तथा मीमांसक पण्डित तो जैसिन, मनु, आदि पुरुषोंको बेदके अर्थका ज्ञाता स्त्रीकार करते है। उनके ऊपर अनुमान द्वारा यह कटाक्ष किया जा सकता है कि जैमिन, मन, याज्ञवल्क्य आदिक पुरुष (पक्ष) वेदके अर्थको जानतेवाळे नहीं है (साध्य) उसी शरीरवारीपन होने हे (हेतु) ग्रामीण पुरुषोके समान (वही पहिला अन्वयद्धान्त) । नैयायिक पाण्डित आकारा, काल, दिशा, आत्मा, इन द्रव्योंको व्यापक मासने हैं। उनके जपर भी यों अनुसान बनाकर फेका जा सकता है कि आत्मा या आकाश (पक्ष) न्यापक नहीं है (सान्य) द्रन्य होनेसे (हेत्) घट, पट, आदिके समान (अन्ययदृष्टान्त) , एवं घट पट आदि पदार्थ अतिस्य नहीं हैं (प्रतिका वाक्य) द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाराके समान (अन्त्रयख्यात)। मीमांसकोंके अमेतिकाम आदि ऋभकर्म (पक्ष) स्वर्गको देनेवाळे नहीं हैं (साध्य) कर्म होतेसे (हेत्) कर्ड जमक्षण, चोरी करना, मनुष्यवध आदि कुकुत्योंके समान (अन्वयद्दष्टनत) । अवना विपरीत हो जानेका भी प्रसंग प्राप्त होसा । अर्थात्—रथ्या पुरुष (पक्ष) सर्वज्ञ है (साध्य) राधिस्थारी होतेसे (हेतु) बुद्ध, कपिछ अहिदे समान (अन्वयद्दान्त)। तथा प्रामीण पुरुष भी रातीत्वारी होनेसे जैमिन, आदिके समान वेदार्थीका झाता है। एवं घट, पट, आदि भी द्रव्य होनेसे आकाशके समान न्यापक क्यों नहीं पाच किये जांय ! सीमांसकोंके अशुभ अनुष्ठान भी असिष्ठोम आदिके साम्रान स्वर्गप्रापक हो जांच । यो आक्षेप्रकारके ऊपर पूर्वोक्त प्रकार असद् उत्तरक्रपसे प्रत्यवस्थान (जाति) किया जा सकता है। जैसे कि उन्होंने बिना सोचे समझे हम जैनोंके ऊपर दो अनुमात स्वरूप अंडउआ (एएण्ड) की लोप लगा दी थी, जो कि पुस्स होकर रह गयी। परिणाम कुछ नहीं निकला, व्यर्थमें अपयश बीचमें भोगना पड़ा ।

प्रमाणक्रमेयान्यवस्थानाचायं बाध्यते । संबर्ग हि वक्तुं विवादाध्यासितः प्रमासा प्रमाणहितः शरीपित्वात् सन्तिपाताचाञ्चलक्षत् समयस्य वा नं परिष्णेका ततं एव तद्भदिति । ततः प्रमाणप्रमेयन्यवस्थितिं कुतिश्विरस्थीकुर्वन् सर्वज्ञादिन्यवस्थिति स्वैष्टविमागसिद्धिं वा नानक्तर्त्वस्येतरस्य वायुषः प्रतिक्षेपं कर्तुपद्दिति तस्य प्रतीतिसिद्धत्वादिति दर्शवति ।

चीथी बात यह कि यह आक्षेपकार (पक्ष) प्रमाण और प्रमेयोंकी अन्यक्या हो जानेसे (हेत्) शून्यवादीके समान (अन्त्रयर्ष्टान्त) स्वयं वाधितं हो जांता है (साध्य) । देखिवे । उसके समान हम भी अनुमान गढकर यों कह सकते हैं कि तुम्हारा अभीष्ट हो वहा किन्त इस समय हमारे लुम्हारे मध्यवर्ती क्रियादमें पड़ा हुआ प्रमाणका कर्ता आत्मा (पक्ष) प्रमाणकानसे रहित है (साध्य) श्रारीरवाधी होनेसे (हेतु) सन्निपात, सर्पदंश, अपस्मार (मृगी) मुच्छी आदिसे आक्रकित हो इहे मनुष्यके समान (अन्वयद्यान्त)। अवना दूसरा अनुमान यों कीजिये कि विवादप्रोप्त (पक्ष) घट आदि प्रमेयोंका परिज्ञापक नहीं है (साध्यं) उस ही कारणसे अर्थात्-शरीस्थारी होनेसे ही (हेत्) उन्हीं सनिपात आदिसे प्रसित हो रहे मनुष्योंके समाम (अन्वयहष्टान्त) । इत्यादिक चाहे जितने असत् कटाक्ष उठाये जा सकते हैं। किन्तु यह अशिष्ट आचार प्रामाणिकपुरुषोंको शोभा नहीं देता है। समीचीन हेलओंद्वारा स्वपक्षसाधन करना या परपक्ष दुष्ण देना बादी, प्रतिवादियोंको शोभता है। तिस कारणसे यह आक्षेपकार यदि प्रमाण या प्रमेयोंकी व्यवस्थाको अथवा प्रमाता या प्रमेयकी व्यवस्थाको यदि किसी भी प्रमाणसे स्त्रीकार कर रहा है और सर्वेह्न. वीतराग, व्यापकपन आदिकी व्यवस्थाको यदि अभीष्ट कर रहा है तथा अपने इन्हें तत्कीके विभागकी सिद्धिको यदि अभिमत कर रहा है तो ऐसी दर्शामें नहीं हाल होने योग्य को उसेंस नेगर हात होने योग्य आय:का खण्डन करनेके िये समर्थ नहीं हो सकता है । क्योंकि किसी किसी जीवकी आयु मध्यमें हास होने योग्य नहीं है तथा किसी किसी प्राणीकी आयु (उन्ने) हाल होने योग्य है । यो उस आयुको प्रमाणिक प्रतीतियों द्वारा साथा जा चुका है । इसी बातको श्रीविधानन्द स्वामी मालिमी छन्ददारा वार्तिकमें दिखलात हैं।

> इति सति बहिरंगे कारणे केपि मृत्यी-र्न मृतिमनुभवंति स्वायुषी हान्यभावे । ज्वलितहुतभुगंतःपातिनां पंचतापि । प्रतिनिकतत्वृनां जीविनस्थापि होः ॥ ५ ॥

इस प्रकार लोकामें कोई कोई नारकी, देव, बोगमूमियां, कादि जीव तो अपमृत्युके बीहरंग कारण, शस्त्रघात, भव्य, आदिको होनेपर भी अपमृत्युको जान्तरंगकारंग भानी यई आयुःकर्मकी उदी-रणा नहीं होते सन्ते अपने उपार्कित आखुःकी हानि नहीं होनेपार पृत्यु (अपमृत्यु) से मध्यमें ही मरण हो जानेका अनुभव नहीं कर पाते हैं है तथा जानकारयमान कार्यके भीतर पड जानेवाले कीट, पतंग मनुष्य, आदि जीत्रोंका तत्काल मध्यमें मरण होना भी देखा जाता है और जिन जीत्रोंके शरीर परिपूर्ण आयुक्तो भोगनेके लिये प्रतिनियत हो रहे है, उन जीत्रोंका जीक्ति रहना भी देखा जाता है। भावार्थ—इस सूत्रमें कहे गये देव आदि जीत्रोंकी तो अपमृत्यु होती नहीं है। िकन्तु कर्मभूमिमें भी अनेक जीव ऐसे है जिनको कि अपमृत्यु होजानेके कातिपय कारणोंका योग मिल जानेपर भी विशिष्ट आयुक्ता संसर्गबल बना रहनेसे वे नहीं मर पाते है। तिखने घरके ऊपरेंस गिर पडना, गोली लग जाना, सर्प हारा काटा जाना, तोपसे उडाये जानेका अवसर मिल जाना, राजाङ्का अनुसार भूखे सिह के पिजरेमें प्रवेश कर जाना, भीत गिर जाना, नदीमें इब जाना, आदि अपमृत्यु कारणोंका प्रकरण मिल जानेपर भी कई पुण्यशाली जीव मरनेसे बाल बाल बच जाते हैं। अखण्ड जीवदया, परोपकार आदि विशेष कारणोंसे उपार्जित किये पुण्यविशेषका साथी विशिष्ट आयु:कर्म ही यहां बचानेवाला है। हां, तिस प्रकारका पुण्य या नारकीयोकासा विलक्षण पाप जिनके पास नहीं है, ऐसे असंख्य जीवोंकी आयुका बाह्य कारणों हारा मध्यमें विच्छेद भी हो सकता है।

तदेवं युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धोनपवर्त्येतरायुर्विभागः सूक्त एव । इति द्वितीयमान्हिकम् ।

तिस कारण इस प्रकार सर्वज्ञ आम्नायसे चले आरहे सूत्रवचन अनुसार श्री विद्यानन्द स्वामीने युक्ति और आगमप्रमाणसे अविरुद्ध होरहा अनपवर्त्य और सापवर्त्य आयुका विभाग बहुत अच्छा ही कह दिया है। यहांतक द्वितीय अध्यायका दूसरा आन्हिक परिपूर्ण हुआ।

स्वं तत्त्वं लक्षणं भेदः करणं विषयो गतिः। जन्मयोनिर्वे शिकामहीनायुरिहोदितम्।। १।।

इस दूसरे अध्यायमें श्री उमास्त्रामी महाराजने जीवके निज तत्त्व पांच औपशमिकादिक भावोंका निरूपण किया है, जीवके लक्षण उपयोगका कथन किया है, उस उपयोगके भेदों या जीवके संसारी, मुक्त, पृथिर्वाकायिक, आदि भेदोंका प्ररूपण किया है, ज्ञानके करण हो रहे द्रव्य इन्द्रिय, और भाव इन्द्रियो तथा उनके स्पर्श आदि विषयोंकी निरूपणा की है, नवीन शरीरको प्ररूण करनेके लिये या मोक्ष जानेके लिये हो रही जीवकी गतिका वर्णन किया है । पश्चात्—संसारी जीवके तीन जन्म, नौ योनियां, पाच शरीर और तीन लिंगोंका सूत्रण करते हुये स्वामीजीने आयुका हास नहीं कर पूर्ण आयुको भोगनेवाले जीवोंकी प्ररूपणा की है ।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारे द्वितीयो अध्यायः समाप्तः ॥२॥
इस प्रकार सर्वज्ञकल्प श्री जमास्वामी महाराज विरचित तत्त्वार्थसूत्रोंके ऊपर
श्री विद्यानन्दि आचार्य महाराज द्वारा विशिष्टरूपसे रचे गये
श्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् प्रथमें
दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

द्वितीयाध्यायकी विषयसूची.

इस द्वितीय अध्यायके प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम है। श्री विद्यानन्द स्वामीने औपशिमक आदि भावोंको युक्ति और दशन्तके बळसे बढिया साथ दिया है। अतीन्द्रिय कमौंके उद्यक्तो स्पष्ट समझा दिया है। उक्त भाव जीवके ही हो सकते हैं। प्रधान आदिके नहीं। मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। पुनः छक्षणके ऊपर अच्छा विचार करते हुये अर्थक्रिया, सादस्य, वैसादश्य, को साधकर आत्माको अनादि, अनन्त, सिद्ध कर दिया है। चार्वाकके मतका प्रत्याख्यान कर जीवका तदात्मक छक्षण उपयोग ही करना पर्याप्त बताया है। नाना जीव अपेक्षा बारह प्रकारके उपयोगों अथवा एक जीव अपेक्षा उनमेंसे किसी एक उपयोगको छक्षण बनाते समय छक्ष्य जीव कितना समझा जाय, इस बातका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है। जीवके मेदोंका निरूपण करते समय एकत्व प्रवादका निराकरण करते हुये संसारी, असंसारी, तथा अयोगकेवळी सभी जीवोंका संप्रह कर छिया गया है। आत्माके व्यापकत्वका खण्डन कर एकेन्द्रिय जीवोंको युक्ति और आगमसे साध दिया है। ज्ञानका अत्यन्त अपकर्ष भस्म आदि जड पदार्थोमें नहीं, किन्तु एकेन्द्रिय जीवोंमें है। पांच इन्द्रियोंके भेद, प्रभेदको युक्तिपूर्वक साधते हुये छटे नोइन्द्रिय मनके भी उसी प्रकार भेद हो रहे बतला दिये हैं। तत्पश्चात् -इन्द्रियोंके विषय दिखलानेमें नवीनताको छाते हुये इन्द्रियोंके स्वामी जीवोंकी युक्तिपूर्ण सिद्धि की है। संज्ञी जीवोंकी संज्ञाका विचार कर द्रव्यमनको साधा है। प्रथम आन्हिकको समाप्त करते हुये औपश्मिक आदि भावोंमें नयभंगी जोड दी है।

इसके आगे द्वितीय आन्हिकमें आत्माके व्याप मल्वका निराकरण कर आत्माका यहां वहां गमन करना पुष्ट कर दिया है। ईश्वरके ज्ञानभी नित्यता, अनित्यतापर चोखा विचार चलाया है। जीवोंकी आकाशप्रदेश श्रेणी अनुसार गतिके छह प्रकार प्रक्रम बताकर लोकके चौकोर संस्थान या गोल रचनापर आक्षेप करते हुये अनाहारक अवस्था बतायी है। जन्म या योनिके कारण होरहे कमोंकी विचित्रतापर प्रकाश डालते हुये पुनः गर्भ, उपपाद, सम्मूर्छन जन्मके अधिकारी जीवोंके साथ उदेश्य दल्में एवकार लगाकार अनिष्टकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये नामकर्मके वैचित्रय की प्रशंता की गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये नामकर्मके वैचित्रय की प्रशंता की गयी है। उत्तरेत्तर शरीरोंमें अधिक परमाणुओंके होते हुये भी सूक्ष्म संस्थानको युक्तियोंसे साथ कर कर्मको पौद्रलिक बतला दिया है। बौद्ध, वैशेषिक, चार्वाकोंके कल्पित शरीरोंका निरास कर पांच ही शरीर नियत किये गये हैं। धाराप्रवाह रूपसे तैजस, कार्मण,का अनादिसम्बन्ध प्रसाध कर एक समयमें पांचों शरीरोंका असम्भन बता दिया गया है। तैजस शरीरके निरुपक्षित सम्बन्ध आवश्यक्ता नहीं समझी गयी है। शरीरोंको विधेय दलमें डाल कर गर्म, संमूर्छनज आदि उदेश्य दलोंको लक्षण सरीखा बनाते हुये लक्षणके फल इतर व्यावृत्ति होनेको अच्छा घटा दिया है। शरीरोंका परस्पर मेद सिद्ध करनेके लिये निर्दोष हेत्र दिये गये हैं। आहारक

शरीरको अन्य शरीरोंसे मिन साधनेमें चार हेतु सर्वीग सुन्दर मनोहर बत्रख्ये हैं। शरीरोंका प्रतिपादन करनेवाले चौदह सूत्रोंका विवरण कर जीवोंकी लिंगन्यवस्थाकी अनुमानों द्वारा सुदृढ़ कर दिया है। परिशेषमा जाकर हास होने योग्य और नहीं हास होने योग्य आयुष्यवाले जीवोंका बहुत बिटया प्रति-पादन कर मुमुक्षु श्रोताओंको परितृत कर दिया है। अन्य वादियोंके ऊपर मीठा कटाक्ष करते हुये आयुक्त अप्रवर्त और अनपर्वतको साध कर मालिनी छन्दः द्वारा दितीय अध्यायके विवरणको जयहार (जीतकी माला) पहना दिया है।

जीवमणद्धा सुनिभिर्द्धितीयाऽध्याये स्वतत्त्वेन्द्रियगोचरेनाः । गत्युक्रवौ योनिशरीरिकङ्गाऽन्हासायुषश्चोत्किकता यथार्षे ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्दः स्वामीकृतः महाशास श्री तत्त्वार्थस्त्रोकवार्तिककी आगरा मंडलान्तर्गत चानस्रीमामनिवासी न्यायाचार्यः, तर्करत्न, न्यायदिवाकर, सिद्धान्तमहोदाि स्यादादवारिशिपद्यी-विभूषित माणिकचन्द्र कृत तत्त्वार्थिचन्तामणि नामक हिन्दीभाषाटीकामें दितीय अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

---×**×---

अथ तृतीयोऽघ्यायः

चतुरसयनाकारा खोकस्यं वो विक्रोकयन्। इस्तामलकवल्लोकं श्री सुपार्श्वः श्रियं कियात् ॥ १॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने प्रथम अध्यायमें जीवके स्वामाविक अनुजीवी ग्रुण हो हो सम्पन्दर्शन, और चारित्र या जीवके पार्श्ववर्षी आनुषंगिक तत्त्व तथा ज्ञान और नयोंका निरूपण किया है। इसरे अध्यायमे विशेष भेदहिष्ट अनुसार जीवके अन्तरंग आधार क्षेत्र स्वतत्त्व, उप्रयोग, आदिका वर्णन करते हुये जीवके बहिरंग क्षेत्रकी ओर उस्य देकर योनि, जन्म, शारीरोंका प्रतिपादन किया है। अब तीसरे अध्यायमें भेदहिश्को बढाते हुये जीवके उपचरित असद्भूतन्यक्षहारनय अनुसार बहिरंग क्षेत्रके भी बहिरंग हो रहे स्थानविशेषोंका निर्णय कराते हुये अछोकस्थ, छोकाकाशके अधोछोक और मध्य छोककी प्रतिपत्ति शिष्योंको करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज तृतीय अध्यायको स्वते हैं।

मोक्षमार्ग हो रहे सम्यादर्शनके विषय जीवादि पदार्थीकी विशेषतया विक्रित कस्मेके छिये यह लोकालोकका विभाग समझ लेना अखपयोगी है। अनुप्रेक्षा चितन या ध्यान करनेमें भी इसकी आवश्यकता है। जगत्के सम्पूर्ण पदार्थीमें सबसे अधिक लम्बा, चौडा, मीटा, द्रन्य आकाश है। " मध्यायासमणंतं " अनन्तानन्त नामकी संख्याके मध्य भेदोंमें सर्वज्ञहरू और मणितःशास द्वारा हम हो विर्णीत एक बिशेष संख्या अनन्तानन्त है। उस अनन्तानन्त परिमाणबाले प्रदेशों बराबर लम्बा और उतना ही चौड़ा तथा ठीक उतना ही मोटा वन चौकोर आकाश हव्य है। आकाशको पदि गोल माना जायगा तो सब ओर आकाश अनन्तानन्त प्रदेशवाला है, इस सिद्धान्तसे विरोध पड जायगा । गोल बस्तुको मध्यभाग पेठको पूर्वसे पश्चिम या उत्तरसे दक्षिण नापा जाय तो उसके प्रदेश ठीक उतने ही बराबर बैठ जायंगे । किन्तु गोल वस्तुकी बगलसे उत्पर नीम्बेका देश नापा नायगा तो प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर अटती जायगी । यहांतक कि गुर्काईके अप्रमागमर पहुंचते हुये तो अत्यत्प प्रदेशों या एक प्रदेशकी है। उचाई, निचाई, रह जायगी । जब कि आकाश सब ओरसे ठीक उतने ही यानी न्यून अधिक नहीं अनन्तानन्त प्रदेशोंका धारी है तो तिकाला, पचकीना, गोछ या लंबोतरा. चौकोर आदि संस्थान उसके कथमपि नहीं हो सकते हैं। श्री नैमिचन्द्र सिद्धान्तचकवर्ती विरचित त्रिकोकसारमें द्विरूप वर्गधाराका निरूपण करते समय " सिविह जहकणाणंतं बमासकाद-लिखदी समाविपदं, जीवो पोग्गल कालो सेढी आगास तप्पदस्म् " इस गावा अनुसार जवन्य अनम्तरे अनन्त स्थान आगे चलकर दिरूपवर्गधारामें जीव राशिकी अक्षय अनन्तानन्त परिमाण संख्या आई बताई है। उससे अनन्तानन्त गुणी पहल राशि है। पत्रलीसे भी अनन्तनन्त गुणे व्यवहार साकने समय

समझाये हैं । कालसमयोंसे अनन्त स्थान चलकर दिरूपवर्गधारामें एक प्रदेश लंबी और एक प्रदेश चौडी तथा अनन्तानन्त राज् छन्नी परे आकाशकी सूची श्रेणी आई बताई है । इसका एक बार वर्ग करने पर दिरूप वर्ग धाराके अगले भेदमें उतना अनन्तानन्त प्रदेश लंबा और उतना ही चौडा प्रत-राकाश गिना गया है। जब कि सूची आकाश, प्रतर आकाशको कंठोक्त कह दिया है तो " सन्त्रा-यासमणंतं '' सब ओरसे आकाश समानरूपसे अनन्तानन्त प्रदेशों वाला है, इस नियमसे उतना अन-न्तानन्त प्रदेशी मोठा घनस्त्ररूप भी स्वतः सिद्ध होजाता है। फिर भी स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके अर्थ सिद्धांतचक्रवर्तीने कृपा कर द्विरूप चनधारामें "पञ्चचणं विदंगुलजगसेदी लोयपदर जीवघणं, तत्तो पढमं मूळं सव्वागासं च जाणेजो '' इस गाथा अनुसार जीवराशिके घनसे अनन्त स्थान चलकर सम्पूर्ण आकाशकी लंबाई, चौडाई, मोटाई, को धनखरूप स्पष्ट कह दिया है। तथा आचारसारके तृतीय अध्यायमें चौबीसवां स्रोक " व्योमामृति स्थितं नित्यं, चतुरसं समं धनं, भावावगाहहेतुश्वानन्तानंतं प्रदेशकम् '' यों है । श्री वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्तीने अनन्तानन्त प्रदेशवाले आकाशको सब ओर समान होरहा घन चौकोर बताया है। बफीके समान घनचतरस्र अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोकाकाश भ्यवस्थित है, जो कि दक्षिण, उत्तरमें सर्वत्र सात राजू है और पूर्व, पश्चिम, दिशामें नीचे सात राजू तथा क्रमसे घटता हुआ सात राजू ऊपर आकर एक राजू रह गया है। पुनः क्रमसे बढता हुआ साडे दश राजू ऊपर पांच राजू फैलकर और चौदह राजू ऊपर क्रमसे घटता हुआ एक राजू रह गया है। एक राज् आकाशमें असंख्याते योजन समा जाते हैं। जगच्छ्रेणीका सातवां भाग राज् है। अद्धा-पल्यके अर्थच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण वनांगुलोंका परस्पर गुणाकार करनेपर श्रेणी नामकी संख्या उपजती है । अद्धापल्यके अर्धच्छेदप्रमाण अद्धापल्योंको परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल नपता है। यानी एक प्रदेश छंबे, चौडे और आठ पडे जीके बरावर अंगुल ऊंचे आकाशमें असंख्यात पत्योंके समयोंसे भी अधिक परमाणु बराबर प्रदेश हैं। मूच्यंगुळके प्रतरको प्रतरांगुळ और घनको घनां-गुळ कहते हैं । घनांगुळसे पांचसी गुणा प्रमाणांगुळ होता है, जो कि अवसर्पिणीके चतुर्थ कारूकी आदिमें द्वये चक्रवर्तीके पांचसी धनुष छंत्रे शरीरका अंगुल है। पांच अंगुलियोंमें अंगूठाकी चींढाई मानी गयी है। अक्तित्रम पदार्थ छोक, सुमेरु, सूर्य, कुळाचळ, द्वीप, समुद्र, भूमियां, स्वर्गविमान, बातवलय, आदिकोंकी नाप बंडे यौजनोंसे की गयी है, जो कि छोटे योजनसे पांच सो गुणा अधिक है। लोकाकाशका ठीक बीच तो सुदर्शन मेरुकी जडके मध्यमें विराजे हुये आठ प्रदेश हैं। एक, तीन, पांच, सात, आदि संख्याओंको विषम संख्या कहते हैं और दो, चार, छह, आठ, आदि केवल ज्ञान पर्यन्त दो से दो दो बढती हुई संख्याको समधारामें कहा गया है। जब कि राजुके प्रदेश सम-धारामें पड़े हुये हैं तो चीदह राजू छंत्रे या सात राजू चौड़े और मध्य छोकमें एक राजू मोटे छोका-काराका ठीक बीच आठ निकलता है, अर्थात्—उपरसे नीचे और उत्तरसे दक्षिण तथा पूर्वसे पश्चिम तक जिस पदार्थके प्रदेश समसंख्यावाले हैं ऐसे घन संख्यावान् पदार्थोंका बीच आठ बैठता है।

समसंख्यावाळी पंक्तिका बीच एक निकाळना गगनकुसुमके समान असम्भव है । सुदर्शन मेरुकी जडके पासवाछी चित्रामें चार और नीचछी बजामें चार यों गोस्तन या गोस्तनी दाख (बडा अंगूर) के आकारको धारनेवाले आठ प्रदेश हैं। पुद्रल परमाणुसे या काल पर-माणुसे नापे गये अखण्ड आकाराके किंपत अंशको प्रदेश कहते हैं । जैसे आकाश जितना ही छम्बा उतना हो चौडा और उतना ही ऊंचा है, उसी प्रकार परमाणु भी जितना ही लम्बा है, उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है। उससे छोटा टुकडा न हुआ, न है, न होगा। अतः परमाणु अविभागी कहा जाता है। परमाणुमें सामान्य गुण प्रदेशवस्व अवश्य है, उस गुणके द्वारा परमाणुका आकार लम्बाई, चौडाई, मोटाई, कुछ अवस्य होनी चाहिये। गेंदके समान परमाणुको गोल माननेपर तो लोकाकाशमें कालायुओंके मध्य पोल रह जायगी। गोल पदार्थीका ढेर कहीं निरन्तर ठसा-ठस नहीं भरा जा सकता है । लोकमें ठसाठस भरे हुये धर्म, अधर्म, या आकाशकी ठीक ठीक पूरी नाप सबसे छोटे गोल टुकडेसे नहीं हो सकती है। अतः परमाणु वर्फीके समान चौकोर मान लेना चाहिये । परमाणुमें पुनः कोई अंश नहीं है और अंशोंसे वह बनाया गया भी नहीं है । अतः निरंश है। किन्तु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्च्च, अधः, छहों दिशाओं से छह परमाणु आकर मध्यवर्ती एक परमाणुसे चिपट जाते हैं । इस कारण परमाणु वर्डश भी हैं । द्वयणुक बनते समय छह पैळवाले एक परमाणुकी एक ओरकी भीतसे दूसरे परमाणुकी एक ओरकी भीत भिड जाती है, तब दो प्रदेश-वाला बणुक बन जाता है। यद्यपि एक परमाणुमें अनन्त परमाणु भी सर्वाङ्गीण संयुक्त या बद्ध होकर एक प्रदेशमें विराज रहे हैं। किन्तु लम्बे, चौडे, वडे, पुस्तक, पर्वत, आदि अवस्थी पदार्थीको बनानेके लिये परमाणुके साथ दूसरे परमाणुका एक ओरकी भीतसे ही परस्पर संसर्ग मानने पर्डेंगे। अन्यथा सुमेरु और सरसोंका आकार समान हो जायगा । यदि गोल परमाणुसे छह गोल परमाणु चारों ओरसे चिपट बैठेंगे तो बीचमें पोल अवस्य रह जायगी। रवडके सदश परमाणु घटता बढ़ता नहीं है। अतः परमाणुको बर्फीके समान छह पैळवाळा मानो । " अत्तादि अत्तमञ्ज्ञं अत्तत्तं गेव इंदिये गेज्जम् , जदव्यं अविभागी तं परमाणुं विआणोद्दि " का भी यद्दी अभिप्राय निकालना चाहिये । सिद्रान्त चक्र-वर्ती श्री वीरनन्दी आचार्यने आचारसारके तृतीय अधिकार सम्बन्धी तेरहवें श्लोकमें परमाणुको स्पष्ट रूपसे चौकोर अभीष्ट किया है। " अणुश्च पुद्रछोऽभेदावयवः प्रचयशक्तितः, कायश्चं स्कन्धभेदो-त्यश्चतुरस्रस्वतीन्द्रियः ''। परमाणु सूक्ष्म है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म आकाश है। यह जो दिन या रातमें उजेळा या अंधेरा दीखता है वह तो पुद्रळकी पर्याय है। सूक्ष्म आकाशको तो सर्वावधिज्ञानी भी नहीं देख सकता है। केक्छज्ञान या आगमप्रमाणसे आकाश जाना जाता है। सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, पदार्थीमें सर्वज्ञभारा प्राप्त आगम ही प्रमाण है। जो कुछ युक्तियां थोडी बहुत मिछ जांय उनको सेंत मेंतकी समझ कर व्हट हो । अधिकके लिये हाथ मत बढाओ । आगमप्रमाण ,सम्पूर्ण ,प्रमाणींका शिरोभूषण है। चार बर्फियोंके ऊपर दूसरी चार बर्फियोंको धर देनेपर जो दशा (सूरत) बन जाती है,

मही छोकके मध्यवर्ती आठ प्रदेशोंकी आकृति (हुकिया) है। उसको मवयुवती गायके स्तनोंकी या बडे अंगूरकी उपमा देना तभी तक शोभता है, जकतक कि दार्शन्त समझमें नहीं आवे । दार्शन्तके समझ म्<mark>छेनपर तो वे उपसार्ये देना अधिक ग</mark>्रहत्वका नहीं समझा जाता है। आचार्य महाराजने एक स्थानपर क्रिखा हैं कि अन्धे पुरुषके सन्मुख क्षीरान (खीर) की कुक्छताको बतानेके क्रिये बगुलाकी उपमा देना और वगुळ्का झन करानेके लिये अपने मुंडे हुये हाथको अन्धेके हाथमें पकडा कर समझाना, किंचित् काल ही शोभा देता है। एक बात यहां यह भी समझ छेनी चाहिये कि छोकाकाशकी दक्षिण, उत्तरबाली भीतें एकदम सीधी चौदह राजू ऊंची है। अतः दक्षिण, उत्तर, कालाणुओं या धर्मद्रव्य अधवा बातवलयकी मित्तियां चिकनी सपाट हो रहीं सीवी हैं, खरदरी नहीं हैं । किन्तु पूर्व, पश्चिममें क्रमसे घटना या बढना होनेसे चिकनी भीत नहीं हो पायी है। छह पैलदार बिना कटी ईटोंसे यदि घटती बढती हुई मित्ति बनायी जाती है तो उसमे ईंटोंके कोंब निकले रहते है। उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम कोकाकाशमें परमाणुओंके कोन निकल रहे समझ छेने चाहिये। छोकमें उसाउस भरी हुई कालापुओंकी रचनाका भी यही क्रम है। छोक बराबर छम्बे, चौडे, ऊंचे, धर्मद्रन्य और अधर्मद्रन्यका आकार भी लोकके नीचे ऊपर और दक्षिण उत्तरमें सपाट चिकना सरीखा है। किन्तु पूर्व, पश्चिमकी घटाई बढाईमें खरदरे धर्मद्रव्यके भी जीनाकी सीढियोंके समान असंख्याते पैल निकले हुये है। पुरुल परमाणु, कालाणु, और आकाशके कल्पित प्रदेशकी रचना छह पैलवाली बर्फीके समान एकसी है। जगत्में सबसे छोटा आकार परमाणका है, जो एक प्रदेशी है और सबसे वडा आकार अनन्तानन्त **प्रदेशी आकाशका है। दोनोंका सांचा एकसा है। सुदर्शन मेरुका मूमि**भें गढा हुआ एक हजार योजन निचला भाग चित्रा पृथिवीमें ही गिना जाता है। अतः सात राजू उम्बी एक राजू चौडी हजार योजन गहरी चित्रा प्रथिवीके सबसे निचले भागमे ठीक बीचके चार प्रदेश और वजाके सबसे ऊपरले भागमें ठीक बीचके चार प्रदेश यों मिलाकर आठ प्रदेश लोकका मध्यभाग है । चौदह राजू जंचे टोकको ठीक बीचसे काट देनेपर चित्राके निचले चार प्रदेशोंके समतळसे प्रारम्भ कर जपरले सात राज् ऊंचे या एकसी सेतालीस धन राज् भागको ऊर्घलोक कहते हैं। तथा बन्नासम्बन्धी उपरिम चार प्रदेशोंके समतलसे प्रारम्भ कर सात राजू नीचेका या एकसी छियानवै घन राज्याला भाग अधोकोक समझा जाता है। मध्यकोकके ठिये कुछ भी स्थान नहीं बचता है तो भी मध्यकोकसे या मध्यलोकके मध्यम पैतालीस लाख लम्बे चौडे ढाई द्वीपेस मोक्षमार्ग चाद है। विकलत्रय या असंज्ञी, संज्ञी, तिर्येच भी मध्यलोकमें ही पाये जाते हैं। अतः ऊर्ध्वलोकके निचले भागमेंसे सात राजू लम्बे एक राजू चौडे और सुमेरुकी उचता बराबर एक राख चाळीस योजन ऊंचे भाग हो (कर्ज) छेकर मध्यलोक मान लिया गया है। श्री उमास्त्रामी महाराज इस तृतीय अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन करेंगे । तहां प्रथम ही अधोलोकका वर्णन करनेके लिये उपक्रमकारक सूत्रको रचते हैं।

रत्नशर्करावाळुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयोः घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताघोऽधः॥ १॥

रत्नप्रभा, राकीराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रमा, ये नीचे नीचे सात भूमियां है, जो कि सातों ही घनवातके उत्पर प्रतिष्ठित हैं। घनवात तो अम्बुवातपर स्थित हो रहा है और तनुवातके ऊपर अम्बुवात आधेय है, तनुवातका आधार आकाश है, जो कि महापरिमाणत्राला होनेसे स्वमें ही प्रतिष्ठित है। आन्नाशका आलम्बन कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। अर्थात-जहां अस्मदादिक मनुष्य निवास करते है वह रत्नप्रभाका ऊपरछा भाग है। यहांसे प्रारम्भ कर दक्षिण, उत्तर, सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी और एक लाख अस्सी हजार योजन नीचेकी ओर मोटी रत्नप्रभा है। चूंकि रत्नप्रभाका जपरला एक हजार योजन मोटा चित्रामाग जर्ष्वलीकके सात राजुओंमें वट चुका है। अधोरोक्के साल राजु रत्नप्रभाके बन्नामागरे प्रारन्भ किये गये हैं। तथा अवीलोकके उपरले एक राजुमें सबसे उपर रत्नप्रभा और सबसे नीचे शर्कराप्रभा है। अतः रत्नप्रभासे दो लाख ग्यारह हजार योजन कमती एक राज् उतर कर प्रारम्म हुयी दक्षिण उत्तर सात राज् लम्बी, पूर्वपश्चिम एक एही छह बटे सात राजू चौडी और बत्तीस हजार योजन मोटी शर्कराप्रभा भूमि है। शर्करा प्रमास अहाईस बनार योजन कमती एक राज् नीचे उतर कर मिल गयी सात राज् लम्बी दो सही पाच बटे सात राजू चौड़ी और अड़ाईस हजार योजन मोटी बालुका प्रभा अनादि निधन वनी हुई है। वालुका प्रभासे चौबीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उत्तरकर पा गर्थी दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बी और पूर्व पश्चिम तीन सही चार बटे सात राजू चौडी तथा चौबीस हजार। योजन मोटी पंकप्रमा विद्यमान है। पंकप्रभासे बीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतर कर लग गयी सात राज लम्बी चार सही तीन बटे सात राजू चौडी और बीस हजार योजन मोटी धूमप्रभा है। भूमप्रभासे सोलह हजार कमती एक राज् नीचे उत्तरकर प्राप्त होगयी सात राज् लम्बी पांच सही दो बटे सात राजू चौडी और सोछइ हजार योजन मोटी तमःप्रमा भूमि जम रही है । तमःप्रमासे आठ हजार योजन कम एक राजू नीचे उतरकर छू छी गयी सात राजू छम्बी छह सही एक बटे सात राज् पूर्व पश्चिम चौडी और ऊर्ष्य अधः आठ हजार योजन मोटी महातमःप्रभा है। सातों भूमियोंमेंसे प्रत्येकके निचे और छोकके तसमें साठ साठ हजार योजन मोटा वातवळय है। जबर जर्म्बलोकमें साल राज् लम्बी एक राज् पूर्व पश्चिम चौडी आठ योजन मोटी ईष. ध्यागमारा नामक आठवीं भूमिक नीचे भी साठ हजार योजन मोटा वातवलय है। श्री त्रिलोकसारमें ''जोयण वीससइस्सं बहुलं वळयत्तवाण पत्तेयं भूळोयत्रले पासे हेहादोः जान रम्जुति'' इसः गाथा अनुसार उक्त अभिप्रायक्षा निरूपण किया है। छोक था आठ भूमिमीके नीचे बीस इजार योजन मोटा वनवाल,

उसके निचें बीस सहस्र योजन मोटा अंबुबात है अखुबातके नीचे बीस हजार योजन मोटा तनुवात है, आकाश तो ऊपर निचे अगळ बगळ सर्वत्र ही है। लोकके पूर्व, पिक्षम या दक्षिण उत्तर अथवा ऊपर सिरमें जो बात रळ ये लिपट रहा है, उसमें नीचे घनवात, उसके ऊपर अखुवात और उसके ऊपर तनुवात है। लोकके सबसे ऊपरेल भागमें विराजमान अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठी भगवान् तनुवात कल्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। जिन सम्पूर्ण सिद्धपरमेष्ठी परमात्माओं हे सिरके ऊपरले भागका अलोकाकाशके साथ संयोग हो रहा है। इवर उधर या नीचे तनुवात संयुक्त है। उन शुद्ध आत्माओं को में त्रियोग हो नमस्कार करता हूं। इन तीनों बात खर्योमें बायु काय हे असंख्याते जीव हैं। कचित्, कदाचित, जीवरिहत जडन्वायु भी फैली हुई है। यों सूचकारने अवोलोककी सामान्य रचनाको समझा दिया है।

रत्नादीनामितरेतरयोगे दंदः, मभाश्रद्धस्य मत्येकं परिसमाप्तिश्चीजिवत् । साहचर्यात्ता-च्छन्यसिद्धियिवत् ।

रत्न और शर्करा और वालुका और पंक्त और धूम और तम और महातमः इन सात पदोंका परस्पर जोड करते हुये इतरेतरयोग नामक दन्द्र समासमें " रत्नत्रर्शरात्राळकापंकश्चमतमःमहातमांसि" यों इन्द्र समासत्राठा पर बना छिया जाता है। इन्द्र समासके अन्तमें पड़े इये प्रभा शहकी रत-शर्करा. आदि प्रत्येक्तर्ने पूर्णरूपते समाप्ति कर देनी चाहिये। जैसे किसीने कहा कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त, इनको भोजन करा दो। यहां भोजन कियाका प्रत्येक तीनोंमें अन्वय कर दिया जाता है। रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रमा, ये सात भूमियोंके नाम उनकी कांतिका अवलब लेकर अनादिसे चले आ रहे हैं। १ वर्गा २ वंशा ३ मेघा ४ अंजना ५ अरिष्टा ६ मचनी ७ माधनी ये सात नाम भी सात नर हों ही अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे हैं। यष्टि (लकडीके) समान सह चरपनेसे उन रानशर्करा, आदिकी प्रभाओं अनुसार रानप्रभा आदि शहों द्वारा बाच्यपनेकी सिद्धि कर दी जाती है। अर्थात्—जैसे लाक्षणिक यष्टिपद द्वारा यष्टिके सहचरपनेसे यष्टिघर देव-दत्तको भी लकडी कह दिया जाता है। या आम बेचनेत्रालेको आमका साहित्य होनेसे ओ आम या तांगावालेको तांगा कहकर पुकार लिया जाता है। उसी प्रकार चित्र, रत्न, वेज्ररत्न, वैद्वर्यमणि, छोहनणि, गोमेर, प्रवाङ (मूंगा) आदि रत्नोक्ती सी प्रभाका सनिधान होनेसे पहिछी भूमि रत्न-प्रभा मानी गयी है। इस भारत वर्षमें भी किसी देशमें छाछ, कहीं काछी कचित् पीछी किसी स्थछपर अधिक काली आदि कई रंगोंकी भूमियां शोभ रही हैं। ककरीकी प्रभा समान प्रभासे युक्त होरही भूमि शर्कराप्रमा है। वास्त्रके समान कान्तिको धारनेवाली वास्त्रकाप्रमा है। कीचकीसी युतिको पंकप्रमा धार रही है। धूमप्रभामें धूमकी सी छवि है। तमःप्रभाकी कान्ति अन्धकारके से रंगको छिये हुये है। गाढ अन्यकारकीसी शोभाको धार रही महातमःप्रभा है। अन्यकार या प्रकाशके साथ दुःखका, सुखका, कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है। अन्वकारमें भी विशेष आनन्द आ सकता है। कवित् प्रकाशमें भी जीव

वेदनाके मारे छट पटाता रहता है। अंधरेमें कई जीव कूएमें गिर पडते हैं, तो दीपककी ज्योतिमें मी अनेक पतंग कीट अपने प्राणोंको होम देते हैं। आचार्य महाराजने उन भूमियोंमें जैसी कांति है, उसका प्रतिपादन कर दिया है। सभी पौद्रिक पदार्थोंसे मन्द या तीव कांति अवश्य निकलती रहती है। यानी इनका निमित्त पाकर वहां मरे हुये पुद्रलस्क्योंका वैसा चमकीला परिणाम हो जाता है। यदि घरकी पोलमेंसे पुद्रलोंको कथमपि निकाल दिया जाय तो प्रकाशक द्वारा प्रकाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि वे पुद्रल ही तो प्रकाशित होकर चमकते थे। सुधा (कलईसे) पुते हुये कमरे और काले हो रहे रसोई घरमें रात या दिनको बैठकर उनकी भूरी, काली, कान्तिओंका स्पष्ट अनुमव हो जाता है। अतः स्वकीय प्रभा अनुसार भूमियोंके सात नामोंकी योजना हो रही है।

तमः प्रभेति विरुद्धिमिति चेन्न, तत्स्वात्मप्रभोपपत्तेः । अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशा-द्वेष्टगोपवत् रत्नप्रभादिसंज्ञाः पत्येतव्याः । रूढिश्रद्धानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेन्न, सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात्तेषामिष गमकत्वोपपत्तेः ।

यहां वैशेषिककी शंका है कि तमः तो अन्धकार है और प्रमा प्रकाश है. अन्धकारके होनेपर प्रभा नहीं और प्रभाके होनेपर अन्धकार नहीं सम्भवता है। यो विरोध हो जानेसे छठी पृथिवीका नाम तमःप्रभा यों कहना विरुद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन अन्ध-कार या महा अन्यकारके अपनी अपनी निजयभाकी सिद्धि हो रही है। केवल धौली, पीली, चमकको ही प्रभा नहीं कहते हैं । किन्तु सम्पूर्ण पौद्रलिक पदार्थीमें अपनी अपनी काली, घूसरी, आदि प्रभायें प्रसिद्ध हो रहीं हैं । तभी तो इस काले मनुष्यकी छवि चिक्तनी काली है और अमुकके काले शरीरकी लौन रूखी है। काली लोहितमणि या डामर अथवा वर्षाकालकी अमावस्या रात्रिके अन्धकारमें प्रभा दृष्टिगोचर हो रही है, अन्धकार तेजो भाव पदार्थ नहीं किन्तु पौद्रछिक है। अन्धकारकी छविसे कार्ति-पय पदार्थ काले हो जाते हैं। अन्य भी कई नवीन नवीन परिणाम अन्धकार करके साध्य हैं। तसवीर उतारनेवालोंसे पुळियेगा । दसरी बात यह है कि अनादि कालसे तिस प्रकारके हो रहे परिणामका अवलम्ब पाकर इन भूमियोंका रत्नप्रभा आदि नाम निर्देश हो रहा है, जैसे कि किसी बाह्मण या क्षत्रिय धार्मिक पुरुषने पुत्रका नाम अपना अभीष्ट गोप या गोपाल रख लिया। इसमें शहके अर्थ माने गये गायको पाठनेकी अपेक्षा नहीं है अथवा चौमासेके प्रारम्भमें ठाठ मखमठी कीडोंको इन्द्रगोप या रामकी गृडिया कह देते हैं. सीधर्म आदि इन्द्रोने उन कीटोंको ।वेशेष रूपसे पाला नहीं है । हां, कोई कोई मनुष्य मेघको भी इन्द्र कह देते हैं । मेघके वरसनेपर वे मखमली कीडे सम्मूर्छन उपज जाते है । केवल इतना ही निमित्त पाकर उन कीटों का इन्द्रगोप नाम कह दिया जाता है। इसी प्रकार रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, आदि संज्ञायें समझ लेनी चाहिये । यहां किसीका आक्षेप है कि यों रत्नप्रभा आदि रूढि शहोंको पदके अवयव बन रहे प्रकृति, प्रत्ययके नियत अर्थोंकी घटना नहीं होनेसे भेदकी सिद्धिमें गमकपना नहीं है। अर्थात - जैसे पाचक, पाठक, पाछक, पादप, पानक, आदि शहां के अत्रयवींका

अर्थ घटित हो जानेसे अर्थभेद की सिद्धि हो जाती है, उस प्रकार रूढि शद्धों करके वाच्यार्थींका भेद नहीं सभ पाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्र केयल प्रतिपत्ति करानेका उपाय है व्याख्यान कर देनेसे या समुदाय शक्ति द्वारा उन रूढि शद्धोंको भी पदार्थींके भेदका ज्ञापक-पना बन जाता है। इधर उधरसे अन्य पदार्थींका उपस्कार कर लघुसूत्र द्वारा भी महान् अर्थकी प्रति-पत्ति हो जाती है।

भूमिप्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थे, घनादिग्रहणं तदालंबननिर्झानार्थे, सप्तग्रहणमिय-त्तावधारणार्थे । सामीप्याभावादघोऽध इति द्वित्वानुपपत्तिरिति चेन्न, अंतरस्याविवक्षितत्वात् ।

इस सूत्रमे भूमिका प्रदण तो अधिकरण विशेषकी प्रतिपत्तिके छिये है । अर्थात् — जैसे स्वर्ग-पटल भिका आश्रय नहीं करके जहांके तहां व्यवस्थित हो रहे हैं, उस प्रकार नारकी जीवोंके स्थान नहीं हैं. नारिक्रयों के आवास तो भूमिका आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित है। इस सूत्रमें घनाम्ब आदिका प्रहण तो उन भूमियोंके आलम्बनका परिज्ञान करानेके लिये हैं। अर्थात्—स्वाश्रय होते हुये भी पक्षी जैसे बायके सहारे आ हारामें उड रहा है, उभी प्रकार ये सभी भूमियां घनोद्धि नामके बातवल यपर आश्रय पारही हैं और घनोद्धि बातबलय तो घनवातपर इट रहा है तथा। तनुवातपर घनवात या अम्बवात अवलियत है। सूत्रमें सप्त राद्धका प्रहण तो भूमियोंकी संख्याके इतने नियत परिमाण होनेका अवधारण करनेके छिये हैं जिससे कि अधोलोककी सात ही भूमियां समझी जांय छह या आठ नहीं । यहां किसीकी शंका है कि तिरछी हो रही रचनाकी निवृत्तिके छिये सूत्रमें अधःका वचन आवश्यक है, किन्तु भूमियोंमें जब असंख्याते योजनोंका मध्यमें अन्तर पड़ा हुआ है. ऐसी दशामें समीपपन नहीं घटित होनेसे "अवः अघः " इस प्रकार अघः शद्धके दो पनेकी सिद्धि नहीं हो पाती है। हां, वातत्रलयोमे अन्तर नहीं होनेसे ''अधः अधः '' शहू अच्छा घटित हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि मध्यमें पड़े हये अन्तरकी यहा विवक्षा नहीं की गयी है। सजातीय पदार्थ करके व्यवधान होता तो शंकाकारका कहना ठीक था। आकाशका अन्तर अगण्य समझा गया है। यहां विशेष यह कहना है कि पहिले घनवातका दूसरा नाम घनोदधिवात है। दूसरे अम्बुवातका अपर नाम धनवात भी है। ये सब चेतन या अचेतन वायु ही है । यहां जड जल या सचेतन जल नहीं है । कोरा नाम धर दिया गया है । पहिली घनोदधि नामक वायमें उद्धि शद्ध द्वारा मोटे जल या भापकी अभिन्यक्ति हो जाती है।

कुतः पुनरेताः संभाव्यंत इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि महाराज फिर यह बताओ कि वे नीचे नीचे न्यत्रस्थित हो रहीं सात भूमियां भला किसी प्रमाणसे ज्ञात हो कर सङ्गात्र को प्राप्त हो रहीं है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते है |

घनां बुपवनाकाशप्रतिष्ठाः सप्तभूमयः । रत्नप्रभादयोऽधोधः संभाव्या बाधकच्युतेः ॥ १ ॥

नीचे प्रदेशोंमें रचनाको प्राप्त हो रहीं और प्रत्येक भूमियां यथाक्रमसे घनवात, अम्बुवात, तनुवात, और आकाशपर दृढ प्रतिष्ठित हो रहीं ये रत्नप्रभा आदिक सात भूमियां (पक्ष) स्वकीय अस्तित्व करके संभावना करने योग्य हैं (साध्य), अस्तित्वके बाधक प्रमाणोंकी च्युति होनेसे (हेतु)। अर्थात्—सत्ताके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे वस्तुका सद्भाव निर्णात कर छिया जाता है। वही उपाय सात भूमियों और उनके आलम्बनोके सद्भावका अर्व्यथ प्रसाधक है।

न हि यथोदितरत्रमभादिभूमिप्रतिपादकवचनस्य किंचिद्वाधकं कदाचित् संभाव्यते इति निरूपितपायं।

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार कह दी गयीं रत्नप्रभा आदिक भूमियोंका प्रतिपादन करनेवाले सूत्र यचनका कभी कोई भी बाधकप्रमाण नहीं सम्भव रहा है, इस बातको हम कई बार अन्य प्रकरणोंमें कह चुके है कि बाधक प्रमाणोंके असम्भवसे पदार्थका अस्तित्व साध लिया जाता है।

नन्वेता भूमयो घनानिलप्रतिष्ठाः घनानिलस्त्वंबुवातप्रतिष्ठः सोपि तनुवातप्रतिष्ठस्तनु-वातः पुनराकाशप्रतिष्ठः स्वात्पप्रतिष्ठमाकाशमित्येतदनुपप्रतं, व्योपवदभूमीनामपि स्वात्पप्रति-ष्ठत्वप्रसंगात् भूम्यादिवद्वाकाशस्याधारांतरकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात् । ततो नात्र वाधकस्युति-रिति कश्चित्तं प्रत्याह ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि आप जैनोंने जो यह कहा है कि ये सातों भूमियां घनवात पर प्रतिष्ठित होरही हैं और घनवात तो अम्बुवातपर आश्रय पारहा है तथा वह अम्बुवात भी तनुवातके अवलम्बपर सधा हुआ है। तनुवात फिर आकाशपर प्रतिष्ठित है तथा आकाश अपने स्वरूपमें ही आधार, आध्य, बन रहा स्वाश्रित है। यों जैनियोंका यह कथन सिद्धिको प्राप्त नहीं होपाता है। क्योंकि या तो आकाशके समान भूमियोंको भी अपने अपने निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेका प्रसंग आता है अथवा भूमि या घनवात, आदिके समान आकाशका भी अन्य आधार मानना पडेगा और उस आधार भी छड़े, सातवें, आठवें आदि न्यारे न्यारे अन्य आधारोंकी कल्पना करते करते जैनोंक ऊपर अनवस्था दोष आनेका प्रसंग होता है। तिस कारण यहां बाधकच्युति नहीं है। अर्थात्-भूमि और उनके आधारोंके सद्भावकी सिद्धि करनेमें जो बाधकामात्र हेतु दिया गया है, वह हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है। इस प्रकार कोई अपना नाम नहीं लेता हुआ आक्षेप कर रहा है, उसके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान कहते हैं।

स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं विभुद्रव्यत्वतोन्यथा । घटादेरिव नैवोपपद्येत विभुतास्य सा ॥ २ ॥

आकाश (पक्ष) अपने निजस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) व्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी आकाशको स्वप्रतिष्ठित नहीं मानकर यदि आकाशको भी अन्य अन्य अधि-करण माने जायंगे तब तो घट, पट, आदिके समान इस आकाशका वह व्यापकपना नहीं बन सकेगा । अर्थात्—आकाशके अधिकरण माने गये द्रव्यका जहांसे प्रारम्भ होगा वहींतक आकाशकी सीमा समझी जायगी । घरकी पोळरूप आकाशका अधिकरण यदि आंगनको मान ळिया जायगा तो ऐसे छोटे छोटे अनन्त आकाशोंकी असद्भूत कल्पना करनी पडेगी। आकाशकी व्यापकता भी नष्ट हो जायगी, जो कि इष्ट नहीं है ।

परममहदन्यत्मितिष्ठितं वेति व्याहतमेतत् । ततो व्योम चात्ममितिष्ठं विश्वद्रव्यत्वाद्यचु न स्वात्ममितिष्ठं तम्न विश्वद्रव्यं यथा घटादि, विश्वद्रव्यं च व्योमिति न तस्याप्याधारांतरकल्पनया-नवस्था स्यात् । नापि भूम्यादीनामपि स्वशितष्ठत्वमसंगस्तेषामविश्वद्रव्यत्वादिति न प्रकृतवाधकत्वं ।

इधर आकाशको परम महापरिमाण वाला कहना और उधर आकाशको दूसरे अधिकरण द्रव्यपर प्रतिष्ठित कर देना ये दोनों बातें परस्पर व्याधातदोष युक्त हैं। परम महत् कहते ही आकाशका अन्य द्रव्यपर प्रतिष्ठित रहना उसी समय रोक दिया जाता है अथवा घटादिकका अन्य स्थलेंपर धरा रहना कहते ही उसी क्षण महापरिमाणसहितपना निषिद्ध होजाता है। अन्योन्य विरुद्ध होरहे धर्मोमेंसे किसी एककी विधि करते ही वच रहे दूसरे धर्मका उसी समय झट निषध हो जाता है। दोनो धर्मकी विधि या दोनोंके युगपत निषेध करनेका असम्भव है। तिस कारणसे सिद्ध होजाता है कि व्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाश (पक्ष) स्वयं अपनेमें ही आधार आधेयमूत प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) जो स्वास्म प्रतिष्ठित नहीं है वह तो विमु द्रव्य भी नहीं है जैसे कि घट, पट, आदिक पटार्थ हैं (व्यतिरेकव्यासिपूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त)। यह आकाश व्यापक द्रव्य है (उपनय) इस कारण वह स्वयं अपना अवलम्ब है (निगमन)। अतः पुनः उसके भी अन्य आधारोंकी कल्पना करके अनवस्था दोष नहीं हो पायगा। तथा आकाशके समान भूमि, वायु, आदिकोंको भी स्वप्रतिष्ठितपनेका प्रसंग नहीं आ पाता है। क्योंकि वे भूमि आदिक तो अव्यापक द्रव्य हैं। अतः वे स्वाप्रय नहीं हो सकते हैं। इस कारण हमारे प्रकरणमें प्राप्त सात भूमियां या उनके आधारोंकी निर्वाध, निर्दोष, हेतु द्वारा सत्तासाधनमें तुम्हारा आक्षेप बाधक नहीं हो सकता है। तब तो बाधकच्युति हेतु पक्षमें ठहर गया।

नज्ञु कथमिदानीं व्योम तज्जुवातस्याधिकरणममूर्तत्वात्तत्यातिवंधकत्वादित्यपरस्तं प्रत्याह।

पुनः किसीका आक्षेप है कि मूर्त होनेस भूमियोंका अधिकरण घनत्रात या घनवातका आधार अम्बुवात अथवा अम्बुवातका आश्रय तनुवात भले ही हो जाओ, किन्तु अमूर्त होनेसे भला आकारा इस समय तनुवातका अधिकरण कैसे हो सकता है ! क्योंकि उसके प्रतिबन्धकपनका अभाव है । अर्थात्—पुस्तकका आधार चौकी है, मनुष्यका आश्रय मृंद्धा है, यहां आध्यके अधःपतनका प्रतिबन्धक होनेसे चौकी, मृद्धाको आध्यका आधार माना गया है । किन्तु अमूर्त्त और सबको सर्वत्र अवगाह देनेवाला आकारा तो तनुवातके अधःपातका प्रतिबन्धक नहीं है। तनुवातके नीचे ऊपर, तिरले, सर्वत्र आकारा भर रहा है। अतः तनुवातका आधार आकारा नहीं सिद्ध होता है। यहांतक कोई दूसरा आक्षेपकार कह रहा है। उसके प्रति (उन्मुख) श्री विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा उत्तर वचन कहते हैं।

तनुवातः पुनर्व्योमप्रतिष्ठः प्रतिपद्यते । तनुवातविशेषत्वान्मेघधारणवायुवत् ॥ ३ ॥

फिर तनुवात तो (पक्ष) आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहा समझा जाता है (साध्य) विशेष स्वरूप धारी तनुवात होनेसे (हेतु) मेघको धारनेवाले वायुके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाशमें फैल रहे मेघको जैसे अदृश्यवायु धारे रहता है, उसी प्रकार तनुवातको आकाश धारे हुये है । मळलीके चारों ओर फैल रहा जल मळलीको आधार है। मूमिमें सैकडों कीड मकोडे आश्रय पा रहे हैं। वायुके आधारपर पक्षी उड रहा है।

मेघघारणो वातावयवी वाय्ववयवमितिष्ठ इति चेत् न, अनंतशः पवनपरमाणूनां पवनाव-यवत्वात् तेषां वाकाशभितिष्ठत्वादिभित्रस्य कथंचित्पवनावयिवनोपि तदाघारत्वोपपत्तेर्न साध्य-विकलग्रुदाहरणं, नापि संदिग्धविपक्षच्याद्यत्तिको हेतुः, कस्यचिद्प्यनाकाशाधारस्य तनुवातस्या-संभवात् । ततः तस्यामूर्तस्यापि पवनाधारत्वग्रुपपन्नं आत्मनः शरीराद्याधारत्ववत् तथा प्रती-तेरवाधितत्वात् ।

यदि यहां कोई वैशेषिक यों कहे कि छोटे छोटे अत्रयत्र वायुओंसे बना हुआ अत्रयत्री हो गया, तायु जो कि मेघको धारनेवाला कहा गया है, वह तो अपने समवायी कारण हो रहे अवयवोंपर प्रतिष्ठित है, आकाशमें नहीं है। अतः आपका हेतु वाधित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनन्ते अनन्ते वायुके परमाणुऐं उस अवयवी पवनके अवयव हैं। जब कि वे अवयव अन्तमें जाकर आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहे माने जाते हैं, तो उन अवयवोंसे कथांचित् अभिन्न हो रहे अवयवी वायुका भी वह आकाश आधार बन जायगा। अर्थात्—वायुके आधार वैशेषिकोंने वायुके अवयव माने हैं। उन अवयवोंका आधार उनके भी अवसव हैं, सो चलते चलते पहणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, पर पहुंचकर चतुरणुकोंके आधार अयणुक और व्यणुकोंके आधार बणुक तथा

यणुर्नोंके आधार वायुपरमाणुओंको स्वीकार किया है। पुनः परमाणुओंका आधार आकाश अभीष्ट किया है। ऐसी दशामें अवयव और अवयवीका कथंचित् अभेद हो जानेसे तनुवातका अधिकरण यदि आकाशको कह दिया तो इसमें तुम्हारी क्या हानि हो गयी ? सभी आस्तिकोंने सर्व द्रव्योंका आधार परिशेषमें आकाशको है। स्वीकार किया है। अतः कोई वाकछटा दिखळाना निष्णात विद्वानोंको नहीं शोभता है। वार्त्तिक द्वारा कहा गया हमारा अनुमान निर्दोष है। उस अनुमानमें दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता नहीं है । क्योंकि मेवको धारनेवाला वायुका आकाशमें प्रतिष्ठित रहना साध दिया गया है तथा हमारे हेतुका विपक्षते व्यावृत्त होना गुण भी संदेहप्राप्त नहीं है। क्योंकि आकाशके आधारपर नहीं डट रहे किसी भी एक तनवातका असम्भव हो रहा है। जब कि सभी वायुर्वे अथवा अन्य पदार्थ भी आकाशपर स्थान पा रहे है, ऐसी दशामें हेतुकी विवक्षन्यावृत्ति निर्णीत हो चुकी है। इस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि उस अमूर्त आकाशकी भी बायुका आधारपना युक्त है । जैसे कि शरीर, इन्द्रिय, अष्टविभक्तर्म, आदिका आधारपना आत्माको अधिन रूपसे समुचित माना गया है, आप वैरोषिकोंने ''जगतामाश्रयो मतः'' इस वचन अनुसार कालको यावद जगत हा आश्रय माना है। शरीर, इन्द्रिय, आदिका अधिकरण आत्मा हो रहा है। बैठा हुआ देवदत्त यदि अपनी बांदको ऊंचा, नीचा, कर रहा है, इसका तापर्य यह है कि देवदत्त अपनी बांहसे संयुक्त हो रही आत्माको स्वयं ऊंचा नीचा कर रहा है। उस आत्माके साथ बंध रही पौद्गलिक बांह तो आत्माके साथ घिसटती हुयी ऊपर, नीचेको, जा रही है। देवदत्त मार्गमें चल रहा है। यहां भी देवदत्तकी गतिमान् आत्मा चल रही है। उस आत्मापर धरा हुआ। शरीर तो उसी प्रकार आत्माके साथ विमटता चलता **है, जैसे कि शरीरके साथ कपड़े, गहने, या घोड़े द्वारा खींची** गयी गाडीपर बैठे हुये सेठजी खिचरते छदे जा रहे हैं। सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीरके उपयोगी वर्गणाओंसे आत्मामें ही पीद्रलिक शरीर बन कर वहीं ठहर जाते हैं। अतः शरीर आदिका आधार आत्मा माना जाय यही अच्छा है अमूर्त भी मूर्त पदार्थका आधार हो सकता है। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका अवाधितपना प्रसिद्ध है। नैयायिकोंने अमूर्त दिशाको भी मूर्तपदार्थीका आधार माना है। मीमांसक बौद्ध आदि विद्वान भी अम्तींको मृतिका आधार मान बैठे हैं। छोकमें भी मृतींके आधार अमृति दृग्यकी निर्वाय प्रतीति हो रही है।

तजुवातः कथमंबुवातस्याधिकरणं समीरणस्वभावत्वादिति चेदुच्यते ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि जब तनुवात ही स्वयं प्रेरक वायुस्वभाव हो रहा गति या कम्पनको कर रहा है तो वह हलता, चलता, तीसरा वायु तनुवात भला दूसरे वायु अम्बुवातका अधिकरण कैसे हो सकेगा ! प्रमाण दो, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा वार्त्तिक कहा जाता है।

तद्भृतश्रांबुवातः स्याद्धनात्मार्थस्य धारकः । अंबुवातत्वतो वार्द्धेर्वीचीवायुविशेषवत् ॥ ४॥ उस तीसरे तनुवात करके भन्ने प्रकार धारण कर लिया गया दूसरा अंबुवात तो किन स्वरूप अर्थ तीसरे घनवातका धारक है (प्रतिज्ञा) अंबुवात होनेसे (हेतु) जैसे कि समुद्रको धारनेवान्नी लहरोंकी विशेष वायु है (दृष्टांत) । अर्थात्—वायु स्वभाव भी तनुवात ऊपरले अंबुवात नामक वायुका आधार होजाता है और कुछ कुछ पतला, मोटा, अंबुवात तो ऊपरले सघन, स्थूल, घनवातका आधार संभव जाता है, जैसे कि विशेषताओंसे युक्त लहरीली वायु समुद्रको धारे रहती है ।

स च तनुवातमतिष्ठों बुवातो घनवातस्य स्थितिहेतुः सोपि भूमेर्न पुनः कूर्मादिरित्यावेदयति।

यों वह पतले पतले स्कन्धोंको धार रहे तनुवातवल्यपर प्रतिष्ठित हो रहा दूसरा अम्बुवात तो ऊपरले घनवातकी स्थितिका कारण हो रहा प्रतिष्ठापक है और वह घनवात भी रत्नप्रमा भूमिका आधार है । पृथिवीके फिर कोई कच्छप, शूकर, गोश्रृंग, आदि आधार नहीं है । इसी बातकी प्रन्थकार विज्ञित कराते है ।

घनानिलं प्रतिष्ठानहेतुः कूर्मः स एष नः । न कूर्पादिरनाधारो दृष्टकूर्मादिवत्सदा ॥ ५ ॥ तिश्ववासजनादृष्टविशेषवशतो यदि । कूर्मादिराश्रयः किं न वायुर्देष्टान्तसारतः ॥ ६ ॥

भूमिके वहां के वहा प्रतिष्ठित बने रहनेका कारण वह घनवात है। हम जैनोंके यहा कछ्या माना गया है। कोई दूसरा कच्छप प्राणी या शूकर आदि जीव तो भूमिके आधार नहीं हैं। क्योंकि वे कच्छप आदि स्वयं दूसरे आधारपर टिके हुये नहीं माने गये है। कछवा या शूअर अन्य आधारके विना ठहर नहीं सकता है, जैसे कि आजकल देखे गये कछवा, सूअर आदिक जीव अन्य आधारसे रहित होरहे सन्ते किसीके अधिकरण नहीं बन पाते है। अन्य आधारोंकी कल्पना की जायगी तो अनवस्था दोष होगा। अतः देखे हुये कछवा आदिके समान वह पौराणिकोंके कछने, सूअर आदि भी भूमिको धारनेवाले नहीं माने जासकते है। अर्थात्—इस रत्नप्रभाके नीचे सात राजू लंबे, एक राजू चौडे वीस हजार योजन मोटे घनवात या साठ हजार योजन मोटे वातवलयको भले ही किवयोंकी भाषामें कछवा या सूअरकी उपमा दी जाय। यदि कोई विष्णुके कच्छप अवतार, वराह अवतार, आदिमें अंधमिकको धार रहा पौराणिक यों कहे कि भूमियोंमें निवास करनेवाले आणियोंके पुण्य, पाप, विशेषकी अधीनतासे वे निराधार भी कच्छप भगवान् या वराह भगवान् इस भूमिके आश्रय होजाते हैं। आचार्य कहते हैं कि तब तो प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा देखे हुये पदार्थके अनुसार होनसे वायु ही भूमिका आश्रय क्यों नहीं मान लिया जाय? जब कि मेघ, वायुयान, विमान, पक्षी, ये बहुतसे पदार्थ वायुपर उट रहे हैं

तो भूमिका आधार भी वायु मानना उचित है। वायुमें अनन्त शक्ति है। कछवा या सूअर कितने भी लंबे चौडे बडे माने जांय वे आधार विना ठहर नहीं सकते हैं।

सीयं कूर्म वराहं वा स्वयमनाधारं भूमेराश्रयं कल्पयन् दृष्टहान्या निर्धार्यते।

यह वही प्रसिद्ध पौराणिक किसी अन्य आधारपर नहीं डट रहे यो ही अनंत आकाशमें स्वयं निराधार होरहे कछवा अथवा शृक्षरको इस लम्बी चौडी भूमिका आश्रय कल्पित कर रहा विचारा दृष्टहानि करके निर्धारण कर लिया जाता है। अर्थात् —पौराणिककी कल्पनामें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा विरोध आता है। ऐसी दृष्टविरुद्ध गणोंको अभीष्ट करनेवाला अंधभक्त वादी प्रामाणिक पुरुषो द्वारा पृथक्भूत समझ लिया जाता है।

कश्चिदाह—न स्थिरा भूमिर्दर्पणाकारा। किं तर्हि १ गोलकाकारा सर्वदोध्र्याधी श्राम्यति, स्थिरं तु नक्षत्रचक्रं मेरोः पादक्षिण्येनावस्थानात्। तत एव पूर्वादिदिग्देशभेदेन नक्षत्रादीनां संप्रत्ययो न विरुध्यते। तथोदयास्तमनयोश्चंद्रादीनां भूमिसंख्यतया प्रतीतिश्च घटते नान्यथेति, तं प्रति वाधकग्रुपदर्शयति।

कोई आधुनिक विद्वान् अपना पूर्वपक्ष यों कह रहा है कि आप जैनोंके यहां लम्बी, चौडी, पतली, सपाट दर्पणके समान जो भूमि मानी गयी है, वह उत्तप्रभा भूमिका आकार ठीक नहीं है। तथा भूमि जो स्थिर मानी गयी है और नक्षत्र मण्डलको मेरूकी प्रदक्षिणा करता हुआ ढाई द्वीपमें श्रमणशील माना गया है, वह भी ठीक नहीं है। तो भूमि कैसी है ! इसपर हमारा पक्ष यह है कि यह भूमि गेंद या नारंगी के समान गोळ आकारको धारती है। उसका आकार चपटा नहीं है। भूमि सर्वदा स्थिर भी नहीं किन्तु सर्वदा ऊपर, नीचे, घूमती रहती है। हां, सूर्य, चंद्र, या शनि, शुक्र आदि प्रह, अश्विनी, भरणी, आदि नक्षत्रचक्र तो मेरूके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे जहांका तहां अवस्थित हो रहा है, चुमता नहीं है। तिस ही कारणसे यानी नक्षत्र-मण्डलकी स्थिरतासे और भूमिका भ्रमण होनेसे ही पूर्व, उत्तर, आदि दिशाओं या विदेह आदि देशोंके भेद करके नक्षत्र, सूर्य, आदिकोंका समीचीन ज्ञान हो रहा विरुद्ध नहीं पडता है तथा उदय होते समय या अस्त होनेके अवसरमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र आदि ज्योतिकोंकी भूमिमें संख्यपने करके प्रतीति होना घटित हो जाता है, अन्यथा नहीं । अर्थात् -- कदाचित् अपरिचित स्थानकी नदीमें नाव-पर बैठे हुये हम इधर उधर आर्वे जावें तो दिशा श्रान्ति हो जाती है, इसी प्रकार घूमती हुई पृथिवी-पर बैठे हुये हमको नक्षत्र मण्डल यहांसे वहां हो गया दीखता है। उदय होता हुआ सूर्य दरवतीं भूमिमें चिपट रहा दीखता है, यह सब भूमिके श्रमणसे सम्भव जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं हैं। अब आचार्य महाराज उस विद्वान्के सन्मुख यूम रही गोल पृथिवीके मन्तव्योंका बाधक प्रमाण (णोको) वार्तिक द्वारा दिखळाते हैं।

नोर्घाधोश्रमणं भूमेर्घटते गोलकात्मनः। सदा तथैव तद्श्रांतिहेतोरनुपपत्तितः॥ ७॥

गोळ स्वरूप हो रही भूमिका ऊपर नीचे अमण होना घटित नहीं हो पाता है। क्योंकि सर्वदा तिस ही प्रकार उस भूमिके अमणके कारक हेतुकी सिद्धि नहीं हो चुकी है। चौबीस घन्टे या ऋतु अनुसार पृथिवीको तिस ही प्रकार धुमानेवाळे कारणोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। नियत कारणके विना नियत कार्य नहीं हो सकता है।

वायुरेवोर्ध्वाधो अमत्सर्वदा भूमेस्तथा अमणंहतुरिति न संगतं, प्रमाणाभावात् । आगमः प्रमाणमिति चेन्न, तस्यानुप्राहकप्रमाणांतराभावात् । तस्यानुपानमनुप्राहकमस्तीति चेन्न, अविनाभाविद्धिंगाभावात् ।

यदि आधुनिक पण्डित यों कहें कि वायु ही ऊपर नीचे अमण कर रही संती तिस प्रकार भूमिके सर्वदा नियमित अमणका हेतु हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो संगतिप्रस्त होकर हृदय स्पर्शा नहीं है, असम्बद्ध है। क्योंकि घूम रही वायुके अनुसार भूमिके अमणको साधनेवाला कोई पृष्ठ प्रमाण नहीं है। यदि आप इस विषयमें आगमप्रमाणको प्रस्तुत करें कि आर्यमहने अपने प्रथमें पृथिवीको चळती हुई साधा है। अपनी कक्षासे बाहर गमन नहीं करना सो ही अचलपना है और भी कितनी ही इंग्रेजी पुस्तकोंमें पृथिवीका अमण सिद्ध किया गया है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आगमका अनुप्रहकारक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। जबतक आगममें कही हुई बातको परिपृष्ट करनेके लिये अन्य प्रमाण सहायता नहीं देते हैं, तबतक चाहे जिस आगमके उपन्यासोंके समान किसी भी प्रमेयको आंख भीचकर नहीं मान लिया जाता है। यदि कोई भूअमणवादी यों कहे कि उस आगमका अनुप्रहकारक अनुमान प्रमाण विद्यमान है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि उस अनुमानमें अविनाभावको धारनेवाला समीचीन लिंग नहीं है। अन्ययानुपपत्ति करके रीते हो रहे हेतुसे समीचीन अनुमान ज्ञान नहीं उपज पाता है।

ननु च यत्पुरुषप्रयत्नाद्यभावेषि श्राम्यति तद्श्रमद्वायुद्देतुकं श्रमणं यथाकाशे पर्णादि तथा च भूगोल इत्यविनाभावि लिंगमनुमानं पुरुषप्रयत्नकृतचक्रादिश्रमणेन पाषाणादिसंघट्टकृत-नदीजलादिश्रमणेन च व्यभिचाराभावात् । न च पुरुषप्रयत्नाद्यभावोऽसिद्धः पृथिवीगोलक-श्रमणे महेन्वरादेः कारणस्य निराकरणात् । पाषाणसंघट्टादिसंभवाभावात् भूगोलश्रमणमित्दं इति न मंतव्यं तदभावे तत्स्थजनानां चंद्राकीदिविंबस्योदयास्तमनयोभिंबदेशादितया प्रतीतेर-घटनात् । सास्ति च प्रतीतिस्ततो भूगोलश्रमः प्रमाणसिद्ध इति कश्चित् ।

भूश्रमवादी अपने मन्तव्यका अवधारण करनेके छिवे हेतुमें अविनामाधको विकलाते हुये यों अनुमान प्रमाण कहते हैं कि जो पदार्थ पुरुषके प्रयत्न या पत्थरकी टक्कर आदिक कारणोंके नहीं होनेपर भी चूम रहा है (हेतु) उसका वह श्रमण चूम रहीं वायुको कारण मानकर हुआ है (साध्य) जैसे कि आकाशमें आंधी चलते समय पत्ते, तिनके, आदि पदार्थ चूमली हुई वायु द्वारा यूम जाते हैं (अन्वयद्द्यान्त) तिस ही प्रकार भूगोल घूम रहा है (उपनय) अतः वायुअमण असुसार भूगोल मान लेना चाहिये (निगमन) इस प्रकार अविनाभाववाले हेतुसे इस अनुमानका उत्थान हुआ है। हेतुमें पुरुषके प्रयत्न आदिका अभाव यह विशेषण तो व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये दिया है। अतः पुरुषके प्रयत्न द्वारा की गयी चाक आदि की आंति करके और पत्थरकी या वेगयुक्त जल आदिभी अच्छी टक्कर लग जानेसे किये गर्ये नदिजल, समुद्रजल, आदिके भवरों करके व्यभि-चार नहीं हों पाता है। यंहा भ्रमणमें पुरुषप्रयत्न, पाषाणघट्टम, आर्दिका अभाव असिद्ध नहीं है। क्योंकि प्रधित्रस्तिष्य गोलाके भ्रमण करनेमें महेश्वर, विधाता, आदि कारणोंका निराक्तरण. कर दिया है और पत्थरों भी टक्कर, विश्वतुष्ठकाह आदि कारणोंकी भी संमावना नहीं है । अतः हेतुका विशेषण दल पक्षमें वर्तता हुआ सिंह होजस्ता है। भूश्रमवादी ही कहे जा रहे हैं कि पृथियी स्वरूप गोलेका भ्रमण करना असिद्ध होय यह मान बैठना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस भ्रमणका अभाव मान हेने पर तो उस मूमिमें ठहरनेवाले मनुष्योंको चंद्रविंब, सूर्यविंब, खुक आदिके उदय या अस्त होनेपर भिन्न मिन्न देश वर्तीषन या न्यारे न्यारे आकार आदिपने करके प्रतीति होना नहीं घटित हो पावेगा और वह भिन्न भिन्न देशकर्ती आदिपने करके प्रतीति तो होरही है। तिस कारणसे भूगोलका स्नमण होना प्रमाणसे तिद्व है, यो अमण हेतु पक्षमें ठहर जाता है। इस प्रकार ननुसे छेकर यहांतक कोई एक पण्डित कह स्हा है।

सीत्रैंवं पर्यं तुंयोक्तव्यः । मञ्जमः कस्माभ भवतीति तदावेदिनः प्रवचनस्य संद्रावात् । प्रतिनियतानेकदेशादितयाक्तिदीनां प्रतितेरिष घटनात् भूश्रमणहेतोर्बिरुद्धत्वोपपत्तेः । भूगोल-भ्रमणे साधनस्यानुमानादिवाधितपक्षतानुषंगात् । कारणाभावान् भञ्जयोवितष्ठत इति चेत् तथाविधादृष्टवैचित्र्यात्तद्भ्रमणोपपत्तेः ।

अब आचार्य कहते हैं कि उस भ्रमवादिक ऊपर यहां प्रकरणमें इस प्रकार चोद्य उठाना चाहिये कि भ्रमण के समान नक्षत्र मण्डल या सूर्य आदिकोंका श्रमण हो रहा क्यों नहीं माना जाता है ? जब कि उस ज्योतिष चकंके श्रमणका आवेदन करनेवाले आप्तवाक्य स्वरूप आगमका सद्भाव हो रहा है, उदय, अस्त, दशामें सूर्यका दूर धित भूमिके साथ स्पर्श ही रहा दीखना और मध्यान्हमें ऊपर दीखमा तथा बीचमें तिर्वक् ऊंचा दीखना वो प्रतिनियत अमेक देश या दिशा आदिमें स्थितपने करके सूर्य आदिकोंकी प्रतिनि होना भी तभी चटित होता है, अब कि प्रविक्रिको अचला

कौर ज्योतिर्पण्डलको यूम रहा माना जायगा। अतः भूअमणके सिद्ध करनेवाले तुम्हारे हेतुको विरुद्ध हित्यामास्पना वन रहा है। भूयोलके अमणको समझानेमें दिये गये हेतुके साध्य या पक्षमें अनुमान आदि प्रमाणों हुना वाधा उपस्थित हो जानेसे उस हेतुको बाधित हैत्यामासपनका प्रसंग आता है। प्रति माणे उत्ते या हजारों कोस तिस्ले चरुकर महांके वहीं नियत स्थानपर लीट आते हैं। उत्तर दिल्लामें ध्रुवतारा वहांका वहीं दीखता रहता है। यदि नोई यों कहे कि ध्रुमानेवाले कारणोंका अभाव हो जानेसे ज्योतिश्वकका अमण नहीं हो स्केगा। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि जहांके तहां बेटे रहेंगे। यों कहनेपर तो हम जैन यह उपपत्ति देते हैं कि तिस प्रकारके पुण्य, पापकी, विचित्रतासे उन सूर्य आदिकोंका अमण वन जाता है। किन्हीं किन्हीं कर्मोंक फल विचित्रतासे अनुभवे जाते हैं। गमन पर्यायमें ही रमण कर रहे अभियोग्य जातिक देवों करके ज्योतिथ्य विमान नियतगति अनुसार घुमाये जाते हैं।

भूगोलभ्रमणे तु वायुभ्रमणं न कारणं भवितुमईति सर्वदा तस्य तथा भ्रमणनियमानु-पपत्तरनियतगतित्वात् । ततो नाभिमेतदिगभिमुखं भ्रमणं भूगोलस्य स्यात् । माण्यदृष्टवश्चाद्धा-योनियतं तथा तदसिद्धेः । मसिद्धे भ्रमणियति चेत्र, तत्कार्यासिद्धौ तदसिद्धः । मसिद्धे हि मुखादिकार्ये निर्विवादे दृष्टकारणव्यभिचारे चादृष्टं तत्कारणमनुमीयदे न झाभिमेतवासुभ्रमणं निर्विवादं सिद्धं यतो न दृष्टकारणव्यभिचारे तत्कारणमदृष्टमनुमीयत ।

हां, तुम्हारे भूगोलके अमणमें तो वायुका अमण कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उस जड वायुके द्वारा सदा उस पृथिवीके तिस प्रकार नियम अनुसार अमण होते रहने की उपपत्ति नहीं है। क्योंकि वायुक्ता कोई नियत गति नहीं है। कभी पूर्वकी वायु चळती है। कभी प्रध्यमकी वायु बढ़ती है। कभी दिवण दिशाकी वायु उमड पड़ती है। तिस कारण सूगोलका अभीष्ट हो रहीं कर्ष्विदेशा या अधीदिशाके अभिमुख अमण नहीं हो सकेण। अतः चारो ओर लिपटी हुई वायुके अनुसार भूगोलका अमण मानना स्वयं अपनेको चक्करमें डालना है। यदि कोई यहां यों आक्षेप करे कि प्राणियोंके पुण्य, पापकी अधीनतासे वायुका तिस प्रकार नियत हो रहा अमण हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस अदृष्टके कार्य माने जा रहे वायुक्रमण या पृथिवीक्रमणकी जबतक सिद्धि नहीं हो सकेगी, तबतक उस वायुक्रमणके कारण अदृष्टकी सिद्धि नहीं हो पति है। देखिये, सुख, दुःख आदि अनुसवे जा रहे कार्योके विवादरहित प्रसिद्ध हो जानेपर ही परिदृष्ट बहुधन, दूध, श्री, वस्न, हवेली, आदि या प्रामवास, अल्पकुदुम्ब, अल्पधन, आदि दृष्ट कारणोंका अन्वयन्यमिचार और व्यतिरेकन्यमिचार दोष आ जानेपर लो उन सुख आदिकांके कारण पुण्य, प्रामक्त अस्वयन्यमिचार की व्यतिरेकन्यमिचार दोष आ जानेपर लो उन सुख आदिकांके कारण पुण्य, प्रामक्त अस्वयन्यमिचार कर लिया जाता है। किन्तु यहां आपको अमीष्ट हो रहा वायुक्रमण हो सम्बिको निर्विवाद सिद्ध सहीं है, जिससे कि वायुक्रमणके दृष्ट कारणोंका ज्यमिचार ही जाकेपर की वायुक्तमणको हुए कारणोंका लगभित्रार हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर की वायुक्तमणको हुए कारणोंका लगभित्रार हो जाकेपर हो आयोग स्वार्य हो जाकेपर हो जाकेपर हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर हो जाकेपर हो जाकेपर हो जाकेपर हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर हो आपको अमीष्ट हो रहा वायुक्तमण हो सम्बिवार सिद्ध सिद्ध हो है, जिससे कि वायुक्तमणके हुए कारणोंका ज्यानेपर हो जाकेपर हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर हो जाकेपर हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर हो जाकेपर हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर हो सामिवार हो जाकेपर हो सामिवार हो

उसके कारण अदृष्टका अनुमान करनेके लिये परिश्रम कराया जाता है। हम जैन तो अभी वायुके भ्रमणमें ही विवाद उठा रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा या आकाशमें उडाये गये पत्ते अथवा पतंगों द्वारा जिस साधारण वायुका ज्ञान किया जाता है, उस वायुकी गति कोई नियत नहीं है। वह वायु चीवीस घंटे या अद्यालीस घंटेमें कोई नियत कार्य करती हुई नहीं जानी जाती है। अतः हम तो समझते हैं कि पृथिवीमण्डलको गाडीके पहिये समान ऊपर नीचे घुमानेवाली कोई वायु नहीं है।

भूभ्रमात् प्रवहद्वायुसिद्धिरिति चेक, तस्यापि तद्वदसिद्धः । नानादिग्देशादितय।कीदि-प्रतीतिस्तु भूभ्रमेपि घटमाना न भूभ्रमं साधयतीति । कयं १ अनुमितानुमानादप्यदृष्टविशेष-सिद्धिरिति स्तकं न भूमेरूर्ध्वाधोश्रमणं पट्चक्रवदेकानुभवं संपरिश्वत्तिर्वा घटते तद्भ्रमणहेतोः पराभ्युपगतस्य सर्वयानुपपद्यमानत्वात् परेष्टभूश्रमादिवदिति ।

यदि भूअमणवादी यों कहे कि भूका अमण हो रहा है, इस ज्ञापक हेतुसे प्रकाण्ड रूपसे वह-रही, घमती हुई, वायुकी सिद्धि हो जाती है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उस वायुभ्रमणके समान उस मुभ्रमणकी सिद्धि नहीं हो सकी है। अन्योन्याश्रय दोषवाले आसिद्ध हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है । पूर्व, पश्चिम, दिशाओंमें या बंगाल, पंजाब, यूरोप, अमेरिका, आदि देशोंमें दीखना अथवा लाल पीले, घोंछे, आकार धार छेना, प्रहण पड जाना, भूमिमें लग जाना, आदि ढगोंकरके सूर्य आदिकी। हो रही प्रतीति तो नक्षत्रमण्डल या सूर्य आदिके भ्रमण माननेपर भी घटित हो रही संती भूभ्रमण की सिद्धि नहीं करा पाती है। इस कारण अनुमित किये गये हेतुद्वारा पुनः उठाये गये अनुमानसे भी भला अदृष्ट विरोषकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात्—भूजमणवादीने कारक पक्षमें अदृष्ट विरोषसे वायुका भ्रमण और वायुभ्रमणसे भूश्रमण होना माना है और ज्ञापक पक्षमें भूश्रमणसे बायुके अमणकी ज्ञप्ति और वायुभ्रमण नामक कार्य हेतुसे अदृष्टकी सिद्धि (ज्ञप्ति) की है , आचार्य कहते हैं यों अनुमित अनुमानसे भी तुम अदृष्टकी सिद्धि नहीं कर सके हो। इस कारण हमने वार्तिकमें बहुत अच्छा कहा था कि छह पहियेवाले यंत्रके समान या चरखाके समान भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण होना नहीं घटित होपाता है अथवा एक व्यक्तिके अनुभव अनुसार भन्ने प्रकार परिवर्तन होना नहीं घटित होता है। क्योंकि दूसरोंके द्वारा माने गये उस प्रथिवीकी श्रान्तिके हेतुओंकी सभी प्रकारोंसे उप-पत्ति नहीं होपाती है। जैसे कि अन्य वादियों के यहां इष्ट किया गया पृथिबीका गेंद या नारंगीके समान तिरछा प्रमना आदिके हेतुओंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। यहां आदि पदसे पृथिविके पतन आदि भी छिये जा सकते हैं। कोई वादी भारी पृथिवीका नितरां अधोगमन होना भी मान बैठे हैं तथा कोई आधुनिक पण्डित अपनी डेड बुद्धिमें यों जान बैठे हैं कि पृथिवी दिनपर दिन सूर्यके निकट होती चली जारही है। इसके विरुद्ध कोई यों कह रहे हैं कि अनुदिन सूर्यसे पृथिवी दूरतम होती चली जा

रही है। इसी प्रकार कोई परिपूर्ण जलमागसे पृथिबीका कुछ काल्से उदय हुआ इष्ट किये हैं। कुछ दिनोंमें भूमाग मिटकर जलभाग होजायगा तथा कोई जलमाग कम होकर पृथिवी भागका विस्तार कल्पित कर रहे हैं, किन्तु उक्त कल्पनायें प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होपाती हैं। थोडेसे ही दिनोंमें परस्पर एक दूसरेका विरोध करनेवाले विद्वान् खडे होजाते हैं। पहले पहले विज्ञान या जोतिषयंत्रके प्रयोग मी युक्तियों द्वारा बिगाड दिये जाते हैं। यों छोटे छोटे परिवर्तन तो दिन रात होते रहते हैं। इनसे क्या होता है ? यहांतक उक्त वार्तिककी व्याख्या कर दी गयी है !

तथा दृष्टव्याघाताच न सोस्तीत्याइ।

तथा एक बात यह भी है कि देखे हुये पदार्थोंका न्याचात होजानेसे वह दूसरोंका माना गया भूत्रमण नहीं चटित होपाता है, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

दृश्यमानसमुद्रादिजलस्थितिविरोधतः । गोले भ्राम्यति पाषाणगोलवत्क विशेषवाक् ॥ ८ ॥

भूगोळका श्रमण होना मानते संते तो समुद्र, नदी, सरोवर आदिके जलोंकी देखी जारही स्थितीका विरोध होजाता है। जैसे कि पाषाणके गोलाको घूमता हुआ माननेपर उसपर अधिक जल ठहर नहीं पाता है। अतः भू अचला है, श्रमण नहीं करती है, पृथियीको घुमा दे और जलको ठहराये रहे ऐसा कथन कहां संभव सकता है । अर्थात्—गंगा नदी जैसे हरिद्वारसे कलकत्तेकी ओर बहती है, पृथिवीके गोल होनेपर वह उल्टी भी बह जायगी। समुद्र या कूपजल गिर पड़ेंगे। चूमते हुये पदार्थ पर मोटा जल नहीं टिककर गिर पढ़ेगा। पवनमें अन्य कोई विशेषता नहीं है।

न हि जलादेः पतनधर्मणो भूयसो आम्यति पाषाणगोले स्थितिर्देष्टा यतो भूगोलेपि सा संभान्यत । धारकवायुवशात्तत्र तस्य स्थितिर्न विरुध्यत इति चेत्, स धारको वायुः कथं भेरकवायुना न प्रतिहन्यते ? प्रवाहतो हि सर्वदा भूगोलं च अपयन् समंततोपि तत्स्थसमुद्रा-दिधारकवायुं विघटयत्येव भेघधारकवायुमिव तत्प्रतिपक्षवात इति विरुद्धैव तदवस्थितिः, सर्वथा विश्लेषपवनस्थासंभवात ।

भारी होनेसे अथ:पतन धर्मवाले बहुतसे जल, बाद्ध रेत, आदि पदाधाँकी पाषाण गोलेके घूमते सन्ते वैसीकी वैसी ही स्थिति होरही नहीं देखी जाचुकी है जिससे कि भूगोलके घूमते सन्ते भी वह जलकी स्थिति वैसीकी वैसी संभव जावे । यदि कोई यों कह वैठे कि घूमते हुये उस भूगोलमें भी जलको धारे रहनेवाले वायुकी अधीनतासे उस जलकी स्थिति बनी रहनेका कोई विरोध नहीं आता है, यों कहनेपर तो हम जैन पूलेंगे कि क्योंजी वह धारक वायु मला प्रेरक वायु करके क्यों नहीं प्रति-धातको प्राप्त होती है १ पृथिवीको धुमानेवाली बलवान् प्रेरक वायु करके जलधारक निर्वल वायुका

सित्यात होजाना चाहिये । जैसे कि आक्ताशमें मेघ छाये तहते हैं, किन्तु जब उनके प्रतिपक्ष बायु नहती है तो वह प्रतिकृष्ट वायु उस मेघको धारनेवाली वायुका विम्बंस कर देती है। मेघ तितर बितर होकर क्षष्ट होजाते हैं या देशांतरमें क्ले जाते हैं । उसी प्रकार अपने बल्बान् प्रवाहसे सर्वदा भूगोलको सब क्षेरसे धुमा रही प्ररेक वायु भी बहां स्थिर होरही समुद्र, सरीवर आदिको धारनेवाली वायुका विघटन करा ही देवेगी। इस प्रकार जस जलकी अवस्थिति बनी रहना विरुद्ध ही है। कोई विशेष जातिकी पवनका तो सर्वथा असंभव है। अतः बल्बान् प्रेरक वायु भूगोलको अविराम धुमाती रहे और निर्वल जल धारक वायु अक्षुण्ण बनी रहे ये नितान्त असंभव कार्य है।

अत्र पराकृतमाशंक्य प्रतिषेधयति ।

पृथिवीमें आकर्षण शक्तिको माननेवाळे दूसरे पण्डितोंके मन्तञ्यचेष्टाकी आकांक्षा कर अनुवाद करते हुये प्रथकार उस मन्तव्यका प्रतिषेध अग्रिम बार्तिक द्वारा करते हैं ।

गुर्वर्थस्याभिमुख्येव भूमेः सर्वस्य पाततः । तिस्थितिश्रेव प्रतीयेत नाथस्तात्पातदृष्टितः ॥ ९॥

पूर्वपक्षी कह रहा है कि पृथिकीमें आकर्षण शक्ति है। तदनुसार सम्पूर्ण भारी अर्थोंका भूमिके अभिमुखपने करके पतन होता है। भूगोलपरसे जल गिरेगा तो भी पृथिवीकी और ही गिरकर वहाका वहीं ठहरा रहेगा। अतः उस जलकी स्थिति होना प्रतीत हो जावेगा। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि भारी अर्थोंका नीचेकी ओर पडना ही दृष्टिगोचर हो ग्हा है। अर्थाद—पृथिवीमें एक हाथ लम्बा चौडा गढ़डा खोदकर उस मिट्टीको गढ़डेकी एक ओर ढलाऊं ऊंचा बिछाकर यदि उसपर गेंद धर दी जाय ऐसी दशामें वह गेंद नीचीकी ओर गढ़डेमे दुलक पडती है, जब कि ऊपरले भागमें मट्टी अधिक है तो विशेष आकर्षण शक्ति होनेसे गेदको ऊपर देशमे ही चिपटा रहना चाहिये था। अतः कहना पडता है कि भले ही पृथिवीमें आकर्षण शक्ति होय, किन्तु उस आकर्षण शक्ति सामर्थ्यसे जलका चूम रही पृथिवीसे तिग्ला परली ओर गिर जाना नहीं हक सकता है।

भूगोले भ्राम्यति पतदिप समुद्रजलादि स्थितिमिव भाति तस्य तदाभिमुल्येन पत्तनात् । सर्वस्य गुरोरर्थस्य भूमेरनिममुखतया पतनादर्शनादिति चेक्नैवं, अधस्तात् गुर्वर्थस्य पातदर्शनात्, तथाभितोभिधातावभावे स्वस्थानात् प्रच्युतोधस्तात्वर्तात गुरुत्वालोष्टादिवत् । न क्रि तत्राभिधातो नोदनं वा प्रुरुवयत्नादिकृतमस्ति येनान्यथागतिः स्यात् । न चात्र हेतोः कंदुका-दिना व्यभिचारः, अभिधाताव्यमात्रे सत्तीति विशेषणात् । नापि साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः साधनस्य गुरुत्वस्य यथोक्तविशेषणस्य साध्यस्य वाधस्तात्यवनस्य लोष्टादौ प्रसिद्धत्वात । तत्र भूभमकादी सत्त्वाग्रुर्ध्वाश्रोभुभ्रमवादिवत् । किं च—

मुजमणंत्रादी कह रहा है कि मृगीलका जमन ही रहे सन्ते अधः पतनशील समुद्र जल आदिक गिरते हुये भी स्थित हो रहे के समान ही दीखते हैं। क्योंकि उस जलका उस भूमिके अमि-मुखपने करके पतन हो रहा है। सम्पूर्ण मारी पदार्घीका मृषिके अभिमख नहीं है। करके पतन होना नहीं देखा जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना । क्योंकि गुरुपदार्थीका जहां रियत है, वहांसे ठीक परली और नीचे गिरना देखा गया है तथा तुम्हारे पक्षका बाधक दूसरा असु-मान यह है कि समुद्रजल, लोहगोलक, फल आदि पदार्थ (पक्ष) यदि स्वस्थानसे च्युत है। जांच तो अवस्य ठीक नीचे पड जाते हैं (साष्य) इधर उधरसे बंखवान प्रेरक पदार्थका शह जनक अभिचातनाम र संयोग या प्रतिकृत वायु आंदिका अभाव होते संते भारी होनेसे (हेतु) डेल, मेघजल, आदिने समान (अन्वयदृष्टान्त)। उस समुद्रजलमें शद्धहेतु संयोग पुरुषप्रयन्न, विचत् प्रयत्न, आदि द्वारा किया गया कोई शद्धहेत हो रहा प्रेरक संयोग तो नहीं है, जिससे कि भूमिपर रखें हुये जलकी दूसरे प्रकारसे यानी भूमिसे परली और नहीं गिर कर भूमिमाऊं ही जलकी गति हो जाय । तथा इस अनुमानमें दियें गये गुरुत्व हेतुका गेंद या बन्दुककी गोली आदिसे व्यभिचार नहीं हो सकता है। क्योंकि हमने हेतुका विशेषण '' अभियात आदिक का अभाव होते सेते '' यह दे रक्ता है । वेगवार्ड हाथ हारा भूमिमें चोट खाकर नीचे नहीं गिरती हुई गेंद ऊपरकी उन्नल जाती है । बन्दूकशी गोली तिरछी चली जाती है, कबूतर ऊपरको उड जाता है, इसमें अभिघात आदि कारण हैं, जहां अभिघात आदि नहीं है वहां गुरुपदार्थीका अवस्य अवःपात हो जाता है। हमारा दिया हुआ डेल आदि दृष्टान्त भी साध्य और साधनसे रीता नहीं है। क्योंकि पूर्वमें कहे जा चुके अनुसार अभिधात आदिकका अभाव इस क्रिंगिषणसे युक्त हो रहे गुरुव हेतुकी डेल आदिमें प्रसिद्धि हो रही है और पूर्वसंयुक्त स्थानसे प्रतिकृत परली ओर नीचे गिर जाना इस साध्यकी भी डेल आदिमें प्रसिद्धि है । तिस कारणसे बुक्कियों द्वारा जान लिया जाता है कि ऊपर, नीचे, पृथिवीका अंगण मंग रहें अदीके समान यह प्रहोंकी आकर्षणशक्ति अनुसार पृथिवीका तिरका या टेंढा, मेढा, भ्रमण मानमेवाला वादी भी संस्यवचन कहनेवाला नहीं है। एक बात यह भी समझ लेनेकी है कि-

> भूत्रमागमसत्यत्वेऽभूत्रमागमसत्यता । किं न स्यात्सर्वथा ज्योत्तिज्ञानसिक्रेरभेदतः ॥ १० ॥ द्रयोः सत्यत्विमष्टं चेत्काविरुद्धार्थसा तथाः । प्रवक्त्रोरास्ता नेषं सुगतेश्वरणीरिकः ॥ ११ ॥

जिन्होंने आर्यमह या इंटरी, योरोप, आदि देशोंके वासी विद्वानोंकी पुस्तकोंके अनुसार मू का असण स्वीकृत किया है, उनके प्रति हमाश यह आक्षेत्र है कि यदि मूज्रमणका प्रतिपादन कारने-

वाले आगमको सत्य माना जाता है तो अचला प्रथिवीके भ्रमणको नहीं कहनेवाले आगमका सल्पपना क्यों नहीं समझ लिया जाय ? क्योंकि ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञानकी सिद्धि होनेका सभी प्रकारसे अभेद है। प्रथितीको अचला या सचला माननेवाले दोनों विद्वानीके मतानुसार सूर्यप्रहण, दिन रातका व्यवहार, राशिपरिवर्तन, शुक्रका उदय, अस्त होना आदि ज्योतिष शास्त्रके ज्ञान एकसे सघ जाते हैं । यदि प्रथिवी भ्रमण और ज्योतिष्कचकका भ्रमण कहनेवाले दोनों भी आगमोंका सत्यपना अभीष्ट है तब उन दोनों आगमोंको अविरुद्ध अर्थका प्रतिपादकपना कहां रहा ? और इस प्रकार तो बुद्ध और महेक्चरके समान दोनों प्रकृष्ट मामे जा रहे विरुद्ध वक्ताओंको आसपना यानी सत्यार्थ वक्तापन नहीं आ सकता है। अर्थात-बुद सृष्टिके कत्तीको नहीं मानते हुये सभी पदार्थीको क्षणिक मानते हैं। किन्तु ईश्वरवादी पण्डित तो प्रथिवी आदि हो। बनानेवाले ईश्वरकी कल्पना करते हुये पदार्थीको नित्य या कालान्तरस्थायी मान रहे हैं. परस्पर विरुद्ध अर्थको कह रहे ये दोनो ता बढिया वक्ता नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार पृथिवी को सचला या अचला माननेवाले भी आप नहीं हो सकते हैं। कमसे कम एक पण्डितके आगम का सत्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। अपरिचित स्थलमें नांव द्वारा श्रमण कर रहा पुरुष भले ही नावका वुमना नहीं मानकर नगर या तीरस्थ प्रासादोंका भ्रमण अभीष्ट कर छे, एतावता उसके दिशा विश्रमका समाधान भी भले ही हो जाय. किन्तु वस्तुतः विचारनेपर नगरका स्थिरता और नावका चलपना माना जायगा । इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा ज्योतिष चक्र ही भ्रमण कर रहा प्रतीत हो रहा है। साधारण मनुष्य या पशुको थोडा त्रूम जानेसे ही आंखोंमें त्रूमनी आने छग जाती है। कभी कभी खण्डदेशमें अत्यत्य भूचाल (भूकम्प) आनेपर शरीरमें कपकपी, मस्तकमें भ्रान्ति होने लग जाती है। यदि डांकगाडीकी गतिसे भी अधिक वेगवाली पृथिवीकी चाल मानी जायगी, ऐसी दशामें मस्तक, शरीर, पुराने गृह, कृपजल, समुद्र आदिकी क्या व्यवस्था होगी ! इस बात का बुद्धिमान स्वयं विचार कर सकते हैं।

मतांतरग्रुपदर्श्य निवारयशाह ।

अब श्री विद्यानन्द आचार्य भूभमणसे अतिरिक्त दूसरे मतोंका संकेत मात्र दिखलाकर उनका निवारण करते हुये अप्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं ।

> सर्वदाधः पतन्त्येताः भूमयो मरुतोऽस्थितेः । ईरणात्मत्वतो दृष्टप्रभंजनवदित्यसत् ॥ १२ ॥ मरुतो धारकस्यापि दर्शनात्तोयदादिषु । सर्वदा धारकत्वस्यानादित्वात्तत्र न क्षतिः ॥ १३ ॥

किसी अन्यवादीका मन्तव्य है कि ये भूमियां सर्वदा (पश्च) नीचे गिरती रहती हैं (साध्य)। क्योंकि चंचळ और कंपन स्वभाववाली होनेसे वायुकी एक स्थानपर स्थिति नहीं होने पाती है (हेत)

जैसे कि देखी जा चुकी वायु है (अन्वय दशन्त)। आचार्य कहते हैं कि यह कहना मिथ्या है। क्योंकि मेघ, पक्षी, आदि पदार्थीमें धारनेवाळी वायु मी देखी जाती है। अनादि होनेसे सदा धारकपनेकी उस वायुमें कोई क्षति नहीं है। अर्थात् जो कंपनेवाळी चंचळ वायु है, वह मूमियोंको दढ नहीं डाट सकती है, किन्तु बादळोंको जैसे धारक वायु देरतक धारे रहती है, उसी प्रकार अनादि काळसे पृथिवीको धार रहे तीन वातवळय चंचळ या कंपनेवाळे नहीं होनेसे भूमियोंको अविचळ धार रहे हैं। कोई हानि नहीं हो पाली है।

न हि भूभ्याधारो वायुरनवस्थितस्तस्येरणात्मत्वाभावात् । तवासंपर्धावाधारणात्म-कत्वरहितो मरुचोयदादिधारणात्मकस्यापि दर्भनात् । सर्वदाधारकत्वं न दृष्टं इति चेत्, सादे-रनादेवा ? सादेश्वेत् सिद्धसाध्यता । यदि युनरनादेरपि सर्वदाधारकत्वं पवनस्य न स्यासदा-त्माकाभादेरप्यमृतत्विवश्चत्वादिधर्मधारणविरोधः । अत्राधाराध्ययोरनादित्वात्सर्वदा तद्भाव इति चेत्, भूमिगन्धभृतोरपि तत एव तथा सोस्तु । तथा सर्वदाधः पर्तति भूमयः प्रमाणाभावात् ।

भूमियोंका अधिकरण हो रही वाय कोई अस्थिए नहीं है। क्योंकि वह धारक वाय गमन स्वभाव वाली या चंचल स्वभाववाली नहीं है। अतः असंभव होनेसे वह भूमियोंके सर्वदा नीचे गिरते रहनेका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है। " ईरणात्मत्वाभाव " हेतको यो पष्ट करते हैं कि यह अमियोंका आधार होरही वायु (पक्ष) ईरण स्वभावसे रहित है (साध्य) क्योंकि वायुका बादछ आदिकोंको धारे रहना स्वरूप भी देखा जाता है (हेत्) । अर्थात --- कई दिनोंतक बायुके आधारपर बादल आकाशमें डटे रहते हैं। शरीरमें कुपित होगयी वायु किसी नसमें रक्तको कई वर्षीतक डाटे रहती है, चलायमान नहीं होने देती है। काचकी शीसी या नलीमें भर दी गयी क्यू गोलीको डाटे रहती है। यदि यहां कोई यों कहे कि बाय कुछ देरतक भले ही बादल. रक्त. गोळी आदिको धारे रहे किन्त सर्वदा धारकपना किसी भी बायमें नहीं देखा गया है, यों कहनेपर तो हम विकल्प उछाते हैं कि कुछ कालसे उपजी हुई सादि बायुको सदा धारकपने हा निषेध करते हो ! अध्यता क्या अनादिकालसे सहश परिणामोंको धार रही अकरप अनादि वायको भी प्रथितीके सदा धारनेका निषेध करते हो ! बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार आदि वायको प्रविवीका धारकपना निषेधते ही तो तुम्हारे ऊपर सिद्धसाध्यता (सिद्ध साधन) दोष लगता है जिसको हम सिद्ध मानते हैं। उसकी पुनः साधनेकी क्या आवश्यकता पडी है! निरर्थक बातोंको सुननेका हमको अवसर बड़ी है, सादि वायुको इम प्रथमसे ही पूर्वि गियोंका धारक नहीं मान रहे हैं। हां, यदि फिर द्वितीय विकल्प अनुसार अनादि कालीन रह वायुको भी सदा प्रियवीयोंका धारकपना नहीं माना जायगा तब तो आत्मा. आकाश, आदिक द्रव्योंको भी अमूर्तपन, **म्यापकपन, गुणसदितपन, आदि** धर्मी के धारनेका विरोध हो जायगा। जैसे आत्मा, आकाश, आदिक द्रध्य अनादि कालसे अमूर्तपन आदिक वर्गीके बारक माने जारहे हैं, उसी प्रकार अनादि वायु मी सदासे पृथिवीयोंको धार रही बनी बैठी है। यदि कोई यहां यों कहे कि इन आत्मा आदिक आधार और अमूर्तपन आदि आधेयोंमें अनादि होनेसे सदा वह "आधारआधेयभाव " बन रहा है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी अनादि होनेसे ही भूमि और गन्धवाह यानी वायुका भी तिस प्रकार सदा वह आधार आधेय भाव हो जाओ। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि भूमियां सर्वदा नीचे नहीं पडती रहती हैं, क्योंकि इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

एतेन सर्वदोत्पतंत्येव तिर्यगेव गच्छंतीति ना निरस्तं, धारकस्य नायोरबाधितस्य सिद्धेस्तद्वस्थानाविरोधात् ।

इस उक्त कथन करके इन मतोंका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि भूमियां सर्वदा उछ-छती हैं। रहती है अथवा भूमियां सर्वदा तिरछी हैं। चलती रहती है, क्योंकि इन दोनों मतोंका पोषक बलवान् प्रमाण नहीं है, जब कि भूमियोंको धारनेवाले वायुकी बाधारहित हो रही सिद्धिकी जा चुकी है | इस कारण उन भूमियोंके ठीक ठीक ज्यों के त्यो अवस्थित बने रहनेका कोई विरोध नहीं आता है |

कश्चिदाइ-विवादापन्ना भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत् । साप्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत् साप्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा तत एव तद्व-दिति शक्षदपर्येता तिर्यगधोपीति तं पत्याइ ।

यहां कोई विद्वान् पूर्वपक्ष उठाकर कर रहा है कि विवादमे प्राप्त हो रही भूमि (पक्ष) अन्य दूसरी भूमिक आधारपर जमी हुई है (साध्य) भूमि होनेसे (हेतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही इस वित्रा भूमिके समान (अन्वयदद्यान्त)। और वह नीविछी दूसरी भूमि भी (पक्ष) अन्य तीसरी भूमिके आधारपर स्थिर है। (साध्य) भूमि होनेसे (हेतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही वजा भूमिके समान (अन्वयदद्यान्त)। तथा वह तीनरी निराछी भूमि भी (पक्ष) भिन्न चौथी भूमिपर धरी हुई है (साध्य) तिस ही कारणसे यानी भूमि होनेसे (हेतु) उस ही प्रसिद्ध हो रही वैद्वर्य भूमिके समान (अन्वयदद्यान्त)। इस प्रकार चौथी भूमि पाचवीपर और पांचवी छडीपर यों पुनः पुनः निरन्तर चलते हुये इधर उधर तिरछी अनन्त और नीचे नीचे भी अनन्त भूमियां हैं। अनादि कारुके समान भूमियोंका कोई पर्यन्त स्थान नशी है, यहांतक कोई ज्ञानलबद्वविद्रश्य कह रहा है, उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान वचन कहते हैं।

नापर्यंता धराधोपि सिद्धा संस्थानभेदतः। धरवत्खमपर्यंतं सिद्धं संस्थानवन्न हि ॥ १४ ॥

नीचे भी पृथ्वियां अनन्त संख्यावालीं सिद्ध नहीं हैं (प्रतिज्ञा) विशेष रचना होनेसे (हेन्) पर्वतके समान (अन्वयद्धान्त) । जो परिदृष्ट विशेष संस्थानवाला नहीं है वह पदार्थ

मर्यादारहित हो रहा अनन्त है जैसे कि आकाश (व्यतिरेक दृष्टान्त)। पृथिवी तो विशेष संस्थान-वाली हो रही सान्त ही है।

धरः पर्वतः संस्थानवान् सपर्यन्तो इहो यः पुनरपर्यतः स न संस्थानवान् यथाकाशा-दिरिति विपक्षाम्याद्वतो हेतुः पर्यतवत्तां भरायाः साधयत्येव ।

धर यानी पर्वत (पक्ष) निशेष रचना या आकारवाळा है (साध्य) अतः मर्यादा युक्त लम्बाई, चौडाई, मोटाई, को ले रहा पर्यन्तसिंहत देखा गया (हेतु) जो जो संस्थानवान् है, वह समर्याद है, जैसे घट (अन्ययदृष्टान्त)। और जो पदार्थ फिर अनन्त है वह परिमित संस्थानवाळा नहीं है, जैसे कि आकाश, दिशा, आदि हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) इस प्रकार विपक्षसे व्याहृत्त हो रहा संस्थानविशेष सदेतु फिर पृथिवीक मर्यादासहितपनको साध देता है।

यत्युनरभ्यधायि-विवादापमा धरा धराधारा धरात्वात्मसिद्धधरावदिति । तदयुक्तं, हेतोरादित्यधरादिनानेकांतात् न हि तस्याधरांतराधारत्वं सिद्धपंतरास्राधानमसंगात् । ततः पर्यतवत्या भूमय इति निरारेकं मतिपत्तव्यं ।

जो फिर तुमने यों पहिछे अनुमान द्वारा कहा था कि विवादमें पडी हुई भूमि (पक्ष) दूसरी पृथिवीके आधारपर है (साध्य) पृथिवी होनेसे (हेतु) प्रसिद्ध धराके समान (अन्वयदृष्टान्त) वह कथन अयुक्त है । क्योंकि तुम्हारे हेतुका सूर्यकी पृथिवी या चंदकी पृथिवी आदि करके व्यक्तियार हो जाता है । देखो, उन सूर्य, चन्द्रमाकी पृथिवियोंका पुनः अन्य पृथ्वियोंके आधारपर स्थित रहना सिद्ध नहीं है । अन्यथा अन्तरालके अभावका प्रसंग हो जायगा । अर्थात् बढ़े योजन अनुसार अडतालिस वटे इकसट या छप्पन वटे इकसट योजन लम्बा चौडा और इससे आधा मोटा जो सूर्य विमान या चन्द्र विमान है अथवा जितना भी कुछ मोटा सूर्य विमान या चन्द्र विमान तुमने माना है उतनी मोटी पृथिविके नीचे यदि दूमरी पृथिवी और दूसरीके नीचे तीसरी, चौथी, आदि पृथिवियां यदि मानी जायगीं तो यहां इस भूमितलसे सूर्य और चन्द्रमातक जो अन्तराल दीख रहा है, अनेक आधारभूत अन्य पृथ्वियोंके नीचे नीचे भर जानेपर वह व्यवधान नहीं रह पायगा । किन्तु हमकी यहांसे सूर्यतकका। पृथ्वियोंके रिता हो रहा व्यवधान दीख रहा है । अतः पृथ्वियोंके आधारभूत पुनः अनेक पृथ्वियोंकी कल्पना करना अयुक्त है । तिस कारणसे सम्पूर्ण भूमियां छहों दिशामें पिनित मर्यादाको ले रहीं अन्तवाली हैं। इस जैनसिद्धान्तको संशयरहित समझ लेना चाहिये।

नतु चाधोधः सप्तसु भूमिषु जीवस्य गतिचैचित्र्यं विरुद्धं ततो अमूभ्यः शून्याभिस्तः-मिर्भवितन्यं । तथा च तत्कल्पनावैयध्ये जीवाधिकरणविश्वेषप्ररूपणार्था हि तत्पार्कल्पनां श्रेयसी नान्यथेति वदंतं प्रत्याह । अब यहां किसीकी दूसरे प्रकारकी शंका खडी होती है कि नीचे नीचे सात भूमियों में जीवोंकी विचित्ररूपसे गति होना तो विरुद्ध है। यदि समतलपर सातों भूमियां होती तब तो कोई जीव कहीं और अन्य जीव दूसरी भूमियोंमें चला जा सकता था। कई भूमियोंको भेदकर नीचे जीवका जाना कठिन है। तिस कारण उन अन्तरालकर्ती भूमियोंसे उन भूमियोंको शून्य (रीता) होना चाहिये और तिस प्रकार अन्तरालरित भूमियोंके हो जानेपर उन सात भूमियोंकी कल्पना करना न्यर्थ है। उत्तरोत्तर अधिक पापको भारनेवाले जीवोंके विशेष अधिकरणोंकी प्रकृपणांके लिये ही तो उन भूमियोंकी लम्बी, चौडी, संख्याओंमें कल्पना करना श्रष्ठ था। अन्यथा नहीं। केवल एक भूमि मानना ही पर्यात है, उसीमें जीवोंको गति सुलभतासे सम्भव जाती है। इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं।

नाधोधो गतिवैचित्र्यं विरुद्धं प्राणिनामिह । ताद्यक् पापस्य वैचित्र्यातित्रमित्तस्य तत्त्वतः ॥ १५॥

इन भूमियों में नीचे नीचे प्राणियों भी गतिभी विचित्रता विरुद्ध नहीं है। क्यों कि वास्तविक रूपसे उस विचित्र गतिके निमित्त हो रहे तिस जातिके पापकी विचित्रता पायी जा रही है। अर्थात् मर जानेपर संसारी जीवकी गति लोकमें सर्वत्र अप्रतीचात है। मात्र तैजस कार्माण शरीरोंको धार रहा जीव कहीं से कहीं भी जाकर जन्म ले सकता है। भूमि, पर्वत, स्मुद्ध, कोई उसे रोक नहीं सकते हैं।

मिदं हिताबद्धभफलं कर्म पापं तस्य मकर्षतारतम्यं तत्फलस्य मकर्पतारतम्यादिति माणिनां रत्नमभादिनरकभूमिसम्रुद्भूतिनिमित्तभूतस्य पापविश्वेषस्य वैचित्र्यात्तद्वतिवैचित्र्यं न विरुध्यते तिर्यगादिमतिवैचित्र्यं व यत एवं—

अशुभ फलोंको देनेक्सला पापकर्म तो जगत्में प्रसिद्ध ही है, उस पापके फलकी प्रकृषिताका तारतम्य देखा जाता है। इस कारण उस पापके प्रकृषका तारतम्य भी सिद्ध है। अर्थात्—दिद्री, दुःखी, पीडाक्रान्त, रोगी, जीवोंमें अनेक जातिक पाप फलोंकी अतिशय दृद्धियां देखी जाती हैं। किसीको अल्प रोग है। अन्यको विशेष वेदनावाला रोग है। तृतीयको असाध्य रोग है। अथवा कोई अल्पधनी है, दूसरा दिन्न, तीसरेको भरपेट मोजम भी नहीं मिलता है, चौथा उच्लिण्ट मांगकर भी उदरज्वालाको शांत नहीं कर सकता है, यों पापके फलोंकी प्रकृषता बढती बढती देखी जा रही है। इसी प्रकार नरकगामी प्राणियोंके राजप्रमा, शर्कराप्रमा, आदि नरक भूमियोंमें ठीक उत्पन्न करा देनेके निमित्त हो चुके विशेषपापकी विचित्रतासे उन उन पृथ्वियोंमें नीचे नीचे गमन कर जानेकी विचित्रताका कोई विशेष नहीं आता है जैसे कि निर्धन आदि गतियोंकी विचित्रताका अविरोध प्रसिद्ध

है। अर्थात्—कोई जीव बरकर एकेन्द्रिय बृक्ष हो जाता है। अन्य जीव गेंडुआ, मक्खी, गधा, छदीआ घोडा, आदि तिर्थचोंमें जन्म छे छेता है। कतिपय जीव धनिकोंके हायी, घोडे वछध होकर उपजते हैं। यह सब कर्मोंकी विचित्रता अनुसार यहां वहां गमन करना, जन्म छेना सिद्ध हो जाता है, जिस कारणेंसे इस प्रकारका सिद्धान्त व्यवस्थित है। इसका विधेय दछ अप्रिमकारिकामें देखो।

ततः सप्तेति संख्यानं भूमीनां न विरुध्यते । संख्यांतरं च संक्षेपविस्तरादिवशान्मतं ॥ १६ ॥

तिस कारणसे भूमियोंकी सात यह नियत संख्या करना विरुद्ध नहीं पडता है। यदि चाहे तो संक्षेप, विस्तार, मध्यसंक्षेप, मध्यविस्तार, अतिविस्तार आदिकी विवक्षाके वशसे भूमिकी अन्य संख्यायें भी मानी जा सकती हैं। अनेकान्तवाद अनुसार व्यर्थका आग्रह करना हमको अभीष्ट नहीं है। वे सब हमको स्वीकृत हैं।

न हि संक्षेपादेकाधोभूमिरिति विरुध्यते विस्तरतो वा सैकविंत्रातिभेदा सप्तानां मत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पात् ।

सात भूमियोंको नहीं मानकर संक्षेपसे एक ही अघोभूमि मान छी जाय यह कोई विरोध करने योग्य नहीं है, अधवा सात भूमियोंमेंसे प्रत्येकके जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट, भेद कर देनेसे वह अघोभूमि विस्तारसे इनकीस भेदवाछी कह दी जाय, इस मन्तन्यका भी हम विरोध नहीं ठानते हैं। पटछोंकी अपेक्षा उनंचास ४९ भेद कर दिये जांय, उसको भी हम माननेके छिये संनद्ध हैं।

तहतनरकसंख्याविशेषप्रदर्शनार्थमार ।

अब उन भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नरक स्थानोंकी संख्या विशेषका प्रदर्शन करानेके छिये श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशत-सहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

उन भूमियोंमें सर्वत्र नारकी नहीं रहते हैं, किन्तु उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें यथात्रमसे तीस छाल, प्वीस छाल, पंदह छाल, दश छाल, तीन छाल, पांच कम एक छाल और केवछ पांच ही यों चौराशी छाल नरकविछ बने हुये हैं, जो कि वातवछयान्त या अछोकाकाशको छू रहीं छम्बी चौडी भूमियोंके त्रसनाछी मागमें ही कचित् स्थित हैं।

त्रिशम पंचविष्ठातिश्च पंचदश च दश च त्रयश्च पंचोनैकं चेति द्वंदः, नरकाणां शतसह-स्नाणि नरकञ्चतसहस्राणि च तानीति स्वपदार्था द्वातिः, तास्त्रिति रक्षप्रभादिभूमिपरामशः, यथाक्रमवचनं यथासंख्याभिसंबंधार्थे। तेन रत्नप्रभायां त्रिश्चरकञ्चतसहस्राणि, शर्कराप्रभायां पंचविक्षतिः, बाङ्काप्रभायां पंचदश, पंकप्रभायां दश, धूमप्रभायां त्रीणि, तपःप्रभायां पंचो-नैकं नरकञ्चतसहस्रं, महातमःप्रभायां पंचनरकाणि भवंतीति विक्षायते। कुतः पुनिस्त्रञ्जक्षादि-संख्या रत्नप्रभादिषु सिद्धेत्याह।

तीस और पचीस और पन्द्रह और दश और तीन और पांच कम एक इस प्रकार विमहमें बहुतसे चकारोंको देकर तीस आदि पदोंका परस्पर सम्बन्ध करते हुये द्वन्द्वसमास करना चाहिये। पुनः "नरकोंके लाख" यों पष्ठी तत्पुरुष समास कर त्रिशत् आदिक जो वे नरक लक्ष है, इस प्रकार समासघटित निज पदोंके अर्थकी प्रधानताको लिये हुये कर्मधारय समास कर लेना चाहिये। "ताखु" इस तत् शद्ध करके रत्नप्रभा आदि भूमियोंका परामर्श किया जाता है। सूत्रमें यधाकम शद्धका बचन तो रत्नप्रभा आदिके साथ तीस लाख आदिका यथा संख्य व्यवस्था अनुभार सम्बन्ध करनेके लिये है। तिस यथाकम शद्धकी सामध्य करके रत्नप्रभामें तीस लाख शर्कराप्रभामें पचीस लाख, वालुकाप्रभामें पन्द्रहलाख नरक, पंकप्रभामें दशलाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमः प्रमाने पांच कम एक लाख, और सातवीं महातमः प्रभामें केवल पाच है। नरक हैं यह समझ लिया जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि किस युक्तिसे फिर रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें तीस लाख आदि नरकोंकी संख्या सिद्ध की गयी है श्र बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक हारा समाधान कहने हैं।

त्रिंशलक्ष।दिसंख्या च नारकाणां सुसूत्रिता। रत्नप्रभादिषुक्तासु प्राण्यदृष्टविशेषतः॥१॥

श्री उमास्तामी महाराजने कही जा चुकी रत्नप्रमा आदि पृथ्वियोंमें नरकोकी तीस लाख, पश्चीस लाख, आदि संस्था बहुत अच्छी सूत्र द्वारा समझा दी है, जो कि नारक प्राणियोके तिस प्रकार पूर्व जन्म उपार्जित विशेष अदृष्टसे हो रही नियत है।

ताहशाः प्राणिनां तिश्ववासिनामदृष्टविशेषाः पूर्वोपात्ताः संभाव्यंते यतस्तासु त्रिंशञ्च-क्षादिसंख्या नरकाणां रत्नप्रभादिसंख्या च सिध्यतीति शोभनं स्तिता सा ।

उन नरकोंमें निवास करनेवा श्रे प्राणियों के पूर्व जन्ममें उपार्जित और तिम प्रकारकी जातिको धार रहे ईषद् पुण्यमिश्रित पापविशेष सम्भावित हो रहे हैं जिनसे कि उन भूमियों में नरकों भी तीस काख आदि संख्यार्थ और रत्नप्रभा आदि भूमियोंकी सात संख्यार्थे सिद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार

श्री उमास्वामी महाराजने सुन्दरतापूर्वक सूत्रमें उस संख्याको दर्शा दिया है। भावार्थ — सूर्य, चन्द्रमा, आदि अकृत्रिम पदार्थ अनादिसे निर्मित हैं तो भी जहां सूर्य चन्द्रमाका प्रकाश हो रहा है, ऐसे स्थानोंमें जीवोंका जन्म लेना पुण्य, पापसे, सम्बन्ध रखता है। तीर्थकर महाराजके पुण्य अनुसार पहिलेसे ही सुन्दर स्थानोंका निर्माण हो जाता है, तथा पापी जीवोंके निवाय स्थान अतीव घृणास्पद बन चुके रहते हैं, यद्यपि ये सात भूमियां और चौरासी लाख विले अनादि अनन्त अकृत्रिम हैं। फिर भी अनादि अनन्त कालीन अनन्तानन्त नारिक्षयोंके समुदित पुण्य, पाप, अनुसार स्कुट या विचिपचे स्थानोंमें जन्म लेना अदृष्ठ अनुसार समझा गया है, पुण्य और पापमें बडी विलक्षण शक्तियां भरी हुई हैं।

इति सूत्रद्वयेनाधोलोकावासविनिश्रयः। श्रेयान् सर्वविदायातस्याम्नायस्य विलोपतः॥ २॥

इस प्रकार '' रत्न, शर्करा '' प्रसृति और '' तासु त्रिंशत् '' आदि इन दोनों सूत्रीं करके सूत्रकारने सर्वज्ञकी धारासे चर्ला आ रही आन्नायको अविच्छेद हो जानेसे अधोलोकर्ने अकृत्रिम बन रहे निवास स्थानोंका विशेष रूपसे श्रेष्ठ निर्णय कर दिया है, अथवा यों अनुमान बना लो कि अधोलोकके निवास स्थानोंका विशेष रूपसे निश्चय कर छेना (पक्ष) श्रेष्ठ है (साध्य) क्योंकि लोक, अलोकको प्रत्यक्ष देखनेयाले सर्वज्ञकी चली आ रही आग्नायका अभीतक विच्छेद नहीं हो पाया है।

न हि सर्वविदायातत्वमेतदाम्नायस्यासिद्धं बाधकाभावात् स्वर्गाद्याम्नायवत्, प्राक्-चितितं चागमस्य प्रामाण्यमिति नेह प्रतन्यते ।

गुरुपम्परासे चले आ रहे इम श्री उमास्त्रामी महाराजके समीचीन उपदेशको सर्वज्ञ धारासे चला आयापन असिद्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणों का अभाव होनेसे (हेतु) स्वर्ग भोगमूमि, मोक्ष, आदिके सम्प्रदाय समान (अन्वयदद्यान्त) इस अनुमानसे इस सूत्रके अर्थकी सर्वज्ञ धारासे प्राप्ति होना सध जाता है । आगमकी प्रमाणताका हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुत अच्छा विचार कर चुके हैं, इस कारण यहां संक्षित व्याख्यानोंमें उसका अधिक विस्तार बढाया नहीं जाता है । थोडे शद्बोद्धारा अधिक प्रमेयकी प्रतिपत्ति कर छेनेकी टेवकी बढाओ ।

कीदशलेक्याद्यस्तत्र प्राणिनो वसंतीत्याह ।

उन नरकोंमें किस जातिकी छेश्याशाले या किस ढंगके परिणाम आदिको धारनेवाले प्राणी निवास करते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

नारका नित्याग्रभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ 🤾

नरकोंमें निवास करनेवाले जीव नित्य ही अत्यन्त अशुभ लेक्यावाले बने रहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, इन लेक्याओं के निकृष्ट अंदा उन जीवों के पाये जाते हैं। नारकी जीवों के क्षेत्र विदेशकी अपेक्षा हुये अत्यन्त अशुभ परिणाम हैं, जो कि दिन, रात, अंतरंग, बहिरंग, अत्यन्त दुःखों के कारण बन रहे हैं। नारक जीवों के दारीर अशुभनामकर्मके उदयसे उपने विकृत पृणित आकृतिवाले अत्यन्त अशुभ हैं। अन्तरंग, बहिरंग कारणोंसे हुई नारिकयोंकी वेदना अतीव अशुभ है, तथा नारिकयोंके भले ही अच्छी विकिया बनानेकी इच्छा हो किन्तु उनके तीव पापके फल अनुसार अशुभ शरीर विकृतियां बन बैठती है, जिससे कि स्व और परको अतीव दुःख उपजाया जा सके, नारिकयोंके ये भाव नीचे नीचे अधिक अशुभ बढते हुथे समझ लेने चाहिये।

लेक्यादिश्रन्दा उक्तार्थाः । तिर्यग्न्यपेक्षयातिश्चयानिर्देशः पूर्वीपेक्षो वाधोगतानां । नित्य-प्रहणाल्लेक्याद्यनिवृत्तिप्रसंग इति चेन्न, आभीक्ष्ण्यवचनत्वानित्यश्चस्य नित्यप्रहसितवत् ।

होता है। यहा नारकी जीवोंकी अञ्चलतर हेरया आदिका तिर्यग्गतिमें होनेवाले अञ्चल हेरया आदिकी अपेक्षा करके अतिशयरूप कथन किया गया है। अथवा पहिली पहिली भूमियोंमें निवास करनेवाले नारिकयोंकी अपेक्षा उनसे नीचे, नीचे भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नारिकयोंकी लेरया आदिक अतिशयको लिये हुये अञ्चल है। यदि कोई यहां यों कहें कि नारिकयोंकी लेरया आदिक अतिशयको लिये हुये अञ्चल है। यदि कोई यहां यों कहें कि नारिकयोंके लेरया आदिक जब सर्वदा अति अञ्चल ही बने रहते हैं, तब तो उनकी लेरया आदिकी कभी निवृत्ति या परावृत्ति नहीं हो सक्तेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। एक ही लेरया बनी रहेगी। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां नित्यका अर्थ आकाशके समान अविचलमात्र बना रहना नहीं है, किन्तु यहां नित्य शह्मका अर्थ अभीक्षण इष्ट किया गया है। जैसे कि " नित्यः प्रहासितो देवदत्तः " देवदत्त नित्य हा हस्ता सहता है, यहां नित्यका अर्थ बहुत कालतक ही समझा गया है। खाते, पीते, सोते, पढते उसका हसना छूटे ही नहीं यह अर्थ नहीं है। अभीक्षणका अर्थ प्रायः, बहुत या बहुमाग अथवा पुनः पुनः है।

के पुनरेवं विशेष्यमाणा नारकाणामित्याह ।

महाराज फिर यह बताओं कि इस प्रकार निशेषित हो रहे ने जीन भला कौनसे हैं ! जिनकी अपेक्षा नारिकयोंकी छेश्या, परिणाम, आदिक अधिक अशुभ कहे गये हैं । ऐसी जिझासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अप्रिमवार्त्तिक द्वारा समाधान नचन कहते हैं ।

तिर्यंचोऽशुभ्रेश्याद्यास्तेभ्योप्यतिशयेन ये। प्राणिनोऽशुभ्रेश्याद्याः केचिते तत्र नारकाः॥१॥ जगत्में अशुभ छेश्या, अशुभ परिणाम, अशुभ देह, आदिको धारनेवाछ जीव तिर्येच हैं, उन तिर्येचोंसे भी अतिशय करके अशुभ छेश्या आदिको धारनेवाछ जी कोई भी प्राणी हैं, उन संसारी जीवोंमें वे प्राणी नारकी समझे जाते हैं। इस ढंगसे श्री विधानन्द स्वामीने श्री उमास्वामी भग-चान्के सूत्रको छक्य लक्षण भाव या हेतु साध्यभावके अनुसार घटिस कर दिया है।

तिर्यचस्तावद्युभक्षेत्रयाः केचित्रसिद्धास्ततोप्यतिष्ठयेनाशुभक्षेत्रयाः प्राणिनी नारकाः संभाव्यंते अशुभतरलेक्याः, प्रथमायां भूमी एवपशुभतरपरिणामादयोपीति मसिद्धा एव प्रति-पादितविशेषाधारा नारकाः, ततोप्यतिशयेनाशुभलेक्यादयो द्वितीयायां, वतीयायां, ततोपि चतुर्थ्यां, ततोपि पंचम्यां, ततोपि पष्ट्यां, ततोपि सप्तम्यामिति ।

गिडार, मकडी, चिरईया, कौआ, सांप, मेडिया, बिद्धी, उल्ब्र् आदि किन्हीं किन्हीं तिर्यचोंके तो अग्रुभ छेश्या हो रही प्रसिद्ध ही है। उनसे भी आतिशय करके अग्रुभ छेश्यावाछ नारकी प्राणी संभावित हो रहे है। अतः पहछी पृथ्वीमें नारिकयोंको अग्रुभतर छेश्यावाछा कहा जाता है, इसी प्रकार अनेक तिर्यचोंके परिणाम, शरीर, वेदना, आदि भी अग्रुभ प्रसिद्ध ही होरहे हैं। उनकी अपेक्षा अत्यधिक अग्रुभ परिणाम आदिको धारनेवाछ पहिछी भूमिके नारकी जीव कहे जा चुके विशेषोंके आधार होरहे प्रसिद्ध हो जाते है। उन पहिछी पृथिवीवाछे नारिकयोंसे भी अतिशय करके अग्रुभ छेश्या, परिणाम, आदिको धारनेवाछे जीव दूसरी पृथिवीमें हैं, उन दूसरीवाछोंसे भी तीसरीमें, उस तीसरीसे भी चौथीमें, उस चौथीमें भी पांचवीमें, उस पांचवीसे भी छठी भूमिमें और उस छठीसे मी सातवी भूमिमें नारिकयोंके अग्रुभ छेश्या, परिणाम आदिक अतिशय करके बढते जाते हैं। इस प्रकार धनांगुछके दितीय वर्गम् छसे गुणित जगच्छेणी प्रमाण संपूर्ण नारिकयोंके छश्या, परिणाम आदिक नीके नीके मीने मीने भीने अधिक अधिक निकृष्ट होते चले गये हैं।

कथं पुनरेतद्शुभत्वतारतम्यं सिद्धमित्याइ।

यह छेश्या आदिकोंके अञ्चभपनका उत्तरोत्तर तरतम रूपसे बढना फिर किस प्रमाणसे सिद्ध है! ऐसी जिज्ञासा डोनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिकको कहते हैं।

संक्लेशतारतम्येनाशुभतातारतम्यता । सिष्येदशुभलेश्यादितारतम्यमशेषतः ॥ २ ॥

नीचे नीचे भूमियोंमें नारकी जीवोंके सैक्छेशकी तरतमतासे छेश्या आदिकोंके कारण अञ्चभपन का तरतमपना सिद्ध होजाता है, और उसी तरतमतासे अञ्चभ छेश्या आदिकोंका तरसमपना सम्पूर्ण रूपसे सब जावेगा।

संब्छेशो जीवस्याविशुद्धिपरिणामो मिध्यादर्शनादिस्तस्य तारतम्यादशुभत्वतारतम्यम-श्रेषतीप छेज्यादीनां सिध्धेदिति न तदहेतुकं यतोतिमसज्येत ।

जीवके विशुद्ध नहीं हुये मिध्यादर्शन, क्रोध, असातवेदन, आदि अशुद्ध परिणामोंको संक्रेश माना गया है। उस संक्रेशके तारतम्यसे सम्पूर्ण रूपसे भी छेश्या, परिणाम, आदिकोंके अशुभपनका तारतम्य सिद्ध होजावेगा। इस कारण वह नीचे नीचे छेश्या आदिकोंका अशुभपना स्वकीयकारक हेतु- ऑसे रिहत नहीं है, जिसे कि नारिकयोंसे आतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ मनुष्य या देवोंमें भी अशुभतर छेश्या आदिके पाये जानेका अतिप्रसंग हो जाता। अर्थात्—नारिकयोंके समान अन्य जीवोंमें कारण नहीं होनेसे अशुभतर छेश्या आदिक विवर्त नहीं पाये जाते हैं।

नतु चैकांति कदुःखयोगिना नारकाः सुखदुःखयोगिनां तिर्यङ्मतुष्यवचनात्, ऐकांतिक-त्ररीरसुखयोगिनां देवत्वाभिधानात् । तत्र किसुदीरितदुःखास्ते नारका इत्याह ।

यहां किसी शिष्यकी समीचीन शंका है कि नारकी प्राणियोंके तो एकातरूपसे सर्वथा दुःखंनका ही योग छग रहा है और सामान्य रूपसे तिर्थच या मनुष्योंमें न्यून या अधिक रूपसे छुख और दुःखका सम्बन्ध होना कहा गया है तथा एकात रूपसे शारीरिक सुखका योग धारनेवाले प्राणियोंको देवपना कहा गया है। अर्थात्—एकांतरूपसे दुःखी नारकी जीव हैं और एकात रूपसे शारीरिक सुखवाले देव हैं। अर्थात्—एकांतरूपसे दुःखी नारकी जीव हैं और कदाचित् दुःखी समझे गये हैं। दिद पुरुषोंको त्योहारके दिन कुछ अच्छा भोजन भिल जानेसे आपेक्षिक उतना ही छुख मिल जाता है जितना कि धनिकोंको महीनोंतक षद्रस प्रित भोजन करनेसे प्राप्त होता है। पटरानी या सेठानीको रक्जिंदित सूर्वण भूषणोंसे जितना आनन्द भिलता है उससे कहीं अधिक कौडी, गोंगची, पीतल, कांच, आदिके बने हुये आभूषणोंको पद्मननेवाली भीलिनिको आभिवानिक सुख प्राप्त होजाता है। अधिक परित्रम या क्षेत्र उठानेवाले पद्मपक्षियोंमें भी कुछ आपेक्षिक सुख होरहा है, जीवको अनुक्छ होरहे तिर्थच शरीरमें आत्माको ठेते रहनेवाली तिर्थगायुः कर्नका पुण्यप्रकृतियोंमें पाठ है। यहां उस नारकियोंके विषयमें हमको यह पूंछना है कि क्या वे नारकी उदीरणाको प्राप्त हुये दुःखके भोगनेवाले भी हैं ? ऐसी आशंका होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधानकारक अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

परस्परोदीतितृःखाः ॥ ४ ॥

भवप्रत्यय अवधि करके नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दूरसे ही दुःखका कारण समझाकर शृगाल आदिके समान अन्तरंगकारण असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा द्वारा परस्परमें अतितीव दुःखको उपजाते रहते हैं । अर्थात्—उन नारिक्योंमें परस्पर करके दुःख उपजाया जाता है। नतु च कोपोत्पचौ सत्यां परस्परं दुःखोदीरण दृष्टं नान्यथा न च तेषां तदुत्पचौ कारणमस्ति न चाकारिणका सातिप्रसंगादिति चेक, निर्दयत्वाचेषां परस्परदर्शने सित कोपो-त्पचेः श्ववत् । सत्यंतरंगे कोधकर्मोद्ये बहिरंगे च परस्परदर्शने तेषां कोपोत्पचिनीहेतुका यतोतिप्रसंगः स्यादिति ।

कोई शिष्य शंका करता है कि तीन कीपकी उत्पत्ति होते संते, तीतरों, भैसों कुत्तों मुगीं आदिके समान कितपय जीनोंमें परस्पर दुःखकी उदीरणा (प्रवाहित होना) देखी गयी है। अन्यथा नहीं। यानी कोधकी उत्पत्ति हुये निना सज्जन, छिरिया, आदिकों के दुःख उफनता हुआ नहीं देखा गया है। जन कि उन नारकी जीनों के उस कोधकी उत्पत्ति होनेमें कोई कारण ही नहीं है तो ऐसी दशामें कारणको निमित्त नहीं पाकर वह कोधकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि कारणोंके निना ही निष्कारण कोध उपज बैठेगा, तब तो अतिप्रसंगदोष हो जायगा। अर्थात् सज्जन साधुक पुरुषोमें भी तीन कीच पाया जानेगा। अतः कोधके निना नारिकों में दुःखकी उदीरणा नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि निर्दय होनेसे कुत्तोंके समान उन नारिकयोंके परस्पर एक दूसरेको देखते सन्ते ही कोपकी उत्पत्ति हो जाती है। अन्तरंग कारण. पोन्नलिक कर्मका उदय होनेपर और बहिरंगकारण परस्परका दर्शन होनेपर उन नारिकयोंके कोधकी उत्पत्ति हो रही हेनुओंसे रहिन नहीं है, जिससे कि साधुओंमें भी इसी प्रकार कोध उपजानेका, अतिप्रसंग होता। कोधको सकारण मान छेनेपर अतिज्यापि टल जाती है। जगत्के पानत् कार्य नियत कारणोंसे ही बनाये जाते हैं।

तथा तैर्नारकेर्दुःखं परस्परमुदीर्यते । रोद्रध्यानात्समुद्भूतेः कुद्धैर्मषादिभिर्यथा ॥ १ ॥ निमित्तद्देतवस्त्वेतेऽन्योन्यं दुःखसमुद्भवे । बहिरंगास्तथाभृते सति स्वकृतकर्मणि ॥ २ ॥

तथा खोटे रीइध्यानसे नरकमें उत्पत्ति होनेके कारण उन क्रोधी नारिकयों करके परस्परमें दुःख उभार दिया जाता है, जैसे कि उत्साहसहित छ्ळकारनेसे कुपित हो रहे मैदा, मुर्गा, दुष्टजन, आदिकों करके परस्परमें दुःख उभार छिया जाता है। अतः तिस प्रकार तीत्र दुःखके अन्तरंग जारण निज उपार्जित कर्मों के होते संते परस्पर दुःखके उपजानेमें नारकी जीव बहिरंग निमित्तकारण हो जाते हैं।

ततो नेदं परस्परोदीरितदुःखत्वं नारकाणामसंभाव्यं युक्तिमन्त्वात्।

तिस कारण युक्तियों का सद्भाव हो जानेसे यह नारकी जीवों के परस्परमें उदीरित हुये दुःखसे. सहितपना असम्भव नहीं है।

अन्योदीरितदुःखाश्च ते इत्याइ।

तथा अन्य कारणोंसे भी उदीरणा प्राप्त हुये दुःखों को धारनेवाले वे नार की जीव हैं, इस सिदान्तको प्रकट करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्ध्याः ॥ ५ ॥

चतुर्थी भूमिसे पिहेल यानी तीसरी तक संक्षेशको प्राप्त हो रहे कतिपय असुरकुमार जातिके दैवों करके उदीरणाको प्राप्त किये जा रहे दुःखको श्रेळनेवाले भी नारकी है।

पूर्वभवसंक्षेत्रपरिणामोपाचाञ्चभकर्मोदयात् सततं क्षिष्टाः संक्षिष्टा असुरनामकर्मोदयाद-सुराः संक्षिष्टाश्च तेऽसुराश्चेति । संक्षिष्टिविशेषणगन्यासुरनिष्ट्रचर्ये, असुराणां गतिविषयनियम-मदर्श्वनार्थे माक्वतुर्थ्या इति वचनं । आक्षो म्रहणं लघ्वर्थिमिति चेन्न, संदेहात् ।

पूर्व जन्ममें भावना किये गये अत्यन्त संक्रेश परिणाम करके उपार्जित अश्य कर्मका उदय हो जानेसे नित्य ही क्रेस युक्त हो रहे जीव संक्रिष्ट कहे जाते हैं। देव गतिकी उत्तरोत्तर भेदरूप असर नामकर्म प्रकृतिके उदयसे हुये जीव असुर हैं । संक्रिष्ट हो रहे जो वे असुर देव है इस प्रकार कर्मधारय पति करके " संक्रिष्ठासुरा: " शद्धको बना छेना चाहिये । सम्पूर्ण असुरकुमार देव तो नारिकयोंको दः स नहीं उपजाते हैं । किन्तु अम्बावरीष आदि कोई कोई असुरकुमार ही कलहिंपय हो रहे उन नारिकयोंको भिडाते रहते हैं। इस कारण अन्य भद्र असुरोंकी निवृत्तिके छिये मूत्रमें असुर राह्नका विशेषण " संक्रिष्ट " पद दे रक्खा है । दुःख वेदनाकी उदीरणाके कारण बन रहे संक्रिष्ट असुरोंकी गति तीन प्रिव्योंमें ही है, इससे नीचे नहीं है। इस गति विषय क नियमका प्रदर्शन करानेके छिये सुत्रमें चतुर्थींसे पहिले पहिले यह बचन कहा है। कोई प्रश्न करता है कि प्राक् शहकी अपेक्षा आक्रका प्रहण लाघनके लिये उचित है " प्राक्चतुर्ध्याः " की अपेक्षा आचतुर्ध्याः कहनेमें परि-णामकृत लावव है। सूत्रकारको एक एक मात्राके लाववपर लक्ष्य रखना चाहिये। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तच्छता प्रदर्शक ठाघव तो नहीं दिख्छाना चाहिये, क्योंकि संदेह हो जायगा । आड् निपातका अर्थ तदरिहत मर्यादा और तत्सिहत अभिनिधि दोनों होते हैं । ऐसी दशामें संशय हो सकता है कि चतुर्धी भूमि भी छी गयी है ! अधवा क्या उससे प्रथम तीसरी भूमितक ही असुर जाते हैं ! । ऐसी दशामें कोई चतुर्थी भूमिको भी के छेते। अतः संदेहकी निवृत्तिके छिये स्पष्ट रूपसे प्राक शहका कथन करमा सत्रकारको समुचित पडता है।

चश्रद्धः पूर्वहेतुसम्बद्धार्थः ! अनंतरत्वादुदीरितप्रहणस्यहानर्थन्यमिति चेस्न, तस्य वृत्ती परार्थत्वात् । वानयवचनमिति चेस्न, उदीरणहेतुमकारप्रदर्शनार्थत्वात् पुनरुदीरितप्रहणस्य । तेन कुंभीपाकाद्यदीरितदुःखाश्रेति मतिपादितं भवति । कथं पुनः—

इस सूत्रमें पडा हुआ च शद्ध तो पूर्वमें कहे जा चुके हेतुओंका एक श्रीकरण करनेके लिये है। अर्थात्—तीसरी मामितक अञ्चरकुमार भी नारिकयोंको दुःख उपजाते हैं, और पूर्वसूत्र अनुसार परस्परमें भी उनको दुःखकी उदीरणा की जालकी है। अन्यथा यानी च शद्धका कथन नहीं करनेपर पहिली तीन भूमियोंमें पूर्वोक्त हेतुओं के अभाव का प्रसंग आवेगा जो कि इष्ट नहीं है। यहां किसीका आक्षेप है कि पूर्व सूत्रमेंसे अन्यबहित होनेके कारण उदीरित शहूकी अनुवृत्ति होय ही जायगी।पुनः इस सुत्रमें उदीरित शद्भका प्रहण करना व्यर्थ है । प्रन्थ कार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि वह पूर्व सूत्रका उदीरित शद्ध तो समास वृत्तिमें दूसरेके छिये विशेषण होकर गीण हो चुका है। अर्थात् —'' पदार्थः पदार्थेनान्वेति नन्वेकदेशेन '' पदार्थका पूरे पदार्थके साथ अन्वय होता है, एक देशके साथ नहीं । देखो. भृत्यको यदि जल लानेके लिये कहा जाय या भोजन बनना देखनेको कहा जाय तो उस मृत्यका केवल हाथ या आखें ही नहीं चले जाते हैं, किन्तु अंगोपांगसहित पूरा शरीर जाता है, अथवा कर्मचोर भृत्यका कोई भी अवयव नहीं जाता है। इसी प्रकार समासमें गौण हो चुके केवल उदीरित शहरी अनुवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि आक्षेपकार पुनः यों कहे कि तब तो और मी अच्छा हुआ। समासितपद नहीं कहकर सूत्र भारतो यों वाक्य ही कह देना चाहिये कि " परस्प-रेण उदीरितदु:खाः, संक्लिष्टासुरैश्व, प्राक् चतुर्ध्याः '' अर्थात्—नारकी परस्पर करके उदीरित हुये दु:खवाले हैं और चौथी पृथ्वीसे पाहिले संक्लिष्ट असुरों करके उदीरित हुये दु:खको भी भुगत रहे हैं. आचार्य कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं । क्योंकि ऐसी दशामें उदीरित शद्ध अवश्य ही व्यर्थ पड़ेगा। किन्तु आचार्यके व्यर्थ होरहे शहमें भी अट्टट प्रमेय धन भरा हुआ है। अतः पुनः उदीरित शहका प्रहण करना तो उदरिणाके कारण होरहे इतर प्रकारोंका प्रदर्शन करनेके छिये है, तिल करके यह भी कह दिया गया समझा जाता है कि कुम्मीपाक, लोहचनचात, आदि कारणोंसे भी नारिक्योंको दुःख की उदीरणा होरही है। नरकोंमे तप्त छोहेके स्तम्भोंसे चिपटना, तीखे तल्वार या छुरेंसे काटा जाना, तपे तैलमें डूबो देना, हाइयांमें पका देना, लोहके मौगरोंसे पीटा जाना, कोल्हमें पिछना, तथा स्वयं नारिकयों द्वारा विक्रिया कर लिये गये शिंछ, न्याघ्र, लिहारिया, बिल्ली, नौला, गृद्ध, उल्लू, कौआ, चील, आदि वैक्रियिक देहधारी प्राणियों करके खाया जाना, आदिक कारणोंसे भी भारी दु:ख उपजाये जारहे हैं। अब कोई पूंछता है कि सूत्रकारका उक्त सिद्धान्त फिर किस युक्तिके आधारपर समझ लिया जाय ! इसका समाधान करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

> संक्लिष्टेरसुरेर्दुःखं नारकाणामुदीर्यते । मेषादीनां यथा ताद्यक्रपेस्तिसृषु मूमिषु ॥ १ ॥ परासु गमनाभावात्तेषां तद्वासिदेद्दिनां । दुःखोत्पत्तो निमित्तत्वमसुराणां न विद्यते ॥ २ ॥

एवं सूत्रत्रयोत्रीतस्वभावा नारकांगिनः। स्वकर्मवरातः संति प्रमाणनयगोचराः॥ ३॥

उपरछी तीन भूमियों में नारिकयों को संक्रिष्ट असुरों करके दुःखकी उदीरणा कराई जाती है जैसे कि तिस जातिके संक्रेश स्वरूपवाले प्रतिमक्ष या मेढा आदिको छडानेवाले कल्ह थिय मनुष्यों करके मेढा, तीतर, बैल, आदिके दुःखोंकी उदीरणा करा दी जाती है। उन असुरकुमारोंका परली चौथी, पांचवीं, आदि भूमियोंमें गमन नहीं होता है। तिस कारण उन चौथी आदि भूमियोंमें निवास करनेवाले शरीरधारी नारिकयोंके दुःखकी उत्पत्तिमें उन असुरकुमारोंको निमित्तकारणपना विद्यमान नहीं है। इस प्रकार " नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामवेदनाविक्रियाः, परस्परोदीरितदुःखाः, संक्रिष्टासुरोदीरितदुखाश्व प्राक्चतुर्थ्याः" इन तीन सूत्रों करके नारक प्राणियोंके परिणाम आगम-प्रमाणहारा भले प्रकार समझ लिये गये हैं। अपने पूर्व उपार्जित कर्मोकी अधीनतासे नारकी जीव तिस प्रकार अशुभ परिणाम या दुःखोंके भाजन बन रहे हैं। वे तिस प्रकारके नारकी जीव तो प्रमाण और नयके विषय हो रहे जान लिये जाते हैं। अतः आगमके समान युक्तियोंका भी वहां अवकाश है।

प्रमाणं परमागमः स्याद्वादस्तद्विषयास्तावद्यथोश्रीता नारका जीवाः साकल्येन तेषां ततः प्रतिपत्तेः नयविषयाश्च विप्रतिपत्तिसमाक्रांतैकदेशप्रतिपत्तेरन्यथान्नुपपत्तेरिति प्रमाणनयैर-धिगमो नानानारकाणामृद्धः ।

सर्वोत्कृष्ट आगमप्रमाण स्याद्वाद सिद्धान्त है, उसके विषय हो रहे वे पूर्वोक्त कथन अनुसार नारकी जीव ज्ञानल्क्षणप्रत्यासित द्वारा जान लिये गये ही हैं। क्योंकि उस आगमप्रमाणसे उन नारिकयोंकी सम्पूर्णरूपसे प्रतिपत्ति हो जाती है तथा नय ज्ञानके भी विषय होरहे नारकी जीव है। क्योंकि विवादस्थलमें भले प्रकार प्राप्त हुये विषयकी एक देशसे प्रतिपत्ति होनेकी अन्यथा यानी नय-प्रवृत्तिके विना असिद्धि है, इस प्रकार अनेक नारिकयोंका प्रमाण और नय करके अधिगम करना, विचार लेना चाहिये। अर्थात्—वस्तुकी साकल्येन प्रतिपत्ति करानेवाला प्रमाणज्ञान है और वस्तुके एक देशकी प्रतिपत्ति करानेवाला नय है, इनके द्वारा नारिकयोंकी सम्पूर्ण व्यवस्था जानी जाती है। नरक भूमियोंके प्रस्तार, इन्द्रकबिल, श्रेणी बिल, पुष्पप्रकीर्णक बिल, उष्णनरक, शीतनरक, संख्यात या असंख्यात योजनवाले बिले, शारीरकी उच्चाई, मोजन, पान, आदि व्यवस्थाओंको स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा निर्णय कर लेना चाहिये। संक्षेप कथनका लक्ष्य होजाने पर विस्तृत कहनेकी रुचि नहीं होती है। "प्रमाणनयैरिधिगमः" यह सूत्र सर्वत्र अन्वित हो रहा है। तदनुसार अल्प रुचिवाले या मध्यम रुचिवाले अथवा विस्तृत विचारवाले श्रोताओंको बैरो वैसे साधनोंद्वारा प्रमेयोंकी प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये।

अथ रत्नप्रभादिनरकेषु त्रिञ्चल्लक्षादिसंख्येषु यथाक्रमं स्थितिविश्वेषप्रतिपत्त्यर्थमाह।

इसके अनन्तर अब श्री उमास्त्रामी महाराज तीस छाख, पचीस छाख, आदि संख्यावाछे रल-प्रभा आदि भूमियोंमें स्थित हो रहे नरकोंमें यथाक्रमसे उपार्जित आयुष्य कर्म द्वारा हो रही स्थिति विशेषकी प्रतिपत्ति करानेके छिथे अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयश्चिशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

उन चौरासी लाख नरकोंमे निवास करनेवाले नारक प्राणियोंकी अनुक्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सबह सागर, बाईस सागर, तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

सागर उपमा येषां तानि सागरोपमाणि, सागरस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्वात् । एकत्रिसप्त-दशसप्तदशद्वाविश्वतित्रयत्रिंशत्सागरोपमाणि यस्या सा तथेत्येकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरो-पमविश्लेषणत्वं ।

अलौकिक मान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भेदोंसे चार प्रकारका है। तिनमें द्रव्यमानके संख्या-प्रमाण और उपमा प्रमाण दो भेद हैं । उपमा प्रमाणके आठ भेदोंमें सागर नामका भी प्रकार है, जिन मानों या आयओंकी उपमा छवण समद है, वे सागरीपम हैं। अछौकिक मानोंमे सागरको उपमापना तो जल दन्यकी बहुलतासे दिया गया है। अद्धापल्यते दश कोटाकोटी गुणी बडी और सूच्यंगुलके अस-ख्यातवें माग छोटी सागर नामक एक उपमा प्रमाणसे नापी गयी संख्याविशेष है। एक योजन छम्बे, चौडे, गहरे, गर्तको, जन्मसे सात दिन भीतरके भैढाके कर्तरीसे पुनः छिन नहीं हो। सके ऐसे बाला-प्रोंसे भरकर पुनः सो सी वर्ष पीछे निकालते हुये जितना समय लगता है, वह व्यवहार पत्य समझा जाता है। व्यवहार पल्यसे असंख्यात गुणा उद्धारपत्य है, अद्धापत्य तो इससे भी असंख्यात गुण है। एक योजनवाले पल्यके समान दो लाख योजन चीडे और पाच लाख योजन न्यासवाले हजार योजन गहरे छवण समुद्रको वैसे ही रोमोंसे भरा जाय और छह केर्रोको धरनेवाछे जलके उलीचनेमें यदि प्रचीस समय छमें तो पूरे छवण समद्रको खाछी करनेमें कितने समय छमेंगे १ यों त्रैराशिक की जाय तब दश कोटी लब्ध आ जाता है। यह सागर परिमाणकी उपपत्ति है। जिस स्थितिका एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस, तेतीस, सागरोपम परिमाण है, वह स्थिति उस प्रकार '' एकत्रितसदशसप्तदा-विंशतित्रयिक्षशत् सागरोपमा " कही जाती है। इस प्रकार एक और तीन और सात और दश और सत्रह और बाईस और तेतीस यों इन्द्र समास किये जा चुके एकत्रि आदि पदोंकी सागरोपमका विशेषण होना समझ लिया जाता है।

रत्नप्रभादिभिरानुपृथ्येंण संबंधी यथाकमानुष्टुतः । नरकप्रसंगस्तेष्विति वचनादिति चेक, रत्नप्रभाद्यपलक्षितानि दि नरकाणि त्रिंशच्छतसहस्रादिसंख्यानि तेष्वित्यनेन परामृश्यंते, साइचर्याद्वा ताच्छव्यात्सिद्धिः । ततो यथोक्तसंख्यनरकसाइचर्याद्रत्नप्रभादयो नरकशब्द-वाच्याः प्रतीयंते । यद्येवं रत्नप्रभादिष्वधिकरणभूतास्त्र नरकाणां स्थितिः प्रसक्तेति चेत्, सच्चानामिति वचनात् । परोत्कृष्टा न पुनिरिष्टा परशब्दस्येष्टवाचकस्येहाग्रहणात् ।

. दूसरे सूत्रमें पड़े हुये " यथात्रामम् " पदकी अभुवृत्ति कर छेनसे एक आदिकोंका रत्नप्रभा आदिके साथ आनुपूर्व्य करके संबंध कर छेन। चाहिये। यदि यहां कोई यों आक्षेप करें कि सूत्रकी आदिमें '' तेषु '' ऐसा बचन है । इस कारण तत्पदद्वारा नरकोंका परामर्श किया जाकर नरकोंकी स्थितिको एक, तीन, सागर आदिके होनेका प्रसंग आवेगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि रत्नप्रभा आदिके आधेय होकर उपलक्षित हो रहे जो तीस लाख. पद्मीस लाख आदि संख्याबाळे नरक हैं, पूर्व परामरीक तेषु इस पदकरके उन नरकोंका ही परामरी किया जाता है। अथवा सहचरपनेसे भी उसी शब्दद्वारा कहाजानापन हो रहा है । सहारनपुरका साहचर्य होनेसे सहारनपुरकी स्टेशन हो भी सहारनपुर कह दिया जाता है, यहांके गन्तोंको भी सहारनपुर कह देते है । अतः रत्नप्रमा आदि भूमियोंको भी नरक शद्ध द्वारा कथन किये जानेकी सिद्धि हीजाती है। तिस कारण पूर्वमें यथायाग्य कही गयी संख्याको धारनेवाले नरकोंके साहचर्यसे स्त्रप्रभा आदि भूमियां नरक शह द्वारा कडी जारही प्रतीत होजाती हैं । जैसे कि वम्बईसे सहचरित होरहे प्रान्त देशको वम्बई कह देते हैं। पुनः किसीका आक्षेप उठता है कि इस प्रकार तत् राद्व वाच्य नरकोंसे यदि रक्षप्रभा आदि भूमियोंको पक्रडा जायगा तत्र तो अधि-करण होचुकी रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें आधेय होरहे नरकों की स्थिती एक, तीन, आदि साग-रोंकी प्रसंगप्राप्त हुयी । यह स्थिति नारकी जीवोंकी तो नहीं समझी गयी । यो कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि भाई, इसीछियें तो सूत्रकारने " सत्वानां " यह पर प्रहण किया है। यह स्थिति उन नरकोंमें रहनेवाले प्राणियों की है. नरकों की नहीं। नरकांबिले तो अनादिसे अनन्त कालतक जहांके तहां स्थित हो रहे हैं। परा शद्धका अर्थ उन्क्रष्ट है फिर इष्ट अर्थ नहीं। क्योंकि इष्ट अर्थको कहनेवाले पर शद्धका यहां प्रहण नहीं किया गया है। अतः यह नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति यों समझ छेनी चाहिये।

कुतः सोत्कृष्टा स्थितिः सन्वानां प्रसिद्धेत्यार् ।

कोई पूछता है कि नारक प्राणियोंकी वह उत्कृष्ट स्थिति मला किस प्रमाण या युक्तिसे प्रसिद्ध है ! बताओ, ऐसी ओरका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

नरकेष्दितैकादिसागरोपमसम्मिता । श्वितरस्यत्र सत्त्वानां सद्भावाचादगावुषः ॥ १ ॥

संक्षेपादपरा त्वत्रे वक्ष्यमाणा तु मध्यमा । सामर्थ्यादुबहुधा प्रोक्ता निर्णेतव्या यथाक्रमं ॥ २ ॥

इन नरकोमें नारक प्राणियोंकी स्थिति (पक्ष) कहे जा चुके अनुसार एक, तीन, आदि सागरोपमोंसे मले प्रकार नाप की जाती है (साध्य) जीवोंके तिस तिस प्रकारकी आयुका सद्भाव हो जानेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा नारिक्योंकी आयु साध दी जाती है । नारिक्योंने पूर्वजनमें नरकायुःकर्मका इतना बड़ा भारी पुद्रक्षिण्ड बांध िया है जिसका कि क्रमक्रमसे उदय आनेपर हजारों वर्ष या असंख्याते वर्षोंमें भोग हो पाता है । अंजुलीका जल शीघ्र निकल जाता है, किन्तु बड़ी टंकीमें भरे हुये पानीको बूंद बूंद अनुसार निकलते हुये बहुत दिन लग जाते हैं । इस सूत्रमें नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया है । यदि यहां ही जधन्यस्थितिका वर्णन किया जाता तो प्रन्थका विस्तार हो जाता । अतः संक्षिप्तप्रन्थसे जघन्य स्थिति तो आगे चतुर्थ अध्यायमें कही जानेवाली है । जो कि "नारकाणां च द्वितीयादिषु, दशवर्षसहस्थाणि प्रथमायां" इन दो सूत्रों करके कह दी जायगी । उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिका कण्ठोक्त निरूपण कर देने मात्रसे विना कहे ही सामर्थ्यसे बहुत प्रकारकी मध्यमा स्थिति अच्छी कह दी गयी समझ ली जाती है, जो कि सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार चले आ रहे आगम अनुसार निर्णय कर लेने योग्य हैं । नरकोंके उनंचास पटलोंमें भी आगम अनुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितियोंका निर्णय कर लेना चाहिये ।

परा स्थितिरस्ति प्राणिनां परमायुष्कत्वान्यथानुपपत्तेः । परमायुष्कत्वं पुनः केषांचित्त-देतुपरिणामविशेषात्स्वोपात्ताञ्चवन्न बाध्यते मनुष्यितरश्चामायुःप्रकर्षप्रसिद्धेः । तत्र रत्नप्रभायां नरकेषु सन्त्वानां परास्थितिरेकसागरोपमप्रमिताः, शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमप्रमिताः, वालुका-प्रभायां सप्तसागरोपमप्रमिताः, पंकप्रभायां द्रश्रसागरोपमप्रमिताः, धूमप्रभायां सप्तदश्चसागरोपमप्रमिताः, तमःप्रभायां द्राविश्वतिसागरोपमप्रमिताः, महातमःप्रभायां त्रयित्विश्वत्सागरोपमप्रमिताः इति वचनसामध्यान्मध्यमा स्थितिरनेकथा यथागमं निर्णीयते । जधन्यायाः स्थितेस्त्वत्र संक्षेषादृक्ष्यमाणत्वादित्यलं प्रपंचेन ।

किन्हीं विवादापन प्राणियोंकी स्थित उत्कृष्ट है (प्रतिज्ञा) अन्यथा परम आयुका धारना बनता नहीं है। फिर किन्हीं किन्हीं जीनोंके परम आयुष्यका धारकपना तो उसके कारणभूत हो रहे निज उपार्जित परिणाम निशेषोंसे हो रहा बाधित नहीं है। क्योंकि कितपय मनुष्य और तिर्वचोंके आयुष्यका प्रकृष हो रहा प्रसिद्ध ही है। अर्थात्—अपने अपने निशेष परिणामोंद्वारा अविक स्थिति वाछे आयुष्य कर्मका उपार्जन कर जीव उत्कृष्ट स्थितियोंको धार रहे प्रसिद्ध है। उन स्थितियोंमें यह निवरण समझियेगा कि रत्नप्रमामें निन्यासको प्राप्त हो रहे नरकोंमें स्थित प्राणियोंकी एक सागरोंपमको

धार रही उत्कृष्ट स्थिति है और शर्कराप्रभामें नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम प्रमाण है । वालुकाप्रभामें नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम परिमित है । पंकप्रभामें नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम प्रमाणसे भरपूर है । धूमप्रभामें नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागरोपम परिमाणवाली है । तमःप्रभामें नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपमसे नाप दी गयी है और सात्रकां महातमःप्रभामें निवास कर रहे असंख्याते नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थिति उपमा प्रमाणद्वारा तेतीस सागरकी परिमित कर दी गयी है । इस प्रकार सूत्रकारने कण्ठोक्त उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन कर दिया है । विना कहे ही परिशेष वचनकी सामर्थ्यने अनेक प्रकारकी मध्यमा स्थितिका आगमको अतिक्रमण नहीं कर निर्णय कर लिया जाता है । क्योंकि " तन्मध्यपतितस्तदम्रहणेन गृह्यते " इस नीति अनुसार उत्कृष्ट और जघन्यके बांचकी मध्यमा स्थिति तो यो ही गम्यमान हो जाती है । इस प्रथमें संक्षेपसे कथन करनेका उत्तय रखनेके कारण जघन्य स्थितिको स्वयं सूत्रकार चौथे अध्यायमे कहनेवाले हैं । अतः स्थितिका अविक विस्तार पूर्वक कथन करनेसे पूरा पड़ो, बुद्धिमानोंके सन्मुख इंगित (इशारा) मात्र पर्यात है । अधिक बढ़ाकर भी यदि लिख दिया जाय फिर भी तो उससे कहीं अधिक लिखे जानेकी आकांक्षायें वना रहती हैं । " श्रेयिस कस्तृप्यति " ।

इह प्रपंचेन विचितनीयं शरीरिणोधोगतिभाजनस्य । स्वतत्त्वमाधारविशेषशिष्टं बुंधैः स्वसंवेगविरक्तिसिष्दुयै ॥२॥

उपेन्द्रवज्ञा छन्दः द्वारा श्री विद्यानन्द स्वामी तृतीय अध्यायके प्रथम आन्द्रिक्तको समाप्त करते हुँ ये यहातक कहे जा चुके प्रकरणका उपसंहार करते हैं कि विद्वान् पुरुषों करके अपने संवेगभाव और वैराग्यमावोंकी सिद्धिके लिये इन छह सूत्रोंमें अधोगतिके पात्र हो रहे बैकियिक शारीरधारी नारक जीओंका आधार विशेषरूपसे सिखा दिया गया निजतत्त्व तो विशेषरूप करके विचार लेने योग्य है, अथवा नारिकयोंका निकृष्ट आचार विशेषसे परिशेषमें भोगना पढ़ा उनका निजतत्त्व विचारने योग्य है, जिससे कि बुद्धिमान् जीवोंको संसारसे मीरुता और वैराग्यकी प्राप्ति हो जाय । भावार्य नारकी जीवोंका वर्णन करना मुमुक्षु जीवोंके संवेग और वैराग्यका वर्धक है । दशलक्षण-पर्वमें जिनवाणीकी पूजा करते समय तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय या सूत्रोंको अर्घ्य चढाया जाता है, इसका ताल्प्य यही है कि इन सूत्रोंके प्रमेयोंको अर्घ्य नहीं चढाते हैं । किन्तु इनके ज्ञानकी हम पूजा करते हैं, जिसके कि संवेग और वैराग्य परिणाम बढें ।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे तृतीयाध्यायस्य प्रथममान्हिकं समाप्तं । यो शुभ भावनाओंको भावते हुये विवरण कर श्री विद्यानन्द स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके स्रोक्तवार्त्तिक अलंकाररूप व्याख्यानमें तृतीय अध्यायका पहिला प्रकरणोंका समुदाय खरूप आन्हिक यहांतक समाप्त कर दिया है।

वला नृलोके ज्योतिष्काः सर्वत्राष्ट्री स्थिरा धुवः । दुःखार्ता नारका ध्याता संवेगात्यै भवन्तु नः ॥ १ ॥

अधोलोकका वर्णन कर चुकनेपर श्री उमाखामी महाराज अब मध्यलोक या तिरछे फैल रहे तिर्यक्लोकका वर्णन करते हुये द्वीप, समुद्रोंको समझाते हैं।

जम्बृद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

सात राज् लम्बे, एक राज् चौडे, और मेरुसमान एक छाख चालीस योजन ऊंचे मध्यकोकमें या एक राज् लम्बी चौडी और चौदह राज् ऊंचीमेंसे केवल मेरुसम ऊंची इतनी चौकोर त्रसनालीमें इक्षुवर, घृतवर, नन्दीश्वर, ऐसे शुभनामबाले असंख्याते जम्बूद्रीप, धातकी द्वीप, आदिक द्वीप और लग्नणसमुद्र, कालोदक समुद्र आदिक समुद्र स्वयम्भूरमणपर्यन्त तिरछे गोल रचित हो रहे हैं।

प्रतिविशिष्टजंबृद्धक्षासाधारणाधिकरणाज्जंबृद्धीपः, लवणोदकानुयोगाल्लवणादः । आदिशद्धः प्रत्येकमभिसंबध्यते तेन जंबृद्धीपादयो द्वीपा लवणोदादयः समुद्रा इति संप्रत्ययः। शुभनामान इति वचनादशुभनामत्वनिरासः।

अक्वत्रिम, अत्यधिक सुन्दर, सपरिवार, जम्बूबृक्षका असाधारणरूपसे अधिकरण होनेसे यह मध्यवर्तीद्वीप जम्बूद्वीप कहा गया है। अर्थात्—उत्तरकु भोगभूमिमें सुदर्शन नामका पृथ्वीमय, जम्बूनुक्ष, अनादि ानिधन, रत्नमय, बना हुआ है, जो कि नृक्ष अन्य द्वीपोंमें हो रही साधारण रचनासे असाधारणपनेको धार रहा है। इस जम्बृबुक्षके सहचारसे द्वीपका नाम जम्बृ-द्वीप पड गया है। वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि शद्ध तो संख्याते ही हैं और ढाई सागरके समयों प्रमाण संख्यावाले द्वीप, समुद्र, असंख्याते हैं । ऐती दशामें उन द्वीपोंमे लाखों जम्बूदीप होंगे और लाखों ही लवणसमुद्र नामको धारनेवाले समुद्र होंगे । करोडों धातकी खण्ड द्वीपोंकी सम्भावना है। अत: इस मध्यवर्ती द्वीपकी जम्बूदीप यह संज्ञा अनादिकालसे यो ही निमित्तान्तरानपेक्ष चली आ रही है। यहाँ उत्तर धीमानोंको संतोषकारक है। छत्रण समुद्रके जलका स्वाद नोंन मिले हुये जल सरीखा है। अतः लत्रणमिश्रितजल सारिखे जलका योग हो जानेसे पाहिले समुद्रका नाम लवणोद पड गया है। इन्द्र समासके अन्तमें पडे हुये आदि शद्धका सम्पूर्ण पदोंमेंसे प्रत्ये ६पदके साथ सम्बन्ध कर छिया जाता है। तिस आदि राद्व करके जम्बूदीप आदिक दीप और छत्रणोद आदि अनेक समुद्र यह भंछ प्रकार निर्णय हो जाता है। सूत्रमें " शुभनामानः " ऐसा कथन करनेसे द्वीप समुदोंके अशुभनाम सहितपनका निराकरण हो जाता है। अधीत्—जम्बूदीप, लवणोद, धातुकीखण्ड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद् वारुणीवर, वारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, वृतवर, घृतोद, इक्षुवर, इक्षुद्र, नन्दीश्वर, नन्दीश्वरोद, अरुणवर् अंरुणोद, अरुणाभासवर, अरुणाभासोद, कण्डलवर, कण्डलोद, रुचकवर, रुचकवरोद, मुजगवर, मुज- गोद, आदि शुभ नामवाले द्वीप समुद्र हैं । विटदीप, क्षारदीप, उल्कदीप, वक, विडाल, उण्डू, तस, संप्रज्वलित, आदि अञ्चभ संज्ञाओंको धारनेवाले दीप समुद्र नहीं हैं ।

किं विष्कंभाः किं परिक्षेपिणः किमाकृतयश्च ते इत्याह ।

यहां प्रश्न कि जम्बूद्धीप, ख्वणसमुद्र आदिक कितनी कितनी चौडाईको धारते हैं ? और किस किसका परिक्षेप (घेरा) रखनेबाले हैं ? तथा कैसी कैसी आकृति यानी रचनाको प्राप्त हो रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रका उच्चारण करते हैं।

द्विर्द्विविष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

जम्बूद्दीपको आदि लेकर असंख्याते द्वीप और लगण समुद्रको आदि लेकर असंख्यात समुद्र ये सब दूने दूने विष्क्रम्भ यानी विस्तारको लिये हुयं विराज रहे हैं। पहिले पहिले द्वीप या समुद्रको परला प्राप्त या समुद्र परिक्षेप यानी वेष्टित (लपेटे) किये हुये हैं तथा ये सभी कंकणकीसी आकृतिको धारे हुये चारों ओरसे गोल है।

द्विद्विरिति वीप्साभ्याद्वत्तेवचनं विष्कंभद्विगुणत्वन्याप्त्यर्ये, पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण इति वच-नादिनष्टिनिवेशनिद्वत्तिः, वख्याकृतय इति वचनाचतुरस्नादिसंस्थानिनद्वत्तिः । जंबृद्दीपस्य द्विक् ष्कंभत्वपूर्वपरिश्लेपित्ववल्याकृतित्वाभावादन्यापीनि विश्लेषणानीति चेत् न, जंबृद्दीपस्यैतदपवाद-इक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ' तन्मध्ये ' इत्यादि सूत्रस्यानंतरस्य सद्भावात् ।

सूत्रमें दिर् दिर् इस प्रकार वीप्सापूर्वक अभ्यावृत्ति होनेसे (का) जो कथन किया गया है वह चौंडाईके दूनेपनको व्यापक करनेके छिये हैं। एक छाख योजन चौंडा जम्बूदीपसे दूना दो छाख योजन चौंडा छवणसमुद्र है, और छवण समुद्रसे दूना चार छाख योजन चौंडा धातुकी खण्ड द्वाप है। इस प्रकार दूनी दूनी चौंडाई सर्वत्र समझ छेनी चाहिये। यहां दिः हिः ऐसी वीप्सा और अभ्यावृत्तिका सूचक सुच् प्रत्यय भी दो बार किया है इसने अन्तके स्वयम्भू रमणसमुद्र पर्यंत अधिक दूरवर्ती असंख्याते स्थानोंमें दूनी दूनी चौंडाईका अन्वय वहा दिया जाता है, जिससे पचास, सौ, द्वीप ही दूने दूने चौंडे हो सकते हैं, आगेके द्वीप नहीं, इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति होजाती है। शद्वप्रयोग करनेबाले मनुष्यकी एक ही बार अनेकोंमें व्याप्त करनेकी इच्छाको वीप्सा कहते हैं। " वीपसाय पदस्य " इस सूत्रसे दिः होजाता है। वीप्सा अर्थ चोत्य होनेपर पदको दिल्व होजाता है। तथा सूत्रकारके " पूर्वपूर्वपरिक्षापणः " इस बचनसे अनिष्ट सिनेवेशकी निवृत्ति होजाती है, जिससे कि प्राम उपवन, नगर, प्रासाद, आदिके समान उन दीप समुद्रीका अनिष्ट विनिवेश नहीं समझ छिया जाय। जम्बूदीप छवण समुद्रसे और छवण समुद्र धातुकी खण्डसे वेष्टित होरहा है। यों अन्तके स्वयम्भू रमणनतक छना लेना। तथा " वळ्याइतयः " इस वचनसे चौकीर, तिकोने, छहकोने, अठपैछ, आदि

अनिष्ट संस्थानकी निवृत्ति होजाती है। कोई कोई अनुमान प्रेमी विद्वान् साधारण स्वरूपके प्रतिपादक विशेषणोंका निरादर कर अन्यभिचारी उद्देश्य दलको हेत और विधय दलको साध्य बनाते हुये सर्वत्र विधायक वाक्योंको अनुमान महामें गढ छेते हैं। तदनुसार इस सूत्रमें कहे गये १ दिदिविष्कंमाः, २ पूर्वपूर्वपरिक्षोपिणः, ३ वल्याकृतयः, इन तीन विशेषणोंके साथ और जम्बृद्वीप लवणसमुद्र आदि इस विशेष्य दछके साथ उद्ध्यलक्षणमाव और हेतु हेतुमद्भाव बना छेना चाहिये। तभी उक्षणके अन्याप्ति अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषोंका निवारण और हेतुके व्यभिचार, विरोध आदि दोषोंका प्रत्याख्यान करना अच्छा शोभता है। यहां किसीकी शंका है कि आपने जम्बूदीपको आदि छेकरके सभी द्वीप समु-होंको उद्देश्य दलमें डालकर विधेयाश रूपसे यह सुत्र कहा है, किन्तु सबके आदिवर्ती जम्बूद्वीपके दूना चौडापन और पूर्वको घेरे रहना तथा कंकणकीसी आकृतिका धारकपना नहीं घटित होता है। इस कारण ये लक्ष्मणकोटिमें पडे हुये तीनों विशेषण अन्याप्ति दोषसे प्रसित हैं, अथवा अनुमानमुद्रा अनुसार तुम्हारे तीनों हेत् भागासिद्ध हेत्वाभास हैं । यदि अतद्गुण सम्यग्ज्ञान बहुब्रीहि समासका आश्रय कर जिनके आदिमें जम्बूदीप हैं यों अर्थ करते हुये जम्बूदीपको टाल दिया जायगा तो लक्षणसमुद्र भी टल जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। साथमें जन्बूद्वीपके शुभनामपनका और द्वीपपनका भी निराकरण बन बैठेगा। अतः '' शुक्छवाससमानय '' इसके समान तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहिका आश्रय ही छेना पडेगा। ऐसी दशामें हमारी शंका परिपृष्ट होजाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जम्बद्दीपको छोडकर अन्यं सम्पूर्ण द्वीपसमदोंमें ये तीनों छक्षण घटित होते हैं। जब कि जम्बद्धीपके छिये '' तन्मध्ये मेरुनाभिः '' इत्यादि अन्यवहित उत्तरवर्ती सूत्रका सद्भाव है तो उस अपवाद मार्गको टालकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्तेगी । इन तीनों छक्षणोंका अपवाद कर जम्बूद्वीपका छक्षण निकट भाविष्यमें कह दिया जायगा, अतः अन्याप्ति दोषको बालाप्र भी स्थान नहीं मिलता है। " अपवादपथं परित्यज्योत्सर्ग-विधयः प्रवर्तन्ते "।

क पुनरिमे द्वीपसम्रदा इत्याह।

फिर ये अनेक द्वीप और असंख्य समुद्र भला कहां स्थित होरहे हैं ई ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानको कहते है ।

सप्ताभो भूमयो यस्मान्भष्यलोको बलाद्भतः । तत्र द्वीपसमुद्राः स्युः सूत्रद्वितयवर्णिताः ॥ १ ॥

जिस कारणसे अधोलोकमें सात नीचे नीचे भूमियां कही जा चुकी हैं। अतः बिना कहे ही सामर्थ्यसे अर्थापत्था मध्यलोक जान लिया ही जाता है। अर्थात्—अधोलोकसे ऊपर ऊर्ध्वलोक नियत ही है। तथा ऊर्ध्व और अधःके बीचका मध्यलोक विना कहे यों ही समझ लिया जाता है। उस मध्यलोकमें अनेक दीप, समुद्र, हो सकते हैं जो कि सूत्रकारने उक्त दो सूत्रोंसे वर्णित कर दिये हैं।

ऊर्ध्वाधोलोकवचनसामर्थ्यान्मध्यलोकस्तावद्गत एव यस्मादघोरत्नभायाः सप्तभूमयः प्रतिपादितास्तास्मन् मध्यलोके द्वीपसमुद्राः संक्षेपादभिष्टिताः सूत्रद्वयेन प्रपंचतोसंख्येयास्ते यथागमं प्रतिपत्तच्याः।

उर्घ्न छोक और अधोछोक्को कथन कर देनेकी सामर्थ्येसे मध्यलोक तो अपने आप जान छिया जाता ही है जिस कारणसे कि अधोछोक्कों राजप्रभा आदिक सात भूमियां कही जा चुकी हैं। उस मध्यलोकमें दीप समुद्र हैं जो कि संक्षेपसे दो सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं विस्तारसे कथन करनेपर वे द्वीप समुद्र पश्चीस कोटा कोटी उद्धार पत्योंके समय प्रमाण नियत संख्या-वाछे असंख्यात हैं। उनको आसोक्त आगम अनुसार समझ छेना चाहिये। छत्रण समुद्रका जल ऊंचा उठा हुआ है, पुष्कर द्वीपके मध्यमे मानुषोत्तर पर्वत पढ़ा हुआ है, नन्दीश्वर द्वीपमें सोलह बावडी और बावन जिन चैत्यालय अनादि निधन बने हुये हैं, ढाई द्वीपसे बाहर तिर्थक्लोकमें जवन्य भोगभूमिकी सी रचना है। अन्तिम आवे द्वीप और अन्तके समुद्र तथा मध्यलोककी त्रसनालीके चारो कोनोंमें कर्मभूमिकीसी प्रक्रिया है। मोक्षमार्गकी व्यवस्था नहीं है। तथापि पांचवें गुणस्थानको भी धारनेवाले असंख्य तिर्थेच वहां स्वयंप्रभ पर्वतके परली ओर पाये जाते है, इत्यादिक विशेष व्याख्यानको आकर प्रन्थोंक अनुसार समझ छेना चाहिये।

क पुनरयं जंबृद्वीपः कीदृशश्रेत्याह ।

यह जम्बूद्वीप फिर कहां और किस प्रकारका व्यवस्थित हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको कहते हैं |

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबुद्वीपः

उन सम्पूर्ण पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप विराजमान है और उस जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमे सुमेरुपर्वत नाभिके समान व्यवस्थित है। जम्बूद्वीप थाळीके समान गोल है। और एक लाख योजन चौडा है।

तच्छद्वः पूर्वद्वीपसग्रद्रनिर्देशार्थः । जंबद्वीपस्य निर्देशप्रसंगः पूर्वोक्तत्वाविशेषादिति चेत्, तस्य प्रतिनियतदेशादितया प्रतिपाद्यत्वात् तत्परिक्षेपिणामेव परामर्श्वोपपत्तः । ति पूर्वोक्तसग्रु-द्रद्वीपनिर्देशार्थस्तच्छद्व इति वक्तव्यं जंब्द्वीपपरिक्षेपिणां सग्रद्वादित्वादिति चेन्न, स्थितिक्रमस्या विवक्षायां पूर्वोक्तद्वीपसग्रद्वनिर्देशार्थ इति वचनाविरोधात्, यत्र क्रुत्रचिद्वस्थितानां द्वीपानां सग्रद्वाणां च विवक्षितत्वात् । द्वीपश्रद्धस्यान्याच्तरत्वाच द्वंद्वे पूर्ववचनेपि सग्रद्वाद्य एवार्थान्त्या-यात् परामृश्यंते । तत इद्युक्तं भवति तेषां सग्रद्वादीनां मध्यं तन्मध्यं तिस्मिन् जंब्द्वीपः ।

सूत्रमें पड़ा हुआ तत् शह तो पूर्वमें कहे जा चुके द्वीप, समुद्रों, का परामर्श करनेके लिये है। यहां कोई शंका करता है कि जब पूर्वमें कहा जा चुकापन जम्बूद्वीपमें विशेषतारहित है तो जम्बूद्वीपके निर्देश हो जानेका भी प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—तत् शद्ध करके जब सभी द्वीप समुद्रोंका आकर्षण हो जाता है तब तो अन्यद्वीप समुद्रोंके समान उस जम्बूद्वीपके मध्यमें भी जम्बूद्दीपके विराजनेका प्रसंग आता है, जो कि असंगत है । कैसा भी नरम वस्त्र होय या छोटा घडा होय स्वयं अपने मध्यभागमें पूरा नहीं समा सकता है । निश्चयनयसे भी अपने परिपूर्ण निजस्वरूपमें भले ही पदार्थ ठहर जाय, किन्तु अपने किचित् मध्यभागमें तो कोई वस्तु नहीं ठहर पाती है। यों शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि प्रतिनियत हो रहे देशमें स्थित होने या प्रतिनियत आकार लम्बाई, चौडाई, आदि रूप करके वह जम्बूदीप तो जब समझाने योग्य ही हो रहा है। अतः उस जम्बूद्धीपको घेरे रहनेवाले समुद्र और द्वीपोंका द्वी तत् राद्व द्वारा परामर्श होना युक्त है । जैसे कि प्रन्थके बीचका पत्र निकाल लो या पत्तीस विद्यार्थियोंके बीचके विद्यार्थीको बुला लाओ । यहां प्रतिपादनीय नियत व्यक्तिको अगण्य कर शेष बहुभागका मध्य पकड छिया जाता है। पुनरिप किसीका आक्षेप है कि तब तो पूर्वोक्त समुद्र और द्वीपोंके निर्देशके लिये तत् शद्ध है यों कहना चाहिये था । क्योंकि जम्बूदीपको परिक्षेप (घेरा) करनेवाले द्वीप, समुद्रोंमें सबका आदिभूत लवण समुद्र है । अतः उन समुद्र और द्वीपोंक मध्यमं जम्बूद्वीप है, यह कहना ठीक है । किन्तु उन द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है यों कहनेपर तो पहिले द्वीपपदसे जम्बूद्वीप ही पकडा जायगा । ऐसी दशामें जम्बूद्रीपके मध्यमें स्वयं जम्बूद्रीपका विराज जाना होनेसे हमारी पूर्वोक्त आत्माश्रय दोषवार्छ, शंका परिपृष्ट हो जाती है। पहिले द्वीपपदसे यदि घातकी खण्ड लिया जाय तब तो छवण समुद्र द्वारा जम्बूद्वीपका विरा रहना छूट जायगा । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्वीप, समुद्रों की स्थितिके कमकी नहीं विवक्षा करते सन्ते पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके निर्देशके लिये तत् शद्ध है। इस हमारे वचनका कोई विरोध नहीं आता है। जहां भी कहीं आगे या पीछे अवस्थित हो रहे द्वीप और समुद्रोंकी विवक्षा यहां उपजायी गयी है। अतः भळे ही जम्बुद्वीपको सबसे पहिले घेरनेवाला लवण समुद्र है, तो भी इस स्थितिके क्रमका विचार नहीं कर श्री उमास्वामी महाराजने उन द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीपका विन्यास हो रहा कह दिया है। यद्यपि जम्बूद्वीपको घेरनेवाले द्वीप और समुद्रोंमें द्वीपोंकी अपेक्षा समुद्रोंकी संख्या एक अधिक है। तथा सबकी आदिमें जम्बूद्वीपका घेरा देनेवाला भी समुद्र ही है । सबके समृद्र पड़ा हुआ सब को घेर रहा है, फिर भी हम क्या करें व्याकरणके नियमोंकी अधीनतासे शद्बीका उच्चारण करनेके लिये इम या सूत्रकार महाराज पराधीन हैं। दंद समासमें जिस पदमें अल्पसे अल्प अच् (स्वर) होंगे वह पद पहिले आजायगा । चाहे द्वीप और समुद्र यों समास करो अथवा अपनी इच्छानुसार समृद्र और द्वीप यों इतरेतर योग करो द्वीप शद्भका पहिले निपात होकर

" द्वीपसमुद्ध " शद्ध बन जाता है । तेलमें सिललके डालनेपर या जलमें तेलको गिरा देनेपर तेल ही उपर आजायगा । यहां भी समुद्ध शद्धमें तीन स्वर हैं और द्वीप शद्धमें दो अच् हैं अतः अल्प अच् सिहतपना होनेसे भले ही शद्धसंबंधी न्यायसे दंद्धमें द्वीप शद्धका पूर्वमें उच्चारण होजाय तो भी अर्थसम्बन्धी न्यायसे द्वीप समुद्रपदसे समुद्र आदिका ही परामर्श किया जाता है । तिस कारणसे सूत्रकार द्वारा यह कह दिया गया समझा जाता है कि उन समुद्र आदिकोंके मध्यको इस सूत्रमें तन्मध्यपदसे लिया गया है । उन समुद्र आदिकोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है। यचि " जंबूद्वीपलत्रणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्धाः " इस सूत्रमें शद्धशाक्ष और अर्थशाक्ष दोनोंके अनुसार द्वीपसमुद्धाः कहना शोभता है । अन्यथा जम्बूद्वीपको समुद्रपना और लत्रणोदको द्वीपपना प्राप्त हो जायगा । फिर भी " द्विद्विविक्तंमाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः " और " तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्र-विष्कंभो जम्बूद्वीपः " इन दोनों सूत्रोंमें अर्थसम्बन्धी न्यायके अनुसार समुद्र, द्वीप, यो समाम्नाय करनेसे समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है । यथायोग्य सन्तोष हो जानेपर फिर भी कुचोद्योंका तांता नहीं तोडनेके लिये सदा मुंह उठाये रखना गम्भीर शास्त्रीय विद्वानोंको शोभा नहीं देता है ।

स च मेरुनाभिरुपचरितपध्यदेशस्थमेरुत्वात् । दृतो न चतुरस्नादिसंस्थानः । तत्परि-क्षेपिणां बलयाकृतिवचनादेव तस्य दृत्तत्वं सिद्धामिति चेन्न, चतुरस्नादिपरिक्षेपिणामिप बलया-कृतित्वाविरोधात् । योजनञ्जतसहस्रविष्कंभ इति बचनात् तद्विग्रणदिग्रणविष्कंभादिनिर्णयः शेषसमुद्रादीनां कृतो भवति । एवं च ।

और वह जम्बूदीप उमरी हुई नामिके समान मेरुको मध्यमें बार रहा है। क्योंकि उसके उपचारसे माने गये मध्यदेशमें मेरु स्थित हो रहा है। मेरुस्थानको जम्बूदीपका उपचारसे मध्यमाग यों माना गया है कि लोकका मध्य तो सुदर्शन मेरुके जडमें केन्द्रीभूत हो रहे आठ प्रदेश है। अतः मध्यलेक स्वयं ऊर्ध्वलोकमें विराज रहा उपचरित है। अधोलोकसे ऊपर और ऊर्ध्वलोकके निचले भागमें सात राजू लम्बे, एक राजू चौडे और मेरुसम ऊंचे स्थानको यदि मध्यलोक माना जाता है तो इसका ठीक मध्य भी मुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित आठ प्रदेशोसे पचास हजार वीस ५००२० योजन ऊपर चलकर चार प्रदेश मिलेंगे। जहां कि जम्बूद्वीप कथमपि विद्यमान नहीं है, वहां तो सुदर्शन मेरु खडा हुआ है। हां, ऊर्ध्व अधो दिशाका लक्ष्य नहीं कर केवल मध्यलोकके निचले हजार योजन दुकडेकी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, चार ही दिशाओंका मध्यभाग लिया जाय तो जम्बूदीपको मध्यमें स्थित हो रहा कह सकते हैं। क्षा पृथिवीके उपरिम मध्यवर्ती समतल प्रदेशोंपर मेरु पर्वत धरा हुआ है, वह लोकका मध्य मले ही कह दिया जाय, किन्तु वंह स्थल जम्बूदीपका मध्य तो कथमपि नहीं कहा जा सकता है। अतः मेरुके (मेरुकी जडके) ठहरनेके स्थानको जम्बूदीपका मध्य उपचारसे माना गया है। वह जम्बूदीप

" वृत्तः " यानी चकरेके समान गोल है। गेंदके समान गोल या चौकौर, तिकोना, आदि संस्थानोंको धारनेवाला नहीं है। यहां कोई आक्षेप करता है कि उस जम्बूद्वीपका घेरा देकर फैल रहे द्वीप सम-दोंकी आकृतिको पूर्व सूत्रमें कंकण के समान कह देनेसे ही उस जम्बूदीपका चाकीके समान गोल्पना स्वतः सिद्ध हो जाता है । पनः इस सत्रमें ''वृत्तः '' यानी रुपयाके समान गोल कहनेकी क्या आवश्य-कता है। प्रनथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि चौकोर, छह कोन, तिकोने आदि आकार-वाले पदार्थको धरा देनेवाले अन्य द्वीप समझोंके भी कंकण आकृतिधारीपनका कोई विरोध नहीं है। जैसे कि चौकोर प्रासादको गोल बेदिकासे घेरा जा सकता है। गोल फैली हुई गढकी ऊंची भीतोंसे भीतरके तिकोने, छइ पैछ महल या कोठियां भी घेर ली जाती हैं। गोल सूर्य मण्डलपर अनेक चौकोर महल बने हुये है। भले ही कुछ स्थान रीता पडा रहा रहे, इससे हमें क्या प्रयोजन है ! घेर-नेवाला पदार्थ दूरवर्ती गोल होकर मध्यवत्ती कैसे भी तिकाने, चौकाने, पदार्थको परिक्षेप कर बैठेगा। देखो छह कुलाचलों या देवारण्य, भूतारण्यको, जम्बूदीपकी बेदिका वेढ रही है, अतः जम्बूदीपकी। ठीक रचनाको समझानेके लिये इस सूत्रमें बृत्त राद्ध कहा है। इस सूत्रमें यों सौ हजार (एक लाख) योजन चौडे जम्बुद्वीपका कथन कर देनेसे शेष बचे हुये समुद्र आदिकोंकी उस जम्बुद्वीपसे दुगुनी दग्नी, चौडाई और पूर्व पूर्वका परिक्षेप करना आदिका निर्णय कर दिया समझ लिया जाता है। अर्थात् - रोष समुद्रोंकी दूनी दूनी चौडाई किसकी अपेक्षासे समझी जाय ! इसके छिये पहिले जम्बू-द्वीपको एक छाख योजन चौडा कहा है । द्वीप समुद्रोंकी दूनी दूनी चौडाई तो प्राम, नगर, नदी, पर्वत, आदिके समान रचना होनेपर भी सम्भव जाती है। अतः " पूर्वपूर्वपरिश्लेपिणः " कहना सार्थक है तिकान, चौकान, होम कुण्डोंकी कटनियोंके समान दूनी दूनी चौडाई या पूर्व पूर्वको घेरे रहना तो त्रिकोण, चतुष्कोण पदार्थका भी संभव जाता है। अतः द्वीप समुद्रोंकी आकृति वलयके समान कहना वस्तुस्थितिका द्योतक है और यों इस प्रकार जम्बुद्रीपका वर्णन कर देनेपर:---

तन्मध्ये मेरुनाभिः स्याज्जंबुद्वीयो यथोदितः। सुत्रेणैकेन निःशेषकुमतानां व्ययोद्दनात्॥१॥

उन समुद्र द्वीपोंके मध्यमें मेरुको नामिके समान धारनेवाला जम्बूद्दीप है जो कि आर्ष आम्नाय अनुसार इमने एक सूत्र करके स्पष्ट बखान दिया है, इतनेसे ही सम्पूर्ण खोटे मतोंका निरा-करण होजाता है।

सकस्मर्वयैकांतिनराकरणे हि न्यायवलादिहिते स्यादाद एव व्यवतिष्ठते परमागमः, स च यथोदितजंबृद्दीपमकाशक इति भवेदेवं सूत्रितो जंबृद्दीपः सर्वथा बाधकाभावात् अत्र ।

सर्वथा एकान्तवादी पण्डितमन्योंके सम्पूर्ण एकान्त मतोंका न्यायकी सामध्यीसे निराकरण कर चुकनेपर जिनोक्त स्यादाद सिद्धान्त ही परम आगम व्यवस्थित होजाता है, और वह आसोक्त आगम

ही आम्नायका अतिक्रमण नहीं कर कहे जा चुके जम्बूद्वीपका प्रकाशक हो सकता है। इस प्रकार एक सूत्र द्वारा जंबूद्वीपका यों सूचन कर दिया जा चुका है। क्योंकि इस आगममें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंका अभाव है।

तत्र कानि क्षेत्राणीत्याह ।

उस जंबूदीपमें कितने निवासक क्षेत्र हैं ? ऐसी विनीत शिष्यकी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि॥

उस जंबूद्वीपमें छह कुलाचलोंसे विभक्त होरहे भरत वर्ष १ हैमत वर्ष २ हरिवर्ष ३ विदेह वर्ष ४ रम्यक वर्ष ५ हैरण्यवत वर्ष ६ और ऐरावत वर्ष ७ ये सात क्षेत्र पूर्व पश्चिम लंबे और उत्तर, दक्षिण, चौडे व्यवस्थित होरहे हैं ।

भरतक्षत्रिययोगाद्धरतो वर्षः अनादिसंज्ञासंबंधत्वाद्वा आदिमदनादिरूपतोपपत्तेः । स च हिमबत्सश्चद्रत्रयमध्ये ज्ञेयः । तत्र पंचाश्चोजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिविजयार्धोन्वर्थः सकलचकथरविजयस्यार्धसीमात्मकत्वात् ।

दक्षिण ओरके पहिले क्षेत्रकी " भरत " यह संज्ञा कैसे बन रही है ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक अवसर्विणीके चौथे नालकी आदिनें भरत नामका पहिला चक्रवर्ती इसके छह खण्डोंको भोगता है । अतः भरत नामके क्षित्रियात स्वस्वामिभाव सम्बन्ध हो जानेसे पहिले क्षेत्रको भरतवर्ष कहते हैं, अथवा दूमरा सिद्धान्त उत्तर यह है कि जगत् अनादि है, अनादिकालीन निज परिणतिके अनुसार इसकी भरतसंज्ञा चली आ रही है । वैयाकरणोंने जैसे शद्धके व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो पक्ष स्वीकार किये हैं, मीमांसक और मांत्रिकोंने तो शद्धकी अनादितापर ही सन्तोष प्रकट किया है । उसी प्रकार भरतक्षत्रियके योगसे आदिमान् स्वरूपसे सहितपना अथवा अनादिकालीन संज्ञाका सम्बन्ध हो जानेसे भरतवर्षको अनादिस्वरूपपना समुचित समझ लिया जाता है । वह भरतवर्ष नो उत्तर दिशामें हिमवान् और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, दिशाओंमें तीनो औरसे घर रहे तीन समुद्रोंके मध्यमे विराज रहा जान लेना चाहिये । उस भरतक्षेत्रके ठीक बीचमें फैल रहा पूर्व, पश्चिम, लम्बा और दक्षिण उत्तर पचास योजन चौडा तथा उससे आधा पचीस योजन ऊंचा एवं एक कोससहित छह योजन यानी सवा छह योजन गहरा रजतबहुल एक विजयाई नामक पर्वत है जो कि सम्पूर्ण चक्रवर्तीके विजयकी आधी सीमा स्वरूप होनेसे " विजयाई " इस अन्वर्य नामको धारता है । अर्थात् उसका नाम अपने वाच्य अर्थको लिये हुवे ठीक घट जाता है ।

हिमवतोऽदूरभवः सोस्मिनस्तीति वा हैमवतः स च श्रुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये श्रद्धवान् वृत्तवेदाङ्यः। इरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः स निषधमहाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये विकृतवान् वेदाङ्यः । विदेइयोगाञ्जनपदेपि विदेइव्यपदेशः निषधनीलवतोरंतरे तत्संनिवेशः । स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात् । रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानं नीलक्षिम-णोरंतराले तत्संनिवेशः तन्मध्ये गन्धवान् वृत्तवेदाङ्यः । हिरण्यवतोऽद्रभवत्वाद्धरण्यवतव्य-पदेशः रुविमशिखरिणोरंतरे तद्विस्तारः तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाङ्यः । ऐरावतक्षत्रिययोगादैरावताभिधानं शिखरिसमुद्रत्रयांतरे तद्विन्यासः, तन्मध्ये पूर्वविद्विजयार्धः ।

हिमवान् पर्वतसे जो दूर नहीं किन्तु निकटमें विद्यमान हो रहा हैमवतक्षेत्र है अथवा वह हिमवान पर्वत जिस देशमें है वह हैमवत नामक वर्ष है। हिमवान शहसे " अदूरभवश्व " या '' तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि '' सूत्रोद्वारा अणुप्रस्यय करनेपर '' हैमवत '' जाता है और वह हैमहतक्षेत्र तो लघु हिमवान् पर्वतसे उत्तरकी ओर और महाहिमवान् पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यमें तिष्ठा है। उस हैमवत क्षेत्रके मध्यमें शहूवान् नामका वृत्तवेदाव्य पर्वत है। ढोलके समान गोल होनेसे वृत्त माना गया है । इसकी प्रदक्षिणा देकर रोहितास्या नदी पश्चिम समुद्रकी ओर वहीं जाती है और प्रदाक्षिणा करती हुई रोहित नदी पूर्वभी ओर वह जाती है। हरि यानी सिंह के वर्णसमान शक्ल वर्णवाले मनुष्यों के योगसे हरिवर्ष क्षेत्र विख्यात होरहा है । वह हरिवर्ष निष्य पर्वतके दक्षिणकी ओर और महाहिमजानके उत्तरकी ओर तथा पूर्व पश्चिम छवरा समुद्रके अन्तराङ्में स्थित है। उस हरिवर्षके मध्यमें विकृतवान नामका ढील समान गोल वेदाह्य पर्वत है। हरिकान्ता नदी आधा योजन दूरसे उसकी प्रदाक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्रकी ओर चर्छा जाती है और हारित नर्द। इस वेदाव्यकी प्रदक्षिणा कर पूर्वकी ओर वह रही है। विदेहके योगसे देशमें भी विदेह यह नाम-निर्देश कर दिया जाता है। अर्थात्-वहां सर्वदा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति बनी रहनेने अनेक मनुष्य कर्म-बन्धका उच्छेद कर देहरहित होजाते हैं। मुनिवर इस स्थूल देह और सून देहका उच्छेद करनेके लिये प्रयत्न कर रहे विदेहपनको प्राप्त होजाते हैं । अतः मुनियोंमें रहनेवाला विदेहत्व धर्म तद्धिकरण क्षेत्रमें भी उपचरित होरहा है, जैसे कि यष्टित्व धर्मको यष्टिवान देवदत्तमें धर दिया जाता है। दक्षिणमें निषध और उत्तरमें नीलवान् पर्वत और पूर्व, पश्चिम, लवण समुद्रके अन्तरालमें उस विदेह क्षेत्रका सिनिवेश है । वह विदेहक्षेत्र पूर्व विदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु, उत्तर कुरु,इस प्रकार चार प्रकारका है । सुदर्शन मेरुसे पूर्व दिशामें बाईस हजार योजन चौडे भद्रसाल बनका उल्लंघन कर सीता नदीके दक्षिण उत्तरमें आठ आठ विदेह हैं। इसी प्रकार सुदर्शन मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर सीतोदा नदीके दोनों ओर आठ आठ विदेह हैं। यों एक मेरुसम्बन्धी बत्तीस विदेहोंकी रचना है। तथा रमणीय देशों, नदी, पर्वत, वन, आदि करके युक्त होरहा होनेसे पांचवे देशका रम्यक यह नाम निर्देश है । नील पर्वतसे उत्तर और रुक्मी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्वापर समद्रोंके अन्तरालमें उस रम्यक देशकी रचना होरही है। उस रम्यकके मध्यमें गन्धवान नामका वृत्तवेदाक्य पर्वत है जिसकी प्रदक्षिणा कर नारी, नरकान्ता, निदयां पूर्व, पश्चिम, समुद्रकी ओर बह जाती हैं। दूसरे रुक्मी नामको धारनेवाले हिरण्यवान् पर्वतसे जो अदूर होरहा है, इस कारण उस छठे क्षेत्रका नामनिर्देश हैरण्यवत है। रुक्मीसे उत्तर और शिखरी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्व, पश्चिम, समुद्रों के मध्यमें उसका विस्तार (चौडाई छम्बाई) समझ छेना चाहिये। उस हैरण्यवतके मध्यमें माल्यवान् नामका वृत्त वेदाव्य शैल है। जिसके कुछ भागोंकी प्रदक्षिणा देकर सुवर्णकूला, रुप्यकूला, निदया पूर्व और पश्चिम समुद्रकी ओर बही जा रहीं हैं। भरतके समान ऐरावत नामक चक्रवर्तीके सम्बन्धसे सात्रवें क्षेत्रका नाम ऐरावत है। शिखरी पर्वतसे उत्तर और तीनों ओर समुद्रोंके मध्यमें उसकी रचना वन रही है। उस एरावतके मध्यमें मा पहिले भरतक्षेत्रके विजयार्ध समान एक पूर्व, पश्चिम छंवा विजयार्ध पर्वत पडा हुआ है।

किमर्थे पुनर्भरतादीनि क्षेत्राणि सप्तोक्तानीत्याह ।

महाराज फिर यह बताओ कि अतिरिक्त सूत्र द्वारा ये भरत आदिक सातक्षेत्र भला किस लिये कहे गये हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक वार्त्तिकको कहते हैं ।

क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु । सूत्रेणोक्तानि तत्संख्यां हंतुं तीर्थ(र्थि)ककल्पिताम् ॥ १ ॥

पौराणिक या अन्य दार्शनिक पण्डितों द्वास कल्पना की गयी उन क्षेत्रोंकी संख्याका घात करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने इस न्यारे सूत्र करके तो उस जम्बूदीपमें भरत आदि सात क्षेत्र निश्चित रूपसे कह दिये हैं।

कुतः पुनस्तीर्थककित्यता क्षेत्रसंख्यानेन प्रतिहन्यते वचनस्याविशेषात् स्याद्वादाश्रयत्वा-देतद्वचनस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः संवादकत्वात्सर्वथा बाधवैधुर्यात्सर्वथैकांतवादिवचनस्य तेन प्रति-घातसिद्धेरिति निरूपितप्रायं ।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि अन्य मतावलम्बयों द्वारा कल्पित कर ली गयी क्षेत्रोंकी संख्या भला इस सूत्र करके कैसे प्रतिघात की प्राप्त हो जाती है ? जब कि उनके वचनसे और तुम्हारे वचनका कोई अन्तर नहीं दीख रहा है। उनके वचनोंमें विष और तुम्हारे वचनोंमें अमृत नहीं मरा है। शास्त्र या पत्र भी समान हैं। ऐसी दशामें दोनों ही वचन प्रमाण या दोनों ही समान रूपसे अप्रमाण ठहर जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि स्यादादिसदान्तका आश्रय होनेसे इस श्री उमास्वामी महाराजके वचनको प्रमाणपना उचित हो रहा है। यह सूत्रकारका वचन सम्वादक भी है और सभी अकारकी बाधाओंसे रहित भी है। अर्थात्—बाधवैध्यं होनेसे वचनको सम्वादकपना है और सम्वादक होनेसे स्यादादिसद्वान्तका अवलम्ब लेकर कहे हुये वचनों को प्रामाण्य बन रहा है। इस कारण उस बाधिरेड्र, सम्वारक, प्रमाण मूत और स्यादादात्र उम्बी सूत्र करके सर्वथा एकान्तवादियोंके

वचनका प्रतिघात होना सिद्ध हो जाता है। इस बातका हम बहुत बार स्थान स्थानोंपर निरूपण कर चुके हैं। अनेकान्त वादियोंके प्रमाण कुठारोंकरके सर्वधा एकान्तवादियोंकी बुद्धि शाखायें खण्ड खण्ड होकर नष्ट, अष्ट, कर दी जाती हैं।

जिन पर्वतों करके विभागको प्राप्त किये गये ये सात क्षेत्र कहे जा चुके हैं, यह तो बताओ वे पर्वत कौन और किस ढंगसे व्यवस्थित हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर अप्रिम सूत्र कहा जाता है।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाळी टेवको धार रहे और पूर्व पश्चिमकी ओर लम्बे हो रहे १ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषय ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं। अर्थात् क्षेत्र परस्पर मिल नहीं सकें इस ढंगसे उन क्षेत्रोंका विभाग कर देनेवाले होनेसे पूर्वतोंको वर्षधर कह दिया गया है। अनेक प्रान्तोंमें भूमिके नीचे ऊपर पर्वत फैल रहे हैं। जहां पर्वत अधिक होते हैं वहां भूकम्प न्यून होता है। ज्वालामुखी पर्वत भले ही उच्चाताके वेग होनेसे ही प्रान्तभूमिको कंपा देवें, किन्तु शेष पर्वत तो भूडोलको रोकते रहते हैं। हिंदुयां शरीरको धारे रहती हैं। शरीर हिंदुओंको नहीं धारता है। मेंस या हाथीको पीठके हिंदेपर सम्पूर्ण शरीर लटक रहा है। यही दशा बैल, मनुष्य, घोडा, छिरिया, आदिकी समझ लेनी चाहिये। अतः यों चल, विचल, कम्प, नहीं होने देनेकी अपेक्षा प्रध्वीको धारे रहना कार्य करनेसे भी पर्वतोंकी वर्षधर संज्ञा अन्वर्थ कही जा सकती है।

हिमाभिसंबंधतो हिमबद्यपदेशः भरतहैमवतयोः सीमनि स्थितः, महाहिमबिश्नित चोक्तं हैमवतहरिवर्षयोर्भागकरः, निर्पादंति तस्मिश्निति निषधो हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः, नीलवर्णयो-गाश्नीलन्यपदेशः विदेहरम्यकविनिवेशविभाजी, रुक्मसद्भावतो रुक्मीत्यभिधानं रम्यकहैरण्य-वतविवेककरः, शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा हैरण्यवतैरावतसेतुबंधः शिखरी।

हिम (वर्फ) का चारों ओर सम्बन्ध होनेसे पहिले पर्वतका " हिमवान् " यह नाम निर्देश हो रहा है। अन्य पर्वतोंमें या इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी आर्य खण्डके हिमालय पर्वतमें भी हिमका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः रूढि पक्षका अवलम्ब लेना ही सन्तोषाधायक है। यह हिमवान् पर्वत तो भरत क्षेत्र और हैमवत क्षेत्रकी सीमामें व्यवस्थित हो रहा है। तथा महाहिमावान्के सम्बन्धमें हम यों कह चुके हैं कि हिमके सम्बन्धसे हिमवान कहा जाता है, महान् जो हिमवान वह महा-हिमवान् है। मले ही हिम नहीं होय तो भी रामकी गुडियाके समान नाम रख देनेमें कौनसी भारी क्षति हुई जाती है। हैमवत क्षेत्र और हरिवर्षका विभाग कर रहा यह महाहिमवान् पर्वत विन्यस्त है। देव और देवियां तिसमें क्षीडा करनेके लिये विराजते हैं, इस कारण पर्वहका नाम निषध है, जो कि रूपि होरहा हरि और विदेह क्षेत्रकी मर्यादाका हेतु है। नील वर्णका सम्बन्ध होनेसे पर्वत नील कहा जाता है, जो कि विदेहके उत्तर और रम्यकके दक्षिण भागमें विनिवेशको प्राप्त होरहा विदेह और रम्यक क्षेत्रका विभाजक है। रुक्म यानी सुवर्णका सद्भाव होनेसे पांचवें पर्वतका रुक्मी ऐसा नाम पड गया है जो कि रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रके पृथग्भावको कर रहा है। शिखर यानी क्टोंके सद्भावसे छड़े पर्वकी शिखरी यह संज्ञा है। जो कि हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रका माना पुल ही बंधा हुआ है, ऐसा शिखरी पर्वत शोभ रहा है। इन सम्पूर्ण पर्वतों के नाममें योगिक अर्थ गोण है, रूढि अर्थकी प्रधानता है।

हिमबदादीनामितरेतरयोगे दृंद्रो अवयवमधानत्वात्, वर्षघरपर्वता इति वचनमवर्षघराणां वर्षघराणां पर्वतानामपर्वतानां च निरासार्थे। तद्विभाजिन इति वचनात् भरतादिवर्षविभाग-हेतुत्वासिद्धिः, पूर्वापरायता इति विशेषणादन्यथायतत्वमनायतत्वं च व्युदस्तम्।

हिमवान, महाहिमवान आदि शद्धोंका इतरेतर थाग होनेपर इंद्र समाप्त होजाता है। क्योंकि " सर्वेपदार्थप्रधानो ढंढः " ढंढ समासके सम्पूर्ण घटकावयव पद प्रधान हुआ करते हैं। इस सूत्रमें ''वर्षघर-पर्वताः " यह निरूपण करना तो अवर्षधर पर्वत और वर्षधर अपर्वतींका निराकरण करनेके लिये हैं। अर्थात-व्यभिचार निवृत्ति करनेवाले विशेषणोंको सार्थक समझा जाता है। " नीलोत्पर्ल " यहां नील कमळमें नील शद्ध तो अनील उत्पलों यानी लाल, क्षेत कमलोंकी न्यावृत्ति कर रहा है। और उत्पल शद्ध तो नील होरहे अनुत्पलों जामुन, भोरा आदिकी निवृत्ति करनेको चिल्ला रहा है। इसी प्रकार जंब-द्वीपमें कई पर्वत, यमकगिरी, शद्भवान, विकृतवान, गन्धवान, मान्यवान, गन्धमादनगजदंत, सीमनसगजदंत, सुदर्शन मेरु ये पर्वत होते हुये भी क्षेत्रींके विभाजक नहीं होनेके कारण वर्षधर नहीं हैं। अतः अवर्षधर पर्वतोंका व्यवच्छेद करनेके लिये हिमवान महाहिमवान आदिमें वर्षधर पर्वतपनेका विधान सार्थक है, तथा इसी जंबूद्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंके उत्तर, दक्षिण, भागोंका विभाग जैसे इन हिमवान आदि पर्वतोंने किया है, उसी प्रकार उक्त श्वेत्रोंके पूर्वापर विभागको करनेवाले पूर्वापर ळवण समुद्र भी तो है। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंका तो तीनों ओरसे समुद्रने विभाग कर रक्खा है। विदेह क्षेत्रमें बढ़े भद्रसाल वनके साथ देवकुरु, उत्तरकुरुका विभाग गजदंत पर्वतोंने कर रक्खा है । इसी भरतमें दक्षिणभरत या उत्तरभरतके विभाजक विजयार्थ और षटुखण्डोंका विभाग करनेवाली गंगा सिन्धु नदियां भी हैं। जम्बुद्धीपके बत्तीस विदेहोंमें वत्सा, सुवत्सा, आदि एक एक जनपद ही भरत और ऐरावत क्षेत्रोंसे कई गुना बढा है, जिनको कि वक्षार पर्वत या विभंगा नदियोंने न्यारा २ विभक्त बना रक्खा है। इस युक्ति द्वारा पर्वत भिन्न समुद्र आदि भी वर्षधर माने जा सकते हैं। अतः वर्षधर पर्वत कह देनेसे हिमवान आदिमें वर्षधर अपर्वतपनेका निराकरण हो जाता है। इस सूत्रमें " तद्विभाजिन: " यो कथन कर देनेसे हिमनान आदि पर्वतोको भरत आदि क्षेत्रोंके विभागका हेतुपना सिद्ध हो जाता है तथा " पूर्वापरायता " पूर्व, पश्चिम, लम्बे इस विशेषणासे दूसरे ढंगका लम्बाईपन और लम्बाई रहितपनका न्युदास कर दिया गया है । अर्थात् - ये पर्वत पूर्व

पश्चिमकी ओर छम्बे पड़े हुये हैं, दक्षिण उत्तर या विदिशाओंकी ओर छम्बे नहीं हैं। तथा ये पर्वत छम्बे नहीं होकर गोछ चौकोर, तिकोने, आकारवाछे होय, इस सम्भावनका भी आयतपदसे प्रत्याख्यान हो जाता है। अतः ये विशेषण उन पर्वतोंकी ताहश सिद्धि करनेमे सद्धेतु बना छिये जांय या उन छक्ष्यभूत पर्वतोंके निर्दोष छक्षण भी बना छिये जांय तो कोई क्षति नहीं होगी। इस बातका हम जैन न्यायसिद्धान्त अनुसार ढिंढोरा पीटनेके छिये संनद्ध हैं।

कि परिणामास्ते इत्याह ।

वे पर्वत किस धातुके बने हुये परिणाम यानी विवर्त हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको बोळते हैं ।

हेमार्ज्जनतपनीयवैद्धर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

ये हिमनान्, महाहिमनान्, आदि पर्वत यथाकमसे हेममय, अर्जुनमय, तपनीयमय, वैडूर्य-मय, रजतमय, हेममय है। विकार या प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्यय किया है। इन पर्वतोंके वर्ण विशेष भी उन उन धातुओंके रंगके समान हैं। अवयव या विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय हो जाता है।

हेममयो हिमवान्, अर्जुनमयो महाहिमवान्, तपनीयमयो निषधः, वैद्वर्यमयो नीलः, रजतमयो रुक्मी, हेममयः शिखरीति । हेमादिवरिणामा हिमबदादयः तथानादिसिद्धत्वादन्य-थोपदेशस्य परमागममतिहतत्वाद ।

चीन देशीय कोंशेयके समान वर्णको धारनेवाला हेममय हिमवान् पर्वत है। अर्जुन जातिक सुवर्ण समान रंगको धारनेवाला महाहिमवान् पर्वत शुक्लवर्णका अर्जुनमय है, तपनीय जातिक सुवर्णकी प्रचुरताको धारनेवाला निषध है, जो कि मध्याह्क लालके सूर्वकी प्रभा समान आभाको धारता है, मयूरप्रीवाके वर्ण समान वैद्वर्थमणिमय नीला नीलपर्वत है, चांदीका विकार हो रहा शुक्र रुक्मी पर्वत है और हिमवान्के समान हेममय थोडा पीला चीनाई रेशमके समान कान्तिको धारनेवाला हिममय शिलरी पर्वत है। अर्थात्—वर्तमानमें सुवर्ण स्थूलतासे एक प्रकारका प्राप्त हो सहस्रनाममें भगवान् के शरीर कान्तिकी परनिमित्त या स्वयं भिनताओं को धारनेवाली मानकर कई जातिके सुवर्णोसे उपमा दी गयी है। "भर्माभः, सुप्रभः, कनकप्रभः, सुवर्णवर्णों, रुक्मामः, सूर्यको-टिसमप्रभः, तपनीयनिभरतुंगो वालाक्तिभोऽनलप्रभः, संन्याश्रव शुक्रिंगाभस्तक्तचामीकर स्वर्णेक ति होरा प्रतीत हो साजान्वनद सुतिः, सुधौतकल्योतश्रीः प्रदीको हारलस्राभः, श्रातक्रमानिभप्रभः, श्रुगनमा जातरूपाभो दीक्तजान्वनद सुतिः, सुधौतकल्योतश्रीः प्रदीको हारलस्रुतिः " इन स्तुतियोंके स्रोकों हारा प्रतीत हो जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेश कान्तियांसे सुक्त है। अले ही अमरकोषमें " स्वर्ण सुवर्ण जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेश कान्तियांसे सुक्त है। अले ही अमरकोषमें " स्वर्ण सुवर्ण

कनकं हिरण्यं हैम हाटकम्, तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्मकर्जुरम्, । चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने, रुक्मकार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽिक्षयाम् " ये उन्नीस पर्यायवाची नाम सोनेके गिनायं हैं। '
फिर भी " जेतियमित्ता सहा तेतियमित्ता हु होंति परमत्या " इस नियम अथवा एवम्भूत नयकी
अपेक्षासे सुवर्णका नानापना अनिवार्य है। यद्यपि आजकल भी प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल, रात्रिके समय
एक ही प्रकारके सुवर्णको देखनेपर परिनिम्तोंसे नाना कान्तियां प्रतीत हो जाती हैं। करकेंद्राके रंग
समान सोना स्वयं भी कान्तियोंको बदलता रहता है। तथापि देखे जा रहे कई जातिकी चांदियां अनेक
प्रकारके सुवर्ण नाना ढंगके हीरकमणियोंका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। शुक्र विमान, सूर्यमण्डल, बृहस्पति, बुधम्रह, या अन्य ताराओंमें मणियोंकी अनेक जातियां प्रत्यक्ष गोचर हैं। अतः इस
विषयमें अभिक विस्तार करना व्यर्थ हैं। ये हिमवान्, महाहिमवान् आदिक पर्वत सुवर्ण आदिके बन
रहे परिणाम है। क्योंकि तिस प्रकारके ही वे अनादि कालके स्वयं सिद्ध हो रहे हैं। यदि अन्य प्रकारोंसे
इनका उपदेश किया जायगा जैसा कि भास्कराचार्य या अन्य पौराणिक विद्वानोंने स्त्रीकृत किया है,
उस मिथ्योपदेशका इस परमागम करके प्रतिवात कर दिया जाता है। अतः सूत्रोक्त व्यवस्थाको
निदींष समझ लीजियेगा।

पुनरपि किं विशिष्टास्त इत्याइ।

फिर भी वे पर्वत किन मनोहर पदार्थोंसे विशिष्ट हो रहे हैं, ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

मणिविचित्रपाइर्वाः ॥ १३ ॥

प्रभाव, कान्ति, शक्ति, आदि अनेक गुणोंसे युक्त होरही मणियों करके विचित्र होरहे पार्श्व-भागोंको धारनेवाले वे पर्वत हैं।

मणिभिर्विचित्राणि पार्श्वाणि येषां ते तथा । अनेन तेषामनादिपरिणाममाणिविचित्रपार्श्वतं प्रतिपादितं ।

जिन पर्वतोंके पस्त्राडे भळा मणियों करके चित्र, विचित्र, हो रहे वे पर्वत तिस प्रकार " मणिविचित्रपार्श्वाः " कहे जाते हैं। इस विशेषण द्वारा उन पर्वतोंका अनादि काळसे परिणाम होरहा यह मणियों करके विचित्र पस्त्राडोंसे सहितपना कह दिया गया समझ छिया जाता है।

तद्विस्तरविशेषप्रतिपादनार्थमाइ।

उन पर्वतोंके विशेष रूपसे विस्तारको प्रतिपादन करनेके छिये श्री उमास्त्रामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १४ ॥

वे हिमवान् आदिक पर्वत ऊपर भाग और मूळ भागमें समान चौडाईको लिये हुये हैं। अर्थात्—भीतके समान ऊपर नीचे बीचमें उनकी चौडाई एकसी है।

च श्रद्धान्मध्ये च, तथा चानिष्टविस्तारसंस्थाननिष्ठाचिः प्रतीयते ।

सूत्रमें पड़े हुये च शह्नसे मध्यमें भी उनका समान विस्तार समझ छेना चाहिये, और तिस प्रकार ऊपर, नीचे, बीच, में तुल्यविस्तारका कथन करनेसे अनिष्ट विस्तारवाछे संस्थानोंकी निवृत्ति प्रतीत होजाती है। अर्थात्—सुमेरुके समान नीचेसे ऊपरकी ओर घटते घटते रहना या विजयार्थके समान कटनियोंका होना अथवा मानुषोत्तर पर्वतके समान एक ओर मीतका आकार और दूसरी ओर ढ़छा हुआ आकार इत्यादि संस्थान इन कुछाचछोंका नहीं है। ये तो पक्की भीतके समान ऊपर नीचे बीचमें तुल्यविस्तारवाछे है।

तदेवं सूत्रचतुष्ट्येन पर्वताः शोक्ता इत्युपसंहराति ।

तिस कारण इस प्रकार उक्त चारों सूत्रों करके कुछाचछ पर्वतोंका वर्णन सूत्रकारने अच्छा कह दिया है। इस बातका श्री विधानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा उपसंहार करते हैं। अर्थात्— '' मणिविचित्रपार्श्वाः '' और '' उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः '' ये दो सूत्र हैं। एक नहीं, दो इनके पूर्वमें हैं यों चार सूत्र हुये।

पूर्वीपरायतास्तत्र पर्वतास्तद्विभाजिनः । षदप्रधानाः परेणैते प्रोक्ता हिमवदादयः ॥ १ ॥

उस जम्बूदीपमें उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पूर्व, पश्चिम, लम्बे पडे हुये ये हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत सूत्रकार द्वारा न्यारे मूत्रों करके अच्छे कहे जा चुके है।

सूत्रेणित पूर्वश्लोकादनुवृत्तिः परेणित सूत्रविशेषणं तेन क्षेत्राभिषायिस्त्रात्परेण सूत्रेण हिमक्दादयः षद्भधानाः पर्वताः मोक्ताः इति संबंधः कर्तव्यः। पूर्वपरायतास्तद्विभाजिन इति विशेषणद्वयवचनं हेमादिमयत्वमणिविचित्रपार्श्वत्वोपरि मूले च तुल्यविस्तारत्वविशेषणान्नामुपलक्षणार्थे । हेमादिमयाः मणिभिविचित्रपार्शः तथोपरि मूले च तुल्यविस्ताराः प्रोक्ताः सूत्रत्रयेण।

इस वार्तिकसे पहिली '' क्षेत्राणि मरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु । सूत्रेणोक्तानि तत्संख्यां हंतुं तीर्थिककल्पिताम् '' उक्त वार्तिक क्षोक्रसे सूत्रेण इस पदकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये । इस वार्ति-कर्मे पडा हुआ '' परेण '' यह शद्ध उस सूत्रका विशेषण हो जाता है । तिस कारण क्षेत्रोंका क्रयन करनेवाले '' मरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि '' इस सूत्रमे परली ओरके

"तिहैमाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवानिषधनोठरुकिमिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः " इस सूत्र करके सूत्रकार द्वारा हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत बहुत अच्छे कहे जा चुके हैं। यों वार्तिकके परोंका सम्बन्ध कर संगत अर्थ कर छेना चाहिथे। पर्वतोंके प्रतिपादक पहिछे सूत्रमें जो पूर्व, पश्चिम, छम्बे और उन क्षेत्रोंका विभाग कर रहे यों पर्वतोंके इन दो विशेषणोंका कथन तो अगछे तीन सूत्रोंमें कहे गये हैम, अर्जुन, आदिका विकारपना और मणियोंसे विचित्र पसवाडोंका धाना तथा ऊपर या जडमें समान विस्तार सहितपना इन तीन विशेषणोंका उपछक्षण करनेके छिये है, जो कि पर्वत श्री उमान्स्वामी महाराजने उत्तरवर्त्ती तान मूत्रों करके हेम आदिके परिणाम और मणियोंसे विचित्र पसवाडेवाछे तथा ऊपर, नीचे, बीचमें, तुन्य विस्तारवाछे यों मछे प्रकार तीन सूत्रों द्वारा कहं जा चुके हैं। अर्थाद्—छक्ष्यकक्ष्यण भावकी अपेक्षा भविष्यके तीन सूत्रोंमें कहे गये प्रमेयका पहिछे सूत्रमें ही आकर्षण कर "तिहिभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमविज्ञष्यनीछक्षिमशिखारिणो वर्षधरपर्वताः "इस पहिछे सूत्रको ही छह कुळाचळोका निर्शेष सर्वाङ्गीण कक्षण समझ छेना चाहिये। वही चारों सूत्रोंकी एक्शवन्यता हो जानेपर निर्कष निक्छता है।

तेषां हिमनदादीनामुपरि पद्मादिहृदसद्भावनिनेदनार्थमाह ।

उन हिमनान् आदि पर्वतोके ऊपर पद्म आदि सरोवरोने. सङ्गावका निवेदन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

पद्ममहापद्मितिगिंछकेसरिमहापुंडरीकपुंडरीका-ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १५ ॥

उन हिमवान, महाहिमवान, आदि छह पर्वतोंके ऊपर ठीक बीचमें यथाक्रमसे पद्म, महा-पद्म, तिंगछ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, इन नामों को धारनेवाले सरोवर हैं।

हिमवत उपरि पद्मो इदः, महाहिमवता महापद्मः, निषधस्य तिर्गिछः, नीलस्य केसरी, रुक्मिणः महापुंडरीकः, शिखरिणः पुंडरीक इति, संबंधो यथाकमं वेदितव्यः। पद्मादिजलकुसुम-विश्वेषसङ्चरितत्वात् पद्मादयो इदा व्यपदिश्यंत, तथा रूढिसङ्गावाद्वा हिमवदादिष्यपदेशवत्।

हिमवान् पर्वतके ऊपर पद्मनामका हृद है । महाहिमवान् पर्वतके ऊपर ठीक बीचमें महापद्म संज्ञक सरोवर है । निषध पर्वतके ऊपर तिर्गिछ नामवाला पद्माकर है । नील पर्वतके ऊपर केसरी अभिधावाला अगाध जल भरा हुआ तड़ाग है । रुक्मी पर्वतपर महापुण्डरीक इस नामका धारी हृद है तथा शिखरी पर्वतके ऊपर पुण्डरीक संज्ञायान् आयतचनुरस्न सरोवर है। इस प्रकार छह पर्वतोंके ऊपर यथाक्रममे छह हदोका सम्बन्ध हो रहा समझ लेना चाहिये। उन ह्रदोंमें विराज रहे और पद्म, महापद्म आदि नामोंको धारनेवाले निशेष कमलोंके सहचरितपनेसे हदोंका भी पद्म, महापद्म, आदि नामों करके निर्देश कर दिया जाता है। अथवा सिद्धान्त उपाय वही है कि जैसे हिमकी या महाहिमकी प्रधानता नहीं कर अनादि कालीन रूढिके सद्भावसे पर्वतोंका हिमवान, महाहिमवान, आदि व्यपदेश है, उसी प्रकार अनादि, अनन्त, रूढिके सद्भावसे इन हदोंका नाम भी पद्म, महापद्म, आदि रूप करके अनादि निधन प्रवर्त रहा है।

पद्मादयो हदास्तेषामुपरि प्रतिपादिताः । सूत्रेणैकेन विज्ञेया यथागममसंशयम् ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने इस एक सूत्र करके उन पर्वतोंके ऊपर पग्न आदि हदोंका शिष्योंकी व्युत्पनिके लिये प्रशस्त प्रतिपादन कर दिया है। विशेष वर्णना युक्त उन पर्वतोंको आगम अनुसार संशयरहित होते हुये समझ लेना चाहिये। अर्थात्—वे पर्वत पूर्व पश्चिम लम्बे हैं, उत्तर दक्षिण चोंडे हैं नाना माणि, सुवर्ण, रजत धातुओंसे उनके तट चितरे गये हैं। उनमें निर्मल स्वच्छ अक्षय जल भरा हुआ है उनके चारों ओर वनखण्ड शोभ रहे है ! जलप्रवाह तोरण आदि कहा कैसे व्यवस्थित हैं ! इन सब बातोंको जिनोक्त आगम अनुसार हृदयंगत कर लेना चाहिये।

तत्र प्रथमो इदः किमायामविष्रंभ इत्याह ।

उन छह हर्दोमें पहिला हर फितनी छम्बाई और चीडाईको धार रहा है ? यो जिज्ञासा हाने-पर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं ।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो हदः ॥ १६ ॥

उन छह हर्दोमें पिहला पद्म नामका हद तो बडे योजनोंसे एक सहस्र योजन लम्बा और उससे आधा यानी पांचसो योजन चौडा है।

सूत्रपाठापेक्षया पथमः पद्मो इदः योजनसहस्रायाम इति वचनादन्यथा तद्दैर्घव्यवच्छेदः, तदर्धविष्कंभ इति वचनात् पंचयोजनशतविष्कंभत्वप्रतिपत्तिरन्यथा तद्विस्तारनिरासः प्रतिपत्तव्यः।

हदों के प्रतिपादक पूर्व सूत्रमें कहे अनुसार पाठकी अपेक्षा करके पहिला गिना गया दक्षिण ओरका पम नामका हद तो सहस्रयोजन लम्बा है, यों कथन कर देनेसे अन्य प्रकारों करके गढ़ ली गयी उसकी दीर्घताका न्यवच्छेद हो जाता है। अर्थात्—पम हद हजार योजनसे न्यून य अधिक लम्बा नहीं है और यह लम्बाई पूर्व पश्चिम है, दक्षिण, उत्तर, की ओर नहीं है। हदके दूसरे विशेषण उससे आधा चौड़ा यों कथन कर देनेसे पांचसी योजन चौड़ाई की प्रतिपात्ति हो जाती है। अतः अन्य प्रकारोंसे कल्पित किये गये उसके विस्तारका निराकरण समझ लेना चाहिये।

किमवयाहोसावित्याह ।

वह पहिला इद कितने अवगाह (गहराई) को धारता है ! ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री जमास्त्रामी महाराज सूत्रको कहते हैं।

दशयोजनावगाहः॥ १७॥

यह पहिला हद दश योजन अवगाहको धार रहा है।

पृथग्योगकरणं सर्वद्रदासाधारणावगाहमतिपस्यर्थे ।

पिंडे पद्म हदकी लम्बाई, चौडाईका सूचन करनेवाले पूर्व सूत्रसे इस सूत्रका पृथक् योग करना तो सम्पूर्ण हदोंके न्यारे न्यारे असाधारण अवगाहोंकी प्रतिपात्ति करानेके लिये हैं।

संस्ययायामविष्कंभावगाहगतया हदः । सूत्रद्वयेन निर्दिष्टः प्रथमः सर्ववेदिभिः ॥ १ ॥

सर्व पदार्थीको जाननेवाले सर्वज्ञोपम श्री उमास्वामी महाराज श्रुतज्ञानीने उक्त दोनों सूत्रोदारा सहस्न, पांचसौ और दश योजनवाली संख्याके साथ लम्बाई, चौडाई, और गहराईको प्राप्त हो रहेपन करके पहिले इदका निरूपण कर दिया है।

सामर्थ्यादेकेन सूत्रेण हिमबदादीनाधुपरि षट्पबादया इदा निर्दिष्टा इति गम्यते, तत्पाठापेक्षया पश्चस्य इदस्य प्रथमत्ववचनात् ।

उक्त दो सूत्रोंमें कहे गये प्रयेयके वर्णनकी सामर्थ्यसे ही " पद्म, महापद्म, तिगंछ, आदि " एक सूत्र करके हिमनान् आदि पर्वतोंके ऊपर छह पद्म आदि इद कहे जा चुके हैं यों वार्तिकमें कहे विना ही समझ लिया जाता है। क्योंकि उसी पंद्रहर्वे सूत्रके पाठकी अपेक्षासे ही तो सोल्ह्वें, सत्र-ह्वें, सूत्र द्वारा वखाने गये पद्म हृदको प्रथमपनका वचन कहा गया है।

अय वन्मध्ये विश्विष्ट परिणामं पुष्करं मतिपाद्यति ।

अबं इसके अनन्तर उन इदोंके मध्यमें अनेक विशेषणौसे युक्त होरहे परिणामको धारनेवाछे पुष्कर जातिके पार्थिव कमळका श्री उमास्वामी महाराज प्रतिपादन करते हैं।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १८ ॥

उस पहिले पद्म इटके मध्यमें एक योजन लंबा, चौडा, वर्तुलाकार कमल है।

द्विक्रोशकर्णिकत्वादेककोशवहल्यपत्रत्वाश्च योजनपरिमाणं योजनं पुष्करं जलकुसुमंतथा-नादिपरिणामाद्वेदितव्यम् । क तत् ? तस्य पश्चाद्वदस्य मध्ये । कमलके बीचका कोष तो दो कोस लंबा, चौडा, गोल है, जो कि कार्णका कही जाती है और इघर उघर चारों ओर एक एक कोस लंबे कई कमलपत्र हैं। इस कारण वह जलका फल कमल तिस प्रकार अनादि कार्डीन पृथ्वी परिणामसे रचा हुआ बढे योजनसे एक योजन लम्बे चौडे परिमाणको घार रहा एक योजनका समझ लेना चाहिये। वह कमल कहां है ? इस आकांक्षाको शान्त करनेके लिये सूत्रकारने " तन्मध्ये" कहा है। अर्थात्—उस पग्नहदके ठींक बीचमें जल तलसे दो कोस उठे हुये नालवाला, वन्नमणिमय जडका धारी, रजतमणिनिर्मित मृणालका धारक, और वैदूर्यमणिके दह नालको धार रहा वह पार्थिव कमल है, वनस्पतिकायका नहीं है। वनस्पतिकाय जीवकी उत्कृष्ट स्थिति केवल दश हजार वर्ष है। किन्तु यह कमल अनादिसे अनन्त कालतक सहशपरिणामोंको धार रहा सुल्यवस्थित है। मले ही सूक्ष्म परिणातिओंके अनुसार अनन्त परमाणुर्ये उसमें आते, जाते रहें या पृथिवीकायिक जीव उपजते, मरते, रहें। किन्तु स्थूलपर्याय सदा एकसी बनी रहती है।

शेषद्रद्युष्करपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह ।

पहिले पग्न हदसे अतिरिक्त बचे हुये पांच हदोंमें स्थित हो रहे कमलोंकी लम्बाई चौडाई, गहराई के परिमाणों या परिणामोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते है।

तद्द्विग्रणद्विग्रणा हदाः पुष्कराणि च॥ १९॥

उस पम हदसे दुगुनी दुगुनी, लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले उत्तरवर्ती हद और कमल हैं। उत्तर तथा दक्षिण, के हद और कमलोंका परिमाण समान है। पद्म सरीवरसे महापद्मका क्षेत्रफल अठ गुना और पद्मसे तिगन्छ हदका क्षेत्रफल चौसठ गुना वडा है।

ततः पग्रह्तात् पुंडरीकड्दाच द्विगुणद्विगुणा ह्दा महापग्रमहापुण्डरीकादयः, योजन-परिमाणाच पुष्करादक्षिणादुत्तरस्माच द्विगुणद्विगुणानि पुष्कराणि विष्कंभायामानीति वीष्सा-निर्देशात् संप्रतीयंते " उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इति वश्यमाणसूत्रसंबंधत्वात् । तत्संबंधः पुन-र्वेहुवचनसामर्थ्यादन्यथा द्विचनप्रसंगात् तद्विगुणौ द्विगुणाविति । तदेवं—

उस पहिले प्रमह्दसे उत्तरकी ओर और छट्टे पुण्डरीक हदसे दक्षिणकी ओरके महाप्या, महापुण्डरीक, आदिक हद दिगुनी दिगुनी लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले हैं तथा दिशावर्ती पहिले और उत्तरदिशावर्ती अन्तके एक योजन परिमाणवाले कमलसे दिगुने दिगुने चौडाई, लम्बाई, परिमाणवाले परले, उरले, कमल हैं। इस वातकी '' दिगुणादिगुणा " इस वीप्साके निर्देश कर देनेसे भले प्रकार प्रतीति होजाती है। श्री

राजवार्तिक प्रन्थमें अकलंक देव महाराजने अगले अगले हदोंके अवगाहको भी कण्ठोक्त दिगुना हिगुना लिखा है। यहां भी दिगुनी गहराईका निषेध नहीं है, जब कि जम्बूदीपके उत्तरवर्ती स्थानोंकी रचना दक्षिण दिशावर्ती स्थानोंके तुल्य है। इसको समझानेके लिये "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" इस वक्ष्यमाण सूत्रका सम्बन्ध हो रहा है। इससे प्रतीत हो जाता है कि सूत्रमें फिर " दिगुणदिगुणाः" इस बहुवचनकी सामध्येसे उन, दूनी दूनी लम्बाई, चौडाई, गहराईयोंका सम्बन्ध हो जाता है। अन्यथा " तिहगुणों दिगुणों " इस प्रकार अर्थकृत लावत करते हुये सूत्रकारको " दिगुणदिगुणों " इतना ही कह देनेका प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात्—पग्न हदसे दूना महापग्न हद है और महापग्नसे दूना तिगिल्ल हद है तथा पुण्डरीक हदसे महापुण्डरीक हद दूना लम्बा चौडा गहरा है और महापुण्डरीक सरोवरसे केसरी हद दिगुना है, यह केवल दो स्थानोंपर ही दिगुनापना दिखलाया गया है। यों ही दो स्थानोंपर कमलोंका भी दूनापन निर्णांत हो रहा है। ऐसी दरामें सूत्रकारको संक्षेपसे " तिह-गुणदिगुणों कहना चोडिये था। फिर जो सूत्रकारने " तिहिगुणदिगुणाः" यों बहुवचनान्तपद कहा है, इससे जाना जाता है कि दक्षिण, उत्तर, आदि अन्तके दो हद या कमलोंकी संख्या दूनी दूनी नहीं है। एक एक ही बराबर है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ उसे सुनो।

तन्मध्ये योजनं शोक्तं पुष्करं द्विगुणास्ततः । इदाश्च पुष्कराणीति सूत्रद्वितयतोंजसा ॥ १॥

उस हदके मध्यमें एक योजनका पुष्कर और उससे दिगुने, दिगुने, आकारवाले हद और पुष्कर है, इस अर्थको उक्त दोनों सूत्रोंने श्री उमास्त्रामी महाराजने स्पष्ट रूपने अच्छा कह दिया है।

तिश्ववासिन्यो देव्यः काः किं स्थितयः परिवाराश्च श्रूयन्त इत्याह ।

अत्र महाराजजी, यह बताओं कि उन पुष्करोमें बने हुये महलोंमें निवास करनेवाली देवियां कौन हैं ! सर्वज्ञ आम्नायसे चले आ रहे द्वादशांगके अंगभूत शाखोंमें उन देवियोकी कितनी स्थिति कही है ! तथा ऋषि सम्प्रदाय द्वारा उनका परिवार कितना शाखोंमें सुना जा रहा है ! यों विनीत शिष्यकी ग्रुश्रूषाको ज्ञात कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्वीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः॥ २०॥

उन कमछोंमे यथाक्रमसे निवास करनेका शील रखनेवाली १ श्री २ ही ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ये छड व्यन्तर देव जातिकी देवियां वास कर रहीं हैं। उन सम्पूर्ण देवियोंके भुज्य- मान आयुष्य कर्मकी स्थिति तो एक अद्घापल्योपम है। वे देवियां सामानिक जातिके देव और सभाओं में बैठनेत्राले पारिषद् जातिके देवोंसे सिंहत होरहीं हैं। विशेषतः श्री, ही, धृति, तो सौधर्म इन्द्रकी आज्ञा मानती हैं और कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, ये ईशान इन्द्रकी आज्ञानुमार प्रवर्तती हैं। पांचों मेरु संबंधी देवियोंकी यही ब्यवस्था है। ये सब ब्रह्मचारिणी हैं। भगवान्की माताकी सेवामें इनका विशेष अनुराग है।

तेषु पुष्करेषु निवसनशीलास्तिश्वासिन्यः, देवगतिनामकर्मविशेषादुपजाता इति देव्यः श्रीभभृतयः तत्र पद्मइद्युष्करमासादेषु । श्रेषद्भद्युष्करमासादेषु द्रीपभृतयो यथाक्रमं निवसं-तीति यथागमं वेदितव्यं । ताः पल्योपमस्थितयस्तावदायुष्कत्वेनोत्पत्तः । सामानिकाः परिषद्श्य वक्ष्यमाणलक्षणाः सह ताभिर्वर्तते इति ससामानिकपरिषत्काः । एतेन तासां परिवारविभूतिं कथितवान् । एतेववाह—

जिन देवियोंकी देव उन पुष्करोंमें निवास करनेकी है, वे देवियां तिनवासिनी कही जातों हैं। निवास शद्धेसे शील अर्थमें तिद्धितान्त इन् प्रत्यय कर दिया जाता है। नामकर्मकी उत्तर प्रकृति देवगति नामक नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदस्वरूप विशेषकर्मसे विशेष व्यंतरोंमें उत्पन्न हुयी हैं । इस कारण श्री, ही, आदिक देविया मानी जाती हैं । पदाहदके कमलमें बन रहे प्रासादोंमें श्रीदेवी निवास करती है तथा शेप हृदवर्ती पुष्करोंमें बने हुये प्रासादोंमें यथाक्रमसे ही, घृति आदि देविया निवास करती है। यों आगम मर्यादाका अतिक्रमण नहीं कर समझ छेना चाहिये। अर्थात-उन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें एक कोस लम्बा आधा कोस चौडा कुछ कम एक कोस ऊंचा महल बना हुआ है उसमें देवी रहती है। यहा प्रासादोंका बहुतपना यों घटित हो जाता है कि एक कमलमें भी कई प्रासाद सम्भवते हैं तथा एक कमलके परिवार हो रहे एक लाख चालीस हजार एक सौ पचास कमलोंपर भी इतने ही प्रासाद बने इये है अथवा पांच मेरू सम्बन्धी पांच पद्म हदोंके पांच महलोंमें त्यारी न्यारी आत्मा-ओंको लिये हुये भिन्न भिन्न पांच श्री देवियां निवास करती हैं, इत्यादि रूपसे आम्रायके अनुसार यों सम्पूर्ण व्यवस्था बन जाती है। वे देवियां पल्योपम स्थितिको धार कर उतने काळतक जीवित रहती है। पुनः एक दंवीके मर जन्नेपर दूसरी देवी उपज जाती है। क्योंकि उतने एक पल्य परिमाणवाळे आयुसे सिहतपने करके उनकी वहा उत्पत्ति हुआ करती है (हेतू)। सामानिक और परिषद जातिक देवोका रुक्षण मार्विष्यमें कह दिया जायगा। ये देव उन देवियोंके साथ कमरुगेंमे उन देवियोंके अनु-गामी होकर वर्तते है। इस कारण देवियोंको सामानिक और परिषद सम्बन्धी देवोंसे सहितपना कहा गया है। इस विशेषणसे उन देवियोंकी परिवार सम्बन्धी विभूतिको सूत्रकार कह चुके हैं। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

> देव्यः श्रीमुखाः स्याताः सूत्रेणैकेन सूचनात् । षडेव तन्निवासिन्यस्ताः ससामानिकादयः ॥ १॥

श्री उमास्वामी महाराजने एक ही इस सूत्र करके श्री, ही, प्रमृति देवियोंका व्याख्यान किया जा चुका सूचन कर दिया है। एक मेरु सम्बन्धी छह कुलाचलोंपर वे देवियां सामानिक आदि देवोंसे सिहत हो रहीं सन्ती उन कमलोंमें निवास करनेवाली छह ही हैं। इतने प्रमेयको सूत्रकारने एक ही सूत्रमें भर दिया है " जैनर्षयस्ते विजयन्ताम् "।

उन भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येक क्षेत्र जिन मध्य गामिनी नदियों करके तीन या चार विभागोंको प्राप्त हो जाता है, श्री उमास्वामी महाराज उन नदियोंका निरूपण करनेके लिये अप्रिम सूत्रको कहने हैं । श्रद्धा लाकर सुनिये ।

गंगासिंधूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धारिकांतासीतासीतोदानारी नरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाःसरितस्तन्मध्यगाः।

१ गंगा २ सिंधु ३ रोहित् ४ रोहितास्या ५ हरित् ६ हरिकान्ता ७ सीता ८ सीतोदा ९ नारी १० नरकाता ११ सुवर्णकूला १२ रूप्यकूला १३ रक्ता १४ रक्तोदा ये चौदह महानदिया उन सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करती हैं।

सरितो न वाप्यः, तेषां भरतादिक्षेत्राणां मध्यं तन्मध्यं तन्मध्ये गच्छंतीति तन्मध्यमा इत्यनेनान्यथागति गंगासिध्वादीनां निवारयति ।

इस सूत्रमे सिरत् शह इसिलिये कहा है कि ये चौदह संख्यावाठी निर्दियां है, बाविडियां नहीं है। यद्यपि नन्दीश्वर द्वीपकी एक लाख योजन लम्बी, चौडी, जार हजार योजन गहरी चौकोर बाविडियां इन निर्दियोंसे द्विगुनी, तिगुनी, लम्बी और वीसों, पचासो, गुनी चौडी तथा सैकडों गुनी गहरीं हैं। तथापि पर्वतसे धागरूप निकलकर नीची नीची भूमिमें गमन करते करते और परिवारकों बढाते हुये महान् जलाशयमें मिल जाना यह निर्दियोंका लक्षण इन चौदह निर्द्धांमें अथवा अन्य निर्दियोंमें भी घटित हो जाता है। अतः वास्तविक रूपसे ये निर्द्धां मानी गयी हैं। निम्नभूमिपर समतल अवस्थामें रुके हुये जलको घारने वाली वापियां इन निर्द्धांसे बिलक्षण हैं। उन भरत आदि क्षेत्रोंके मध्य स्थानको तन्मध्य माना गया है। " उस तन्मध्यमें गमन कर रहीं हैं " इस निरुक्ति द्वारा ये निर्द्धां " तन्मध्यमाः " कही जातीं हैं। इस प्रकार तन्मध्यमा इस विशेषण करके गंगा सिन्धु आदि निर्द्धांकी किल्पित की गयी दूसरे प्रकार गतियोंका निवारण कर दिया जाता है। अर्थात्—ये निर्द्धां क्षेत्रोंके मध्यमें बह रहीं हैं। आदि भाग, अन्तभाग, या बहिर्भागोंमें नहीं बहती हैं और अपनी गति अनुसार सदा गमन ही करती रहती हैं। स्थिर होकर नहीं बैठ जाती हैं।

तत्र भरतक्षेत्रमध्ये गंगासिंघ्वी, हैमवतमध्यमे रोहिद्रोहितास्ये, हरिमध्यमं हरिद्धरिकाते, विदंहमध्यमे सीतासीतोदं, रम्यकमध्यमे नारीनरकाते, हैरण्यवतमध्यमे सुपर्णकृष्यकुछे, ऐरावतमध्यमं रक्तारक्तोदे इति ।

उस पहिले भरतक्षेत्रके मध्यमें गंगा. सिन्ध, दी नदियां वह रही है। भावार्थ-हिमवान पर्वतके उत्पर स्थित होरहे पद्म नामक सरीवरके पूर्व दिशा सम्बन्धी सवा छह योजन चौडे और आधा योजन गहरे द्वार (मोरी) से निकलकर पर्वत पर ही पांचसी योजन पूर्वको बहती हुई गंगा नदी पन: दक्षिणकी ओर मुडकर (बल खाकर) कुछ अधिक पांचसी तेईस योजन पर्वतकी आधी चौडा. ईपर जबर ही गमन करती है। पर्वतकी चौडाईमेंसे नदिकी धारको कमती कर आधा कर देनेसे उक्त संख्या आजाती है। सो योजन ऊंचे हिमवान पर्वतसे गिरकर काह्छ (रणसिंहाबाजे) या अर्धमालाके समान आकारको धारती हुई दस योजन चौडी होगयी गंगा नदी पर्वतको पचास योजन छोडकर नीचे गिरती है। हिमवान पर्वतसे पचास योजन दक्षिणकी और इटकर साठ योजन छंबा चौडा और दश योजन गहरा एक चौकोर कुण्ड बना हुआ है। कुण्डक मध्यमें साडे दश योजन ऊंचा और आठ योजन लंबा, चौडा, एक सुंदर द्वीप शोभ रहा है। उस द्वीपके मध्यमें दश योजन ऊंचा बन्नमय पर्वत है। उस पर्वतके ऊपर डेढ कोस, एक कोस, आधा कोस, क्रमसे नीचे, मध्य, ऊपर भागमें चौडा और एक कोस ऊंचा ढलवां श्रीदेवीका गृह बना हुआ है, जिसका आकार मंदिरकी शिखर (गुम्मज) के समान है। श्रीगृहके मस्तकपर बने हुये कमलको कर्णिकामें सिंहासन भरा हुआ है। उस सिंहासनपर अनुप्रम सन्दर जिनप्रतिमा विराजमान है। अन्य चैत्यालयोंकी प्रतिमासे इस प्रतिमामें इतनी विशेषता है कि इनके केश जटा सदश होरहे ऊपर की ओर लम्बे बंबे हुये हैं। वह केशोंका जटाजूट मुकट सारिखा प्रतीत होता है। ऐसे मनोज जिनबिम्बका अभिषेक करनेके लिये ही मानूं हिमवानपर्वतसे गंगा अव-तीर्ण होती है । सौ योजन ऊंचे स्वर्गसमान हिमवान् पर्वतसे महान् देव जिनेन्द्र बिम्बके जटायुक्त सिर पर गंगाकी धार पडती है। इसी दृश्यके आश्रयपर पौराणिक पुरोहितोंने अनेक प्रकारकी कथाये गढ की है। अनादिकालसे पड रहे जलके आघातसे जिनप्रतिमामें बालाप्र भी परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी दिन्य शोभाको धार रहे जिनविम्बको हम त्रियोगद्वारा नमस्कार करते हैं । गंगा नदीका जढ एक प्रकार अभिषेक जल ही है। कुण्डके दक्षिणदारसे निकलकर म्लेच्छ खण्डीमें बहती हुई विजयार्थ की खण्डप्रपात नामक गुफामें प्रवेश कर आर्यखण्डके पूर्वीय प्रान्त भागमें गमन करती हुई साढे बासठ योजन चौडी होकर लवणसमृद्रमें मिल गयी है। इसी प्रकार सिन्धु आदि नदियोंका वर्णन समझना चाहिये । नदियोंकी उद्गम स्थलपर जितनी चौडाई है, अन्तमें जाकर उससे दशगृती चौडाई होजाती है । चौडाईसे साढे बारहवें भाग या पचासर्वे भाग गहराई जान छेनी चाहिये । नदियोंके निकलने और प्रवेश होनेके स्थानी पर तौरण बने हुये हैं । तौरणोंके उपर मनोज्ञ अक्रत्रिम जिन प्रतिबिंब विराजमान हैं । नीचे दिक्कुमारी देंबियां निवास करती हैं । कुण्डोंमें नदियां गिरतीं हैं । उन कुण्डोंमें स्थित होरहे द्वीपोंके ऊपर पांचसी धनुष छम्बे शरीरके पद्मासनसे जिन प्रतिमार्थे विराजमान है। इस प्रकार गंगा आदि नदियोंका मामान्य वर्णन है। त्रिलोकसार आदि महान प्रन्थोंमें पूर्वाचार्योंने विस्तारसे कहा है। छह खण्डवाछे भरतक्षेत्रसम्बन्धी आर्यखण्डके मध्ये भागमें जो छोटासा यह

भरत खण्ड (हिंदस्तान) है, इसके उत्तरमें हिमालय है और पश्चिममें सिन्धु नदी तथा पूर्व भागमें गंगा नदी बर रहीं हैं ।न तो यह हिमालय हिमवान् पर्वत है और न ये क्षद्र गंगा नदी, सिंधु नदी ही महागंगा नदी महासिन्ध नदी हैं। किन्तु आर्यखण्डकी अयोध्या नगरीसे उत्तर दिशाकी ओर लगभग चारसे सात योजन चलनेपर हिमवान पर्वत मिल सकता है और आर्य खण्डसे पूर्व या दक्षिणकी ओर कई सौ योजन चलकर महागंगा नदी मिल सकती है। उससे पहिले यहीं बीस पद्मीस कोस चलकर ही महागंगा नदी नहीं मिल जाती है। यदि कोई मनुष्य विमानद्वारा इतना चल सके तो वह जैन सिद्धान्तके करणानुयोग शास्त्रोंके अनुसार गंगाको पा सकता है। ये सब योजन दो हजार धनुषसे नापे गये कोसोंकी दो हजार गुनी नापके बने हुये बड़े योजन हैं। तथा हैमवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त होकर रोहित और रोहितास्या ये दो निदयां बह रहीं हैं। महापद्मके दक्षिण द्वारसे निकलकर सोलहसौ पांच योजन पर्वतके ऊपर ही दक्षिणकी और वह कर दो सौ योजन ऊंचे पर्वतसे रोहित नदी गिरती है। महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस और दस वटे उनीस योजन चौडा है। हजार योजन चौडे हृदको घटाकर आधा कर देनेसे सोलह सौ पांच और पांच बटे उन्नीस योजन पर्वतके ऊपर सेहित्का बहना निकल आता है। पग्न हदके उत्तर द्वारसे निकल कर दो सौ छहत्तर और छह बटे उनीस योजन हिमवान् पर्वतके ऊपर उत्तरमुख बह रही प्रारम्भमें साढे बारह योजन चौडी रोहितास्या नदी है। हरित् और हरिकान्ता निर्यां तो हरिक्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं हैं। तिगिछ हदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकली हुई हरित नदी निषयके ऊपर सात हजार चार सो इन्स्नीस और एक बटे उन्नीस योजन दक्षिणकी ओर चलकर चार सी योजन पर्वतके ऊपरसे गिरती है। हरिकान्ता नदी तो महापदा हदके उत्तर द्वारसे निकलकर सोलह सौ पाच और पांच बटे उन्नीस योजन महाहिमवान पर्वतके ऊपर बहती हुई पद्मीस योजन चौड़ी हो रही कुछ अधिक दो सौ योजन ऊंचे धाराप्रपातसे गिरती है। बिदेह क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रहीं सीता, सीतोदा दो नदियां हैं। केसरी हृदके दक्षिण द्वारसे निकलकर नील पर्वतके जपर सात हजार चार मी इनकीस और एक बटे अनीस योजन पर्वतके जपर बहती हुई पचास योजन चौडी सीता नदी चार सी योजन ऊंचे पर्वतसे गिरती है। तिगिछ हदके उत्तर द्वारसे सीतोदा निकलती है। रम्यक दोत्रके मध्यमे होकर पूर्व, पश्चिमकी ओर वह रहीं नारी, नरकान्ता, नदिया हैं। महापुण्डरीक इसके दक्षिण द्वारसे नारी नदी निकलती है, जो कि नारी देवीके निवास प्रासा-दसे यक्त हो रहे नारी कुण्डमे पडती है। केसरी हद के उत्तर तोरणकी मोरीसे नरकान्ता महानदी निक-लती है। हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रही सुवर्णकुला, रूप्यकुला नदियां है। शिखरी पर्वतके ऊपर बने हुये पुण्डरीक हदके दक्षिण तोरण द्वारसे सुवर्णकृष्ठा नदी बहती है और महापुण्डरीक हदके उत्तर द्वारसे निकलकर रूप्यकूला महानदी गमन करती है। रक्ता, रक्तोदा, दो नदियां ऐरावत क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रही हैं । पुण्डरीक हृदके जिनविम्ब अलंकृत पूर्वतोरणकी नीचे मोरीसे सवा छह योजन चौडी रक्ता नदी बह रही है। पुण्डर्शक हदके पश्चिम तोरणदारकी मोरी तो रक्तोदाका प्रभव-

स्थान है। इस प्रकार ये चौदह नदियां कुण्डमें बने हुये द्वीपके गुम्मजपर विराजमान कमलस्य प्रतिमा ओंके ऊपर गिरती है। धाराप्रपात अवयवीका मध्यमाग प्रतिमाजीके मस्तकपर गिरता है। रोष इधर उधरका जलप्रवाह गुम्मजपर या रीते आकाशमें गिरता हुआ लम्बे, चौडे, कुण्डके बीचमें पड जाता है।

अथैतयोर्द्वयोः का पूर्वसमुद्रं गच्छतीत्याह ।

अब महाराज यह बताओं कि चौदह निदयों के सात युगल हो कर इन दो दोमें भला कौनसी कौनसी नदी पूर्व लवणसमुदक्षी और गमन करती है ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण नदियोंके सात युगल बनाकर दो दो नदियोंमें पहिलीं नदियां पूर्व समुदकी ओर गमन करती हैं।

द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं विषय इत्यभिसंबंधादेकत्र सर्वासां प्रसंगनिष्टत्तिः, पूर्वाः पूर्वगा इति वचनं दिग्विशेषपतिपत्त्यर्थे ।

गंगा, सिन्धु, आदि चौदर निदयां हैं और भरत आदि सात क्षेत्र हैं। दो दो निदयों का अधिकरण हो रहा एक एक क्षेत्र विषय है। इस प्रकार स्त्रके परोंका समुचित संबन्ध कर देने से एक ही क्षेत्रमें सम्पूर्ण निदयों की आति हो जाने के प्रसंगका निवारण कर दिया जाता है। सूत्रकार के पिहली निदयां पूर्व समुद्रको जाती हैं, इस कथन का प्रयोजन तो निशेष दिशाकी प्रतिपत्ति करा देना है, जिससे कि पिछली निदयों का पूर्वगमन या युगलों में पिहले उपात्त हो रहीं निदयों का पिश्वम, दिश्रण, या उत्तर दिशाके समुद्रों में प्राप्त होना व्यावृत्त हो जाता है। " दो दोमें पिहलीं पिहलीं यों वाक्य सम्बन्ध कर देनेसे गंगा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हिन्द्, हरिकान्ता, सीता इन पिहली सात निदयों का पूर्व समुद्रकी ओर गमन करना निषद्ध हो जाता है।

अथापरं समुद्रं का गच्छंतीत्याह ।

इसके अनन्तर पश्चिम समुद्रकी ओर कौनसी नदियां जा रही हैं ! बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अगिले सूत्रको कहते हैं ।

शेषास्त्वपरगाः ॥ २३ ॥

दो दो निदयोंमेंसे पहिले कहीं गयीं पूर्वगामिनी निदयोंसे शेष बच रहीं पिछलीं पिछलीं निदयां तो पश्चिम समुद्रकी ओर गमन करतीं हैं।

द्वयोर्द्वयोरेकत्रैकक्षेत्रे वर्तमानयोर्नधोर्याः पूर्वास्ताभ्योन्याः श्रेषाः सरितोऽपरं समुद्रं गच्छंतीति । तत्र पद्मद्र्वभभवा पूर्वतोरणद्वारिनर्गता गंगा, अपरतोरणद्वारिनर्गता सिन्धुः, खदीस्थतोरणद्वारनिर्गता रोहितास्या । महापद्महृदमभवापाच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहित्, उदीच्य-तोरणद्वारनिर्गता हरिकांता । तिर्गिछद्दसमुद्भवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित्, उदीच्यतोरणद्वार निर्गता सीतोदा । केसरिद्रदमभवा अपाच्यद्वारनिर्गता सीता, उदीच्यद्वारनिर्गता नारी । महा-पुंढरीकद्रदमभवा दक्षिणद्वारनिर्गता नरकांता, उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यक्र्छा । पुंढरीकद्रदमभवा अपाच्यद्वारनिर्गता सुवर्णक्र्छा, पूर्वतारयद्वारनिर्गता रक्ता, मतीच्यद्वारनिर्गमा रक्तोदा ।

एक एक क्षेत्रमें विश्वमान होरहीं दो दो नदियोंमें पहिली गंगा. रोहित आदि जो सात नदियां 🕯. उनसे शेष बची ह्रयीं अन्य सिन्ध्, रोहितास्या, आदि सात नदियां, यों इस सूत्र अनुसार पश्चिम समद्रकी ओर गमन कर रहीं मानी जाती हैं। इन नदियोंमें गंगाकी पहिली प्रकटता या उपलिन्नको कराने वाले आब स्थान होरहे पदाहदसे गंगा नदी उपजती है, जो कि पदाहदके चारों दिशाओंकी ओर बने हुये तोरणोंमेंसे पूर्व दिशाके तोरण के निचले दरवाजेसे निकली हुयी हैं । उसी पग्रहद संबंधी पश्चिम तोरणके निचले द्वार (मोर्रा) से सिन्धु नदी निकली है और उत्तरतोरणके द्वारसे रोहि-तास्या नदी निकलती है। तथा महापद्म हदसे आधर्मे जन्म लेखी रोहित नदी उसके दक्षिण तोरण-द्वारसे निकल गयी है। महापदा हदके उत्तर दिशावाले तोरण द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है। तिगिन हदसे भन्ने प्रकार उत्पन्न होरही हरित नदी उसके दक्षिण दारसे निकलती है और तिगिन्न हदके उत्तर दिशा सम्बन्धी तोरण द्वारसे सीतोदा निकलती है। केसरी हदसे सबसे पहिले उपज कर सीता नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और केसरी हदके उत्तर द्वारसे नारी निकलती है। महापुण्डरीक हदसे आच जन्म छेरही नरकान्ता उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और महापुण्डरीक हदके उत्तर दिग्वती द्वारसे रूप्यकुला निकलती है। पुण्डरीक हदसे पहिले ही पहिले उपज रही सुवर्णकूला महानदी उसके दक्षिण द्वारसे निकल जाती है और रक्ता नदी पुण्डर्शक के पूर्व तोरण द्वारसे प्रवाहित होरही है तथा रक्तोदा नदीका मी धारा निर्ममस्थान पुण्डरीक हदका पश्चिम दिशा सम्बन्धी हार है। प्रासाद या सरोवरोंके चारों और शोभायक्त बने हये बाहरले द्वारको तोरण कहते हैं। तौर-णोंके नीचे बनी हुयों मोरियों द्वारा नदियां निकल्ती रहतीं हैं। उनका आध बहना वहांसे प्रारंभ होजाता है।

अय कियबदीपरिवृता एता नच इत्याइ।

अब कोई प्रतिपाध प्रश्न करता है कि ये उक्त नदियां कितनीं कितनीं नदियोंके परिवारसे युक्त होरहीं हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् उमाम्बामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिध्वादयो नद्यः ॥ २४ ॥

गंगा आदिक पूर्वगामिनीं निदयां और सिन्धु आदि पश्चिम गामिनीं निदयां चौदह, चौदह, इजार निदयोंके परिवारको धारे हुये हैं। आगे तीन युगलोंमें इससे दूना दूना परिवार है।

गंगासिंध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेका, अनंतरग्रहणमसंगात् । गंगादिग्रहणमिति चेका, पूर्वगाणां ग्रहणमसंगात् । नदीग्रहणात्सिद्धिरिति चेका, तस्योत्तरत्र द्विग्रणभिसंबंधनार्थत्वात् ।

यहां कोई शंका करता है कि सूत्रकारको गंगा. सिंधु आदिका प्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्रकरण चला आ रहा होनेसे नदियोंका प्रहण स्वतः है। हो जाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि " अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा " । अन्यवहित पर्ववर्ती पदार्थका ही विधि अथवा निषेध उत्तरवर्त्ती वाक्य द्वारा किया जाता है। इस परिभाषाके अनुसार अन्यवहित पूर्वमें कहीं गयी पश्चिमगामिनी सिन्ध, रोहितास्या आदि सात नदियोंके ही प्रहण होनेका प्रसंग आ जावेगा । गंगा रोहित् आदि सात नदियां छूटा जाती हैं । अतः गंगा, सिन्धु, आदि पद व्यर्थरूपसे शंकित किया जा रहा ज्ञापन करता है कि पूर्व सूत्र और प्रपूर्व सूत्रमें कहीं जा चुकी सम्पूर्ण चौदह नदियों का प्रहण कर छेना चाहिये। पुनः आक्षेपकार यदि यों कहे कि तब तो गंगा आदि प्रहण करना ही पर्यात है. सिन्धु पद व्यर्थ पडता है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह भी नहीं कहना, क्योंकि गंगा आदि इतना ही कहनेपर पूर्वगामिनी सात नदियोंके ही प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा, संपूर्ण नदियां नहीं पकड़ी जा सकेशी। फिर भी आक्षेपकार यों कहें कि नदियां तो प्रकरण प्राप्त हैं हीं. नदी प्रहणके विना भी नदियोंकी प्रतीति हो सकती है। तथापि सूत्रकारने नदी शब्दका प्रहण किया है। अतः सम्प्रण नदियोंकी प्रतिपत्ति हो जायगी। गंगा सिन्धु आदि प्रहण करना पुनरपि व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेप नहीं करना । क्योंकि उस गंगा सिन्ध आदि पदके प्रहण करनेका प्रयोजन तो उत्तरवर्त्ती परली ओरकी नदियोंमें हिगुना हिगुना सम्बन्ध कर देना है। शब्दोंकी अधिकतासे शिष्योंको अधिक अर्थकी ज्ञाति हो जाती है। भावार्थ-गंगा सिन्धके परिवारसे रोहित्, रोहितास्या, प्रत्येकका परिवार दूना यानी अञ्चाईस अञ्चाईस हजार नदियां हैं और हरित्, हरिकान्ता, नदियोंका परिवार इससे भी दूना यानी क्रपन क्रपन हजार है। सीता सीतोदामें से प्रत्येकका परिवार एक उक्ष बारह हजार नदिया बैठता है, किन्तु त्रिलोकसार प्रन्थ अनुसार चौरासी हजार माना गया है और नारी, नरकान्ता, नदियौंमें प्रत्येकका परिवार छप्पन हजार है। तथा सवर्ण कुळा रूप्यकुळा नदियोंमें प्रत्येकका परिवार अडाईस हजार है और रक्ता रक्तोदा नदियोंका परिवार चौदह, चौदह, हजार हैं। गंगा आदिक नदियोंकी परिवार नदियां परली ओर दूनी दूनी हैं। इतना ही कह देनेसे सिन्ध्रका परिवार भी गंगा नदींसे द्विगुना बन बैठेगा। अतः सिन्ध्रपद भी सार्थक है।

सर्वथैवासंभाज्या गंगादयो नद्यः सूत्रिता इति कस्यचिदारेकां निराकर्ते प्रक्रमते ।

कोई शंका करता है कि सूत्रकार महाराजने जिन गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंका सूत्रद्वारा निरूपण किया है वे नदियां सभी प्रकारोंके असम्भव हैं। हजारों कोस चौडी उक्त नदियां वर्तमान में इष्टिगोचर नहीं हो रहीं हैं। उनका प्रमव करनेवांके हृद, कुण्ड, तोरणद्वार तथा उनके दोनों ओर वेदिकायुक्त वनखण्ड आदि माने गये तो दूर दूर तक जाकर भी नहीं देखनेमें आ रहे हैं। इस प्रकार किसी एक स्थूल्ड्इिशल्ट शिष्यकी आशंकाका निराकरण करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी प्रकामको बांधते हैं।

अथ गंगादयः शोक्ताः सरिताः क्षेत्रमध्यगाः । पूर्वापरसमुद्रांतः प्रवेशिन्यो यथागमं ॥ १॥

सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करनेवाळीं और पूर्व समुद्र, पश्चिम समुद्रके भीतर या कोई कोई गंगा सिन्धु, रक्ता रक्तोदा, ये दक्षिण या उत्तरकी ओरके मध्यवर्ती समुद्रमें प्रवेश करनेवाळीं गंगा, सिन्धु, आदिक सम्पूर्ण नदियां आगममार्गका अतिक्रमण नहीं कर सूत्रकारने बहुत अच्छे ढंगसे कह दीं हैं। अर्थात्—देशान्तरित पदार्थोकी इतिके छिये आतोक्त आगम, पुस्तकें, नकशा ये प्रधान साधन हैं। सभी देश देशान्तरोंका या समुद्र, पर्वतोंका, कौन चक्कर लगाता फिरता है १ सूर्य, चन्द्र, विमानोंके ऊपर क्या क्या रचना बनी हुई है १ संसारमें कहां कहां कैसे कितने स्थान हैं १ इन सम्पूर्ण रहस्योंको सर्वज्ञ सम्प्रदायसे चला आ रहा आगम ही प्रकाशित करता है। गंगा, सिन्धु आदिक चौदह नदियां और विदेह क्षेत्रकी बारह विभंगा नदियां तथा बत्तीस विदेह खण्डोंकी गंगा सिन्धु या रक्ता रक्तोदा द्वारा दो दो होकर हुयीं चौसठ नदियां, ये जम्बूद्रीपकी नन्त्रे मूल नदियां तथा सत्रह लाख बानवे हजार परिवार नदिया, इन सक्का निर्णय आगम अनुसार कर लिया जाता है। जगतकी प्रक्रिया या देश, देशान्तर, समुद्र, नदी, पर्वत, खान, कृप, बावडी, समुद्रतल आदिको जाननेके लिये सबको आगमकी बहुभाग शरण लेनी पडती है। " न हि सर्वः सर्ववित् " सभी प्राणी तो विश्वके साक्षात्कर्त्तो सर्वज्ञ नहीं हैं।

परिवारनदीसंख्याविशेषसहिताः ृृं पृथक् । चतुर्दश चतुःसूत्र्या नासंभाव्याः कथंचन ॥ २ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने "गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्या हिरिद्धरिकान्ता सीतासीतीदा नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः, द्वयोद्धयोः पूर्वाः पूर्वगाः, शेषास्वपरगाः, चतुर्दशनदी-सहस्रपरिवृता गंगासिध्यादयो नद्यः " इन चारों सूत्रों करके जो पृथक् पृथक् परिवार नदियोंकी संख्या विशेषसे सिहत हो रहीं चौदह नदियोंका वर्णन किया है, वह किसी भी प्रकारसे असम्भव नहीं है । अर्थात्—" सपरिवारा गंगासिन्ध्वादयश्चतुर्दश नद्यः सन्ति (प्रतिज्ञा) सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाण-त्वात् (हेतु) सुखादिवत् " नदियोंके सद्भावके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे परिवार सिहत चौदह नदियोंकी सत्ता निर्णात कर ली जाती है, जैसे कि दूसरी आत्माओंके सुख या समुद्रतल अथवा महान् पर्वतोंके नीचेकी मध्य भागस्य मूल (जड) आदिका ज्ञान " वाधकासंभव " से कर

लिया जाता है। पर्वतको उखाड कर बीचला भाग कौन देखे । अपनी पूरी हवेलीके परिपूर्ण भागोंका देखना तो कष्टसाध्य हो रहा है। स्वरारीरके भीतरसे अवयव ही नहीं दीख रहे हैं। भावार्थ—गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंके परिवारके सहित जम्बूदीपमें सम्पूर्ण नदियां सम्रहलाख बानवे हजार नब्बे १७९२०९० हैं। धातुकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्धमें भी नदियोंका सद्भाव बाधवेधुर्यसे आगम अनुसार निश्चित हो जाता है।

संभान्यंत एव हि गंगासिंघ्वादयो महानद्यो यथागममायामविष्कंभावगाहैरपरैश्व विशेषेस्तद्धिकरणस्य महत्त्वादिहास्ति कासांचिश्वदीनां सरय्वादीनां महाविस्ताराणाम्रुपछंभात् कस्यचिद्वाधकस्यासंभवात् ।

गंगा, सिन्धु, आदिक महानदियां अपनी अपनी लम्बाई, चौडाई, और गहराई तथा अन्य भी विशेषताओं करके सिहत हो रहीं आगम अनुसार सम्भावित ही हो रहीं हैं। असम्भव नहीं हैं। क्योंकि उन नदियोंके अधिकरणभूत स्थान बहुत बड़े महान् हैं। कितनी हीं नदियां तो वर्तमानमें देखे जा रहे हिन्द महासागर, एटलान्टिक आदि समुद्रोंसे भी बड़ी हैं। वर्तमान परिदृष्ट देशोंमें यहां भी किन्हीं किन्हीं सरजू नदी, क्षुद्र गंगा, क्षुद्र सिन्धु, सुवर्णभद्द, यमुना, टाइम्स, मिशीसिनी, मिसौरी, पो, राइन, आदि नदियोंका महान् विस्तार देखा जाता है। इसी प्रकार छोटे कोसोंसे हजारों कोस चौड़ी और लाखों कोस लम्बी महागंगा आदि नदियां भी सम्भव जातीं हैं। किसी भी विचारशील व्यक्तिको उनके सद्भावमें बाधा देनेवाले प्रमाणको सम्भावना नहीं है।

अथ कियद्विष्कंभो भरतो वर्ष इत्याह।

अब यहां किसीका प्रश्न है कि पहिला क्षेत्र भरत नामक वर्ष भला कितनी चौडाईको धार रहा है १ ऐसी पृष्छना होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोन-विंशतिभागा योजनस्य ॥ २५ ॥

छन्त्रीस अधिक पांचसौ योजन और योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग इतने विस्तार (चौडाई) को धारनेवाला भरतक्षेत्र है। अर्थात्—भरत क्षेत्रकी चौडाई पांचसौ छन्द्रीस छह बटे उन्नीस योजन है।

भरतिष्कं भस्योत्तरत्र वचनादिहावचनियति चेन, जंबूद्वीपनवतिश्वतभागस्ययत्ताप्रति-पादनार्थत्वादेतत्त्र्यत्रस्य तत्संख्यानयनोपायप्रतिपत्त्यर्थत्वात् ।

कोई आक्षेप कर रहा है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईका उत्तरवर्ती " भरतस्य विष्कंभी जंबूदी-पस्य नवतिशतभागः '' इस सूत्रमें कथन किया ही जावेगा । अतः यहां इस सूत्र द्वाराः निरूपण करना व्यर्थ है। व्यर्थ सत्रका उच्चारण नहीं करना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह सूत्र तो उत्तरवर्ती सूत्र द्वारा कही गयी जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बेर्वे भाग की इतने परिमाण बाली संख्याका प्रतिपादन करनेके लिये हैं। इस सूत्रका प्रयोजन केवल उस एकसी नन्बेवें भाग संख्याके ठानेके उपायकी प्रतिपत्ति करा देना है। अर्थात-एक ठाख योजन चौडे जम्ब्रुद्वीपकी एकसी नन्त्रे शलाव अोमें एक शलाका भरत क्षेत्रको प्राप्त होती है। एक लाखमें एकसी नन्त्रेका भाग देने पर पांचसी छन्नीस छह वटे उन्नीस योजन संख्या आजाती है। उस संख्याकी प्रतिपत्ति इस सूत्र द्वारा कर लेनी चाहिये। " अस्मत् सिद्धान्तविद्यागुरवस्तु स्वल्पेऽप्याकाशे महत्याः भूमेरवगाहमङ्गीकृत्य न्यूनतरभूमि क्षेत्रप्रतिपादकमिदं सूत्रमिःयादुः "। मुझ टीकाकारके सिद्धांतविद्यागुरु पंडित गोपाळदासजीका यह मंतन्य है कि '' भरतस्य विष्कम्भो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः '' इस सूत्र करके आकाशकी नाप कर दी गयी है। भरत क्षेत्रका आकाश जम्बुई।पके एकसी नन्त्रेवें भाग ही रहेगा, न्यून अधिक नहीं। हां, उतने ही आकाशमें न्यूनसे न्यून पाचसे। छन्बीस छह बटे उन्नीस योजनकी भूमि समा जायगा और उतने ही आकारामें इससे दशों गुनी बडी भूमि भी समा सकती है। '' ताम्यामपरा भूनयोऽक स्थिताः '' इस सूत्रमें पड़ा हुआ '' भूमयः '' शहू भी इसी सिद्धांतको पुष्ट करता है । एक हाथ ठंबे चौडे आकाशमें पांच हाथकी लम्बी चौडी भूमि आसकती है । गुरुजीका यह विचार युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। संभव है कुछ दिनोंमें विज्ञान भी इसी तत्त्वका निर्णय करे, जब कि जैनसिद्धांत तो तभी यक्त समझा जाता है। अनन्त बादरस्कन्ध इस असंख्य प्रदेशी छोकमें धरे हैं । २९ अंक प्रमाण मनुष्य ढाई द्वीपमें निवास कर रहे हैं।

अतोन्ये वर्षभरादयः किंविस्तारा इत्याइ ।

इस भरत क्षेत्रसे अन्य पर्वत या क्षेत्र अथवा नदी आदिक भला कितनी, कितनी, चौडाईको धारण किये हुये हैं १ ऐसी पृच्छा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तद्द्विग्रणद्विग्रणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २६॥

उस भरतक्षेत्रसे द्विगुने द्विगुने विस्तारको प्राप्त हो रहे कुळाचळ पर्वत और हैमवत आदिक क्षेत्र हैं। यह व्यवस्था विदेह क्षेत्रपर्यंत पर्वत या क्षेत्रोंकी समझ छेनी चाहिये।

वर्षभरशब्दस्य पूर्वनिपातस्तदानुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः वर्णानामानुपूर्व्येण इति निरुक्तकारव-चनस्यानस्पाच्तरानामन्वेषामपि यक्षाभिघानमानानुपूर्व्येण पूर्वनिपातप्रतिपादनार्थत्वात् तथा प्रायः प्रयोगदर्शनात् ।

यद्यपि वर्षभर और वर्ष शहुका द्वन्द्व समास करनेपर अल्प अच् होनेके कारण वर्ष शहुका पहिले निपात हो जाना चाहिये, तथापि उन पर्वत या क्षेत्रों भी ठीक ठाँक व्यवस्थित हो रही आन-पूर्वीकी प्रतिपत्ति कराने के लिये वर्षवर शद्धका पूर्वमें निपात कर प्रयोग किया गया है। त्याकरण शास्त्रमें " अल्पाचतरं " इस सूत्रका अपवाद करनेके छिये " वर्णानामानुपूर्व्येण " यों निरुक्त या व्याकरणकी वार्त्तिकोंको बनानेवालेका वचन तो अन्य अधिक अच्वाले या अपूज्य भी पदोंका उचारण अनुसार आनुपूर्व्यकरके पूर्वनिपात भी प्रतिपत्ति भी कराने के लिये हैं। तिस प्रकार अनेक स्थलींपर बहुतसे पदोंका प्रयोग करना देखा जाता है । अर्थात् - - इन्द्र समासमें अल्प अच्याले पदोंका पूर्वमें निपात करा देनेवाला " अल्पाच्तरम् " यह सूत्र है । इसके अपवादमे " वर्णानामानुपूर्व्येण " यह वार्त्तिक है। '' ब्राम्हणक्षत्रियबिट्र्यूदाः '' इस पदमें ब्राह्मण आदि वर्णीका आनू पूर्वी करके जैसे पद प्रयोग होजाता है, उसी प्रकार अन्य भी प्रामोंकी परिपार्टा या तिथियोंके अनुक्रम देश, परिमाण, पर्वत, आदिकोंकी आन्पूर्वी अनुसार पद प्रयोग कर दिया जाता है '' बाल्यकीमारयुवायस्थाः, पुष्पफले, स्पर्शनरसना-घाणचक्षःश्रोत्राणि, उर्ध्वमध्यायोळोकाः, अवप्रहेहावायधारणाः, रत्नशर्करावाळुकाः '' आदि पर्दोमे अलप अचोका या कचित् पुज्योका भी लक्ष्य नहीं रखकर आनु पूर्वी अनुसार आगे पीछे पद बोल दिये गुथे हैं। इसी प्रकार यहां भी कहे जाचुके भरत क्षेत्रके परली और हिमवान् पर्वत है, तत् पश्चात् हैमवत क्षेत्र है, अतः सूत्रकारने " वर्षधरवर्षाः " यो रचना कम अनुसार वाचक पदोंका प्रयोग किया है । भरतका वर्णन कर चुकनेपर इसके पश्चात् हिमवान् पर्वत, पुनः हैमवत क्षेत्र, यो पर्वत और क्षेत्रोंका क्रम है।

विदेशंतवचनं मर्यादार्थे तेन भरतिवष्कंभाद्विग्रणविष्कंभो हिमवान् वर्षधरः, ततो हैंम-वतो वर्षः, ततो महाहिमवान् वर्षधरः, ततो हरिवर्षः, ततो निषधो वर्षधरस्ततोऽपि पिदेहो वर्ष इत्युक्तं भवति ।

इस सूत्रमे विदेहपर्यन्त यह कथन करना तो मर्यादाको बांधनेके लिये हैं। तिस कथन करके इस प्रकार कह दिया जाता है कि मरत क्षेत्रकी चौडाईसे दूनी चौडाईबाला दस सो बावन बारह बटे उन्नीस योजनका हिमबान् पर्वत है। उस हिमबान् में हिगुना दो हजार ए कसी पांच और पांच बटे उन्नीस योजन चौडा हैमबत क्षेत्र है। उस हैमबत क्षेत्रसे महाहिमबान् पर्वत चार हजार दो सो दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस महाहिमबान् पर्वतसे हरिवर्ष क्षेत्र आठ हजार चार सो इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस हरिवर्ष क्षेत्र आठ हजार चार सो इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस निपन्न पर्वतसे भी दूना चौडा तेतीस हजार छहसी चौरासी और चार बटे उन्नीस योजन चौडा विदेह क्षेत्र है। पूरे जबूदीपमेसे भरत क्षेत्रको एक, हिमबान् पर्वतको दो, हैमबत क्षेत्रको चार, महाहिमबान् पर्वतको आठ, हरिक्षेत्रको सोलह, निषधको बत्तीस और विदेह को चौसठ शलाकारों, नीलको बत्तीस, रम्यकको सोलह,

रुक्मीको आठ, हैरण्यवत क्षेत्रको चार, शिखरी पर्वतको दो, और ऐरावत क्षेत्रको एक, यो सातों क्षेत्र छःऊ पर्वतोंके एकसी नन्त्रे शलाकाये प्राप्त हैं। जंबूद्वीपके एक लाख योजन चौडे क्षेत्रमें एकसी नन्त्रेका भाग देकर पुनः अपनी अपनी प्राप्त शलाकाओंसे गुणा कर देने पर पर्वत और क्षेत्रोंकी उक्त चौडाई निकल आती है।

परे वर्षधरादयः किं विस्तारा इत्याह ।

विदेह क्षेत्रसे परली ओरके पर्वत आदिक क्यों जी, कितने विस्तारके धारी हैं ? इस प्रकार प्रतिपित्सा होने पर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको स्पष्ट कहते हैं ।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २७ ॥

उत्तरवर्ती ऐरावत आदिक नील पर्यंत क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिणवर्ती भरत आदि क्षेत्र और हिमवान आदि पर्वतोंके समान समझ लेने चाहिये। हद, कमल, नदी, कुण्ड आदि अकृत्रिम पदार्थोंकी रचना भी तुल्य है।

निषधेन तुल्या नीलो वर्षधरः, हरिणा रम्यको वर्षः, महाहिमवता रुक्मीवर्षधरः, हैम-वनेन हैरण्यवतो वर्षः, हिमवता शिखरी वर्षधरः, भरतेन दक्षिणेनोत्तर ऐरावत इति योज्यं।

निषध पर्वतके समान नील पर्वत है, हरिक्षेत्रके समान रम्यक वर्ष है, महाहिमवानके समान रम्यक पर्वत भी चार हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। हैगवत क्षेत्रसे हैरण्यवत वर्ष तुल्यताको रखता है। शिखरी पर्वत हिमवान् पर्वतके सम है और दक्षिण दिशावतीं भरतके समान उत्तरदिशाका ऐरावत क्षेत्र है। गैगा, सिन्यु, के साथ रक्ता, रक्तोदाकी, पद्मके साथ पुण्डरीक हदकी तथा अन्य नदी, कमल, आदिकोंकी, तुल्यताकी योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिये।

अथ भरतरावतयोरनवस्थितत्वप्रतिपत्त्यर्थमाइ ।

अव इसके पश्चात् श्री उमास्त्रामी महाराज भरत और ऐरावत क्षेत्रके (में) अनवस्थितपनेकी प्रातिपात्ति करानेके छिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतैरावतयोर्चे दिहासौ पट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्य-वसर्पिणीभ्याम् ॥ २८ ॥

दुःषम दुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको धार रहे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक व्यवहार कालों करके भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंके (में) वृद्धि और हास हो जाते हैं।

तात्रध्यात्ताच्छव्द्यसिद्धर्भरतैरावतयोर्द्वद्धिद्वासयोगः अधिकरणनिर्देशो वा, तत्रस्थानां हि मनुष्यादीनामनुभवायुःत्रमाणादिकृतो दृद्धिद्वासौ पट्कालाभ्यामुत्सार्पण्यवसार्पणीभ्यां।

तत्राजुभवादिभिरुत्सर्पणश्चीला उत्सर्पिणी तैरेवावसर्पणश्चीलावसर्पिणी । षद्कालाः पुनरुत्स-र्षिण्यां दुःषमदुःषमादयोऽवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः मतिपत्तव्याः ।

उसमें स्थित हो जानेके कारण उसके वाचक शद्ध द्वारा कहे जानेकी सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके वृद्धि और हासका योग बतला दिया है। अर्थात्—" पर्वतदाह " इस पद अनुसार पहाडमें ठहर रहीं वनस्पतियोंका अरणि निर्मधन (बासों या अन्य विशेष काठकी रगड) द्वारा दाह हो जानेपर पर्वत जल रहा है. यों कह दिया जाता है । यह उस पर्वतमे ठहरनेवाले वृक्ष, बल्ली, पत्ते, आदि आधेयोंका पर्वत शद्धसे कथन हैं । इसी प्रकार भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी या भरत, ऐरावत, क्षेत्रवर्ति आकाराकी हीनता, या अधिकता, तो सम्भव नहीं है । अतः उसमें स्थित हो रहे कतिपय पदार्थोंकी बृद्धि या हानिका हो जाना समझ छेना चाहिये अथवा "भरतैरावतथोः" यह पद षष्टी विभक्तिका द्वियचन नहीं समझा जाय, किन्तु सप्तमी विभक्तिका द्वियचन मान लिया जाय। ऐसी दशा होनेपर उनमें स्थित हो रहे मनुष्य, तिर्येच, पशु, पक्षी, आदि जीवोंके अनुभव, आयुष्यपरि-माण, शरीरकी उचाई, बल, सुख, आदिसे किये गये वृद्धि और हास ये छह समयवाले उत्स-र्पिणी या अवसर्पिणी कालो करके होते रहते हैं । अर्थात् - ऋतुपरिवर्तन, शीतकी अधि-कता, सूर्यका प्रचण्ड प्रताप, नियत वनस्परितयोंका फलना फूलना आदि कार्य जैसे द्रव्य परिवर्तन स्वरूप कतिपय व्यवहार कालों द्वारा सम्पादित हो जाते हैं, उसी प्रकार अनेक और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, इन व्यवहार काळोंको निमित्त पाकर जीवोंके अनुमव आदिकी वृद्धि, हानियां हो जातीं हैं। उन कालोंमें अनुभव, आयुष्य, आदि करके ऊपरको सरकना (वृद्धि) स्वभाववाळी उत्सर्पिणी है और उन हीं अनुभव आदि करके नीचेको सरकना (हानि) स्वभाववाली अवसर्पिणी है । फिर उत्सर्पिणीमें छह काल दुःषमदुःषमा आदिक हैं और अवसर्पिणीमें सुषमसुषमा आदिक छह काळ समझ छेने चाहिये। सुषमसुषमा चार कोटाकोटी सागर तक चलता है। उस समय यहां उत्तम भोगभूमिकी रचना हो जाती है। पीछे क्रमसे हानि होते हुये तीन कोटाकोटी अद्धा सागरका सुषमा काल प्रवर्तता है। उसकी आदिमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान मध्यम भोगभूमिवाले समझे जाते हैं। पश्चात् क्रमसे अनुभव आदिकी हानि होते हुये दो कोटाकोटी सागर स्थितिवाला जघन्य भोग भूमिकी रचनासे युक्त सुषमदु:षमा काल चाल होजाता है । उसके अनन्तर क्रमसे हीनता होनेपर बियार्जास हजार वर्ष कमती एक कोटाकोटी सागर पर्यंत कर्मभूमिका दुःषमसुषमा काल विदेह समान रचनावाला प्रवर्तता है। विदेहमें क्रमसे हानि नहीं है। समान काल रहता है। पश्चात् ऋमसे न्यूनता होते हुये इक्कीस हजार वर्षतक कर्मभूमिका दुःषमा काल वर्तता है। पुनः अनुभन आदि भी न्यूनता होते होते दुःषमदुःषमा काल इकीस हजार वर्षका प्रवर्तता है। यह अवसर्पिणीकी दशा बता दी है। उत्सर्पिणीमें सुख आदिकी क्रमसे बढ़ती हुई इससे विपरीत व्यवस्थाको आगम अनुसार समझ छेना चाहिये।

अथ भरतैरावताभ्यामपरा भूमयावस्थिता एवेत्यावेदयति ।

अव श्री उमास्वामी महाराज भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रसे भिन्न पडी हुई भूमियां अवस्थित हैं।इस सिद्धान्तका विज्ञापन कराते हैं।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः॥ २९॥

उन भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्रोंसे शेष बच रहीं अन्य भूमियां अवस्थित एकसी रहती हैं । उन भूमियोंमें उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालोंका परिवर्तन नहीं है ।

तत्स्थपाणिनामनुभवादिभिर्ष्टादिहासाभावात् । षदसमययोरुत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसंभवा-देकैककाल्यादवस्थिता एव ताभ्यामपरा भूमयोऽवगंतच्याः । तदेवं—

उन हैमयत, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोंकी भूमियोंमें ठहर रहे प्राणियोंके अनुभव, आयुष्य आदि करके बढ़ने और घटनेका अभाव हो जानेसे वे भूमियां अवस्थित कही जातीं हैं । दुःषमदुःषमा आदि या सुवमसुषमा आदि छह समयोको धारनेवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका असम्भव हो जानेसे सदा यथ।योग्य एक एक ही कालकी वर्तना होनेके कारण उन भरत ऐगवतोसे भिन्न हो रहीं शेष भूमियां अवस्थित ही समझ लेनी चाहिये और तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

वर्षवर्षधराबाध्यविष्कंभकथनं कृतं । सूत्रत्रयेण भूमीनां स्थितिभेदो द्वयेन तु ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने पन्नीसत्रें, छन्नीसत्रें, सत्ताईसत्रें, तीन सूत्रों करके क्षेत्र और पर्वतोंकी चौडाईका वाधा रिवत कथन कर दिया है और अडाईसत्रें, उन्तीसत्रें, इन दोनों सूत्रों करके तो भरत, ऐरावत, और उनसे त्यारे क्षेत्र या पर्वतोंमे रिधितयोंके भेदका निर्वाध निरूपण कर दिया है।

न हि भरतादिवर्पाणां हिमवदादिवर्पधराणां च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते प्रत्यक्षानुमानयांस्तदविषयत्वेन तद्वाधकत्वायोगात् प्रवचने ६देशस्य च तद्वाधकस्याभावात् आग-मांतरस्य च तद्वाधकस्याप्रमाणत्वात् ।

श्री उमास्वामी महाराज द्वारा " भरत. षड्विंशातिपंचयोजनशतिविस्तारः पट् चैकोनिविंशिति भागा योजनस्य, तिंद्वगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः, उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इन तीनों सूत्रों करके भरत हैमवत, आदि क्षेत्रोंकी और हिमवान् महाहिमवान् आदि पर्वतोंकी चोडाईका किया जा चुका निरूपण किर किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो। जाता है। क्योंकि उन सूत्रोंके प्रतिपाद्य अर्थको नहीं विषय करने गले होने के कारण इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंको उस प्रतिपाद्य अर्थके बाधकपनका अयोग है। जो प्रमाण जिस विषयमे नहीं प्रवर्तता है वह उस विषयका साधक या बाधक नहीं हो सकता है। व्याकरणको पढा हुआ पण्डित विचारा वैद्यक प्रयोगोंका खण्डन या मण्डन नहीं

कर सकता है। तथा तीसरे आगम प्रमाणके एक देशको तो उस तीन सूत्रों द्वारा कहे गये प्रमेयका बाधकपना नहीं है। क्योंकि समीचीन शाखोंके प्रकरण तो इन ही उक्त सिद्धान्तोंकी पृष्टि करते हैं। हां, उस प्रमेयके बाधक माने जा रहे अन्य कुरान, वर्ल्ड जौगरफी, सिद्धान्तिशिमाणि, प्राकृतिकभूगोल, ऐटल्स, आदि न्यारे आगमोंको तो प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं है। अर्थात्—अप्रमाण आगम किसी समीचीन आगम द्वारा प्रतिपाध विषयका बाधक नहीं होता है। स्वयं अंधा मला दूसरे सूझतोंको क्या मार्ग बतायगा ? किसी नकटे द्वारा भगवहर्शनका प्रलोभ देनेपर स्वकीय नासिका छेद कर देना अनुचित है। नासिकाकी प्रतिष्ठाके समान इन सर्वज्ञ आम्नात आगमोंको ही प्रामाण्य मिलता रहा है। और परिशेषमें भी इन्हींको प्रामाण्य प्राप्त होगा। दिग्नमी पुरुष मध्यमें मलें ही कुछका कुछ समझ बैठे।

तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयास्तद्वरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिद्रासयोगाभ्यां विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते, तथाऽसंभवात् अन्यथाभावावेदकप्रमाणाभावाचेति पर्याप्तं प्रपंचेन ।

तिस ही कारणसे यानी प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणों करके बाधित नहीं होनेके कारण श्री उमास्वामी महाराज करके "भरतेरावतयोग्दीहासी षट्समयाभ्यामुत्सिर्पण्यवसिर्पणीभ्याम, ताभ्यामपरा भूमयोऽविश्यताः " इन दो सूत्रों द्वारा भरत ऐरावतों में और उनसे न्यारी भूमियों में दृद्धि हासोंके योग तथा वृद्धि हासोंके अयोगसे किये गये स्थितिके भेदका बढिया कथन किया जाना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है । क्योंकि तिस प्रकार बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे और क्षेत्रोंकी स्थितिके दूसरे प्रकारोंसे सद्भावका आवेदन करनेवाले ज्ञानोंकी प्रमाणताका अभाव होजानेसे सूत्रकारका सुंदर निरूपण निर्वाध ठहर जाता है । यो इस जिनागमकी प्रमाणताको हम कई बार कह चुके है । अतः यहां विस्तार कथन करनेसे पूरा पड़ो । विचारशील विद्वानोंके प्रति अल्प कथन ही तुष्टिकर है ।

अथ भरतरावताभ्यामपरा भूमयः किस्थितय इत्याह ।

इसके अनन्तर भरत और ऐरावतमे निराठीं होरहीं भूमियां या उन भूमिओंमें स्थित होरहें मनुष्य, तिर्थच, भला कितनी स्थितिको धार रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अप्रिम सूत्र कहा जाता है।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैव-कुरवकाः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, पल्योपमिस्थितियोंको धारनेवाले हैमबतक और हारिवर्षक तथा दैत्रकुरुवक हैं। अर्थात्—हैमबत क्षेत्रमें रहनेवाले जघन्य भोग भूमियां मनुष्य और पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्धेचोंकी उत्कृष्ट आयु दो अद्धापल्य है। देवकुरुमें निवास कर रहे उत्तम मोगभूमियां मनुष्य तिर्धेचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। इनकी जघन्य आयु तो एक समय अधिक एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय अधिक एक पल्य तथा एक समय अधिक दो पल्य यथाक्रमसे समझ लेना।

हैमवतादिभ्यो भवार्थे बुञ्, हैमवतकादीनां द्वन्द्वे सति हैमवतकस्यातुपूर्व्ययतिपत्त्यर्थः पूर्वनिपातः । एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबंधः, तेनैकपल्योपमस्थितयो हैमवतका, द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः, त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इत्युक्तं भवति ।

हैमवत, हरिवर्ष, देवकुरु, इस प्रकार शहोंसे तत्र भव इस अर्थमें वुज् प्रत्यय कर पुनः वु को अक और जित्पनेसे पूर्व अच्को शृद्धि करते हुये हैंमवतक, हारिवर्षक, दैवकुरुवक, शहोंको साधु बना लेना चाहिये। इन हैमवतक आदि शहोंका इतरेतर योग इन्द्ध समास करनेपर हैमवतक शहका ठीक आनुपूर्व्यकी प्रतिपत्ति करानेके लिये पूर्वमें निपतन हो जाता है। एक, दो, आदि पदोंका हैमवतक, आदिके साथ यथासंख्य सम्बन्ध कर लेना। ऐसा सम्बन्ध कर लेनसे सूत्र द्वारा यों कहा जा चुका समझा जाता है कि एक पल्योपम स्थितिको धार रहे हैमवत क्षेत्र निवासी भोगभूमियां जीव है, दो पल्योपम स्थितिको धार रहे हारिवर्षक हैं और देवकुरु निवासी भोगभूमियोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है।

विदेहादुत्तराः कथमित्बाह ।

विदेह क्षेत्रसे उत्तरवर्त्ती परली ओरके भोगभूमियोंकी किस प्रकार स्थितियां है ! यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तथोत्तराः ॥ ३१ ॥

तिस ही प्रकार उत्तर देशवर्सी जीवोंकी स्थितियोंको समझ छेना चाहिये। अर्थात्—पांच मेरु सम्बन्धी पांच हैरण्यवत क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंकी स्थिति एक पत्योपम है। वहां सर्वदा सुषमदुःषमा काल अवस्थित रहता है। पांच मेरु सम्बन्धी रम्यक क्षेत्रोंमें भोगभूमियां दो पत्यकी आयुको धारनेवाले हैं। यहां सर्वदा सुषमाकाल तदवस्थ रहता है तथा पांच उत्तरकुरुओंमें तीन पत्योपमकी स्थिति है। यहां सर्वदा सुषमसुषमा काल वर्तता रहता है। यों जम्बूद्वीपके उत्तर प्रान्तमें जधन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमिया तदवस्थ है।

हैरण्यवतकरम्यकोत्तरकुरवका एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकादिवदित्यर्थः।

इस सूत्रका यह अर्थ है कि हैमवतक आदिके समान ही परली ओरके जीवोंकी स्थिति है। हैमवतकोंके समान हैरण्यवतक जीवोंकी स्थिति एक पल्योपम है। हरिवर्षमें रहनेवाले मनुष्य, तिर्यचोंके समान रम्यक निवासियोंकी दो पल्योपम आयुःस्थिति है। दैवकुरुवकोंके समान उत्तरकुरुस्थायी मनुष्य तिर्यच तो तीन पल्योपम स्थितिको धार रहे हैं। अर्थात मोगभूमियोंमें विकलत्रय और लब्ध्य-पर्यातक जीव नहीं पाये जाते हैं। हां, पांचों कायके स्थावर जीव वहां विश्मान हैं। उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन दिन, तीन हजार वर्ष, दस हजार वर्ष, यथाक्रमसे पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक जीवोंकी है, इनकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्स भी वहां पायी जाती है। जैसे कि उत्तरकुरुमें जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट पूरे तीन पत्यकों है ये भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यच दोनों की और पुरुषका युगल होकर उपजते हैं। पहिले युगलकी स्नियां छींकसे और पुरुष केवल जंभाई लेनेसे पूर्ण आयुके अन्तमें मर जाते हैं, विध-तके समान उनका शरीर विघट जाता है। नवीन युगल सात दिनतक अपने अंग्रठेका पान करते हुये ऊपरको मुख करके लोटते रहते हैं। पीछे सात दिनतक भूमिमें रेंगते रहते हैं। तीसरे सप्ताहमें अव्यक्त मधर भाषण करते हुये गिरते पडते पात्रोंसे चलते हैं। चौथे सप्ताहमें पांवींको जमाकर चल लेते हैं। पांचवे सप्ताइमें कलागुणोंको धार लेते हैं। छहे सप्ताइमें तरुण अवस्थाको प्राप्त होकर भोगोंको भीगते हैं और सातवें सप्ताह करके सम्यक्त प्रहणकी योग्यता प्राप्त कर छेते हैं। जवन्य भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर दो हजार धनुष ऊंचा है। एक दिन बीचमें देकर दूसरे दिन एक बार आमले बराबर भोजन करते हैं। मध्यम भोग भूमियां मनुष्योंका शरीर चार हजार धनुष ऊंचा है। दो दिन बीचमें देकर तीसरे दिन एक बार बहेड समान आहार छेते हैं। यह आहार अतीव गरिष्ठ होता है, जैसे कि चक्रवर्ती या नारायण, प्रतिनारायणके भोजनको साधारण मनुष्य नहीं पचा सकता है, भोगभूमियोंका आहारयोग्य द्रव्य उससे भी कहीं अत्यधिक गरिष्ठ होता है । उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर छह हजार धनुष यानी तीन कोस ऊंचा है और आठवें भक्त यानी तीन दिन बीचमें देकर चौथे दिन छोटे बेर तल्य एक बार आहार हेते हैं। कर्म भूमिक मनुष्योंकी अपेक्षा जैसे हाथी, घोड़े, बैल, आदिका शरीर जिस क्रमसे बढ़ा हुआ है, उसी प्रकार वहां भी तिंथेचों का शरीर मनुष्य शरीरसे बड़ा है । हां, गेंह, चने, जी, आदिमें कोई विशेष अंतर नहीं है। यों देश भेदसे इनमें थोड़ा बहुत अब भी अंतर पाया जाता है । जो वनस्पतियां बीज अनुसार उपजती हैं वे गेहं, चना, आम, नीबू, अनार, आदि भौगभूमि-यों में अवश्य पायीं जातीं हैं। भले ही उनका उपयोग नहीं होय। आज कल भी तो लाखों वनस्पतियां वनमें यों ही नष्ट होजाती है। बीज संतान उनकी बनी रहती है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंमें भोगभियोंके समय भी बीजांकर न्यायेंस अनादि कालीन उक्त वनस्पतियां अवस्य थीं । हां, कर्मभूमियोंके वृक्षोंके तार-तम्य अनुसार भोगभूमिमें भी मनुष्योंकी अपेक्षा बृक्ष महान् हैं। वनस्पतिकायिक कल्पबृक्ष भी हैं। दश प्रकारके प्रथ्वी विकार कल्पवृक्ष जघन्य भोगभूमिमें दश कीस उंचे हैं । मध्यम भोगभूमिमें बीस कोस ऊंचे और उत्तम भोगभूमिमें तीस कोस ऊंचे वृक्ष हैं। उन कल्पवृक्षोंसे उत्पन हुये भोगोंको भोग मुमियां जीव सदा भोगते रहते हैं। मद्यांग जातिके वृक्षींसे वे मद्यको प्राप्त कर छेते हैं, जैसे कि ताड वृक्षोंसे भील ताडीको प्राप्त कर लेते हैं। यहां मचका अर्थ सुरा (शराब) नहीं है, किंतू दूध, दही, घी, इक्षुरस, आम्ररस, आदिकीसी सुगांधियोंको धार रहा पीने योग्य द्रवद्रव्य है। कामशक्तिका जनक होनेसे उसको उपचारसे मद्य कह दिया जाता है। बादिश्रांग जातिके कल्पनृक्षींसे मृदंग, ढोळ,घंटा, बीणा आहि फल कुल रहे बाजे प्राप्त होजाते हैं। तीसरे भूषणांग जातिके कल्पनृक्षोंसे भोग भूमियां फल कुल रहे कहे.

करधोनी, हार, कुंडल, अंगठी आदि अलंकारोंको लेकर पहन लेते है । चौथे माल्यांग कल्प वृक्षोंसे चंपा, चमेर्छा, केवडा, जुही, गुलाब, आदिकी फलती, फ़लती मालाओं या पुष्पोंको तोडकर व्यव-हारमें लाते है । पाचवें ज्योतिरंग कल्पवृक्षोंसे ऐसे चमकीले पदार्थीको प्राप्त कर लेते है जिनसे कि सूर्य, चंद्रमा, शुक्र आदि विमानोंकी काति भी छिप जाती है। इस ही कारण तीनों भोग भूमियोंमें अभिभृत सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिष्क्रमंडलका दर्शन नहीं होपाता है, जैसे कि दिनमें तारामंडल नहीं दीखता है। छठे दीपांग जातिको कल्पन्नक्षोंसे चमकदार फले हये छाछ. हरे. पीछे. दीपोंको लाकर वे अपने घरमें घर लेते है । सातवे ग्रहाग जातिके कल्पवक्ष तो रत्नमय कोठियां. कोट. महल, कमरा, आदि रूप करके परिणमते हुये फल जाते हैं। आठवें भोजनांग कल्पवृक्ष तो छह रस यक्त अमृतमय दिन्य आहार रूप होकर फलते हैं। नीवें भाजनांग कल्पनक्ष सोने, चांदी, रत्नीके बने हुये कलहा, याली, कटोरा, डेग, आदि रूप फल जाते हैं तथा दशवें यस्राग, जातिक कल्पवृक्षोंसे अनेक प्रकारके सुन्दर वर्खोंको वे प्राप्त कर छेते हैं । ये पार्थिव कल्पवक्ष इन पांचों भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भोगभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालको निमित्त पाकर उपज जाते है । अर्मभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालकी प्रवृत्ति होनेपर विनश जाते हैं । किन्तु स्वर्ग, हैमवतक, देवकुर, हरिवर्ष, सूर्यविमान, श्रीदेवी-गृह, मजनवासी या व्यंतरोंके भवन आदिमें ये कल्पवृक्ष सर्वदा बने रहते हैं। आजकल भी प्रायः सभी भोगोपभोगोंके उपयोगी पदार्थ इन्हीं एकेन्द्रिय बृक्ष या खानोंसे उपजते हैं। भूषण या प्रकाशके उप-योगी सुवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ तो खानोंसे प्राप्त कर लिये जाते है। खानोंसे मही, पत्थर, कंकड, लोहेको लाकर सुन्दर, गृह, किले, कोठियां, महल, बना दिये जाते हैं। बृक्षोंकी लकडीसे किवाड बन जाते हैं । पुष्प या माला अथवा भोजन तो प्रायः वृक्ष या वेलोंसे ही प्राप्त किये जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि कार्तिक मासमें गेंह वो देनेपर इमको वैसाखमें फलकर छह या पांच महीने पश्चात् खेतसे गेंड्र प्राप्त होता है और उस उस जातिके कल्पबृक्षोंसे अन्तर्मृहर्त्तमें हा नियत अभिलाषित वस्तकी इच्छा अनुसार प्राप्ति हो जाती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। कदाचित् किसी किसी व्यक्तिकी इच्छाओं अनु-सार तक्क्षण मलसाव (मृतना इंगना) जंभाई लेना मद (नशा) हो जाना आदि कियाँये हो जाती हैं। जगतके सम्पूर्ण कार्य अपने अपने कारणों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि कोई कार्य विलम्बसाध्य हैं। तथा पुण्यशालियोंके अनेक कार्य क्षिप्र हो जाते हैं। वर्नमान कर्मभूमिमें भी उत्पाद प्रक्रियाका तारतभ्य देखा जाता है। इथिनी अठारह मही-नेमें प्रसव करती है । गर्भधारणके तेरहमास पीछे उटिनी बचाको जनती हैं । घोडी बारह महीनेमें, भैंस दश महीनेमें, गायें या क्षियां नौ मासमें अपत्यको उपजाती हैं। छिरिया छह महीनेमें कुतिया तीन महीनेमें न्याय जाती हैं। गर्भ स्थितिके पश्चात् मुर्गी दश दिन पीछे अण्डा देना प्रारम्भ कर देती है। कबूतरी गर्मिखातिके सात दिन पश्चात् प्रसूता हो जाती है। भिन्न भिन्न ऋतु या न्यारी न्यारी देशपरिस्थिति अथवा विज्ञान प्रयोगप्रिक्रिया द्वारा शीतोष्णता अनुसार

उक्त काट मर्यादानें न्यूनता, अधिकता भी हो जाती है । विज्ञानप्रक्रिया द्वारा कबूतरी, मुर्गी, आदिका प्रसव शीव्र भी करा दिया जा सकता है। पदार्थों में अचिंत्य निमित्त नैमित्तिक शक्तियां भरी हुई हैं। वर्षींके कार्य महीनोंमें और महिनोंके कार्य दिनोंमें तथा दिनोंके कार्य घण्टोंमें उपज जाते हैं। इस द्दीनताके तारतम्य अनुसार कल्पवृक्षोंसे भी उसी प्रकार उचित भोगोपभोगके योग्य पदार्थीकी प्राप्ति होजाती है । कल्पवृक्ष चाहे जो भी सभी पदार्थीको नहीं दे सकते हैं । आमके पेडपर अमरूद नहीं फलते हैं। इसी प्रकार पुत्र, गाय, घोडा, हाथी, मक्खी, चींटी, या चरखा, खात, कुडा, समाचारपत्र, पुस्तकों, अस्त्र, राख्न, आदि पदार्थीको वे दस १० जातिको कल्पवृक्ष नहीं दे सकते हैं। क्योंकि पुत्र आदिके उपजानेकी उन कल्पवृक्षोंमें निमित्त नैमित्तिक शक्तियां या उपादान, उपादेय, व्यवस्थायें नहीं हैं। जब कि जगत्में पोरुषार्थिक या प्राकृतिक नियम अनुसार कार्यीत्पत्तिमें अनेक विचित्रतायें दृष्टिगोचर होरहीं हैं। छकडों या बैछगाडियों द्वारा जो मार्ग महीनोंमें परिपूर्ण किया जाता था रेलगाडियों या विमानो द्वारा वह मार्ग दिनों या घंटोंमें गमन कर लिया जाता है। मिनिटों या सैकिंडोंमें हजारों कोस दूर समाचार पहुंचा दिये जाते हैं। गुळाब शीघ उपजा ळिया जाता है। उसका इन्छ दस गुना बड़ा कर छिया है। प्रयोगों द्वारा नीवकी कटुता न्यून कर दी जा सकती है। साङ्कर्य यानी कलम लगा देनेसे आम, लुकाट, सन्तरो आदिकी दशायें परिवर्त्तित हो जाती हैं। दुवेल मनुष्य अतिशीघ सबळ और बळवान जीव प्रयोगों या औषधियों द्वारा शीघ निर्वेच किया जा सकता है । तथा मूमियां ऋतुयें या फलने, फलने, के व्यवहारकाल उपादान द्रव्य आदिके अनुसार प्राकृतिक नियमोंमें विलक्षणतायें है। बीज बोये जानेसे पचास वर्ष पीछे खिरनीका बुक्ष फलता है। अखरोट कदाचित् इससे भी अधिक समय हे हेता है। इमली, कटहर वपन होनेके पश्चात् बीस, पश्चीस, वर्षमें फलित होते हैं। आम्रफल पाच, छह वर्षक वृक्षपर ही आ जाते हैं। बीज डालनेके दो वर्ष पीछे आहु या आहू बुखारे ये बृक्षपर र्लग जाते है। अरण्ड एक वर्षमें फल जाता है। बोये पीछे ग्यारह महीनेमें अरहर पक्त कर आ जाती है । गेंह पांच महीनेमें, बाजरा मका तीन महीनेमें, समा चात्रळ दो महीनेमें फल दे देता है। भूमिमें बोये जानेके पश्चात पोदीना पन्द्रह दिनमें, मेंथी तीन दिनमें और सणी एक दिनमें नवीन पत्ते दे देती हैं। इसी प्रकार कल्प वृक्षोंसे कुछ मिनिटोंमें ही नियत पदार्थ उपज जाते हैं। ताडवृक्षकी छाछ ताना वाना पुरे हुये वस्नके समान है। कई वृक्षींपर कटोरा कटोरी सरीखे पत्ते या फल लग जाते हैं। तोरईका बाजा बजाया जा सकता है। छौकातुम्बी तो बीन, सितार, तमूरा, आदिमें उपयोगी हो रहे हैं। भांग, महुआ, ताडी, अंगूर, अफीम डोंडा आदि बक्ष मदकारक पदार्थीके उत्पादक हैं। गेंह, चावल, आम, अमरूद, केला आदि मोक्तव्य पदार्थीके बक्ष प्रसिद्ध ही हैं। बहुमाग वस्न कार्पास वृक्षोंके फलोंसे बनाये जाते हैं। दीपकके उपयोगी पदार्थ तो तिल, सरसोंके, बृक्षोंसे या पार्थिव खानोंसे ही प्राप्त होते हैं। प्रहलोंकी रगडसे चमकनेवाळी बिजली बन जाती है। बात यह है कि गम्भीर दृष्टिसे विचारनेपर कल्पब्रक्षाँसे नियत बस्तुओं भी प्राप्तिका सिद्धान्त पृष्ट हो जाता है। विशेषज्ञ पुरुष इसको अनेक अन्य युक्तियों द्वारा भी समझ समझा सकते हैं। अनेक स्थलोंपर मेरे लेखोंमें पुनरुक्त दोष आ गया है। किन्तु मन्द बुद्धि-वाले श्रोताओं को समझानेकी अपेक्षा वह दोष गणनीय नहीं है। प्रतिमाशाली विद्वानों के लिय महर्षि-यों के प्रन्थों या स्वकीय ऊहापोह द्वारा विशेष सन्तोष प्राप्त हो सकेगा । कोई कोई बात तो मूल सूत्रमें और वार्तिकमें तथा उस वार्तिकके विवरणमें यों तीन बार एवं इनकी देश भाषा कर देनेपर तीनों वार इस प्रकार स्वतः विना प्रयत्नके छह वार आ गई है। युक्तियों द्वारा मन्दबुद्धि शिष्योंको समझा-नेका उद्देश्य कर पुनरपि एकाध बार वही मन्तव्य पनः पुनरुक्त हो जाता है तथा विशेष व्याख्यान करते करते काचित जैनसिद्धान्त जैनन्याय और जैन व्याकरणसे भी मेरा प्रमादवश या अज्ञानवश-स्खलन हो जाना सम्भव है। तथापि देशभाषा करनेमें बुद्धिपूर्वक कषाय ईर्षा, निह्नव, मिध्याभिनिवेश, नहीं होनेसे स्वकीय संचेतना अनुसार कोई बृटि नहीं रक्खी गयी है। "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मे-श्वरा विदुः " इस वाक्यका केवल प्रथमा, द्वितीया, विभक्तिका अर्थ करते हुये कोई पण्डित यदि " धर्म भे ईधर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रोंको धर्म जानते हैं।" इस प्रकार अर्थ कर देवे तो ऐसी दरामे शृद्धि नहीं रह सकता है, जैसे कि प्रामीण फुअर स्त्री द्वारा पेट भरनेके छिय बनायी गयी केउल मोटी रोटीमें कोई बुटि नहीं निकाली जाती है। किन्तु नोंनके या मीठे कचौडी, सकलपारे, सेव, छड्डू, गुझा, घेवर, इमर्ती, गुळावजामुन अथवा अनेक प्रकारकी तरकारियां आदि भोज्य पदार्थीमें कई त्रुटियों भी समाछोचना की जाती है। सभी प्राणियोंको सन्तोषके छोटे बढे उपाय प्राप्त हो ही जाते हैं । मुझे भी नीरक्षीरकी विवेचक हो रही हंस प्रकृतिकी धारनेवाले उदात्त, गम्भीर, सञ्जन विद्वानोंसे सन्तोष प्राप्तिका सौभाग्य भिला हुआ है। समझा जायगा जब कि ब्रिटियोंपर लक्ष्य नहीं देते हुये वे प्रमेयका सुवार कर अध्ययन करेंगे। " विद्युते स न हि कश्चि-दपायः सर्वछोकपरितोषकरो यः। सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः " यह किसी कविका वाक्य सर्वागसुन्दर है। प्रकरणमें यही कहना है कि अनेक निमित्त कारण तो वर्षोंमें कार्योंको करते हैं, कितने ही कारण महिनों, दिनों, घण्टोंमें ही कार्यको बना देते हैं। आकाशमें अदृश्य उपादान कारणोंसे झट मेघ, बिजली, बादक, बन जाते हैं, उपादान कारणके विना जगत्का कोई भी कार्य नहीं उपजता है । शब्द, बिजली आदिके भी उपादान कारण है। भठें ही वे दीखें नहीं, यह हमारी निर्वलता है । कार्य कारण पद्धतिका कोई दोष नहीं है । अक्षीण महानस, ऋदिधारी मुनियों के किये जिस पात्रसे भिक्षा दी जाती है, उस माजनसे चक्रवर्तीकी सेना भी भोजन कर है तो उस दिन उस पात्रका अन नहीं निवट पाता है । यहां भी लाखों मन अवस्थ उपादान कारण विद्यमान हैं । अंकुरके विना बीज और बीज विना अंकुर नहीं उपजता है । विचारा भोगभूमि या स्वर्ग तो क्या मोक्षमें भी यदि अंकुर पाया जायगा तो उसका बाप बीज वहां प्रयमसे हीं मानना पडेगा । हो, विजम्ब या शीव्रताका अन्तर पड सकता है. कर्मभूमिक अपण्यशाला

जीवोंको जो पदार्थ वर्तमान बृक्ष या खानेंाद्वारा वर्षों अथवा महीनोंमें प्राप्त (नसीव) होते हैं, किन्त ये भोगभिमयोंके वृक्ष अन्तर्महर्त्तमें ही उन अधिक सुन्दर अभीष्ट पदार्थ रूप फल जाते हैं। यहां भी आमके वृक्षसे अमरूद या अनार नहीं मिल सकते हैं । उसी प्रकार भोगभूमिमें भी वादित्रांग इक्षोंसे भोजन या वस प्राप्त नहीं हो सकते हैं। उपादान उपादेय शाक्तिका या निमित्त नैमित्तिक भाव का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हो सकता है, भोगभूमियोंमें अमृत रसके समान स्वादवाळी चार अंगुळ र्जची और मुखकी वाफसे ही टूट जाय ऐसी कोमल घास उपजती रहती है। गाय, भैंस, आदि पदा उस घासको चरते हैं, वहांकी भूमियां बडी सुन्दर बनी हुई हैं। कहीं कहीं सिद्दीदार बावडी, सरोवर, नदियां, और जीडापर्वत भी विद्यमान हैं। नदीके किनारोंपर रत्नचूर्ण मिश्रित वालके ढेर लग रहे हैं। जैसे कि आजकल भी कचित् वार्क्स मुंड भुंड या चांदीके कण, माणिक रेती आदि पायी जाती हैं। मांस भक्षण नहीं करनेवाळे और परस्परमें अविरोध रखते द्वये वहां पंचेंद्रियतियेंच जीव भी हैं । बहे, सर्प, नौला, उल्लु, बगला आदि तियीच और विकलत्रय जीव अथवा असंज्ञी जीव या नपुंसक पंचेद्रिय एवं जलचरत्रस ये भोगभूमिमें नहीं पाये जाते हैं। सभी मनुष्य तिर्थच विनीत, मन्दक-षाय. मध्रभाषी. कलाकुराल. अमायाचारशाल आदिसे संयुक्त है। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग. स्वेद, ईर्षा, मात्सर्य, अनाचार, उन्माद, शरीरमल, पसीना चिन्ता, रोग, जरा, कृपणता, भय, आदिसे रहित हैं। सर्वथा अप्टादश दोषोंसे रहित तो जिनेंद्र ही हैं। फिर भी आजकलके मनुष्य तिर्धेचों समान तीव्र रोग, चिन्ता, भय, क्ष्या, जरा, नहीं होनेसे देव या भोगम्भीयां निर्जर, निर्भय, नीरोग, कह दिये जाते हैं। कर्मभूमिमें मनुष्य तिर्यंच या त्रतियोंको दान देनेसे या अनुमोदना करनेसे जीवोंकी उत्पत्ति भोग भूमिमें होती है। भरत और ऐरावतसे अतिरिक्त अन्य देवस्थानों या क्षेत्रोंमें तथर ढाई द्वापके बाहर असंख्यात द्वीपोंमें भदा एकसा प्रवर्तन रहता है । हां, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें विशेषतया इनके आर्य खण्डोंमें कर्ममूरिसे भोगभूमि और भोगभूमि काळसे कर्मभूमि कालकी परावृत्ति होती रहती है। भरत, ऐशवत, सम्बन्धी विजयार्थ पूर्वत और म्लेच्छ खंडोंमें चौथे कालके आदि, अंत, सदश काल वर्तता है। मोक्षमार्ग चाद नहीं है। आर्थ खंडमें सुषम-सुषमा कालकी प्रवृत्ति होनेपर म्लेन्छ खंडोंमें शरीर पांची धनुष और आयु कोटिपूर्व वर्ष है। तथा आर्य खंडोंमें दु:षमदु:षमा कालकी प्रवृत्ति होनेपर विजयार्थ और म्लेच्छ खंडोंमें शरीर सात हाथ और आयः एक सी बीस वर्ष होजाती है। जघन्य आयुः अन्तर्मुहूर्त है। श्वासके अठारहवें भागवाला अन्तर्मु-हर्त नहीं छेना। इससे बडा अन्तर्मुहूर्त पकडना। क्योंकि इन विजयार्घ और म्लेच्छ खंडोंमें रुज्यपर्याप्तक मनुष्य नहीं हैं । बीस कोटाकोटी अदासागरके कल्प कालमें अठारह कोटा कोटी सागर तो भोगभूमि काल है और केवल दो कोटा कोटी सागर कर्मभूमि रचनाका काल है। कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही ये पार्थिव कल्पवृक्ष नष्ट होजाते हैं। भोगभूमिके प्रारम्भमें पुनः उपज जाते हैं, जैसे कि यहां इस कालमें भी कितने ही पर्वत उपजते बिनसते रहते हैं । किन्तु बीजसे उपजने वाले वक्षोंकी संतान नहीं नष्ट होती है | क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं उत्पन्न होसकता है | हां, मनुष्योंकी आयु अवगाहना जादिके समान वृक्षोंकी आयु या अवगाहना न्यून अधिक होती रहती है, जैसे कि भोगभूमियां मनुष्य तीन, दो, एक, कोस ऊंचे या हाथी छह, पांच, चार कोस ऊंचे अथवा वृक्ष तीस, बीस, दश कोस होते हैं, उसी प्रकार घटते, घटते, हुये इस समय मनुष्य साढे तीन हाथ, हाथी दस हाथ, वृक्ष बीस पचास, हाथ, ऊंचे रह गये हैं। हां, किसी पदार्थमें घटी, बढीका तारतम्य अधिक है और किसीमें न्यून है। गेंहू, चावळों, आदिके वृक्षोंमे उस त्रैराशिकके अनुसार हानि या वृद्धि नहीं होती है । थोडा अंतर अवश्य पड जाता है । चतुर्निकाय देवोंके या अन्यत्र स्थानोंपर पार्थित कल्पवृक्षोंके अतिरिक्त कन्स्पित कायिक कल्पवृक्षों भी पाये जाते हैं । अलम् विस्तरेण ।

विदेहेषु किंकाला मनुष्या इत्याह ।

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि विदेह क्षेत्रोंमें कितने आयुष्य कालको धारने वाले मनुष्य निवास करते हैं ? ऐसी विनीत शिष्यकी तत्त्वबुमुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३२ ॥

पांचों महाविदेहोंमें अथवा पांच मेरु सम्बन्धी एक सौ साठहू विदेहोमें लौकिक गणना अनुसार संख्या करने योग्य आयुष्य काळतक जीवित रहने वाले मनुष्य निवास करते हैं ।

संख्येयः काळो येषां ते संख्येयकालाः संवत्सरादिगणनाविषयत्वात्तत्कालस्य ।

जिन मनुष्योंका जीवन काल संख्या करने योग्य है, वे मनुष्य " संख्येयकाल " है। क्योंकि वर्ष, दिन, मास, आदि करके गिनी गयी गणनाका विषय हो रहा वह काल है। मार्गार्थ—विदेह क्षेत्रोंमें सर्वदा अवसर्पिणीके तीसरे काल युवमदुःषमाके अन्त समान काठ व्यवस्थित रहता है। मनुष्योंके शरीर पांच सौ धनुष ऊंचे हैं। नित्य एक बार भोजन करते हैं। जघन्य रूपसे मनुष्योंकी आयुः अन्त-मृहूर्त है और उत्कृष्ट रूपसे वे एक कीटि पूर्व वर्षतक जीवित रहते हैं। चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है। ऐसे करोड पूर्वतक विदेह क्षेत्रवासी मनुष्य जीवते हैं। हाथी, घोडे, भैंसा, बैल आदिकी आयुओं को इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। विदेह क्षेत्रवें द्रक्य रूपसे जैन धर्मका विनाश नहीं होता है। सदा जैन धर्मकी प्रवृत्ति बनी रहती है। मार्वोमें मलें ही मिथ्याल हो जाय।

अथ प्रकारांतरेण भरतविष्कंभप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

अब श्री उमास्त्रामी महाराज दूसरे प्रकारसे भरत क्षेत्रकी चौडाईको प्रतिपादन करनेके छिये अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

भरतस्य विष्कंभो जम्बृद्वीयस्य नवतिशतभागः॥३३॥

भरत क्षेत्रकी दक्षिण, उत्तर, चौंडाई जम्बूद्धीपके एक सी मच्चेंने माग परिमाण है। अर्थात्— प्रथम स्थानको एक नग (अदत) मानकर उससे परछी ओरके सात स्थानोंतक दूना दूना तिस्तार किया जाय। पुनः सातवें स्थानसे छह स्थानोंतक आधा आधा विस्तार किया जाय, ऐसी दशामें ये सम्पूर्ण नग (डाग) एक सी नच्चे हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण जम्बूदीपमेंसे भरत क्षेत्रकी चौंडाई एक सी नच्चेंने भाग आ जाती है।

नवत्याधिकं शतं नवतिशतं नवतिशतेन लब्धो मागो नविश्वातमागः । अत्र तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे लोपश्चेत्यनेन वृत्तिर्द्ध्योदनादिवत् । स पुनर्नवितशतभागो जंब्द्वीपस्य पंचयोजन शतानि षड्विशानि षट्चैकाश्वविंशतिभागा योजनस्येत्युक्तं वेदितव्यं । पुनर्भरतिविष्कंभवचनं प्रकारांतरमतिपस्पर्थमुत्तरार्थे वा । तदेवं—

नवतिसे अधिक रात यों मध्यम पद छोपी समास कर " नवतिरात " यह पद बना छिया जाता है। एक सी नम्बे भाजक द्वारा प्राप्त द्वये भागको नवतिशतभाग कहते हैं। यहां " तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे छोपश्च '' इस सूत्र करके समासवृत्ति हो जाती है। जैसे कि '' दम्ना उपसिक्तमोदन दध्योदनं ,, " गुडेन सक्ताः धानाः गुडधानाः, घृतेन संयुक्तो घटः घृतघटः " इत्यादि स्थलेंपर मध्यम पदोंका लोप करते हुये सामर्थ्य प्राप्त कर तत्पुरुष समास कर दिया जाता है। उसी प्रकार "नवत्या" इस तृतीयान्त पदके पूर्व वृत्ति होनेपर उत्तरवर्ती शत पदके परे रहते समास होजाता है और अधिक इस पदका लोप होजाता है। फिर वह एक लाख योजन चौडे जंबूदीपका एकसी नन्बेमां भाग तो पांचसी छन्बीस पूरे योजन और योजनके छह उनीसें भाग हैं। इस बातको पूर्व सूत्र द्वारा कहा जा चुका समझ छेना चाहिये। जब कि " भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविशतिभागा योजनस्य '' इस सूत्र द्वारा भरतका विस्तार कहा ही जा चुका था। अब जो फिर भरतका विष्कंभ कहा जारहा है वह शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थ अन्य प्रकार करके प्रतिपत्ति करानेके छिये है अथवा उत्तरवर्ती " द्विघीतकी खण्डे, पुष्करार्धे च " सूत्रों करके जो प्रमेय कहा जायगा। उसका अभिसंबंध करनेके लिये यह सूत्र कहा गया है। भावार्थ--जंबूद्धीपमें चौरासी शलाकार्थे पर्वतोंकी और एकसी छह रालाकार्ये क्षेत्रोंकी यों एकसी नब्बै भाग हैं। धातकी खण्डमें दो मेरुसम्बन्धी बारह कुळाचल और चीदह क्षेत्र हैं। सभी कुळाचळ और दो इष्त्राकार पर्वतोंसे घिरे हुये स्थानसे अवशिष्ट स्थळमें चौदह क्षेत्रोपयोगी दो सी बारहका भाग देनेसे एक भरतक्षेत्रका स्थान निकलता है। यों ही प्रकरार्घके भर-तका क्षेत्र जान छेना । इसी संबंधको जतानेके किये इस सूत्रका निर्माण किया है । तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

तत्क्षेत्रवासिनां नृणामायुषः स्थितिरीरिता । सूत्रत्रयेण विष्कंभो भरतस्यैकसूत्रतः ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने " एकदित्रिपल्योपमस्थितयो हैमनतकहारिवर्षकदैवकुरुवकाः, तथोत्तराः, विदेहेषु संख्येयकाळाः " इन तीनों सूत्रों करके उन क्षेत्रोंमें निवास करनेवाळे मनुष्योंके जीवित काळकी स्थितिको कह दिया है और " भरतस्य विष्कम्भो जम्बूदीपस्य नवतिशतभागः " इस एक सूत्रसे भरतकी चौडाई कह दी गयी है।

तनृणामित्युपल्रक्षणात्तिरश्चामपि स्थितिरुक्तेति गम्यते ।

जैसे "काकेम्यो दिष रक्ष्यतां " यहां काकपद सभी दिष्ठिक उपधातकोंका उपलक्षण है, यानी काकपदसे दिहीको बिगाडनेवाले अन्य पशु, पक्षी, छोकरा आदि सर्व ही पकड लिये जाते हैं। उसी प्रकार उक्त वार्तिकमें कहे गये " नृणां " यानी उन क्षेत्रनिवासी मनुष्यों यह पद उपलक्षण है। इस कारण वहांके पैचेद्रिय तिर्थेचोंकी स्थिति भी उन ही तीन सूत्रों द्वारा कह दी गयी, यों समझ लिया जाता है।

धातकीखंडे भरतादिविष्कंभाः कथम् प्रमीयत इत्याइ।

धातकी खण्ड द्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंकी चौडाई भला किस प्रकार अच्छी नापी जाती है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

द्विर्घातकीखण्डे ॥ ३४ ॥

दूसरे द्वीप धातकी खण्डमें क्षेत्र, पर्वत, कमल, हद, नदियां आदिक संख्या द्वारा जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दो दो होकर दुगुने नापे जाते है । अर्थात्—दो मेरु सम्बन्धी क्षेत्र पर्वतादिकी संख्या दूनी है तथा चौडाई भी दुगुनीसे कथमपि न्यून नहीं है ।

नतु च जंबूद्वीपानंतरं स्वणोदो वक्तव्यस्तदुर्ह्घंचने मयोजनाभावादिति चेस्न, जंबूद्वीप-भरतादिद्विगुणधातकीत्वंडभरतादिमतिपादनार्थत्वात्, स्वणोदवचनस्य सामर्थ्यस्यव्याचा । महीतस्रमूख्योर्दश्रयोजनसङ्ख्रविस्तारो स्वणोदः ।

यहां श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति कोई शिष्य अनुनय करता है कि कृपासागर सूत्रकार महाराजजीको तेतीसवें सूत्रतक जम्बूद्धीपका वर्णन करने के पश्चात् चौतीसमें सूत्रमें छवणसमुद्रका निरूपण करना चाहिये था । उस छवणसमुद्रको वर्णनको उद्घंघन करने में उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं सघता है, जिससे कि धातकी खण्डका वर्णन झट मध्यमें आ कूदे। अब प्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना । क्योंकि जम्बद्वीप सम्बन्धी भरत आदि क्षेत्र या पर्वत, नदी, कुण्ड, आदिकोंसे संख्यामें दुगुने धातकी खण्ड सम्बन्धी भरत, हिमवान् , गंगा, गंगाकुण्ड, आदि हैं। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके छिये धातकी खण्डका वर्णन सप्रयोजन हैं। दूसरी बात यह है कि '' तन्मध्यपतितस्तद्प्रहणेन गृह्यते '' इस नीतिके अनुसार जम्बूदीप और धातकी खण्डकी वर्णना कर देनेसे छवणसमुद्रका निरूपण तो विना कहे ही पूर्वापर अभिधानकी सामर्थ्यसे ही स्वतः छन्ध हो जाता है। सर्वेज्ञ सम्प्रदायका अति-क्रमण नहीं कर आम्नायसे प्राप्त हो रहे आगमों द्वारा या गुरुपरिपाटी द्वारा छवण समृद्रका स्वरूप इस प्रकार समझ छेना चाहिये कि समभूमितलपर एक लाख योजन चौड़े जम्बूद्वीपका परिक्षेप करनेवाले कंकण समान लवण समृद्रकी चौडाई दो छाख योजन है। गायोंके जल पीनेके घाट समान कमसे गहरा होता हुआ उरलीपार, परली पार दोनों ओरसे पिचानवे हुजार योजन तिरछा चलकर हुजार योजन गहराई रखता हुआ बजा प्रथ्वीके ऊपर और चित्रा प्रथ्वीके अधस्तलमें लवण समुद्र नीचे दश हजार योजन चौडा हो गया है। " पुण्णिदिणे अमवासे सोलक्कारससहस्स जल उदयो, वासं मृहभूमीए दसम सहस्सा य वे लक्खा '' इस गाथा अनुसार चित्राके उपरिम भूमितलसे सदा ग्यारह हजार योजन जलकी ऊंचाईको धारने वाले लवण समुद्रका क्रमसे बढता हुआ जल पूर्णिमाको सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ जाता है। वहां ऊपर जलतलकी चौडाई दस हजार योजन है। अतः स्वण मुमद्ररूपी कंकणको कहींसे भी काट कर यदि ।तिरक्षा देखा जाय तो उसका कटा हुआ आकार सर्वत्र मुदंग सारिखा मिलेगा । लवण समुद्रके अतिरिक्त और किसी भी समुद्रका जल चित्राके समतलसे ऊंचा उठा हुआ नहीं है। हां, वेदिके परें उरले परले द्वीपसे पोखरियाके समान क्रमसे तिरछा निम्न होरहा हजार योजन जल उनमें भरा हुआ है। छत्रण समुद्र सम्बन्धी सूर्य चंद्रमा या इतर ज्योतिष्कमण्डलका ख्वण जलमें ही संचार होता रहता है मछिखयोंके समान देवों और देवविमानों या चैतन्य, चैत्याख्य, आदि पदार्थोंको हानि नहीं पहुंचती है । जैसे कि वायु समुद्रमें इब रहे अस्मदादिकोंको वायु द्वारा कोई क्षति नहीं पहुंच पाती है। उयोतिष्क विमानोंके कचित स्थलीमें प्रयोगों द्वारा जलका अवरोध भी कर दिया जाता है। समुद्रमें चरने वाले मछली, मगर, आदि जीवोंके शरीरोंमें भी तो जलावरोधके निमित्त विद्यमान हैं । हम लोग भी फैली हुई वायुका यथायोग्य न्यूनाधिक प्रवेश या अवाञ्छनीय अप्रवेश कर छेते हैं।

तन्यध्ये दिश्च पातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि, विदिश्च श्वद्रपातालानि दश्योजन सहस्रावगाहानि, तदंतरे श्चद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रं ।

उस छवण समुद्रके ठीक मध्यमें चारों दिशाओंमें चार पाताल बने हुये हैं, जो कि जंबूद्वीपकी रक्षवेदिकासे पिचानकी हजार योजन तिरला चालकर रत्नप्रमा भूमिक कुठिया या कूआ समान विवर हैं। इन चारोंकी गहराई एक लाल योजन है। इन गोल पातालोंकी अधस्तल और उपरितलमें चौडाई दश हजार तथा मध्यमें एक लाल योजन है। ऊंची लडी कर दी गयी ढोळक या पलबाजकास।

इनका आकार है। इनकी पांचसी योजन चौडी भीतें और तल वश्रमय हैं। मध्यलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण दृश्य, अखंड, अवयवी, पदार्थों मेंसे ये ही पाताल चित्रा पृथ्वीके नीचे तक चले गये हैं। वजा, वैह्यं, यहांतक कि लोकके अन्त तक फैल रही रह्मप्रमांके सोल्ह हजार योजन मोटे पूरे खर पृथ्वीभाग और चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुलभागतक ये पाताल घुस गये हैं। उन महापातालोंके तिहाई नीचले तेतीस हजार तीनसी तेतीस और एक बटे तीन योजन भागमें वायु भरा हुआ है। मिसले तीसरे भागमें वायु और जल ठस रहे हैं। ऊपरले त्रिभागमें जल है। कितिपय निमित्तों हारा वायुका संक्षोभ हो जानेसे समुद्र जलकी वृद्धि हो जाती है। इन चार महा पातालोंके ठीक मध्य विदिशाओंमें चार क्षुद्र पाताल दश हजार योजन गहरे अन्य मी हैं। जो कि मुख और मूलमें हजार योजन तथा मध्यमें दश हजार योजन चौडे हो रहे मुरज समान हैं। इनमें भी निचले त्रिभागमें वायु और बिचले त्रिभागमें जल, वायु मिलकर दोनों तथा उपरिम त्रिभागमें केवल जल भर रहे हैं। उम दिशा, विदिशाओंमें बन रहे पातालोंके आठों अन्तरोंमें हजार योजन गहराईको धार रहे अति क्षुद्र पातालोंकी सहस्र संख्या और भी समझ लेनी चाहिय। इन हजार पातालों (बडवानलों) की सध्यमें चौडाई हजार योजन और मुख या मूलमें पांचसी योजन चौडाई है। इनके तीन त्रिभागों मी यथाकम नीचेकी ओरसे वात और जल, वायु, तथा जल भर रहे है। जो कि समुद्रके जलकी वृद्धि या हानिमें सहायक हैं। ये सम्पूर्ण पाताल अनादि अनिधन हैं।

दिश्च वेलंधरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि द्वादश्चयोजनसद्दश्चायामविष्कंभो गौतमद्वीप-श्रेति श्रूयते ।

जम्बूद्रीपके अन्तिम भाग हो रही राजवेदिकासे तिरछे वियालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओं में समुद्रकी वेलाकी धारनेवाले नागकुमाराधिपति भवनवासी देवोंके चार नगर बने हुये हैं। जिनमें निवास करनेवाले हजारों भवनवासी देव स्वकीय नियोग अनुसार ल्वणसमुद्रकी अभ्यन्तर वेला, बाह्यवेला, और अग्रजलको वहांका वहीं नियत स्थानोंपर रोक कर धार रहे हैं। उचित हानि, या घृद्धिके सिवाय उठे हुये जलको इधर उधर नहीं गिरने, फैल्ले, उछलने देते हैं। यद्यपि निश्चयनय अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपको धार रहे हैं। जलकी बूंद या कटोराका पानी यों भी कुछ ऊपर उठा हुआ रह सकता है। तथापि व्यवहार नय अनुसार कतिपय बादर पदार्थोंके अवलम्ब हो रहे यथा व्यवस्थित पदार्थोंका आचार्य महाराजने निरूपण कर दिया है। राजवेदिकासे तिरछे बारह हजार योजन चलकर बारह हजार योजन लंबा चौडा गोल " गौतम " नामका द्वीप ल्वणसमुद्रमें विद्यमान है, जिसमें ल्वणसमुद्रके अधिपति गौतम देवका निवास है। लवण समुद्रके तटसे पिचानवे हजार योजन चलकर समुद्रकी गहराई हजार योजन होगई है। अतः पिचानवे प्रदेशोंपर एक प्रदेश गहरा, पिचानवे हाथ चलकर एक हाथ गहरा, पिचानवे कोस तिरछा चलकर एक कोस गहरा, इस क्रमसे समुद्रकी गहराई मिळती चली जायगी। नीचे जाकर मध्यमें दश हजारकी चौडाईपर

हजार योजनकी गहराई है। इससे अधिक गहराई कहीं नहीं है। छवण समुद्रमें जंबूद्वीपकी और चोबीस और धातकी द्वीपकी और चोबीस यों कुमोगभूमियोंके अडताछीस द्वीप अन्य भी बने हुये हैं। मागध आदि भी कई द्वीपोंकी रचना है, इत्यादिक करणानुयोग सम्बन्धी सिद्धान्त तो सर्वज्ञ आम्नात शास्त्रों द्वारा या साम्प्रदायिक ऋषियों द्वारा सुना जा रहा है। इस आर्ष सिद्धान्तमें किन्हीं प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा नहीं उपस्थित होती है। बाधकासम्भवसे अतीन्द्रिय पदार्थोंकी भी निर्विवाद, अवि-सम्वादिनी, सिद्धि हो जाती है।

नतु च पूर्वपूर्वपरिक्षेपिद्वीपसग्रद्भमकाशकस्तत्र सामध्यां जंबृद्वीपपरिक्षेपी छवणोदो ज्ञायते सामान्यत एव । तद्विश्वेषास्तु कथमनुक्ता इहावसीयंत इति न शंकनीयं, सामान्यमतौ विश्वेष-सद्भावगतेः सामान्यस्य स्वविशेषाविनाभावित्वात् संक्षेपतः सूत्राणां मद्दतेः सूत्रेस्तद्विशेषान-भिधानं जंबृद्वीपादिविशेषानाभिधानवत् । वार्तिककारादयस्त्वर्थाविरोधेन तद्विशेषान् सूत्रसाम-ध्याङ्घणा नोत्सूत्रवादितां छभते 'च्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्विह संदेहादछक्षणम् ' इति वचनात् ।

यहां किसीका शंका अनुसार आक्षेप है कि इस तृतीय अध्यायके सातवें, आठवें, सूत्र अनुसार पूर्वका परिक्षेप करनेवाले असंख्य द्वीप समुद्रोंका प्रकाश किया जा चुका है, उनमें जंबद्वीपका परिक्षेप करनेवाला लवणसमुद्र तो सामान्यरूपसे विना कहे सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। किन्तु उस लवणसमुद्रके पाताल, क्षुद्रपाताल, द्वीप, कुभोगभूमि ये विषेष तो यहां सूत्रोंद्वारा नहीं कहे गये हैं, फिर बिन! कहे ही उन विशेषोंका निर्णय कैसे कर लिया जाता है ! बताओं। प्रंथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सामान्य रूपसे ज्ञाति होचकते पर उसके विशेष अंशोंके सद्भावकी भी परिन्छिति होजाती है। कारण कि सामान्य अर्थ अपने विशेष अर्थोंके साथ अविनाभाव रखने वाळे होते हैं। " निर्विशेषं हि सामान्यम् भवेत खरविषाणवत् " । कोई मनुष्यसामान्य या घोडा सामान्य अपने उचित विशेषोंसे रीता होकर अकेला अद्यावधि नहीं देखा गया है। जैन सिद्धांतमें पदार्थको सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया गया है। हां, शहोंके संक्षेपसे सूत्रोंकी प्रवृत्ति होती है। अतः अनेक छोटे छोटे विशेष अर्थोंके प्रतिपादक सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने छवण समुद्रके उन विशेषोंका कंठोक्त निरूपण उसी प्रकार नहीं किया है, जैसे कि जंबूद्वीपके भदसाल, देवारण्य, भूतारण्य, आदि वनों, विजयार्थ यमकादि, बूषभाचल, गजदंत, वेदाव्य आदि पर्यतों, या उन्मग्ननला, निमम्बजला, विभंगा आदि नदियों तथा अन्य अन्य शाल्मली वृक्ष, वेदी, पाण्डुक शिला, म्लेन्छ खण्ड, खण्डप्रपातगुद्दा आदिका सूत्रों द्वारा पृथक् पृथक् निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात् --यें सभी विशेषींका सूत्रों द्वारा निरूपण करने पर मूळ सूत्रप्रन्थका अत्यधिक विस्तार होजायगा । फिर टीका प्रमथ किस रोगकी औषाधि हैं ! बताओ तो सही | इस तत्त्रार्थसूत्रकी समीचीन टीकाओं या त्रिलोक- सार, जंबूद्दीपप्रज्ञित, आदि प्रंथोंकी रचना करने वाले आचार्योंके वचन भी प्रमाण हैं। सिद्धांत अर्थके अविरोध करके सूत्रोंकी सामर्थ्यसे विना कहे ही प्राप्त होचुके उन उन विशेष अर्थोंका व्याख्यान कर रहे वार्ति ककार श्री अकलंक देव, श्री विद्यानन्द स्वामी अथवा अन्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचकवर्ती, श्री वीरनन्दी सिद्धांतचकवर्ती, आदि प्रकाण्ड विद्वान् तो उत्सूत्रवादीपन दोषको नहीं प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्— जो परमागम सूत्र सिद्धांतोंका उल्लंघन कर मनमानी झूंटी सांची गप्पोंको हांकते हैं वे उत्सूत्र माषी हैं। किन्तु श्री अकलंक देव, श्री नेमिचन्द्र महाराज आदि आचार्य तो गुरुपरिपाटी अनुसार उन्हीं सिद्धांत सूत्रोंका स्वकीय ग्रंथोंमें व्याख्यान करते हैं। लोकमें प्रसिद्ध होरहा यह वचन है कि व्याख्यान कर देनेसे परिज्ञात सामान्य अर्थके विशेषोंकी प्रतिपत्ति होजाती है, संदेह कर देनेसे वह सामान्य खपसे सिद्धांतित कर दिया गया लक्षण कोई कुलक्षण या लक्षणामाव नहीं होजाता है। हां, यह लक्ष्य एवा जाय कि वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका निरूपण दष्ट, इष्ट, और पूर्वापार प्रकरणेंसि अविरुद्ध होना चाहिये। कोई भी विचारशील विद्वान् सर्वज्ञथारासे चले आरहे प्रमेयका प्रातिपादन करदे वह उत्सूत्रभाषीपन दोषका पन्न कालत्रयमें भी नहीं होसकता है।

नतु च धातकीर्खंडे द्वी भरतौ द्वी हिमवंतावित्यादिद्रव्याभ्याष्ट्रतौ द्विरित्यत्र सुजसंभव इति चेत्र, मीयंत इति कियाध्याहारात् द्विस्तावानिति यथा, तेन धातकीरवंडे भरतादिवर्षो-हिमवदादिवर्षधरश्च इदादिश्च द्विर्मीयत इति सुत्रितं भवति ।

यहा कोई पण्डित दूसरे प्रकारकी शंका उठाता है कि धातकी खण्डमें दो मरत क्षेत्र हैं। दो हिमवान् पर्वत हैं, दो हैमवत क्षेत्र हैं, दो महाहिमवान् पर्वत हैं, इत्यादि रूपसे इच्यकी अभ्यावृत्ति करनेपर दिर् इत पदमें सुच् प्रत्यय करनेका असम्भव है। क्योंकि " दित्रिचतुर्भ्यः सुच् " इस सूत्र अनुसार कियाकी अभ्यावृत्ति गिननेमें सुच् प्रत्यय हो सकता है। भरत हिमवान् आदि द्व्योंके बार बार गिननेमें सुच्पत्ययका विधायक कोई व्याकरणका सूत्र नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि " मीयंते " यानी नापे जा रहे हैं, इस क्रियाका अध्याहार अर्थात् उपरिष्ठात् उपस्कार कर छेनेसे उसी सूत्र द्वारा सुच्नुक्रत्यय कर खिया जाता है, जैसे कि यह प्रासाद (हवेछी) उस परिभाणवाछा दो बार है। इस वाक्यमें " नापा जाता है " इस क्रियाका अध्याहार कर दो बार उतना नापा जाता है। यो दिस्तावान् पदमें सुच् प्रत्ययकी घटना हो जाती है। उसी प्रकार " दिर्धातकीखण्डे " यहां भी संख्यावाची दि शहसे कियाकी पुनरावृत्ति गिननेमें सुच्यत्यय तिव्रतवृत्तिमें कर खिया जाता है। तिस करके धातकी खण्डमें भरत, हैमवत, आदिक क्षेत्र हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत तथा हद, नदी, मेर, आदि दो, दो होकर संख्या द्वारा नापे जाते हैं, यह सूत्र द्वारा अर्थ उक्त हो जाता है।

कियान् पुनर्धातकीखण्डे भरतस्य विष्कंभ इत्युच्यते-पद्पष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानामेकाकात्रिंशच भागशतं योजनस्याभ्यंतरविष्कंभः। सकाद्वीतिपंचशताधिकद्वादश्च- सहसाणि पद्त्रिशच भागा योजनस्य मध्यविष्कंभः । सप्तचत्वारिशत्यंचशताधिकाष्टादश-सहसाणि योजनानां पंचपंचाशच भागशतं योजनस्य बाह्यविष्कंभः ।

कोई जिज्ञास पूछता है कि श्री विधानन्द स्वामिन महाराज ! यह बताओ कि धातकी खण्डमें भरत क्षेत्रकी चौडाई भला कितनी है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रन्थकार करके यों उत्तर कहा जाता है कि छह हजार छह सी चीदह पूरे योजन और एक योजनके दो सी बारह भागोंमें एक सी उन्तीस भाग इतना धात भी खण्डके भरतका अभ्यन्तर विष्कंग है। बारह हजार पांच सी इक्यासी योजन और योजनके छत्तीस बटे दो सी बारह माग भातकी खण्डके भरतका मध्यम चौडाई है तथा अठारह हजार पांच सी सेताछीस और एक सी पचपन बटे दो सी बारह योजन धातकी खण्डके भरतका बाह्य विकास है। भावार्थ-धातकी खण्डका भीतरहा न्यास पांच छाख है। वही छवण समुद्रका अन्तिम न्यास है। मध्यम न्यास नो लाख और धातको खण्डकी बाह्य सूची तेरह लाख योजन की है। " विक्खंभवागदहगुणकरणी वहुस्स परिस्यो होइ " स्थूळपरिधि व्याससे तिगुनी समझी जाती है। किन्तु सूक्ष्म परिधि तो व्यासके वर्गको दश गूना करनेपर पुनः उसका वर्गमूल निकाला जाय तब ठीक बैठती है। पांच लाखके वर्गके दश गुने पश्चीस खर्व संख्याका वर्गमुळ निकालनेपर पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (१५८११३९) योजन धातकी खण्डकी अभ्यन्तर परिधि बैठती है। इक्यासी खर्च (८१०००००००००) का वर्गमूल निकालनेपर अडाईस लाख छियालिस हजार पचास (२८४६०५०) योजन धातकी खण्डकी मध्यम परिधि आती है। धातकी खण्डके बाह्य व्यास तेरह छाखके वर्गके दश गुने एक नील उन्हत्तर बर्व (१६९०००००००००) का वर्गमूल निकाला जाय तो इकतालीस लाख दश हजार नौ सी इकसठ (४११०९६१) योजन धातकी खण्डकी बाह्य परिधि आ जाती है। जम्बूद्वीपमें जैसे पर्वत या क्षेत्रोंका विन्यास है वैसा धातकी खण्डमें नहीं है । परे पहियाके समान धातकी खण्डमें अरोंके स्थानपर पर्वत पड़े हुये हैं । और (अरविवर) रीते स्थानोंपर भरत आदि क्षेत्र रचे हुये हैं । जम्बूदीपमें हिम-वान् , महाहिमवान् , आदि पर्वतोंकी जितनी चौढाई है, उससे ठीक दूनी धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई है। घातकी खण्डमें भी हिमत्रान आदि पर्वत भीतके समान नीचे ऊपर एकते और लवण समुद्रके अन्तिम भागसे प्रारम्भ कर कालोद्धि समुद्रके आदि भागतक समान एकसी चौडा-ईको किये हुये लम्बे पडे हुये हैं। पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ये दो विभाग कर-नेके लिय धातकी खण्डके दक्षिण और उत्तर प्रान्तमें इजार योजन चौड़े चार सौ योजन ऊंचे चार ळाख योजन लम्बे ऐसे दो इष्वाकार पर्वत पडे हुये हैं। जम्बुद्वीपके पर्वतोंसे धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई ठीक दूनी है और पर्वतोंकी संख्या भी दूनी है। प्रस्युत दो इन्त्राकार पर्वत और भी अधिक हैं। जम्बूद्वीपमें छह पर्वत हैं तो धातकी खण्डमें दो इत्याकारों सहित चौदह पर्वत हैं। जम्बद्वीपमें हिमबान आदि पर्वतोंने दक्षिण, उतर, चवाळीस बजार दो सौ दस और दस बटे उर्जीस योजन आहारा हो वर रक्खा है। छहाँ पर्वती ही राजाकार्य चौगसी हैं। एक सी नव्ये राजाकाओंके लिये

जम्बूद्वीपमें एक लाख योजन क्षेत्र मिछे तो चौरासी शलाकाओंमें कितना क्षेत्र घिर जायगा ! यों त्रैरा-शिक करनेपर पर्वतोंसे अवरुद्ध हुआ उक्त संख्यावाळा क्षेत्र निकल आता है। धातकी खण्डके संख्यामें और चौडाईमें दुगुने पर्वतोंसे रुके हुये क्षेत्रको निकालनेके लिये जम्बूद्वीपके उक्त पर्वतावरुद्ध क्षेत्रको चौगुना कर देनेपर एक लाख छिद्दचर हजार आठ सी। बियालीस और दो बटे उन्नीस योजन क्षेत्र निकलता है। इसमें दो इष्टाकार पर्वतोंकी दो हजार योजन चौडाईको मिला देनेपर धातकी खण्डमें पर्वतोंसे चिरा हुआ एक ठाख अठत्तर हजार आठ सौ बियाखीस (१७८८४२) योजन क्षेत्र हुआ। अंश (बटे) संख्याकी विवक्षा नहीं है। जम्ब्रद्वीपमें सातों क्षेत्रों की एक सौ छह रालाकायें हैं। इनसे दनी दो सौ बारह शलाकारों धातकी खण्डमें क्षेत्रोंकी हैं। क्योंकि क्षेत्रोंकी दूनी यानी चौदह संख्या है। उन अभ्यंतर, मध्य और बाह्य तीन प्रकारकी धातकी खण्ड द्वीपसम्बन्धी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रकों घटाकर रोष बचे क्षेत्रमें दो सौ बारहका भाग देनेपर और भरतके लिये नियत एक रालाकासे गुणा-कर देनेपर धातकी खण्डके भरतकी भीतरली, बिचली, और बाहरी, चौडाईका क्षेत्र निकल आता 🕏 । भीतरली परिधि १५८११३९ में से १७८८४२ को घटाकर बचे हुये १४०२२९७ में २१२ का भाग देनेपर छह हजार छह सी चौदह और एक सी उन्तीस बटे दो सौ बारह योजन धातकी खण्डके भरतकी भीतरी चौडाई निकल आती है। इसी प्रकार भरतकी मध्यम परिधि और बाह्य परिधिको निकाल लेना चाहिये। ऐसी दशामें धातकी खण्डका भरत आदिमें छह हजार छह सौ चौदह योजनसे क्रम क्रम कर बढता हुआ अन्तर्मे अठारह हजार पांच सौ सेतालीस योजन' चौढा हो गया है और चार छाख योजन छम्बा पड़ा है। जम्बूद्धीपके भरतसे यह सैकडों गुणा बड़ा है। " वाहिरसुईवर्गं अन्बंतरसुइवरगपरि**हीणं,** जम्बूवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि " इस गाथा अनुसार जम्बूद्वीपसे धातकी खण्ड एक सौ चनाछीस गुने क्षेत्रफलको धार रहा है।

वर्षाद्वर्षश्रतुर्ग्रुणविस्तार आविदेहात् । वर्षथराद्वर्षथर् आनिषधात् । उत्तरा दक्षिणतुल्या इति च विक्षेयं । भरतैरावतविभाजिनौ च दक्षिणोत्तरायतौ खबणोदकालोदश्पर्शिनौ खबणो-दादक्षिणोत्तराविष्वाकारगिरी प्रतिपत्तव्यौ । धातकीखंडवलयपूर्वीपरविभागमध्यगौ मेरू च ।

धातकी खण्डमें पिहिले भरत क्षेत्रसे अगले, अगले वर्ष चौगुने, चौगुने विस्तारनाले हैं। विदेह पर्यन्त यही दशा है। क्योंकि पिहिले क्षेत्रसे दूसरेकी, दूसरेसे तीसरे की, तीसरेसे चौथेकी, शलाकायें चौगुनी, चौगुनी, हैं। हां, लंबाई सर्व क्षेत्र या पर्वतोंकी एकसी चार लाख है। इसी प्रकार पिहिले हिम-वान् पर्वतसे अगले अगले पर्वतोंकी चौडाई निषधपर्वतपर्यन्त चौगुनी, चौगुनी, है। तथा उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिण दिशावतीं कहे जा चुके इन पर्वत और क्षेत्रोंके समान है, यह भी समझ लेना चाहिये। चार लाखकी लंबाई विदेह क्षेत्रकी मध्यम या बाह्य परिधिकी अपेक्षा चौडाई समशी जायगी। धातकी खण्डमें पूर्व मेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अथवा पूर्व मेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरतका विमाग करने वाले इध्याकार पर्वत पढे हुये

समझ छेने चाहिये। सुवर्णमय इन पर्वतोंका आकार ऋज (सीघे) छंबे बाणके समान है। अतः इनका नाम अन्वर्थ है। ये धातकी खण्डमें दक्षिण और उत्तर दिशाओंकी ओर छंबे पड़े हुये है। भीतर छवण समुद्र और बाहर काछोदधि समुद्रको छुरहे हैं। पिंडिळा इध्वाकार छवणसमुद्रसे दक्षिणकी ओर और दूसरा छवणसमुद्रसे उत्तरकी ओर पसर रहा है। इन इध्वाकारोंसे धातकीखण्डस्वरूप कंकणके पूर्व धातकी खण्ड और पिश्वम धातकी खण्ड दीप यों विभाग होजाते हैं और उन दोनों विभागोंके मध्यमें दो मेरु पर्वत प्राप्त होरहे हैं। जोकि जंबूद्वीपके सुदर्शन मेरुसे कुछ छोटे हैं। चौरासी हजार योजन ऊंचे हैं। जंबूद्वीपमें जहां जंबूद्वक्ष है, उसी प्रकार धातकी खण्डमें धातकी खण्डका परिक्षेप करनेवाला आठ लाख योजन चौड़ा कालोदिध समुद्र है। कालोदिधमें भी बाह्य तट और अभ्यन्तर तटसे पांच सौ, साड़े पांचसौ, और छह सौ, योजन चळकर अडतालीस अंतरदीप हैं। उनमें कुमोगभूमिकी रचना है।

अथ पुष्करार्धे कथं भरतादिमीयते तदिष्कंभाश्रेत्याह ।

इसके पश्चात् किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि दयानिधे यह बताओं कि पुष्करार्ध द्वीपमें भरत आदिक भछा किस प्रकार नापे जारहे हैं ! और उनकी चौडाई आदिकी क्या व्यवस्था है ! यो प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

पुष्करार्धे च ॥ ३५ ॥

संपूर्ण पुण्करमें नहीं किंतु पुण्कर द्वीपके भीतरले आधे भागमें भरत आदिक दो बार संख्या-द्वारा गिने जाते हैं । अर्थात्—जंबूद्वीपके भरत आदि या हिमवान् आदिकी अपेक्षा पुण्करार्धमें दो बार यानी दो भरत, दो हिमवान्, यों क्षेत्र, पर्वत, नदी, हद, मेरु, कुण्ड आदि हैं।

संख्याभ्यावृत्त्वर्तनार्थश्रक्षद्धः । धातकीखण्डवत्युष्करार्धे च भरताद्यो द्विमीयंते । तत्रैकाश्राधीत्युत्तरपंचश्रताधिकैकचत्वारिंशयोजनसद्दास्यणि सत्रिसप्ततिभागश्चतं च भरतस्याभ्यंतरिविष्कंभः, द्वादशपंचश्रतोत्तराणि त्रिपंचाशयोजनसद्दस्याणि नवनवत्यधिकं च भागश्चतं योजनस्य मध्यविष्कंभः, षट्चत्वारिंशश्चतुःशतोत्तरपंचषष्टिसद्दस्याणि त्रयोदश च भागा योजनस्य बाह्यविष्कंभः।

" दिर्घातकीखण्डे " इस पूर्व सूत्रसे " दिर् " इस संख्याकी अभ्यावृत्तिका अनुवर्तनके छिये यहां सूत्रमें च राद्व किया गया है । धात की खण्ड के समान पुष्करार्धमें भी जम्बूदीपकी अपेक्षा भरत आदि दो बार गिने जाते हैं । इस पुष्करार्ध दीपमें भरत क्षेत्रकी भीतरली चौडाई इकतालीस हजार पांच सी उनासी और एक सी तिहत्तर बटे दो सी बारह योजन है । पुष्करदीपके भरतकी त्रेपन हजार पांच सी बारह और एक सी निन्यानवे बटे दो सी बारह योजन मिक्कली चौडाई है तथा

पेंसठ हजार चार सौ छियालीस और तेरह बटे दो सौ वारह योजन पुष्करके भरतकी बाहरली चौडाई है । मावार्थ--कालोदिध समुद्रसे बाहरली और चुपटी हुई पुन्करार्धकी भीतरली परिधि इक्याने व वाल सत्तर हजार छह सी पांच (९१७०६०५) योजन है और पुण्करार्धको सेतीस लाख न्यासवाले मध्यदेशकी " विक्लंभवग्गादहराणकरणी वटस्स परिखो होदि" इस नियम अनुसार एक करोड सत्रह लाख चार सौ सत्ताईस (११७००४२७) योजन परिधि होती है। पेंतालीस लाखवाले पुण्करार्व द्वीपकी बाहरली परिधि एक करोड बियालीस लाख तीस हजार दी सी उनचास (१४२३०२४९) योजन है। एक अंकके बटे द्वये भागोंका यहां छक्ष्य नहीं स्कला गया है। धातकी खण्डके बारहऊ कुळाचळोंसे पुष्करार्धके बारहऊ कुळाचळोंकी चौडाई दूनी दूनी है। किन्तु इष्त्राकार पर्वत दोनों दीपोंके एकसे एक एक हजार योजन चौडे हैं। अतः पुष्करार्धमें चौदह पर्वतोंसे रुका हुआ क्षेत्र तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी (३५५६८४) योजन है। उन तीनो प्रकारकी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको न्यून कर पुनः चौदह क्षेत्रोंकी दो सी बारह शळाकाओंसे भाजित कर पश्चात् भरतकी एक शळाकासे गुणा कर देनेपर पुष्कराधिके भरतकी भीतरी, बिचली और बाहरी चौडाई निकल आती है। अतः इकतालीस हजार पांच सौ उनासी योजनसे क्रमवार बढता हुआ पेंसठ हजार चार सी छियालीस योजन चीडा हो रहा और आठ लाख योजन लम्बा यह पुष्करार्धका भरत क्षेत्र उस जम्बूदीपके भरतसे हजारों गुणा बडा बैठता है । हां, जम्बूद्धीपका हिमवान् पर्वत दस सौ बावन और बाँरह बंटे उनीस योजन चौडा तथा चौतीस हजार नौ सौ बत्तीस और एक बटे उन्नीस योजन छम्बा है । किन्तु पुष्करार्धका एक हिमवान् पर्वत इससे चौगुना चार हजार दो सौ दश और दश बटे उन्नीस योजन चौडा तथा आठ लाख योजन लम्बा है । हां, जम्बूदीपके कुलाचल, बक्षार, नदी, हद आदिकी गहराई और ऊंचाईके समान ही धात भी खण्ड और पुम्करार्घ द्वीपोंके कुळाचाळों आदिकी गहराई या ऊंचाई है। यो जम्बूदीपके हिमवान और पुष्करार्वके हिमवान् पर्वतका अन्तर स्पष्ट समझ लिया जाता है। भलें ही ढाई द्वीपमें छोटेसे जम्बूद्वीपको पूरा एक और विचारे पुष्करार्धको आधा गिन छो, " नाम वडे दर्शन थोडे "।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्ग्रणविस्तार आविदेहात् । वर्षधराद्वर्षधरश्चा निषधात् । मानुषोत्तरश्चेलन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंक्षाः, पुष्करद्वीपस्यार्धे हि पुष्करार्धमिति मोक्तं । अत्र धातकीखंडव-द्वर्षधराश्चकारवदवस्थितास्तदंतरालवद्वर्षाः। कालोदमानुषोत्तरश्चलस्पर्शिनाविष्वाकारगिरी दक्षि-णोत्तरौ पूर्ववद्वेदितव्यौ पुष्करार्धवलयपूर्वापरविभागमध्यवर्तिनौ मेरू चेति प्रपंचः सर्वस्य विद्यानन्दमहोदये भतिपादितोवगंतव्यः तदेवं-

पहिले क्षेत्रसे अगला क्षेत्र चौगुना चौडा है। विदेहपर्यन्त यह न्यवस्था समझना चाहिये और निषधपर्वतपर्यन्त पिहले वर्षधर कुलाचलसे अगिला वर्षधर पर्वत चौगुना चौडा है तथा उत्तर दक्षिण-वर्ती रचना तुल्य है। अर्थात्-पुष्करार्धिक भरतसे हैमवत क्षेत्रकी चौडाई चौगुनी है और हिमवानसे महाहिमवानकी चौड़ाई चौगुनी है, यह दशा विदेह और निषध या नीलपर्वततक है। परली ओर आधी आधी चौडाई होती चली गयी है। जंबद्वीपमें तो भरत क्षेत्रसे हिमनान पर्वतकी दूनी चौडाई थी। किन्तु पृष्करार्धके हिमबान पर्वत यथानिकट केवल दशवां भाग चौडा है, यानी दशमी गुणी हानिको लिये हुये हैं। धातकी खण्ड और पुष्करार्धके इष्याकार और मन्दर मेरु उतने ही एकसे परिमाणवाले हैं। जंबुद्वीपमें जहां जंबुबृक्ष है, उसी रचनाके अनुसार पुष्करार्घ द्वीपमें परिवारसहित पृथ्वीकाय कमल अक्रत्रिम बना हुआ है। इस ही कारण इस द्वीपका नाम पुष्करार्धद्वीप रूढ हो रहा है। पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें कंकणके समान गोल सबह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊंचा इससे चौथाई चार सौ संवातीस योजन गहरा दश सौ बाईस (१०२२) योजन मूळमें चौडा सात सौ तेईस (७२३) योजन मध्यमें चौड़ा और चार सौ चौबीस (४२४) योजन ऊपर चौड़ा मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। प्रकरार्ध द्वीपकी ओर भीतके समान एकसा उठ रहा है और परली ओर क्रमक्रमसे घटता हुआ शिखाऊ घुनक, या पीलपायेकी समान \Lambda खडा हुआ है। इस मानुषोत्तर पर्वत करके आधा विभाग प्राप्त हो जानेसे इस द्वीपक्षी '' पुष्करार्घ '' संज्ञा यथार्थनामा है। कारण कि पुष्कर द्वीपका आधा ही पुष्करार्घ है. यों निरुक्तिद्वारा अच्छा कह दिया गया है । यहां पुष्करार्घ द्वापमें भी धातकीखंडके समान वर्षधर पर्धत तो पहियेमें अरोके समान अवस्थित हैं और अरोंके अन्तराङ समान क्षेत्रमें भरत आदि वर्ष व्यवस्थित हैं। इस पुष्करार्घमें भीतरकी ओर कालोदधि समृद्र और परली ओर मानुषोत्तर पर्वतको स्पर्श कर रहे आठ लाख योजन दक्षिण उत्तर लम्बे पूर्वोक्त धातकी खण्डके चार लाख योजन लम्बे इष्वाकारोंके समान दो इष्वाकार पर्वत समझ लेने चाहिये । इनसे पुष्करार्धवलयके दो विभाग हो जाते हैं । पूर्व दिशा सम्बन्धी विभागके और पश्चिम दिशा सम्बन्धी विभागके मध्यमें वर्त रहे दो मेरु पर्वत हैं। मेरुऑपर चारों वन, पाण्डुकशिला,अकृत्रिम चैत्यालय आदिकोका वर्णन अधिक मनोहारी है। पुण्यवान जीवोको उन चैत्यालयोंके दर्शनका सौमाग्य प्राप्त होता है। पुण्करार्धमें गंगा, विजयार्घ, विभंगा, विदेह क्षेत्र, उत्तम भोगभूमिया आदिकी बडी सुन्दर रचना है। मानुषोत्तरमें पुष्करार्घ सम्बन्धी नदियोंके निकलनेके द्वार हैं। उनमेंसे निकलकर परले पुष्करार्धमें बहुकर नदिया पुष्कर समद्रमें मिल जाती हैं। इन सबका विस्तारसे प्रतिपादन हमने विद्यानन्द महोदय नामक महान् प्रन्थमें कर दिया है। विस्तार रुचिवाले विद्वानों करके सम्पूर्ण विस्तृत रचनाकी वहांसे प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। न्याय विषयकी प्रधानता होनेसे इस श्लोकवार्तिकमें आगम्याम्य कतिप्रग्न सिद्धान्त विषयोंका उद्दापोह पूर्वक विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर, जो निर्णीत हुआ उसकी आगेकी वार्त्तिकमें सनी ।

> जम्बूद्धीपगवर्षादिविष्कंभादिरशेषतः । सदा द्विर्धातकीखंडे पुष्करार्धे च मीयते ॥ १ ॥

जम्बूद्दीपमें प्राप्त हो रहे क्षेत्र, पर्वत, आदिकोंकी चौडाई आदिक तो परिपूर्ण रूपसे धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपमें गणना द्वारा दो बार सदा नापी जाती है। वार्तिकमें पडा हुआ सदा शद्ध तो जम्बूद्दीप, धातकीखण्डकी उक्त रचनाओंको अनादिनिधन घोषित कर रहा है। शेष मध्यलेक या ऊर्घ्यलोक, अधोलोककी, रचनाय भी अनादि, अनन्त हैं।

एकेनैकेन सूत्रेणोक्तं यथोदितसूत्रवचनात् ।

मध्यवर्ती छोटेसे जम्बूदीपका वर्णन पचीस सूत्रों द्वारा किया गया है। किन्तु " बाहिरसूईवर्गा अब्बन्तरसूइवरगपरिहीणं, जम्बूदीपक्षेत तित्यमेत्ताणि खंडाणि " इस नियम अनुसार जम्बूदीपसे एक सौ चवाछीस गुने धातकीखण्डका और जम्बूदीपसे ग्यारह सौ चौरासी गुने पुष्करार्ध द्वीपका निरूपण श्री उमास्वामी महाराजने एक एक सूत्र करके ही परिभाषित कर दिया है। अर्थात्—नामके मूंखे और शरीरसे बढ़े महाशय सदासे ही छोटे और मझले पदार्थोंके मालको हडप लेते चले आये हैं। इस लोकदक्ष स्वार्थी पुरुषोंकी नीति अनुसार जम्बूदीपके लिये महामना श्री उमास्वामी महाराज द्वारा दिये गये अमृतमय पचीस सूत्रोंके बहुभाग प्रमेयको बढ़े पेटवाले धातकीखन्ड और पुष्करार्ध द्वीपने भी झपट लिया है और अपने लिये प्राप्त हुये सूत्रोंका बांट रत्तीमर भी इन्होंने किसीको नहीं दिया है। "संस्तृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः"। छोटोंका न्याय बढ़े करें। किन्तु बढ़ोंका न्याय फिर कौन करे। वे न्यायरहित ही बचे रहते है। सच बात तो यह है कि समुद्रका जलापण्ड छोटी छोटी बूंदो द्वारा ही निष्पन्न हुआ है। लोकमें बड़प्पनकी स्पर्धा रखनेवाले पुरुषोंको छोटे छोटे पुरुषोंने ही वैसा बड़ा दिया है प्रकरणमें यह कहना है कि यथायोग्य पूर्ववर्ती पचीस सूत्रोंके निरूपणसे इन दो दीपोंकी ख्याति करनेमें बड़े सहायता प्राप्त हो रही है।

कस्मात् पुनः पुष्कराधीनिरूपणमेव कृतामित्याइ ।

क्योंजी, फिर यह बताओ कि किस कारणसे पुष्कर द्वीपके आधेका ही निरूपण किया गया है। पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं भरत आदिकोंकी संख्या दूनी कही गयी है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

प्राञ्चानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३६ ॥

पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें पड़े हुये मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही मनुष्य हैं। मानुषोत्तर के परली ओर मनुष्य नहीं हैं। अतः पुष्करार्घतक ही इस मनुष्य लोकसे मोक्षमार्ग व्यवस्था चालू रहती है। मानुषोत्तर पर्वतसे परली ओर विद्याधर या ऋदि प्राप्त मनुष्य मी सिवाय उपपाद और समुद्धात अवस्थाके बाहर नहीं पाये जा सकते हैं। तिर्यक्लोक या अधोलोक या ऊर्ध्वलोकसे आकर मनुष्य लोकमें जन्म लेनेवाले जीवके विप्रह गतिमें पहिले समय मनुष्य आयुका उदय है। यह उपपाद

अवस्था है। मनुष्य लेकिका मनुष्य जीव बाहर जाकर मारणान्तिक समुद्धात या केवली समुद्धात करते हुये नृलोकसे बाहर भी चला जाता है। अन्यदा नहीं।

न परतो यस्मादित्यभिसंबंधः। मनुष्यछोको हि मतिपादयितुप्रुपक्रांतः स चेयानेव।

जिस मानुषे।त्तर पर्वतसे परली ओर मनुष्य नहीं हैं, द्वीपोंमें केवल तिर्यच ही पाये जाते हैं, उन द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमिकीसी रचना है। हां, सबसे परली ओरका आधा द्वीप और पूरा स्वयम्भू-रण समुद्र तथा त्रसनाली तक चारों कोने, यहां कर्मभूमि की रचना है। स्वयम्भूरमण द्वीपके उत्तरार्घ स्थल भागमें पांचवे गुणस्थानको धारने वाले भी असंख्याते तिर्थेच यहां पाये जाते हैं। चूंकि इस प्रकरणमें मनुष्य लोककी प्रतिपत्ति करानेके लिये उपक्रम चलाया गयां है। अतः वह मनुष्य लोक तो पुष्करार्ध द्वीपपर्यंत पैतालीस लाख योजन परिमाणवाला इतना ही है।

यद्येवं किंपकारा मनुष्यास्तत्रेत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इसी ढंगसे मनुष्य छोककी ज्यवस्था है तो बताओ उस ढाई द्वीपमें रहनेवाल मनुष्य कितने प्रकारके हैं ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमाखामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३७ ॥

आर्य और म्लेक्छ यों दो प्रकारके मनुष्य हैं। मानार्थ यद्यपि संमूर्कन मनुष्य भी इन पर्याप्त मनुष्योंसे असंख्यातें गुणे अधिक इस जगत्में हैं। तथापि भूमिपर गमन करनेवाले या आकाशमें उडनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन जो नहीं कर सकें ऐसे जीनोंकी विवक्षा अनुसार उक्त दो मेद ही मनुष्योंके किये हैं। संमूर्जन मनुष्य भी यदि देनों हारा पकड कर ले जाये जांय तो मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। संमूर्जन मनुष्य तो इन पर्याप्त मनुष्योंके आश्रित होकर ही ठहरते हैं। अतः आर्य खण्डमें उपजी हुई कितप्य खियोंके निरूपणके समान ये गतार्थ हो जाते हैं। वस्तुतः यह पर्याप्त मनुष्योंका ही स्त्रण है। जिस प्रकार विजलीके प्रवाह (करेन्ट) वाले तारको सर्वाक्य कृते हुये परली ओर मनुष्यका जाना नहीं हो सकता है, उसी प्रकार वलात्कारसे मानुषोत्तरके परली ओर जानेपर मनुष्य शरीर फट कर, टूट फटकर, वहीं गिर पढ़ेगा। आगे नहीं जा सकेगा।

प्तदेव मरूपयति ।

इस है। सूत्रकारके अभीष्ट सिद्धान्तको श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा कहे देते हैं।

प्राद्यानुषोत्तराद्यस्मान्मनुष्याः परतश्च न । आर्या म्लेच्छाश्च ते द्वेयास्तादकर्मबलोद्भवाः॥ १ ॥ जिस कारणसे कि मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पिहेले हैं। ढाई द्वीपमें मनुष्य हैं, किन्तु मानुषोत्तरके परली ओर मनुष्य नहीं हैं। तिस प्रकारके कर्मकी सामध्येसे उत्पन्न हुये वे मनुष्य आर्य और म्लेष्क समझ लेने चाहिये।

उच्चैर्गोत्रोदवादेरार्या, नीचैर्गोत्रादेश म्लेच्छाः।

तिस तिस प्रकारके पौद्रिकिक कर्मी अनुसार आर्य अथवा म्हेच्छ मनुष्य उपज जाते हैं। इसका तारपर्य यह है कि संतान ऋमसे चले आ रहे उच आचरणके सम्पादक अचगोत्रका उदय हो जानेसे अथवा क्षेत्र, जाति, कर्म, आदिका व्यवस्था अनुसार या गुणसेव्यता, भोगभूमि सम्बन्धी मनुष्य शरीर, आदि कारणोंसे आर्य मनुष्य हो जाते हैं । तथा नीच आचरणके सम्पादक नीच गोत्रका उदय, कुभोग भूमि या म्लेच्छ खण्डोंमें उत्पत्ति, नीच क्रियायें निर्लग्ज भाषण आदि निमित्तोंसे म्लेच्छ मनुष्य हो जाते हैं। भावार्थ-अर्वत्र अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति हो रही है। यद्यपि धोबी, नाई, छहार, कुम्हार, आदिक शिल्पकर्मी आर्यों के शृद्ध होनेके कारण नीच गोत्रका उदय माना गया है। तथा ग्लेम्ल खण्डोंके मनुष्योंको भी संयमकी प्राप्ति हो सक**नेके कारण उच्चगोत्रका उदय मानना** पडेगा । क्योकि " देसे तादियकसाआ णीचं एमेव मणुस सामण्णे " पांचवें गुणस्थानमें नीच गोत्रकी उदयध्य च्छिति हो जाती है तथापि बहुभाग आर्थ मनुष्योंकी अपेक्षा उच्चगोत्रका उदय और बहुमाग म्हेच्छोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय मानना पडता है। राजवार्त्तिकमें नाऊ, धोवी, कुम्हार, को आर्थीमें गिना है और लिधसार प्रन्थमें सक्रवसंयम लिधको धारनेवाले स्वामियोंके भेदका निरूपण करते समय " तत्तो पडिवज्ज गया अज्जिमिलेच्छे मिलेच्छ अज्जेय । कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा '' इस गाथाकी टीकामें यो लिखा है कि " म्लेच्छ्रभूमिजमनुष्याणां सकल-संयमप्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितन्यं, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागलानां म्हेन्दर-राजानां चऋवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरिवरोधात् अथवा तत्कान्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषुरपक्रस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेन्छ न्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीय-कानां दीक्षाईत्वे प्रतिषेधाभावात् ''। म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुये मनुष्योंके सकल संयमका प्रहण कैसे सम्भवता है ! यह आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि दिग्विजय करते समय चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें चले आये और चक्रवर्ती, मण्डलेस्वर, आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो गया है. अपनी या उनकी कन्यायें छे छीं, दे दीं, गई है, ऐसे म्छेच्छ राजाओंके संयमलन्धिकी प्राप्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है अथवा चक्रवर्ती आदिके साथ परिणाई गई कन्याओंके गर्भोमें उत्पन्न हुये इन म्लेन्छ नामधारी मनुष्योंके सकलसंयम सम्भव जाता है। तिस प्रकारकी जातिवाले म्लेन्छ मनुष्योंकी दीक्षा योग्यतामें कोई प्रतिषेध नहीं है। सागारधर्मामृतमें " श्रूहोप्युपस्कराचार वपः-शुच्याऽस्तु तादशः, जात्या हीनोऽपि काळादिल्ञ्यो ग्रामास्ति धर्मभाक् "। लिखा है श्री समन्त-भद्राचार्यने '' सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्, देवा देवं विदुर्भसम्यूढाङ्गारान्तरीजसम् '' यो

रलकरण्ड श्रावकाचारमें घोषित किया है। श्री रविषणाचार्यने पद्मपुराणमें "न जातिगिर्हिता काचिद्
गुणाः कल्याणकारणम्, वतस्यमि चांडाळं तं देवा बाह्मणं विदुः " ळिखा है। श्री अकळंकदेवने
राजवार्तिकमें दशों प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाळे जीवोंको "दर्शनार्य " कहा है। ऐसी दशामें शृद्ध
या तिर्येच अथवा म्लेच्छ भी आयोंमें गिने जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण तिर्यचोंके भले ही वे उत्तम
मोगभूमियां क्यों न हो, श्री गोम्मटसारमें नीच गोत्रका ही उदय माना गया है। शृद्धोंके भी नीच
गोत्रका उदय है। साथमें " जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः, येषां स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः
शृद्धाः प्रकीर्तिताः " यह सिद्धांत भी जागरूक है। सर्वथा म्लेच्छोंकेसे व्यवहारमें लवलीन होरहे यवन,
खुरपल्टा, कसाई, चर्मकार, आदिको क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य कहा जा रहा है। शृद्ध, श्रावक या तिर्येच
श्रावकको अल्प सावच कर्मा आयोंमें गिनाया है। ऐसी पर्यालोचना करनेपर यह प्रतीत होजाता है कि
आयोंके उच्चगोत्रका उदय और म्लेच्छोंके नीचगोत्रका उदय मानना बाहुल्यकी अपेक्षा स्वरूप कथन
मात्र है। लक्षण नहीं है। विशेषज्ञ विद्वान इस पर और भी अधिक विचार कर सकेंगे।

पासद्धीतरभेदेन तत्रायां द्विविधाः स्पृताः । सद्गुणेरर्यभाणात्वाद्गुणवद्भिश्च मानवैः ॥ २ ॥ तत्र पासद्धेयः सप्तविधार्थमधिसंसृताः । बुदुध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः ॥ ३ ॥

उन मनुष्यों में आर्य मनुष्य तो ऋदि प्राप्त और इतर यानी " जो ऋदि प्राप्त नहीं हैं " इन दो भेदों करके दो प्रकारके आफ्नाय द्वारा माने गये हैं। आर्यशद्धकी निरुक्ति इस प्रकार है कि समीचीन गुणों करके अथवा गुणवान् मनुष्यों करके जो सेवित होरहे हैं, इस कारण वे सेवनीय पुरुष आर्य मनुष्य कहे जाते हैं। उन आर्यों में ऋदियों को प्राप्त होचु के मनुष्य तो सात प्रकारकी ऋदियों पर आधिकार करते हुये ऋदियों से संगत होरहे हैं। अपने अपने उन भेद प्रभेदोंसे अनेक विकल्पोंको धार रहीं वे ऋदियां बुद्धि ऋदि, तप ऋदि, आदि सात प्रकार हैं।

ऋदिमाप्तार्थाः सप्तविधाः सप्तविधर्धिमासता हि ते । सप्तविधर्धः पुनर्बुध्धादिस्तथाहिबुद्धितपोविकियौषधरसवलाक्षीणद्धयः सप्त मक्षापिताः नाना विशेषाश्च माप्तर्धयो भवंत्यार्थास्तद्विशेषात् । बुद्धिविशेषधिमाप्ता हि बीजबुध्धादयः, तपोविशेषधिमाप्तास्तप्ततपःप्रभृतयः, विकियाविशेषधिमाप्ता एकत्वविकियादिसमर्थाः, श्रीषधिवशेषधिमाप्ताः जङ्कौषधिमाप्तादयः, रसर्धिमाप्ताः क्षीरस्नाविषसृतयः, बलविशेषधिमाप्ता मनोबल्प्रभृतयः, अक्षीणविशेषधिमाप्ताः पुनगक्षीणमहाल्यादय इति । अन्ये त्वादुः ऋदिमाप्तार्या अष्टविधाः बुद्धिकियाविकियातपोवलीषधरसक्षेत्रभेदादिति । ते कृतः संभाल्या इत्याह ।

जब कि वे ऋदियोंको प्राप्त होत्त्रके आर्य सान प्रकारकी ऋदियोंके आश्रय होरहे हैं, इस ही कारण सात प्रकारवाले माने गये हैं । सात प्रकारकी बुद्धि आदिक ऋद्वियां तो फिर यह हैं । उन हीको प्रंथकार दिखळाते हैं। बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, त्रिकियाऋद्धि,औषवऋद्धि, रसऋद्धि, बळऋदि, अक्षीणऋदि, ये नाना प्रमेदवाळी सात ऋदियां अच्छी जतायीं गयीं हैं । उन ऋदियोंकी विशेषतासे आर्य ऋदिको प्राप्त कर चुके होजाते हैं। बुद्धिऋदिके विशेष मेद हो रहीं बीजऋदि, कोष्ठऋदि, आदिको प्राप्त हो रहे आर्य हैं। इस कारण वे बीजबुद्धि, कोष्टबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोता, आदि माने जाते है तथा तपोन्डाद्धिके विकल्प हो रही उप्रतप, दीप्ततप, तप्तऋादि आदिको प्राप्त हुये आर्य तप्ततपाः, महाघोरतपाः, उपतपाः, आदिक कहे जाते हैं और विक्रियाके विशेष हो रहीं ऋद्वियोंको प्राप्त हुये आर्य एकत्वविक्रिया, आणिमा, महिमा, गरिमा, आदि क्रियाओंको करनेमें समर्थ हो रहे स्मरण किये गये हैं एवं औषध ऋदिके विशेष अंशोंको प्राप्त हो चुके आर्य जङ्घौषधिप्राप्त, मछौषाधिपात, दृष्टिविष, आदि गाये गये हैं। रस ऋदिको प्राप्त हो रहे आर्थ तो क्षीरासवी, मध्यासवी, आदिक हैं। मनोबळी, वचनबळी, आदिक आर्य जिनागममें बळके विशेष हो रहीं ऋदियोंको प्राप्त हुये सनझे गये हैं। अक्षीण ऋदिके विकल्प होरहीं ऋदियों को प्राप्त कर चुके आर्य मुनि फिर अक्षीण महालय आदिक बोले गये हैं। इस प्रकार ऋदि प्राप्त आर्योंके सात भेद हैं । दूसरे श्री अकलंक देव प्रमृति आचार्य ऋद्धि प्राप्त आर्योको आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। वे आठ प्रकार बुद्धिऋदि, क्रियाऋदि, विकियाऋदि, तपऋदि, बङऋदि, औपधऋदि, रस्ऋदि, क्षेत्रऋदि इन आठ भेद वाठी ऋदियों के धारनेसे होजाते हैं। अर्थात्—उन सातों का इन आठोंसे अविरोध है। क्रियाऋदिका विकिया ऋदिमें ही अंतर्भाव कर लिया जाता है। अक्षीण ऋदि और क्षेत्रऋद्भिका अभिप्राय एक ही है। प्रवक्ताओंकी वचनभंगी अनुसार भेद करनेमें शद्धकृत अंतर भले ही पड जाय, अर्थमें कोई अंतर नहीं है। चाहे अनुमानके प्रतिक्का, हेतु ये दो अवयव मान लिये जाय अथवा पद्म, साध्य, हेत्, ये तीन अंग मान लिये जाय एम ही ता पर्य बैठता है। किसीका प्रश्न है कि वे ऋद्भिया या ऋद्भियारी आर्य मला किस प्रभागसे निर्णीत हो कर संभावना करने योग्य हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे अत्र, अञ्चना, ऋद्भियारी मनुष्योंके दर्शन होना दुर्रिभ है। एक बात यह भी पूंछनी है कि अष्ट महानिमित्तका ज्ञान अणु शरीर बना छेना, मेरुसे भी बडा शरीर बना छेना छोटेसे स्थानमें असंख्य जीवोंका निर्वाध बैठ जाना इत्यादिक ऋदियोंकी शक्तियां कैसे समझ छी जांय? यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचनको कहते हैं।

संभाव्यंते च ते हेतुर्विशेषवशवर्तिनः । केचित्पकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्ममाणवत् ॥ ४ ॥

वे ऋदि को प्राप्त हुये कितने ही एक आर्य (पक्ष) अपने अपने विशेष हेतुओंकी अधीनतासे वर्त रहे संते संभावित होरहे हे (साध्य) तारतम्य मुद्रा अनुसार प्रकर्षको प्राप्त होरहे अपने अपने विशेष

स्वरूपोंका धारक होनेसे (हेत्) लम्बाई, चौडाई, मोटाई, रूप विशेषताओंको धारनेवाले परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा प्रमाण ज्ञानके समान । अर्थात्—जैसे परपदार्थीकी अपेक्षा न्यून होते होते और आत्म विश्वद्धिके बढते बढते जैसे ज्ञानमें प्रमाणता बढती जाती है, उसी प्रकार जीर्वोमें ऋदि राक्तियां भी बढतीं जाती हैं। थोडे थोडे ज्योतिषविद्या, भूशास्त्र, स्वरशास्त्रके, जाननेवाले आजकल भी पाये जाते हैं। एक विद्यार्थी पहिली बार अष्टसहस्रीको छह महीनेमें पढता है। पनः पाठकी विचारता हुआ पन्द्रह दिनमें हृदयंगत कर छेता है। पश्चात परिशीलन करता हुआ चार ही दिनमें पूरे अष्टसहस्री प्रन्थका अनुगम कर छेता है। यों अभ्यास करते हुये वह छात्र परीक्षा कालमें अष्टसहस्रकि प्रमेयको अन्तर्मुहुर्त्तमें ही अनुगत कर छेता है। सबूतर, बिच्छके मछ, सूत्रमें, कितनी ही लाभदायक राक्तियां हैं । हर्ष अवस्थामें या न्यायाम करनेपर हारीर फूल जाता है । चिन्ता, शोक, अवस्थामें शरीर कुष हो जाता है । शारीरिक वायुको वशकर प्राणायाम द्वारा कतिपय चमत्कार दिखा दिये जाते हैं । आकारा या जलमें मनुष्यका चलना बन सकता है । अनेक जीवोंका वशमें कर लेना कोई अशक्य नहीं है । कई सायओंकी घोर तपस्या प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तात्रिक, पुरुषोंके देखने मात्रसे कतिपय विष उतर जाते है। हां, उत्कट तपस्यावोंकी आचरनेवाले आर्थ मुनियोंके उक्त ऋदियां अख-धिक रूपसे बढ जाती हैं। जो अतिशय कम कमसे बढ रहा है। वह आकाशमें परिमाणके समान पूर्ण प्रकर्पताको भी प्राप्त कर छेता है । जब कि जड पदार्थ ही विज्ञान प्रयोग अनुसार अनेक चम-कारोंको कर रहे हैं, तो अनन्तराक्तिवाले आत्माकी ऋदियोंके साधनेमें कोई संशय नहीं रह जाता है।

यथा परिमाणमापरमाणोः प्रकृष्यमाणस्वरूपमाकाशे परमप्रकर्षपर्यंतप्राप्तं सिद्धयत्तदंत-राले अनेकथा परिमाणप्रकर्षे साध्यति तथा सर्वजघन्यज्ञानादिगुणिर्धिविशेषादारभ्यार्धिविशेषः प्रकृष्यमाणस्वरूपं परमप्रकर्षपर्यतमाप्लबक्षंतरालिधिविशेषप्रकर्षे साध्यतीति संभाव्यंते सर्वे बुध्ध-तिश्चयिविशेषादयः परमागमप्रसिद्धाश्चेति न किंचिद्वपूष्पनं। के पुनरसंप्राप्तर्थय इत्यावेदयति ।

जैसे कि प्रत्येक द्रव्यमें पाये जा रहे प्रदेशवन्त्र गुणका विवर्त लम्बाई, चौडाई मोटाई, रूप पित्माणसे जैसे एक प्रदेशी परमाणुते प्रारम्भ कर अपने अपने वानैः शनैः वढ रहे स्वरूपको धार रहा सीमापर्यन्त पहुंचकर आकाशमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो चुका सिद्ध हो जाता है और उसके अन्तरालमें पाये जानेवाले अनेक प्रकार पिरमाणोंके प्रकर्षको साध देता है। अर्थात — सबसे छोटा पिरमाण परमाणुका है और आकाशका सबसे बडा नाप है। विचले घट, गंगानदी, जम्बूदीप, स्वयंभूरमण समुद्द, लोकाकाश ये मध्यम परिमाणवाले हैं। उस ही प्रकार सबसे छोटे लब्ब्यपर्याप्तक निगोदिया जीवके जघन्यज्ञान, अत्यल्प कायबल, आदि गुणस्वरूप ऋदि विशेषोंसे प्रारम्भ कर बुद्धि, बल, आदि ऋदियोंके विशेष भला अपने बढ रहे स्वरूपके परम प्रकृष पर्यन्त प्राप्त हो रहे सन्ते अन्तरालवती ऋदियोंके प्रकृषको साध देते हैं। इस दृगसे सभी बुद्धका अतिशय रूप विशेष ऋदि या

विकिया विशेष ऋदि, बळ ऋदि, आदिको धारनेवाळे आर्य मनुष्य सम्भावित हो रहे हैं। यो अनुमानसे ऋदिधारी मनुष्योंकी सिद्धि हो रही है। तथा सर्वज्ञ आम्नायसे प्राप्त हुये सर्वेतिकृष्ट आगम प्रमाण हारा भी ऋदिप्राप्त आर्थ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कोई भी ऋदि या ऋदिधारियोंकी अनुपपत्ति नहीं है। यहां कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि ऋदिप्राप्त आर्थ मनुष्योंको हम निर्णीत कर चुके हैं। अब महाराज फिर यह समझाइये कि वे ऋदियोंकी भले प्रकार ब्राप्तिसे रहित हो रहे आर्थ भला कौनसे मनुष्य हैं ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा समाधानका विज्ञापन करते हैं।

असंप्राप्तर्थयः क्षेत्राद्यार्या बहुविधाः स्थिताः । क्षेत्राद्यपेक्षया तेषां तथा निर्णीतियोगतः ॥ ५ ॥

ऋदियोंकी सम्प्राप्तिसे रीते हो रहे दूसरे आर्य तो क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, इत्यादिक बहुत भेद, प्रभेदवाळे व्यवस्थित हो रहे हैं। क्षेत्र, कर्म, आदिकी अपेक्षा करके उन मनुष्योंका तिस प्रकार क्षेत्रसे आर्य, जातिसे आर्य, आदि स्वरूपोंकरके निर्णय हो जानेका योग मिळ रहा है।

क्षेत्रार्या, जात्यार्याः, कर्मार्याश्चारित्रार्या, दर्शनार्याश्चेत्यनेकविधाः क्षेत्राद्यपेक्षया अनृद्धि-माप्तार्याः प्रत्येतच्या तथाः प्रतीतियोगात् ।

क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य, इस ढंगसे क्षेत्र आदिककी अपेक्षा करके अनेक विकल्पवाले ऋदि प्राप्तिसे शून्य हो रहे आर्य समझ लेने चाहिये। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका योग पाया जा रहा है। अर्थात्—इस आर्यखण्डमें काशी देश, अवधप्रान्त, विहार प्रदेश, आदिमें जन्म लेकर बस रहे मनुष्य तो क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य हैं। इक्ष्वाकुवंश, नाथवंश आदि कुलोंमें उत्पन्न हुये पुरुष जाति अपेक्षा आर्य हैं। पाप कर्मा, अल्प पाप कर्मा और निष्पाप कर्मा, की अपेक्षा कर्मायोंके तीन भेद हैं। यों—अध्ययन, अध्यापन, असि, मषी, आदि कर्मोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षित्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णवाले मनुष्य या श्रावक, मुनि, भी कर्म आर्य हैं। चारित्र पालनेकी अपेक्षा ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानवर्त्ता मनुष्य अथवा अन्य भी चारित्रवान पुरुष चारित्र आर्य हैं। दश प्रकारके सम्यादर्शनको धारनेवाले दर्शन आर्य हैं।

के पुनर्म्छच्छा इत्याह ।

आर्योंकी प्रतिपत्ति हो चुक्तनेपर कोई शिष्य पूंछता है कि फिर म्लेच्छ मनुष्य कौनसे हैं ! यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते है ।

> तथान्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः परे इस्युः कर्मभूमिजाः। आद्याः षण्णवतिः स्याता वाधिद्वयतटद्वयोः॥ ६॥

तथा अंतर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुये म्लेन्छ हैं और उनसे न्यारे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये तिस प्रकारके दूसरे म्लेन्छ मनुष्य हैं। आदिमें कहे गये अंतर्द्वीपवासी म्लेन्छ तो खवण, कालोदाधि, दोनों समुद्रोंके भीतरले, बाहरले, उभय तटोंपर बने हुये छियानवें अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे बखाने गये हैं।

म्स्रेच्छा द्विविधाः अंतर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्च । तत्राद्यास्तावल्लवणोदस्योभयोरष्टचत्वा-रिञ्जत् तथा कालोदस्य इति षण्णवतिः ।

म्लेच्छ दो प्रकारके हैं । एक अंतर्हाणोंमें उत्पन्न हुये और दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं। उन दोनों भेदोमें आदिमें कहे गये मनुष्य तो ठ्यणसमुद्रकें दोनों तटोंपर अडतालीस द्वीप और तिस ही प्रकार कालोदिव समुद्रके दोनों नटोंपर जलमें उमर रहे अडतालीस द्वीप यो लियानवै द्वीपोंमें निवास कर रहे हैं। एक एक डीपमें लाखों म्लेन्छ निवास करते हैं। भावार्थ-जंबूदीपकी बेदीसे तिरछा चलकर आठ दिशा, विदिशाओं में लवण समुद्रमें भीतर आठ अंतरदीप हैं और उनके बीच बीचमें आठ न्यारे द्वीप हैं एवं हिमवान पर्नत के दोनों ओर. शिखरी पर्वतके दोनों ओर. दो विजयाधींके दोनों ओर, यों आठ दीप अन्य मी हैं। छत्रण समद्रके बाहरले पत्तवाडेमें भी इसी प्रकार चौवीस दीप बन रहे हैं। दिशाओंमें बने दूर्य द्वीप तो रत्नवेदिकासे तिरछे पांचसी योजन समद्रमें घुसकर सी योजन विस्तारवाले हैं तथा विदिशा और अंतरालोंमें बने हुये द्वीप तो जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरछा साढे पांच सो योजन जानेपर पचास योजन विस्तारवाले हैं। पर्वतोंके अंतमें जो द्वीप माने गये हैं वे छह सी योजन समुद्रमें उरछीपार और परलीपारसे घुसकर पत्नीस योजन विस्तारवाले निर्मित 🝍। इसी प्रकार कालोदधि समुद्रमें भी अडतालीस द्वीप बने हुये हैं। अंतर इतना ही है कि धातकीखंडके हिमवान् पर्वत और उसके निकटवर्ती विजयार्घ दोनों की रेखाओं के अनुसार कालोदधिमें एक अंतरद्वीप है। इस ही रेखा अनुसार परळी ओर एक द्वीप है यही दशा शिखरीपर्वत और उसके विजयार्घके संबं-धमें छगा लेना चाहिये। इन अंतर द्वीपोंमें पुंछवाले, सींगवाले, गूंगे आदि कई विकृत आकृतिओंकी धार रहे म्लेन्छ मनुष्य निवास करते हैं। ये द्वीप जलतलसे एक योजन ऊंचे उठे हुये हैं। इन दीपोंको कुमोगभूमिमें भी कह दिया जाता है।

ते च केचिद्धोगभूमिसमप्रणिधयः परे कर्पभूमिसमप्रणिधयः श्रूयमाणाः कीदृगायुक्तसेध-

तथा वे म्लेन्छ कोई कोई तो द्वीपवर्तिनी भोगभूमियोंकी समान रेखा अनुसार निकटवर्ती होरहे हैं और कोई दूसरे अंतर्द्वीपवासी म्लेन्छ जो कि कर्मभूमियोंके निकटसमकोटीपर बने हुये अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे सुने जा रहे हैं। किसीका प्रश्न है कि मला उनकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा प्रश्नियां किस प्रकारकी है ! ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वार। समाधान वचनका व्याख्यान करते हैं।

भोगभूभ्यायुरुत्सेधवृत्तयोर्भोगभूमिभिः । समप्रणिधयः कर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः ॥ ७॥

भोगभूमियोंकी समरेखापर निकटवर्ती बन रहे अन्तर्द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेब्ल तो भोगभूमिवाले जीवोंके समान आयुष्य, ऊंचाई और प्रवृत्तिको धार रहे हैं तथा कर्मभूमियोंकी निकटवर्तिनी समरेखापर लवणसमुद्र या कालोद्धिमे बने हुये अन्तर्द्वीपोंमें निवास कर रहे म्लेब्लोकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा भोजनादिकी प्रवृत्तियां कर्मभूमिवाले जीवोंकी आयु, ऊंचाई, और प्रवृत्तियोंके समान है। किन्तु कर्मभूमिके समान उन म्लेब्लोमें देशवत या महावत नहीं पाये जाते हैं।

भोगभूमिभिः समानप्रणिधयोतद्वीपजा म्लेच्छा भौगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयः प्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिः समप्रणिधयः कर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथा निमित्तसद्भावात् ।

मोगभूमियोंकी समाननिकटतावाले अन्तर्द्विपोंमें उपजे हुये म्लेन्छ तो उन उन भोगभूमियोंके जीवोंकी आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तिके समान आयुष्य उच्चता, प्रवृत्तियोंको धार रहे समझ लेने चाहिये। और कर्मभूमियोंको समप्राणिधिवाले म्लेन्छ तो उस कर्मभूमिमें नियत हो रही आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तियोंको अनुसार आयु, रारीरोत्सेध, और प्रवृत्तियोंको धार रहे है। क्योंकि तिस प्रकारके निमित्त कारणों का सद्भाव है। कारणके विना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे पुण्य, पाप, उन मोगभूमि या कर्मभूमिमें जन्म ले चुके मनुष्योंके हैं, उस ही प्रकारके कुळ न्यूनाधिक पुण्य, पाप, उन उन भूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीपोंके निवासी म्लेन्छ मनुष्योंमें भी पाये जाते है। जैसा कारण होगा वैसा कार्य बन जायगा, यह निर्णीत सिद्धान्त है।

अथ के कर्मभूमिजा म्लेच्छा इत्याह ।

अब इसके अनन्तर कोई प्रश्न पूछता है कि दोनों प्रकारके आर्योंको मै समझ चुका हूं, दे प्रकारके म्लेच्छोंमें अन्तर द्वीपके म्लेच्छोंकी प्रतिपत्ति भी की जा चुकी है । अब महाराज, यह बतलाओ कि दूसरे प्रकारके कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ भला कीन है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर प्रनथकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं ।

कर्मभूमिभवा म्लेन्छाः प्रसिद्धा यवनादयः । स्युः परे च तदाचारषालनाद्वहुधा जनाः ॥ ८॥

और वे दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेष्य तो यवन, शवर, पुलिन्द, किरात, यवर, आदिक शिसद ही हैं, जो कि बहुत प्रकारके चाण्डाल आदि मनुष्य उन म्लेष्योंके आचारको पालनेसे म्लेष्य ही समझे जाते हैं। अर्थात्—जिन जातियोंमें मद्य, मांस, आदिक कुकमोंसे वृणा नही है, धर्म,

अधर्म, या मध्य, अमस्यका, विवेक नहीं है, वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, धर्मकी त्रत समझ कर नहीं पाछते हैं, उन जातियोंके मनुष्य भन्ने ही क्षेत्र आर्य क्यों नहोंय, क्लेक्लोंमें ही परिगणित किये जाते हैं।

कुतः पुनरेनमार्यम्छेच्छव्यवस्थेत्याइ ।

महाराज, फिर यह बताओ कि जगत्में मनुष्यों के इत प्रकार आर्यपन या म्लेष्क्रपनकी व्यवस्था भिला किस कारणसे नियत हो रही है ! यों जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान वचननको कहते हैं।

संप्रदायाव्यवच्छेदादार्यम्लेच्छव्यवस्थितिः । संतानेन विनिश्चेया तद्विद्भिर्व्यवहारिभिः ॥ ९ ॥ स्वयं संवेद्यमाना च गुगदोषनिवंधना । कथंचिदनुमेया च तत्कार्यस्य विनिश्चयात् ॥ १० ॥

सन्तानक्रम अनुसार उन आर्य या म्लेच्छ पुरुषोंको जाननेवाले व्यवहारी मनुष्यों करके सम्प्र. दायका नहीं ट्रटना होनेसे आर्थ और म्लेच्छ मनुष्यों की व्यवस्थाका संतान प्रतिसंतान स्पक्ररेक विशेषतया निर्णय कर छेना चाहिये। यों बृद्धपरम्पराक्षे चडे आ रहे आप्तशक्यों द्वारा मन्ध्योंमें आर्यपन या म्लेम्ळपन हा नियत बना रहना जान लिया जाता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा भी गुण और दोषों हो कारण मानकर हुई आर्थज्यवस्था या म्लेच्छज्यवस्थाका स्वयं सम्वेदन किया जा रहा है। जिन पुरुषोमें धर्म हमीविचार, अति, मधी, आदि प्रवृत्तियां, गुरुविनय, पापमीरुता, आदि गुण है. वे आर्य मनुष्योंके यहां अपनी अपनी आत्मामें आर्य मनुष्य अनुभवे जा रहे हैं। धर्म कर्मको स्वीकार नहीं करना, आस्तिकोंकी निन्दा, मध मांस आदिका सेवन आदि दोष जिन मनुष्योंमें हैं, वे जातियां स्वयं अपनेको म्लेन्छरूपते सम्वेदन कर रही है। तथा उन आर्थ मतुष्य और म्लेन्छ मनुष्योंके अन्यभिचारी कार्यों का विशेषतया निश्चव हो जानेसे आर्यम्लेच्छ्रच्यवस्या किसी ढंगसे अनुमान द्वारा मी जानी जा सकती है । यों आगमप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमान प्रमाणसे जगत्में आर्य. म्लेच्छन्यवस्था नियत हो रही बात कर ली जाती है। जब कि आश्रफल, चावल, गेंड्र, घोडा, बैल. कबूतर, आदिकी निकृष्ट और प्रकृष्ट जातियों का पश्चिय हो रहा है तो विशेषज्ञों करके आर्थ, म्लेच्छ न्यवस्थाका निर्णय भी सक्तम है। यदि दूर देशके मनुष्य या मायाचारी मनुष्यके आर्यत्व अधवा म्हेच्छत्वका किसी व्यक्तिको निर्णय नहीं होय तो यह उस व्यक्तिकी प्रकाका दोष है। आर्यत्व, म्डेप्फरव, परिणतिओंमें कोई ब्रुटि नहीं है। अनुभवगम्य या प्रत्यक्षज्ञानीगम्य अनेक सूक्ष्म विषयोंमें अल्पनों को अन्नाम या श्रान्ति है। जाती है।

न संप्रदायान्यवच्छेदोऽसिद्धस्तिद्दिदां नास्तिकसंप्रदायान्यवच्छेदवत्, नाप्यप्रमाणं स्नि-श्वितासंप्रवद्वापकत्वात्तद्वत् । ततः संतानेनार्यम्छच्छन्यवस्थितिस्तिद्विद्विनिश्चेतन्या । नास्तिक-संतानन्यवस्थितिवत् । सर्वः सर्वदार्थत्वम्छच्छत्वश्च्यो मनुष्यसंतान इत्यत्रापि संप्रदायान्यव-च्छेद् एव नास्तिकानां शरणं पत्यक्षानुमानस्य च तत्रान्यापारात् । यथा चाहं नास्तिकस्तथा सर्वे पूर्वकालवर्तिनो नास्तिका जात्यादिन्यवस्थानिराकरणपरा इत्यपि संप्रदायादेवाविच्छिन्ना-दवगंतन्यं नान्यथा । अयभेव संप्रदायः प्रमाणं न पुनरार्यम्छच्छन्यवस्थितिपतिपादक इति मनोरथमात्रं प्रतीत्यभावात् ।

आम्नायका ज्ञान रखनेवाछे पुरुषों के यहां धाराप्रवाह रूपने चछी आ रही सम्प्रदायका नहीं टटना असिद्ध नहीं है, जैसे कि नास्तिकपनेकी सम्प्रदायका व्यवच्छेद नहीं होना असिद्ध नहीं है। अर्थात् — जो नास्ति तजन सभी मनुष्योंमें आर्यन और म्छेच्छनको स्वीकार नहीं कर रहे, यों बखा-नते हैं कि हम सम्पूर्ण मतुष्योंको एक्सा मानते हैं. जाति, वर्ण, कुळोनता, कोई वस्त नहीं है। पर अपंकिते हमारे यहा ऐसा ही नारित रूपने हा अबाद चला आ रहा है। उन नारित होके यहां भी अपनी इष्ट सम्प्रदायका नहीं ट्रटना अभिप्रेत किया गया है। उसीको दशन्त बनाकर श्री विद्यानन्द प्रान्वार्धने सम्प्रदाय अनुसार आर्थपन और म्छेन्छपन भी ज्यवस्था भी ताथ दिया है । तथा वह आर्थपन और म्रुकान की सम्प्रदायका अध्याक्छेर (पा) अपमाग नी नदी है (ताध्या), बाध कोंक अत-म्भव होनेका अन्छ। निश्वय हो चुकनेते (हेंद्र) जैसे कि नारितक्रीन अपने नारिकक्षनके सम्प्रदान यकी अट्टको अप्रमाण नहीं माना है (अन्तयदृशन्त)। अथवा वास्तविक रूपसे विचार करनेपर नास्ति तपनके सम्प्रदायका नहीं टूटनां अप्रमाण भी है और उसके बायकप्रमाणीका सद्भाव भी निर्णात हो रहा है। ऐसी दशाभे नास्तिक सम्प्रदायका अञ्यवच्छेर व्यतिरेक्ट्यान्त माना जा सकता है। सम्प्रदायाञ्यवच्छेदरूप तिस निर्दोष हेतुसे मातापिताओंभी सन्तान द्वारा आर्यग्लेच्छन्यवस्थाका उस उस सम्प्रदायके जाननेवाळे पुरुखाओं करके निर्णय कर छेना चाहिये, जैसे कि नास्तिकपिता. पितामह, प्रपितामह, आदि भी सन्तान द्वारा नास्ति भपनकी व्यवस्था उन के यहां निर्णीत हो रही है। जो कोई नास्तिक यों कह रहे है कि मनुष्यों की आगे पीछे यहां वहां की सम्पूर्ण सन्तानें सदासे ही आर्यपन म्लेच्छपनसे शून्य है, प्रन्थकार कहते हैं कि यो इस सिद्धान्तके करनेमें भी तो नास्तिकोंको सम्प्रदाय ते अन्यवन्छेरका ही शरण छेना पडेगा। तभी पुरुखाओंसे बळी आ रही किम्बदन्ती अनुसार बे सम्पूर्ण मनुष्योंमें आर्यम्लेच्छरितपनेका ज्ञान कर सकेंगे । क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमाणका उस आर्थपन या भ्लेच्लपनकी शून्यताको जाननमें न्यापार नहीं है। यह नास्तिक यदि अनुमान भी बनापमा तो सम्प्रदायकी सामध्यके भरोक्षेपर है। यो वन सकता है कि जिस प्रकार कि में नास्तिक हूं उसी प्रकार पूर्नकालों में वर्तनेवाले सम्पूर्ण मनुष्य भी जाति, क्षेत्र, कुल, आदिकी व्ययस्थाके निराकरणमें तत्पर हो रहे

नास्तिक ही थे। प्रन्थकार कहते हैं कि यह मी तो अविच्छित्र हो रही सम्प्रदायसे ही नास्ति को प्रमण्डा पड़ेगा, अन्य प्रकारोंसे वह पूर्वकाळवर्ती या क्षेत्रान्तरवर्ती अथवा चाहे किसी भी कर्ममें छग रहे मनुष्योंके नास्तिक पनका निर्णय कथमपि नहीं कर सकता है। नास्तिक वादी यदि ढिंढोरा पीट कर यों ही आग्रह करता फिरे कि यह मेरा सम्प्रदाय ही प्रमाण है, किन्तु फिर सनातन या स्याद्वादियोंका आर्यन्छेच्छ व्यवस्थाको प्रतिपादन कर रहा सम्प्रदाय तो प्रमाण नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह नास्तिक का केवल मनोरथ ही है। इसमें यथार्थता अणुमात्र भी नहीं है। क्योंकि नास्तिक के सम्प्रदाय में प्रमाणपन और आर्यन्छेच्छप्रतिपादक आम्नायमें अप्रमाणपनकी व्यवस्थाको करानेवाली प्रतीति-योंका अभाव है।

जातमात्रस्य जंतोरार्थेतरभावश्र्त्यस्य प्रतितिः प्रमाणं तद्भावाभावविषयः संप्रदाय इति चेन्न, तस्याप्यार्थेतरभावप्रसिद्धरन्यथा व्यवहारिवरोधात् । कलानारोपितस्तश्चवहार इति चेत्, तिन्विर्वाजायाः कल्पनाया एवासंभवात् कचित्कस्य चित्तस्वनः प्रसिद्धस्याऽन्यत्रारोगो हि कल्पना दृष्टा विकल्पमात्रम्या गत्यंतगभावात् उभयथा चार्येतरभावकल्पनायां वास्तवी तद्भावसिद्धिः ।

नास्तिक पण्डित ५.इ रहा है कि वृद्धिमान या बृद्ध प्रशोकी ना बात ही क्या है, केवड थोडे दिनोके उत्पन्न हुये मनुष्य या पश्यक्षियों तकको आर्थपन और उससे स्थारे म्हेप्लपनक रहितपनकी अपनेमें और अन्य प्राणि ोंमें प्रतीति हो रही है। इस कारण उस आर्यपन महे छपन परिणतिके अभावको विषय कर रहा हम वास्तिकोंका सम्प्रदाय ता प्रमाण है। तम आस्तिकोंका सम्प्रदाय प्रमाण नहीं है। अर्थात्—अन्यश्रद्धावाले अतिवृद्धपुरुष भले ही आर्यपन मलेन्छपनकी कहें जावें, किन्तु यावत् प्राणियोमें आर्थपः, म्लेञ्लपन, म्वजाति, कुलीनता, उच्चर्यपना, नाच वर्णपना आदिकी प्रतीति नहीं हा रही है। आर्थों है शरीरमें कोई दूच नहीं भरा है और म्लेच्छ या चाण्डालोंकी देहमें कीच नहीं भर गई है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस उत्पन्न हुये प्राणिमात्रको भी आर्थपन और उससे न्यारे म्लेच्छपन की प्रसिद्धि हो रही है। अन्यथा आर्यन्यवहार या म्लेन्छन्यवहारका विरोध हो जायगा । देखो, चमार, कोरियो ने छो तरा भी अपनेम नीचगोत्रका अनुभव कर रहा है, जब कि उच्च आचरणवाछे त्रैवर्णिक पुरुष अपनेमें संतान क्रमक्षे चली आ रही उच्चगीत्र व्यवस्थाका सम्बेदन किये जा रहे हैं। कुलीनताका प्रभाव आता है, पर आता है। यदि नास्तिकवादी यों कहे कि वह आर्यपन म्लेच्छपनका व्यवार तो झूंठी कल्पनाओंसे आरोपा गया है। वास्तविक परिणामोंकी भित्तिपर अवलिन्दित नहीं है, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उस व्यवहारकी बीजरहित कल्पनाका ही अनुम्भव है। उत्पादक वस्तुभूत बीजका सहारा पक्रडकर ही कल्पना की जा सकती है। कल्पनाका उक्षण यह है कि कई। न कहीं स्थउपर वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे किसी न किसी पदार्थका अन्य पदार्थमें आरोप कर छेना ही कल्पना करना देखा गया है.

जैसे कि सत्य होरहे सिंहपशुकी मिद्दीके खिळीनेमें या श्रूप्वीर पुरुषमें कल्पना कर ली जाती है । अथवा विकल्पनान करनेको भी कल्पना कह सकते हैं जैसे कि जहां जहां घूम होता है, वहां अप्रि होनी चाहिये, दिनमें नहीं खाते जो मोटे शरीरवाले होंगे वे जीव रातको अवश्य खाते होंगे, यह चंचल बालक अप्रि है, बोझ ढोनेवाला मनुष्य बैल है, सिद्ध परमात्मा शरीररिहत होगे, प्रत्येक उद्योगी मनुष्यको कुछ न कुछ धुन चढी रहती है, इत्यादि विकल्पोंका उठाना भी कल्पना है। उक्त दो लक्षणोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय कल्पनाका नहीं है। अतः दोनों प्रकारसे आर्यपन और म्लेच्छपनकी कल्पना करनेमें नास्तिकके यहां वास्तविक उस आर्यपन या म्लेच्छपनकी क्षिद्ध होजाती है। कोई खटका नहीं रहा।

मधानाद्वैतादिकल्पनानामपि हि निर्वीजानामनुपपित्तरेव सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्यस्य मधानत्वेन नराधिपादौ मिसद्देनाध्यारोपस्य मधानकल्पनात्वात् । क्विचैकत्वस्याद्वैतस्य ममाणतः सिद्धस्य सर्ववस्तुष्वध्यारोपणस्याद्वैतकल्पनात्वादन्यथा तदसंभवात् ।

नास्तिक यदि यों आक्षेप करें कि जब सभी कल्पनायें वस्तभत परिणतियों के अनुसार वास्त-विक सिद्ध होजायंगी तब तो सांस्थमतियोंके यहां निर्णात किये गये प्रधानकी कल्पना भी यधार्थ बन बैटेगी । बेटांतियोंने ब्रह्माद्वेतको स्वीकार किया है । जैनोंने उसको ब्रह्माद्वेतकी कल्पना करना ठहराया है। ऐसी दशामें वह ब्रह्मादैत भी वस्तुभूत बन बैठेगा। इसी प्रकार ईश्वर, अल्लाह, ईसा या नरसिंह, गजानन, बुद्ध, आकारापुण्प आदि की कल्पनायें भी परमार्थ बन जायेंगी। सत्य झंठका विवेक उठ जायगा । कोई भी मतानुयायी अन्य मताबळम्बीका खंडन नदीं कर सकेगा, ऐसा आक्षेप उत्पन्न होय, इसके प्रथम ही प्रथकार बहुत अच्छा सिद्धांतसमाधान करे देते हैं कि प्रकृति, ब्रह्मादैत, ब्रानादैत, **ईश्वरकर्तृत्व, आदिक कल्पनाओं**की भी वि**ना बीजके सिद्धि नहीं हो पाती है ।**कारण कि सांख्योंने '' सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः '' सत्त्रगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन ही समानतासी छिये हुये जो अवस्था है उसको प्रकृति माना है। प्रकृति कही चाहे प्रवान कही एक ही अर्थ है। वह प्रवानपना राजा, समापति, जज आदिमें वास्तात्रिक प्रसिद्ध होरहा है । सांख्योंने सत्त्रगुण, रजोगुण, तमोगुणकी साम्य अवस्थामें उसका अध्यारोप कर प्रधानकी कल्पना कर छी है। इसी प्रकार किसी एक आकाश या सदर्शन मेरु अथवा अन्य किसी अक्रेडे अनुपम पदार्थमें अद्वैतस्वरूप एकत्व की प्रमाणोंसे सिद्धि की जानुकी है। ब्रह्मादैतव।दियोंने उस प्रमाणसिद्ध एकत्वका संरूर्ण वस्तुओंमें अध्यारीप कर अदैत की कल्पना उठाली है। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे उस कल्पनाका असंभव है। मावार्थ-कतिपय पदार्थीका कत्तीपन मनुष्य या पशुओं में देखा जाता है। नैयायिकोंने शुद्ध आत्मामें यात्रत् कार्यो का कर्तापन झूंठमूठ गढिलेया है। अलाह या ईसा भी कोई विशेष पुरुष हुये हैं, उन के भक्तोंने उनमें मोक्षदायकल, यापकल, जगत्कर्तल आदिक धर्म मनमाने गड छिये हैं। मनुष्यके घड और हायीके शिरका योग होकर एक जीवका अनेक दिनोंतक जीवित रहना असम्भव है। फिर भी प्राकृत सिद्धान्तों का नहीं विचार करनेवाले गणेशभक्तोंने वास्तविक

मनुष्यका धड और दूसरे वास्तविक गजमस्तककी भित्तिपर एक गजाननकी कल्पना कर छी है। इसी प्रकार मनुष्य और सिंहका योग बनाकर नरसिंह अवतार कल्पित किया गया है। इक्षपर आकाशमें छटक रहा या आकाशमें उछछ रहा आकाशका इछ कल्पित हो जाता है। घी का बड़ा रुपयोंका वस्त, ये सब कल्पनायें वास्तविक परिणतियोंके अनुसार कहींसे कहीं आरोप दी गयीं हैं। मण्डूकशिखा, कच्छपरोम, आदिक सर्वथा असम्भव माने जा रहे पदार्थोंकी कल्पनायें भी जब वस्तु भित्तिपर उठी हुयीं साध दी गयीं हैं तो प्रधान, ब्रह्मादैत, सानिकर्षप्रमाणता, निर्गुणमोक्ष, क्षाणिकवाद, कूटस्थता आदिक कुछ सम्भव और कुछ असम्भव हो रहे पदार्थोंकी कल्पना तो सुछमतया बीजभित्तिसिहत साथी जा सकती है तथा परिपूर्ण रूपसे वस्तुभूत परिणतिओं अनुसार सम्भव रही आर्यत्व, म्लेच्छत्व, उद्यगोत्रता, नीचगोत्रता आदिकी कल्पना तो अतीव सुछमतासे समझायीं जा सकती है। मनुष्यपन, पशुपन, या सदाचार, असदाचार, अथवा अपराध, अनपराधका विवेक रखनेवालोंके सम्मुख आर्यपन म्लेच्छपनका निर्णय सुकर है।

कथं ना किनित्संनदायात् पारमाथिकीं न्यनस्थामानक्षाणी मनुष्येष्वेनार्येतरभावन्यनस्थां कारपनिकीमानक्षीत १ प्रमाणांतराविषयत्वादिति नेत् न, अत्येम्छेन्छन्यनस्थाया गुणदोष-निवंधनायाः प्रत्यक्षानुनानाभ्यामिति प्रसिद्धेरनः । तथादि—स्वसंताननिर्तेनी हि मनुष्याणां आर्यत्वन्यनस्थितिः सम्यग्दर्शनादिगुणनिवंधना म्छेन्छन्यनस्थितिः मिण्यात्वादिदोषनिवंधना स्वसंवेदनिसद्धा स्वरूपवत् । संतानांतरवर्तिनी तु सा न्यापारन्यवद्दाराकारिवशेषस्य कार्यस्य विनिश्चयादनुषेया नेति न प्रमाणांतरागोनरा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रसिद्धायां न गुणनिवंधना-पामार्यत्वन्यनस्थायां कान्निन् मनुष्यन्यिकषु युगादानन्यनछित्रसंतानास्तथाभूतगुणैरर्यमाणा जात्यायीः प्रसिद्धा भवंति क्षेत्राद्यार्यवत् तथा म्छेन्छाः ।

एक बात यह भी है कि नास्तिकपन, मनुष्यपन, पशुपन, आदिमें कहीं न कहीं अम्प्रदायसे वास्तिकिक व्यवस्थाको वखान रहा यह नास्तिक मला मनुष्योंमें ही आर्यपन म्लेच्छपनकी व्यवस्थाको क्यों कल्पनानिर्मित कहेगा ! बताओ । सम्प्रदाय अनुसार मानी गयी व्यवस्थाको या तो सर्वत्र कल्पित कहे अथवा कहीं भी कल्पित नहीं कहे । कहीं कुछ और कहीं कुछ, यों " अर्ध नरतीय " न्यायका अनुसरण उचित नहीं है । यदि नास्तिक यों कहे कि आर्थ, म्लेच्छन्यवस्था तो किन्हीं अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, इस कारण कल्पित है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि गुणोंको कारण मानकर हुयी आर्थन्यवस्थाकी और दोषोंके निमित्त कारणपनसे हुई म्लेच्छन्यवस्थाकी इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे यें। वस्यमाण प्रकार अनुसार प्रतिद्धि हो रही है । उसीको प्रन्थकार स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि अपने निज आत्माकी उपनितासमन्य हारा पूर्वकालेंसे चली आ रही संतानमें वर्त रही मनुष्योंकी आर्य-

पनेकी व्यवस्था तो सम्यग्दर्शन, क्षमा, ब्रह्मचर्य, आदि गुणोंको काग्ण मानकर हुई स्वकीय सम्वेदनसे प्रतात हो रही है और म्लेन्छमनुष्येंके अपनी अपनी संतानमें वर्त रही म्लेन्छपनकी **च्यवस्थिति इन मि**ध्यात्व, हिंसा, निर्लं जता, आदि दोषों के निर्मित्तसे हो रही अपने स्वसम्बेदन प्रत्यक्षों द्वारा प्रसिद्ध हो रही है, जैसे कि अपने अपने आत्मसद्भावका सम्पूर्ण मनुष्योंको स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, स्वकीय आत्मासे न्यारे अन्य आत्मा रूप संतानोंमें वर्त रही वह आर्यपन या म्लेच्छपनको व्यवस्था तो आर्यपन, म्लेच्छपनके कार्य हो रहे विशेष व्यापार, विशेषवचन प्रवृत्तियां, या निरोषआकारोंका विशेषतया निश्चय हो जानेसे अनुमान करने योग्य है । इस कारण वह आर्य. म्छेच्छपनकी व्यवस्था अन्य प्रमाणोंका अविषय नहीं है, जैसा कि तुमने पहिले आक्षेप किया था। किन्तु अपनी अपनी आत्मायें स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष द्वारा और परकीय आत्माओं में अनुमान द्वारा आर्थ, म्लेन्छ, व्यवस्थाको इमने साध दिया है। जब कि किन्हीं किन्हीं सजन मदाचारी बती मनुष्य व्यक्तियोंमें गुणोंको कारण मानकर आर्यपन व्यवस्थाकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों करके प्रसिद्धि हो चुकी है, ऐसा हो जानेपर कर्मभूमिकी आदिमें नहीं टूटी हुयी संतानवाले मनुष्य निम प्रकारके वस्तुभूत गुणों करके सेवित किये जा रहे जात्यार्य प्रसिद्ध हो जाते है, जैसे कि क्षेत्र या वर्ष आदिकी अपेक्षा आर्य मनुष्य प्रसिद्ध हो रहे हैं । अर्थात-भोग विभिन्नों के मनुष्य आर्य है, उन्हीं की संतान, प्रतिकृतान नहीं इटती हुई कर्मभूमि कालमें भी चन्ही आ रही है। जानि या कुलों के नाम भले हा परिवर्तित हो जांप, इश्वाकवंश, सोमबंश, नाथबंश ये संज्ञाये इस समानी अपेक्षासे हैं, तो भी इनकी संतानधारा अट्ट है। अतः तिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणोकरके जुछ हो रहे मनुष्य आर्य है। क्षेत्र आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, इनके समान ही कुलपरम्पराते चले आ रहे जात्यार्योक्ती भी सिद्धि कर हेनी चाहिये। तिस ही प्रकार कुछपरम्परा अनुसार अविन्जिन मंतानवार्छ मन्ध्य मिध्याल, **हिं**सा, आदि दोषों करके सेवित हो रहे म्लेच्छ प्रसिद्ध हो रहे हैं. म्लेच्छोको स्वयं अपनी आत्मामें म्लेच्छपन का स्त्रसम्मेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, उनके पुत्र, मित्र, या देशान्तरीय अन्य म्लेक्क्रोंके म्लेक्क्रपन का शरीर न्यापार, वचनप्रवृत्तियां आदि करके अनुमान कर लिया जाता है। आर्योंको दूसरेक म्लेच्छ पनका या म्छेन्छमनुष्योंको दूसरोंके आर्यपनका भी अनुमान हो जाता है। भर्छे ही कोई ऐंद्र या अभिमानी पुरुष अपनेका बढ़ा मानता रहे, किन्तु समय समयपर गुण और दोपोंका ठीक ठीक विवेक तो बालक, बालिकाओं, तक को हो जाता है। पण्डितपन या मूर्खपन, नारागता, सरोगता, वलवत्ता, निर्वे छता, सदाचार कदाचारके समान आर्यपन म्हे च्ह्रपनका भी संबी जीवों को परिज्ञान हो सकता है कोई कठीन समस्या पाले नहीं पड गयी है।

> नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा तु या। जातिर्बोद्धण्यचांडाल्यप्रभृतिः कैश्चिदीर्यते ॥ ११ ॥

सान सिद्धा प्रमाणेन बाध्यमाना कदाचन ।

बात यह है कि क्षेत्र आर्य या कर्म आर्य अथवा चारित्र आर्य मनुष्योंकी सिद्धि करना सरल है । हां, जात्यायींकी इस युक्तिप्रधान जगत्में सिद्धि करा देना श्रमसाध्य है । कारण कि प्रायः संपूर्ण मनुष्य जन्मपरम्पराको तो स्वीकार कर छेते हैं । विष्यु या ब्रह्माके द्वारा हुई आदि सृष्टिको माननेवाछ अथवा चाहे जितनी आत्माओं की लिष्ट या प्रलयको कर देने वाले अलाहके अनुयायी मोहमदियोंकी संपूर्ण युक्तियां निर्वल (पोच) पड गयी है । परिशेषमें चार्याक, साइन्सवेत्ता, यवन, पौराणिक बौद्ध इन सबको गर्भज मनष्य, पञ्च, पक्षियोंकी सृष्टि मैतानरूपसे अनादिकालीन माननी पडेगी। हां, कतिपय आधुनिक पंडित संतानक्रमंस चले आरहे जीवाचरणका आत्माओंमें संस्कार पड जाना नहीं स्वीकार करते हैं। कोई कोई तो तत्कालीन सदाचार, असदाचारसे शटित आर्यसे म्लेन्छ और म्लेन्छसे आर्य होजाना अंगीकृत कर लेते है । कोई तो जाति, कुल, व्यवस्थाको स्वीकार ही नहीं करते हैं । किन्त यह बात जगत प्रसिद्ध है कि विशेष जातिके आमसे मिन प्रकारका आम्रफल उपजता है। सांकर्य (कलम लगा देनेसे) हो जानेसे अन्तर पड जाता है। बढिया घोडेमें भी पितृगंश, मातृवंशका छत्य रखा जाता है। कपायों या क्षमाकी वासनायें बहुत दिनोंतक बस जाती हैं । इंशे प्रकार इक्ष्वाक वंश, प्रमावतीपुरव छ, अप्रवाछ, खण्डे ज्वाछ आदि जातियों भी अपेक्षा संतानतक्रमने चले आ रहे आर्थ पनका नियानक हेत् जन्मक्रम और कर्मक्रम दोनों ही मानने चाहिये। श्री विद्यानन्द आचार्य वैद्योषि-कों भी मानी हुई जातिका प्रत्याख्यान करते हैं कि किन्हीं वैशेषिक या नैयायि कोंकरके सर्वथा नित्य. सर्वन्यापमः अमूर्तस्यभावत्राली जो ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व, वैश्यत्व आदि जातियां कही जा रही है. वं तो कदाचित भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं ! वयों कि प्रमाणोंसे वे बाधाको प्राप्त हो रही है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, कोई भी प्रमाण उन जातियोंको विषय नहीं करता है, जिनका कि स्वरूप वैशेषिकोंने नित्यपन, व्यापकत्व, और अमूर्तत्व मान रक्खा है।

ब्राह्मणत्वादिजातिः सर्वगता सर्वत्र स्वपत्ययहेतुत्वादाकाशवत् सत्तावद्वा, तथा नित्या सर्वदोत्पादकविनाशककारणराहितत्वात् तद्ददेव इत्येके। तेत्र प्रष्ट्रच्याः,सा सर्वगता सती व्यक्त्यं-तराह्रे कस्मात्स्वप्रत्ययं नोत्पादयतीति १ स्वव्यंजकविश्वेषाभाषादनभिव्यक्तत्वादिति चेन्न, तद्भिव्यक्तेः साकल्येन करणे कविद्युपलंभे सर्वत्रोपलंभपसंगात्, देशतः करणे सावय-वत्वमसक्तेः।

वैशेषिकका मन्तन्य है कि ब्राह्मणत्व, वैश्यत्व, चाण्डालत्व, आदिक जातियां (पक्ष) सर्वत्र न्यापक है (साध्य), क्योंकि सभी न्यक्तिस्थलोंपर अपने अपने ज्ञानके उत्पादका हेतुपना उन जाति-योंमें वर्त रहा है (हेतु) आकाशके समान, अथत्रा सत्ताजातिके समान (अन्वयदृष्टांत)। तथा ब्राह्मणस्य आदि जातियां (पक्ष) नित्य हैं (साध्य) उत्पत्ति करानेवाले और जातियोंका विनाश

करनेबाके कारणों का सदा रहितपना होनेसे (हेत्) उन ही आकाश या सत्ताके समान (अन्त्रय दृष्टान्त) । तीसरा अनुमान जातिके अमूर्तपन स्वभावको साधनेके छिये यों बना सकते हैं कि जाति अमूर्त है (प्रतिज्ञा) परिमाण गुणका अभाव होनेसे (हेतु) कियाके समान (अन्वयदृष्टान्त), आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक पण्डित कड़ रहे हैं। वे पण्डित यहां यों पूछने योग्य हैं कि सर्वन्यापक हो रही संती वह जाति भन्ना न्यक्तियोंके अन्तरान्तमे किस कारणसे स्वकीय ज्ञानकी नहीं उपना पाती है ? बताओ। यदि वैशेषिक यों कहे कि अन्तरालमें अपने प्रकट करनेवाले आश्रय हो रहे व्यक्तिविशेषोंका अभाव हो जानेसे वह जाति वढां अभिन्यक नहीं है, तिस कारण मध्यवर्ची अन्तरालमें विद्यमान हो रही भी जाति स्वकीयज्ञानकी उत्पादक (उत्पादिका) नहीं है । अर्थाव् — एक ब्राह्मण मनुष्य व्याकरण पढ रहा है। दूसरा ब्राह्मण व्यक्ति एक कोश दूरपर भोजन कर रहा है। उन दोनों व्यक्तियोंमें ब्राह्मणत जाति है और मध्यदेशवर्त्ती अन्तरालमें भी वह व्यापक ब्राह्मणत्व-जाति तिष्ठ रही है। परन्त अप्रकट होनेसे बाह्म गपन की इति नहीं करा पानी है। किन्त जहां ब्राह्मण पुरुष व्यक्तियां विद्यमान हैं. वहां प्रकट हो रही ब्राह्मणत्व जाति स्वज्ञानको करा देती है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि सकलक्ष्यमे उस जातिकी व्यक्तिविशेषों हारा अभिव्यक्तिके कर देनेपर यदि कहीं एक स्थलपर जातिका उपलम्म होगा तो सम्प्रण ऋपसे प्रकट हो चुकी जातिके सर्वत्र (अन्तरालमें) भी उपजम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा । यदि व्यंजक कारणों द्वारा एक एक देशमे जातिकी अभिन्यक्ति करना अभीष्ट किया जायगा तब तो जातिको अवयव सहितपनेका प्रसंग आता है। जातिके अनेक अवयव होनेपर ही तो कहीं प्रकटता अन्यत्र कहीं अप्रकटता सम्भव सकेगी। अन्यथा नहीं। किन्तु जातिको नित्य, निरत्ययत, व्यापक, अखण्ड, अमूर्त, माननेवाले वैशेषिक पण्डित जातिका सावयवपना तो अभीष्ट नहीं करेंगे। उनको अपसिद्धान्त दोष लग जानेका भय बना हुआ है।

नतु च कात्स्न्येनाभिन्यकाविष जातेर्न सर्वत्रोपछंभः सामग्र्यभावात्, स्वव्यक्तिदेश एव हि तदुपछंभसामग्री मतीता इन्द्रियमनआकाशादिवत् न च व्यक्त्यंतराले सास्तीति केचित् । तद्प्यसंगतं, घटादेरवं सर्वगतत्वभसक्तेः । शक्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्विषि न सर्वत्रो-पछंभः सामग्र्यभावात् कपालादिदेश एव हि तदुपछंभसामग्री न च सा सर्वत्रास्तीति कपालादेरप्यवयविनः सर्वगतत्वेषि न सर्वत्रोपछंभः स्वावयवोपछंभसामग्र्यभावादित्येवमनंतशः परमाण्नामनवयवित्वादसर्वगतत्वे सर्वत्रोपछंभाभावात्पर्यनुयोगनिवृत्तिरिति । यदि पुनर्घटादेः सर्वगतत्वकरणनाया मत्यक्षविरोधः मतिनियतसंस्थानस्य मत्यक्षत्वात् अनुमानविरोधश्च । न सर्वगतो घटादिः सावधवत्वात् मृतिमत्वात् परमाणुवत् इत्यनुमानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकरणनाया एव जातरसर्व-

गतायाः प्रतिनियतच्यक्तिगतायाः प्रत्यक्षत्वात् । तथा न जातिः सर्वगता प्रतिनियतच्यक्तिः परिणामत्वाद्विशेषवदित्यनुमान।ज्जातेरसर्वगतत्वसिद्धेः । क्रुतः पुनः सादृश्यस्रभणं सामान्यं सिद्धिमिति चेत् ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जातिकी पूर्णस्पसे अभिन्यिक होनेपर भी उस जातिका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होसकता है। क्योंकि अंतराल देशोंमें उपलम्भकी साम-प्रीका अभाव है। उन जातियोंको उपलम्भकी सामग्री अपने अपने आधार होरहे व्यक्तिस्वरूप देश है। प्रतीत होरहे हैं । जैसे कि बहिरंग इन्त्रियां या अंतरंग इन्द्रिय मन अथवा आफारा आदिक उपक्रंभ सामग्री हैं। किन्तु व्यक्तियों के अंतरालमें वह व्यक्तियां स्वरूप सामग्री नहीं है। इस कारण अंतरालमें जातिका प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। इस प्रकार भोई वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं उनका वह कहना भी संगतिशन्य है। क्योंकि इस प्रकार तो घट, पट, आदिके भी सर्वगतपनेका प्रसंग अज्ञा-बेगा। इम बहुत अच्छे ढंगसें यों कह सकते है कि घट, पुस्तक आदिकोंका सर्वगतपना होते हुये भी सर्वत्र उपलंभ यों नहीं होपाता है कि वहां उपलंभ होने की सामग्री नहीं है। कपाल, तंत्र, पत्र आदि देश ही उन घट, पट, पुस्तक आदिकोंके उपलंभ होजानेकी सामग्री हैं। किन्तु वह सामग्री तो सर्वत्र नहीं है। जिस प्रकार कपाछ आत्मक अवयवींसे बने हुये अवयवी घटना व्यापकपना आपादित कर दिया गया है. इस ही प्रकार फपालिकास्वरूप अवयवें ने बनाये गये कपालरूपी अवयवी या तंत संबंधी अवयवोंसे बने छंत्रे तेतु आदि अवयवियोंके स्वर्गत होते हुये भी उनका सर्वत्र उपखंग नहीं होता है । क्योंकि अपने अपने अवयवस्त्ररूप उपलम्भ सामग्रीका वहां वहां अभाव हो रहा है । इस प्रकार और भी उत्तर उत्तर अवयवोंके व्यापकत्वकी आपत्ति दी जा सकती है। हां. पंचाणक. चत-एएक. इयएक. इयएक. अवयवियाँके व्यापकलका आपादन करते हुये अन्तर्ने जाकर अवन्ती? अनन्ती, परमाण श्रोंको निरवयव होनेसे असर्वगतपना माननेपर उन परमाण ओंका सर्वत्र उपक्रम नहीं होनेसे पर्यनुयोगकी निवृत्ति हो सकेगी । इच्युक्तक तो सर्वगतपने या सर्वत्र उपस्था होनेका आधा-दन अवस्य कर दिया जायगा, जो कि वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है। यदि फिर वैशेषिक यों कहे कि घट, वस्त, आदिके सर्वत्र व्याप अपनकी अल्पना करनेका प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरोध उन जाता है। क्योंकि प्रतिनियत हो रहे अल्पदेशवृत्तिपनेकी रचना या आकृतिको धारनेवाले घट आदिका बाल. इस. कीट, पतेगों, तकको प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा घट, आदि पदार्थोंके न्यापकपनको साधनेमें अनुमान प्रमाणसे भी विरोध आता है। देखिये, घट, आदिक (पक्ष) सर्वत्र वर्त रहे होंय ऐसे व्यापक नहीं 🕯 (साध्य), क्योंकि वे अल्प परिमाणवाले स्वनिर्मापक अवयवोंसे सहित हैं (पहिला हेत)। अपकृष्ट परिमाणस्त्ररूप भूर्तिके आश्रय हैं (दूसरा हेतु) । परमाणुके समान (अन्ययद्यान्त) । इस अनुमानसे घट आदिकके अन्यापकपन ही सिद्धि हो रही है। यो वैशेषिकोंका मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि लब तो जातिके सर्वगतपनकी कल्पना करनेमें भी वैशेषिकोंको वही प्रत्यक्ष अली प्रमाणींसे

विरोध आवेगा'। हां '' सदरापरिणामस्तिर्थक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् '' जातिके इसं सिद्धांतालक्षण अनुसार प्रतिनियत व्यक्तियोंने प्राप्त होरही असर्वगत और साहशस्वरूप ही जातिका प्रत्यक्ष होरहां है। अनेक मनुष्योंमें चाहे वे चांडाळ या म्लेच्छ ही क्यों न होय. ब्राह्मण, क्षत्रिय, मनुष्योंका साहस्य वरी रहा हैं। संपूर्ण घोडे समान हैं, चाहे पांच रुपये हा टट्आ हो अथवा भठे ही पांच हजार रुपयों का बढिया घोडा होय. सबमें अश्वत्वरूप करके सादश्य वर्त रहा है। मुखमें चंद्रकी सदशता या गवयं (रोहा) में गायकी सहराता दूसरी वस्तु है। जाति वरूप साहत्य तो एक ही जातिकी अनेक व्यक्ति-योंसे अभिन होरहा है। यद्यपि गवय निरूपित गोनिष्ठ साइत्य भी गोसे अभिन है और गोनिरू-पित गवंयनिष्ठं सादस्य गवयसे अभिन्न है । सदश वस्तुओंसे निराठी कोई तीसरी जातिका सादस्य वहा दीखतां नहीं है। तथापि आरोपित सादरासे जातिस्वरूप सादस्य निराला ही है, जो कि समान जाति बाळी व्यक्तियोंमें ही ठहरेगा । जब कि अञ्चापक होरही घट, पुस्तक, गी, आदि व्यक्तियोंका आबाज, गोपालतं कको प्रत्यक्ष होरहा है. ऐसी दशामें व्यक्तियोंसे अभिन होरही जातिको अध्यापक मानना ही। युक्तिपूर्ण है। तैस होनेपर जाति (पक्ष) सर्भगत नहीं है (साध्य) प्रत्येक नियत होरहीं व्यक्तियोंका परिणाम होनेसे (हेतु) विशेष पदार्थके समान (अन्त्रयदृष्टान्त) इस अनुमानसे जातिके अन्यापक-पनकी सिद्धि होजाती है। यदि यहां कोई वैशेषिक यों प्रश्न करे कि फिर वह सादश्यस्वरूप सामान्य भला किस प्रमाणसे सिद्ध कर दिया गया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अग्रिसमार्श्तिकको कहते हैं।

सिद्धं साद्दश्यसामान्यसमाना इति तद्वप्रद्वात । कुतिश्चित्सदृशेष्वेव मनुष्येषु गवादिवत् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शृद्ध, ब्रास्य, पतित, म्लेच्छ, भोगभूमियां, कुभोगभूमियां, लच्यपर्यातक, इन संपूर्ण मनुष्योंमें सहशपरिणाम स्वरूप साहश्य माना जा रहा सामान्य प्रसिद्ध है (प्रतिक्चा) किसी न किसी अंतरंग परिणतिस्कूप कारण से "सहशोंमें ही ये समान है" "ये सहश हैं " इस रूपसे उन परार्थोंका ज्ञान द्वारा परिष्रहण होनेसे (हेतु) गी, अन्त्र आदिके समान (अन्वयद्धांत)। भावार्थ—जेसे खंड, मुंड, आदि अनेक प्रकारकी गायोंमें यह इसके समान है, यह इसकी सजाति है, यो परिष्रहण होनेसे सहशपरिणामरूप गोत्वसामान्य प्रसिद्ध है, उसी प्रकार मनुष्योंमें जाति द्वारा सभी मनुष्य समाव हैं, यह प्रतिपत्ति होरही है। अतः सहशपरिणामरूप मनुष्यत्वजाति सिद्ध होजाती है। अन्यया व्यक्तियोंको जातिसे भिन्न माननेपर अनवस्था दोष आवेगा। वैशेषिकोंके "नित्यत्वे सित्त व्यापकत्वे च सित गोसमवेतं गोत्वं" और "गवेतरासमवेतत्वे सित सम्बद्धगोरमवेतत्वं गोत्ववं" ये सब छक्षण अविचारितरम्य है। सहशपना पदार्थोंको एक परिणति है, वहाँ जाति है। पदार्थोंको तदासमक स्वरूपके निराह्य कोई न्यारी जातिका बोह्य उन पदार्थोपर छदा हुआ नहीं है, जैसे

कि भोबीकी गर्धेयापर कपडोंकी ठादी छदी रहती है। बास्तविक रूपसे पर्पदार्थ कालत्रयमें अपना मही होसकता है। इति निर्मेष्यते स्वयं प्रथकारः।

स एवं महुष्य इति प्रस्थयास समाना इति तद्यहोस्ति यतः साहत्यसामान्यं विश्विदिति चैत् न, सहैशे महुष्यादी स एवापमिति मत्ययस्योपचरितैकत्वविषयत्वात् । द्विविषं हि एकत्वं गुरुवग्रुपचरितं च, ग्रुष्यम्ध्वतासामान्यग्रुपचरितं तिर्थक् सामान्यं साहत्रयमिति छुनिश्चित्पन्यत्र ।

कोई नैयायिक कछाक्ष करता है कि अनेक मनुष्योंको देखनेपर यह वही मनुष्य है यह दूसरा भी मनुष्य ही है, यह तीसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार एकत्वका परिचायक परिह्मन हो रहा है। अतः " यह मनुष्य उसके समान है, अमुक मनुष्य तिस मनुष्यके समान था " इस प्रकार सादस्यको जाननेवाला प्रहण नहीं हो रहा है, जिससे कि जैनोंका अभीष्ट सादस्य परिणामरूप सामान्य सिद्ध हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यह तो मन्द्रबुद्धि भी समझ सकता है कि सहरा हो रहे दूसरे, तीसरे, चीथे, मनुष्य आदिमें यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी बही मनुष्य है, इस प्रकार हो रहे ज्ञान तो उपचरित एकलको विषय करते हैं। एक ही व्यक्तिमें यह वही है, यह प्रत्यभिकान मुख्य एकत्वको विषय करता है। अनेक व्यक्तियोंमें हुआ एकत्व प्रत्यभिक्कान प्रमाणाभास होगा अथवा उपचरित एकत्वको विषय करनेवाला होगा । तीसरा कोई उपाय नहीं । देखो, एकत्व दो प्रकारका माना गया है । पहिला मुख्य एकत्व है, दूसरा उपचरित क्कल है। " पराप्रविवर्तव्यापि इध्यमूर्वितासामान्यं " एक इध्यकी अनेक कालोंमें होनेवाली नाना अवस्थाओंमें म्यापनेवाला परिणाम <u>उर्ध्वतासामान्य है</u> । देसे कि देवदत्तकी बाल, युवा हुद्र अवस्थाओं या जन्मान्तरीकी पूर्वीत्तरपर्वायोंमें जो सनान परिणाम है, वह ऊर्धतासामान्य है। इस ऊर्धता-सामान्यको विषय करनेवाले ज्ञानका गोचर मुख्य एकत्व है और अनेक न्यक्तियोंने एक काल पाये जानेबांछ तिर्यक् सामान्यको जाननेवाछे बानका विषय हो रहा साहत्य तो उपचरित एकत्व है, इस सिद्धान्तका इस अन्य अष्टसहस्री आदि प्रन्योंमें बहुत अच्छा निर्णय कर चुके हैं।

सा पुनर्जाक्षणत्वादिनातिर्नेकांततो नित्या शक्या न्यवस्थापथितुमनित्यन्यक्तितादातन्यात्, सर्वया तस्यास्तदतादारम्ये पृक्तिकरूपानवस्थादिदोषानुषंगात् । नाप्येकांतेनामूर्ता मूर्वतादारम्यविरोषात् । ततः स्याधित्या जातिर्नित्यसाद्दश्यरूपत्वात्, स्यादनित्यां नश्वरसाद्दश्यस्वभावत्वात्, स्यात्सर्वगतां सर्वपदार्थान्वयित्वात्, स्यादसर्वगता प्रतिनियतपदार्थाअयत्वात्, स्यान्मृतिषती मूर्तिनद्दश्यपरिणानत्वात्, स्यादस्त्रीं मानाद्यपूर्तद्रश्यपरिणामःत्यकेति नित्यसर्वगतामूर्वस्य नावा सर्वया ब्राह्म गत्वादिनानिरयुक्ता प्रमाणेन बाध्यमानत्वात्
इति सक्तं । वदेवं—

वैशेषिकोंने ब्राह्मणत्व, शृद्धत्व आदि जािगोंको सर्वथा नित्यमान छिया है। किन्तु वे ब्राह्मणत्व आदि जातियोंको फिर एकान्तरूपसे नित्यपनकी व्यवस्थाको करानेके लिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। कानिस्य स्थातियोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध बन रहा होनेसे, वे जातियो सर्वथा नित्य नहीं कहीं जा सकती है। यदि वैरोजिक उन बाह्मण्य आदि जातियों हा उन बाह्मण आदि व्यक्तियों के साथ सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे तादाल्य सम्बन्ध अभीष्ट नहीं करेंगे तब तो बृत्ति, त्रिकल्प, अनवस्था कार दोचोंकी प्राप्तिका प्रसंग होगा । भावार्थ—एक जातिकी अनेक देशस्य व्यक्तियोमें यदि पूर्ण रूपसे विक बाली जायगी तब तो प्रत्येक व्यक्तियोंमें ठडरनेवालीं जातियां वैशेषिकों की अनेक माननी पडेंगी। बदि एक जातिका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे वर्तना माना जायगा, जैसे कि आकाश वर्तरहा **है. तब तो जातिको अवयवसहितपना** प्राप्त होगा । उन अवयवोंमें भी जातीकी एकदेश या सर्व देशसे पुत्ति मानते मानते नहीं पर्यनुयोग चडेगा । यों अनवस्था दोष खडा हो जाता है । तथा घटकी उत्पति होनेबाडे देशमें प्रथमते सामान्य था तो वहा घटने विना वह घटन्वसामान्य भला किस **आधारपर बैठा हुआ था ! आश्रय है बिना सामान्य ठ**हर नहीं सकता है । '' अन्यत्र निरयद्रव्येभ्य आश्रितत्विमिहोच्यते '' नित्य द्रव्योंके अतिरिक्त सभी पदार्थ आश्रित माने गये हैं। घटकी उत्पत्ति हो हो स्वक्रमें सामान्य अन्य स्थानसे आ नहीं सकता है। क्योंकि वैशेषिकोंने सामान्यको क्रिया। हित स्वीकार किया है। पूर्व आधारको यह छोड भी क्यों देगा ? इसी प्रकार घटके फूट जानेपर घटल सामान्य कहां चला जाता है ? बताओ । भला सर्वया एक सामान्य प्रत्येक व्यक्तियों में परिसमास कैसे होगा ! तम ही विचारी । भिन्न पड़े हुये सात्राय द्वारा भिन्न पड़ी हुई जाति भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें नहीं चपर सकती है। यों वैशेषि जों के उत्पर कार्तिपय दोष आते हैं। अतः जातिको सर्वधा नित्य नहीं मान बैठना चाहिये । तथा जाति एकान्त रूपसे अमून माननेपर घट, पट, आदि मूर्त द्रव्यों के साथ तादाल्य सम्बन्ध होनं का विरोध हो जायगा । मृताँ के साथ तादाल्य रख रहा परार्थ मूर्त समझा जाता है। तिस कारणसे स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार यों निर्णय कर छो कि जाति कथंचिद् नित्य है। (प्रतिष्ठा) क्योंकि कथंचिद् नित्य माने जा रहे पदार्थाका तदात्मक सादश्य रूप वह है । नित्य माने जा रहे सम्पूर्ण द्रष्य या कथंचिद् नित्य मानी जा रही सूर्यविमान, कुळाचळ, अकृत्रिम प्रितमार्थे आदिक नित्य पर्यायोंने वर्त रहा साद्भयरूप सामान्य अर्थाचित् नित्य ही है। साथमें वह जाति (पश्च) कथीचित् अनित्य भी है (माध्य), नाश होनेवाछे साद्ध्यरूप स्त्रभाव होनेसे (हेतु) अर्थात्—घट, पट, आदि नाराशील परार्थी न सादश्य अर्थानित् अनित्य है । इसी प्रकार वह जाति क्यांचित सर्वन्यापक भी है। क्योंकि सत्ता, वस्तुत्व आदि जातियोंके समान वह जाति सम्पूर्ण पदा-चौमें अम्वित हो रही है। और वह जाति कथं वित् असर्वगत है। क्यों कि न्यारे न्यारे देशों में वर्त रहे प्रति नियत पदार्थों ने आश्रित हो रही है । तथत घट, पट, संमारी जीव, आदि मूर्त द्रव्योंका परिणाम होनेसे वह जाति कथंचित् मूर्तिवाली है । आकारा, शुद्ध आमा, कालद्रव्य,

आदि अमूर्तद्रश्योंका परिणाम स्वरूप हो रही वह जाति कथंचित् अमूर्त मी है । इस प्रकार जातिके कथंवित् नित्यत्व, अनित्यत्व, या कथंचित् सर्वमतत्व, असर्वमतत्व अथवा कथंचित् मूर्तत्व, अमूर्तत्वका विवेचन कर दिया है । वैशेषिकोंका ब्राह्मणत्व आदि जातिको सर्वथा नित्यत्वभाव, सर्वगतत्वभाव और अमूर्तत्वभाव मानना युक्तिरहित है। क्योंकि ऐसा माननेमें अनेक प्रमाणोंकरके बाधार्य उपस्थित की जा रही हैं। इस कारण हमने उक्त ढाई वार्तिकोंमें बहुत अच्छा जातिका विचार कर समीचीन सिद्धान्त कह दिया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ सो सुनो।

सार्भद्विद्वीपविष्कंभप्रभृति प्रतिपादितं । समनुष्यं चतुष्टय्या सूत्राणामिति गम्यते ॥ १३॥

तीसरे पुष्मरद्वीपके आधे भागमहित जम्बूदीप, धातकीखण्ड द्वीप इन दो द्वीपों यानी ढाई द्वीपके विष्कम्म आदिका मनुष्योंसिहत श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रोंकी चतुष्टयीकरके प्रति-पादन कर दिया है, यह समझ लिया जाता है। अर्थात्—दिर्धातकीखण्डे, पुष्करार्धे च, प्राच्या-नुषोत्तरानमनुष्याः, आर्या म्लेष्ठाश्च, इन चार सूत्रोंकरके मूलप्रन्थकारने ढाई द्वीप और मनुष्योंका प्रबोध करा दिया है, यों माना जाय।

काः पुनः कर्मभूमयः काश्र भौगभूमय इत्याइ।

कृपानिधान गुरुवर्य, अब यह बताओ कि फिर कर्मभूमियां कौनसी हैं ! और भोगभूमियोंके स्थान कौन हैं ! यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं ।

भरतेरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं। हां, विदेहोंके मध्यमें वर्त रही पांच देवकुरुओं और पाच उत्तरकुरुओंको छोड देना चाहिये। क्योंकि वे उत्तम भोगभूमिया मानी गयी हैं।

कर्मभूमय इति विशेषणानुपर्यतिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारादिति चेत्र, वा, पक्रष्टगुणानु-भवनकर्मोपार्जितानिर्जराविष्टानोपपत्तेः षट्कर्मदर्शनाच । अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः । शेषास्ता भोगभूमय इति सामध्योद्गरूपत इत्यावेदयति ।

कोई शंका करता है कि छोकमें सम्पूर्ण स्थलोंप जब आठ प्रकारके कर्मीका बन्ध और उनके फलों का अनुभग्रहप ज्यापार ज्याप रहा है, सिद्वलो कमें भी एकेंद्रिय जीव कर्मीका उपार्जन कर रहे हैं, भोग सूमियोंमें आदि के चार गुणस्थानों अनुसार कर्म उपार्जन हो रहा है, देव या

नारिकयोंकी भी यही दशा है, स्थावर लोकमें कर्भफलचेतनाका व्यापार चमक रहा है, तो फिर इन पंद्रह स्थळोंको ही कर्मभूमियां कहना यह विशेषण तो युक्तिविद्र नहीं बन पाता है। प्रथकार कहते 🧸 कि यह तो नहीं ऋहना। क्योंकि परिहारविश्वद्धि, उत्कृष्ट देशावधि, परमाविक, सर्वावधि, मनःपर्यय-द्धान, केवळ्डान या उत्कृष्ट ऋदियां, उत्कृष्ट सम्यादरीन, चारित्र आदि प्रकृष्ट गुणींका अनुभय उपार्जित कमौकी निर्जराके अधिष्ठान ये पंदह क्षेत्र ही बन रहे हैं। अथवा " न वा प्रकृष्टसुमाराभ-कर्मोपार्जननिर्जरिधष्ठानोपपतोः "यो पाठ माननेपर यह अर्थ हुआ कि उक्त शंका उठाना उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वार्धिसिद्धि विमानके प्राप्त या तीर्धकरत्व अथवा महती ऋदियोंके संपादक असाधारण प्रकृष्ट शुभकर्म है, उनका उपार्जन इन कर्मभूमियोंमें है। किया जाता है और सातमें नरकको प्राप्त करा देनेवाले जो तीव पापकर्म हैं. उन कर्नीका संचय मी इन ही कर्मभूमियोंमें होसकता है। तथा प्रखेल कार्पमें द्रव्य, क्षेत्र, कांछ, भावोंकी अपेक्षा है। अतः ये कर्मभूमियां रूप पंद्रह क्षेत्र ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म और सबसे बड़े पापकर्मके उपार्जन स्थल हैं । संसारश्रमणको न्यून करने-बाली निर्जरा या मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति भी इन ही स्थलेंसे होती है। दूमरी एक बात यह भी है कि क्षत्रिय उपयोगी असिकर्म और वैद्यवर्णके उपयोगी मिष्रकर्म, विशक्तिम, कृषिकर्म, तथा शुद्ध उप-योगी विद्याकर्म, शिल्पकर्म इनका इन कर्मभूमियोंमें ही अनुष्ठान करना देखा जाता है। ब्राह्मण वर्णके उपयोगी यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रहण ये छह कर्म इन कर्मभूमियोंमें प्रवर्त रहे हैं । मुनिजन अपने छह सामायिक आदि आवश्यक कर्मीको, श्रावकजन देवपूजा आदि षट् आव-श्यकों को पंत्रह कर्म सूमियों में पाछते हैं। इस सूत्रमं अन्यत्र शद्दका अर्थ परित्यांग करना है। अतः परिहोष न्यायसे भरत, ऐरावत, और देवकुरु, उत्तरकुरुवर्जित विदेहसे अतिरिक्त ढाई द्वीपमें शेष रहीं बे भूमियें भोग मुमियें हैं. यह बात कहे त्रिना ही सामर्थ्य जान ली जाती है। इस बातका निवेदन प्रथमार अप्रिम वार्तिको द्वारा करे देते हैं।

> भरताद्या विदेहांताः प्रख्याताः कर्मभूमयः । देवोत्तरकुरूंस्त्यक्त्वा ताः शेषा भोगभूमयः ॥ १ ॥ सामर्थ्यादवसीयंते सूत्रेस्मिन्नागता (न श्रुता) अपि । समुद्रद्वितयं यद्वत्पूर्वसूत्रोक्तशक्तितः ॥ २ ॥

भरतको आद्य स्थानमें घर कर निदेह क्षेत्रपर्यंत कर्मभूमियें ब्रिटिया ढंगसे वखानी गयी हैं। विदेहक्षेत्रके मध्यभागमें वर्त रहे देवकुरु, उत्तरकुरू, स्थानोंको छोडकरके विदेहक्षेत्रका प्रहण करना चाहिये। भरताचा में आदि शहको न्यवस्थावाची मानकर आद्य शहस ऐरावतका ही प्रहण करना चाहिये। पांच मेरुसम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेहोंको छोडकर शेष ढाई द्वीपकी हे भूमियें भोगभूमियां हैं। ये भोगभूमियां श्री उमास्त्रामीं महाराजने पूर्वसूत्रोंमें या इस स्त्रमें पर्किप केंठोक्त नहीं कहीं हैं, तो भी सामर्थ्यसे अर्थापात्तिप्रमाण करके निर्णात कर छी जाती हैं, जिस प्रकार कि पूर्वसूत्रमें कहे जालुके प्रमेयकी सामर्थ्यसे दोनों छत्रणसमुद्र और काछोदाधि समुद्रका निर्णय कर छिया जाता है।

सार्भद्वीपद्वयतियाद्वनस्त्रे नचनसामध्यिद्श्वयमाणस्यापि समुद्रदितयस्य यथावसायो जंत्रदीपस्त्रवणोदादिदीपसमुद्राणां पूर्वपूर्वपरिक्षेषित्वचचनातः तथास्मिन् स्त्रेनुक्तानामपि मोमभू-मीनाम् निश्रयः स्यात् । भरतेरावतिवेदेहा देवकुरूचरकुरुभिर्मिर्जिताः कर्मभूमय इति वचन-सामध्यति देवकुरूचरकुरुभः शेषाश्च हैमवतहरिरम्यकहरण्यवतास्या भूमयः कर्मभूमिषिस्त्रक्षणः त्वाद्रोगभूमय इत्यवसीयंते ।

ढाई द्वीपींका प्रतिपादन कानेवाले उक्त सूत्रोंमें लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रोंका वर्णन सूत्रों द्वारा नहीं सुना गया है । फिर भी सूत्र कारके गम्भीर वचनों की सामर्थिस जिस प्रकार अञ्चयमाण दोनों समझोंका निर्णय कर लिया जाता है. क्योंकि पहिले तो जम्बदीप, लबणीद आदि असंख्यात द्वीप समुदोंका वर्णन किया गया है । पश्चात् सूत्र द्वारा पूर्व पूर्वके द्वीप, समुदोंका पिछले पिछले द्वीप समुद्रों करके घेरा डांले रहना कहा गया है, अतः विना कहे ही जम्बूक्षपिके परिवेपी लक्षण समुद्र और धातशीखण्डके परिक्षेपी कालोदानि समुद्रका निश्चय कर लिया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं भी कहीं गयीं भोगभूमियोंका निश्चय कर छिया जाता है। भरत, ऐरावत, विदेख, ये देवकुरुओं और उत्तरकुर भागोंसे वर्जित हो रहे कर्मभूमि स्थान हैं। इस प्रकार इस सुत्रके कथनकी सामध्येते पांच मेरुसम्बन्धी पाच देवकुरुयें, पांच उत्तर जुरुवें और पांच मेरुसम्बन्धी उक्त तीन क्षेत्रोंसे शेष रही पांच हैमवत, पांच हरि, पांच रम्यक, पांच हैरण्यवत, संज्ञावाली भूमियां भौगभूमियें यों निर्णीत कर ही जाती हैं। क्योंकि ये कर्मभूमियाँसे विलक्षण हैं। यद्यपि कर्मभूमिसे विलक्षणपना स्वर्ग, नरक, स्थावरछोक, सिद्धालय, आदिमें भी विद्यमान हैं। फिर भी पूर्वदास पक्ष अनुसार भूमि-पना, मनुष्यक्षेत्रत्व आदि विशेषणोंका अन्तर्गर्भ होनेसे उक्त हेत् व्यभिचारदोष तरके प्रसित नहीं है। यों पांच मेरुसम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियां और पांच पांच देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, इन नामोंसे तीस भोग भूमियां विन्यस्त हैं । छियानर्वे अन्तद्वीपों को क्रभीग भूमियोंमें गिनाया जा चुका है । किन्हीं जैन विद्वानोंका मन्तन्य है कि दिशाओं में वर्तनेवाले समुद्रद्वयस्थ अन्तरद्वीप या कर्मभूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीप कर्ममूमि सदश हैं। किन्तु इस मतमें अपना विशेष आदर नहीं है | कारण कि प्रकृष्ट पुण्य, पापों ता, अनुष्ठान, मोक्षमांगी, देशवत, महावत, आदिका परिपाछनी नहीं होनेंसे कतिपय अन्तर्द्विपोंको कर्मभूमि कहनेमें जी हिचार्क चाता है। अधिकसे अधिक इनके चौथा गुणस्थान हो सकता है। क्रियानवे अन्तरद्वीपोंमें उपने म्हेन्क्रमनुष्य विचारे अूक्षणः वहाँ

रहित हो रहे और गुहा या बृक्षमें निवास करते सन्ते एक टांगवाले, सींगवाले, पूंछवाले आदि या अश्वमुख; सिंहतुख, महिषमुख, आदि अवस्थावाले शरीरोंको धार रहे, मटा भोगोंको भोगते रहते हैं। एक पच्य अपनी आयुःप्रमाण पर्यन्त अपने समान पन्नीके साथ निराबाध भोगोंको भोग कर अन्तमें मरकर स्वर्गमें वाहनजातिके देव हो जाते हैं। अथवा ज्योतिषी, स्वंतर अथवा भवनवासी होकर पुनः दुर्गतिके दुःखोंको भोगते हुये संतारमें अमण करते हैं। यो भोगभूमियोंके लक्षणकी घटना हो जानेसे अन्तहाँपवासी स्लेस्लोंको लुभागभूमियां कह देना जच जाता है। मानुषोत्तरपर्वतके परली और आवे अन्तिम द्वीपतक एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय तिर्य ही हैं। ये स्थान भी कुरिसन भोगभूमियां कहे जाते हैं। जधन्य भोगभूमिवत भी माने जा सकते हैं। इन तिर्यचोंकी भी असंख्यात वर्ष नी आयु है। एक कोश उंचा शरीर है। इनको आदिके चार गुणस्थानतक हो सकते हैं। सभी भोगभूमियां मरकर कषायोंका अवेग कुछ न्यून होनेसे देवगतिको प्राप्त करते है। हां, स्वयंत्रभ पर्वतसे परली ओर आवे स्वयन्भूरमण होप और पूरे स्वयंभूरमण समुद्र तथा चारों कोने कर्मभूमियां हैं। इनमें स्थलनिवासी तिर्यच पांचें गुणस्थानवर्ती भी असंख्याते पाये जाते हैं। यहां प्रकरणमें दाई द्वीपसम्बन्धी कर्मभूमियोंका मुन्नद्वारा और दाई द्वीपसम्बन्धी भोगभूमियोंका मुन्नद्वारा और दाई द्वीपसम्बन्धी भोगभूमियोंका मुन्नद्वारा और दाई द्वीपसम्बन्धी भोगभूमियोंका अर्थपति प्रमाण द्वारा परिज्ञान करा दिया गया है।

अथ तिश्ववासिनां नृणां के परावरे स्थिती भवत इत्याइ ।

भली भांति तुप्त हो चुके शिष्य हा दूसरे प्रकारका प्रश्न है कि गुरु महाराज, यह बताओं कि उन ढ़ाई द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्योकी उत्कृष्टस्थित और जघन्यस्थित क्या होती है ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूबको कहते हैं।

रृस्थितीपरावरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते ॥ ३९ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्टिशित तीन अदामल्योपम है, जो कि उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंके संभव रही है और जचन्यस्थिति अन्तर्नुहुर्त है, जो कि स्वासके अठारहवें भाग काल की ल्य्यपर्यासक मनुष्योंमें पायी जाती है। अउतालीस मिनटके मुहुर्तमें तीन हजार सातसी तिहत्तर २७७३ स्वास माने गये हैं। ल्य्यपर्यासक मनुष्य स्वासके अठारह भागतक जीवित रहता है। स्वामका अर्थ मनुष्योंके पोंचेमें बात, पित्त, कफकी, चल रही नाढीकी एक बार गतिका कालपरिमाण है। मुख या नाकसे निकल रही प्राणवायुकी धास माननेपर जन्म, मरणका गणित ठीक नहीं बैठता है। स्वास मितिसे नाडीकी गतिका काल कुल न्यून, अविक दुगुना बैठ जाता है। उत्कृष्ट स्थित भोगभूमिके मनुष्य की है और जचन्यस्थिति सन्पर्लन जन्मवाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी है।

यथासंख्यमभिसंबधिक्षपल्योपमा परा नृस्थितिरंतर्भृहूर्तावरा इति । मध्यमा चृस्थितिः केत्याह ।

सूत्रमें पर और अवरके साथ त्रिपल्योपम और अन्तर्मुहूर्तका यथासंस्थरूपसे सम्बन्ध कर छेना चाहिये। यों यथाकम अनुशार दोनोंका सम्बन्ध करने पर मनुष्योंकी तीन पस्योपम उत्कृष्ट सिम्नि और मनुष्योंकी जघन्यास्थिति अन्तर्मुहूर्त यों समझ छी जाती है। मनुष्योंकी मध्यमस्थितियां कौन हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्निमवार्षिकको कहते हैं।

परावरे विनिर्दिष्टे मनुष्याणामिइ स्थिती । त्रिपल्योपमसंख्यांत्वर्मुहूर्त्तगणने बळाइ ॥ १ ॥ मध्यमा स्थितिरेतेषां विविधा विनिवेदिता । स्वोपात्तायुर्विशेषाणां भावात्सूत्रेत्र ताह्यां ॥ २ ॥

इस सूत्रमें मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन प्रत्योपम संख्यानकी और अक्ष्यस्थिति कर्नाकर नामक गणनावाली विशेषरूपसे कह दी गयीं है। बिना कहे ही आदि, अन्त, स्थितियोंकी सामानी इन मनुष्योंकी नानाप्रकार मध्यमस्थितियां तो अर्थापचिद्वारा श्री जमास्यामी महाराजकरके इस समर्थे विशेषतया निवेदन कर दी गयीं समझ छेनी चाहिये। क्योंकि पूर्वजन्मसम्बन्धी अपनी अपनी कषायोंके अनुसार इन मनुष्योंके निज उपार्जित विशेष विशेषस्थितिको लिये इये तिस तिस दंगके आयुष्य कमीका सद्भाव है। अर्थात् —पूर्वजन्मोंमें विश्वद्र परिणामोंसे उपार्जी मयी मनुष्य आसुके अनुसार जीवोंका एक समय अधिक कोटीपूर्ववर्षसे प्रारम्भ कर तीन पल्यकी आयुवालोंका भोग-भूमियोंमें जन्म होता है । और संक्लेश परिणामों अनुसार नाडीगतिके अठारहवें भाग जक्त्य आयुः स्थितिसे प्रारम्भ कर कोटि पूर्व वर्षतककी आयुवाछे जीवोंका कर्मभूमि मनुष्योंमें उपजना होता है। अतः एक समय अधिक अन्तर्मुहुर्तसे प्रारम्भ कर एक समय कम तीन पल्यतककी असंख्यात अकार मध्यम स्थितियां तो सूत्र उच्चारण किये विना ही '' तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम अनुसार गम्यमान हो जाती हैं । एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेजना, तीयादीणं वियया-कदित्ति सण्णा मुणेदन्त्रा '' इस गाथा अनुसार एक आदिको गणना कहते हैं । और दो आदिको संख्या कहते हैं। असंख्यात या अनन्त भी संख्याविशेष हैं। पत्य एक असंख्यातासंख्यात नामकी संख्याका मध्यम मेद है । चूंकि ढाई सागरके समयप्रमाण असंख्याते द्वीप समुद है और दश कोटा कोटी पल्योंका एक सागर होता है। तथापि सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंसे जचन्य, मध्यम, उत्तम मोग समियोंके मनुष्योंके आयुष्य समय अत्यधिक हैं। क्योंकि द्वीपसमुद्रोंकी गणना तो उद्धार पत्योंकी प्रवीस कोटा-कोटी संख्यासे है । किन्तु उद्धारपल्यसे सी वर्षके असंख्यात समयों गुना एक अद्धापन्य होता है । मोगभूमियोंकी स्थिति अद्वापल्यसे गिनायी गयी है । जघन्य युक्तासंख्यात उपयप्रिमित आवळीते संख्यात गुना मुहत्ते काळ होता है। जो कि प्रतरावळीकादका असेख्यालवां भाग है। सनुष्यों औ

जिनदृष्ट**ु सं**ह्यात - आवळीप्रमाण जवन्य स्थिति । ताझना चानिये । कोटिपूर्व वर्षकी स्थिति भी संख्यात आविद्यां है । प्रतरावाळिशा असंख्यातवा भाग वह मध्यमस्थिति है ।

तिरश्चां के परावरे स्थिती स्थातामित्याह ।

पुनः जिज्ञासुका प्रश्न है कि मनुष्योकी स्थिति समझ ली, तिर्येचोंकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति क्या होगी १ बनाओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं ।

तिर्यगयोनिजानां च ॥ ४० ॥

तिर्यगाति नामक्रमंके अनुमार तिर्थच योनियोगें जन्म **छेनेत्राछे जीवोंकी उ**ल्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य भगित्थिति नाडागितिके अठारहवें भागप्रमाण अन्तर्भुहूर्त्त है ।

े त्रिपल्पोपमांतर्ग्रहर्ते इति वर्तते, पृथग्योगकरणं यथासंख्यानेष्ट्रत्यर्थे । एकयोगकरणे हि नृतिर्यक्रियती इति निर्देशे नृश्यितिः परा त्रिपल्योपमा, तिर्यक्रियतिरवरान्तर्ग्रहर्तेति यथासंख्यमभिसंबंधः प्रसञ्यते । ततस्तिश्रहत्तिः पृथग्योगकरणात् ।

" नृश्चिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्सेहूर्ते " इस सूत्रसे " त्रिपल्योपमा " और " अन्तर्सेहूर्त " शह्मी अनुवृत्ति कर की जाती है श्चिति और परा, अपराका प्रकरण चल हा वहा है। अतः तिर्यचोंकी उन्नष्ट श्चिति तीन पन्य है। जो कि उत्तम संगम्मूमियोंके तिर्यचोंके पायी जाती है। तिर्यचोंकी ज्ञान्यश्चिति अन्तर्सेहूर्त्त की उन्यपर्याप्तक तिर्यचोंके सम्भव रही है। पूर्वसूत्रके साथ इस सूत्रका एक्सोग नहीं कर पृथक् पृथक् योगाविभाग करते हुने श्री उमास्त्रामी महाराज करके दो सूत्रोंका कथन करना तो संख्या अनुसार यथाक्रमसे होजानेवाले अनिष्टप्रतंगकी निश्चिति लिखे है। कारण कि यदि दोनों सूर्तेको मिलाकर " चृतिर्यक्तिश्चिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्सहुते " जो जोडकर दिया जायगा तो मनुष्य और तिर्थचोंकी श्चिति यो लघुतार्थिक कथन करने पर इस प्रकार यथा संख्येस दोनों और पर और अवस्के सम्बन्ध होजानेका प्रसंग होजावेगा कि ननुष्योंकी उन्हण्ट स्थिति तीन पल्योपम है और तिर्थचों की जवन्यश्चिति अंतर्सृहूर्त है। किन्तु केवल इतना हा अर्थ तो सूत्रकारकी अभीट नहीं या। अतः न्यारे दो सूत्र बनाकर तिस योगका पृथक्षमाग कर देनेस उस अनिष्टप्रसंगकी निश्चित होजाती है।

त्तिर्यङ्गामकर्मोदयापादितजन्म निर्धग्यानिस्तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः एकंद्रियिक्छंद्रिय-पंचेंद्रियविकल्पास्त्रिविधाः तेषां च यथागमं मध्यमा स्थितिः सामर्थ्यलभ्या प्रतिपत्तः ।। पराव-रांस्थितितत् ।

जिन संसारी जीवोंका जन्म छेना नामकर्पी, मेद होरहे गतिनाम कर्मकी उत्तर छिति मानी गुणी निर्दागति मंत्रक नामकर्पी, उद्य होने पर सम्पादित ओस्ट्रा है, वट तस्य तिर्यस्थीन अहर जाता

है । उस निर्यग्योनिमें उत्पन्न हुये जीव तिर्यग्योनिज हैं । तिर्यचेंाके स्थुळक्रपेस एक स्पर्शन इन्द्रियवाळे और दो इन्द्रिय तीन इन्द्रियें या चार इन्द्रियां, यो विकल होरही इन्द्रियों हो धारने वाले तथा पांचों इन्द्रियोंको धारनेवाले यो तीन प्रकार हैं। इस सूत्रमें तिर्धचोकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको कह दिया गया है। पर. अपर. धितियोंके कह देनेसे बिना कहे ही सामध्ये द्वारा ळच्च होर्स्ड मध्यमा स्थितिकी प्रतिपत्तिको आगम अनुसार कर लेना चाहिये। जैसे कि कई प्रकारके निर्धचोंकी जघन्य या उत्क्रप्टिश्यितयोंको सर्वज्ञोक्त आम्नाय द्वारा निर्णीत कर लिया जाता है । अर्थात- मृद प्रध्वीकायिक जीवों श्री उत्कृष्टिश्यित बारह हजार वर्ष है । पर्वत, रत्न, कंकण, आदि कठिन प्रध्वीकायिक जीवोंकी परा स्थिति वाईस हजार वर्षकी है। जलकायिक जीवोंकी सात हजार, तेनस्कायिक जीवोंको तान दिन, वायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, और वनस्पति-कायिक जीवोंकी दस हजार वर्ष उन्ह्रष्ट स्थिति है। शंख, साप, आदि द्वीन्द्रियोंकी बसह वर्ष, त्रीन्त्रियोकी उनंचास दिन, मक्त्वी वर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंकी छह मास उत्कृष्ट स्थिति है। पंचोदिय तिंथेचोंमें जलचर मत्त्य, मकर, आदि जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कोटिपूर्व वर्ष है। सर्पट चळनेवाळे गोह, नोला, विषखपरा, आदिक जीव नो पूर्वाङ्गतक जीवित रह सकते हैं। सर्पीनी उन्हाट आयु नियालीस हजार वर्ष है । पश्चियोंको उन्हाट आयु बदत्तर हजार वर्ष है । भोग-भूमियोंमें पाने जा रहे पक्षियोंमें यह आयु सम्भवती है। चार पांकवाळे पशुओं भी उत्हाट आयु तीन पल्यकी है। सम्पूर्ण तिर्थचोकी जघन्य आयु शासके अटारहर्वे भागप्रमाण अन्तर्महर्त है, जो कि कर्मभूमियों के तिथेचों में ही पायी जाती है। यहां विशेष इतना ही कहना है कि पत्थरका कोयला. मिट्टी, कं तड, रत्न, आदि सचित पृथ्वी ही सरसों प्रमाण डेळीमें अमेख्याते प्रथितीकायिक जीव हैं। यही दशा जलकी बूंद या अग्निका दुकडा अथवा वायुके स्वरूप भागमें भी लगा लेना। यदि कितने ही दिनोंतक अप्ने जलती रहे तो भी उसका जीव तीन दिनसे उपादा ठहर नहीं सकता है। असंस्य जीव वहां क्रमसे जन्म छेते और मरते वहते हैं। तेक, लकड़ी, विधुत्प्रवाह, आदिसे जो चमकती हुई अग्नि ज्यालायें उपजतीं हैं, उन अग्नितायके जीनोंकी स्वल्पकाल स्थिति प्रसिद्ध ही है। क्योंकि अग्निज्यालास्त्ररूप अने क शरीरीका अग्निकापि क जोशोंकी मृत्यु के पश्चात्का जल आदि पर्यायोंने परि-वर्तन हो जाता है। मञ्ज मिक्लयों या वर्रीके छता कई वर्षीतक बने रहते हैं। उनमें मिक्लयां की पायी जाती हैं। ये उन मक्लियों की धाराबाहि हसंतान हैं। एक मम्बी या बरे छह महीनेसे अधिक जीवित नहीं रह सकती है। समृदित मिखयों तो संतान, प्रतिसंतानों, काके हुये मितिज्ञानों करके ये कार्य भी हो जाते हैं कि मन्खियां कुछ दिनके छिये पहाडोंपर या अन्य उन्नित स्थानींपर हुन्छी जाती हैं । महीनां बाद उस स्थानपर छोट आती हैं । यदापे ची इन्द्रिय जोगोंके मनसे होनेवाला बिचार आत्मक श्रुतज्ञान नहीं है। फिर भी जितना कुछ मतिज्ञान है, उसके द्वारा घूम किर कर अपने स्थानपर छाउ आना या अपने क्योंके शरीर उपनेगां सन्पूर्छन पदार्थोको ढूंड

क्याने या बक्षोंके उपयोगी घरका निर्माण करना, शीत, उच्ण, मेधनाधाओंसे या धातकमनुष्य, पद्ध, पिंदीके उपद्रवसे बचाकर उचित स्थलमें गृह बनाना, खाद्यपदार्थीका संग्रह कर रखना, बादि बनेक कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करना ज्ञानका कार्य । यो प्रन्थकारने तिर्येचोंकी एक एक प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा असंख्य प्रकारोंकी मच्चम स्थितियोंको साध दिया है।

किमर्यमिहोक्ते तिरश्चां परावरे स्थिती प्रकरणाभावेपीत्यादर्शयति ।

इस द्तीय अध्यायके अन्तमें आर्य या म्डेच्ड मनुष्योंका प्रकरण आ जानेसे पूर्व सूत्रद्वारा मनुष्योंकी जयन्य उत्कृष्ट आयुका निरूपण कर देना उचित है। किन्तु तिर्थेचोंका प्रकरण नहीं होते हुये भी भी उमास्थामी महाराजने यहां तिर्थेचोंकी जयन्य—उत्कृष्टिस्थितिको किस लिये कह दिया है ? इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर श्री विधानन्द आचार्य उत्तरवार्तिक द्वारा समाधान वचनको दर्पण- वद दिस्काते हैं।

ते तिर्यग्योनिजानां च संक्षेपार्थमिहोदिते । स्थिती प्रकरणाभावेष्येषां सूत्रेण सूरिभिः ॥ १॥

प्रकरण नहीं होनेपर भी श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रकरके इन तिर्यग्योनिमें जन्म छेने साझे जीवोंकी उन जक्य उत्कृष्ट स्थितियोंका निरूपण संक्षेपके लिये कर दिया है। अर्थात्—नार-कियों और देवोंकी स्थितिके निरूपण अवसरपर चौथे अध्यायमें यदि तिर्थचोंकी आयुक्तो कहा जाता तो " तिर्थग्योनिजनां स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " इतना छंगूरकी छागूळतुल्य छम्बा सूत्र काला पर्वता। अक्षरों और प्रतिपत्तिका गौरव हो जाता। किन्तु यहांपर " तिर्थग्योनिजानां च " इतने स्वस्य सर्वपसमाम सूत्रसे ही समाहित अर्थकी सिद्धि होगई है। कर्मभूमि या भोगभूमि स्थानोंमें संसुक्योंके समान तिर्थच भी निवास करते हैं। अतः मनुष्योंके साथ तिर्थचोंका भी प्रकरण है। मनुष्योंकी संगति नारिकयोंसे सर्वया नहीं है। हां, देवोंके साथ क्यचित् कदाचित् सम्मेळन हो जाता है। किन्तु मनुष्योंका तिर्थचोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मनुष्योंका वर्णन करते समय तिर्थचोंका श्रकरण भी श्रटिति उपस्थित हो जाता है।

नन्नसंख्येयेष्यपि दीपसद्धदेषु दृष्टेषु सार्धद्वीपद्वमपपंचं निरूपयतः सूत्रकारस्य किं वैश्वसि स्थितनित्यारः।

यहां कोई वावदूक पण्डित आशंका करता है कि पत्नीस कोटाकोटि उद्धार पल्योंके समय अवान नव असंख्यातें दीपसमुद्र इस तिर्थक् छोकमें देखे जा रहे हैं, तो उन सभीमेंसे केवल ढाई दीपोंकों ही विस्तारसहित निरूपण कर रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके चित्तमें कीनसी बात व्यवस्थित हो गयी है ? बताओ । या ती हजारों, लाखीं, तभी डीपोर्का थोडा थांडा निरूपण करना चाहिये था । अथवा सातवें, आठवें सूत्रों करके सामान्य कथने कर तृतीय अध्यासकी पूरा कर देना था । नीवें सूत्रसे प्रारम्भ कर चालीसवें सूत्रतक ढाई द्वीपकी ही स्तृति गाना तो उचित नहीं दीखता है । ढाई द्वीपसे बाहर भी असंख्य द्वीप समुदोंमें बडी बडी सुन्दर मनोहारी रचनायें हैं । ढाई द्वीपसे बाहर मनुष्य और तेरह द्वीपके बाहर सर्व साधारण अकृत्रिम जिनचैत्यालयोंके नहीं होनेसे उन असंख्य द्वीपोंकी अवज्ञा नहीं की जा सकती है । व्यन्तरोंके अकृत्रिम नगरोंमें तो वहां भी चैत्यालय है । इस आक्षेपका उत्तर देनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

सार्धद्वीपद्वये क्षेत्रविभागादिनिरूपणं। अध्यायेस्मित्रसंख्येयेष्वपि द्वीपेषु यत्कृतं ॥ २॥ मनुष्यलोकसंख्या या जिज्ञासंविषया मुनेः। तेन निणीयते सद्भिरन्यत्र तदभावतः॥ ३॥

असंस्थाते द्वीपोंके होनेपर भी इस तृतीय अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जो ढाई द्वीपोंमें ही क्षेत्र विभाग, पर्वत, नदी, आदिका निरूपण किया है, उससे अर्थापति द्वारा सज्जन विद्वानों करके निर्णय कर लिया जाता है कि जो मनुष्यलोककी संख्या है, वही सूत्रकार मुनिकी जिज्ञासाका विषय है। क्योंकि ढाई द्वीपसे अतिरिक्त अन्य द्वीपोंमें उस मनुष्यलोककी संख्याका अभाव है। अर्थात् असंख्य द्वीपोंमेंसे ठीक भीतरले ढाई द्वीपोंमें ही उत्कृष्टकंपसे द्विरूप वर्गधाराकी पंचम हतिके धनस्वरूप ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ यो उन्तीस अंक प्रमाण पर्यासमनुष्य पाये जाते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं। शिष्यके मनुष्यलोककी जिज्ञासां अनुसार सूत्रकारको नृत्लोकका व्याख्यान करना पढ़ा है। अन्य कोई पक्षपात या अवज्ञा करनेका अभिप्राय नहीं है।

नतु च जीवतस्वमस्ययो मक्तते किं निरर्चकं द्वीपसमुद्रविशेषनिरूपणमित्याशंकां निवारयति।

पुनः किसीकी सकटाश्च आरांको है कि पहिले ही अध्यायसे प्रारम्म कर पूरे दूसरेमें और तीसरे अध्यायके कुछ भागमें जीवतत्त्वका प्ररूपण करना जब प्रकरणप्राप्त हो रहा है, तो फिर बीचमें ही व्यर्थ विशेषद्वीपों और विशेषसमुद्रोंका निरूपण सूत्रकारने क्यों कर दिया है ! निरर्थक बातोंको सुननेके लिये किसी प्रेक्षावान्के पास अवसर नहीं है । निरर्थक बातोंसे बुद्धिमें परिश्रम उपजता है । पापप्रसंग भी हो जाता है । संवर और निर्जराके प्रस्ताव देल जाते हैं । इस प्रकार की गयी आरोकाके निवारणको प्रन्यकार अभिगवार्तिक करके करते हैं ।

न च द्वीपसमुद्रादिविशेषाणां प्ररूपणं । निःप्रज्ञोजनमाशंक्यं मनुष्याधारनिश्रयात् ॥ ४ ॥

द्दीप समुद्र, नदी. इद, आदि विशेषोंका प्ररूपण करना प्रयोजनरहित है, यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इससे मनुष्योंके आधारमूत स्थलोंका निर्णय हो जाता है। सम्पूर्ण संसारियोंमें मनुष्योंकी गणना उच्चकेटिके जीवोंमें है। श्री अरहन्तपरमेशी या उत्कृष्ट श्रोता, वक्ता, अथवा वादी, प्रतियादी, ये सब मनुष्य ही तो है। अतः जीवोंका वर्णन करते समय मनुष्य और उनके अधिकरण हो रहे ढाई द्वीप और दो समुदोंका निरूपण करना व्यर्थ नहीं है। जान या प्यानके उपयोगी प्रकरणोंको अवश्य सुनना, समझना चाहिये। यही ज्ञान विचारआकान्त होकर प्यान बन बैठता है और स्वसंत्रेष सुखका उत्पादक हो रहा संवर, निर्जराका संपादक हो जाता है।

कानि पुनर्निमित्तानि तद्दीपसमुद्रविशेषेषुत्पद्यमानानां मनुष्याणाभित्याह ।

यहा किसीकी जिज्ञासा है कि उन ढाई द्वीपिविशेषों या लक्णोद, कालोद, दो समुद्रविशेषों उपज रहे मनुष्यों के फिर निमित्तकारण कीन हैं ? अर्थात्—किन कारणों से मनुष्य इन ढाई द्वीपोमें उपज जाते हैं ? अन्यत्र क्यों नहीं उपजते हैं ? इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी अग्निमवार्त्तिकको कहते हैं।

नानाक्षेत्रविपाकीनि कर्माण्युत्पत्तिहेतवः । संत्येव तद्विशेषेषु अद्गलादिविपाकिवत् ॥ ५ ॥

जैसे कि पुद्रल या जीव आदिमें विपाक्तको करने वाले पुद्रलविपाकी कर्म, जीवविपाकी कर्म, और भवविपाकी कर्म हैं, उसी प्रकार उन विशेषद्वीप या समुद्रविशेषोंमें उत्पत्ति हो जाने के कारण अनेक क्षेत्रविपाकी कर्म भी संसारी आत्माके साथ वंधनवद्ध होरहे हैं।

यथा पुद्रलेषु शरीरादिलक्षणेषु विपचनशीलानि पुद्रलविपाकीनि कर्माणि शरीरनामा-दीनि, यथा च भवविपाकीनि नरकायुरादीनि, जीवविपाकीनि च संदेशादीनि, तथा तत्री-त्यचौ मनुष्याणामन्येषां च माणिनां देतवः संति तद्वन्नानाक्षेत्रेषु विपचनशीलानि क्षेत्रविपा-कीन्यपि कर्माणि संति तत्र तत्रोत्पचौ तेषां देतव इति तदाधारिवशेषाः सर्वे निरूपणीया एव।

जिस प्रकार शरीर, उपार, हुईी, रक्त, आदि स्वरूप पुद्रलोंमें निपाक होनेकी टेवको रखने-वाठे शरीर नामकर्म, आदिक पुद्रलियाकी ६२ बासठ कर्म हैं। " दहादी फासेता एण्णासा णिमिणताव जुगठं च, थिर सुह पत्तेय दुर्ग अगुरुतियं पोरगर्जीनाई "। और जिस प्रकार नरक आयु, तिर्यगायु, आदि चार कर्मप्रकृतियां भवविपाकी हैं और सदेदनीय आदिक अठक्तर कर्मप्रकृतियां जीवनिपाकी हैं। "आऊणि भवविवाई खत्तिवाई य आणुपुन्वीओं। अठत्तरि अवसेसा जीविवाई मुणेयव्वा"। ये तीन जातिकी प्रकृतियां मनुष्योंके या अन्यजीवोंके तिस प्रकार वहां उपजनेमें प्रेरक निमित्त कारण होजाती हैं, उसीके समान अनेकक्षेत्रोंमें विपाक होनेकी टेवको धारनेवाछ चौथी जातिके चार आनुपूर्व्य क्षेत्र-विपाकी कर्म भी उन उन स्थलों पर उन जीवोंके जन्म लेकर उत्पत्ति होनेमें प्रेरक हेतु हो जाते हैं। अर्थात् जिन जीवोंके जिस जातिके कर्मका सद्भाव पाया जावेगा, तदनुसार उन उन द्वीप या समुदोंमें जीवका जन्म हो जायेगा। इस कारण उन जीवोंके संरूण आधार विशेषोंका निक्षण करना आवश्यक ही पढ़ गया है।

तदशरूपणे जीवतत्त्वं न स्यात् प्ररूपितं । विशेषणेति तज्ज्ञानश्रद्धाने न प्रसिष्धतः ॥ ६ ॥ तिन्नवंधनमञ्जुण्णं च।रित्रं च तथा क नु । मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक् ॥ ७ ॥

यदि उन क्षेत्रोंका निरूपण नहीं किया जायगा तो विशेषरूपकरके श्री उमास्वामी महा-राज द्वारा जीवतत्त्रका निरूपण करना नहीं समझा जायगा। ऐसी दशामें उस जीवतत्त्रका झान करना और जीवतत्त्रका श्रद्धान करना ये दो रत्न कभी भी प्रसिद्ध नहीं होसकते हैं। और तिस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रसिद्ध नहीं होनेपर उन दो को कारण मान कर होने वाला तीसरा रत्न निर्दोष या पूर्णकारित्र तो भला कहां प्रसिद्ध हो सकता है ! और यों तीनो रत्नोंके नहीं प्रसिद्ध होने पर विचारा आबस्त्र द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश देना भी कहां बना ! जीवको मूलभित्ति मानकर शेष छह तत्त्योंका निरूपण किया जाता है । जीवतत्त्रककी प्ररूपणा हुये विना शेष अजीव आदि तत्त्र्योका विशेषरूपसे कथन करना नहीं बन पावेगा । अतः मोक्षमार्ग माने गये रत्नत्रयके विषय हो रहे जीवादि तत्त्वोंकी समीचीनप्रतिपत्ति करानेके लियं उन जीवोंके आधारस्थानोंका निरूपण करना मूत्रकारका उचित कर्तव्य है ।

तेषां हि द्वीपसमुद्रविशेषाणामप्ररूपणे मनुष्याधाराणां नारकतिर्यम्देवाधाराणामप्यमरूपणप्रसंगान्न विशेषण जीवतत्त्वं निरूपितं स्यात्, तिन्नरूपणाभावे च न तिद्विज्ञानं श्रद्धानं
च सिध्येत्, तदसिद्धी श्रद्धानज्ञानिवंधनमञ्जुणं चारित्रं च क नु संभाव्यते १ निक्तमार्गश्र
कैवं १ शेषाजीवादितस्त्ववचनं च नैवं स्यात् । ततो मुक्तिमार्गीपदेशिमच्छता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यभ्युपगतव्यानि । तदन्यतमापाये युक्तिमार्गीनुप्यचेः, तानि चाभ्युपगच्छता तिद्विषयभावमनुभवत् जीवतस्त्वमजीवादितस्त्ववत् प्रतिपत्तव्यं । तत्मितपद्यमाने च तिद्वशेषा आधारादयः
प्रतिपत्तव्याः । इति युक्तं द्वीपसभुद्वादिसिन्नवेशादिविशेषप्रक्रमणमध्यायेऽस्मिन्। अत्रापरः माह—

कारण कि मनुष्योंके आधार हो रहे उन ढाई द्वीपविशेषों या दो समुद्रविशेषोंका निरूपण यदि नहीं किया जायगा, तब तो नारकी जीवोंके आधार हो रहे नरकस्थान तिर्येच प्राणियोंके आधारभूत तिर्यक् लोक और देवोंके आधारस्थानोंके भी निरूपण नहीं करनेका प्रसंग आ जावेगा। और ऐसा होनेसे विशेषरूपसे जीवतत्त्वका निरूपण कर दिया गया नहीं समझा जायगा। तथा विशेषस्थ्यमे उस जीवतत्त्वका निरूपण नहीं करनेपर उस जीवतत्त्वमें विज्ञान या श्रद्धान होना नहीं सिद्ध हो पार्थेंगे। उन विज्ञान और श्रद्धानकी नहीं सिद्धि होनेपर श्रद्धान और ज्ञानको कारण मान. कर हुआ परिपूर्ण चारित्र भला कहां सम्भावित किया जावेगा ? और इस अन्धकारसदृश असिद्धि-यों की काली रातमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहां बना ? जीवतस्वसे अवारीप्ट अजीव, आदि छह तत्त्रोंका परिभाषण भी इस प्रकारकी दशामें नहीं बन पाता है। तिस कारणसे मोक्षमार्गके उपदेशकी इच्छा रखनेयांत विदानको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्तचारित्र, अवस्य स्वीकार कर लेने पडेंगे । उन तीनोंमेंसे एकका भी विस्लेष हो जानेपर मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। और उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्हान, सम्यकुचारित्रोंको स्वीकार कर रहे विद्वान करके उस रत्नत्रयके विषयपनका अनुभव कर रहे जीवतरहकी अजीव, आखार, आदि बच्चोंक समान प्रति-पत्ति कर छेनी चाहिये और यों उस जीवतत्त्वकी प्रतिपत्ति करते सन्ते पण्डितको उस जीवके विशेष हो रहे आधार आदि और आधारोकी छम्बाई, चौडाई, आदिकी प्रतिपत्ति कर छेना आवश्यक पड जाता है । इस कारण इस तृतीय अध्यायमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, आदिकी रचना, चौडाई, उनमें रहनेवाले जीवोंकी आयु, आदिका विशेषरूपसे सूत्रकारने प्ररूपण किया है, यह युक्तिपूर्ण है। यह, तक तीसरे अध्यायके प्रमेयका विवरण हो चुका है। अब यहां कोई इसरा सृष्टिकर्तावादी विद्वान अपने मतको बहुत बहिया समझता हुआ कह रहा है, उसको भी सनलो।

ननु द्वीपादयो भीमद्वेत्रकाः संतु सूत्रिताः । सिनवेशविशेषत्वसिद्धेर्घटविद्यसत् ॥ ८ ॥ हेतोरीश्वरदेहेनानेकांतादिति केचन । तत्रापरे तु मन्यंते निर्देहेश्वरवादिनः ॥ ९ ॥ निभित्तकारणं तेषां नेश्वरस्तत्र सिध्यति । निर्देहत्वाद्यथा मुक्तः युरुषः सम्मतं स्वयं ॥ १० ॥

वैशोषिक अपने पक्षका अनुमान प्रमाण द्वारा अवधारण कराता है कि श्री उमास्वामी महाराज करके उक्त सूत्रों द्वारा कहे जा चुकै द्वीप, समुद्र, शृथिवियें, पर्वत, शरीर, इन्द्रियें, आदिक पदार्थ (पक्ष) किसी बुद्धिमान् कर्त्तास्वरूप हेनु करके बनाये गये समझे जाओ (साध्य) विशेष प्रका-रिकी रचना बन रही होनेसे (हेनु) बरके समान (अन्वयद्यान्त) । आचार्य कहते हैं कि यों वैशेषिकका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है । क्योंकि उक्त अनुमानके हेनुका ईश्वरके शरीरकरके व्यभिचार हो जाता है । पौराणिक विद्वानोंने ईश्वरका शरीर स्वीकार किया है । किन्तु उस शरीरका निर्मित्त कारण ईश्वर नहीं पडता है । अतः हेनुके ठइर जानेसे ईश्वरदेहमें माध्यका अभाव हो जानेपर सिन्नेवशिवव हेनु व्यभिचारी हो जाता है । यदि ईश्वरकरके अपने शरीरका निर्माण भी अन्य अन्य शरीरोंद्वारा स्वीकार किया जायगा तो अनवस्था दोष आ जावेगा । ईश्वर अपने शरीरोंको बनाते बनाते उपक्षीणशक्तिक हो जायगा । यों ईश्वरश्वरीर करके व्यभिचार दे जुकनेपर उस प्रकरणों ईश्वरके देह की नहीं कहनेवाले कोई दूसरे बादी ते। यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके देह ही नहीं है, शरीररिहत ही ईश्वर सम्पूर्णकार्योंका निभित्तकारण हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि उन वादियोंके यहा उन तनु तरु आदि कार्योमें ईश्वर निमित्तकारण सिद्ध नहीं हो पाता है (प्रतिक्चा), देहरिहत होनेसे (हेनु) जैसे कि स्थयं आपका मले प्रकार माना जा जुका मुक्त आत्मा सृष्टिका निमित्तकारण नहीं है (अन्वयद्दान्त) । अतः द्वारा, समुद्र, आदि सब अक्तिय है । अनादि अनिधन हैं ।

विवादाध्यासिता द्वीपादसो सुद्धिमत्कारणकाः सिन्नेशिवशेषत्वात् घटवदिति कश्चित्। तदसत्। इतोरीश्वरक्षरीरेण विश्वतश्चश्चरुत विश्वतो ग्रुखो विश्वतो बाहुरूत विश्वतस्यात्। संबाहुरूयां धमित संपत्त्रेचीवाशूमी जनयन् देव एकं इत्यागमप्रसिद्धनानेकांतादिति। अपरे नेश्वरस्य शरीरमस्ति यतो इतोर्व्यभिचारश्चोद्यत इति मन्यंते तेषां " अपाणिपादो जवनो प्रहीता पश्चत्यचश्चः स श्रुणोत्यकर्णः, स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरायं पुरुषं महांतं " इत्यागम प्रमाणयतां नेश्वरस्तत्र निमित्तकारणं सिध्यति निर्देहत्वात् स्वयं संमतग्रक्तात्मवत्।

किसी पौराणिक विद्वान्का अनुमान है कि द्वीप, समुद्द, आदि ये कृत्रिम हैं या अकृत्रिम हैं ! यों विवादमें निर्णयार्थ प्राप्त हो रहे द्वीप, पर्वत, आदिक (पद्म) किसी बुद्धिमान् कारण करके बनाये गये कार्य हैं (साध्य)। सित्रिवेश यानी रचनाविशेष होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्त्रयदृष्टान्त) यहांतक कोई कह रहा है। प्रन्थकार कहते हैं कि उसका कहना असत्यार्थ है। क्योंकि ईश्वरके तुम्हारे इस आगम द्वारा प्राप्तिद्ध हो रहे शरीरकरके मित्रिवेशिषव हेतुका स्विभिचार हो जाता है। तुम्हारा माना हुआ वह आगम इस प्रकार है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता १८ वा अध्याय उन्नीसवां मंत्र है कि ईश्वरके सब ओरसे चक्षुयें हैं, सम्पूर्ण ओर उसका मुख विद्यमान है, सब ओरसे उसकी बाहुयें हैं, विनर्कणा पूर्वक कहा जाता है कि अखिल ओरसे उसके पाव है। जिस प्राणी के जे जे चक्षुः, मुख आदि हैं वे सब उस उस उपात्रवाले परमेश्वरके वह एक ही देव समित्र चक्षु आदि घटिल होजाते हैं। पुण्य, पापीके, अनुसार परमाणुओं करके वह एक ही देव

आकाश और भूमि सबको अन्य साधनोंके विना बना रहा है। पंचभूतरूप उपादान अवयवों करके संगत करा देता है। यहां कोई दूसरे नैयायिक विद्वान यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके कोई शरीर नहीं हैं, जिससे कि हमारे हेतुका व्यभिचार दोष बलात्कारसे प्रेरा जाता है। वे इस अपने आगमको प्रमाण कर रहे है। श्वेताश्वतरोपनिषद्के तृतीय अध्यायमें १९ वां स्ठोक है कि वह ईश्वर हाथों से रहित हो रहा ही चाहे जिस छोटे या बड़े पदार्थको पकड़ सकता है। पांगोंसे रहित हो रहा बढ़े वेगसे दौष्ठ सकता है। आंखोंके विना सबको देख छेता है, कानोंके विना संपूर्ण शद्धोंको पुन छेता है, वह सबको जानता है, उस ईश्वरका परिज्ञान करनेवाला कोई नहीं है। योगीपुरुष उसको सबका अपवर्ती प्रधानपुरुष कहते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त आगमको प्रमाण माननेवाले उन नैयायिकोंके यहां माना गया शरीररहित ईश्वर भी उन हीप, समुद्र, आदिकी रचनामें निमित्तकारण सिद्ध नहीं होपाता है। क्योंकि ईश्वर टेहरहित है। जो जो देहरहित है वह वह दीप, आदिका निमित्तकारण नहीं, जैसे कि नैयायिकोंका स्वयंसंनत होरहा मुक्तात्मा निर्देह होनेसे दीप आदिका निमित्तकारक नहीं है।

नतु च मुक्तात्मनामज्ञत्वात्र जगदुत्यत्तौ निभित्तत्वं ईश्वरस्य तु निर्देहस्यापि नित्यक्षा-नत्वात्तिश्विमित्तकारणत्वमेवेति चेत्— ं

पुनः नैयायिकका अवधारण है कि भो महाराज, मुक्त आत्मा तो ज्ञानरहित अज्ञ हैं। क्योंकि मोक्ष अवस्थामें बुद्धि, सुख आदि गुणोंका विनाश होजाता है। अतः मुक्त आत्मा विचारा जगत् की उत्पत्तिका निमित्तकारण नहीं होसकता है। हां, ईश्वर तो देहरिहत होता हुआ भी नित्य ज्ञानका अधिकरण होनेसे इस जगत्का निमित्तकारण हो ही जाता है। कर्त्ताके निकट ज्ञान होनेकी आवस्यकता है। पोंगा शरीर अकिंचित्कर है। इस कारण यों अवधारण प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्वामीकी अप्रिम्यार्तिक को सुनो—

नित्यज्ञानत्वतो हेतुरीश्वरो जगतामिति । न युक्तमन्वयासत्त्वाद्यतिरेकाशसिद्धितः ॥ १ ॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्के निर्माणका हेतु है (साध्य) क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है (हेतु) नित्यज्ञानवाला ईश्वर जगत्को बना लेता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कथन युक्तिपूर्ण नहीं। क्योंकि इस अनुमानमें अन्वयद्यांतका सद्भाव नहीं है। अन्वयद्यान्तके विना साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति मला कहां निर्णात की जावेगी १ आप नैयायिकोंके सिद्धान्त अनुसार एक ही व्यक्ति नित्य ज्ञानवान है, और वहीं जगत्का निर्माता है। उसीको तुमने पक्ष बना रखा है। ऐसी दशामें अन्वयद्यान्तका सद्भाव नहीं सम्भवनेसे व्यतिरेककी भी असिद्धि हो जाती है। कारण कि अन्वयक्ती भित्तिपर व्यतिरेककी सामर्थ्य बहुत बढ़ जाती है। अर्थात् यदि द्यान्तके विना ही चाहे जिस हेतुसे अन्य सन्य किसी मी साध्यकी सिद्धि कर लोगे, तब तो तुम्हारा ट्यूआ कारव रुपयोंका

सिंह हो जावेगा, इसके लिये यों अनुमान बनाया जा सकता है । मदीयोऽस्वको लाक्षिकः विल-क्षणगतिमस्त्रात्, खंजलाद् वा । विलक्षण लंगडी, क्ली, गति, अनुसार चलनेवाला होनेसे मेरा कंगडा टट्टू बहुमूल्य है ।

नतु नित्यक्षानत्वादित्येतस्य हेतोरन्वयासच्वेषि न व्यतिरेकासच्वं जगदकारणस्यास्मदा-देनित्यक्षानत्वाथावादिति न मंतव्यं, क्षानसंतानापेक्षयास्मद्दिरपि नित्यक्षानत्वात् । न हि क्षानसाथान्यरहितोस्पदादिः संभवति, विरोधात् । यदि पुनर्क्षानविशेषापेक्षया नित्यक्षानत्वं हेतुस्तदा न सिद्ध इत्याह—

नैयायिक अपने मतका अवधारण करते हुये कहते हैं कि यद्यपि हमारे " नित्यज्ञानत्वात " इस डेतके किसी दृष्टान्तमें अन्त्रयका सद्भाव नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिमें नित्य बानसे सहितपना नहीं पाया जाता है। तथापि हमारे हेत्के व्यतिरेकका असद्भाव नहीं कहा जा सकता है। " प्राणादिमत्त्र आदि " अनेक केवळव्यतिरेकी हेतुओंमें अन्त्रय नहीं होनेपर भी व्यति-रेक बड़ी प्रसन्ततासे सुखपूर्वक मिन्न जाता है। देखिये, जगतका निर्माण करनेमें कारण नहीं बन रहे हम आदि अनेक संसारीजीबोंके नित्यज्ञानवानपनेका अभाव है। इस ढंगसे साध्यके नहीं होनेपर हेतुके नहीं ठहरनेसे अस्मदादिक ही व्यतिरेक्द्रष्टान्त ठहर जाते हैं। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि हम आदिक अनेक जीवोंके भी ज्ञानसंतान अपेक्षा करके नित्यज्ञान सहितपना विद्यमान है। इम आदिक जीव सोते, जागते, बैठते, उठते, मरते, जन्मते, कदाचित भी सामान्यज्ञानसे रहित नहीं सम्भवते हैं। आत्माका ज्ञान रहितपनेके साथ विरोध है। विप्रहगति, मत्त. मुर्च्छित, गर्भ, अण्डज, या मरणदशामें भी आत्माके ज्ञान पाया जाता है। अन्यथा लक्षणके नष्ट हो जानेसे उक्ष्य आत्मा जड बन बैठेगा । बहुत कहनेसे क्या फल है । आत्मा नष्ट ही हो जावेगा । शीतकाळ या हिम आदिका सिन्नधान होनेपर अग्निमें स्वल्प उष्गता भळे ही रह जाय. किन्त उष्ण-ताका सर्वधा अभाव हो जानेपर वह अग्निपर्याय ही नहीं स्थिर रह सकती है। अतः अनादिकालने अनन्तकालतक धाराप्रवाह चले आ रहे नित्य ज्ञानसे सहित अस्पदादिक संसारी जीव तुम्हारे यहां सृष्टिकत्ती नहीं माने गये हैं । अतः जो जगत्निभीता नहीं वह नित्यज्ञानवान् नहीं, इस व्यति. रेकमें व्यमिचार आ जानेक्षे तम नैयायिकोंका नित्यज्ञानत्व हेतु केवलन्यतिरेकी नहीं सिद्ध हो सका है। यदि फिर आप धाराप्रवाहरूप नित्यताको नहीं पकडकर ईश्वरमें विशेष व्यक्तिरूप ज्ञानकी अपेक्षासे नित्यज्ञानसहितपना हेत करोगे तब व्यतिरेक्टछान्त तो बन गया । किन्तु ईश्वरके ज्ञानका नित्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है। इसी बातको प्रन्थकार वार्तिक द्वारा कहते है।

> बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् । इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः ॥ १२ ॥

विधाता माने गये ईस्वरका झान (पक्ष) नित्य नहीं है (साध्य) ज्ञान होनेसे (हेतु) अन्य जीवोंके झान समान (अन्वयद्यान्त)। इस प्रकार पक्षमें नहीं वर्त रहे नित्यझानत्व हेतुका। असिद्धहेत्याभासपना हो जानेसे पृथ्वी, पर्वत, द्वीप, आदिका निमित्तकारण ईस्वर नहीं सध पाता है।

वोधत्वं च स्यादी व्यव्याधिस्य नित्यत्वं च स्याद्विरोधा माबादस्माद्दशिवरोधात्वादि व्यस्य विश्विष्टवोधां पपत्तेः अन्यथा सर्वश्चत्वसिद्धिविरोधात् इति काश्चित् । सोप्ययुक्तवादी, तद्वोधस्य प्रयाणत्वे ततो अपस्य फळझानस्यानित्यस्य तत्र प्रसिद्धरफळस्य प्रमाणस्यासम्भवात् । तस्य फळत्वे नित्यत्वविरोधात् । फळं हि प्रमाणकार्ये तत्कथं नित्यं युक्तं ? प्रमाणफळात्यकमी व्यस्य श्वानमेकमित्यपि व्याद्दतं, स्वात्मिन क्रियाविरोधात् तस्य स्वजननासंभवात् ।

यहां कोई नैयापिक यों प्रतिकृत तर्क उठता है कि ईश्वरके ज्ञानमें ज्ञानपना रहे और नित्य-स्वामाव साध्य नहीं रहे । अर्थात --- नित्यपना भी बना रहे, कोई विरोध नहीं पडता है । कारण कि अस्मद् आदि अल्पञ्च जीवोंसे विलक्षण ईश्वर है । हमारे अनित्य ज्ञानसे उस ईश्वरका ज्ञान नित्य होता हुआ विशिष्ट सिद्ध होरहा है । अन्यथा यानी हम लोगोंकी अपेक्षा ईश्वरमें यदि विशेष अतिशय नहीं माने जाकर दूसरे सामान्य ढंगोंको अपनाया जायगा । तब तो सर्वब्रपनकी सिद्धिका विरोध होजायगा कारण कि हम छोग सर्वज्ञ नहीं हैं। बैसा ही अल्पज़ ईश्वर होना चाहिये। किन्त जैनजन परमात्माका सर्वेडपना इष्ट करते हैं । उसीके समान ईश्वरके ज्ञान की नित्य भी अभीष्ट कर लिया जाय । अतः बोधत्व हेत्से ईश्वरका ज्ञान अनित्य नहीं स्था. तब तो हमारे नित्यज्ञानत्व हेत्से यह जगतका हेत सच गया, इस प्रकार कोई ईरवरवादी कह रहा है। ग्रंथकार कहते हैं कि वह भी यक्तिरान्य बोळने की ठेव को रखनेवाला है, क्योंकि प्रमाके करण होरहे प्रमाणोंका फल अवस्य होना चाहिये। अब बताओ, वह ईश्वरका ज्ञान विचार। प्रमाणस्वरूप है १ या फलआत्मक है १ उस ईश्वरके नित्यज्ञानको यदि प्रमाण माना जायगा तो उससे न्यारे दूसरे अनित्य द्वोरहे फळज्ञानकी उस ईश्वरमे प्रसिद्धि होजा-यगी । फलते रहित होरहे प्रमाणज्ञानका असंभव है । द्वितीय पक्ष अनुसार यदि उसी एक ज्ञानकी फल मान छोगे तो उस ज्ञानके नित्यपन का विरोध होगा। फल तो कारकों का कार्य होग्हा अनित्य हुआ करता है। मछा प्रमाणके कार्य होरहे उस फलको नित्य कहना किस प्रकार युक्त होसकता है? तुम ही विचार करो । तुम्हारा यह कहना भी व्याचात दोषयुक्त है कि ईश्वरका एक ही ज्ञान प्रमाण आसक है और फुल्लुख्य भी है। स्याद्वादियों के यहां एक धर्मी में प्रमाणल, प्रमेयत्व, प्रमातृत्व, प्रमाफलल आदि कतिपय धर्म अञ्चण्ण ठहर जाते हैं । किंतु तुम एकान्तवादियों के यहां करणत्व और फळत्वका विरोध है। तुम्हारे यहां ईश्वरज्ञानमें प्रमाणता माननेपर फलत्व नष्ट हो जाता है। और फलपना माननेपर करणपना नष्ट हो जाता है। " नैकं स्यस्मात्प्रजायते " अपनी आत्मामें अपनी उत्पत्तिरूप कियाका विरोध है। हां, इतिकियाका विरोध नहीं है। अतः उस प्रमाणआत्मक ईश्वरक्कानसे स्वका उपजनारूप-फळक

असम्भव है। स्वयं अपनेसे अपनेमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस सिद्धान्तको हम स्याद्वादी मी अनेक युक्तियोंसे परिपुष्ट समझते हुये मानते हैं।

यदि पुनरीश्वस्य प्रमाणभूतं क्रानं नित्यं, फलभूतं त्वनित्यमिति मतं, तदा ज्ञानद्वयप-रिकल्पनायां प्रयोजनं वाच्यं । तस्याश्वरीरस्य सृच्दुः सदा सर्वज्ञत्वसिद्धिः प्रयोजनिमिति चेन्न, अज्ञानरूपाया एव सिन्निक्षिदिसामग्रयाः प्रमाणत्वाभ्युपगमेपि सटा सर्वार्थक्ञानस्यानित्यस्य तत्फल्लस्य कल्पनात् सदा सर्वज्ञत्वसिद्धेर्च्यवस्थापनात् ।

यदि फिर वैशेषिक अपना मत यों कहे कि ईश्वरके दो जान हैं। प्रमाण हो रहा ज्ञान तो नित्य है और ईश्वरका द्वान फलभूत हो रहा अनित्य है, यों मन्तन्य होय तब तो आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकों को ईश्वरके दो ज्ञानोंकी प्रकल्पना करने में प्रयोजन कहना चाहिये। केवल एक ज्ञानवाले ईश्वरके ऊपर न्ययंमें दो ब्रानोंका बोझ लादना अनुचित है। यदि वैशेषिक यों कहें कि शरीररहित हो रहे उस सर्जनेवाले ईश्वरको सर्वदा सर्वज्ञपना सिद्ध होता रहे यही दो ज्ञानोंकी कल्पनाका फल है। एक करणज्ञान दूसरे फलज्ञानके स्वीकार कर लेनेसे ईश्वरका मर्वज्ञपना सदा रक्षित रह जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे यहा मानी गयी अज्ञानस्वरूप सिन्धकर्ष, अनिद्यां, आदि सामग्रीको ही प्रमाणपना स्वीकार करनेपर भी सदा सर्व अर्थको विषय करनेवाले और उस सामग्रीके फलस्वरूप अनित्य ईश्वरज्ञानकी कल्पना कर लेनेसे सर्वदा ईश्वरके सर्वज्ञपन की सिद्धिकी व्यवस्था हो जावेगी। भावार्थ—ईश्वरज्ञानकी कल्पना कर लेनेसे सर्वदा ईश्वरके सर्वज्ञपन की सिद्धिकी व्यवस्था हो जावेगी। भावार्थ—ईश्वरज्ञान एक ही माना जायगा। सनिकर्ष आकाश, काल, आदिसे उसकी सर्वदा उत्पृत्ति होते रहनेसे सर्वज्ञपना साध लिया जाय, कोई क्षित नहीं पढ़ती है। क्रूटस्थ हो रहे पदार्थोकी अपेक्षा सर्वदा अर्थिकिया करते हुये उपज रहे पदार्थ परमार्थमूत समझे जाते हैं। हम जैनोंके यहां भी आकाश कालाणु, केवल्ज्ञानावरण कमौंका क्षय, आदि जड कारणोंशे परमात्माके सत्तत केवल्ज्ञानकी धाराप्रवाहसे उत्पत्ति होने रहनेपर परमात्माके सर्वज्ञता परिपूर्ण बनी रहती मानी गयी है।

नन्वश्ररिस्येद्रियसिक्षकर्षाभाववदंतः करणसिक्षकर्षस्याप्यभावात् सिक्षकर्षादिसामग्री-विरहे ततो अनादिसर्वार्थविषयं नित्यक्कानभेव तस्य प्रमाणमिति चेन्न, आत्मार्थसिन्नकर्षस्य प्रमाण-त्वोपगमात् । पहेश्वरस्य हि सकुत्सर्वार्थसिक्षकर्षमात्रात्सर्वार्थज्ञानोत्पत्तिरिष्यते केश्चित् ततो न नित्यक्कानत्वं सिद्धं, येन न जगिमित्तपीश्वरो निर्देहत्वात् युक्तात्सवदित्यनुमानं प्रतिहन्येत ।

नैयायिक विद्वान् आक्षेप करते हैं कि शरीररिहत ईश्वरके जब बहिरंग इन्द्रिया या अन्तरंग इन्द्रिय नहीं हैं तो इन्द्रिय सिनक्षिक्ष्ए सामग्री न होनेसे और अन्तरंग इंद्रिय कहे गये मनके साथ भी पदार्थीका सिनक्षे नहीं होनेसे सिनक्षे, परामर्श, आदि सामग्रीका विरह है, ऐसा होनेपर ईश्वरमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तिस कारण अनादिकाळसे सम्पूर्ण पदार्थीको विषय कर

रहा नित्यझान ही उस ईश्वरका प्रमाण है। ईश्वरझानको अनित्य माननेपर अनेक हागडे उठ बैठेंगे। श्री विधानन्द स्वामी समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे यहां आत्मा और अर्थक सिक्किषको प्रमाणपना स्वीकार किया गया है। कही सुवर्ण आदिमें आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ, वारोंका सिक्किष हो कान उपज जाता है। काचित अर्थ और आत्माक हुये सिक्किषसे ही ज्ञानोत्पत्ति मानी गयी है। तुम्हारे यहा प्रमितिके करण स्वीकार किये गयं सिक्किषको प्रमाण इष्ट कर लिया है। व्यापक और नित्य हो रहे महेश्वरका एक बार ही सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सिक्किष हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाना किन्हीं नैयायिक विद्वानोंने अमीष्ट कर ली है। तिस कारण ईश्वर का ज्ञान नित्य नहीं सिद्ध हो सका, विससे कि ईश्वर (पक्ष) जगत्का निमित्त कारण नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान (अन्वयद्दान्त), यह हमारा अनुमान प्रतिचातको प्राप्त हो जाता। भावार्थ—नैयायिकोंने देहरहित भी ईश्वरको नित्यज्ञानकी सामर्थ्यद्वारा जगत्निमीता माना था। किन्तु ईश्वरका ज्ञान उनके बूते नित्य नहीं सिद्ध हो सका। अतः निर्देहल हेतुसे ईश्वरमें जगत् निमित्तपनके अभावको माधनेवाला हमारा अनुमान अप्रतिहत है। नित्यज्ञानसे रिहित कोई भी जीव देहरित होता हुआ मुक्तआत्माके समान जगत्का निर्माता नहीं है।

कालादेरशरीरस्य कार्योत्पत्तिनिमित्तता । सिद्धेति व्यभिचारित्वं निर्देहत्वस्य चेन्मतं ॥ १३ ॥ न तस्य पुरुषत्वेन विशिष्टस्य प्रयोगतः । कालादेरशरीरत्वेश्वरत्वाव्यभिचारतः ॥ १४ ॥

नैयायिक कहते हैं कि शरीरराहित भी आकाश, काल अदृष्ट आदिको यावत् कार्योकी उत्पत्ति में निमित्तकारणपना सिद्ध है। इस कारण तुम जैनोंका निर्देहत्व हेतु व्यभिचारहेत्वाभास दोषसे सिहत है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। क्योंकि वह केवल "निर्देहत्व" इतना ही हेतुका शरीर नहीं है। किन्तु पुरुषपने करके विशिष्ट हो रहे उस निर्देहत्व हेतुका प्रयोग किया गया है। अतः काल आदिकसे व्यभिचार दोष नहीं है। क्योंकि कालादिकमें अशरीरत्व है। किन्तु विशिष्टपुरुष (ईस्त्रर) पना नहीं है। कालादिकमें शरीरराहित ईस्त्ररपनका व्यवहार नहीं होता है। अतः कालादिमें हेतुका पूरा शरीरघटित नहीं होने व्यभिचारदोष नहीं फटक पाता है।

देहाशिष्कांतो निर्देहः पुरुषिविश्वेषो पहेश्वरस्तस्वनिर्देहपुरुषस्वं ततः पुरुषत्वे सित निर्देह-त्वादिति पुरुषत्वेन विश्विष्टस्य निर्देहत्वस्य प्रयोगाश्व कालादिना सर्वकार्योत्पत्तिनिमित्तेनाश्वरीरेण व्यभिचारित्वं यते। अपितहत्तिपदमञ्जूमानं न स्यादशरोरेश्वर जगिश्विमत्तत्वाभावसाधनं। किं च--- हमारे निर्देहल हेतुके पेटमें ही पुरुषिवशेषपना घुसा है। जैसे कि अज्ञानी कह देनेसे पर्यु-दासहित करके जीव उसके पेटमें घुसा हुआ है। अज्ञानी कोई ढेळ नहीं होता है। देहसे जो निष्कांत हारहा है वह विशेषपुरुष महेश्वर निर्देह है " निरादयः क्रान्ताधर्थे पंचम्याः " इससे वहां तत्पुरुष समास होजाता है। उस निर्देह पुरुषके भावको निर्देहपुरुषल कहते हैं। " भावे त्वतळों " भावमें त्व प्रत्यय कर दिया गया है। तिस कारण " पुरुषत्वे सित निर्देहत्वात् " पुरुष होते हुये निर्देहपना इतना हेतु बना है। इस पुरुषत्व करके विशिष्ट होरहे निर्देहत्व हेतुका प्रयोग कर देनेसे सर्व कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्त माने जारहे किन्तु शरीररिहत जड काळ, आकाश, आदि करके हेतुका व्यभिचार दोष नहीं आता है। जिससे कि हम जैनोंका यह अशरीर ईश्वरमें जगत्के निमित्तपनके अभावको साधनेवाळा अनुमान अप्रतिहत (अकाळा) नहीं होताय। अर्थात्—हमारा अनुमान निर्देश्व है। दूसरी बात एक यह भी है, उसको अगळी वार्तिकसे सुनो।

जगतां नेखरो हेतुरज्ञत्वादन्यजंतुवत् । न ज्ञोसावशरीरत्वान्मुक्तवत्सोन्यथा सवित् ॥ १५॥

इस्वर (पक्ष) तीनों जगत्का निर्माणकर्त्ता हेतु नहीं है (साध्य) अन्न होनेस (हेतु) अन्य जंतुओंके समान (अन्वयद्दष्टान्त) इस अनुमानका हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेलाभास नहीं है | देखिये, वह ईश्वर (पक्ष) ज्ञाता नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान, अन्यथा यानी शरीररहित भी ईश्वरको यदि ज्ञायक मान छिया जायगा तो वह मुक्त आत्मा भी ज्ञानी बन बैठेगा । अथीत्—वैशोषिकोंने मोक्ष अवस्थामें आत्माके बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोका अत्यन्त उच्छेद इष्ट कर छिया है। '' नवानामात्माविशेषगुणानामन्यन्तोच्छेदो मुक्तिः ''। कोई विद्वान् यों भी वखानते हैं " एकविंशतिदुःखध्वेसी मोक्षः "। छह इन्द्रियां, ६ छह इन्द्रियोंके विषय १२ और ६ इन्द्रियों के ज्ञान १८ सुख १९ दुःख २० और शरीर २१ यों इक्कीस दःखों का मुक्ति अवस्थामें विनाश होजाता है। यद्यपि वट, डेल आदि पदार्थीमें आत्मसंबंधी नी विशेष गुण या इकीस दुःख नहीं हैं। अतः घट आदिको भी मुक्तपनेका आतिप्रसंग यों नहीं होसकता है कि मोक्ष अवस्थामें गुणोंका या दुःखों का व्वंस उपजना चाहिये। योगियोंका प्रथम सद्भाव होने पर तो पुनः उनका ध्वंस हो सकता है। किन्त घट आदिमें **ज्ञान आदि गुणों या दःखींका प्रथमसे ही अत्यन्ताभाव है। अतः अतिव्यापि दोष नहीं आता है।** जैनोंके यहां भी इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ कर्मोंके ध्वंसको मोक्ष मानते हुये इसी उपायका अव-कम्बन किया जा रहा है। तभी देल, वडा, आदिमें मुक्तपनका अतिप्रसंग टल सका है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंके यहां मुक्ति अवस्थामें आत्मा शरीररहित होता संता ज्ञानरहित भी हो जाता है। इसी मुक्तद्रष्ठान्तके अनुसार शरीररहित होनेसे अङ्ग बन गये ईस्वरकरके जगत्का निर्माण महीं हो सकना साध दिया जाता है। यहा इतना और समझ ठेना चाहिये कि क्षेय और झनवान्में अन्तर है। " जानाित इति इः " जो आत्मा निज झानपिरणितिके साथ तदात्मक हो रहा सन्ता जानता है, वह इ है। वैशेषिक और नैयायिक विद्वान् तो गुण और गुणीका भेद मानते हैं। उनके यहां " इ " शद्ध ही अठीक है। वे दण्डवान् पुरुषः के समान झानवान् आत्मा यों कह सकते हैं। आत्माका गाठका निजम्बरूप झान नहीं हैं। ऐसी दशामें केवल ईश्वर या मुक्त आत्मायें ही नहीं, किन्तु सभी जीवोंकी आत्मायें अझ ठहरती हैं। जो मूल स्वरूपसे अझ है आकाशके समान वह झानके योगसे भी " इ " नहीं हो मकता है। अतः आचार्योकी ओरमे कहा गया अझपना हेतु सामिप्राय है।

एतेनानित्यज्ञानत्वेपीश्वरस्य ज्ञात्वा जगिभिमित्तत्विसिद्धेर्न मुक्तात्मवत्तदिनिमित्तत्विमित्ते तिभिरस्तमशरीरस्य, तन्मते सर्वथाप्यज्ञत्वात् । तस्य ज्ञत्वे मुक्तात्मनोपि ज्ञत्वप्रसंगाद्धि-श्रेषाभावात् ।

इस उक्त कथन करके वैद्येषिकोक इस कथनका भी निराकरण किया जा चुका समझ छो कि अनित्य ज्ञानसे युक्त हो रहे भी ईर्यरको कारणोका परिज्ञान कर जयत्का निमित्तपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण मुक्त आत्माक समान ईर्यरको उस जगत्का अनिमित्तपना नहीं है। अर्थात् मुक्त आत्मा तो सर्वथा ज्ञानसे रहित है। किन्तु ईर्यर अनित्यज्ञानसे युक्त है। अतः जगत्का निमित्तकारण हो सकता है। इस वैद्योषिकोंके भवका निराकरण यों हा जाता है कि उनके मतमें द्यरिरहित आत्माको सभी प्रकारिसे अज्ञ माना गया है। यदि अद्यरित भी उस ईर्यरको ज्ञ माना जायगा तब तो मुक्त आत्माको ज्ञ-पनेका प्रतेश होगा। क्योंकि ईर्यर और मुक्त आत्मामें विदेशप्रधायक अन्तरका अभाव है।

सदेहबुद्धिमद्धेतुर्दष्टांतोपि घटः कथं । निर्देहबुद्धिमद्धेतौ साध्ये जगति युज्यते ॥ १६ ॥

जगत्में निमित्तकारण माने गये देहरहित बुद्धिमान्को साध्य करते संते मछा देहसहित बुद्धिमान्, कुछाछको अपना हेतु मानकर उपजा घट दृष्टान्त भी किस प्रकारसे युक्त हो सकता है ! अर्थात्—साध्यकोटिमे देहरहित बुद्धिमान् है और घटदृष्टान्तकी सामध्येसे देहसहित बुद्धिमान् निमित्तकारण सध जायगा । ऐसी दशामें हेतुके विरुद्धहेत्वामास हो जानेकी सम्भावना है ।

धीमद्भेतुत्वसामान्यं साध्यं चेन्निर्विशेषकं । नानाधीमन्निमित्तत्वसिद्धेः स्यात् सिद्धसाधनम् ॥ १७ ॥ नानात्मपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तकं । सिद्धं दीदं जगत्तस्य तद्भोग्यत्वप्रसिद्धितः ॥ १८ ॥

वैशेषिक यदि विशेषोंसे रहित केवल बुद्धिमान् हेतुसे जन्यपन सामान्यको साध्य करेंगे तब तो जगत्का निमित्तपना नानाबुद्धिमानोंको सध जायगा । ऐसी दशामें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष छगा । अर्थात--धूम हेत द्वारा जैसे तृणसम्बन्धी पत्तोंसम्बन्धी और घास या घीकी आग इत्यादि विशेषताओंको नहीं कर कोरे अग्निसामान्यको साधा जाता है, उसी प्रकार जगतका निर्माण कर्त्ता सामान्यरूपसे बुद्धिमान साधा जाता है। सर्वज्ञता, अल्पत्रता, बहुज्ञता, मतिज्ञानीपन, प्रत्यक्ष-जानीयन आदि विशेषताओंको नहीं खोला गया है। यो मान लेनसे वैशेषिकोंके ऊपर आये हुये पूर्व कटाक्षोंका तो निवारण तो होजाता है। किन्त बृक्ष, शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यजगत्के निर्माणकर्ता अनेक आत्माओं की सिद्धि बन बैठती है हम स्यादादियों के यहां वक्ष, फल, फल, आदिको पौद्रालिक नामकर्मकी प्रेरणा अनुसार बनानेवाले उनमें निवास कर रहे जीव ही माने गये हैं। देवदत्तकी आत्मा देवदत्तके शरीरको बना छेती है। चींटीकी आत्मा चींटीके शरीर, अवयव, इन्दियां, रक्त, धात. मल आदिको बना लेती है । पौद्रलिक अदृष्ट या अन्यपदार्थ भी भले ही उपादान कारण या निमित्त कारण हो जांय. गर्भमें ही पत्नीके शरीरको बनानेमें पतिका अदृष्ट निमित्त होजाय. किन्त कर्ता स्वरूप निमित्त कारण वे वे जीव ही पडते हैं । अतः हमारे माने इये सिद्धांतको ही तुम अनुमान द्वारा साध रहे हो. तम पर यह सिद्धसाधन दोष हुआ । यह जगत (पक्ष) अनेक आत्माओं के नैमित्तिक परि-णामों नामक भावकर्मको निमित्त मानकर उपजा सिद्ध होरह। है (साध्य) क्योंकि उस जगत्को उन अनेक आत्माओंके भोग्यपनकी प्रसिद्धि होरही है (हेतु) वैशेषिकोंने भी संपूर्ण कार्योंके प्रति साक्षात् या परंपरया अदृष्टको निमित्तकारण अभीष्ट किया ही है। एकेन्द्रिय, दीन्द्रिय, सभी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वोपार्जित कर्मोंकी सामर्थ्य अनुसार अंतरंग, बहिरंग, अनेक कार्योंकी बना छेते हैं। दीमक अच्छा घर बना लेती है. चिडिया उत्तम घोंसला बना लेती है. चौ इन्द्रिय जीव घरघुळी मिट्टीका संदर घर बना लेती है। महलोंके समान इन घरोंमें भी द्वार, बच्चोंके स्थान, सोने, बैठनेके स्थल. खाद्य सामग्रीके एकत्रित करनेके स्थान. विपत्तियोंसे बचे रहनेके उपाय ये सब क्षद्र कीटों द्वारा बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक निजपुरुषार्थ द्वारा बना छिये जाते है । ज्ञान या ज्ञानी सभी कार्यीको बना डालता है। हिताहितप्राप्तिपरिहार कर लेता है। आत्मा अपनी पर्याप्ति शक्तिद्वारा शरीर, इन्द्रिय, आदिको बना हेता है। काल, आकाश, आदिको निमित्त पाकर और भावकर्मीको प्रेरक निमित्त पाकर यह आत्मा अनेक चमत्कारक कार्योको बातकी बातमें बना डाळता है । इसमें कृतकृत्य ईश्वरको घसीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। संपूर्ण जगत्को अनेक बुद्धिमान् बना डाळते हैं, जैसे कि प्रत्येक पुरुष व्यक्ति अपने अपने भूत्र, मल, रेचन, भोजन, गमन, आदि कार्योको बना छेता है. अथवा प्रत्येक गृहस्य अपनी गृहस्य उचित क्रियाओंका स्त्रयं विधाता है। सिपाई या राजा अपने कर्त्तन्योंको पाल रहे हैं। उसी प्रकार अनेक कार्योका पिण्ड होरहा यह जगत भी अनेक आत्माओं करके ही बना लिया जाता है। प्रायः सभी कार्य पदार्थ किसी न किसीके अदृष्ट द्वारा बनाये जाकर साक्षात या परंपरया भोग्य बने इये हैं।

न हि धीमद्धेतुत्वमात्रं जगतां पर्यायार्थादेश्चाद् भ्युपगच्छतः स्याद्वादिनोऽपसिद्धांतः, सिद्धांतेपि नानामाणिपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तजगद्यवस्थितेः अन्यथा जगतस्तदुपभोग्यत्वविरोधात् ।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तीनों या संपूर्ण जगतुके सामान्यरूप करके हेतु होरहे नाना बुद्धिमानीको स्वीकार करते हुये स्याद्वादी पण्डितके यहां कोई अपसिद्धांत दोष नहीं है। अर्थात्— बुद्धिमान् जीवोंको जगत्का कारण मान छेनेसे स्यादादीका अपने सिद्धांतसे स्वलन नहीं होजाता है। क्योंकि जैनसिद्धांतमें भी अनेक प्राणियोंके परिणामसंबक भावकर्मीको निमित्त पाकर जगत निर्मा-णकी न्यवस्था की गई है। अन्यथा यानी अनेक प्राणियोंको निमित्त नहीं मानकर यदि जगत्के कारण को दूसरे ढंगका माना जायगा तो जगत्को उन प्राणियोंके उपभोग करने योग्यपनका विरोध होजा-वेगा । बात यह है कि आत्माके पुद्रलस्वरूप कर्मोको निमित्त पाकर हुये परिणाम भी चेतन आत्मक भावकर्म हैं। क्योंकि क्रोध, गति, वेद, उत्साह आदि भावकर्मोका उपादानकारण आत्मा ही तो है। अतः आत्मा चाहे स्वपुरुषार्थसे अथवा भले ही स्वकीयपरिणाम होरहे भावकर्मीसे कार्योको करे. उन सर्व कार्यीका यथायोग्य भोग कर छेता है। " कर्त्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यात्"। जो ही कर्त्ता है वही भोक्ता है। एक स्त्री यदि दश मनुष्योंकी रसोई बनाती है तो। भल्ने ही वह दशवें भागका उपभोग करती है। फिर भी गृहस्थसम्बन्धी कर्त्तच्य या प्रेमप्राप्ति, यशः आदिका आनंद पूरा के छेती है। कुम्हार इजारों घडोंको बनाता है, सूचीकार (दर्जी) सैकडों कपडोंको सीवता है। सुनार दूसरोंके वीसों भूषर्णीको रचता है। ये सब शिल्पकार उनका पारिश्रमिक व्यय यानी मूल्य प्राप्त कर उन कार्योंको भोग लेते है । कोई निःस्वार्थ देशसेवक या परापकारी साय अथवा औषधदानी वैद्य यदि अनेक कार्योंका संपादन कर रहे हैं तो उनको भी निःस्वार्थसेत्रा, स्वकर्तव्यपालन, स्वदेशीय अभि-मान, यशःप्राप्ति, पुण्यसंचय, आदि उपभोगोंकी प्राप्ति विना चाहे ही होजाती है। अकामनिर्जरा भी होजाती है। यदि किसीको स्वकृतकार्योका उपभोग न भी मिछ सके तो हमारी यह व्यक्ति नहीं बनी है, जो जिसका कार्य है वह कार्य उसका उपभोग्य अवश्य है । हमने तो अनेक स्थलों पर वैसा देखकर स्वरूपकथन कर दिया है। अन्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं बना दिया है। दो, चार, स्यलपर घटित होजानेसे ही हमारा प्रयोजन सध जाता है। कार्यका अपने कारणोंके साथ अन्वयन्यतिरेक है। व्यापक, अशरीर,नित्य, ईश्वरके साथ कार्यीका अन्वयव्यतिरेक नहीं है। एतन्मात्र हमें सुझाना है।

> सशरीरः कुलालादिः कुर्वन् दृष्टो घटादिकं । स्वयमात्मा पुनर्देहमशरीरोपि विश्वतः ॥ १९ ॥ सदेहेतरसामान्यस्वभावो जगदीश्वरः । करोतीति नु साध्येत यदा दोषस्तदा क सः ॥ २० ॥

इत्येके तदसंबंधं स्वश्रारीराणि कुर्वतां । श्रारीरांतरसंबंधात्मनां स्यान्नान्यथा किया ॥ २१ ॥ परापरशरीराणां कल्पनान्नानवस्थितिः । तेषामनादिसंबंधात्कार्यकारणभावतः ॥ २२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहे कि कुम्हार, कोली आदि आत्मार्ये शरीरसाहित होरही घट आदि कार्योंको करती ह्रयीं देखी गयी हैं और फिर जन्मकी आदिमें स्वयं अशरीर होता हुआ भी आत्मा नवीनदेहको बना रहा प्रसिद्ध होरहा है। अतः जगत्का निमित्तकारण बुद्धिमान् आत्मा है। यहां देह सिंहत और देहरहित दोनों प्रकारके विशेष जीवोंमें वर्तरहे सामान्य स्वभावको धार रहा ईश्वर जगतको बना रहा साथा गया है। साध्यकोटिमें देहसहित या देहरहित ऐसी कोई विशेषता नहीं डाछ दी है। भावार्थ-कार्योको बनानेमें कर्त्ताका शरीरसहितपना और शरीररहितपना उपयोगी नहीं है। जारीर-सहित आत्मा भी अनेक कार्योंको कर देते हैं, और शरीररहित भी आत्मा पहिले पहिले नये शरीरको या ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नोंको बना देता है । अतः दोनों प्रकारकी आत्माओंका सामान्य स्वभाव होरहे आत्मत्वधर्मसे युक्त बुद्धिमानको हम वैशेषिक जगत्का कर्त्ता साथ रहे हैं। भले ही दृष्टान्तमें शरीरसिंहत कर्ता होय और दार्छन्तमें अन्य प्रमाणों करके वह कर्त्ता अशरीर साध दिया जाय, हमारी कोई क्षति नहीं है। ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके साथ कर्त्तापनकी व्याप्ति है। दारीरसहितपन और दारीर-रहितपन कोई कर्त्तापनके प्रयोजक नहीं हैं । देखिये " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत् ,, दृष्टान्त होरहे रसेाई घरमें उक्कडोंकी आग है और पर्वतमें सूखे तृण या पत्तोंकी आग सुलग रही है। किन्तु सामान्य अग्निको साध्य करने पर कोई दोष नहीं आता है। इसी प्रकार यहां भी सामान्य स्वभाववाछे बुद्धिमान्को जब अनुमान द्वारा साधा जावेगा तब तुम जैनोंकी ओरसे दिया गया सिद्धसाधन दोष कहां आया ! अर्थात - हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष छागू नहीं है । तुम्हारे यहां असिद्ध होरहे पदार्थको इम साथ रहे हैं, तुम्हारे यहां सिद्ध होरहे ही को इम नहीं साथ रहे हैं, यहांतक कोई एक वैशेषिक पण्डित कह चुके हैं। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंका वह कहना संबंधयोज-नासे शून्य है। असम्बद्धप्रछापी होनेसे उनके पूर्वापरवचनोंकी संगति ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि पूर्वकालीन अन्य सूक्ष्मरारीरोंके साथ संबंध रख रहे आत्माओंकी ही अपने शरीरोंको करते संते क्रिया होसकती है। अन्य प्रकारोंसे यानी शरीररहित आत्माओंकी किया अपने नवीन शरीरको बनानेके छिये नहीं होसकती है । जैसे कि स्थूछशरीर और सूक्ष्मशरीरोंसे रहित होरहा मुक्त आत्मा पुन: अपने शरीरोंको नहीं बना सकता है। शरीररहित आकाश भी निजके पौद्रलिक शरीरका निर्माण नहीं कर पाता है । बीजांकुरधाराकरके अनादिकाउसे जला आया छिलकासहित धान ही उपज

सकता है। एक बार छिलका निकाल देनेपर वह धान्य पुनः नहीं उग सकता है। इसी प्रकार अनादिकालसे कार्यकारणप्रवाहकरके कर्म नोक्तमींद्वारा सरारीर हो रहा आत्मा ही उत्तरीत्तर अनेक शरीरोंको बना लेता है। कर्म, नोक्तमें, शरीरोंसे रिहत हो गये शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी पुनः शरीरोंको नहीं रच पाते हैं। यदि यहां कोई अनवस्था दोष उठावे कि आत्मा इस वर्तमान शरीरको पूर्व शरीरसे सिहत होकर बनावेगा और उस पूर्व शरीरको उससे भी पहिलेके शरीरसे सम्बन्धी होकर बनावेगा। यो पर, अपर, अनेक शरीरोंकी परिकल्पना करनेसे महान् अनवस्था दोष आता है। प्रन्यकार कहते हैं कि ऐसी अनवस्था दोषस्वरूप नहीं है। प्रत्युत गुण है। क्योंकि आत्माके साथ कार्यकारणमावमुद्रासे उन शरीरोंका अनादिसे सम्बन्ध होता चला आ रहा है, जैसे कि बीज वृक्ष या अण्डा मुर्गी इनमें अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं आते हैं। मूलको नष्ट करनेवाली अनवस्था तो दूषण है। किन्तु मूलको पुष्ट करनेवाली या कुलपरम्पराको बढानेवाली अनवस्था मूषण है। अतः युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती। है कि शरीरसिहत आत्मा है। अन्य शरीरोंको बनाता है। अतः तुम्हारे बुद्धिमान् कर्त्ताको साधनवाले अनुमानमें घटदृष्टान्तकी सामध्यसे सशरीरकर्त्ता ही सिद्ध हो पायगा। अशरीर नशें और सामान्य बुद्धिमानोंको साध्य कोटिमें घरनेपर नाना बुद्धिमानोंको निमित्त-पना सिद्ध हो जानेसे सिद्धसाधन दोष तुम वैशेषिकोंके ऊपर वैसाका वैसा ही अवस्थित बना रहता है।

पूर्वमतजुत्वे नरस्य।

कोई भी जीव पूर्वशरीरके विना अन्य शरीरोंको नहीं बना सकता है। यदि शरीर बनानेके पूर्वमें आत्माको शरीररहित माना जायगा तब तो—

मुक्तस्येव न युज्येत भूयोन्यतंत्रुसगतिः। पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं धर्माधर्मयोर्बुद्धिवत् ॥ २३ ॥

मुक्त आत्माके समान इस संसारिजीवका पुनः बहुतसे अन्य शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना नहीं उचित हो सकेगा। अशरीर आत्मा फिर परतंत्र नहीं हो सकता है। यदि वैशेषिक यों कहें कि अशरीर होता हुआ भी आत्मा अपने अदृष्टंस्त्रक धर्माधर्म गुणों करके परतंत्र हो रहा बन्धनबद्ध हो जाता है, इसपर आचार्य कहते है कि जैसे आत्माका ज्ञानगुण आत्माको पराधीन नहीं करता है, उसी प्रकार आत्माके तुम्हारे यहां माने गये धर्म, अधर्म, गुण भी आत्माको परांत्रत्र बनानेके निमित्त नहीं हो सकते है। यदि अपने ही अंग, स्वभाव या गुण अपनेको परांधीन करने लगे तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने स्वरूपोंका परित्याग कर बैठेंगे।

सा यद्यदृष्टसद्भावान्मता तस्य तु सिष्यतु। पूर्वं कर्मशरीरेण संबंधः परविश्रहात्॥ २४॥ यदि वह संसारी जीवोंकी परतंत्रता वैशेषिकोंके यहां धर्म, अधर्मस्वरूप अदृष्टका सद्भार होनेसे मानी जायगी तब तो उस आत्माके पिहुळे कर्मशरीरके साथ सम्बन्ध सिद्ध हो गया, (हो जाओ) और वह कर्मका सम्बन्ध उससे भी पिहळेके दूसरे शरीरसे प्राप्त होकर सम्बन्धित हुआ समझा जायगा, यों जैनसिद्धान्तके सदृश तुमको भी मानना पढ़ेगा।

शरीरमात्मनोऽदृष्टं पुद्गलात्मकमीरितं । सर्वथात्मगुणत्वेस्य पारतंत्र्यानिमित्तता ॥ २५ ॥

आत्माका कर्मशरीर जो अदृष्ट माना गया है, वह पुद्गळस्वरूप कहा गया है । यदि इस अदृष्टको सर्वथा आत्माका गुण माना जायगा तो अदृष्टको इस आत्माके परतंत्र होनेमें निमित्त कारण-पना नहीं सथ सकेगा । द्रव्यको वैसाका वैसा ही अनादि, अनन्त, जीवित रखनेवाले गुण हुआ करते हैं । अपने हाथ, पांव, पेट ही यदि अपनेको फंसाने लगें तो ऐसी दशामें कोई पुरुष जीवित नहीं रह सकता है । बाद ही खेतको खा जाय तो रक्षा कौन कर सकता है ।

न हि सर्वथात्मगुणत्वे धर्माधर्मसंइकस्यादृष्टस्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वं युक्तं बुद्धिवत् । इच्छाद्देषयोरात्मगुणत्वेप्यात्मपारतंत्र्यानिमित्तत्वसिद्धेर्युक्तमेवेति चेन्न, तयोः सर्वथात्मगुणत्वा-भावात् कर्मोद्यनिमित्तत्वेन भावकर्मत्ववचनात् । तयोरेवात्मपारतंत्र्यस्वभावत्वाच न पार-तंत्र्यनिमित्तत्वं । मोहविशेषपारतंत्र्य एव हि पुरुषस्येच्छाद्देषौ तद्परतन्त्रस्य कचिद्भिछाष-देषासंभवात् । ततो न धर्माधर्मौ पुरुषगुणौ पुरुषपारतंत्र्यनिमित्तत्वान्मोहविशेषान्निगळादिवत् । किं तिर्हे १ पुद्रछपरिणामात्मकौ तौ तत एव तद्वत् पुद्रछपरिणामविशेषात्मकत्वाचादृष्टस्यात्मश्वरित्तत्त्वप्रपातमिति नीदारिकादिशरीरसंवंधात्पूर्वमदृष्टवश्वत्त्यात्मा निर्देहो युक्तः । यस्तु निर्देहो युक्तात्मा स न कस्यच्छिरीरस्यारंभको भवति यतस्तद्ददीश्वरोपि जगतोऽहेतुः स्यात् ।

यदि धर्म, अधर्म, इस संज्ञाको धारनेवाले अदृष्टको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुण होना माना जायगा तो उस अदृष्टको आत्माकी परतंत्रताका निमित्तकारणपना समुचित नहीं पड़ेगा, जैसे कि आत्माके गुण होरही बुद्धि उसी आत्माके "सिनपातपरिभाषा" अनुसार परार्थीन नहीं कर दालती है। यदि वैशेषिक यों कहे कि इच्छा और देषको आत्माका गुणपना होते हुये भी आत्माकी परतंत्रन्ताका निमित्तपना सिद्ध होरहा है, जैनोंके यहां भी इच्छा और देषकरके संसारी आत्माओं के कर्म बन्ध होरहा अभीष्ट किया है। इस कारण धर्म अधर्म गुणोंको भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना युक्तिपूर्ण हो है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन इच्छा देषोंको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुणपना नहीं है। कमीके उदयको निभित्त पाकर हुये उन इच्छा और देषोंको भावकर्मपनेसे

निरूपण किया गया है। औदियक भाव आत्माके गुण नहीं हैं। गुण तो त्रिकालवर्ती, अनुजीवी, होते हैं। अपने आत्मलागमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं करते हैं। पुण्य, पाप, या क्रोध,इण्ला, द्रेष आदि औदयिकभावोंको आत्माका गुण कहना गुणशहका मारी तिरस्कार करना है। दूसरी बात यह है कि परिपूर्ण चारित्रस्वरूप आत्माकी राग, द्वेष, मोह, इच्छा आदि विभावों करके परिणति होजाना ही तो परतंत्रता है। अतः आत्माके विभावपरिणाम इच्छा और देष तो परतंत्रम्वभाव ही हैं। परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। मोहनीय कर्मकी कोय, लोभ, रति, अरति आदि त्रिशेषप्रकृतियोकं उदयसे हुई विशेष मोहस्वरूप परतंत्रता ही तो आत्माके इन्छा और द्वेषपरिणाम हैं। जो क्षीणमोह आत्मा उस मोहनीय कर्मविशेषके पराधीन नहीं है. उसके कहीं भी अभिळाषा और द्रेष नहीं सम्भवते हैं। तिस कारणसे यों अनुमान बना कर सिद्ध कर दिया जाता है कि धर्म और अधर्म (पक्ष) आत्माके गुण नहीं हैं। (साध्य) आत्माकी परतंत्रताके निमित्त कारण होनेसे (हेत्) सांकल, लेज, वशी-करण चूर्ण आदिके समान (अन्वयद्यान्त) । इस युक्तिसे धर्म, अधर्म या इच्छा देव ये आत्माके परिणाम नहीं सब पाते हैं। तब तो यह अदृष्ट क्या पदार्थ है ! इसका समाधान यह है कि वे धर्म अधर्म (पक्ष) पुद्रलद्रव्यके परिणामस्त्ररूप हैं (साध्य)। उससे ही यानी आत्माके परतंत्रपनका निमित्त कारण बन रहे होनेसे (हेत्) उसीके समान यानी सांकल, जाल, पींजरा आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमान द्वारा अदृष्टको पुद्रलका परिणाम साच दिया है, जैसे कि यह स्थूल शरीर पुद्रकका परिणाम होनेसे आत्माका गुण नहीं होता हुआ आत्माका बहिरंगशरीर साना जाता है. उसी प्रकार पुद्रलद्रव्यका विशेष परिणामस्वरूप होनेसे अदृष्ट भी आत्माका सुक्ष्मदारीर स्वीकृत कर लिया जाता है। इस कारण जन्मते समय औदारिकादि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे पहिले अदृष्टके वशमें वर्त रहा यह आत्मा सर्वथा देहरहित कहा जाय यह युक्तिपूर्ण नहीं है। अर्थाव--देह रचनेके पहिले भी आत्मा अदृष्ट नामक सूक्ष्मशरीरसे युक्त हो रहा सशरीर है । निःशरीर नहीं है। हा, जो मुक्त आत्मा स्थूल, सूरम, समी देहोंंो रहित है वह तो किसी भी शरीरका आरम्भ रच देनेवाला नहीं है । जिससे कि उस मुक्त आत्माके समान शरीश्रहित ईश्वर भी जगतका निमित्त कारण हो जाता । भावार्थ-अशरीर, मुक्त, आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगत्का निमित्तकारण होकर कत्ती नहीं है।

संगति सदेहेश्वरवादिमतमार्श्वनथ प्रतिविधन्ते ।

अब इस समय प्रन्थकार ईश्वरको देहघारी माननेवाळ पौराणिकवादियोंके मतकी आशंका उठाकर उस पौराणिकोंके मतका भी खण्डन करें देते हैं।

> क्षित्यादिमूर्तयः संति महेशस्य तदुद्भवे । स एव हेतुरित्यादि ज्यभिचारो न चेद्भवेत् ॥ २६ ॥

तथान्येपि किमात्मानः स्वमृत्युत्पत्तिहेतवः। स्वयं न स्युरितीशस्य क सिध्येत्सर्वहेतुता ॥ २७॥

पुराण या स्मृतियोंको माननेवाले पौराणिक या स्मार्त सम्प्रदायक्रलेंका यह मत है कि " या सृष्टिः स्रष्टुराखा वहति कि बहुतं या हिक्यां च होत्री, ये दे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा य स्थिता व्याप्य विश्वं । यामाहुः सर्ववीजप्रकृतिरिति मया प्राणिनः प्राणवन्तः । प्रत्यक्षामिः प्रपनस्तनुभिवन्तु वस्ताभिरद्याभिरिशः ॥ १ ॥ (शकुन्तला नाटक) । महेशकी १ जल २ अग्नि ३ होता ४ सूर्य ५ चन्द्रमा ६ आकाश ७ पृथ्वी ८ वायु ये आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । विशेषक्रपक्षे विष्णु सम्प्रदायवाले विष्णु भगवान्के दश या चौवीस अवतारोंको मानते है । शैव आभ्नायवालोंको भी महादेवके कितिपय शरीरधारी अवतार इष्ट कि में हैं । यहां प्रकरणमें यह कहना है कि " भूतानि यज्वा सूर्याचन्द्रमसौ च " महेशकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । उन मूर्तियों के उत्पन्न करनेमें वही महेश निमित्तकारण है । आचार्य कहते हैं कि आठ मूर्तियों या वराह, मतस्य, आदि या महाकाल आदि अपने शरिरोंको बनानेमें यदि व्यभिचारदोष नहीं आवेगा, तब तो महेश या विष्णुके समान अन्य भी आत्मार्ये स्वयं अपने अपने शरीरोंकी उत्पत्तिक कारण क्यों नहीं हो जावेगीं ? ऐसी दशामें भला ईश्वरको सम्पूर्ण जगत्का निमित्तकारणपना कहां सिद्ध हो सका ? अर्थात्—ईश्वर अपने शरीरको बना लेता है, और अन्य प्राणी अपने अपने शरीरोंको रच लेते हैं । बिचारा अके विश्वर सम्पूर्ण जगत्का कर्ता नहीं है ।

कुर्वन् क्षित्यादिमृतींश्च स्वमृतिं तत्प्रयोगतः । मृत्यंतराणि कुर्वति यदि वानादिभिर्यतः ॥ २८ ॥ गत्वा सुदूरमप्येवं यदि मृतींने काश्चन । कुर्यात्ताभिस्तदा हेतोरनेकांतिकता न ।कं ॥ २९ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रयोगसे वह ईश्वर पृथ्वी, जल आदि अपनी आठ मूर्तियोंको बना रहा है, उसी प्रयोगसे अनादि धारावाले पृथिवी आदि भूतोंकरके अपने शरीरको और दूसरे प्राणियोंके शरीरोंको कर देवेगा । आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यों कहोगे तब तो उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पहिले क्षिति आदिको बनाया होगा और उन क्षिति आदि मूर्तियोंके लिये उससे भी पहिली क्षिति आदि मूर्तियोंको बनाना पढ़ा होगा। यों अनवस्था आती है। इसके निवारणार्थ बहुत दूर भी जाकर यदि किन्हीं क्षिति आदि मूर्तियोंको ईश्वरकृत नहीं माना जावेगा तब तो उन्हीं मूर्तियों करके तुम्हारे हेलुका व्यभिचारीपना क्यों नहीं वन बैठेगा ! अर्थात् — अनवस्थाको दूर करनेके लिये

बहुतकाल पहिलेकी जिन मूर्तियोंको आपने ईश्वरकरके बनाई हुई नहीं माना है, उनमें सिन्नेवेश यह हेतु तो रह गया और बुद्धिमान् कारणसे जन्य होना यह साध्य नहीं रहा । अतः व्यमिचारी हुआ ।

> अनादिम्तिभिस्तस्य संबंध इति चेन्मतं । किं इन्त्यनादिता तासां सिन्नवेशिवशिष्टतां ॥ ३० ॥ न चेत्ताभिर्महेशेनाकृताभिर्व्यभिचारिता । साधनस्य कृताभिर्वा तेनेतामनवस्थिति ॥ ३१ ॥ केवलं मुखमस्तीति यत्किंचिदभिधीयते । मिथ्योत्तराणामानंत्यात्मेक्षावत्ता न तत्र का ॥ ३२ ॥

इस त्यभिचारका निवारण करनेके लिये अनादिकाल्से बनी चली आरही क्षिति, आदि मूर्ति-योंके साथ वह ईश्वरका संबन्ध यदि इष्ट किया जायगा, यों मंतव्य होनेपर तो आचार्य पूछते हैं कि उन मूर्तियोंकी अनादिता क्या रचनाकी विशिष्टता (हेतु)को मार डालती है ८ बताओ। यदि अनादि मूर्तियोंमें सन्निवेशविशेष है तो तुम्हारे ऊपर हेतुका न्याभेचार दोष तदवस्थ है । जब कि उन मूर्ति-योंका अनादिपन सन्निवेशविशेषका विधात नहीं कर सकता है और अनादिकालीन प्रथिवी आदि मूर्तियां महेशकरके नहीं की जानुकी है तो तुम्हारे '' सन्निवेशविशिष्टल '' साधनका उन मूर्तियों करके व्यभिचार हुआ। यदि उन अनादि मूर्तियोंको तिस ईश्वर करके किया हुआ माना जायगा तो व्यभिचार-दोष दूर होजायगा किंतु उन मूर्तियों हो बनानेके लिये पुनः मूर्तियां बनाई गई होंगी और उनके लिये भी पूर्व मूर्तिया बनाई गई होगी, यो मूर्तियोंकी घारा करके हुये इस अनवस्थादोषको तुम दूर नहीं कर सकते हो । " मुखमस्तीति वक्तव्यं " यदि फोकटका मुख है तो कुछ न कुछ बोलते रहना चाहिये, इस लोकनीतिको अनुसार जो कुछ भी अन्ट, सन्ट, तुम कहे जाते हो । जगतुमें मिथ्या उत्तर, अनन्त हैं। इम ईश्वरके कर्तृत्वका निराकरण करनेके छिये जितने समुचित आक्षेप करते हैं. तम उनके अनन्त मिथ्या उत्तर दे देते हो। यह तो वही एक प्रामीणपुरुषका विजय जैसा हुआ कि कोई गमार यों कहता फिरता था कि मैं काशी गया और सब पिण्डतोंको हरा आया। उन्होंने सैकडों बातें कहीं मैंने उनकी एक भी नहीं मानी । कुछ न कुछ बके ही चला गया । देखो, ऐसी दशामें वहां ब्रेक्षावान्पना भला कहां रहा ! युक्तिरहित बक्तनेवाले पुरुष हिताहितका विचार करनेवाले नहीं माने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंना न्यायपूर्वक बाद विवाद करनेमें अधिकार नहीं है।

ततः स्कामेतत् सदेहेश्वरवादिनां सिश्चवंशविशिष्टत्वादिनि हेतुरीश्वरेदेहेन व्यभिजारीति ।

तिस कारण हमने वहीं नैंति वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कह दिया था कि देहसहित ईश्वरको मानमे बाले पौराणिकवादियोंके यहां '' सिनिवेशिविशिष्टवात् '' यह हेतु ईश्वरके शरीरकरके ही व्यभिचार दोषवाला है। यहांतक आचार्योंने सिनिवेशिविशिष्टव हेतुके ऊपर नैंकि वार्तिक पूर्वार्थ करके उठाये गये व्यभिचारदोषकी पृष्टिको परिसमाप्त कर दिया है, यही इति शहका माव है।

बुद्धिमद्धेतुकं याद्यग्दष्टं हर्म्यगृहादिषु । संनिवेशविशिष्टत्वं ताद्यग्जगति नेक्ष्यते ॥ ३३ ॥ इति हेतोरसिद्धत्वं केश्चिदुक्तं न युज्यते । तथा सर्वेष्टहेतूनांमसिद्धत्वप्रसंगतः ॥ ३४ ॥

श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि किन्हीं किन्हीं विद्यानोंने वैरोषिकोंके सिनेवशिविरिष्टल हेतुको यों असिद्ध हेत्वाभास कहा है कि जिस प्रकारका हवेली, गृह, सोंपड़े, आदिमें बुद्धिमान् हेतु-अोंसे जन्य हो रहे सन्ते सिनेवशिविरिष्टपना देखा जाता है, वैसा रचनाविशेष तो जगत् स्वरूप पक्षमें नहीं देखा जाता है। इस कारण पक्षमें हेतुके नहीं ठहरनेसे हेतुका असिद्ध हेत्वाभास दोष हुआ। अर्थात्—प्रमेयकमल्मार्तडमें भी थों खिखा है कि "अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणत्व व्यासं कार्यत्वं तथाप्यत्र याद्यमूतं बुद्धिमत्कारणत्वेऽभिनवकूपप्रासादादी व्यासं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदिक्तयादिश्वेनोपि जीर्णकूपप्रासादादिवाऽिकत्यादिश्वेनोऽिप कृतबुद्धिप्रसंगः" इत्यादि पंक्ति करके पक्ष और दृष्टान्तमें थोडासा अन्तर दिखलाकर असिद्ध हेत्वाभास उठाया गया है। प्रत्यकार कहते हैं कि यह असिद्ध हेत्वाभासका कथन यक्त नहीं है। क्योंकि यों तो तिस प्रकार इष्ट हो रहे सम्पूर्ण हेतुओंके असिद्धपनका प्रसंग हो जायगा, जैसा धुआं महानसमें समान आकृतिवाला देखा जा चुका है, वैसा पर्वतमें नहीं दीख रहा है। "शद्धोऽनित्यः कृतकत्वात् घटनत्" यहां जैसा कुलाल, दंढ, मृत्तिका आदि कारणींसे बनाया गयापन घटमें द्यष्टिगोचर हो रहा है, वैसा कृतकपना शद्धमें नहीं प्रतीत होता है। इद्धके उपादान कारणका ही प्रत्यक्ष नहीं है। बात यह है कि थोडे थोडे अन्तरसं हेतु सक्तपासिद्ध हेत्वाभास नहीं हो जाता है। तुच्छतापूर्ण दोषोंसे किसीका तिरस्कार हमें नहीं करना है।

कृतभीजनकं तद्धि नािकयादार्शिनो यथा। क्विचित्था न धूमादिरग्न्यादिज्ञानकारणं ॥ ३५॥ वन्ह्यादिष्ठद्धिकारित्वं स्वयंसिद्धस्य सिद्धता। धूमादेः साधनस्येतित्सद्धौ वन्ह्यादिधीरिति ॥ ३६॥ यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्यकृतेपि हि साधने। कृतधीजनकत्वेस्य सिद्धतायां कृतत्वधीः॥ ३७॥ ततोनैकांतिको हेतुरेष वाच्यः परीक्षकैः। कार्यत्वार्थिकयाकृत्वप्रमुखोऽनेन वार्णितः॥ ३८॥

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र आदि स्वम्बप काचित् जगत्में अक्रियादर्शी पुरुष के '' किया गया '' इस बुद्धिका जनकपना नहीं है, उसी प्रकार धूम आदिक हेत भी अग्नि आदि साध्योंकी ज्ञातिके कारण नहीं हो सकेंगे । अर्थात्—नवीन कुएँ, कोठियां, महल आहि कोंको बनता हुआ देख कर साधारण मनुष्योके भी " ये किये गये है " यह बुद्धि उपज जाती है । उसी प्रकार जीर्ण कुए, गृहों के खंडहर, पुराने मंदिर, मृर्तिया, घडे, इन्टे, आदिमें भी '' ये किसी न किसी करके बनाये गये हैं '' यह वुद्धि उपज जाती है। भलें ही आधुनिक पुरुषोने हजार वर्ष पिंडिले बने हुये पुराने खण्डहरोंके बननेकी कियाको आंखोंसे देखा नहीं है। किन्तु पृथियी, सूर्य, चंद्रमा आदिमें किसी भी अक्रिया दर्शाको " ये बनाये गये हैं " ऐसी बुद्धि नहीं होती है। अतः हेतु अभिद्ध है। आचार्य समझाते है कि यों थोडासा अंतर तिस प्रकार पक्ष और द्रष्टांतमें पडजानेसे धम आदि भी अग्निका अनुमान नहीं करा सकेंगे । असिद्ध हेलाभासको उठाने वाले दूसरा कटाक्ष यों करते हैं कि जिस प्रकार भूम आदि हेतुओंको अप्नि करके स्वयं निर्मितपना सिद्ध होजाय तब तो वन्हि आदिकी बुद्धि कर देना होकर सिद्धता आने और धूम आदिकी सिद्धता होजानेपर नन्हि आदिकी बुद्धि कराई जा सके । यों जिस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रसिद्ध हेतुमें दिया जासकता है, उसी प्रकार प्रकरण प्रमा सन्तिवेशविशिष्टल हेतुमें भी परस्पराश्रय दोष दिया जा सकता है कि इस हेतुके द्वारा सूर्य, प्रिथेवी आदिमें " किये गये हैं " इस बुद्धिका जनकपना सिद्ध होय तब तो सूर्य आदिमें कृतपनेकी बिद्ध होय और सूर्य आदिमें किया गयापन सिद्ध होय तब '' किये गये हैं '' इस बुद्धिका उत्पादक पना प्रसिद्ध होसके । अर्थात्—सिनेवेशाविशिष्टत्व हेतुमें जैसा अन्योन्याश्रय दोष उठाया जाता है वैसा धम आदि प्रसिद्ध हेतुओंमें भी अन्योन्याश्रय जमाया जा सकता है। तिस कारणसे परीक्षक विद्वानों करके यह " सिन्नवेशिविशिष्टल " हेतु अनैकातिक हेलाभास ही कहना चाहिये। केवल व्यभिचार दोष करके ही इस हेतुकी निदा करना थोडा नहीं है। इस सिनिवेशिविशिष्टल हेतूका कथन कर देनेसे वैदेषिकोंके कार्यत्व हेतु, अर्थाकयाकारित्व हेतु, स्थित्वाप्रदृत्ति हेतु, अचेतनत्व हेतु, विनाशित्व हेतु, आदिका भी वर्णन कर दिया समझ छेना चाहिये। अर्थात्-कार्यत्वादि हेतु भी ईम्बरको जगत्का कत्तीपन साधनमें ईश्वर देह करके व्यभिचार दांपनान् है। इनमें भी उक्त रीन्या निर्वेष्ठ असिद्ध दोषको नहीं उठाकर पुष्ट व्याभन्नार दोषको रखियेगा ।

यथैव हि सिन्निविशिष्टत्वादिति हेतुर्नासिद्धः शक्यो वक्तुमिष्टहेतुनामप्यसिद्धत्वप्रसंगात्। किं तिहें १ परीक्षकरिनेकांतिको वाच्यस्तथा कार्यत्वादचेतनोपादानत्वादर्थिकियाकारित्वात् स्थित्वाप्रकृतः, इत्येवमादिरपीश्वरदेहंनानैकांतिक एव सर्वथा विश्वेषाभावात् । अपि च

कारण कि जिस हो प्रकार " सिन्नेशियिशिष्टत्वात " यह हेत असिद्ध हेताभास नहीं कहा जा सकता है. क्योंकि यों अन्ट. सन्ट. दोष लगादेनेपर तो धूम आदि इष्ट हेतुओंको भी असिद्ध हेलाभास होजानेका प्रसंग आजावेगा, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। तो फिर इस बैरेषिकोंके हेतमें क्या दोष लगाया जाय ? इसका उत्तर यही है कि परीक्षकों करके यह हेत अनैकांतिक हैत्वाभास कह कर ठहरा दिया जाय. तिस ही प्रकार कार्यल, अचेतनोपादानल, अर्थाकिया-कारित्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, इत्यादि इस प्रकारके अन्यहेतु भी ईश्वरके शरीर करके अनैकान्तिक हेत्वाभास ही हैं । क्योंकि सन्निवेशविशिष्टत्वसे कार्यत्वादि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है । अर्थात्— वैशोषिकोंने अपने कर्तृत्ववादको पृष्ट करनेके छिये विशेष स्थलोंपर यों कहा है कि " क्षित्यङकुरादिकं कर्त् जन्यं कार्यत्वात घटनत " जो जो कार्य होते हैं, वे बुद्धिमान्से जन्य हैं, जैसे कि घडा है । इस ही प्रकार जिन कार्योंके अचेतन उपादान कारण हैं । उनकी ठीक ठीक व्यवस्था जमानेके ढिये चेतन कर्त्ताकी आवश्यकता है। जो पदार्थ अर्थिकयाओंको कर रहे हैं. ये चेतनसे अधिष्ठित होकर ही नियत कार्योंको कर सकते हैं। जो कारण ठहर ठहर कर कभी कुछ और कभी कुछ कार्योंको करते हैं, वे चेतन द्वारा प्रेरित हो रहे हैं। जैसे कि कभी हथोडा सोनेको कूटता है, कभी केंची पत्तरको काटती है, कभी पंत्री सोनेको खींच रही है, इन ठहर ठहर कर कार्योंके प्रवर्तनेमें सुना-रका अस्तित्व आवश्यक है। इसी प्रकार कपड़ा बनते समय ठहर ठहर कर अनेक कारणोकी प्रवृत्ति करानेमें कोळी बुद्धिमान कर्ता है। तथा रूपादिमान या अचेतन पदार्थ भी चेतन कर्ता द्वारा कार्योंका सम्पादन कर सकते हैं। इत्यादि उनके सभी हेत व्यभिचार दोपयक्त हैं। और एक बात यह भी है. उसको सनो-

स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोनुवर्ण्यते । कैश्चित्पक्षीकृतेस्तेषामधीमद्भेतुतास्थितैः ॥ ३९ ॥

किन्ही विद्वानों करके इस सिनवेशियिशियत हेतुका खानें, कूपजल, वायु, विद्व, वनस्पित, इन स्थावर और सूर्य, समुद्र, आदि करके व्यभिचार प्राप्त हो जानेका पीछे वर्णन किया गया है। जो कि वे,स्थावर आदिक पदार्थ, नैयायिकोंके यहां पक्षकीटिमें अन्तः प्रविष्ट किये जा चुके हैं। किन्तु किसी सर्वज्ञ, अशरीर, बुद्धिमान्को, उनका निभित्तकारणपना व्यवस्थित नहीं हो सका है। अर्थात्—उपवनकी वनस्पतियोंको कोई बालकोंसी बुद्धिको धारनेवाला पंडित भलें ही माली करके

निर्माण की गयी कह देवे, चूल्हेकी आगकी रसोइयाकी बनायी हुई कह देवे, नलके जलको पुरुषके प्रयत्नसे उपजा हुआ मान ले, बीजनाकी वायुको बुद्धिमान् जीव करके बनाई गई अभीष्ठ कर ले, खेतकी मिट्टीको किसानके व्यापारसे बनी हुई स्वीकार कर लेवे, किन्तु वह बुद्धिमान् वनकी वनस्पतियों या खानों, नदां जलों, दावानल, आंधी, सूर्य, आदि पदार्थोंको बुद्धिमान् करके बनाये हुये नहीं मान सकता है। यदि कोई साहसी अन्य श्रद्धावान् उन स्थावर आदिको मी शरीर, पर्वत, पृथिवी, आदिके समान पक्षकोटिमें डालकर स्थावर, सूर्य, आदिका निमित्तकारण ईक्तरको मान बैठे तब तो यों कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकेगा। ''धूमवान् वन्हेः'' यहां अंगार या अयोगोलक इन व्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें गिना जा सकता है। जलते हुये अंगार या लोहगोला अथवा कोयलेको वाममें रखकर कुछ दूरसे देखो दूसरे प्रकारका विलक्षण धूआ निकलता हुआ दीखता है। यों कहनेवालेका कोई मुख टेडा नहीं हो जाता है। जिस पुरुष या खीके निमित्तसे किसी खी या पुरुषको व्यभिचार दोष लगनेका प्रसंग आया है, निर्लज्ज पुरुष उन निकृष्ट खीपुरुषोंको भी स्वलीपक्ष या स्वपतिपक्षमें डाल लेवें, एतावता अपयश, राजदण्ड, भर्त्सना, पापसंचय, नरकगमनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है। अतः नैयायिकोंके हेतुमें स्थावर आदिकोंकरके भी व्यभिचार दोष लग गया, कोई खटका नहीं है।

कथं पुनः स्थावरादीनामबुद्धिमत्कारणकत्वस्थितिर्यतस्तैरनैकांतिकत्वं कार्यत्वादिहेतूना-मुद्राच्यत इत्यावेदयति ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन स्थावर आदि पदार्थोंका निमित्तकारण कोई विशेष बुद्धिमान् पुरुष व्यवस्थित नहीं है, यह आपने फिर किस प्रकार निर्णीत कर लिया है ? जिससे कि कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओंका उन स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोष उठाया जा रहा है ? बताओ । ऐसी निर्णेतुमिच्छा होनेपर प्रन्थकार बडी प्रसन्नताके साथ उस जिज्ञासुको सन्मुख निवेदन कर देते हैं ।

दृष्टक्षित्यादिहेतूनामन्वयव्यतिरेकतः । दृश्यते स्थावरादीनां सर्वगत्वेन बेधसः ॥ ४० ॥ न देशे व्यतिरेकोस्ति क्षितावस्य सदा स्थितेः । सर्वगस्यान्वयस्त्वेको न तज्जन्यत्वसाधनः ॥ ४१ ॥

साधारण प्राणियोंके भी दृष्टिगोचर हो रहे पृथिवी, जल, खेत, बीज, ऋतु, योग्यता, सहकारी-समवधान, आदि हेतुओंके अन्वय, व्यतिरेक्षसे स्थावर आदिकोंका भाव या अभाव देखा जा रहा है। ईस्वरके साथ इनका अन्वय, व्यतिरेक, नहीं देखा जाता है। क्योंकि तुम वैशेषिकोंका गढा गया जगद्विधाता ईश्वर सर्वव्यापक माना गया है। इस कारण किसी भी देशमें उसका व्यतिरंक नहीं

पाया जा सकता है। जिस देशमें ईस्ट्रर नहीं बहां स्थावर आदिक कर्म नहीं है, इस व्यतिरेकको घटानेके छिये तुम्हारे पास कोई स्थल शेष नहीं है। तुम्हारा माना हुआ ईस्ट्रर सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। तथा पृथिवीमें इस नित्य ईस्ट्ररकी सर्वदा स्थिति बनी रहनेसे यह कालव्यतिरेक भी नहीं बन सकता है कि जब जब ईस्ट्रर नहीं तब तब स्थावर आदि कार्य नहीं। हां, सर्वत्रव्यापक हो रहे ईस्ट्ररका केवल एक अन्वय ही तो स्थावर आदिकोंको उस ईस्ट्रर करके जन्यपनकी सिद्धि करानेवाला नहीं है।

क्षित्युदकवीजादितया कारणान्वयव्यतिरेकात् स्थावरादीनां भाव्यभावकयोरूपछंभाक्ष बुद्धिमत्कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानं । न हि बुद्धिमतो वेधसः कविद्देशे व्यतिरेकोस्ति सर्व-गतत्वात्, नापि काले नित्यत्वात् । तथा च नान्वयो निश्चितः संभवति तद्भावाविर्भावदर्शन-मात्रान्वयो वा स न तज्जन्यत्वं साधयति करभादेभीवे धूमाविर्भावदर्शनात्तज्जन्यत्वसिद्धिप्रसंगात् ।

भूमि. जल. बीज. वायु आदि स्वरूपकरके कारणोंके अन्वय और व्यतिरेक्से स्थावर आदि कार्योंके उत्पाद, उत्पादकभावका उपलंभ होरहा है। अतः किसी बुद्धिमान् कारणके साथ स्थावर आदि-कोंका अन्वयव्यतिरेक अनुसार, विधिविधान नहीं देखा गया है। पौराणिकोंके बुद्धिमान् स्रष्टाका किसी भी देशमें व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह सर्वगत माना गया है तथा किसी कालमें भी ईस्रका व्यतिरेक नहीं मिलता है। क्योंकि ईश्वर अनादि अनंत कालतक नित्य मान लिया है और तिस प्रकार कोई भी देशव्यतिरेक या काळव्यतिरेक नहीं बननेपर अन्वयका निश्चय हो चुकना भी नहीं सम्भवता है । क्योंकि हेतुका प्राण विपक्षक्याबुत्तिस्वरूप व्यतिरेक है । व्यतिरेक नहीं होनेपर अन्वय हो रहा भी आनिश्चित है। एक बात यह भी है कि व्यापक नित्य हो रहे उस विधाताका सद्भाव होनेपर स्थावर आदिकोंका आविर्भाव होना देखने मात्रसे हो रहा वह अन्वय तो स्थावर आदिकोंके उस ईश्वरसे जन्यपनको नहीं साध डालता है। यों तो ऊंटका बचा, कण्डाओंको दोनेवाले गधा आदि तटस्थ पदार्थीका सद्भाव होनेपर धुएंका आविर्माव देखा जाता है । इतनेसे ही धूमको उस ऊंट आदिसे जन्यपनकी सिद्धि होजानेका प्रसंग आजावेगा। प्रत्येक कार्य होनेके निकट देशमें अनेक उदासीन पदार्थ पढे रहते हैं । एतावता उनमें '' कार्यकारणभाव '' का प्रयोजक अन्वय बन रहा नहीं माना जाता है। अन्यथा तुम्हारे यहां व्यापक मानी जारही अन्य जीवात्माओं या आकाशके साथ भी सुलभतया अन्वय बन जानेसे ईश्वरके समान अन्य आत्मायें भी संपूर्ण कार्योंका निमित्तकारण बन बैठेंगे, (बैठेंगी) जो कि हम, तम, दोनोंको इप्ट नहीं है।

कथमदृष्टस्य स्थावरादिनिमित्तत्वमित्याइ ।

यहां कोई पूंछता है कि तब तो आप जैन यह बताओ कि स्थावरजीवोंका पुण्य, पाप, या भोक्ताजीवोंका पुण्य, पाप, भला उन स्थावर आदिकोंका निमित्तकारण कैसे होजाता है ? पुण्य, पापके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वय और व्यतिरेक तुम कैसे बना सकोगे ? समझाओ ।

नश्वरत्वाददृष्टस्यासर्वगत्वाच सिध्चति । व्यतिरेकस्तत्र तस्यः (स्यात्र) स्थावरादिनिमित्तता ॥ ४२॥

नाशाशील (अनित्य) होनेसे और अन्यापक होनेसे अदृष्टके साथ उन स्थावर आदिकोंमें कालन्यतिरेक या देशन्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। अतः उस अदृष्टको स्थावर आदि कृतक पदा-र्थीका निमित्तकारणपना सघ जाता है। कोई अनुपपत्ति नहीं है।

न ग्रदृष्टं धर्माधर्मसंज्ञितं क्रूटस्थं सर्वगतं वा महेश्वरविष्यते यतस्तस्य देशकाल-व्यविरेको न सिध्येत्। क्षित्यादिदृष्टसामग्रीसन्द्रावेपि कचित्स्थावरादीनामनुपलंभाददृष्टकारणत्वं सिध्यत्येव। कथमेवं तदृत्यत्तो कालादेईतुत्वमिति सर्वगतस्य व्यतिरेकासिद्धेरीश्वरवदिति वदंतं प्रत्याह।

धर्म और अधर्म इस संज्ञाको प्राप्त हो रहे अदृष्टको हम जैन तुम्हारे महेश्वरके समान कूटस्थ नित्म अथवा सर्वत्र प्राप्त हो रहा व्यापक नहीं अभीष्ठ करते हैं, जिससे कि उस अदृष्टका देशव्यति-रेक या कालब्यतिरेक नहीं सिद्ध हो सके । साधारण जीवोंद्वारा कारणपने करके देखी जा रही प्रथिवी, बीज, आदि सामग्रीका सद्भाव होनेपर भी किसी देशमें या किसी समय स्थावर आदि कार्योंकी उत्पात्ति हो रही नहीं देखी जाती है । अतः अदृष्टको कार्योका कारणपना सिद्ध हो जाता है । अर्थात्—खेतीमें वाणिग्यकाभमें, बढिया नीरोगतामें पुण्यको और अतिवृष्टि अनावृष्टि, आर्थिकहानिमें, सरोगतामें, दारिद्यमें, नाव दूब जाना, रेलगाडी 😹 जाना, वायुयानघात, आदि कार्योमें दृष्टकारणोंका व्यभिचार दीख रहा होनेसे पापरूप अदृष्टको कारणपना स्पष्ट शित्या प्रसिद्ध हो रहा है । जहां जहां या जब जब पुण्य, पाप हैं, तहां, तहां तब तब स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। और जहां जहां या जब जब अदृष्ट नहीं वहां यहां या तब तब लौकिक कार्य नहीं उपज पाते हैं। यह अन्त्रय व्यातिरेक प्रसिद्ध है। यहां कोई पूछता हैं कि अदृष्ट तो अध्यापक, अनित्य है । किन्तु काल, आकाश, द्रव्य तो नित्य और व्यापक हैं । अतः इस प्रकार व्यतिरेकको साधनेपर यदि कार्य कारणभाव माना जायगा तो उन स्थावर आदिकोंकी उप्पत्तिमें सर्वगत हो रहे काल आदिको भला निमित्तकारणपना किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि ईश्वरके समान नित्य, व्यापक, काल, आदिका देशन्यतिरेक या कालन्यतिरेक असिद्ध है, इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानवचनको अप्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं । उसको सुनो ।

> कालादिपर्ययस्यापि नित्यत्वाद्यप्रसिद्धितः । सर्वथा कार्यनिष्पत्तौ हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ ४३॥

काल, आकारा, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंको भी नित्यपन, व्यापकपन, आदिकी अप्रसिद्धि होनेसे कार्योंके करनेमें निमित्तकारणपना सभी प्रकारोंसे निरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—अर्थ क्रियाओको करनेवालीं अनित्य पर्यायोंसे कथांचिद् अभिन हो रहे काल आदि द्रव्योंको सम्पूर्ण कार्योके प्रति निमित्तपना अव्याहत है।

न हि कालाकाश्वादिपर्यायाणां नित्यत्वं सर्वगतत्वं वा मिसद्धं कालाणूनामेव द्रव्यर्था-देशाश्वित्यत्वोपगमात् । निःपर्यायस्य नित्यस्य सर्वगतस्य च कालस्य परोपगतस्याप्रमाणकत्वात् , सर्वगतस्य नित्यस्य चाकाश्चद्रव्यस्यैव व्यवस्थापनाश्चिःपर्यायस्य तस्यापि ब्राहकप्रमाणाभावात् । धर्मास्तिकायस्याधर्मास्तिकायस्य च लांकव्यापिनापि द्रव्यत एव नित्यत्वोपगमात् पर्यायतोऽसर्व-गतत्वाद्दनित्यत्वाच । ततो युक्तं स्वकार्योत्यत्तौ निमित्तत्वं सर्वथा विरोधाभावात् ।

. कारु. आकारा, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंका सर्वथा नित्यपना अथवा सर्वगतपना प्रसिद्ध नहीं है। जैनसिद्धान्त अनुसार कालाणुओंको ही द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्यपना स्वीकार किया गया है। दूसरे विद्वान् वैदोषिकोंने कालको पर्यापरिहत और नित्य, तथा सर्वगत जो स्वीकार किया है. बैसा कालद्रस्यको सिद्ध करनेमें उनके यहां कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रवर्तता है। अतः पर्यायरहित नित्य, व्यापक कालद्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकनेके कारण वह कालद्रव्य बिचारे पौराणिकोंके नित्य, व्यापक, ईश्वरका दृष्टान्त या कटाक्षस्थल नहीं बन सकता है। हां, जिनागममें सर्वगत और नित्य हो रहे आकाशद्वव्यकी ही तो व्यवस्था कराई गई है। किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य स्वक्षीय द्रव्यत्वगुण के अनुसार प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोको धारण करते हैं। कोई द्रव्य कूटस्थानित्य नहीं है । पर्यायोंसे रहित हो रहे सर्वथा नित्य उस आकाशका भी प्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः अनिन्यपर्यायोंके साथ तादात्म्य सम्बन्धका अनुभव कर रहा कथंचिद् अनित्य आकाश ही यावत् कार्योका निमित्त है। इस कारण सर्वथा नित्य और सर्वथा व्यापक हो रहे ईरवरका उपमान कथंचित् अनित्य आकाश भला कैसे हो सकता है ? यानी नहीं हो सकता है । अर्थाच-जब कि अखण्डित अनेक देशीय आकाश द्रव्यके देशांशरूप प्रदेश कल्पित कर लिये जाते हैं । मुख, कूप, गृह, गुदस्थान, गुद्धभाजन, अशुद्धभाजन, वे सब रीतें स्थानस्वरूप हो रहे आकाशप्रदेश एक ही नहीं है । स्वर्गप्रदेश, नरक, आकाश, जम्बृद्धीप, स्वयम्भूरण, त्रसनाली, स्थावर लोक, ये सब आकाशके न्यारे न्यारे प्रदेशोंपर व्यवस्थित हैं। जो आकाश सिद्ध परमात्माओंको अवगाह दे रहा है, वह आकाश नारिकयोंको स्थान नहीं दे सकता है। आकाराके प्रदेशोंमें गति नहीं है। मालना, पंजाब, बंगाल, यूरोप, अमेरिका, आष्ट्रिया, आधेलिया, आदि आकाराकी पोलें न्यारी न्यारी हैं। जहां प्रभूत जल या बलवान् नकुल प्रमुनतापूर्वक बैठे हुये हैं, वहां स्वल्प अग्नि या सर्पको अवकाश नहीं मिल पाता है । यद्यपि अग्नि, जल या नकुछ, सर्प आदिमें निजकी गांठके विरोध आत्मक परिणाम विशेष हैं, फिर भी '' यावन्ति कार्याणि

ताबन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः'' इस नियम अनुसार अवगाह देनेमें उदासीन अप्रेरक कारण हो रहे आकाशमें भी वैसी बैसी न्यारी न्यारी परिणातियां माननी पडती है। एक एक वस्तमें अनन्ते स्वभाव हैं। अत: अन्यापक देशांशोंसे अभिन हो रहे व्यापक आकाशद्वयमें कयंचित असर्वगतपना भी समझ छिया जाय । तथा चौदह राजू ऊंचे या तीनसी तेतालीस ३४३ घन राजू प्रमाण परे . लोकमें न्याप रहे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका द्रव्यरूपते ही नित्यपना स्वीकार किया गया है। व्यर्थायोकी अपेक्षा वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों असर्वगत और अनित्य हैं। अर्थात —द्रव्यत्व गुणके अनुसार प्रतिक्षण नृतन पर्यायोंको धार रहे धर्म, अधर्म, इन्यके भले ही सहशपिरणाम होते रहें. किन्त अनित्यपर्यायोंसे अभिन्न हो रहे धर्म, अधर्म द्रव्य सर्वया नित्य नहीं कहे जाते हैं। कोई भी द्रव्य कदाचित् भी पर्यायोंसे रीता नहीं है। सम्पूर्ण पदार्थ द्रव्यक्त्पसे नित्य और पर्यायक्त्पसे अनित्य हो रहे कथंचित नित्यानित्यात्मक हैं। घोडा, मछली, पथिक, विद्यार्थी, आदिकी उन उनके नियत देशोंमें गति करानेवाली धर्मद्रव्य और स्थिति करानेवाली अधर्मद्रव्य अपनी न्यारी न्यारी प्रयोजक. अन्यापक पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहीं अन्यापक भी है । लोकाकाश स्वयं एक लोटासा अन्या-पक पदार्थ है । उसमें मर रहे धर्म, अधर्म, द्रव्य दोनों वैसे ही अन्यापक है । तिस कारणसे काल, आकाश, धर्म, अधर्म, इन चारों पदार्थोंको अपने, अपने कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें निमित्तकारणपना युक्तिपूर्ण सभ जाता है। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं आता है। हा, सर्वथा नित्य या व्यापक हो रहा तुम्हारा ईस्वर विचारा स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारण नहीं बन सकता है।

यद्यवं महेश्वरगुणस्य सिग्धक्षालक्षणस्यानित्यत्वादसर्वगतत्वात् च तिभामित्तत्वं स्थाव-रादीनां युक्तं व्यतिरेकप्रसिद्धरिति पराकृतमनृद्य दृषयित ।

ईश्वरवादी कह रहे हैं कि यदि इस प्रकार आप जैन अनित्य और अत्यापक पदार्थको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारण माननेमें विशेष अभिरुचि रखते हैं तो महेश्वरके सृजनेकी इच्छा स्वरूप गुणको अनित्यपन और अव्यापकपन होनेसे उस गुणको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारणपना उचित बैठ जाता है। ईश्वरकी अव्यापक इच्छाके साथ कार्योका देशव्यतिरेक और अनित्य इच्छाके साथ कार्योका काळ्यतिरेक भी प्रसिद्ध होजाता है इस प्रकार दूसरे पौराणिकोंके चेष्टितका प्रथम अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य दूषणप्रयोग करते हैं।

महेश्वरसिसृक्षाया जगजन्मेति केचन । तस्याः शाश्वततापायादिवभुत्वाददृष्टवत् ॥ ४४ ॥ तद्युक्तं महेशस्य सिसृक्षांतरतो विना । सिसृक्षोत्पादने हेतोस्तथेव व्यभिचारतः ॥ ४५ ॥

सिमृक्षान्तरतस्तस्याः प्रस्तावनवस्थितेः। स्थावरादिसमुदुभृतिर्न स्यात्कल्पशतैरपि ॥ ४६ ॥

उस ईश्वरकी सृजनेके लिये हुयी इच्छाको नित्यपनका अभाव होजानेसे और अन्यापक होजानेसे अदृष्टके समान महेश्वरकी इच्छासे जगत्वर्ती यावत् कार्योक्षी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहतं हैं कि उन पण्डितोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि महेश्वरकी इच्छा जब अनित्य है तो दूसरी सिस्पृक्षाके विना ही उस सिस्प्रक्षाकी उत्पत्ति माननेपर तिस ही प्रकार हेतुका न्यभिचारदोष लग जायगा। अर्थात्—सिस्प्रक्षामें कार्यत्वहेतु ठहर गया, किन्तु दूसरी सिस्प्रक्षाको उसका निमित्तकारणपना नहीं प्राप्त हुआ। हा, यदि ईश्वरकी अनित्य सिस्प्रक्षाका जन्म दूसरी सिस्प्रक्षासे माना जायगा, और उस दूसरी अनित्य सिस्प्रक्षाके प्रभाव करनेमें तीसरी सिस्प्रक्षाको हेत माना जायगा, यो चौथीमे पांचवीं लष्टुमिच्छा, और पांचवींमे छठी, आदि सिस्प्रक्षाओंको कारण मानते मानते अनक्स्था होजायगी। अनेक सिस्प्रक्षाओंको उत्पन्न करनेमें ही ईश्वरकी सिस्प्रक्षाओंका बल नियट जायगा। वो सैकडों कल्प कालों करके भी स्थावर आदि कार्योकी समुचित उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

तद्भोक्तृशाण्यदृष्टस्य सामर्थ्यात्सा भवस्य चेत् । प्रसृतिः स्थावरादीनां तस्मादन्वयनात्र किम् ॥ ४७ ॥ स्वातंत्र्येण तदुद्भूतौ सर्वदोपरमच्युतेः । सर्वत्र सर्वकार्याणां जन्म केन निवार्यते ॥ ४८ ॥

उन स्थावर आदि कार्योंका भोग करनेवाले प्राणियोंके अदृष्ट (पुण्यपापेस) की सामध्यंसे वह ईस्त्ररकी इच्छा अनादि कालसे उपज रही यदि मानी जायगी तब तो अदृष्टके होनेपर स्थावर आदिकोंका उपजना यों अन्वयक्षे बन जानेसे उस अदृष्टसे ही साक्षात् स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति ही क्यों नहीं मान ली जावे। परम्परासे अदृष्टको कारण माननेकी अपेक्षा पुण्य, पापको, अव्यवहित कारण मानना समुचित है। अदृष्टकी अधीनताके विना ही यदि स्वतन्त्रता करके उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो ईस्त्ररकी सिसृक्षायों सर्वदा उपजनी रहेगी। कद्माचित् भी उन इच्छाओंकी उत्पत्तिका विराम नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें सभी स्थलेंपर सम्पूर्ण कार्योंका उपजना भला किस करके रोका जा सकता है ! अर्थात्—विना कारण अपनी स्वतन्त्रतासे उपज रहे कार्योंमें नियत देश या नियत कालकी सीमा नहीं रह पाती है। सभी कार्य अटोक उपजते ही रहेंगे।

व्याख्यातात्रेश्वरेणैव नित्या साध्यातिरेकिणी । कविद्यवस्थितान्यत्र न स्यादन्वयभागपि ॥ ४९॥

इस प्रकरणमें ईरवर करके ही वह नित्य इच्छा भी व्याख्यान कर दी गयी समझ ठेनी चाहिये। कारण कि वह इच्छा प्रकृतसाध्यका अतिक्रमण करनेवाळी है। अतः अन्वयको धार रही भी वह इच्छा कहीं भो अन्य स्थळोंपर व्यतिरेकको धारनेवाळी नहीं होनेसे व्यवस्थित नहीं समझी जायगी। भावार्थ—व्यापक नित्य ईरवरका जैसे स्थावर आदि कार्योंके ब्रति अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं घटता है। उसी प्रकार साधे जा रहे जन्य कार्योंसे अतिरिक्त स्थळोंपर भी पायी जा रही नित्य सिस्क्षा कोरे अन्वयसे ही कहीं कारणपने करके व्यवस्थित नहीं हो सकती है।

नन्वेषं काळादिपर्ययस्य स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवतः प्रादुर्भावे यद्यपरः काळादिपर्यायो न निमित्तं तद्वदन्यकार्योत्पत्ताविष काळादिपर्यायो निमित्तं माभूत्, अथ निमित्तं तदुत्पत्तावप्यपरो निमित्तमित्यनवस्था स्थात् काळादिपर्यायस्य कारणमन्तरणोत्पत्तौ देशकाळादिनियमानुपपत्तेः सर्वत्र सर्वदा भावात्सर्वकार्याणामनुपरतोत्पत्तिन्नसंगः। तस्य नित्यत्वे काळादिद्रव्यवद्यतिरेकासिद्धिरन्वयमात्रसिद्धाविष सर्वदोत्पत्तिक्तंषानिमित्तत्वमसंगः सिद्धक्षावत्त्स्थावराद्युत्पत्ताविति केचित्, तेषि न तत्त्वक्षाः। स्याद्वादिनां स्वकार्योत्पत्तिनिमित्तस्य काळादिपर्ययस्य निमित्तत्वसिद्धस्तदुत्पत्ताविषे तत्पूर्वकाळादिपर्यायस्य निमित्तत्वमित्यनादित्वा-क्षिमित्तनेमित्तिकभावस्य तत्पर्यायाणां वीजांकुरादिवदनवस्थानवतारात्। कथिचित्स्वातन्त्र्येणो-त्ययमानस्यापे सर्वत्र सर्वदा च भावानुत्पत्तेः नित्यत्वानभ्युपगमाव ।

यहां कोई कर्तृवादी पण्डित अपने पक्षका अवधारण करनेके छिये आक्षेप उठा रहे हैं कि इस प्रकार जैनसिद्रांत अनुसार अभीष्ट होरहे कार्यकारणभावमें भी गोटाला मच जायगा, जैनोंने काल, आकाश, अदृष्ट, आदि पर्यायोंको अपने अपने कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण माना है। जैनोंने जैसे हमारी ईश्वरासिस्था पर कुचाय उठाया है हम भी उनके यहां माने गये कारणों पर आक्षेप चला सकते हैं कि अपने कार्योंके उपजानेमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर रहे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें यदि दूसरे काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं हैं, तब तो उन्हीं काल आदि पर्यायोंके समान अन्य कार्योंकी उत्पत्तिमें भी काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं होवें। अब यदि काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें प्रा काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी कारण मानते मानते भानते भानते अनवस्था दोष होगा। जिज्ञासिक शान्त होजाने पर ज्ञापकपक्षकी अनवस्था कदाचित् कृपा करती हुयी निश्त होसक्रती है किन्तु कारक पक्षकी निष्ठुर अनवस्था एक बार गले लगी, पुन: कमी छूटती नहीं है। यदि जैन महाशय काल आदि पर्यायोंकी कारणके विना ही उत्पत्ति मान बैठेंगे, तब

तो देश, काल, आदिका नियम नहीं बन सकेगा, नियत देश, नियत कालवाले कारणोंके विना ही कार्योंकी उत्पत्ति माननेपर सभी स्थलोंपर सदा ही काल आदि पर्यायोंका सद्भाव पाया जायगा और ऐसा होजानेसे संपूर्ण कार्योकी अविराम उत्पत्ति होती रहेगी । अर्थात कार्यके होजानेपर भी पनः पुनः वह लाखी, करोडीं, बार उपजता रहेगा, उपजनेसे विराम (छूटी) नहीं मिल सकेगा, इस प्रकार अतिप्रसंग जैनोंके ऊपर आता है. जैसा कि अडताडीसवे वार्तिकमें उन्होंने हमारे ऊपर कहा था । यदि जैनजन निश्चयकाल द्रव्य आदिके समान उन ज्यवहार काल आदि पर्यायोंका नित्यपना मानोगे तो केवल अन्यय सिद्धि होचुकनेपर भी न्यतिरेककी सिद्धि तो कथमपि नहीं होसकेगी। तथा काल आदिकी नित्य पर्यायों द्वारा सदा ही उन कार्योंकी उत्पत्ति होती रहेगी। यो स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सिसक्षाको जैसे जैनोंने निमित्तकारण नहीं बनने दिया था. उसीके समान काल आदि पर्या-योंको भी निमित्तकारणपन नहीं डोसकनेका प्रसंग जैनोंके यहां प्राप्त हुआ । यहांतक कोई पण्डित कड रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि वे महाराय तत्त्वव्यवस्थाके ज्ञाता नहीं है क्योंकि अपने, अपने, कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्त होरहे काळ आदि पर्यायोंको निमित्तकारणपना सिद्ध होरहा है। उन काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी उससे पूर्ववर्ती काल आदि पर्यायोंको निमित्तपना था. उन पर्यायोंकी भी निमित्तकारण पूर्व, पूर्व कालकी कालादि पर्यायें थीं । इस प्रकार बीजांकुर, मुगीं अंडा, इव्य कर्म, भाव कर्म, आदिके समान उन पर्मायोंका पूर्वकालीन पर्यायोंके साथ होरहे निमित्तनैमित्तिक भावको अनादिपना है। इस कारण अनवस्था दोषका अवतार नहीं होपाता है। भावार्थ-कालाणुयें द्रव्य हैं. वे प्रतिक्षण परिणामोंको धारतीं हैं। जगतके संपूर्ण कार्योकी वर्तनामें काल निमित्तकारण है। अन्य कार्योमें कालपरमाणुओं के परिणमन जैसे निमित्त हैं उसी प्रकार इस समयके काल परिणामोंका निमित्त-कारण पूर्वसमयवर्ती कालपरिणाम हैं, और पूर्व समयकी काल पर्यायोंका निमित्तकारण उससे पहिलेक समयकी कालपर्यायें हैं, यों अनादिसे अनन्तकालतक प्रक्रम चल रहा है। घडियोंकी ठीक ठीक चाल को पहिली पहिली चडिया ठीक बताती चली आ रही हैं। पहिले पहिले बांटोंसे उत्तरोत्तरके बांट ठीक ठीक तोलकर परीक्षित कर लिये जाते हैं। देखिये, अन्य द्व्योंके परिणमन काल्द्रव्यके अधीन है। िकन्तु कालद्रव्यके उत्तरोत्तर समयवर्ती परिणमन पूर्व पूर्वकाल पर्यायोके अधीन है। आकाश द्रव्य अन्य अनन्तद्रव्योंको अवगाह देरहा स्वयंको भी अवगाह देता है। अधर्म द्रव्य निजका भी स्थापक है। यों कथंचित् स्वतंत्रताके उपज रहे भी प्रतिनियतकाल आदि पर्यायोंकी सर्वत्र और सर्वदा उत्पत्ति नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह भी है कि सर्वथा नित्यपना हमारे यहां स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात् – हम चाहे जीवदव्यकी पर्याय होय, चाहे काल, आकारा, आदि द्रव्यकी पर्याय होय, सम्पूर्ण पर्यायोंको नियत हो रहे निमित्त नैमित्तिक भावसे गुँथा हुआ मानते हैं। पूर्व समयकी पर्यायें उत्तरसमयवर्त्ती कार्योंको बनाती हैं। अतः महेश्वरकी सिस्क्षाका सादस्यकाल आदि पर्यायोंमें लागू नहीं हो पाता है वाल आदि पर्यायोंके निमित्तपनका मार्ग निदींव है।

नतु महेश्वरसिस्क्षापि ति स्थावरायुत्यको निमित्तभावमनुभवतीति पूर्वसिस्क्षातः सापि स्वपूर्वसिस्क्षातः इत्यनादित्वात् कार्यकारणभावस्य कथमनवस्थादोषणोपद्येत कथं वा वयेव हेतवो जैकांतिकाः स्युः ? न स्थावर्राादकार्यानुपरमः स्वातंत्र्येणानुत्पादात्। नाव्यतिरेकां नित्यत्वानभ्युपगमात् सिस्क्षायाः, तिन्नत्यत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिमसंगात्। सर्वदा सहकारिणामभाव्यक्ष तत्मसंग इति चेक्, तेषामिष महेश्वरसिस्क्षया तज्जन्मत्वे सर्वदा सद्भावापत्तेत्तदनायक्तजन्मकृत्तेरेव हेतृनां व्याभिचारात् । तत्सहकारिणोपि स्वात्पत्तिहेतृनामभावात् न सर्वदात्पद्यंत इति चेक्, तेषामिष ईश्वरसिस्क्षायास्तज्जन्मत्वेतरयोक्ष्कदोषानुषंगात्। तत्सहकारिणां नित्यत्वे स एव सर्वदा कार्योत्पत्तिमसंगः सिस्क्षायाः सहकारिणां च नित्यत्वादनित्येव सा युक्ता। " ब्राक्ष्मेण मानेन वर्षश्वतांते प्राणिनां भोगभूतयं भगवतो महेश्वरस्य चतुर्दश्वभुवनाधिपते सिस्क्षोत्पद्यत्त " इति वचनाच न नित्यासौ तथात्पत्तिविरोधादिति केचित्।

पनः वैशोषिक या पौराणिक अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि तब तो काल आदि पर्यायोंके समान महेश्वरकी सिस्टक्षा भी स्थावर आदि कार्यीकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर छेती है या अनुभव करती सन्ती यों वर्तमान कालकी सिसक्षा पूर्व कालकी सिसक्षासे उपजती जाती है और वह पूर्वकालकी सिस्हक्षा भी अपनेसे पूर्वकालकी सिस्हक्षासे उपन गयी थी, इस प्रकार कार्यकारणभावका अनादिपना होनेसे तुम्हारे समान हम वैशेषिकोंको भी अनवस्था पूर्णरूप अभीष्ट है. कोई क्षांति नहीं है । पुनः अनवस्थादोप करके हमारे ऊपर क्यों उपदव उठाया जा रहा है ? और इस सिसुक्षा करके ही हमारे कार्यत्व, सिनेवेशविशिष्टत्व, हेतुओंको किस प्रकार व्यभिचार दोषसे यक्त किया जा रहा है । अर्थात् — जन्य सिमृक्षाओं की अनादिधारा मान छेनेसे हम वैशेषिकों के उपर अनवस्था-दोषका ऊथम नहीं उठ पायेगा और हमारे हेतु व्यभिचारी भी नहीं हो सकेंगे। साथमें स्थावर, शरीर, आदि कार्योकी उत्पत्तिका विराम नहीं पड़ना दोप भी नहीं आता है। क्योंकि स्वतंत्रता करके स्थावर आदि कार्योका उत्पाद नहीं होता है । उपन रही सिसुक्षाके अधीन नियत देश और नियत कालमें स्थावर आदि कार्य उपनेंगे । कारणो के नहीं मिलनेसे वे सर्वदा उपनते ही नहीं रहेंगे तथा व्यतिरेक नहीं बनना दोष भी हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सिस्क्षाका नित्यपना हमने स्वीकार नहीं किया है। हा, यदि उस सिस्क्षाको नित्य माना जाता तब तो सदा कार्योकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग हो सकता था। अन्यथा नहीं। यदि हम वैशेषिकोंको कोई वंचक यो सरायता देना चाहे कि सिस्यक्षाको नित्य ही बने रहने दो, अकेटी नित्यसिस्यक्षा तो कार्यको नहीं बना देती है। अनेक सहकारी कारण भी चाहिये उन सहकारी कारणोका अभाव होनेसे सदा उन कार्योकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग नहीं आ पायेगा। उन गोमुख-व्याघोके प्रति हम वैशेषिक कहते हैं कि इस प्रकारकी सहायता ध्मको नहीं चाहिये। क्योंकि उन सहकारी कारणोंकी भी महेश्वरसिस्क्षा करके वह

उत्पत्ति मानी जायगी । ऐसी दशामें सर्वदा उन सहकारी कारणोंके सद्भावकी आपत्ति होती है । अतः नित्यसिसुक्षा और तदधीन सहकारी कारणोंका सद्भाव पाया जानेसे सर्वदा कार्यीकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग टल नहीं सकता है। यदि उन सहकारी कारणोंका जन्म उस सिस्रक्षाके अधीन नहीं मानोगे तब तो उन सहकारी कारणों करके हमारे कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष बन बैठेगा । यदि हमारे सहायक वे पण्डितजी क्षें कहें कि वे सहकारी कारण भी अपनी उत्पत्तिके हेतुओंका अभाव होनेसे सदा नहीं उपजते रहते हैं वैशेषिक कहते हैं कि यह भी नहीं कहना ! क्योंकि उन सहकारी कारणोके उत्पादक हेतुओंका भी ईश्वरकी सिसृक्षासे उपजना माना जावेगा है या ईरनरकी इच्छासे उनका उपजना नहीं माना जावेगा ? इन दोनों पक्षोंमें पूर्वोक्त दोषोंके आनेक प्रसंग होता है। अर्थात् —सहकारी कारणोंके उत्पादक हेत् यदि ईश्वरकी सिस्क्षासे उपजेंगे तो वे नित्य मिसक्षासे शीव उपजकर सहकारी कारणोको झट बना देंगे और सहकारी कारण सदा स्थावर भादि कार्योंको बनाते रहेंगे । हां, यदि उन सहकारी कारणोंके सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति यदि ईस्वरिसिसक्षा करके नहीं मानी जायगी तब तो सिन्नवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओं करके व्याभिचार बन बैठेगा । उन सहकारी कारणोंका निव्यपना माननेपर तो बहका बही सर्वदा कार्योंके उपजते रहनेका प्रसंग दोष आ पडता है। क्योंकि सिस्क्षा और सहकारी कारण नित्य होकर सदा वर्त रहे हैं । उक्त दोषोंको टालनेका समीचीन उपाय यही है कि वह ईरवरकी सिस्रक्षा अनित्य ही मान ली जाय । युक्तियोंसे ईरवरकी सिस्रक्षा अनित्य ही सिद्ध होती है। तथा हमारे शास्त्रोंमें भी इस प्रकार कथन किया है कि " ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण करके सी सी वर्षके अन्तमें प्राणियोंको भोगोंकी अनुभृति करानेके छिये चौदह भुवनके सर्व तंत्र स्वतंत्र प्रभु हो रहे भगवान् महेश्वरकी निसृक्षा उपजती है। " इस आगम वाक्यसे भी वह इच्छा नित्य नहीं मानी गयी है। अन्यया तिस प्रकार सी. सी वर्षमें इच्छाकी उत्पत्ति होनेका विरोध हो जायगा । अपने शास्त्रींसे ही विरोध पड जाय ऐसे वचनको हम कहना नहीं चाहते हैं । अर्थात्— " कृतं, त्रेता, द्वापरं, च कलिश्चेति चतुर्युगम् । प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने " विष्णु पुराणमें लिखा है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कालियुग ये चार युग एक हजार बार हो जांय तब ब्रह्मा का एक दिन और इसी प्रकार एक रात होती है। यों एक दिन रातकी गणना अनुसार सी वर्षोंको बना कर ब्रह्म की आयु सौ वर्षकी मानी गया है '' ब्रह्मणो वर्षशतमायः '' ब्रह्मा संबंधी सौ वर्षीके पश्चात् खंडप्रलय होजाता है । पश्चात् महेकारकी स्रष्टुमिच्छा उपज कर सृष्टिको रचती है मनस्मृतिमें ब्रह्माके एक दिनरातकी समाप्ति होनेपर सृष्टिप्रक्रिया मानी है। "दैनिकानां युगानां त सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्बेयं तावतीं रात्रिमेव च " ॥ १ ॥ तद्वै युगसहस्रांतं ब्राह्मं पुण्य-महर्विद् : , रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः । तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसप्तः प्रतिबुध्यते । प्रति-बुद्धश्व सृजिति मनः सद्सदात्मकम् ॥ ३ ॥ मनः सृष्टि विकुरुते चौषमानं सिसृक्षया । आकाशं

जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥ इत्यादि १ भूर्ह्णोक २ भुवर्ष्णोक ३ स्वर्ष्णाक ४ महर् कोक ५ जनलोक ६ तपोळोक ७ सत्यलोक ८ अतल ९ वितल १० सुतल ११ नितल १२ तला-तक १३ रसातल १४ पाताल इन चौदह मुवनोंका सर्वाधिकारी सम्राट् महेश्वर है। यहांतक बडी देरसे कोई पौराणिक या स्मार्त पण्डित कह रहे हैं।

तंत्रैकेषां दृषणं सिस्रक्षाया नित्यत्वाभावेषि दृष्टक्षित्यादिकारणसाकल्येषि स्थावरदीनां कदाचिदनुत्पत्तिप्रसंगः । कदाचित्तदभावसंभवात् तदंत्यसङ्कारिकारणसन्धिधानानन्तरमेव सिस्क्षोत्पत्तेस्तदभावासंभवं तस्याः सहकारिकारणमभवत्वपसंगः तदनन्तरभावनियमस्यान्यथा-नुपपत्तेः तेषां सहकारिणां सिस्रक्षामुत्पाद्यतां सिस्रक्षान्तरादृत्यत्तौ स्थावरादिवत् कदाचिदनुत्य-ित्तपसंगस्तस्य कदाचिदसािश्वधानादन्त्यकारणसंनिधानानन्तरमेव सिसक्षातरस्योत्पधिनियमात् तद्भसंगे तत्कारणप्रभवत्वपसंगस्तद्नंतरभाव्यनियमस्यान्यथानुपपत्तेः इत्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकपेतत् । सिस्रक्षांतरेणापेरितानामेव सहकारिणामुत्पत्ती तैरेव हेतूनामनेकांतिकत्वं सहका-रिणां सिद्धक्षया सद्द नियमेनोत्पत्तेः स्थावरादीनां सकळकारणानां कदाचिदनुत्पत्तेः । प्रसंगा-भावे सिस्टक्षाया सहकारिणां च क्षित्यादीनामेकं कारणप्रपपद्येत अन्यथा सहभावनियमा-योगात् । तचैकं कारणं यदि सिस्क्कांतरेणामेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुच्याभेचारस्तेन पेरितस्य तज्जनकत्वे कदाचित्तज्जननमसंगः पूर्ववचस्यापि मेर्येण सह नियमेनोत्यक्तौ तयोरप्येकं कारणं स्यात्, तचैकं कारणं यदि सिस्टक्षांतरेणामेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुव्यभिचार इत्यादि पुन-रावर्तत इति चक्रकमपरम् क्षित्यादिभिः प्रागनन्तरं नियमोत्पत्तौ सिस्रक्षायाः सहकारिहेतुभि-रेकसामग्रयधीनता स्यादन्यथा पागनंतरं नियमोत्पत्त्ययोगात् सा चैका सामग्री यदि सिसक्षां-तरेणाप्रोरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुच्याभिचारः । यदि पुनः प्रेरिता सा तज्जनिका तदा प्रेर्थात्यागनंतर नियमेनोत्पत्त्या तस्या भवितम्यमन्यथोक्तदोषानुषंगात् तथा च सिस्टक्षांतरं वर्यात्साम्प्र्यविश्वेषात्मागनंतरं नियमेनोत्पद्मानं तद्धेत्वभिरेकसामग्र्यथीनं स्यात् । सा वैका सामग्री यदि सिस्क्षांतरेणाप्रेरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुच्यभिचार इत्यादि पुनरावर्तत इत्यन्यचक्रकम् । तदेतददृषणं परिदृर्तुकामेन क्षित्यादिभ्योनंतरं पाक् सद्द वा तैः सिस्टक्षात्पत्ति-र्नियमतो नाभ्युपगंतच्या तथा च तद्वचितिरेकानुविधानमुपलभ्येत न चोपलभ्यते, क्षित्युदकवी-जादिकारणसामग्रीसित्रधाने अपितबंधे चाऽसति स्थावरादिकार्यस्यावस्यं भावदर्शनादिति तदेत-दयुक्तं, स्थावरादीनापदद्यादिहेतुत्वेप्येतद्दोषप्रसंगात् स्वसिद्धांतविरोधात् । यदि पुनरदृष्टक्षित्या-दिकारणसाकल्येपि स्थावरादीनां परिणामवैचित्र्याददृष्टादिसिद्धिः चश्चरादिकारणसाकल्येपि रूपादिज्ञानपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियशक्तिवदिति मतं, तदेश्वरसिद्धशासिद्धिरपिः ततः एवास्तु तस्यास्तित्सध्या विरोधाभावादित्यपरे ।

उस पौराणिकोंके मंतन्य पर अन्य एक विद्वानोंकी ओरसे यों दूषण उठाया जाता है '' सिस्-क्षाणां नित्यत्वभावेपि " यहांसे प्रारम्भ कर " स्थावरादिककार्यस्यावस्यम्भावदर्शनात् " एक विद्वान दूषण दे रहे हैं यह दूषण प्रंथकारको अभीष्ट नहीं है। अनः प्रंथकार '' तदेतद्युक्तं '' से प्रारंभ कर " विरोधाभावात " यहातक किन्हीं दूसरे विद्वानों करके इस दूषणका प्रत्याख्यान करा देंगे पश्चात " तेत्र प्रष्टव्याः " इस प्रंथसे प्रारम्भ कर स्वयं प्रंथकार इस केचित्के पक्षपर सिद्धांत दषण उठावेंगे । केचित्रके ऊपर एक विद्वानोंका दुषण इस प्रकार है कि उन किन्हीं पौराणिकोंने ईश्वरकी सिसक्षाको अनित्य सिद्ध किया है। सिसक्षाको नित्यपना नहीं होते हुये भी बाल गोपालेंतक देखे जारहे स्थावर आदिकोंके कारण पृथिवी, जल, बीज आदिकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदिकोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि सिसक्षा अनित्य है। कभी कभी उस सिसक्षाका अभावसम्भव हो जायगा । अर्थात-अनित्य सिराक्षाके नहीं होनेपर अन्य संपूर्ण कारणोंके होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिक कार्य नहीं उपज सकते हैं। स्थावर आदि कार्योके कारणोंका शनैः शनैः एकत्रीकरण होते होते तबतक यदि ईश्वरकी अनित्य सिसक्षा उपन कर नष्ट भी होगयी होय तो हम क्या कर लेंगे । इच्छाके विना सब कारण यों ही व्यर्थ धरे रहेगे । अतः कदाचित् स्थावर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी। यदि केचित यों कहें कि उन स्थावर आदि कार्योंके उत्पादक अंतिम सहकारी कारणींके संनिधान पश्चात है। सिसक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी, अतः कारणोंकी पूर्ण-ताके अवसरपर उस सिसृक्षाका अभाव नहीं संभवेगा, यों कहनेपर तो इम एक पण्डित यों कहते हैं कि यें। तो उस िसस्थाकी सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति होनेका प्रसंग आवेगा. क्योंकि उन परिदृष्ट श्विति आदि कारणोंके अनंर सिसक्षाके उपजनेका नियम अन्यथा बन नहीं सकता है। यानी जो पदार्थ जिन सहकारी कारणोंका कार्य होगा, नहीं उनके अन्यवहित उत्तर कालमें उपज सकता है ऐसी दशामें जिस सिसृक्षाको तुमने बळवती शक्ति समझ रक्खा है, वह महेश्वरकी सिसक्षा स्वयं सह_ कारी कारणोंसे उपज रही बन बैठी, अब बताओ कि सिसक्षाके पिता होरहे उन सहकारी कारणोंको कौन बनावे ! यदि सिसक्षाको उपजा रहे उन सहकारी कारणोंकी दूसरी सिसक्षासे उत्पत्ति मानी जायगी तब तो स्थावर आदिके समान कभी कभी उन सहकारी कारणोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आबेगा। क्योंकि कारणोंके अधीन होनेवाकी दूसरी उस अनित्य सिम्ध्याका कभी सिक्यान नहीं होपाता है। जो कार्य अपने कारणकुटके अधीन है स्वल्प भी कारणकी त्रुटि होजानेसे आवश्यकता होनेपर भी कदाचित् वह कार्य नहीं उपजता है अथवा कथंचित्र उपज छेनेपर भी दूसरे कारणोंके जुटनेतक वह दूसरी सिल्क्षा नष्ट हो जायगी । ऐसी दशामें पहिली सिल्क्षाकी उपजानेवाले कारणोकी अनुत्पत्ति हुई। दादीके विना पिताकी उत्पत्ति नहीं है और पिताके विना पुत्रीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

यदि केचित् पौराणिक पूर्वके समान यहां भी यों कहें कि कार्यकी उत्पात्तिके अन्यवहित पूर्वकालमें एकत्रित हुये आन्तम समर्थ कारणोंके सन्निधान पश्चात् ही दूसरी सिस्धाकी उत्पत्तिका नियम है। अतः वह अनुत्पत्तिका प्रसंग हमारे ऊपर नहीं आता है, यो पौराणिकोंके कहनेपर तो हमें कहना पडता है कि उस दूसरी सिस्टक्षाको उन परिदृष्ट कारणोंसे उपजनेका प्रसंग आता है। क्योंकि उन कारणोंके अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे उपजना अन्य प्रकारसे यानी उनका कार्य माने विना बन नहीं सकता है। इसी प्रकार आगे भी घुमा कर ये ही चोच उठाये जा सकते है। तीसरी, चौथी, आदि सिसक्षायें और सहकारी कारण तथा चरमकारणोंकी जिज्ञासाये उत्तरीत्तर बढती ही जावेंगी। यो बार, बार, अनित्यसिमुक्षा, कार्योकी कदाचित् अनुत्पत्ति, अन्तिम सहकारी कारणोंके पश्चात् सिमुक्षाका जन्म, पुनः सहकारी कारणोंके छिये अन्य सिमुक्षाओंकी उत्पत्ति, इत्यादि होती जाती है यह चक्रक दोष है। " स्वापेक्षणीया**पे**क्षितसा**पे**क्षत्व— चक्रकत्वं '' अपने अपेक्षणीयसे अपोक्षित निबन्धनप्रसङ्गत्वं हो कारण मानकर प्रसंग प्राप्ति करा देना चक्रक दोष है। यदि दूसरी सिसृक्षा करके नहीं प्रेरे जा चुके ही सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो उन्हीं सहकाराकारणों करके तुम्हारे सिन्नेवेशविशिष्टल आदि हेतुओंका न्यभिचार दोष हो जायगा । क्योंकि इस सिसक्षाके साथ ही सहकारी कारणोंकी पूर्विसिस्क्षाके विना यों ही नियम करके उत्पत्ति हो रही है। स्थावर आदि कार्योंके सम्पूर्ण कारणोंकी कभी कभी नहीं उत्पत्ति हो जानेके कारण यदि प्रसंगका अभाव माना जायगा तब तो सिस्ट्रक्षा और पृथिवी आदिक सहकारी कारणोंका जनक एक कारण वन बैठेगा अन्यथा यानी एक कारण माने विना दोनोंके सहभावका नियम नहीं वन सकता है और वह कारण यदि अन्य सिसक्षा करके प्रेरित नहीं हुआ ही उन सहकारी कारण और सिसक्षाका जनक माना जायगा तब तो उस एक कारण करके ही तुम्हारे कार्यत्व आदि हेतुओमें व्यभिचार दोष लगा । यदि अन्य सिसुक्षा करके प्रेरित हो रहे एक कारणों को अपने उम कार्योंका जनकपना अभीष्ट किया जायगा तब तो पूर्वके समान कभी होने और कभी कभी उन कार्योकी उत्पत्ति नहीं होनेका प्रसंग होगा । यदि उस एक कारणकी भी सिसृक्षा करके प्रेरे जा रहे कारणके साथ नियम करके उत्पत्ति मानी जायगी तत्र तो साथ उपज रहे उन दोनोंका भी एक कारण वन बैठेगा और वह एक कारण यदि अन्य चौथी, पांचत्रीं, सिसृक्षा करके नहीं प्रेरित हो रहा ही उन कार्यीका जनक है, ऐसी दशामें उस एक कारण करके ही '' सिनिवेशिविशव्य '' आदि हेतुओंका व्यभिचार होगा. . इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चोद्योंकी आदृत्ति कर स्त्री जाती है। इस कारण यह दूसरा चक्रक दोष तुम्हारे ऊपर आता है। तीसरा चक्रक इस प्रकार है कि क्षिति आदिकों करके पहिले अन्यवहित पूर्व यदि नियमसे उस सिसुक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो सहकारी कारणों करके सिसुक्षाकी एक सामग्रीकी अधीनता हो जायगी । यानी सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति एक सामग्रीके

बश बन बैठेगी । अन्यया अञ्यवहितपूर्व नियमसे उत्पत्ति होनेका अयोग होगा तथा सिसक्षा और सहकारी कारण दोनोंकी वह एक सामग्री यदि पूर्ववर्ती अन्य सिस्क्षाओं करके प्रेरित नहीं होती सन्ती उन सिसुक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पादक मानी जायगी, तब तो एकसामग्री करके ही हेतुओंका व्यभिचार हुआ । यदि फिर अन्य सिसक्षासे प्रेरित हो रही वह सामग्री उन सिसक्षा और सहकारी कारणोंकी जननी मानी जावेगी तब तो प्रेरणा करने योग्य कार्योसे अन्यवहितपूर्व उस सामप्रीकी नियम करके उत्पत्ति होनी चाहिये । अन्यथा उक्त दोवोंका प्रसंग आवेगा और तिस प्रकार होनेपर छठी, सातवी, न्यारी सिसक्षा भी प्रेरणा योग्य सामग्रीविशेषसे अन्यवहितपूर्वमें नियम करके उपज रही सन्ती उन हेतुओंके साथ एकसामग्रीके अधीन हो जायगी। और वह दोनोंको वरामें करने वाली एक सामग्री यदि अन्य मिसक्षाकरके प्रेरित नहीं हो रही सन्ती उनकी जनक (जनिका) मानी जायगी तब तो उस सामग्रीकरके ही सन्निवेशाविशिष्टत आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष छगा इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चक्कर देकर चोद्योंकी आवृत्ति कर छी जाती है। इस प्रकार तीसरा अन्य चक्रकदोष तुन्हारे ऊपर आ पडता है। " स्वप्रहसापेक्षप्रह सापेक्षप्रहसापेक्षप्रहकत्वं चक्रकत्वं '' इस कारण इन सब चक्रक या व्यभिचार दूषणोंको परिहार करनेकी अभिलाघा रखनेवाले पौराणिक पण्डित करके क्षिति आदिकोंसे अन्यवहित पूर्व अथवा साथ उन कारणों करके सिस्रक्षाकी नियमसे उत्पत्ति नहीं स्त्रीकार कर छेनी चाहिये । और तैसा होनेपर नहीं उपज रही सिसृक्षाके साथ उन स्थावर आदि कार्योंके व्यतिरेकका अनुविधान कैसे जाना जा सकेगा ? यों अनित्य मान ली गयी भी ईश्वर इच्छाके साथ व्यतिरेक तो नहीं दीख रहा है । क्षिति, उदक, बीज, ऋतुकाल आदि सामग्रीके निकट होनेपर और प्रतिबन्धकोंके नहीं होनेपर स्थावर आदि कार्योका अवस्य उत्पाद हो रहा देखा जाता है। ईस्तरकी सिसुक्षाको सामग्रीमें डालनेकी कोई आव-श्यकता नहीं है । यहांतक केचित् पौराणिकोंके ऊपर एकदेशीय जैन विद्वान् के विचार प्रगट हो चुके हैं। यहां किन्हीं अपर विद्वानोंका निरूपण है कि तिस प्रकार यह जैनपक्षीय-विद्वानोंका करान अयुक्त है। केवल परको निर्मख करनेवाला खण्डन हमको अभीष्ट नहीं है। यों तो स्थावर आदि कार्योंके यदि अदृष्ट आदिको कारण माना जायगा वहां भी इन दोषोंके प्राप्त हो जानेका प्रसंग आ जायगा । अतः तमको अपने जैन सिद्धान्तसे विरोध ठन जायगा । यदि फिर आपका यह मत होय कि सबको परिदृष्ट हो रहे प्रथिवी, काल, आदि कारणोंकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदि कार्योंके परिणाममें विचित्रता देखी जाती है । इस कारण पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्ट अथवा अन्य भी। परोक्ष कारणोंकी सिद्धि कर छी जाती है। जैसे कि चक्ष, आछोक आदि कारणोंकी सक्रजता होनेपर भी अनेक जीवोंके भिन्न भिन्न प्रकार हो रहे रूप आदिके ज्ञानपरिणामोंकी विचित्रतासे अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका या शक्तियोंका अनुमान कर किया जाता है। यों तुम्हारा मन्तव्य होय तब तो कर्तृवादि-योंके यहां ईश्वरकी सिसक्षाकी सिद्धि भी तिस ही कारणसे यानी चमरकारक स्थावर आदिके परिणा- मोंकी विन्तित्रतासे हो जाओ । उस स्थावर आदिकी विचित्रताका उस सिस्क्षासिद्धिके साथ कोई विरोध नहीं है । प्रत्युत अनुकूछता है । अर्थात्—बालक, वृद्ध, रोगी, पशु, आदिकी बहिरंग इन्तियां स्थूलदृष्टिसे समान दीखती हैं । किन्तु भिन्न भिन्न जातिके रूपादि ज्ञानोंके अनुसार अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका परिज्ञान कर लिया जाता है । उसी प्रकार ईर्यरकी अतीन्द्रिय सिस्क्षाका भी परिज्ञान कर लिया जा सकता है । फिर सिस्क्षाका खण्डन कहां हुआ ! । यहांतक अपर विद्वान् कह रहे हैं ।

ते जत्र प्रष्ट्रच्याः । स्थावरा द्युत्पत्तां निमित्तभावम तुभवन्ती महेश्वरस्य सिम्रक्षा यदि पूर्व-सिम्रक्षातो भवति, सापि तत्पूर्वसिम्रक्षातस्तदा सोत्तरां सिम्रक्षां प्रादुर्भावयति वा न वा १ न तावदृत्तरः पक्षस्तदनंतरस्थावरादिभ्य उत्तरोत्तरस्थावरा द्युत्पत्ति प्रसंगात् । ततः एव तदुत्पत्तां च्यर्थानादि सिम्रक्षापरंपरापरिकल्पना, कथीचेदकयैवाशेषपरापरस्थावरादिकार्याणा ग्रुत्पाद्यितुं शक्यत्वात् पूर्वसिम्रक्षया अप्युत्तरोत्तरिम्रक्षां प्रत्यच्यापारात् । यदि पुनराद्यः पक्षः कक्षीक्रियतं बद्दा योत्तरसिम्रक्षायामेव प्रकृतिसिम्रक्षाया च्यापारात् ततः स्थावरादिकार्योत्यात्ति भवत् । एतेन पूर्वपूर्वसिम्रक्षाया अप्युत्तरोत्तरसिम्रक्षायामेव च्यापृतः पूर्वमिष स्थावरा द्युत्पत्त्यभावः प्रतिपादितः।

अब प्रथकार सिद्धात गीतिसे केचित्का सिद्धात खंडन करते हैं कि वे केचित विद्वान यहां प्रकरणमें यों पंछने योग्य हैं कि स्थावर, नर्य, तन आदि ही उत्पत्तिमें निमित्तभावका अनुभव कर रही महेश्वरकी सिसुक्षा यदि पूर्वकालवर्तिनी दूसरी सिसुक्षांस उपजती है तब तो वह दूसरी सिसुक्षा भी उससे पाइळे की तीसरी सिसृक्षासे उपजेगी, उस समय इमारा प्रश्न यह है कि स्थावर आदिकोंको उपजा रही वह पूर्वकालीन सिस्क्षा क्या उत्तरकालवर्तिनी गिसक्षाको उपजावेगी ? अथवा नहीं प्रकट करेगी ? बताओ । पिछले पक्षका प्रहण करना तो ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि पूर्वसिस्क्षा यदि उत्तर सिसक्षाको पैदा नहीं करेगी तो उसके अनंतर होनेवाले स्थावर आदिकोंसे पुनः उत्तरोत्तर स्थावर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तम्हारे यहा सिसक्षाके विना कोई कार्य उपजता नहीं माना गया है. किन्त स्थावरें से अगले अगले स्थावरी की उत्पत्ति हो रही देखी जाती है। यदि एक उस पहिली सिसक्षामे ही उस उत्तर सिसक्षाकी उत्पत्ति मान ही जायगी, तब तो परम्परासे अनादिकाहीन सिसक्षाओं की लंबी चौडी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। उस एक ही सिसृक्षा करके उत्तरोत्तर होनेवाले संपूर्ण स्थावर आदि कार्योको कथंचिद् उपजाया जा सकता है। पूर्वकालकी सिसृक्षा करके भी उत्तरोत्तर होनेवाली सिसक्षाओं के प्रति कोई न्यापार नहीं किया जासकता है, जो तुम मान बैठे हो । यदि आप करके आदिके पक्षका अंगीकार किया जायमा तब तो पूर्व सिस्खासे उत्तर सिस्खाकी उत्पत्ति करनेपर प्रकरण प्राप्त सिस्रक्षाका केवल उत्तरकालवर्तिनी सिस्रक्षाको उपजानेमें ही व्यापार होता रहेगा। उस प्रकृत सिस्रक्षासे स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी । इस कथन करके यह भी प्रतिपादन कर दिया गया समझ छो कि अनादिकाछीन पहिछी पहिछी सिसुक्षाओंका भी उत्तरात्तर काछकी सिसक्षा-

ओंकी उत्पत्ति करनेमें ही न्यापार होता रहेगा, अतः पहिले भी स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी, सिस्प्रक्षाको अवकाश नहीं मिल जायगा, ऐसी दशामें सिस्प्रक्षाकी शरण लेना न्यर्थ ही है जो भृत्य अपने ही शारीरिक कार्योसे अवकाश नहीं पाता है, वह प्रचंड प्रभुक्ती सेवा क्या कर सकेगा ? कुल नहीं ।

यदि पुनिरयं सिस्रक्षांतरात्पची स्थावरादिकार्योत्पची च व्यापियत पूर्वा पूर्वा च सिस्रक्षा परां परां च सिस्रक्षां तत्सहभाविस्थावरादीं य मित व्यापियमाणा भ्युपंयेत, तदेकैव सिस्रक्षा सकलात्पचिमतास्रत्पची व्यापारवती मितपच्या। तथा च सकृत्सर्वकार्योत्पचेः कृतः पुनः कार्यक्रमभावमतीतिः ?

यदि फिर ईश्वरवादी यों कहे कि यह पूर्वकालीन सिसृक्षा दूसरी दूसरी सिसृक्षाओंको उत्पन्न करनेमें और स्थावर, त्रसशरीर, आदि कार्योकी उत्पत्तिमें व्यापार करेंगी तथा पूर्वसिसृक्षांसे भी पहिली पिहेली सिसृक्षायें स्वस्वजन्य उत्तरोत्तर सिसृक्षाओंको और उन सिसृक्षाओंके साथमें होनेवाले स्थावर आदि कार्योके प्रति व्यापार कर रहीं स्वीकार कर ली जायगी। आचार्य कहते हैं कि तब तो एक ही ईश्वरके सृजनेकी इच्छा इन उपजनेवाले सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्तिमें व्यापार कर रही समझ लेनी चाहिय, और तिस प्रकार एक ही सिसृक्षाको यावत् कार्योकी उत्पत्तिमें व्यापार करनेवाली माननेपर एक ही वारमें सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्ति होना वन बैठेगा। अतः फिर कार्योके क्रम कमसे होनेकी प्रतीति होना भला कैसे सथ सकेगा होना वन बैठेगा। अंथीत्—एका सिसृक्षाद्वारा युगपत् सम्पूर्ण कार्य उपज बैठेंगे जो कि पहिले प्रसंग उठाया गया था।

स्यान्मतं, क्रमशः स्थावरादिकार्याणां देशादिनियतस्वभावानामुभयवादिमसिद्धत्वात् तिश्रमित्तभावमात्मसात्कुर्वाणा महेश्वरसिस्कृष्ताः क्रमभाविन्य एवानुमीयंते कार्यविशेषानुम-यत्वात् कारणविशेषव्यवस्थितेरिति । तर्दि सिस्कृष्तांतरोत्यत्तावन्याः सिस्कृष्ताः स्थावरादि-कार्योत्यत्तौ चापरास्तावंत्यो अभ्युपगंतव्याः कार्यविशेषात्कारणविशेषव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः।

ईश्वरवादियोंका यह भी मन्तव्य होने कि नियत देशमें होना, नियत कालमें उपजना, प्रति नियत आकारको धारना, आदि स्वभाववाले स्थावर आदि कार्योकी यों नियतरूपसे उत्पत्ति होना हम तुम दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा है इस कारण इन नियत कार्योके निमित्त-कारणपनको अपने अधीन कर रहीं महेश्वरकी सिस्क्षायें कम कमसे हो रहीं सन्ती ही अनुमानप्रमाण हारा जानी जा रही है। क्योंकि विशेष विशेष कारणोंकी व्यवस्थाका तज्जन्य विशेष विशेष कार्यो-हारा अनुमान कर लिया जाता है, जिस प्रकार आप जैन कमकमसे उपजनेवाले कार्योक कम कमवर्ती कारणोंका निर्धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार कमवर्तिनी सिस्क्षायें भी कमवर्ती कार्योको

क्रमक्रमसे करेंगी। अतः युगपत् सक्तल कार्योकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं आ पाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि तब तो दूसरी दूसरी सिसुक्षाओं की उत्पत्तिमें अन्य अन्य सिसुक्षायें और स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें उतनी ही न्यारी सिसुक्षायें कारण हो रहीं स्वीकार करनी पडेंगी, क्योंकि कार्योंका विशेष रूपसे देखना डोनेसे उनके विशेष कारणोंकी व्यवस्था हो जाना अन्यथा बन नहीं सकता है । अर्थात् ---यारे त्यारे कारणोंसे ही त्यारे त्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होनेका अविनाभाव है। दूसरे क्षण, तीसरे क्षण, चौथे क्षण, आदिमें ईक्वरंकी न्यारी न्यारी सिस्क्क्षायें तभी उपज सकती हैं, जब कि उनको उपजानेवाली पाहिले क्षणमें अनेक सिसक्षायें मानी जावें और क्रमभावी स्थावर आदि कार्योको उपजानेमें भी उतनी पहिले सिसक्षायें चाहिये कारणोंमें भेद माने तिना कार्योमें विशेषतायें नहीं आ सकती हैं। जैनसिद्धान्तमें भी " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः " जितने छोटे मोटे कार्य हो रहे हैं. उतने कारणोंके स्वभावभेद माने जाते हैं। एक कारणसे भी यदि अनेक कार्य हो रहे हैं, तो उस एक कारणमें अनेक स्वभाव घुस रहे हैं। नानी या बडनानीमें भी धेवतेको उपजानेका स्वभाव अन्तर्गृढ है। जैसे कि बावा पडवावामें नाती, पंतीको उपजानेकी कारणता निहित है। इकतरा, तिजारी, चौथेया, अयरोंकी या एक एक, दो दो पीडी बीचमें देकर उपजनेवाले कौलिक रोगोंके उपजानेकी राक्ति भी कारणोंमें सदा छिपी हुई विद्यमान है। आप कर्त्तावादी पण्डित तो पदार्थीमें अनेक धर्मीको स्वीकार नहीं करते हैं। अतः आपको अनन्तसिसुक्षायें स्वीकार करनी पहेंगी यह महागौरव या आनंत्यदोष तुम्हारे ऊपर हुआ।

नानाशकिरकैव सिसक्षा तिमिन्नािवित चेत्, ति सकलक्रमभावीतरकार्यकरणपदुर नेकशक्तिरेकैव महेश्वरिसिस्क्षास्त । सा च यदि सिस्क्षांतरिनरपेक्षोत्पद्यते तदा स्थावरादि-कार्याण्यपि तिमरपेक्षािण भवंतु किपीश्वरिसस्क्षया ? सिस्क्षांतरात्तदुत्पत्तौ तत एव सकल-कमभावीतरस्थावरादिकार्याणि भादुर्भवंतु । नानाशक्तियोगात्तदभ्युपगमे च स एव पर्यनु-योग इत्यनवस्था दुर्निवारा ।

यदि कर्तृवादी यों कहें कि उत्तरोत्तर अनेक सिमुक्षाओं और असंख्य स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें उपयोगिनी हो रहीं अनेक शक्तियोंको धारनेवाळी एक ही सिमुक्षा उपज रही उन सिस्काओं और स्थावर आदि कार्योंकी निमित्त कारण मान ळी जायगी यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो क्रम कमसे होनेवाळे या उनसे न्यारे युगपत् होनेवाळे सम्पूर्ण कार्योंको करनेमें चतुर हो रहीं अनेक शक्तिवाळी महेश्वरकी सिमुक्षा एक ही मान ळी जाओ। जैनसिद्धान्त अनुसार तुमने यह मार्ग अच्छा पकड लिया है। अनेक स्वभाववाळी एक सिसुक्षा ही जगत्के सम्पूर्ण कार्योंको कर हालेगी। मध्यमें अनेक सिस्क्षाओंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। इससे ईश्वरकी भी प्रशंसा हुई और आनन्त्य दोषका परिहार मी हो गया। किन्तु हां, यह तो बताओं कि वह एक सिस्क्षा वर्तमान

कालमें उपन रही यदि पूर्व कालको अन्य सिस्क्षाओं को कारण रूपसे नहीं अपेक्षा रखती हुई उपज जाती है ? तब तो स्थावर आदिक असंख्य कार्य भी उस एक सिस्क्षाकी कारण रूपसे अपेक्षा नहीं करते हुये ही उपन नायंगे । ईश्वरकी सिस्क्षा करके क्या लाम हुआ ? अर्थात् — ईश्वरकी सिस्क्षासे उस अनेक स्वभाववाली सिस्क्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी । तब तो उस दूसरी सिस्क्षासे इस अनेक स्वभाववाली सिस्क्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी । तब तो उस दूसरी सिस्क्षासे ही सम्पूर्ण क्रमभावी और अक्रमभावी स्थावर आदि कार्य भी प्रकट हो जाओ । अनेक शक्तिवाली सिस्क्षाको मध्यमें कारण मानेकका बोक्ष व्यर्थमें क्यों लादा जाता है ? कर्त्वृत्ववादी यदि दूसरी सिस्क्षामें भी नानाशक्तियोंका योग होजानेसे उस स्वानुकूल कार्यकारणभावको स्वीकार करेंगे तब तो वही पर्यनुयोग उठाया जायगा कि वह सिस्क्षा स्वतः उपजेगी ? अथवा दूसरी सिस्क्षासे उत्पन्न होगी ? इसी प्रकार तीसरी, चौर्या, पांचवी, कोटियोंपर भी चोष चलाना बढता ही चला जायगा । इस ढंगसे हुई अनवस्थाका निवारण करना तुमको अतिकठिन कर्त्तव्य होजायगा ।

यदि पुनर्नित्यानेकश्वकिरेकैव महेश्वरित्समुक्षा तदा अस्याः स एव व्यतिरंकाभावो महेश्वरन्यायवत् । तद्व्यापित्वे एतच्छ्न्येपि देशे स्थावरादीनाष्ठत्यत्तेः कुतोऽन्वयस्यापि प्रसिद्धिः १

उक्त संपूर्ण दूपणोंके प्रसंगसे भयभीत होकर यदि फिर तुम ईस्वरकी अनेक शाक्तिवाळी एक ही सिस्क्षाको नित्य स्वीकार कर छोगे तब तो महेस्वरके हुये न्यायके समान इस नित्य सिस्क्षाको भी वही व्यतिरेकका अभाव दोष छग बैठेगा। अर्थात्—नित्य महेस्वरका जैसे देशव्यतिरेक या काळव्यतिरेक नहीं बन पाता है उसी प्रकार महेस्वरकी सिस्क्षाका भी व्यतिरेक नहीं बन सकेगा। जब जब या जहां जहां सिस्क्षा नहीं है, तब तब, वहां वहां स्थावर आदि कार्य नहीं उपज पाते हैं। नित्य व्यापक सिस्क्षाके इस व्यतिरेकका अभाव हो जानेसे अन्वय भी ठीक नहीं घट पाता है। अन्वयमें तो असाधारण कारणोंका और आकाश अदि साधारण कारणोंका पदस्य समान है, अतः अन्वय व्यतिरेकोंके नहीं घटनेसे अनेक शक्तिवाळी नित्य एक सिस्क्षाको स्थावर आदि कार्योका निमित्तपना नहीं सधता है। यदि देश व्यतिरेक बन जानेकी रक्षा करनेके छिये उस सिस्क्षाको अल्पदेशवृत्ति अव्यापक माना जायगा तब तो इस किस्क्षासे रीते होरहे देशोंमें भी स्थावर, ऋतुपरिवर्तन आदि कार्योकी उत्पत्ति अविराम होरही देखी जाती है। इस कारण विचारे अन्वयक्षे भी प्रसिद्ध भळा किस ढंगसे होसकी ? अर्थाच् सिस्क्षाके होनेपर ही कार्य उपजने चाहिये थे। किन्तु अव्यापक सिस्क्षा जहां नहीं है वहां भी कार्य उपज रहे हैं। अतः अन्वय विगढ गया।

यदि पुनरनित्यापि सिसक्षा ब्राह्मेण मानेन वर्षशतीते जगन्नोक्चृमाण्यदृष्टसामध्यादेकै-वोत्पद्यते न सिस्टक्षांतरादिति मतं, तदा तत एव जगदुत्पचिरस्तु किमी वरसिस्टक्षया ? ततो न स्थावराद्युत्पत्ती महेक्सो निमित्तं तदन्वयव्यतिरेकातुर्विधानविकल्लात् । यद्यकिमित्तं तस तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविकलं दृष्टं यथा कुर्विदादिनिमित्तं वस्नादि । महेश्वरसिस्रक्षान्व-पव्यतिरेकानुविधानविकलं च स्थावरादि तस्मान तिन्निमित्ति व्यापकस्य तदन्वयव्यति-रेकानुविधानस्यानुपलंभादव्याप्यतिन्निमत्त्वस्य स्थावरादिषु प्रतिषिद्धे सिद्धे सित सिन्निक्षिवि-क्षिष्टत्वादेईतोरंनेकांतिकत्वं स्थावरादिभिः केचिन्मन्यंते ।

यदि फिर तम पौराणिकोंका यह मन्तव्य होय कि हम ईस्वरकी सिस्क्षाको नित्य नहीं मानते हैं। जिससे कि न्यतिरेक नहीं बन पाये किन्त वह अनित्य भी सिसक्षा ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण (नाप) करके सौ सौ वर्षके अन्तमें जाकर जगदवत्ती भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे एक ही उपजती है। दूसरी सिस्क्षांसे उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। अर्थात्—सत्रह लाख अहाईस हजार वर्षका सत्ययुग है। बारह लाख छियानवै हजार मानुष वर्षोका त्रेतायुग है। आठ लाख चौसठ हजार वर्षोंका द्वापर है। और चार छाख बत्तीस हजार मानुष वर्षोंका कछियुग है। यो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी सहस्र संख्याके बीत जानेपर ब्रह्माका एक दिन समझा जाता है। इसी प्रकार हजार चार युगोंके समान चार प्रहरोंकी एक रात मानी गयी है । यों इन रात, दिनोंसे महीना और वर्ष बनाकर सौ वर्षके पीछे एक ही सिसृक्षा उपजती है। उसको उपजानेमें अन्य सिसृक्षा कारण नहीं है। हां, जगत्के प्राणियोंके पुण्य, पाप, उस सिस्क्षाको उपजानेमें निमित्त पड जाते है। जैसे कि न्यायार्थाशकी नियक्तिमें अपराधी या निरपराधी पुरुषोंका पाप, पुण्य निमित्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तब तो उस ही कारणसे यानी सुख, दुःखको भोगनेवाले संसारवर्ती प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे हैं। कार्य जगत्की उत्पत्ति हो जाओ जैसा कि हम जैन मानते हैं। ईश्वरकी सिसक्षा करके क्या प्रयोजन संधा ? नियन कारणों द्वारा नियत कार्यीका उपजना बड़ा उत्तरदायी कर्त्तव्य है। अतः कारणकोटिमें अप्रमित ठल्आ पदार्थीका बोझ बढाना हितकर नहीं है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्थावर आदि कार्योक्ती उत्पत्तिमें महेश्वर या उसकी सिसक्क्षा निमित्तकारण नहीं हैं। (प्रतिज्ञा) उन कार्यों साथ अन्त्रय और न्यतिरेकके अनुविधानका रहितपना होनेसे (हेत्) जो कारण जिस कार्यका निमित्त है । वह कारण उस कार्यके साथ हो रहे अन्वयव्यति-रेकोंके अनुविधान करनेसे रीता नहीं देखा गया है । जैसे कि कीरिया, तुरी या कुळाळ, दण्ड, आदिको निमित्त पाकर हुये वस्त्र, घट आदि कार्य हैं। (व्यतिरेकदृष्टान्त) महेश्वर या उसकी सिस्क्षाके साथ अन्वय व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे विकल हो रहे स्थावर आदि कार्य हैं। (उपनय) तिस कारणसे वे स्थावर आदि कार्य उस महेश्वर या सिसृक्षाको नहीं निमित्त पाकर उपजे हैं। (निगमन) इस पांच अवयववाळे अनुमान द्वारा व्यापक हो रहे तदन्वय व्यतिरेकानुविधा-नके अनुपलम्मसे स्थावर आदि कार्योमें तिविमित्तपनका प्रतिषेध हो जाना सिद्ध होते सन्ते सिविवेश-विशिष्टत, कार्यत्व, आदि हेतुओंका स्थावर, खनिज, आदि कार्योक्तरके व्यभिचार दोष होनेको कोई कोई विद्वान् मान रहे हैं। अर्थात् - कार्य कारण भावका ज्यापक अन्वयव्यतिरेकानुविधान है।

च्यापक नहीं होनेसे व्याप्यका अभाव साध लिया जाता है। ईश्वर या ईश्वर इच्छाके साथ कार्य उस अन्वय—व्यतिरेकपद्धतिका अनुसरण नहीं करते हैं। इस कारण कार्योंके निमित्त ईश्वर या ईश्वर इच्छा नहीं है। यो स्थावर आदि कार्योंके प्रति ईश्वर या ईश्वर इच्छाका निमित्तपना जब युक्तियोंद्वारा निषद्ध हो चुका तो ईश्वरवादियोंद्वारा पिहले कहे गये सिववेशियल, अचेतनोपादानल आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा, यों कोई पिण्डत जैनोंकी चाटुकारता करते हुये मान रहे हैं। प्रथकारका इनके प्रति कोई अत्यिवक आदर अथवा घृणाका भाव नहीं है। यह उनका परिणाम अडतीसवीं वार्तिकसे ही ध्वनित हो जाता है।

एवमीशस्य हेतुत्वाभावसिद्धिं प्रचक्षते । व्यापकानुपलंभेन स्थावरादिसमुद्भवे ॥ ५०॥

श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यहां कोई विचारशास्त्री विद्वान इस प्रकार उक्त रूपसे बहुत अच्छा स्पष्ट कथन कर रहे हैं कि स्थावर, मैचवृष्टि, आंधी आदिकी भले प्रकार उत्पत्ति होनेमें ईश्वरको निमित्तकारणपनके अभावकी न्यापकके अनुपल्कम करके लिखि हो रही है। अर्थात्—कार्य कारण भावका न्यापक अन्वय न्यतिरेकभाव है। जहा न्यापक नहीं है वहां न्याप्य नहीं ठहर सकता है। अडतीसवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके हेतुओंका जो न्यभिचार दोष किन्हीं विद्वानी करके उठाया गया है वह अनुचित नहीं है।

एवं जगतां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वादिद्देतोः स्थावरादिभिर्व्यभिचारमुद्धाच्य पुनः स्थावरादीनामीशनिमित्तत्वाभावसिद्धिं व्यापकानुप्रत्नेभन केचित्प्रचक्षते ।

इस प्रकार किसी बुद्धिमान् ईश्वरमें तीनों जगत्का कारणपना साध्य करनेपर दिये गये कार्यत्व सिन्निवेशिविशिष्टत्व आदि हेतुओंका स्थावर, पर्वत, आदिकोंकरके व्याभिचार हेत्वाभासको उठाकर फिर ईश्वरमें स्थावर, पृथिवी, आदि कार्योंके निभित्तकारणपनके अभावकी सिद्धिको व्यापकानुपळम्भकरके जो कोई बखानते हैं वे विद्वान् अच्छा निरूपण कर रहे हैं, हमें उनके कर्तव्यपर संतोष हैं।

पक्षस्यैवानुमानेन बाधोद्धाव्येति चापरे । पक्षीकृतैरयुक्तत्वाद्व्यभिचारस्य साधने ॥ ५१ ॥

दूसरे कोई त्रिद्वान् यहां यों कह रहे हैं कि वैशेषिकों के पक्षकी अनुमानकरके ही बाधा उठानी चाहिये वैशेषिकों करके पक्षमें पिहले नहीं किये किन्तु पुनः पक्षकोटिमें धर लिये गये स्थावर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओं में व्यभिचार हेत्वामासका उठाना युक्तिरहित है। मावार्थ—जैनमतका पक्ष ले रहे केचित् विद्वानके ऊपर जैनसिद्धान्तपर मिक्त रखनेवाले अपर विद्वानोंका यह आक्षेप

है कि त्रिजगत्का निमित्तकारण ईक्तरको साध्य करनेमें कार्यत आदि हेतुओंका पिछले व्यमिचार दोष उठाना और फिर बाधित हेत्वाभास दोष उठाना यह मार्ग प्रशस्त नहीं है। हां, यह मार्ग पुंदर है कि वैशोषिकोंके अनुमानको झिटाति नष्ट करनेवाले इस अनुमानकरके बाधित दोष उठाना चाहिये कि महेक्चर (पक्ष) स्थावर, बीज, आदि कार्योंकी उत्पनिमें निमित्तकारण नहीं है। (साध्य) उनके साथ अन्वय व्यतिरेकोंके अनुविधानकी विकलता होनेसे (हेतु) यह निर्दोष अनुमान जैनोंकी ओरसे समुचित प्रयुक्त किया जासकता है, केचित् विद्वानोंको स्थावर, हीरा, पना, आदि करके न्याभिचार दोष उठाना अनुचित है। क्योंकि वैशोषिकोंके यहा स्थावर, समुद्रज, खनिज आदि पदार्थोंको भी पक्षकोटिमें डालकर उनको ईक्तरका कार्य मान लिया गया है वे एक एक अनके टाने या फुलकी पाखरी तक कोई ईक्वरकी इच्छा पर निर्भर मानते हैं। " नहि पक्ष पक्षसमे वा व्यभिचारः " पक्ष या पक्षसममें दिया गया व्यभिचार दोषाधायक नहीं है, जब बाधक अनुमान द्वारा प्रतिपक्षीके बाध्य अनुमानका साक्षात् खंडन किया जा सकता है तो अनुमितिके कारण होरहे व्याप्तिज्ञान या परामर्थको बिगाडनेवाले व्यभिचार दोषका उठाना छोटापन है।

अनेनवातुमानेन व्यापकातुपलंभेन पक्षबाघोद्धावनीया कालात्ययापदिष्टत्वं च हेतोस्त-थोद्धावितं स्यास्त पुनः पक्षीकृतैः स्थावरादिभिः साधनस्य व्यभिचारस्तत्रोद्धावनीयस्तस्यायु-कत्वात् । एवं हि न कश्चिद्धतुर्व्यभिचारी स्यात् कृतकत्वादेरिप शब्दानित्यत्वादौ पक्षीकृतैः शब्देरेव कैश्चिद्वचिभिचारस्योद्धावितुं शक्यत्वात् ।

" महेक्करो स्थावराषुत्पत्ती न निर्मित्तं " इस हां अनुमान करके अन्वय, व्यतिरेक अनुविधान स्वक्ष्य व्यापक्रके अनुपलंभ द्वारा वैशेषिकों के पक्षकी बाधा उठानी चाहिये, और तैसा होनेपर वैशेषिकों के कार्यत्व आदि हेतुओं का कालत्ययापिदिष्टत्व यानी बाधितहेत्वाभासपना भी उठाया जा चुका समझा जायगा, किंतु फिर वैशेषिकों द्वारा पक्षमें करिलये गये, स्थावर, जंगम, प्राणियों के शरीर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओं का व्यभिचार तो वहां वैशेषिकों के अनुमानमें नहीं उठाना चाहिये, क्योकि पक्ष कर लिथे गये स्थालों करके ही उस व्यभिचार दोषका उठाया जाना अयुक्त है। इस प्रकार के चित्र विद्वान् यदि पक्षमें कर लिये गये स्थालों करके ही व्यभिचार दोष उठायंगे तब तो कोई भी हेतु विचारा व्यभिचारदोषसे रहित नहीं हो सकेगा। पक्ष किये गये पर्वतमें अग्निकी उपलब्धि नहीं होनेपर धूम हेतुको भी व्यभिचारी कहा जा सकता है। पक्षमें साच्य विवादापन्न हो ही रहा है। सर्वथा निर्दोष होकर प्रसिद्ध हो रहे कृतकत्व, सच्च, आदि हेतुओं का भी शब्दके अनित्यपन, परिणामीपन आदिकी सिद्धि करनेमें पक्ष कर लिये गये शब्द करके ही कोई अञ्च पुरुष व्यभिचार दोषका उठा सकता है। ईर्षाल किया इठलाती हुयीं सुंदर कियोंपर यों ही झंठ, मूठ, व्यभिचार दोषका आरोप कर बैठती हैं। एतावता वह दोष यथार्थ नहीं समझ लिया जाता है।

न कश्चिज्जगद्बुद्धिमिन्निमित्तं साधियतुं स्थावरादीन् पक्षीकुरुते । तैः साधनस्य व्यभि-चारोद्भावने वा कृते साति पश्चाश्च पक्षीकुर्वीत येन व्यभिचाराविषयस्य पक्षीकरणाद्धेतोर-व्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् ।

कोई कोई कर्तृशदी तो जगत्के बुद्धिमान् निमित्त कारण द्वारा बनाये जानेको साधनेके िय पिहेले ही स्थावर, सूर्य, चन्द्रमा, आदिकोंको पक्ष कोटिमें कर लेता है। हां, कोई वैशेषिक पृथियी, पर्वत, शरीर आदिकोंको पक्ष करता है। एसी दशामें किसी प्रतिवादी द्वारा उन स्थावर आदिकों करके कार्यत्व हेतुका व्याभिचार दोष उठाना कर चुकनेपर पीछेसे स्थावर आदिको पक्षकीटिमें कर लेता है। किन्तु ऐसा कोई कर्तृवादी नहीं जो वन्य वनस्पति, खनिज, स्थावर, आदिको पक्ष कोटिमें नहीं करे क्योंकि ईश्वरवादी तो आत्मा, आकाश, परमाणु, आदि नित्य पदार्थोंको छोडकर शेष सभी स्थावर, खानिज, बीज, अंकुर, अदृष्ट, सूर्य, पर्वत, आदि अनित्य चराचेर जगत्का निर्माण करनेयाला ईश्वरको मानते हैं। अतः वे सब पक्षकोटिमें आ जाते हैं। व्यभिचारके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माना गया है। यदि व्यभिचारस्थलको पक्षकोटिमें प्रविध करते हुये भी बलात्कारसे व्यभिचार उठाया जायगा। तब तो कोई भी हेतु व्यभिचार दोषरित नहीं हो सकेगा। अतः यहां व्यभिचार दोष उठाना उचित नहीं है। जिससे कि वस्तुतः व्यभिचार दोषके विषय नहीं किन्तु असदाप्रह करके व्यभिचार दोषके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माननेपर कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं बन वैठे यानी सभी हेतु व्यभिचारी नहीं बन जाय। एतदर्थ वैशेषिकोंके अनुमानमें पक्षीकृत स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोषको नहीं उठाओ।

पकान्येतान्याम्रफलान्येकशारवामभवत्वादुपयुक्तफलवदित्यादिषु तदेकशारवामभवानाम-पकानामाम्रफलानां व्यभिचारविषयाणां पक्षीकरणादित्युपालंभः स्यात् । यथा चात्र न पक्षी-कृतैः कश्चिम्यभिचारमुद्धावयति किंतु मत्यक्षबाधा पक्षस्य हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वं तथा मकृतानुमानेषि । यथा च पक्षस्य मत्यक्षबाधोद्धावयितुं युक्ता तथानुमानबाधापि । यथा च मत्यक्षबाधितपक्षनिर्देशानंतरम् मयुज्यमानां हेतुः कालात्ययापदिष्टस्तथानुमानबाधितपक्षनिर्देशा-नन्तरमपि सर्वथा विशेषाभावात् पक्षबाधोद्धावने च हेतुभिः परिदानमपि न भवेदिति सोद्धाव-नीया, तदुपेक्षायां प्रयोजनाभावादिति चापरे मचक्षते । अन्ये त्वाहुः ।

आम्रद्दक्षकी एक शाखा पर कितने ही कक्षे, पक्के, फल लग रहे हैं किसी लोभी आनुर विकेताने बानगीके ढंगसे दो एक मीठे फल भोले केताको चखा दिये शाखाके सम्पूर्ण फलोंका खाना खबाना प्रयोजनीभूत नहीं है। अतः विकेता अनुमान बनाता है कि ये समुख देखे जारहे सभी आम्रफल (पक्ष) एके द्वये हैं (साध्य) दक्षकी एक शाखामें उपजना होनेसे (हेतु) उपयोगोंमें आचुके चूसे हुये आमके समान (अन्वय दृष्टाम्त)। अथवा मित्रा नामक काली खीका गर्भस्य पुत्र गोरा है, अवकी बार काले पनके पत्र, शाक, आदिका मक्षण बहिरंग कारण और अन्तरंग कारण कृष्ण वर्ण नामक प्रकृतिका उदय नहीं मिलनेसे गर्भका पुत्र गौरा है, कोई स्थूल बुद्धि पुरुष अनुवान बनाता है कि गर्मस्थित पुत्र होनेसे (हेतु) इतर तीन, चार, देखे जारहे पुत्रोंके समान (अन्वय-दृष्टान्त) । इसी प्रकार यह तीसरा अनुमान किसीने उठाया कि यह छात्र (पक्ष) न्युत्पन्न है (साध्य) इस प्रसिद्ध विद्यालयमें प्रकाण्ड विद्वान द्वारा प्रन्थाध्ययन करने वाला होनेसे (हेतु) परिदृष्ट न्युत्पन्न विद्यार्थियोंके समान (अन्वयद्दशन्त) वस्तुतः वह छात्र अन्युत्पन था इत्यादिक स्थलेंमें न्याभिचारके विषय हो रहे उस एक शाखापर उपजे हुये कहे आम्र फलोंको या गर्भस्थ पुत्रको अथना उपद्रवी, अविनीत, छात्रको पक्ष कोटिमे कर देनेसे यों उपालम्भ हो जाता। अर्थात्—न्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें डाल देनेसे पनः व्यभिचार दोष नहीं उठाया जाना चाहिये जिस प्रकार कि यहां एकशाखाप्रभक्त आदि हेतओंमें पक्षकोटिमें कर लिये गये कहे फल आदिकों करके कोई भी विचारशील पण्डित पुनः उन करके व्यभिचार नहीं उठाता है। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणसे पक्षकी बाबा देना दोष ही उपस्थित करता है और ऐसी दशामें हेतुका बड़ा रह दोष काळात्ययापदिष्टपना यानी बाधितपना उठाकर बादीकी सम्पर्ण मनोरथ-भित्तियोको वह प्रतिवादी ढाह देता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त वैशेषिकोंके अनुमानमें भी जैनोंको व्यभिचार दोष नहीं उठाकर बाधितहत्वाभास उठाना चाहिये । जिस प्रकार कि पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधाको उठानेके लिये समुचितपना है उसी प्रकार अनुमानप्रमाण करके भी पूर्वपक्षीके अनुमानमें प्रसन्नता र्वक बाघा उठाई जा सकती है। '' विहरनुष्णः द्रव्यत्वात् जलवत् अप्ति (पक्ष) शीतल है (साध्य) द्रव्य होनेसे (हेत्) जलके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानमें जैसे स्पार्शन प्रत्यक्षसे बाधिसपना आपादित कर दिया जाता है । उसी प्रकार '' अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् '' इस अनुमानको शब्द परिणामी 🕻 सत् होनेसे इस अनुमान द्वारा बाधित किया जाता है। प्रकरणमें द्वीप आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान करके बनाथे गये हैं (साध्य) विशेष रचनावाळे होनेसे या कार्य होनेसे (हेतु) इस वैशोषिकाँके पक्षकी स्थावर आदिकी उत्पत्तिमें महेश्वर (पक्ष) निमित्त कारण नहीं है (साध्य) अन्वय-न्यतिरेककी घटना नहीं होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा बाधा उठाई जा सकती है। तथा प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित हो रहे पक्षनिर्देशके अनन्तर प्रयुक्त किया जा रहा हेतु जिस प्रकार बाधित हेलाभास है उसी प्रकार अनुमानप्रमाणसे वाधित हो रही प्रतिज्ञाके निर्णीत निर्देशके पश्चात् प्रयुक्त किया जा रहा हेतु भी काळात्ययापदिष्ट है प्रत्यक्षवाधित और अनुमानवाधित पक्षसे अनुमिति तत्कारणान्यत्रविरोधित्व सम्बन्धकरके सहित हो रहे हेतुओंमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। एक बात यह भी है कि हेतुओं करके वादीं के पक्षकी बाबाको उठानेपर पुनः परिवर्तन भी नहीं हो सकेगा । अर्थात् — एक हेतुसे पक्षसिद्धि न सही दूसरे हेतुओंसे कर छेंगे यों भी पक्षभी सिद्धि वहीं हो सकती है। जब प्रत्यक्षसे अग्निका उष्णपना या अनुमानसे शब्दका परिणामीपना प्रसिद्ध है। से

हारों हेतुओंसे भी अप्रिका अनुष्णपना या शब्दका कूटस्य नित्यपना कथमपि नहीं साथा जा सकता है। अथवा पहिलेसे बाधित हेत्वाभासके उठा देनेपर पुनः अन्य हेतुओं करके भी वादीका पक्ष रक्षित नहीं किया जा सकेगा। बल्ध्यती बाधिके उपस्थित कर देनेपर सम्पूर्ण हेतुओंकी शक्तियां मर जाती हैं। इस कारण कर्त्तावादियोंके पक्षमें वह बाधा उठा देनी चाहिये उस बाधाको उपस्थित करनेकी उपेक्षा (लाधरवाही) करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। पाप या कृष्ण सर्पको अविलम्ब पृथक् कर दिया बाय यही सबका इह प्रयोजन होना चाहिये उनको रखनेमें कोई प्रयोजन नहीं सधता है। प्रस्था महती हानि होनेका खटका है। यो यहांतक कोई दूसरे विद्वान् अच्छा बखान कर रहे है। श्री विद्यान्य आचार्यने बडी विद्वाके साथ कर्तृवादका निराकरण किया है जैसे गुरुजी महाराज अपने अनेक शिष्योंकी परीक्षा लेते हुये भिन्न भिन्न वचनभंगियों द्वारा एक ही प्रमेयकी न्यारी न्यारी व्याख्या करा कर प्रसन्त होते हैं मन्यकार भी जिनमार्गभक्त अनेक विद्वानों हारा कर्तृवादके निराकरणके पाठकी प्रक्रि- याको मानो सुन रहे हैं। केचित् और अपरे विद्वानोंक पश्चात् अन्य विद्वान् तो यहां यों कह रहे हैं कि—

सर्वथा यदि कार्यत्वं हेतुः स्याद्वादिनां तथा । न सिद्धो द्रव्यरूपेण सर्वस्याकार्यतास्थितेः ॥ ५२ ॥ कथंचित्र विरुद्धः स्याद्वीमदेतु जगत्स्वयं । कथंचित्साधयित्रष्टविपरीतं विशेषतः ॥ ५३ ॥

वैशेषिकोंने जो यह अनुमान कहा था। कि " द्वीपिक्षियंकुरादिकं कर्तृ जन्यं कार्यत्वाद् घटवत् " ह्म अनुमानमें कहे गये कार्यत्व हेतुका अर्थ यदि सभी प्रकारोंसे कार्यपना है तब तो स्याद्वादियों के यहां द्वीप, पृथित्री, आदिमें तिस प्रकार सर्वथा कार्यपना हेतु सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यस्वरूप करके सम्पूर्ण पदार्थोंको कार्यरहितपना व्यवस्थित हो रहा है घट, पट आदि क भी द्रव्यार्थिक नय करके कार्य नहीं हैं। अर्थात्—िजन अनादि अनन्त द्रव्योंके पर्याय घट, पट, आदि है वे द्रव्य कार्य नहीं हो कर नित्य हैं। अतः पक्षमें नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु असिद्र हेत्वामास हुआ। हां, इस असिद्र दोषके निवारणार्थ सर्वथा पक्षको छोडते हुये तुम वैशेषिक यदि कथंचित् कार्यपनको हेतु मानोगे तब तो तुम्हारा हेतु विरुद्ध हैत्वामास होजायगा क्योकि तुम जगत्का बुद्धिमान हेतु करके सर्वथा उपजना साध रहे हो यानी जगत्में सर्वथा ईश्वर नामक कारणकी कार्यता है किन्तु कथंचित् कार्यत्व हेतु तो विशेष रूप करके इष्ट साध्य विपरीत हो रहे कथंचित् बुद्धिमान्के निमित्तकारणपनको साध रहा है। अतः तुम्हारा हेतु विशेष रूपसे विरुद्ध होरहा विरुद्ध नामका हैत्वामास हुआ।

नाकोशंतः पलायंते विरुद्धा हेतवः स्वतः । सर्वगे बुद्धिमद्धेतौ साध्येन्यैर्जगतामिह् ॥ ५४ ॥ अन्य विद्वान् वैशेषिकों करके इस प्रकरणमें तीनों जगतोंके हेतु होरहे सर्व व्यापक किसी बुद्धिमान्को साध्य करनेपर दिये गये व कार्यत्व आदि हेतु तो विशेष विरुद्ध हेत्वामास हैं, इस प्रकार ताध्यसे विपरीत कथंचित् बुद्धिमान्को निमित्तकारणपनकी सिद्धि होजानेकी बढं बळसे पुकार करनेबाळे ये हेतु अपने आपहींसे नहीं दूर भग जाते हैं । अर्थात् —व्यापक, सर्वज्ञ, बुद्धिमान्को निमित्तपना साधनेमें प्रयुक्त किये गये कार्यत्व आदि हेतु जब कथंचित् बुद्धिमान्को जगत्का कारणपन साध रहे हैं। तो ऐसी दशामें उस वैशेषिकके सिद्धान्तको गाळिप्रदान कर रहे ये हेतु यों ही स्वतः नहीं भग जायंगे किन्तु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् द्वारा किये गये पनका दिंढोरा पिटते रहेंगे। जैसे कोई सन्मार्ग प्रचारक, उद्देगी, भळा, मनुष्य यदि किसी असत् पक्षवाळे पुरुषके साथ फंस जाय पुनः वह मळा मानुष अपने साथिके दुर्गुणोंको देखता है तो उससे विरुद्ध होकर कट्ट शब्दों द्वारा उसकी मर्त्सना करता है यों ही चुपके नहीं भग जाता है उसी प्रकार कथंचित् कार्यत्व हेनु उन वैशेषिक या पौराणिककी अच्छी प्रतरणा करता हुआ उनके अभीष्ट साध्यसे विपरीत पक्षको साधनेके छिये कमर कस ळेता है।

यदि सर्वथा कार्यत्वमचेतनोपादानत्वं, सिक्षेवेशिवृत्वं, स्थित्वा पृष्ट्च्यादि वा इतुस्तदा न सिद्धस्तन्वादेरि द्रव्यार्थादेशादकार्यत्वात् । कार्यत्वं तावदिसिद्धं तथा तस्य नित्यत्वव्यव-स्थितः सर्वथा कस्यचिदनित्यत्वेऽर्थिकियाविरोधात् । तत एव सर्वस्यानुपादानत्वादचेतनोपादानत्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि चेतनोपादानत्वात् तदभ्युपगमो नापि भागासिद्धं वनस्पित्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि च द्रव्यस्य पर्यायविषयत्वात्तस्यत्यसिद्धं ज्ञानादीं स्वयमनभ्युपगमाञ्च भागासिद्धं तद्देव स्थित्वा मृत्वत्तिरापि न द्रव्यार्थिदेशात् कस्यचित्तथा सर्वस्य नित्यपृत्वत्वादिति तदसिद्धः । अर्थिकयाकारित्वं पुनर्दव्याद्धीन्तरभूतस्य पर्यायस्यैकातेन तद्दुरुपपादिमित्यसिद्धमेव ।

स्याद्वादियों के पक्षका आदर कर रहे कोई अन्य विद्वान् उन कर्तृवादियों से पूंछते हैं कि शरीर, पृथिवी, द्वीप, पर्वत आदिमें ईश्वरकृतपना साधने के लिये प्रयुक्त किये गये कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सिल्वेशविशिष्टत्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, अर्थिकियाकारित्व आदिक हेतु यदि सर्वथा हैं। अर्थात्—पृथिवी, शरीर, आदिमें सभी प्रकारोंसे कार्यपना या मभी प्रकारोंसे अचेतन उपादान कारणोंसे जन्यपना आदि है तब तो तुम्हारे हेतु सिद्ध नहीं हैं असिद्ध हेत्वाभास हैं क्योंकि द्रव्यार्थिक—नय—द्वारा निरूपण करनेसे तनु, द्वीप, पर्वत, आदिक भी कार्य नहीं हैं सम्पूर्ण द्वय अनादि अनन्त हैं शरीर आदि पर्योयें भछे ही अनित्य होय किन्तु शरीर आदिका पुद्रछ द्वय नित्य है। अतः सभी प्रकारोंसे यानी द्रव्यरूपसे भी कार्यपना मानना तो तनु आदिमें असिद्ध है तिस प्रकारसे तो उन तनु आदिकोंको नित्यपना व्यवस्थित हो रहा है। यदि सभी प्रकारोंसे किसीको भी अनित्य माना जायगा तो अर्थिकया

होनेका विरोध होगा । एक क्षणमें ही उपज कर नष्ट होनेवाला पदार्थ जब आत्मलाभ ही नहीं कर सका तो फिर अपने योग्य अर्थिकयाको भूछा क्या करेगा ! अनेक क्षणोंतक ठहरते हुये ही बाण आदि पदार्थ अभीष्ट स्थानपर पहुंच सकते हैं। काळान्तर स्थायी घट ही जळधारण क्रियाको कर पाता है। बहुत देरतक ठहर रहे अन्न, जल, आदिक पदार्थ ही क्ष्मा, पिपासा, आदिकी निवृत्ति कर सकते हैं । दीपकालिका, बिजली, बुदबुदा (बबूला) आदि पदार्थ भी सर्वथा नित्य नहीं हैं । असंख्य समयोंतक इन की स्थिति है द्रव्यरूपसे तो ये भी नित्य हैं। अतः तुम्हारा सर्वथा कार्यत्व हेत प्रकृत पक्षमें नहीं घटित होनेसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तिस ही कारणसे यानी द्रव्यार्थिकनयकी भपेक्षा कथन करनेसे जगतके सम्पूर्ण पदार्थोंको उपादान कारणसे रहितपना है जब कि सम्पूर्ण चरा-चर पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य हैं एंसी दशामें वे उपादान कारणोंसे जन्य नहीं हो सकते हैं शरीर, पृथिवी, आदिकोंमें अचेतन उपादान कारणोसे उपजना हेतु भी सिद्ध नहीं है तब तो अचे-तनोपादानत्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध हुआ । दूसरी बात यह है कि अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास भी है । पक्षके एक देशमें हेतु रहे और पक्षके दूसरे देशमें हेतु नहीं रहे वह भागासिद हेलाभास होता है। शरीर, पृथियी, वृक्ष, आदिके उपादान कारण अचेतन माने गये हैं। किन्तु ज्ञान, मुख, इच्छा आदिक कार्य भी पक्षकोटिमें किये गये हैं। परन्तु ज्ञान आदिके उपादान कारण तो चेतन आत्मार्ये माने गये है । अतः उस स्वीकृति करके भी पक्षके परिपूर्ण देशोंमें नहीं ठहरनेसे अचेतनोपादानत्व हेत् भागासिद्ध हेत्वामास है। जैसे कि वनस्पतियोंमें चेतनपना सिद्ध करनेके छिये प्रयुक्त किया गया स्वापदेत भागासिद्ध है वनस्पतियां (पक्ष) चैतन्यवालीं हैं। (साध्य कोटि) शयन करनेवाळी होनेसे (हेत्) दो दिनके जन्मे हुये बालकके समान (अन्वयद्दशन्त) इस अनुमान द्वारा निदाकर्भका उदय होनेपर शे रहीं वनस्पतियोंमें तो चैतन्य वटित हो जाता है किन्तु हलन. कम्पन, कर रहीं जागती हुयीं वनस्पतियोंमें स्वाप हेतुसे चेतनपना सिद्ध नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण जागते हुये मनुष्य, पशु, पक्षी जीवोंमें भी स्वाप हेतुसे चैतन्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। तथा तीसरा सिनेनेशिविशिष्टपना हेतु भी द्रव्यके घटित नहीं होता है। क्योंकि वह रचनाविशेष या तिकोने. चौकोने. गोल. अदि परिमाणोंकी रचनायें पर्यायोंमें पायीं जाती है। इस कारण सर्वथा सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। चारो ओर देखी जा रहीं रचनायें जब कि पर्यायोकी नियत हैं तो द्रव्यार्थिकरूपसे विशेष सनिवेश उन पक्षोंमें नहीं वर्तता है एक बात यह भी है कि वैशेषिकोंने ज्ञान, सुख, आदि गुणोंमें या भ्रमण, चळन आदि क्रियाओंमें सिन्नेवेशिवशेषको स्वयं स्वीकार नहीं किया है " गुणादिनिर्गुणिकयः " गुण, क्रिया, जाति, आदिमें परिमाण आदि गुण या क्रियायें नहीं ठहरते हैं गुण तो द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। अतः पक्षके एक देश हो रहे ज्ञान आदिमें सिनेवेशविशेषकी वर्तना नहीं होनेसे सर्वया सिनेवेशविशिष्टल हेत् भागासिद्ध हेत्वाभास है उन सर्वथा कार्यत्व, सर्वथा अचेत्नोपादानत्व, सर्वथा सनिवेशिविष्ठित हेतुओंके समान ही चौथ

ठहर ठहरकर प्रवर्तना हेत भी सिद्ध नहीं है स्वरूपासिद्ध हैत्वाभास है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेकासे किसी भी पदार्थकी तिस प्रकार ठहर ठहरकर त्रिराम लेते हुये प्रवृत्ति नहीं होती है दृव्यार्थिकनयसे तो सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य, चन्द्रमाके अविराम प्रकाश करनेके समान अविश्राम नित्य प्रवृत्ति कर रहे हैं। पुरुष्ठ दव्यके रूप, रस, आदिक गुण नित्य ही काली, पीळी, खद्दी, मीठी आदि पर्यायोंके धारनेमें प्रवर्त रहे हैं . एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता है। जीव द्रव्य सर्वदा जानना, अस्तिपन, बस्तुपन आदिमें अनवरत प्रवृत्ति कर रहा है। जीवकी पर्याय बर्ढई सुनार, कुछाछ, या पुद्रछकी। पर्याय कुठार, हथौडा, चाक चूमना आदिके समान मध्यमें विराम छेते हुये प्रवृत्ति करना द्रव्योंमें नहीं है। चला दिये गये यंत्र (मशीन) के समान जिस ओर धुन बंध गयी उसमें द्रव्य सदा प्रवर्तते रहते हैं इस कारण उस स्थित्वा प्रवृत्ति हेतुकी भी असिद्धि हुई । पांचवां अर्थिकियाकास्त्वि हेतु फिर इन्यसे भिन्न हो रही पर्यायके पाया जाता है। घट, पट, आदि पर्यायें जल धारण आदि अधिकियाओं को कर रही हैं। पुद्रलकी जल पर्याय करके स्नान, पान, अवगाहन, अर्थिकयायें करी जातीं हैं। एकान्त करके यानी सर्वथा शरीर, पृथ्वी, आदिकोंको वह अर्थक्रियाकारीपन कठिनतासे भी नहीं बन पाता है। अर्थात् इन्यरूपसे शरीर, पर्वत, आदिक किसी भी लौकिक प्रयोजन साधक अर्थिकियाका सम्पादन नहीं कर रहे हैं जैसे कि खेतकी भिट्टी मलें ही चना गेंह, ईख, मूंग, उर्द, बननेकी सामर्ध्यको रखती है किन्तु वर्तमान मिट्टी अवस्थामें रोटी, दाल, पेडा, या क्षुधा निवारण आदि कार्योंको नहीं कर पाती हैं अथवा इस पंक्तिका अर्थ यों कर छिया जाय कि वैरोषिकोंके यहां द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानी गयी पर्यायको अर्थक्रियाकारीपना कथमपि यक्तियोंसे नहीं सध पाता है। द्रव्यसे कयंचित् अभिन हो रहीं पूर्यायें ही अर्थिकयाओंको करती हैं पूर्यायानक द्रव्य अर्थिकियाओंको साध रहे हैं। अतः अर्थिकयाकारित्व हेतु उन पृथ्वी, शरीर, आदि केवल पर्याय या स्वतंत्र द्रव्योंमें नहीं घटित हो पाता है इस कारण स्वरूपासिद्ध हेलाभास ही है। यहांतक पांचों हेतुओंको सर्वथा स्वीकार करनेपर वैशेषिकोंके ऊपर म्वरूपासिद्ध हे वाभासका प्रसंग दे दिया गया है दो हेतुओं में भागासिद्ध दोष भी जड दिया है।

यदि पुनः कथंचित्कार्यत्वमन्यद्वा हेतुस्तदा विरुद्धः स्यात् स्वयमिष्टविपरीतस्य कथं-चिद्धीमद्वेतुकत्वस्य साधनात् । सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे हि साध्ये जगतः कथंचिद्धीमद्वेतुकत्व-साथनो हेतुर्विशेषविरुद्धः सर्वोऽपीति । नाकाशंतः पपलायंते विशेषविरुद्धा हेतवः । कार्यत्वादिना मौलेन हेतुना स्वेष्टस्य साध्यस्याप्रसाधनात्तेषां निरवकाश्चाभावात् तैरस्य व्याघातसिद्धेः ।

यदि फिर वैशेषिक कथांचित् कार्यपनेको हेतु स्त्रीकार करेंगे अथवा अचेतनोपादानत्व, सिन्धे-शिवशिष्टत्व, आदि अन्य हेतुओंमें कथांचित्पना लगाकर उनको हेतु अमीष्ट करेंगे तब तो उनके वे हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायंगे क्योंकि कथांचित् कार्यपना आदि हेतु तो जगत्में कथांचित् बुद्धिमान् हेतुसे जन्यपनको सार्थेगे । अतः स्वयं दृष्ट होरहे सर्वथा बुद्धिमान् कारण करके जन्यपनसे विपरीत होरहे फर्यचित् बुद्धिमान हेतु करके जन्यपनके साथ न्यापि रखने वाले कथंचित् कार्यत्व आदि हेतु तो विरुद्ध है " साच्यविपरीतव्यासो हेनुर्विरुद्धः " जगनुका सभी प्रकार व्यापक, सर्वज्ञ, एक अशरीर, बुद्धिमान् कारणसे जन्यपना साध्य करनेपर पुनः कथंचित अन्यापक, अल्पन्न, अनेक सशरीर, बुद्धि-मान कारणोंसे जगतकी उत्पत्तिको साथ देनेवाछे वे सभी हेत विशेषविरुद्ध हेत्वामास होजाते हैं. अपना विशेष विरुद्धपना पुकार रहे वे हेत यों ही सहजमें झट परायन (भाग जाना) नहीं कर जाते हैं । बहुत दिनसे बिद्धर गये अपने मूल्यवान् पदार्थकी प्राप्ति होजानेपर पुनः वह पदार्थ यो ही शर राष्ट्रओंको नहीं सोंप दिया जाता है। कथंचित रुगा देनेसे उक्त सभी हेतु नैरेापिकोंक विरुद्ध होकर स्याद्वादियोंके पक्षांसाद्धिकी प्रकार मचाते रहते हैं। विशेष विरुद्ध हेतु अपने कर्तव्य कथंचित् बुद्धिमान्से जन्यपनको चराचर जगत्में साध रहे हैं। निकृष्ट कार्यकी साध छेनेका प्रकरण आनेपर भछे ही कोई भाग जाय अच्छाही है किन्तु प्रकृष्ट कार्योंको साधनेके लिये साधन अपना धन्य भाग समझते हैं वे अधिक देरतक ठहरना बांछते हुये बड़ी प्रसन्तराक्षे उन कार्योंको साधते हैं। सबसे प्रथम मूलमें कहे गये निर्विशेषण कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओं करके वैशेषिकोंके यहां अपने इष्ट होरहे साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होसकी है। हां कथंचित कार्यत्वको सर्वत्र आदरके साथ स्थान मिल रहा है । किन्तु सर्वथा कार्यत्वको कहीं भी ठहरने के लिये अवकाश प्राप्त नहीं होता है । अतः उन कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् अचेतनोषादानत्व, आदि हेतुओंके अवकाशरहितपनका अभाव होजानेसे उन कथंचित् कार्यत्व आदि करके इस मूलमें उपात्त किये निर्विशेषण कार्यत्व या सर्वथा कार्यत्व आदि हेतुओंका व्याघात होजाना सिद्ध है । अर्थात् सादर निमंत्रणपूर्वक सर्व स्थळेंपर अवकाश पारहे कयंचित् कार्यत्व हेतु करके सर्वत्रसे निरादर कर भगाये जारहे सर्वथा कार्यत्वहेतुका व्याघात कर दिया जाता है। यों वैशेषिकोंके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान कर जैन सिद्धान्त अनुसार कथंचित बुद्धिमान् निमित्तवकी सिद्धि होजाती है।

न चैवं धूमादेरम्याद्यनुमानं मत्याख्येषं कथंषिदम्निमस्वादेरेव कचिल्लौकिकैः साध्य-त्वात् कथंचिध्द्मवस्वादेरेव हेतुत्वेनोपममाश्वासिद्धत्वविकद्धत्वयोरयोगात् । तिहं जगतां कथं-चिद्वुद्धिमत्कारणत्वस्य साध्यत्वात् कथंबित्कार्यत्वादेश्र हेतुत्वोपगमात्परस्यापि न दोषः इति चेक्, स्वाद्वादिनां सिद्धसाधनस्य तथा व्यवस्थापनात् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि इस प्रकार विशेष विरुद्धताका कुचक यदि भन्ने हेतुओंपर चन्ना जावगा तब तो धूम, कृतकत्व, आदि हेतुओंसे अग्नि, अनित्यत्व, आदिको समझा रहे प्रसिद्ध अनुमानोंका भी प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये | धूममें सर्वथा धूमपना नहीं है पौद्रिक्षिक पना या कंठ, आंखमें विश्लेष करा देना भी धर्म वहां विश्वमान हैं । धूम सर्वथा अग्निको ही नहीं साधता है उच्च-

ताको भी साधता है। गीछे ईंधनके संयोगको भी समझा देता है। धूममें अनेक कुतर्क (तनाखियां) उठायी जा सकती हैं। कृतकत्व हेतुमें भी देश, कालके विशेषोंकी अपेक्षा लगाकर विशेष विरुद्धता धर दी जायगी । आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझना क्योंकि छोकदक्ष व्यवहारी जनों करके कथांचित् आप्रमत्त्व, कथांचित् अनित्यत्व आदिको ही साध्य किया है और कथांचित् धूमवत्त्व, कथं-चित् कृतकत्व, आदिको ही हेतुपने करके स्त्रीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपन हा योग नहीं हो पाता है, यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अग्निको हेतपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपनका योग नहीं होपाता है । यदि सर्वथा धूम या सर्वथा आग्निको हेतु और साध्य बना जायगा तब दो इनको भी उन्हीं तोपके गोले सदृश हो रहे असिद्धपन, विरुद्धपनसे उठा दिया जायगा। वैरोधिक कहते है कि तब तो सम्पूर्ण जगतोंका कथंचित् बुद्धिमान् कारणसे जन्यपनको साध्य हो जानेसे और कथांचित् कार्यन्त्र, कथांचित् सिनेवेशविशिष्टत आदि को हेतुपना स्वीकार कर छेनेसे परवादी हम वैशोषिकोंके यहां भी कोई दोष नहीं आता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेपर स्याद्वादियोंकी ओरसे सन्नहवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोषको तिस प्रकार व्यवस्था करा दी गयी है। हम स्यादादी जब कि नाना आत्माओंको शारीर, खानिज, पर्वत, आदि जगदर्ती कार्योंका निमित्तकारणपन प्रथम है। स्वीकार कर रहे हैं तो सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ ! बादीको प्रातिवादिक सन्मुख असिद्ध पदार्थकी सिद्धि करनी चाहिये, बुद्धिबृद्ध पुरुषोंको गतमार्गका पुनःगमन करना परिश्रमवर्धक ही है।

द्रव्यं गुणः किया नान्त्यविशेषोऽशाश्वतो ननु । विवादाध्यासितो धीमान्हेतुः साध्यस्थितो यदा ॥ ५५ ॥ कार्यत्वं न तथा स्वेष्टविपरीतं प्रसाधयेत । नाप्यसिद्धं भवेत्तत्र सर्वथापि विवक्षितं ॥ ५६ ॥ इत्येके तदसंप्राप्तं भेदैकांताप्रसिद्धितः । कार्यकारणयोरेक्यप्रतिपत्तेः कथंचन ॥ ५७ ॥

दूसरे कोई एक वैशेषिक विद्वान् स्वपक्षका अवधारण करनेके लिये यों कह रहे हैं कि हम सम्पूर्ण द्रव्योंको पक्ष नहीं बनाते हैं । किन्तु घट, पट, आदिक कार्यद्रव्योंको पक्षकोटिमें धरते हैं । इसी प्रकार अनित्य गुणोंको पक्ष स्थिर करते हैं । देशसे देशान्तर करा देना स्वरूप क्रियायें तो हमारे यहां सब अनित्य ही मानी गयी हैं। नित्य द्रव्योंमें वर्त रहे व्यावर्तक, अनन्त और अन्तमें वर्त रहे ऐसे अंत्यविशेषोंको भी हम धर्मी नहीं बना रहे हैं। सामान्य, समवाय, नित्यगुण और नित्य द्रव्य भी धर्मी

नहीं हैं। किन्तु अनित्य द्रव्य, अनित्य गुण और सम्पूर्ण कियायें हो विवाद में प्राप्त हो रही पक्ष मानी गयीं हैं और जिस समय इन अशास्त्रत द्रव्य गुण, कियाओंका निमित्तकारण एक बुद्धिमान साध्यरूपेस व्यवस्थित किया गया है उस समय प्रयक्त किया गया कार्यत्वहेत तिस प्रकार हमको निज अभीष्ट होरहे साध्यस विपरीतको कथमपि नहीं साध पायेगा जोकि आप जैनोंने त्रेपनवीं वार्तिकमें त्रिरुद्धपनेका कटाक्ष किया था यों कार्यत्व हेत हमारे इष्ट साध्यको ही बढिया साधेगा । तथा वह कार्यत्वहेत यदि सर्वथा भी विवक्षाप्राप्त कर लिया जायगा तो भी उन सर्वथा जन्य द्रव्य, गुण, क्रियाओं में असिद्ध हेत्वा-भास नहीं होसकेगा, अशाधत माने गये द्रव्य, गुज, कियाओंमें, सर्वथा कार्यत्वहेतु निर्द्रन्द्व ठहर जाता है । अतः " सर्वथा यदि कार्यत्वं " इस वार्ति नद्वारा असिद्ध दोष उठाना जैनोंका उाचित कार्य नहीं है। यहांतक कोई एक कर्तृवादी कर रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कथन संगतिस रहित हैं। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां माने गये कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदकी प्रमाणींसे सिद्धि नहीं हो सकती है जब कि कार्य और कारणके कथंचित एकपनकी निर्वाव प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति होरही है। ऐसी दशामें परमाण, आत्मा, आकाश, आदि कारण नित्य हैं तो कथंचित अभिन्न होरहे उनके कार्य घट, पट, ज्ञान, इच्छा, शब्द, आदि भी कथंचित् नित्य होजायंगे । अतः पक्षमें सर्वथा कार्यत्वके नहीं उहरनेसे कार्यत्व हेत स्वरूपासिद्ध हो ही गया, कथंचित् नित्य पदार्थीमें हेतुओं ते सर्वथा जन्यपना अनुमानान्तरसे बाधित भी है। अतः तुम्हारा कार्यत्व हेत् कालात्ययापदिष्ट हुआ. (अपीछ करनेपर उनकी सजा बढ गयी)।

यदप्याद्दुः परं पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमशाश्वतं धर्मि तस्य विवादाध्यासितत्वाक पुनरा-काशं अभिलापात्तमेवं शाश्वतं द्रव्यं, नाष्यात्मा सुखाद्यनुमेयो नित्यो, न कालः परत्वापरत्वा-चनुमेयो दिग्वा, नापि मनः सक्कद्विज्ञानानुत्पत्त्यानुमेयं, नापि पृथिव्यादिपरमाणवः कार्यद्रव्या-नुमेयास्तेषामविवादापञ्चत्वात् । तत एव न सामान्यमनुवृत्तिमत्ययानुमेयं, नापि समवाय इहेदमिति मत्ययानुमेयो, नांत्यविशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्यंतव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः ।

उक्त वार्तिकोकी न्याल्या इस प्रकार है कि दूसरे कर्तृवादी पण्डित जो भी यह कह रहे हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इस प्रकार चार जातिके अनिस्य कार्यद्रन्योंको हम धर्मी बनाते हैं। क्योंकि उन अनित्य द्रन्योंका किसी बुद्धिमान् निमित्तद्वारा बनाया जाना ही विवादमें पड़ा हुआ है। किन्तु फिर शाश्वत नित्य पांच द्रन्य तो कार्यरूपसे विवादप्रस्त नहीं है। शन्दका समवायीकारण होकर गृहीत हो रहा नित्य द्रन्य आकाश इस प्रकार पक्ष नहीं किया गया है। अपना आत्मा स्व संवेच और दूसरोंका सुख, दु:ख, आदिकरके अनुमान प्रमाणद्वारा जानने योग्य नित्य आत्माद्रन्य भी बुद्धिमद्वेतुकपनाकरके विवादापन्न नहीं है। जेठापन, छोटापन, इन कालिक परत्व, अपरत्व आदिकरके अनुमान करने योग्य परोक्षकालद्रन्य भी नित्य है। अतः कर्तृसाधक

अनुमानके पक्षमें नहीं घरा गया है। अथवा दैशिक परत्व, अपरत्व, " इदमतः '' यह इससे पूर्व है, अमुक यहांसे उत्तरमें हैं इत्यादि लिंगकरके अनुमानसे जानी गयी नित्य दिशा द्रव्यका भी पक्षमें नहीं प्रहण किया गया है। तथा '' युरापञ्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो छिंगं '' चक्ष आदि कारणोंकरके होनेपर भी युगपत् कई ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनेके करके अनुमान किया गया नित्य हो रहा मन भी धर्मी नहीं किया गया है। मन अनन्ते हैं। घट, पट, बिन्दु, हिम, ज्वाला, अंगार, श्वास, व्यजनवात, आदिक कार्य द्रव्योंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जान लिये गये पृथिवीपरमाणु, जलीय परमाणु, तैजस-परमाणुये, ये नित्य हो रहीं पृथित्री आदि चार जातिकी परमाणुयें भी धर्मी नहीं की गयी हैं। क्योंकि उन नित्य परमाणुओंको कर्तृजन्यपनके विवादमें प्रसितपना नहीं है । नित्य पदार्थोंको कोई भी पण्डित ईश्वरकृत नहीं मानता है तिस ही कारणसे यानी विवादापन नहीं होनेसे ही यह गी, यह गी यह भी वैसी ही गों, इस प्रकारके अनुवृत्ति ज्ञानोंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जानने योग्य चौथा गोत्व द्रव्यत्व आदि सामान्य (जाति) पदार्थ भी हमने पक्षकोटिमे नहीं रखा है । तथा इन तन्तुओंमें पट है. इस घटमें रूप है इस प्रकार सप्तम्यन्त और प्रथमान्त पदोंका समाभिन्याहार होनेपर " इह इदं " इस प्रतीतिके द्वारा अनुमान करने योग्य समवाय पदार्थ भी धर्मी नहीं बनाया है जो कि '' एक एव समनायस्तत्त्वंभावेन, अयुत्तिसद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः, नित्यसम्बन्धः समवायः '' इस ढंगसे समवाय नित्य माना गया है तथा ''अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिविंशेषः परिकीर्तितः'' अन्तमें होनेवाछे और निल्यद्रव्योंमें वर्त रहे तथा अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धिके कारण ऐसे विशेष पदार्थ तो नित्य हैं उनको इम ई्खरजन्य थोडा ही मानते हैं। अर्थात - घटका व्यावर्तक कपाल, कपालका न्यावर्तक उसके अवयव कपालिकायें, यो दूर चलकर पंचाणुक, पुनः इसका न्यावर्तक चतुरणुक और चतुरणुकका भेदकारक त्र्यणुक एवं त्र्यणुकका व्यावर्तन करनेवाला बणुक है। द्यणुकोंकी व्यावृत्ति परमाणुओंसे हो जाती है। किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंकी परस्परमें विशेषताओंको करनेवाला एक एक परमाणुके साथ एक एक विशेष पदार्थ लगा दिया गया है। जो कि विशेष पदार्थ स्वतः न्यावृत्त है स्वपरप्रकाशक दीपकके समान स्वपरन्यावर्तक उसको अन्य विशेषोंकी अपेक्षा नहीं है । इस कारण विशेषको सबके अन्तमें ठहरा कर अन्य माना गया है वे अनन्तानन्त विशेष पदार्थ तो चतुर्विध अनन्त परमाणुओं और आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन इन नित्य द्रव्योंमें वर्तते हैं । परस्परमें या अन्य पदार्थींसे हो रही अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धिके हेतमें विशेष पदार्थ हैं । नित्य पदार्थ हो रहे इन विशेषोंको पक्षमें नहीं किया गया है ।

तथा गुणोऽप्यशाक्वत एव रूपादिर्धर्मी न पुनः शाक्वतोऽन्त्यविशेषेकार्थसमवेतः।परिमा-णकत्वेकपृथक्त्वगुरुत्वस्नेहसाछिछादिपरमाणुरूपरसस्पर्शादिछक्षणो नापि द्रवत्वममूर्तद्रव्यसंयोगो वा तदाधारेतरेतराभावो वा तस्यानुत्पविरूपस्याविवादाध्यासितत्वात् ।

वैशेषिक ही कहते जा रहे हैं कि तिसी प्रकार यानी उक्त नित्य द्रव्योंके समान नित्य गुण पदार्थ भी पक्ष नहीं किये गये हैं। गुण भी अनित्य ही घटरूप, इक्षुरस, पुष्यगन्ध, अग्निस्पर्श, आदि धर्मी पकडे गये हैं। किन्तु फिर अन्त्य विशेषोंके साथ एकार्य समवायसम्बन्ध करके वर्त रहे नित्य गुण पदार्थको धर्मी नहीं किया गया है। अर्थात - जिन दो गुणोंकी एक अर्थमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति होती है सहोदर भाइयोंके एकोदरत्व सम्बन्ध समान उन दो गुणोंका परस्परमें सम्बन्ध एकार्थ समवाय माना गया है। नित्य द्रव्योंमें विशेष पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रहता है। और वहां है। नित्य द्रव्यके गण रहते हैं । अतः उन गणोंमें और विशेष पदार्थमें परस्पर एकार्थ समवाय सम्बन्ध हुआ नित्य द्रव्यमें रहनेवाले नित्य गुणोंको बुद्धिमान् हेतुसे जन्य साध्य करनेपर पक्षमें नहीं धरा गया है। यहां इतना विशेष समझ लेना कि नित्य द्रव्योंके कई गुण अनित्य भी हैं। जैसे कि संसारी आत्माके हान, इच्छा, सुख, द:ख, आदि गुण अनित्य हैं। आकाशका शब्दगुण अनित्य है। मनका संयोग गुण अनित्य है। नित्य द्रव्यके इन अनित्य गुणोंको तो पक्षकीटिमें डाल दिया गया है। जो गुण नित्य होकर नित्य द्रन्योंमें समवायसम्बन्धसे ठहर रहे हैं ऐसे परममहापरिमाण. आकारा, काल, आदिकी न्यारी न्यारी एकल संख्यायें, एक एक नित्य द्रव्योंने न्यारे न्यारे वर्त रहे प्रथक्त गुण, जलकी परमाणुओंमें ठहर रहे गुरुत्व और स्नेहगुण तथा जल, तेज, वायुओंकी परमाण्-ओं में पाये जा रहे रूप, रस, स्पर्श, आदि स्वरूप गुण तो धर्मी नहीं हैं। हां, घटमें रहनेवाले परिमाण, एकत्व संख्या, प्रथक्व, गुरुत्व, रूप, रस, आदि अनित्य गुण तो पक्षमें घर छिये गये हैं। अवयवी जलका स्नेह गुण भी अनित्य है । पीछपाकवादी विद्वान प्रार्थवीके परमाणुओंमें अग्निक्योग हारा पाक होनेको स्वीकार करते हैं । अतः प्रथिनीके परमाणुओं में पाये जानेवाले रूप. रस. आदि गुण अनित्य हैं । अतः ये पक्षकोटिमें है । तथा आद्य स्यन्दनका वायी कारण हो रहा द्रवत्वगुण भी परमाणुओंमें वर्त रहा नित्य है । घृत. मौम, आदि कार्योको बनानेवाली प्रथिवी परमाणु या तैजस सवर्णको बनानेवाली तैजस परमाणुओंमें अथवा सम्पूर्ण जल परमाणुओंमें पाया जानेवाला द्रव्यत्व गुण नित्य है। हां कार्यद्रव्य होरहे लाख रंग, आदिके द्रवत्व गुण अनित्य हैं ।नित्य द्रवगुण तो पक्षकोटिमें नहीं है। तथा अमूर्त द्रव्योंका संयोग भी पक्ष नहीं है । क्योंकि आकारा, काल, दिक, आत्मा और मन इन अज-द्रव्योंका संयोग नित्य है । नित्य परमाणुगुणोंका संयोग तो अनित्य माना गया है । क्योंकि कारणवश विघट जाता है। अतः अमूर्त द्रव्योंके संयोगको छोडकर अन्य सम्पूर्ण संयोगोंको पक्ष बनालो, इसी प्रकार उन आधारभूत अनित्य द्रव्योंमें वर्त रहा इतरेतरामाव भी नित्य है। कार्तिपय वैशेषिक पण्डित एक कर्मोद्भव, इयकर्मजन्य, विभागजन्य, इन तीनों प्रकारके विभागोंको अनित्य है। मानते हैं । किन्तु संसारी आत्मामें चौदह गुण माने गये हैं। तथा '' संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे। परापरत्वे संख्यादि पञ्च वेगश्च मानसे ॥ " इन कारिकाओं द्वारा नित्य द्रव्योंमें भी विभाग माना गया है। परमाणुओंका विभाग भछे ही अनिस्य होय किन्तु अमूर्त निस्य द्रब्योंका विभाग तो नित्य माना जायगा। एक बात यह विचारकी है कि, जब कि ब्यापक निस्य द्रब्योंमें सर्वदा अछिद्र निस्य संयोग होरहा है तो किर " संयोगनाशको गुणो विभागः " ऐसे विभागगुणको वहां माननेमें जी हिचिकचाता है। जैन जन विभाग या पृथक्त गुणके प्रयोजनको अन्योन्याभावसे साध छेते हैं। किन्तु हम वैशेषिकोंके यहां अभाव पदार्थसे न्यारे पृथक्त और विभाग दो भावात्मक गुण माने गये हैं अतः निस्य द्रब्योंमें पाया जा रहा अन्योन्याभाव तो पक्षमें परिगणित नहीं है। क्योंकि इस अन्योन्याभाव की कार्यान्याभाव तो कार्यान्याभाव कार्यान्याभाव कार्यान्याभाव तो कार्यान्याभाव कार्याभाव कार्यान्याभाव कार्या

तथा किया धर्मिणी विनश्वरी परिस्पन्दलक्षणीत्क्षेपणादिनं पुनर्धात्वर्थलक्षणा भावनादिः काचित्रित्या तस्या अपि विवादापत्रत्वाभावात् । तस्य च बुद्धिमान् हेतुरस्तीति यदा साध्य-स्थितो भवत् तदा न कार्यत्वं स्वेष्टविपरीतं साध्येत् स्वेष्टस्यैव सर्वथा बुद्धिमत्कारणकत्वस्य साधनात् । सर्वथा विविक्षितस्यापि तस्यासिद्धत्वं च नोपपत्तिमदिति तदेतत्सर्वमसंबद्धम् । कार्य-कारणयोभेदेकान्ताप्रसिद्धेः कथिन्वदेवयप्रतिपत्तः । सर्वस्य तद्भेदेकान्तसाधनस्यानेकान्तग्राहिणा प्रमाणेन वाधितविवयत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वच्यवस्थितेः ।

बैशेषिक है। कहे जारहे हैं कि तिस ही प्रकार हलन, चलन, अमण, ऊर्ष्वगमन, आदि पिरस्वरूप उत्क्षेपण आदि विनाशशील कियांचें भी पक्ष हैं यानी पक्षकोटिमें घरी गयी हैं। द्रव्यको एक
देशसे देशान्तरमें करादेनेवाली कियांचें तो अनित्य ही हैं किन्तु फिर याजे, पिन, आदि धातुओंके अर्थस्वरूप
भावना, नियोग, आदि कीई कोई नित्य कियायें तो पक्ष नहीं की गयी हैं। क्योंकि मीमांसक
मतानुसार इन भावना आदि धात्वर्थ कियाओंको भी यहां प्रकरणमें विवादापन्नपना नहीं है। सामान्य,
विशेष, समवाय तो नित्य पदार्थ हैं। अभावोंमें प्रागमाय अनादि है। अतः वह भी कर्तृजन्यत्वेन
विवादपितत नहीं है। हां, ध्वंस नामका अभाव अनित्य है। उसको पक्षमें डाल लो। तादात्त्यसम्बन्धाविच्छिनप्रतियोगिताकोऽन्योन्यामावः और त्रैकालिकसंसर्गाविच्छिनप्रतियोगिताको अत्यन्तामावः
ये दो अभाव एक प्रकार नित्य ही हैं। इस प्रकार पक्षकोटिमें डाले गये अनित्य द्रव्य, गुण, कियायें,
और ध्वंसका हेतु कोई बुद्धिमान् निमित्तकारण है। इस प्रकार जब साध्य कोटिमें ध्ववस्थित किया
जायेगा तब हमारा कार्यत्व हेतु हमारे अभीष्ट साध्य हो रहे ईश्वरजन्यत्वसे विपरीत साध्यको नहीं
साध सकेगा। क्योंकि सबको इष्ट हो रहे सर्वथा बुद्धिमान् कारणसे जन्यत्वका ही साधन किया जा
रहा है। अतः हमारा कार्यत्व हेतु विरुद्ध नहीं है। आप जैन त्रेपनर्थी कारिकामें उठाये हुये दोषको
लोटा छो। तथा यदि कार्यत्वका अर्थ सर्वथा कार्यत्व भी विवक्षा प्राप्त कर लिया जाय तो भी बाब-

नवीं कारिका अनुसार उस कार्यत्वको असिद्ध हेत्वामासपना नहीं बननेवाला है । क्योंकि हम पक्ष हो रहे अनित्य पदार्थीमें सर्वथा कार्यपना वर्त रहा मानते हैं। " यदप्याद्रः " से यहांतक वैशेषिक अपने पक्षको दृढ करते हुये कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका सम्पूर्ण कथन पूर्वापर संगतिस रहित होता हुआ असम्बद्ध है क्योंकि कार्य और कारणमें वैशेषिकोंके यहां अभीष्ट किये गये एकान्त रूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सर्का है क्योंकि कार्य और कारणके कथं-चित एकपनकी सबको प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति हो रही है। उन कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदको साधनेत्राले सम्पर्ण ज्ञानोंके विषयमें अनेकान्तके माहक प्रमाणों करके बाधा उपस्थित कर दी जाती है। अत: भेदको साधनेवाले हेतको बाधित हेत्वामासपना व्यवस्थित कर दिया जाता है। जब कि घट, ज्ञान, शब्द, आदिके कारण होरहे परमाण, आत्मा, आकाश, आदि कारण किसी भी बद्धिमान्से जन्य नहीं हैं तो उनसे अभिन्न होरहे कार्य भी सर्वथा बुद्धिमान्से जन्य ही होय यह एकान्त नहीं किया जासकता है। अतः कार्यत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है। तुम वैशेषिकोंने अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मीको पक्षकोटिने घरा और नित्य द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, और कति-पय अभावोंको पक्ष नहीं बनाया भेदकी फुस फुसी भित्तिपर खडे होकर यह तुम्हारा परिश्रम करना पतनका देतु समझा जायगा '' तस्माद् धौरजायत '' '' आदावपो सृजत '' इत्यादि वेदानुसार वाक्यों द्वारा कातिपय स्मृतिकार और पुराण कार विद्वानोंने आकाश, जल, आदिकी समूल सृष्टि स्वीकार की है। कोई पण्डित ईश्वरके शरीर मानते हैं। अवतार छेना स्वीकार करते हैं। अन्य पण्डित ईश्वरको अशरीर अङ्गीकार करते हैं। ऐसी दशामें उक्त कथन पूर्वापरसंगतिसे सून्य होजाता है। शब्दको (विशेषतया वैदिक शब्दोंको) नित्य माननेवांछ मीमांस ठीकी शब्दभावना, आत्मभावनाको स्वीकार कर छेते हो और कदाचित् वैशेषिक होकर शब्दको सर्वथा अनित्य मान बैठते हो संयोग या विमाग को अनित्य मानकर भी क्वचित् नित्य मान छिया गया है, परमाण्में नहीं पाये जानेवाले गुरुत्वका बोश बळात्कारसे परमाणुपर लादा गया है। नित्य द्रव्योंमें परस्पर भेद करानेके छिये अनन्त विशेष पदार्थोंका मानना निरर्थक है। वैशेषिकोंकी अभीष्ट पदार्थ प्रतिपादक प्रणालीमें अनेक दोष आते हैं उपादान कारण और उपादेयका सर्वथा भेद माने रहना कोरा मिध्याभिनिवेश है।

नतु च कार्यकारणयोरेकस्य कथंचिषिश्रयात् कार्यद्रव्यस्य कारणद्रव्याद्वेदैकान्तो माभूत् गुणस्य चानित्यस्य कर्मणोपि च तत्कार्यत्वाविशेषात् सद्दशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य विसद्दशपरिणामलक्षणस्य विशेषस्य चात्यापरिविकल्पस्य समनायस्य चाऽविष्वग्भावलक्षणस्य द्रव्यकार्यत्वात् कथंचित्ततोऽनन्यत्वमस्तु नित्यात्तु गुणाद्वुणी भिन्न एव तयोः कार्यकारणभावा-भावादिति मन्यमानं प्रत्याह ।

बैशोषिक अपनी नीतिका प्रचार करनेके लिये पुनरिष अवधारण करते हैं कि कार्य और कारणके कथांचित् एकपनका निश्चय हो जानेसे घट, पट्ट, आदि कार्यद्रव्योंका मृत्तिका, तन्तु आदि

कारणद्रव्योंसे एकान्तमेद नहीं होओ तथा अनित्यगुण और क्रियाओंका भी अपने समवायीकारण द्रव्य से एकान्त मेद नहीं होने क्योंकि उन द्रन्योंका उपादेयरूपसे कार्यपना गुण कर्मोंमें विषमान है। द्रव्यकी उपादेयता और गुण कियाओंकी उपादेयतामें कोई अन्तर नहीं है एवं तुम जैनोंके यहां माने गये सहरापरिणामस्वरूप सामान्य पदार्थका और विसहरापरिणामस्वरूप विशेषका जो कि हम वैशोषिकोंके यहां अन्य विशेष और अपर विशेष दो प्रकारका माना गया है। अपने कारण द्रव्यके साथ भन्ने ही सर्वथा भेद नहीं होओ एवं पृथामाव नहीं होकार तादातम्य सम्बन्धस्वरूप हो रहे सम-वायका भी अपने कारणके साथ सर्वथा भेद नहीं सही क्योंकि उक्त अनित्य पदार्थोंको द्रव्यका कार्य होनेसे उस कारणसे कथांचित् अभिनपना बना रही कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुणसे तो गुणी द्रव्य भिन्न ही होगा । क्योंकि उन नित्य गुण और नित्य गुणीमें कार्यकारणभाव नहीं है । अर्थात्—आप जैन कार्य द्रव्यों (पर्यायों) अनित्यगुण अनित्य कियाओं को जैसा मानते हैं तदनुसार कार्य और कारणका कथंचित् अभेद अच्छा है '' सहशपिरणामस्तिर्यक्सामान्यं '' '' अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेक्कविशेषः " ऐसे सामान्य विशेषीं मा भी अपने कारणींके साथ कथंचित् अमेद हमें अच्छा दीखता है। वैशेषिकोने विशेषके दो भेद माने हैं एक अन्तमें ठहरनेवाला नित्यद्रव्यवृत्ति विशेष हैं दूसरा सत्ता या द्रव्यत्वके व्याप्य होरहीं पृथित्रीत्व, घटत्व, आदि जातियों या विशेष द्रव्य, गुण, आदिको दूसरा अपर विशेष इष्ट किया है अस्तु—" नयोपनयैकान्तानां त्रिकालाना अविभाड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकथा '' यों अपृथम्माव (तादात्म्य) स्वरूप समवाय सम्बन्ध भी कथांचित् अभिन बन जाओ हमारी कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुग परममहापरिमाण आदिसे आकाश आदि गुणवान् द्रव्योंको भिन्नही मानना आवश्यक है। उपादान कारण स्वयं उपादेयरूप परिणत होय तब तो अमेद मान छेना अच्छा जचता है किन्तु जहां परिणाम परिणामीभाव नहीं है गुण गुणीका तत्त्वान्तर रूपसे मेद अञ्चण्ण बना रही । अतः आप हमारे सर्वथा मेदका सहारा पाकर बाधाओंको नहीं उठा सकते हैं इस प्रकार कोई वैशेषिक पण्डित मान रहे हैं उनके प्रति श्री आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

नैकांतभेदभृत्सिद्धो नित्यादिष गुणाद्गुणी । द्रवस्थानादिपर्यन्तपरिणामात् तथा स्थितेः ॥ ५८ ॥

नित्य होरहे भी गुणसे सर्वथा भेदको धार रहा गुणी ब्रम्य सिद्ध नहीं है क्योंकि अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त सहभावी परिणामोंसे ब्रम्यकी तिस प्रकार व्यवस्था होरही है। अर्थात— अखण्ड द्रव्यके नियत कार्यों द्वारा अनुमित किये गये अनन्त गुण अविष्यम्भावरूपसे द्रव्यमें वर्त रहे हैं जबसे द्रव्य है तभीसे वे गुण हैं द्रव्यके सहभावी परिणाम गुण माने गये हैं। अतः नित्य गुणोंके साथ नित्य द्रव्यका अभिन्नपना सुल्यम है प्रत्युत अनित्य गुण, कियाओं, सहरापरिणाम, आदिका अपने द्रव्यके साथ अमेद साधना कठिन कसाला है क्योंकि नील घटका ही अप्रिसंयोगसे लाख घट होजाता है आत्मा बना रहता है उसका गुण या पर्याय होरहा ज्ञान निघट जाता है। नर्तकी अनेक शरीरिकयाओंको निनाशती, उपजानती, घण्टों तक बह्की नही नाचती रहता है, सामान्य या विशेषोंमें भी सर्वया अमेद दुर्लभ है। अतः नित्य गुण और गुणी द्रव्यका सर्वथा भेद माने जाना वैशेषिकोंका असत् आप्रह है।

न केवलमित्याद्गुणात्कर्मादेश्व गुणी जीवादिद्रव्यपदार्थः सर्वथा भिन्नो न सिद्धः । किं तिहैं १ नित्यादिप गुणाद्दर्भनादिसामान्यात्र सर्वथा भिन्नस्तस्य तथानादिपर्यन्तपरिणामात्तथा व्यवस्थितत्वाज्जीवत्वादिवत् । कथंचित्तादात्म्याभावे तस्य तद्गुणत्विवरोधाद्वव्यांतरगुणवत् ।

अनित्य होरहे गुणसे अथवा कर्मसामान्य आदिसे सर्वथा भिन्न होरहे गुणवान जीव, पुद्रल आदिक द्रव्य पदार्थ ही सिद्ध नहीं होसकते है केवल इतना ही नहीं है तो और क्या क्या है ! इसका उत्तर यह है कि नित्य द्रव्यके अनुजीवी होते हुये नित्य हो रहे दर्शन, चारित्र, वीर्य, रूप, रस, आदि सामान्य गुणोंसे भी जीवादिक पदार्थ सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जैसा कि सर्वथा भिदको वैशेषिक मान बैठे हैं। क्योंकि तिस प्रकार द्रव्य और गुणका तदात्मकपने करके अनादिसे अनन्तकाल तक परिणाम हो रहा है। अतः तिस प्रकार सर्वथा भिन्नता नहीं होते हुये कथेंचित् अभेद व्यवस्थित हो रहा है। वेसे कि जीवद्रव्यमें चैतन्य या द्रव्य प्राण अथवा भावप्राणीका धारण करा देनेवाल स्वरूप जीवल गुण या पुद्रलमें रूप, रस, आदिके साहचर्य परिणामका प्रयोजक पुद्रल्ल इसी प्रकार अकाश आदि द्रव्योंमें अवगाहप्रयोजक आकाशल आदि गुण उपजीव्य उपजीवक रूपसे तदात्मक होते हुये कथंचित् अभिन्न है। यदि गुण और गुणीमें कथंचित् तदात्मकपना नहीं माना जायगा। तो उस प्रकृत गुणको नियत गुणीके गुण हो जानेपनका विरोध हो जायगा जैसे कि अन्य द्रव्योंके गुण इस प्रकरण प्राप्त द्रव्यके गुण नहीं माने गये हैं। आत्मासे भिन्न पडा हुआ इपया या पैसा जैसे किसी नियत व्यक्तिका नहीं है। बजाज, सराफ, पंसारी, हल्लाई, भृत्य, बालक, सभीका हो सकता है उसी प्रकार आत्मासे भिन्न पडा हुआ ज्ञान गुण आकाशका या घटका भी हो जाय तो वैशेषिकोंके यहा कीर्न रोकनेवाला है ! हां, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चल सकता है। जाय तो वैशेषिकोंके यहा कीर्न रोकनेवाला है ! हां, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चल सकता है।

तत्र समवायात्तस्य तद्गुणत्विमिति चेश्व, समवायस्य समवायितादात्स्यस्य प्रसाधि-तत्वात् । ततः सर्वस्य विवादाध्यासितस्य तनुकरणश्चवनादेः सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कथंचित्कार्यत्वं साधनं स्वष्टविपरीतं कथंचिद्बुद्धिमिश्विमत्तत्वं प्रसाधयेदेवेति विरुद्धं भवत् । सर्वथात्र कार्यत्वमसिद्धमिति दुष्परिहरमेवैतदद्षणद्वयं ।

यदि वैशोषिक यों कहें कि उस नियत गुणी द्रव्यमें उस गुणका समवाय सम्बन्ध हो रहा है। अतः उसको नियत रूपसे उसका गुणपना है। अर्थात्—आत्मामें ज्ञानका समवाय है अतः ज्ञान

गुण आत्माका है और शन्दका आकाशमें समनाय है इस कारण आकाश गुण शन्द है तथा घट, पट. आदिमें रूप, रस, आदिका समनाय होनेसे ने उनके गुण नियत हो रहे है। जब कि जगत्में अपने अपने शरीर पुत्र, कलत्र, धन, वहा, पशु, आदि कुछ संयुक्त हो रहे किन्तु बहुभाग नहीं संयक्त हो रहे भिन्न पदार्थोंकी भी नियत व्यवस्था हो रही है । कोई भी दसरोंकी सम्पत्तिपर अधिकार नहीं जमा सकता है तो फिर अयुत्तसिद्ध पदार्थों के समजाय सम्बन्धसे नियत हो रहे प्रकृत गुणोंको उन नियत द्रव्यों के गुण हो जानेका कौन विरोध कर सकता है ! यदि समवेत गुण ही दूसरे द्रव्यों करके छोनलिये जांय तो ऐसी पोलकी दशामें संयुक्त या असंयुक्त वस्न, भूषण, गृह, उपवन, गोधन, आदि को चाहे कोई भी दिन दहाडे खट सकता है। राजा या पंचायतका प्रबन्ध करना धुलमें मिल जायगा। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि समवायी पदार्थीमें तदात्मकपनको प्राप्त हो रहे तादाल्य सम्बन्धको ही समनाय सम्बन्ध बहुत अच्छा साधा जा चुका है। जब समनायका अर्थ कथंचित तादात्म्य है तो कार्य और कारणका एकान्त भेद प्रसिद्ध नहीं हो सका । किन्तु कार्य और कारणमें कथंचित् अमेद प्रसिद्ध हुआ । जब कि आत्मा, परमाण्यें, आदिक कारण ईश्वरकृत नहीं है तो इनसे कथंचित् अभिन हो रहे ज्ञान, घट, शरीर, भुवन, आदि कार्य भी सर्वथा ईश्वरकृत नहीं है । हां, क्यंचित् बुद्धिमान्मे किये गये भले ही ये मान लिये जाय तिस कारणसे विवादमे प्राप्त हो रहे शरीर, इन्द्रियां, भुवन, द्वीप, पर्वत, आदि सम्रूणि कार्य पदार्थीका बुद्धिमान् कारणद्वारा सर्वेथा जन्य-पना साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया कर्यंचित् कार्यपना हेतु अपने इष्ट साध्यसे विपरीत बुद्धिमान् निमित्तद्वारा कथंचित् जन्यपनकी ही बढिया सिद्धि करा देगा इस प्रकार तम वैशेपिकोंका कार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा और इन शरीर, इन्द्रियों, भुवन आदिमें सर्वथा कार्यपना हेतु तो असिद्ध हेत्वाभास है इस प्रकार कथांचित् कार्यत्व और सर्वथा कार्यत्वके विकल्प अनुसार तुम्हारे ऊपर उठाये गये ये विरुद्ध और असिद्ध दोनों दुषण कठिनतासे भी परिहार करने योग्य नहीं हैं उन्हींको इमने बावनवी और त्रेपनवीं वार्त्तिकमें दिखा दिया है।

संप्रति साधनांतरमन्द्य द्षयञ्चाह ।

अब इस समय प्रन्थकार उन कर्तृवादी वैशेषिकोंके अन्य साधनोंका अनुवाद कर उनके सिद्धान्तोंमें दूषण दिखलाते हुये अप्रिम वार्तिकोंको कह रहे हैं।

विवादाध्यासितात्मानि करणादीनि केनचित् । कत्रीधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वतो यथा ॥ ५९ ॥ वास्यादीनि च तत्कर्तृसामान्ये सिद्धसाधनं । साध्ये कर्तृविशेषे तु साध्यश्चन्यं निदर्शनम् ॥ ६० ॥ शरीर, भुवन, आदिके विवादमें प्राप्त हो रहे खरूप करण इन्द्रियां, अदृष्ठ, परमाणु, आदिक पदार्थ (पक्ष) किसी एक कर्ता करके अधिष्ठित हो रहे सन्ते प्रवर्तते हैं (साध्य दछ) करण आदिपना होनेसे (हेतु) जैसे कि वस्छा, हथोडा, मोंगरा, छेखनी, सूची, छेनी, आदिक करण किसी न किसी बढई, सुनार, धोबी, छेखक, सूचीकार, मिल्ली, आदि कर्ताओंसे अधिष्ठित होकर खयोग्य कियाओंमें वर्त रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान द्वारा यदि सामान्यरूपसे उनके अधिष्ठाता चाहे किसी भी कर्त्ताको साधा जायगा तब तो तुम वैशोषकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष आता है क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम स्वीकार कर रहे हैं उसकी पुनः सिद्धि कराना व्यर्थ है । समहवी वार्तिकमें हम पाइछे भी इस बातको कह चुके हैं । हां, यदि विशेषरूपसे नित्य, ज्यापक, अशरीर, ईश्वर कर्ता करके अधिष्ठितपना यदि साध्य किया जायगा तब तो उदाहरण साध्यसे शून्य हो जायगा वस्छा आदि कारणोंके अधिष्ठाता वन रहे बढई छहार, आदिक कर्त्ता तो अशरीर या सर्वक्र नहीं हैं । अर्थात्—तुम्हारा उदाहरण साध्यविकछ दोषसे प्रस्त हुआ ।

विवादापमस्वभावानि करणाधिकरणादीनि केनचित् कर्जाधिष्ठितानि वर्तते करणाधि-करणत्वाद्वास्यादिवत् । योऽसौ कर्ता स मद्देश्वर इति कश्चित्, तस्य कर्तृसामान्ये साध्ये सिद्ध-साधनं । कर्तृविशेषे तु नित्यसर्वगतामूर्तसर्वद्वादिगुणोपेते साध्ये साध्यविकलमुदाहरणं, वास्या-देरसर्वगतादिरूपतन्नादिकर्जधिष्ठितस्य प्रवृत्तिदर्शनात् ।

वैशेषिकोंका अनुमान यों है कि विवादमें प्राप्त हो रहे स्वमाववाले करण, अधिकरण, सम्प्रदान आदि कारक (पक्ष) किसी न किसी चेतन कर्चांसे अधिष्ठित हो रहे सन्ते किया करनेमें प्रवर्त रहे हैं (साध्य) क्योंकि वे करण या अधिकरण आदि हैं (हेतु) वसूला, आरा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। वह जो इनका अधिष्ठायक कर्चा है वह हमारे यहां महेश्वर माना गया है। यहांतक कोई कर्तृवादी कह रहा है। प्रन्थकार कहते हैं कि उस कर्तृवादीके यहां सामान्य रूपके कर्चांको साध्य करनेपर सिद्धसाधन दोष आता है। हां, नित्य, व्यापक, अमूर्त, सर्वज्ञ, निष्कर्मा, सदामुक्त आदि गुणोंसे सिहत हो रहे विशेष कर्चांको साध्य करनेपर तो तुम्हारा दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता हो जायगा क्योंकि वसूला आदिक्षी असर्वगत, अल्पज्ञ, सकर्मा आदि स्वरूप बढ़ई आदि कर्चाओंसे अधिष्ठित हो रहों की प्रवृत्तियां देखीं जा रहीं हैं। अतः तुम्हारा अनुमान दूषित है।

तत्सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाचेदद्षणं । सोऽपि सिद्धाखिळव्यक्तिव्यापी कश्चित्पसिद्धचित ॥ ६१ ॥ देशकाळविशेषाविक्वज्ञाग्निव्यक्तिनिष्ठितं । साध्यते ह्यमिसामान्यं धूमान्नासिद्धभेदमं ॥ ६२ ॥ यदि वैशेषिक यों कहें कि हम केवल सामान्य या विशेष कर्ताको साध्यक्कि नहीं बनाते हैं। किन्तु उस कर्तापन सामान्य और विशेष दोनोंसे अधिष्ठित होनेको साध्य करते हैं। अतः हमारे उपर कोई दूषण नहीं आता है। जैन पण्डित जैसे आपत्ति पढनेपर सामान्य विशेषासक दुर्ग (किल या गढ) का आश्रय के लेते हैं उसी प्रकार हमने भी सामान्य, विशेष, कर्ताको साधनेका ढंग निकाला है। आचार्य कहते हैं कि वह सामान्य विशेष रूप कर्ता भी सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई न कोई प्रसिद्ध हो सकता है। धूम हेतुसे जो अग्निसामान्य साधा जाता है वह अग्निसामान्य सम्पूर्ण देशविशेष और कालविशेषोंमें पिरिनिष्ठ हो रहीं अग्निव्यक्तियोंमें प्रविष्ट हो रहा है। जो सामान्य अपने विशेषोंमें प्राप्त हो सिद्ध नहीं है वह अग्निसामान्य तो धूमकेतुसे नहीं साधा जाता है उसी प्रकार यहा भी कर्तृसामान्यकी यावत् कर्तृविशेषोंमें प्रतिष्ठित हो रहे की ही सिद्धि हो सकती है किन्तु जब अश्वरिर, व्यापक, निल्य, ईस्तर कोई कर्त्ताविशेष अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है तो सशारिर, अन्यक्त, संसारी, अनेक कर्त्ताविशेषोंमें ही वह कर्तृसामान्य ठहर रहा साधा जा सक्ता है । अतः तुम्हारे अभीष्ट हो रहे कर्त्ता, ईस्तरकी सिद्धि नहीं हुई। सिद्ध हो रहे सामान्य विशेष आत्मक संसारी जीवस्त्र कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम्हारे उपर सिद्ध-साधन दोष तदवस्थ रहा।

न करणादिधर्मिणः करणादित्वंन हेतुना कर्तृसामान्याधिष्ठितवृत्तित्वं साध्यते, नापि कर्तृविश्वेषाधिष्ठितवृत्तित्वं येनोक्तद्पणं स्यात् । किं तर्हि १ कर्तृसामान्यविश्वेषाधिष्ठितत्वं साध्यते, रूपोपलब्ध्यादिक्रियाणां क्रियात्वेन करणसामान्यविशेषाधिष्ठितत्ववत् । न हि तासां करणसामान्याधिष्ठितत्वं साध्यं, सिद्धसाधनापत्तेः । नाप्यमूर्तत्वादिधर्माधारकरणविश्वेषाधिष्ठितत्वं, विच्छिदिक्रियाद्यदाहरणस्य साध्यविकल्रत्वभसंगात् । तस्य मूर्तत्वादिधर्माधारदात्रा-दिकरणाधिष्ठितस्य दर्शनात् ।

वैशेषिक मान रहे हैं कि करण, अधिकरण, कारक आदि धर्मियोंकी सामान्य रूपसे कर्ताद्वारा अधिष्ठित होकर वृत्ति होनेको हम करण आदिकपन हेतु करके नहीं साध रहे हैं और उनसठवीं वार्तिक द्वारा करण आदि पक्षमें विशेषरूप करके कर्ताद्वारा अधिष्ठित होरही वृत्तताको भी हम नहीं साधते हैं जिससे कि आप जैनों द्वारा साठवीं वार्तिकमें कहे जानुके दूषण हमारे ऊपर होजाय तो हम वैशेषिक क्या साधते हैं ! इसका उत्तर यह है कि सामान्य और विशेषोंसे आकान्त होरहे कर्तासे अधिष्ठितपना कारण आदिमें साधा जा रहा है जैसे कि छिदिकियाका दृष्टान्त देकर रूपकी उपलब्धि या रसकी इति आदि कियाओंका कियापन हेतु करके सामान्य विशेषाकान्त करणसे अधिष्ठितपना भी हम वैशेषिक नहीं साध रहे हैं । यो रूपोपछन्धि आदि कियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना साधनेपर हमारे ऊपर

सिद्धसाधन दोषकी आपति होजाती है। कोई भी किया किसी न किसी सामान्यकरणसे होती ही है किन्त हम अतीन्द्रिय, इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके छिये तत्पर हैं। सामान्य करणको साध्य करनेपर तो प्रतिवादी कह सकता है कि प्रदीप, आलोक, उपनेत्र, (चस्मा) अंजन, आदि करणों करके रूपकी उपलब्ध होना हमारे यहां पहिलेसे ही सिद्ध है यों सिद्धंसाधन दोष उठाया जा सकता है तथा अमूर्तत्व, अतीन्द्रियत्व, आदि धर्मीका आधार हो रहे विशेषाकान्त करणकरके अधिष्ठितपना भी हम नहीं साध रहे हैं जिससे कि विच्छेद या छेदन, भेदन, क्रिया आदि उदाहरणोंको साध्यरहितपनका प्रसंग हो जाय क्योंकि उदाहरण हो रहे उन छिदि, भिदि, आदि कियाओंका मूर्तत्व, इन्द्रियप्राह्यत्व आदि धर्मीके आधार हो रहे दातुआ, हेंसिया, दरेंता आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहापन देखा जाता है। अर्थात्—हम वैशेषिक चक्षः, रसना, घाण, आदिक परोक्ष इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके छिये जो अनुमानप्रमाण कहते हैं उसमें दिये गये कियात्वहेतका सामान्यविशेषाकान्त करणोंकरके अधिवितपन साधा जाता है। रूपञ्चति, रसञ्चति, आदि कियार्थे तो अतीन्द्रिय मूर्त या अल्पपरिमाणवाले तथा शन्दसे इतर उद्भूत विशेष गुणोंका अनाश्रय हो रहीं चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियनामक करणोंसे अधिष्ठित संघ जायगीं और सुखोत्पत्ति, अनुमिति आदि कियार्थे अमूर्तन्व, न्यापकदन्य समन्नेतन्त्र आदि धर्मीको धारनेवाळे अदृष्ट, व्याप्तिज्ञान आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहीं सध जायगी तथा विशेष छिदि, मिदि, आदि कियार्थे तो मूर्तल, गुरुत, प्रत्यक्षयोग्यल आदि धर्मीके आश्रय हो रहे वसला. चाकु, चक्की, आदि करणों द्वारा निष्पन्न हो रही सध जायगी । अतः साध्यकोटिमें सामान्य विशेष करणसे अधिष्ठितपना जैसे कियाओंमें कियाल हेतसे साधा जाता है। उसी प्रकार करण आदि पक्षमें कर्तृसामान्य विशेषसे अधिष्ठितपनको करण आदि पन हेतु करके हम वैशेषिक साथ रहे हैं।

यथा वा लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धे धूमादम्त्यतुमाने सामान्यविशेषः साध्यते तथात्रापीत्यद्षणमेव, अन्यथा सर्वातुमानोच्छेदपसंगादिति मन्यमानस्यापि सोपि कर्द्वसामान्यविशेषः
प्रसिद्धाखिलकर्द्वव्यक्तिन्यापी कश्चित् सिध्यति न पुनिरिष्टविशेषव्यापी। न श्वपसि द्धानिन
सामान्यं केनचित्साध्यते देशकालविशेषावच्छिकाम्निन्यक्तिनिष्टितस्यवे तस्य साधियतुं
शक्यत्वादन्यथा नित्यसर्वगतामूर्ताम्निसाधनस्यापि प्रसंगात्।

वैशोषिक ही कहें जा रहे हैं कि अकेले सामान्य या अकेले विशेषको साध्यकोटिमें न घर कर सामान्य विशेष दोनोंको सामान्यरूपसे निशिष्ट करनेका एक दृष्टान्त यह भी है कि जिस प्रकार घूमहारा हुये अग्निके लीकिक या परीक्षक पुरुषोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अनुमानमें सामान्यित्रशेषको ही साधा जाता है। तिसी प्रकार हमारे '' करणादीनि कर्जिशित हतीनि करणादित्वात् '' इस अनुमानमें भी यो सामान्य विशेषको साध्य करनेपर कोई भी दूषण नहीं आता है। अन्यथा सभी अनुमानोंके उच्छेदका प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—विहासन् घूमात् इस प्रसिद्ध अनुमानमें यदि सामान्य

आदिको साच्य किया जाय तब तो सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि आग्निसामान्य तो पहिलेसे ही सिद्ध है न्यासिक्कानद्वारा अग्निसामान्य जाना जा चुका है। यहां यदि अग्निविशेषको साधा जायगा तो महा-नसमें पर्वतीय पत्ते सम्बन्धी या बांस सम्बन्धी अग्निके नहीं होनेसे दृष्टान्त साध्यविक्रल हो जायगा विशेष अग्निको साध्य करनेपर हेत व्यभिचारी भी हो जाता है। जैनोंके दोष उठानेका यही ढंग रहा तो समी अनुमानोंका जगत्तसे उच्छेद हो जायगा चार्वाकमत फैल जायगा । अतः सामान्यविशेषको साध्यकोटिमें धरकर हमारा अनुमान है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मान रहे वैशेषिकके यहां भी वह कत्तीका सामान्य विशेष भी प्रसिद्ध हो रहीं सम्पूर्ण कर्ता व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई सिद्ध हो जायगा । किन्तु फिर तुम्हारे वरमें ही अभीष्ट हो रहे अप्रसिद्ध विशेष कर्त्ताव्यक्तिमें न्यापक मान किया गया तो नहीं शिद्ध हो सकता है। जैसे कि नीव, बबूछ, अमरूद, बट, आदि प्रासिद्ध विशेष व्यक्तियोंमें वर्त रहा कक्षाल नामका सामान्य विशेष तो मानने योग्य है ! किन्त घोडा. पडरा. जुता, टोपी, खाट, दीपक, आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें या खरिवेषाण आदि अप्रसिद्ध व्यक्तियोंमें बक्षत्व नामका सामान्यविशेष नहीं साथा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही। अग्नियोंमें ठहर रहा मान लिया गया अग्रिसामान्य तो किसी भी विचारशील विद्वान करके नहीं साधा जाता है अन्यया शीतल. नीरूप. अदाहक अग्निकी भी धूमहेत्रसे सिद्धि बन बैठेगी । किन्तु देशविशेष या कालविशेष अथवा आकारविशेषोंसे परिमित्त हो रहीं प्रसिद्ध अग्निब्यक्तियोंमें निष्टित हो रहे ही उस अग्निसमान्यविशेष का साधन किया जा सकता है। अन्यथा यानी अप्रसिद्ध अलीक, अग्निके सामान्यविशेषको यदि साधा जायगा तो नित्य, न्यापक, अमूर्त, गुरु, अप्निके शिद्ध हो जानेका भी प्रशंग होगा। द्रन्यत्व या सत्ताकी अपेक्षा अग्नित्व धर्म उनका व्याप्य हो रहा विशेष है और सम्पूर्ण अग्निव्यक्तियोंकी अपेक्षा अग्नित्व जाति व्यापक हो रही सामान्य है इसी प्रकार द्रश्यत्वकी अपेक्षा तो विशेष हो रहा और आम्र. अम-रूद आदि प्रसिद्ध न्यक्तियोंकी अपेक्षा सामान्य हो रहा बृक्षत्व धर्म भी सामान्यविशेष है ऐसे बृक्षत्व या अग्निलको तो साध्य बना लिया जाता है। किन्तु अशरीर, व्यापक, नित्य, सर्वेङ, हो रहा कोई कत्तीविशेष अवापि प्रसिद्ध नहीं है। अतः कर्त्ती सामान्यविशेषको साध्य करनेपर भी करणादिपन हेतुसे सशरीर, अन्यापक, अल्पन्न कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपना सिद्ध हो सकता है अन्य तुम्हारा इष्ट विशेष हो रहा कोई ईश्वर नहीं सध पाता है।

तथा रूपोपलक्ष्यादीनामपि कियात्वेन शसिद्धकरणव्यक्तिव्यापिकरणसामान्यविश्वेषपूर्वकत्वमेव साध्यते नामसिद्धकरणव्यापि। व्यक्तिर्दि किन्मृतिमती दृष्टा यथा दात्रादिलिदिकियायां, किन्दमूर्ती यथा विश्वेषणज्ञानादिर्विशेष्यज्ञानादी। तत्र रूपोपलक्ष्यादी करणसामान्यं
कृतश्चित्सिध्यति तदुपादानसामध्ये सिध्येत् तद्द्रव्यकरणं मूर्विमत्पुद्रल्यपरिणामात्मकत्वाद्भावकरणं पुनरमूर्तमपि तस्यात्मपरिणामत्वादिति तस्य क्रियाविश्वेषात् मसिद्धस्य संज्ञाविश्वेषमात्रं
कियते चक्षः स्पर्शनं रसनमित्यादि। ततो भवतीष्ट्रसिद्धिस्तावन्मात्रस्येष्टत्वात्।

तिसी प्रकार रूपोपङ्गिंध, रसङ्गित, आदि कियाओंके भी कियापन हेतुकरके प्रसिद्ध हो रहीं करण व्यक्तियोंमें व्याप रहे करण-सामान्यविशेष नामक करण द्वारा जन्यपना साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही करणव्यक्तियोंमें व्याप रहे करणत्व नामक सामान्यविशेषसे जन्यपना नहीं साधा जा सकता है। अन्यया रूपोपछन्धिमें आकाश, परमाणु, पिशाच, आदिको भी करणपना बन बैठेगा अपने अपने गृहमन्तव्य अनुसार चाहे जिसको करण बनानेकी ढपली बजायी जा सकती है। हां. यह बात दूसरी है कि करणव्यक्तियों में कोई कोई व्यक्ति तो किसी क्रियामें व्यापार कर रही भूर्तिमती देखी गयी है। जैसे कि छेदन, भेदन, आदि क्रियाओंमें दांतुआ, आरा, छोढा आदि करण मूर्त हैं। और कोई कोई करण किसी किसी कियाके करनेमें अमूर्त हैं। जैसे कि विशेषणज्ञान, व्यासिज्ञान, साद्ध्यक्कान, आदिक उन विशेष्यक्कान, अनुमितिक्कान, उपमिति आदि क्रियाओंके साधनेमें अमूर्त करण 🗸 । किन्तु ये सब करणव्यक्तियां प्रमाणरूपसे सिद्ध हैं । तुम्हारे ईश्वरके समान कोई भी मूर्त या अमूर्त करण भटा प्रमाणोंसे असिद्ध नहीं है। हमारे जैनसिद्धान्त अनुसार उस रूपोपछन्त्रि आदिमें किसी भी अविनाभावी हेत्रसे जो करणसामान्य सिद्ध हो सकता है। वह उपादानकारणकी सामर्थ्य ही भिद्ध होगी। ज्ञान, घट, आदि पर्यायें सभी अपने उपादान कारणोंकी शक्तियोंको करण पाकर उप-जती हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार पांचों इन्द्रियां और मन बाह्यनिर्वृत्तिरूप ही इन्द्रियपने करके निर्णीत किये गये हैं । इन्द्रियपर्याप्ति नामक पुरुषार्थ बाह्य निर्वृत्तिको बनाता है । अतः ये छहाँ बाह्य निर्वृत्तियां अतीन्त्रिय हो रहीं पुद्रलकी पर्याय है। आप वैशेषिक भी निकटवर्ती (लगभग) इसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं । स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन चारों गुणोंमेंसे एक, दोनों, तीनों, चारों गुणोंको धार रही कमसे स्पर्शन, चक्ष, रसना, घाण इन्द्रिया मानी गयी हैं। हां, कान इन्द्रि-यको आकारा और मनको नित्य, अमूर्त, द्रव्य तुमने मान रक्खा है। अस्त इस मान्यतामें आयीं ह्यी आपत्तियोंको तुम्ही भोगोगे । प्रकरणमें यह कहना है कि रूपकी उपलब्धि आदिमें करण हो रही वे द्रव्य इन्द्रियां मूर्तिमान् पुद्रल द्रव्यकी पर्यायस्वरूप होनेसे द्रव्य करण हैं । अतः रूप आदिकी उप-लिंधमें ये मूर्त करण हैं। हां, विशिष्ट क्षयोपरामकी लिंध और रूपज्ञान ये भावकरण तो फिर अमूर्त भी हैं । क्योंकि वे अमूर्त आत्माके परिणाम है। यहां बन्धकी अपेक्षा संसारी आत्माके अमूर्तपनकी विवक्षा नहीं की गयी है। इस प्रकार किया विशेषोंसे अनुमान प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध हो रहे करणोंकी चक्ष:. स्पर्शन, रसना, इत्यादिक केवल विशेष संज्ञायें कर लीं जातीं है। द्रव्यकरणस्त्ररूप चक्षः मर्त है। और भावकरणस्वरूप चक्ष अमृत है। अतः " रूपोपछन्धिः करणकार्या क्रियात्वात छिदिकिया-बत् " इस अनुमान द्वारा जो करणसामान्य की सिद्धि की गयी है वह करणत्व सामान्यविशेष तो लौकिक या परीक्षकोंके यहां प्रासिद्ध होरहे मर्त या अमूर्त करणोंमें प्रतिष्ठित हैं उस ढंग करके हेत या साध्यसे आकृष्टित होरहे अनुमान द्वारा हमारे इष्टसाध्य की सिद्धि होजाती है। क्योंकि केवळ उतनाही सामान्य करणोंसे जन्यपनकी सिद्धि करना अमीष्ट होरहा है किन्तु तुम्हारा ईस्वर विशेष तो कोई कर्ता

न्यक्ति प्रसिद्ध नहीं है। अतः व्याप्ति या दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे उस तुम्हारे मनमानी कत्तपि अधिष्ठित-पना करण आदि पक्षमें नहीं सध पाता है।

नजु च यथात्मनि रूपोपळञ्ध्यादिकियाप्रुपळभ्य तस्यैव तत्र व्यात्रियमाणस्य स्वतंत्रस्य कर्तुः करणं चश्चरादि सिद्धचिति, तथा जगति करणादिसाधनप्रुपळभ्य तस्यैव करणादीनां कर्त्र-िषिष्ठितत्वं सिद्धचतिति सकळजगत्करणाद्यिष्ठायीश्वर इति संज्ञायमानः कथिमष्टो न सिध्येत् तावन्मात्रस्य मयापीष्टत्वादिति पराकृतमनूद्य निराकरोति ।

वैशेषिक अपने पक्षको पुष्ट करनेके छिये पुनः अनुमान करते हैं कि जिस प्रकार आत्मामें होरही रूपकी उपलब्धि, रसकी प्रतीति, आदि कियाओंको देखकर उन कियाओंमें ब्यापार कर रहे स्वतंत्र कर्ता उस आत्माके ही सहकारी करण चक्षुः आदिक साध छिये जाते हैं। उसी प्रकार जगनतेमें करण, अधिकरण, आदि साधनोंको देखकर उस जगन्ते हैं। करण आदिकोंका कर्तासे अधिष्ठितपना सध जाता है। अर्थात्—आत्मा कर्ताके अनुरूप जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियां सिद्ध होती हैं। उसी प्रकार जगन्ते निर्मापक करणोंके अनुरूप ही कोई कर्ता उनका अधिष्ठायक हो सकता है। इस प्रकार जगन्ते निर्मापक करणोंके अनुरूप ही कोई कर्ता उनका अधिष्ठायक हो सकता है। इस प्रकार जगन्ते सम्पूर्ण करण, अधिकरण, आदिका अधिष्ठाता जो कि ईश्वर इस नाम करके कहा जा रहा है वह इष्ट मछा क्यों नहीं सिद्ध होगा ? क्योंकि हमको मी केवल उतना है। ईश्वरका अधिष्ठातापन इष्ट है। जैसे कि तुमको रूपकी उपलब्धिमें आत्माका प्रेरक सहकारी करण इष्ट था। जिस प्रकार आप जैन चक्षुः आदि परोक्षकरणोंकी अपने अनुमानते सिद्धि करते हुये उन करणोंकी चक्षुः, रसना, आदि संज्ञाये घर छेते हैं उसी प्रकार हम वैशेषिक भी जगन्तके अधिष्ठाता कर्ताको केवल साथ रहे उसका नाम निर्देश ईश्वर कर छेते हैं। यहांतक वैशेषिक कह रहे हैं अब यों दूसरे वैशेषिकोंके चेष्टितका अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकोंकरके उस आकृतका। निराकरण करते हैं।

सिद्धे कर्तरि निःशेषकारकाणां प्रयोक्तरि । हेतुः सामर्थ्यतः सिद्धः स चेदिष्टो महेश्वरः ॥ ६३ ॥ नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः । नानाप्रयोक्तृकत्वस्य कचिद्दष्टेरसंशयं ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण कारकोंके यथा विनियोग प्रयोग करनेवाले कर्त्तांके सिद्ध होनेपर सामर्थ्यसे ही कोई न कोई हेतु यानी निमित्त कारण कर्त्ता व्यापक सर्वज्ञ सिद्ध हो ही। जाता है। सम्पूर्ण जगत्के कार-कोंका ठीक ठीक यथा स्थान यथा समय प्रवन्ध करनेवाला विशिष्ट आत्मा ही होना चाहिये और वह हमारे यहां ईश्वर इष्ट किया गया है। यों वैशेषिकोंका मत होनेपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिय क्योंकि सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता एक ही होय इस निर्णयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कहीं कहीं अनेक कारणोंका नाना प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाना निःसंशय देखा जा रहा है। एक विवाह रूप कार्यमें अनेक नियोगी (नेगी) स्वतंत्र न्यारे न्यारे कार्योंके प्रयोजक हैं। जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, ये सब अपने अपने उचित कार्योंके विधाता हैं इनको किसी प्रयोक्ताकी आवश्यकता नहीं है। बारह थम्भोंपर छदी हुई शिखरको सभी धम्मे स्वतंत्रतासे धार रहे हैं इस क्रियाका कोई चेतन अधिष्ठाता प्रयोजक नहीं है। वनमें पढे हुये अनेक बीज अपने अपने न्यारे न्यारे अंकुरोंको उपजा रहे हैं। क्षुधाको अन दूर कर देता है। प्यासको जछ मेट देता है अपने कार्योंका जला देती है बायु पत्तोंको हिछा रही है। आकाशमें शब्द गूंज रहा है इन्यादि अनेक कार्योंका कोई एक मुखिया प्रयोक्ता नहीं देखा जाता है।

न हि करणादित्वस्य हेतोरेककर्तृत्वं सामर्थ्य येन ततो निःश्लेषकारकाणामेक एव मयोक्ता खेष्टो महेश्वरः सिध्येत्। किचत्मासादादी करणादीनां नानामयोक्तृकत्वस्याप्यसंदेह-मुपल्लभ्येः। नतु प्राधान्येन चात्रापि तेषामेक एव प्रयोक्ता सूत्रकारो महत्तरो राजा वा, गुणभावेन तु नानाप्रयोक्तृकत्वं जगत्करणादीनामपि न निवार्यत एव, ततः प्रधानभूतो अमीषामेक एव प्रयोक्तेश्वर इति चेत् न, प्रधानभूतानामपि समानकुलवित्तपौरुषत्यागाभि-मानानां किचिन्नगरादौ करणादिषु नाना प्रयोक्तृणामुपलंभात्।

तुम वैशेषिकों के कहे गये करणादित्व हेतु की एक ही कर्तासे अधिष्ठितपनकी साधने से सामर्थ्य नहीं है जिससे कि उस हेतुसे सम्पूर्ण कारकों का एक प्रयोक्ता तुम्हारे यहां निज अभीष्ट हो रहा महेश्वर सिद्ध हो जाता। अर्थात्—तुम्हारा असमर्थ हेतु तुम्हारे अभीष्ट साध्यका साधक नहीं है। क्योंकि प्रासाद, कोठी, पंचायत, मार्गगमन, पंक्तिमोजन, आदि कार्योमें करण, अधिकरण आदि हो रहे पदार्योक्ता अनेक प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होना भी संदेहरित देखा जाता है। हवेर्लिक न्यारे न्यारे भागोक्तों कितपय स्थपित स्वाधीन होकर कर रहे हैं। कई महलेंको तो अनेक पीढियोंमें कितपय धनपितयोंने बनवाया है। महलके कार्मोसे होनेवाले कार्ष्योक्तो खढ़ार बनाना है। पत्थरका काम करने वाले छहार या बढईपर प्रभुत्व नहीं जमा पाते हैं, अजमेरमें एक महल सेठोंकी चार पीढिसे बन रहा है, ऐसी दशामें उसका अधिष्ठायक एक आत्मा कैसे कहा जासकता है! यदि वैशेषिक पुनः अनुज्ञा करें कि यहां कोठी आदिमें भी प्रधानपनेसे उन कार्योक्ता प्रयोक्ता बढ़ा महान् प्रतिष्ठित पुरुष अथवा राजा एक ही प्रयोक्ता हैं हां गीण रूपसे तो वे कार्य अनेक प्रयोक्ताओं करके प्रयुक्त किये गये हैं। इसी प्रकार जगत्के करण, अधिकरण, आदिकों के भी गीण-रूपसे अनेक प्रयोक्ता होजाय हम उनको नहीं रोकते हैं। हां प्रधान प्रयोक्ता एक ही सबका

होना चाहिये । तिस कारण उन जगत्के निक्शेष कारणोंका प्रधानभूत प्रयोक्ता एक ही ईस्वर है यों कहनेपर तो प्रन्थकार कहने हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि प्रधान होचुके भी समान कुळवाछे, समान धनवाछे, समान पुरुषार्थवाछे, समान त्यागवाछे, समान अभिमानवाछे, अनेक प्रयोक्ताओंका कहीं नगर आदिमें अथवा करण आदिमें प्रयोजकपनसे दीखना होरहा है । अर्थात्—एक नगर कई स्वतंत्र जमीदार या उद्भट पण्डित अन्यानधीन होकर निवास करते हैं । समान कुळवाछे कई कुळीन पुरुष स्वतंत्रतया वस रहे हैं कई सेठ, अनेक मछ, बहुतसे दानवीर, नाना अभिमानी स्वतंत्र होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं । करण, अधिकरण आदिकोंमें अनेक स्थळोंपर स्वतंत्रता देखी जाती है ' मुनयो ध्यानं विद्वति, मज्यते हक्षः शाखाभारेण, असे विद्यतिते विद्युत्, परोपकाराय सता विभूतिः, वृक्षात् पर्ण पतित, मूर्यस्याछोकः '' इन कार्योमें किसी अधिष्ठाताकी आवश्यकता नहीं है । वनमें अनेक पक्षी या पपूर स्वापत्त निवास करते हैं । समुद्रमें अनेक जळचर जीव या प्रवाछ, मुक्ता आदि स्वतंत्र उपज रहे हैं । स्वाध्यायशालामें अनेक सज्जन मनमाने प्रन्थोंका स्वाध्याय कर रहे हैं । हाटमें अनेक केता विकेता अपने प्रयोजनको साध रहे हैं । अपनी उदराग्निसे सभी प्राणी अपने अपने भोज्यको पचा रहे हैं । धार्मिक गृहस्थ अपने कर्तव्योमे प्रवर्त रहे हैं । मुनिजन दिनरात स्वतंत्रतया आत्महितमें लग रहे हैं उपाध्यायमहाराज पढ़ानेमें छवछीन हैं। अपने अपने कर्तव्य अनुसार सभी जीव पुण्य या पार्पोका उपार्जन कर रहे हैं । अतः सबके अधिष्ठायक एक प्रयोक्ताकी सिद्धि नहीं हो पाती है ।

तेषामपि राजाचार्यादिर्वा मयोक्तैक एवेति चेत्, तस्यापि राज्ञोन्यो महाराजः मधानः भयोक्ता तस्याप्यपरः ततो महानिति च्व नाम मधानमयोक्तृत्वं व्यवतिष्ठेत। महेश्वर एवेति चेक, तस्यापि मधानापराधिष्ठापकपरिकल्पनायामनवस्थानस्य दुनिवारत्वात् । मुद्रमपि गत्वा व्यवस्थितिनिमित्ताभावाच ।

यदि वैशेषिक यो कहें कि उन समान कुळताळे, समान धनवाळे आदि या कुम्हार, छहार, आदि नाना प्रयोक्ताओंका भी अन्तमें जाकर प्रयोक्ता हो रहा राजा अथवा गृहस्थाचार्य, जमीदार, प्रधान प्रवन्धकर्त्ता, स्थपित, आदि एक ही प्रयोक्ता है। यो कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि उस राजाका भी प्रधान प्रयोक्ता अन्य महाराजा होगा और उसका भी उपरिवर्ती प्रयोक्ता कोई तीसरा उससे बड़ा मण्डलेश्वर होगा और उससे भी बड़ा अधिकारी महामण्डलेश्वर उसका प्रयोक्ता होगा इस प्रकार चक्रवर्ती आदिके प्रधान प्रयोक्तापनकी भला कहां आगे चलते चलते विश्राम लेनेकी व्यवस्था की जावेगी ? अनवस्था दोच होगा। यदि तुम वैशोषिक यों कहो कि परिशेषमें जाकर सबका अंतिम प्रयोक्ता हमारा अभीष्ट महेश्वर ही है। आचार्य कहते हैं कि उस महेश्वरके भी प्रधान हो रहे उपरिवर्ती उत्तरोक्तर अधिष्ठायक महामहेश्वर आदिकी लम्बी चौडी कल्पना करते सन्ते अनवस्था दोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकता है और बद्दत दूर भी जाकर नुम वैशेषिकोंके पास न्यवस्था कर देनेका कोई परिनिष्ठित निमित्त नहीं है।

स्यान्यतं, नेश्वरस्यान्योऽधिष्ठाता प्रश्वः सर्वक्रत्वादन।दिशुद्धिवैभवभाक्त्वाच । यस्य त्वन्योऽधिष्ठाता प्रश्वः स न सर्वक्षोऽनादिशुद्धिवैभवभाग्वा यथा विष्ठिकर्मकरादिः न च तथेश्वर-स्त्रस्मास्न तस्यान्योऽधिष्ठाता प्रश्वरिति । नाच धर्मिणोऽसिद्धिरिवलजगत्करणादीनां प्रयोक्तुस्त-स्यानुमानसिद्धत्वात्, नापि हेतुरसिद्धस्तस्य सर्वक्षत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोक्तृत्वस्यानुमानसिद्धस्यानुपपत्तरनादिशुद्धिवैभवाभावे चाऽक्षरीरस्य सर्वक्षत्वायोगात् । न च सन्नरिरोऽसौ तच्छरीरप्रतिपादकप्रमाणाभावात् इति । तदप्यसत् सर्वक्षत्वस्य हेतो ख्दैर्व्यभिचारात् । तेषां हि सर्वक्षत्वमिष्यते योगिनान्येन वाधिष्ठितत्वं महेश्वरस्यानादेरिषष्ठापकस्य तेषामादिमतं स्वय-मभ्युपगमात् , तदनभ्युपगमे अपसिद्धांतप्रसंगात् । तथानादिशुद्धिवैभवमप्याकान्नेनातिकं, तस्य जगदुत्यत्तौ वाधिकरणस्य महेश्वराधिष्ठितत्वोपगमात् ।

यदि तुम वैशोषिकोंका यह भी मन्तव्य होय कि ईस्वरका पुनः कोई अन्य अधिष्ठाता प्रमु नहीं है (प्रतिज्ञा) सर्वज्ञ होनेसे (प्रथम हेत्) अनादि कालीन ग्रुद्धियोंके वैभवका धारण करनेवाला होनेसे (दितीय हेत्) देखो जिस अधिष्ठित व्यक्तिका अधिष्ठाता अन्य प्रमु हुआ करता है वह पदार्थ सर्वज्ञ नहीं है और अनादि कालीन राद्धिके वैभवको धारनेवाला भी नहीं है जैसे कि पीनस या डोडी, पालकिक ढोनेकी कियाको करने वाले धीमर या कारागृह (जेळखाना हवाळात) आदिमें बलात्कारसे ठेल देनेकी कियाको करनेवाले चपरासी आदि पुरुष हैं। अर्थात --पीनसको ढोने वाले धीवर भीतर बैठे हुये वैद्य, प्रमु, (मालिक) महारानी आदि अन्य अधिष्ठाताओं के अधीन होकर चल रहे हैं। न्यायकर्ता अधिकारी (अफसर) की आजा अनुसार सिपाई उन अपराधियोंको कारा-गृहमें खींच छेजाता है ये सेवक जन विचारे सर्वज्ञ अथवा अनादि शुद्ध तो नहीं हैं। " साच्याभावे साधनाभावः '' (व्यतिरेक दृष्टान्त) और उस प्रकारका असर्वज्ञ या सादि शुद्ध अथवा अनाषशुद्ध हमारा ईश्वर नहीं है (उपनय) तिस कारणसे उस ईश्वरका कोई अन्य प्रभु अधिष्ठाता नहीं है । (निगमन)। इस अनुमानमें कहे गये ईस्वर नामक धर्मीकी असिद्धि नहीं है जिससे कि मेरा हेत् आश्रयासिद्ध हो जाता क्योंकि जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, सहकारीकारण, किया आदिकोंका प्रयोग करनेवाले उस ईस्वरकी अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्धि हो चुकी है ऐसे प्रसिद्ध ईस्त्ररमें अन्य अधिष्ठाताकी अधीनताका अभाव साधा जा रहा है तथा इस अनुमानमें कहा गया सर्वज्ञ होते हुये अनादि सिद्ध होना एक हेत् अथवा सर्वज्ञत्व और अनादिशुद्धत्व ये दोनों हेत् स्वरूपासिद्ध हेत्वामास भी नहीं हैं क्योंकि अनुमानसे सिद्ध हो रहे उस ईरबरको सर्वक्रवके विना समस्त कारकोंका प्रयोक्तापन नहीं बन पाता है और अनादिकालमे शुद्धिका वैभव नहीं माननेपर उस अशरीर, ईश्वरके सर्वक्रपना नहीं आ सकता है। जैसे कि सादि ख़द्ध मुक्त आत्माके अशरीर होनेपर भी सर्वह्रपनका योग नहीं है। कतिपय पौराणिकोंके विचार अनुसार मान छिया गया वह ईश्वर दारीर-

सहित तो नहीं है क्योंकि उस व्यापक ईस्वरके शरीरोंका प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है। " न तस्य मूर्तिः " ऐसा भी कचित लिखा है अवतारोंपर अखण्ड श्रद्धा करानेवाले पुराणवान्योंमें अवाधित प्रामाण्य नहीं है। यहांतक कोई बृद्ध वैशेषिक कह रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह मन्तन्य भी सत्यार्थ नहीं है क्योंकि पहिले सर्वज्ञपन हेतुका रहीं करके न्यभिचार हो जायगा। " भीमाविल जिरसच् रुद्द विसालणयण सुन्पदिह चला, तो पुंढरीय अजिदंधर जिदणाभीय पीड सबइजो " ये ग्यारह रुद्र जैनोंके यहां माने गये हैं तुम पौराणिकोंके यहां भी " अस्त्रैकपाद हिर्बुघो विरूपाक्षः, सुरेश्वरः, जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽथापराजितः वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्राः " यों ग्यारह रुद्र माने गये हैं कतिषय रुद्र माने गये होंय उनका नियमसे सर्वेज्ञपना भी इष्ट किया गया है। किन्तु योगी अथवा शक्ति नामक अन्य देवता करके अधिष्ठितपना स्वीकार किया है उन रहोंका अधिष्ठापक एक अनादि कालीन महेश्वरको तुमने आदिमें ही माना है। यों स्वयं स्वीकार कर लेनेसे हेत सर्वज्ञत्वके रहनेपर और साध्य अन्यानधिष्ठितत्वके नहीं ठहरनेसे व्याभेचार दोष आया। यदि रुद्रोंके भी अन्य अधिष्ठापकोंकी स्वीकृतिके उस सिद्धान्तको नहीं अंगीकार करोगे तो तुम्हारे ऊपर अपिस-द्धान्त यानी अपने सिद्धान्तसे स्विकित हो जाना दोषके लग जानेका प्रसंग हो जायगा तथा तुम्हारा दसरा हेत अनादि कालीन रादिका वैभव भी आकारा करके अनैकान्तिक हेलाभास है। अनादि कालमे युद्ध हो रहा वह आकाश जगत्की उत्पत्तिमें अधिकरण कारक हो रहा है। साथमें उसका महेश्वरसे अधिष्ठितपना भी स्त्रीकार किया गया है। अतः हेतुके रह जानेपर और घुद्ध आकाशमें अन्यानधिष्ठितत्व साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष जम बैठा ।

किं च, यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोकतृत्वादीश्वरस्य सर्वक्रत्वं साध्यते सर्वक्रत्वाच्य प्रयोक्त्रन्तरियेशं समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं प्रधानभावेन तदा परस्पराश्रयो दोषः कृतो निवार्येत ? साधनांतरात्तस्य सर्वक्रत्वसिद्धिरिति चेक्च, तस्यानुमानेन बाधितविषयत्वेनागमकत्वात् । तथाहि—नेश्वराऽश्रंषार्थवेदी दृष्टेष्टविरुद्धाभिधायित्वात् चुद्धादिवदित्यनुमानेन तत्सर्वक्षत्वावयोध्यक्षमिललमनुमानमभिधीयमानमेकांतवादिभिरभिहन्यते, स्याद्धादिन एव सर्वक्रत्वोषपत्तेः युक्ति-श्वास्त्राविरोधिवाक्त्वादित्यन्यत्र निवेदितं । ततो नाशेषकार्याणाग्रुत्यक्ती कारकाणामेकः प्रयोक्ता माधान्येनापि सिध्यतीति परेषां नेष्टसिद्धिः ।

दूसरी बात यह भी है कि तुम नैशेषिक यदि प्रधानतासे सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता होनेसे ईस्त्ररको सर्वज्ञपना साधते हो और सर्वज्ञ होनेसे ईस्त्ररको अन्य उपरिम प्रयोक्ताओंकी नहीं अपेक्षा रख कर प्रधानता करके समस्त कारकोंके प्रयोक्तापनको साधते हो तब तो यह परस्पराश्रय दोष किससे हटाया जा सकता है ! अर्थात्—तुम्हारे ऊपर अन्योन्याश्रय दोष अटल होकर लग बैठा । यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि हम अन्य हेतुओंसे उस ईस्त्ररके सर्वज्ञपनकी सिद्धि करलेंगे । " ईस्त्ररः सर्वज्ञः

अनुपायसिद्धत्वात '' '' ईस्वरः सर्वेश्वः सदा कर्ममळैरस्प्रष्टत्वात् '' मुक्त आत्माको व्यविरेक द्रष्टान्त बनाया जा सकता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि वैशेषिकोंके उन हेतओंके साध्य विषयकी इस वस्यमाण अनुमान करके बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः वे हेतु ईश्वरमें सर्वज्ञत्वकी अनुमिति करानेवाछ नहीं हैं। उसको यों स्पष्ट रूपसे समझियेगा कि ईस्वर (पक्ष) सम्पूर्ण अर्थोका ज्ञाता नहीं है । (शाध्य) दृष्ट प्रमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्ट्र यानी अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थीका कथन करनेवाला होनेसे (हेत) जैसे कि बुद्ध, कपिछ. अञ्चाह आदिक आत्मायें सर्वज्ञ नहीं हैं। (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान करके ईर्वरके सर्वज्ञत्वका प्रतिपादक हेत् बाधित हेन्वामास हो जाता है। भावार्थ-बौद्ध विद्वान् अहिंसाका प्रतिपादन करते इये भी काचित मांस भक्षणको परिहार्य नहीं समझते हैं। कुरानमें कई स्थळोंपर दयाका विधान पाया जाता है फिर भी मियां लोग इष्ट देवताके नामपर जीवित पद्मको संकल्प कर मारते हुए स्वच्छंदतया मांसभक्षण करते हैं। शक्तिदेवताकी उपासना करनेवाले शाक्तजन स्वच्छंदरूपसे देवताके नैवेच मध. मांसका सेवन करते हैं। वदेमें " मा हिस्याः सर्वाभूतानि '' ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। यजुर्वेदके छत्तीसर्वे अध्यायका अठारहवां मंत्र है कि दतेद 🎁 हमा मित्रस्य मा चक्क्षपा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षपा सर्वाणि भृतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुपा समीक्षामहे '' इस मंत्रद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको परस्परमें अहिंसाभाव, मित्रभाव, अदोहपरिणाम और प्रेमन्यवहार रखना पुष्ट किया गया है। सम्पूर्ण जीव मुझे मित्रके समान देखें और मैं सबको मित्रके समान देखें । मित्र अपने दूसरे परममित्रको कथमपि नहीं मारता है यह भले प्रकार समझा दिया है। किन्त पन्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवां मंत्र है कि " अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरक्षिमस्तस्य रथगृत्मश्च रथौजाश्च क्षेनानीप्रामण्यौ । पुन्जिकस्थला च ऋतुस्थला चाप्तरसी दङ्क्णवः पशत्रो हेतिः पीरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेन्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु तेथं दिष्मी यश्व नो द्वेष्टि तेमेषां जम्मे दघाः " इस मंत्रद्वारा हिसाभाव तथा अप्रीतिभाव प्रकट किया है। इसी प्रकार सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें, आदि मंत्रोंमें भी हिंसाभाव तथा अप्रीतिभावकी पृष्टि की है इक्कीसर्वे अध्यायके साठवें मंत्रमें हिंसाको ध्वनित किया है वह मंत्र इस प्रकार है कि '' सुमस्था अद्य देवो वनस्पतिरभंवदश्विभ्यां दयेन सरस्वत्यै, मेषेणेन्द्राय, ऋषभेणाक्षँस्तान्मेदस्तः प्रति पवतामृंभीषतावी बूधन्त पुरोडाहौरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् '' पचीसवें अध्यायके द्वितीय मंत्रका ऐसा ही हिंसापोषक अभिप्राय है '' वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणौष्ठेन सद्त्ररेण प्रकारोनान्त-रमनुकारोन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्वास्तनयित्तं निर्वाधेन शिनं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्या श्रोत्र श्रोत्राभ्यां कर्णो तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिः रदिति ी शीच्यी निर्ऋतिं निर्जल्पेन शीर्ष्णां सक्रोशैः प्राणान् रेष्माण 🔐 स्तुयेन " इसके आगे मा कई संत्रोंमें यज्ञसम्बन्धी हिंसामानको वैध बताया गया है। अधर्ववेदमें भी हिंसाकी भरमार है।

" न मांसमक्षणे दोषो न मधे न च मैथुने " ऐसे मनुस्मृतिके वाक्य मिछते हैं। गृह्यसूत्र नासका प्रनथकी यही दशा है। क्वचित् गोमेघ, नरमेघतकका विधान किया गया है। वेदमें असम्बद्ध या **छण्जाजनक विषयोंकी भी कमी नहीं है । पद्मी**सवां अध्याय सातवां मंत्र इस प्रकार है कि " पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीनस्थु<u>क्रगृद्</u>या सर्भान्गुदाभिविन्द्रत आन्त्रैरयो वस्तिन। वृषणमांडाभ्यां वाजिन ी होपेन प्रजा है रेतसा चाषान्धित्तन प्रदरान्यायुना कूश्माच्छकापिण्डै: '' आठवां नीवा मंत्र भी ऐसाही घृणित है। वेदमें असम्बद्ध प्रछाप भी पर्याप्त है। युजर्वेद अठारहवें अध्याय 44 एका च मे तिस्रश्च ये पञ्च च ये पञ्च च ये सप्तच ये स्ताच ये इत्यादि या चतस्रश्च देऽहीं च ये द्वादरा च ये द्वादरा इत्यादि इन चौबीसर्वे पचीसर्वे मंत्रीमें एकसे आगे दो दो संख्या बढाकर अथवा चारसे आगे चार चार संख्या बढाकर न जाने कीनसे गम्भीर अर्थका प्रतिपादन किया गया है ? इसके आगे छन्नीसर्वे, सत्ताईसर्वे मंत्रमें भी गईणीय असंगत विषयका नंगा प्रदर्शन है। यजुर्वेदसे तीसत्रां अध्याय नीवां मंत्र " अस्वस्य त्वा वृष्णः शका धूपयामि देवयजने पृथिन्याः । मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे । अक्तस्य त्वा बृष्णः राका धूपयामि देवयजते पृथिभ्याः । मखाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्षो । मखाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्षो मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्षो । " द्वारा तीन महाबीरोंको तीन मंत्रों द्वारा अस्वकी विष्टा करके भूप देनेसे न जाने कौनसी शुद्धिका रहस्य निकाला गया है। इत्यादि । प्रकरणमें यह कहना है कि नैयायिक या वैरोषिक पण्डित वेदको ईश्वरका बनाया हुआ स्वीकार करते हैं। पौराणिक पण्डित स्पृति या पुराणोंकी रचना वेद अनुसार हुई बतलाते हैं । वेदके मंत्रभागसे उपनिषदें (ज्ञान-काण्ड) और ब्राह्मणमागसे कर्मकाण्ड प्रकट हुथे माने जाते हैं किन्तु '' अणोरणीयान महतो मही-यान् '' के समान उक्त शास्त्रोंमें हिंसा, अहिंसा, मांसभक्षण मांसनिषेध, यञ्च करना, ब्रह्मकी उपासन। करना, आदि दृष्ट इष्ट प्रमाणों द्वारा विरुद्ध होरहे विषयोंका निरूपण पाया जाता है तिस कारण उन एकान्तवादी पण्डित करके उस ईश्वरके सर्वज्ञपनका प्रयोग कराने वाले जो सम्पूर्ण अनुमान कहे जारहे हैं वे सम्पूर्ण अनुमान ज्ञान हम अनेकान्तवादी विद्वानों के निर्दोष प्रमाणों करके बाधित कर दिये जाते है। ऐसी दशामें ईश्वरको जान बृझकर समस्त कारकोंका प्रवानरूपमें प्रयोक्तापन नहीं सिद्ध होसकता है। कारकोंका परिज्ञायक जीव ही कर्चा होय या ज्ञापक जीव ही कर्चा होवे यह दोनों एकान्त मत मुलोंसे भरे हुये हैं । वास्तविक बात तो यह है कि स्यादादियोंके यहां हा अईत् परमेष्ठीको सर्वज्ञपना बन सकता है क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्र प्रमाणोंसे आविरुद्ध है इस सिद्धान्तका हम अन्य प्रन्थोंमें निवेदन कर चुके हैं । विद्यानन्द महोदय प्रन्थमें निवेदन किया गया होगा जो कि मुझ भाषा ठीका कारके दृष्टिगोचर नहीं हुआ है " स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते " इस देवागम (आतमीमांसा) की कारिकाका व्याख्यान करते समय अष्टसहस्रीमें भी श्री विद्यानन्द स्वामीने उक्त सिद्धान्तको पुष्ट किया है तिस कारणसे सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्तिमें तत्पर होकर लग रहे कारकोंका कोई एक चरम प्रयोक्ता प्रधानपने करके भी सिद्ध नहीं

होपाता है। इस कारण अन्य विद्वान् वैशेषिकोंके यहां अपने अभीष्ट ईश्चरकी सिद्धि कथमपि नहीं होपाती है उनके सभी हेतु दूषित होजाते हैं।

स्यान्मतं, नैकः प्रयोक्ता साध्यते तेषां नाप्यनेकः प्रयोक्तृसामान्यस्य साधियतुमिष्टत्वा-दिति । तद्प्यसंगतमेव, तथा सिद्धसाधनाभिधानात् । न दि प्रयोक्तृमात्रे समस्तकारकाणां विम्नतिपद्यामहे यस्य यदुपभाग्यं तत्कारकाणां तत्मयोक्तृत्वनियमनिश्रयात् ।

फिर वैशेषिकोंका प्रबुद्ध होकर यह मन्तन्य होय कि उन सम्पूर्ण कार्योका प्रयोक्ता एक बुद्धिमान नहीं साथा जाता है और अनेक भी बुद्धिमान निमित्तकारण नहीं साथ जाते हैं किन्तु हम वैशेषिकोंको प्रयोक्ता सामान्यकी सिद्धि कर छेना अभीष्ट होरहा है। अर्थात्—हम इस तात्पर्य पर पहुंचे हैं कि कारकोंका या कार्योक्ता स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा कोई प्रयोक्ता होना चाहिये इस पर प्रन्थकार कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तन्य भी पूर्वापरसंगतिस शून्य है क्योंकि तिस प्रकार सामान्य प्रयोक्ताओंके साध्य करने पर हम जैन सत्रहवीं वार्तिक अथवा साठवीं वार्तिकोंके अनुसार सिद्धसाधन कह चुके हैं। जगत्के अनेक कार्योमें अदृष्ट द्वारा या साक्षात् सम्पूर्ण प्राणी प्रयोक्ता हो रहे हैं सम्पूर्ण कारकोंके सामान्य प्रयोक्ताको साधनेमें हम पहिछेसे ही कोई विवाद नहीं उठा रहे हैं। जिस प्राणीके जो जो पदार्थ साक्षात् या परम्परासे उपमोग करने योग्य हैं उस उस पदार्थके कारकोंका प्रयोक्तापन नियमसे उस उस प्राणीमे निश्चित हो रहा है। भावार्थ—जगत्के प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी प्राणीके साक्षात् या परम्परया उपमोगयोग्य हो ही रहे हैं। अदृष्टानपेक्ष या प्राणानपेक्ष होकर हो रहे कतिपय कार्योकी यहा न्यायशाक्षमें गणना नहीं की गयी है सर्वज्ञोक्त सूक्ष्म चर्चाका परिशीळन करनेवाळे सिद्धान्तप्रन्थोंमें उनका गवेषण कीजिये।

इति कियानुमानानां माला नैवामला भुवः । कर्तर्येकत्र संसाध्येऽनुमित्या पक्षवाधनात् ॥ ६५ ॥

यहांतक प्रकरणमें यह सिद्ध कर दिया गया है कि पृथिनीके यानी जगत्के एक कर्ताको भक्ठ प्रकार सिद्ध करनेमें दी गई कार्यत्व, करणत्व आदि हेतुनाले अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है क्योंकि हम जैनोंके अनुमान प्रमाण करके वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उपस्थित हो जाती है अथवा एकसी अस्सी कियावादी मिथ्यादृष्टियोंमें वैशेषिक भी पदार्थीमें कियाको माननेनाले परिगाणित हैं। अतः कियावादी वैशेषिकोंके पूर्वोक्त कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है यों संगति लगाकर कियानुमानानां "पदका अर्थ कर लो। "कर्ता माने गये ईश्वरकी कियाके प्रयोजक अनुमान "ये भी अर्थ किया जा सकता है।

यवैव सिन्नवेशविशिष्टत्वादिसाधनं न निरवधं व्यापकानुपर्छमेन पक्षस्य बाधनात् तथा करणत्वाधनुमानमपि जगतामेककर्तृत्वे साध्ये विश्वेषाभावात् । तब समर्थितमेवेति नानुमान-माला निरवधा विधातुं शक्या तस्याः प्रतिपादितानेकदोषाश्रयत्वात् । तत एवागमादिप नेश्वरसिद्धिरित्याह ।

जिस ही प्रकार ईस्त्रस्की सिद्धिमें वैशेषिकों द्वारा कहे गये सिन्निवशिष्टत्व, कार्यत्व, आदि हेतु निर्दोष नहीं हैं क्योंकि व्यापकके अनुपल्यम करके पक्षकी बाधा दिखलायी जा चुकी है। अधात् व्यापक हो रहे अन्वय व्यतिरेकके नहीं घटित होनेसे व्याप्य हो रहा कार्यकारणमाव भी नहीं घटित हो पाता है। अतः वैशेषिकोंकी प्रतिश्चा बाधित हो जाती है। उस ही प्रकार करणत्व, क्रियात्व, आदि हेतुओंसे उपजाये गये अनुमान भी जगतोंका एक कत्तीस जन्यपना साध्य करनेपर निर्दोष नहीं है कारण कि सिन्निवशिक्षण आदि हेतु और करणत्व आदि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। हेतुओंके उस हेत्वाभासपनका हम पूर्व प्रकरणोंमें समर्थन कर चुके ही हैं जिस कारण कि वैशेषिकोंक कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं करी जा सकती है क्योंकि '' १ द्वीपादयो बुद्धि-मद्धेतुकाः सिन्निवशिष्टत्वात् घटवत्, २ क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत् ३ करणादीनि कर्त्रीधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् वास्यादिवत् '' इत्यादि अनुमानोंकी की गयी उस मालाको पूर्वमें कहे जा चुके व्यप्तिकारमाव आदि अनेक दोषोंका आश्रयपना है उस ही कारणसे अर्थात् अनुमान-मालामें अनेक दोषोंके उपस्थित हो जानेपर बाधित पक्ष हो जानेसे आगमप्रमाण द्वारा भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है इस बातको प्रन्थकार अप्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

विश्वतश्रक्षरित्यादेरागमादपि नेश्वरः । सिध्येतस्यानुमानेनानुप्रहाभावतस्ततः ॥ ६६ ॥

यु जैवेंदके सत्रहवें अध्यायके उनीसवें मंत्र "विश्वतश्वश्चरत विश्वतोमुको विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् । संबाहुन्यां वमित संपत्तेत्रर्धावामूमी जनयन्देव एकः " और सत्ताईसवें मंत्र " यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । ये। देवाना नामधा एक एवत " संप्रक्षं भुवनायन्त्यन्या ॥ तथा " अपाणिपादो जवनो गृहीता, संसारमहीरुहस्य बीजाय " इत्यादिक आगम प्रमाणोंसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि तिस बाधितपक्षके हो जानेसे उन आगम वाक्योंका अनुमान प्रमाण करके अनुग्रह होनेका अभाव है । जिन आगमोंको अनुमान प्रमाणोंसे संवादकपना प्राप्त नहीं होता है वे आगम प्रमाणभूत नहीं माने गेये हैं ।

न हि नैयायिकानां युक्त्यननुग्रहीतः कश्चिदागमः ममाणमितमसंगात्। न च युक्तिस्तत्र काचिव्यवतिष्ठत इति नेश्वरसिद्धिः ममाणाभावात् प्रधानाद्दैतादिवत् । ततः किं सिद्धमित्याहः। नैयायिकों के यहां युक्तियों यानी सद्धेतुं असे नहीं अनुप्रह प्राप्त होचुका कोई भी आगम भला प्रमाण नहीं माना गया है अन्यथा अति प्रसंग होजायगा । अर्थात् —युक्तियों के विना प्रमाणपना मान देने पर चार्वाक, बौद्ध, ईसाई, मोहम्मदमतानुयायी, अद्वेतवादी, आदिकों के आगम भी प्रमाण बन बैठेंगे । किन्तु उन ईस्वर साधक वाक्यों में कोई अच्छी युक्ति व्यवस्थित नहीं होपाती है । प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों करके स्पष्ट बाधा उपस्थित होगहीं है । विज्ञान (साइन्स) जब ईस्वरबादकी जडको सर्वथा काट चुका है ऐसी दशामें नैयायिकों के आगमकी सहायक कोई युक्ति नहीं ठहर सकती है । इस कारण साधक प्रमाणों के नहीं होनेसे सांख्यों की त्रिगुणात्मक प्रकृतियां अद्वेतवादियों के संवेदनादित पुरुषादेत अथवा बौद्धों के क्षणिकत्व आदिके समान ईस्वरकी भी सिद्धि नहीं होसकती है । कोई पूंछता है कि तिस कारण आठवीं वार्तिकसे प्रारम्भ कर अवतक क्या सिद्ध हुआ समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी निर्णीत सिद्धान्तकों अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं ।

लोकोऽकृत्रिम इत्येतद्वचनं सत्यतां गतं । बाधकस्य प्रमाणस्य सर्वथा विनिवारणात् ॥ ६७ ॥

यह सम्पूर्ण लोक अकृतिम है इस प्रकार यह सिद्धान्त वचन सत्यताको प्राप्त होचुका है क्योंकि इसके बाधक प्रमाणोंका सभी प्रकारोंसे विशेषतया निवारण कर दिया गया है। अर्थात्—त्रिलोकसारमें यह सत्य लिखा है कि "लोगो अकिहिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिक्तो। जीवा-जीवेहिं फुडो सन्वागासवयवो णिचो" स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि "स्व्वायासमणंतं तस्स य बहुमन्द्रि संठिओ लोओ। सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहिं" "अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अत्थणं भवे लोओ। दव्वाणं णिचतो लोयस्स वि मुणह णिचत्तं "परिणाम सहावादो पाडिसमयं परिणमंति दव्वाणि। तेसि परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं "मूलाचारके आठवें अध्यायमें लिखा है कि "लोओ अकिहिमो खलु अणाइणिहणो सहावणि-पण्णो। जीवाजीवेहिं भरो णिचो तालरुक्ख संठाणो " इत्यादिक सर्वज्ञोक्त आगम तो निर्वाध होनेसे सर्वागरूपसे सत्यार्थ हैं।

छोकः खल्वकृत्रिमोऽनादिनिधनः परिणामतः सादिपर्यवसानश्चेति मवचनं यथात्रेदानीं-तनपुरुषापेक्षया वाधविवार्जितं तथा देशांतरकाळांतरवर्तिपुरुषापेक्षयापि विशेषाभावात् ततः सत्यतां माप्तिमिति सिद्धं सुनिर्णीतासंभवद्वाधकमयाणत्वादात्मादिमातिपादकमवचनवत् ।

नियमसे यह छोक किसी ढारा नहीं किया गया अकृत्रिम है। अनादिसे अनन्तकालतक स्थिर रहमेषाला है। हां, पर्यायोंकी अपेक्षा सादि, सान्त, भी है। इस प्रकारके शास्त्रवाक्य जैसे इस देशमें होनेवाले या इस सालमें होनेवाले पुरुषोंकी अपेक्षा करके बाधविवर्जित हैं उसी प्रकार देशान्तर कालान्तरवर्त्ती पुरुषोंकी अपेक्षासे भी निर्वाध हैं। इस देश और इस कालके पुरुषोंकी अपेक्षा अन्य देश और अन्य लालके पुरुषोंसे उक्त आगमको निर्वाध प्रामाण्य सम्पादन करनेके लिये कोई अन्तर नहीं पड़ता है। भावार्थ—यावत देश यावत् कालोंके मनुष्योंमें दो हाथ, दो पांव, एक शिर, मुखसे खाना, नाकसे सूंघना आदिमें जैसे कोई अन्तर नहीं है उसी प्रकार वर्तमान काल या इस देशके मनुष्य इस लोकविन्यासको अकृत्रिम अनादि निधन जैसे साध रहे हैं वैसे ही देशान्तर, कालान्तरके मनुष्य भी जगत्को अकृत्रिम ही बाधारिहत साधते होंगे तिस कारणसे वे आगम वाक्य सत्यताको प्राप्त हुये समझो। इस कारण वक्ष्यमाण अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है कि लोकको अकृत्रिम या अनादि निधन कह रहा शास्त्रवाक्य (पक्ष) सत्यार्थ है। (साष्य) क्योंकि बाधक प्रमाणोंके असम्मय होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका है। (हेतु) आत्मा, आकाश, मोक्ष, आदिके प्रतिपादक शास्त्र वाक्योंको जैसे सत्यता प्राप्त है। (अन्वय दृष्टान्त)। यो आठवी वार्तिकसे कर्नृवादका पूर्वपक्ष आरम्भ कर यहांतक प्रकरणोंकी संगति मिला दी गयी है।

अथानुमानादप्यकृत्रिमं जगात्सिद्धमित्याह ।

जिस प्रकार आगम प्रमाणसे छोकको नित्य सिद्ध किया गया है। अब अप्रिम वार्त्तिक द्वारा अनुमान प्रमाणसे भी श्रीविद्यानन्द स्वामी इस जगत्को कर्त्तासे अजन्य सिद्ध करते हुये यों कह रहे हैं कि—

विशिष्टसिनवेशं च धीमता न कृतं जगत्। दृष्टकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्षणात्॥ ६८॥ समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिवत्। इति हेतुवचः शक्तेरिप लोकोऽकृतः स्थितः॥ ६९॥

विलक्षण रचनावाला यह जगत् (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके किया गया नहीं है (साध्य) जिन कृत्रिम पदार्थोंको बनानेवाले कर्ता देखे जाते हैं। उन कृट, गृह, गाडी, आदि कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहा होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें मले प्रकार स्वकीय कारणोंसे उपजे मोती, मृंगा, हीरा, पना आदि पदार्थोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार निर्दोष हेतुके वचनकी सामर्थ्यसे भी यह लोक अनुमान प्रमाण द्वारा अकृत्रिम व्यवस्थित हो चुका है। अर्थात्—चौकी, सन्दूक, किवाड आदिको बढई बना सकता है। किन्तु इसके उपादानकारण काठको नहीं बना सकता है। सूचीकार वन्नोंको सीव सकता है किन्तु रुई, ऊन, रेशमको स्वतंत्रतया नहीं गढ सकता है। रुई बनके पेडपर लगती है, पशु पश्ची, मनुष्योंके बाल उन हैं रेशमको कीड बताते हैं

यों ही सुनार सुन्दर भूषणोंको बना छता है किन्तु सोना, चांदी, तांबेको मूल्रूपसे नहीं उपजा सकता है, हल्लाई मनोहर पक्षाकोंको बना छता है किन्तु इनके उपादान कारण रस या खांडको खांत्र नहीं बना सकता है। सुवर्णकार, अयस्कार, आदि नाम तो कोरे नामनिक्षेपसे हैं। रोटी, दाल, पेडा, बक्क उपादान या सोना, चांदी, काठ, हीरा, मोती, मांस, रक्त, आदिको वे एकेन्द्रिय, या दीन्द्रिय आदि जीवही कर्मपरवश होरहे अपने अपने न्यक्त, अन्यक्त, पुरुषार्थ द्वारा बनाया करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र, क्वंत, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्रक, आदिका समुदाय रूप यह लोक किसी एक ही बुद्धिमान करके बनाया गया नहीं है।

दृष्ठक्विमिनिस्नक्षणतयेक्ष्यमाणश्च स्यात् क्वित्रमश्च स्यात् संभिन्नेविक्विष्टो स्रोको निरोधा-भागात् । ततः सिद्धस्य हेतोः साध्येनाविनाभावित्वमिति यन्यमानं मत्याह ।

यहां उक्त अनुमानमें कोई नैयायिक पण्डित प्रतिकृष्ठ तर्क उठाता है कि हेतु रह जाय साध्य नहीं रहे । धुनिये, यह लोक कर्त्तासहित रूपसे देखे जा रहे कृत्रिम पदार्थों विलक्षणपने करके देखा जा रहा होय, और सिमेंत्रेशिवरेषको धार रहा यह लोक कृत्रिम मी होय, कोई विरोध नहीं आता है । देखो धूम होय और अग्नि नहीं होय यों प्रतिकृष्ठ तर्क उठा देनेसे कार्यकारणमात्रका मंग होजाना यह विरोध खडा हुआ है । अतः '' अग्निमान् धूमात् '' इस प्रसिद्ध अनुमानमें प्रतिकृष्ठ तर्क नहीं उठा सकते हैं किन्तु यहां लोकमें हेतुके रहने पर भी साध्यका नहीं रहना आपादन किया जासकता है । आप जैनोंने स्वयं कहा है कि अन, मांस, पाषाण, आदि पदार्थ उन चीजोंसे विलक्षण हैं जिनके कि बनाने वाले उच कोटिके कारीगर देखे जाते हैं फिर भी अन आदि पदार्थ एक इन्दिय, दीन्द्रिय, आदि जीवोंके हारा बना लिये गये हैं तिस कारणसे इस तुम्हारे दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतयाईश्यमाणस्य हेतुका अपने साध्य होरहे कृतिनत्वाभावके साथ अनिनामात्र असिद्ध है इस प्रकार सामिमान माने चले जारहे नैयायिकोंक प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य अग्निम वार्तिक हारा समान्यान क्याको कहते हैं ।

नान्यथानुपपन्नत्वमस्यासिद्धं कथंवन । कृत्रिमार्थविभिन्नस्याकृत्रिमत्वप्रसिद्धितः ॥ ७० ॥

इमारे इस हेतुका अन्ययानुपपत्तिसे सहितपना किसी भी ढंगसे असिद्ध नहीं है। क्योंकि कृत्रिम अर्थोसे विभिन्न हो रहे पदार्थीके अरुत्रिमपन की प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। भावार्थ—अस, काठ, सीना, हीरा, मांस, हड़ीको, भले ही वे एकन्द्रिय आदि नाना जीव बना छेवें। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, सुदर्शन मेरु, अलोकाकाश, कालद्रन्य, खोक आदि अरुत्रिम पदार्थीको नाना जीव या एक जीव कथमपि नहीं बना सकते हैं। जैनिसिद्धान्य अनुसार इक्षका जीव अपनी योगशक्ति द्वारा नोकर्म

वर्मणाका आकर्षण कर स्वकीय प्रदूषार्थस्वरूप हो रही पर्याप्तिशक्तिकरके उन वर्गणाओंको काठ रूप बना छेता है वह शरीर उस जीवका कायबळप्राण कहा जाता है। सोनेकी खानका एक इन्द्रिय जीव अनेक कर्मीके पराधीन हो रहा इसी प्रकार नोकर्म वर्गणाका स्वकीय शरीर सोना बना लेता है | हीरा, पन्ना, पाचाणकी सृष्टि भी इसी ढंगले हो जाती है । द्वीन्दिय सीपका जीव जल निशेषको अपने दैव या प्रकार्ध द्वारा मक्ताफल रूप परिणमा लेता है जैसे कि रेशमका कीडा रेशनको, या गाय भैंस जीव अपने खाये गये भूस, घास, खल, बनोरे, आदिका दूध बना लेती 📠 । कीडी, मकोडे, मक्खी, बर्र, घोडा, हाथी, तोता, कबूतर, मनुष्य, सी, ये जीव कतिपन कर्मीका उदय होनेपर स्वकीय पर्याद्वियों द्वारा या अन्य अनेक व्यक्त अव्यक्त प्ररूपार्यों करके मांस, रक्त, मेद, चर्ची, आदि धातु अथवा उपधातु या मल मूत्र तथा ज्वर, सनिमात आदि कार्योंके कत्ती माने जा स्कते हैं । किन्त अनादिनिधन छोक, सूर्य, अनेक द्वीप, समुद्र आदिका स्वतंत्र कर्ता कोई बुद्धिमान् नियत नहीं है। बढिया शिल्पकार, या बैज्ञानिक द्वारा बनाये गये नहीं होनेसे मुक्ताफल आदिको अकुत्रिम कह दिया है। वस्तुतः अन्न, मांस, मोती, आदिक किसी अपेक्षा कृत्रिम माने जा सकते हैं किन्तु छह दच्योंका समुदाय रूप यह छोक या सूर्य, चन्द्रमा, सुमेरु, दीप, समुद्र, स्वर्गस्थान, नरकस्थान, ऊर्वलोक, अधोलोक, अक्रत्रिम चैत्यालय, आठ भूमियां, बातवलय आदिक पिण्डोंका समुदाय रूप यह लोक तो अकृत्रिम ही है। अतः इमारे हेतुका नियत साध्यके साथ अविनाभाव बना रहना पृष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध है । अनुकूछ तर्कवाछ। यह हेतु अपने साध्यको अवस्य साधिगा ।

न हि कृत्रिमार्थविन्नक्षणी गगनादिः कृत्रिमः सिद्धो येन साध्यम्यावृत्तौ साधनन्यावृत्ति विश्वतान्यथानुप्रशत्तिरस्य हेरोर्न सिध्धेत् ।

कत्ती द्वारा बनाये गये कृतिम, घट, पट आदिक अथौँसे विलक्षण हो रहे आकाश, सूर्य, आदिक पदार्थ तो कृतिम सिद्ध नहीं हैं जिससे कि व्यतिरेक द्वारा साध्यकी व्यावृत्ति हो जानेपर साधनकी व्यावृत्ति हो रही स्वरूप निश्चित अन्यथानुपपत्ति इस हेतुकी सिद्ध नहीं होवे। अर्थात्— हमारा हेतु अविनाभावी है।

असिद्धताप्यस्य इतोर्नेत्यावेदयति ।

हेतुको व्यभिचार दोषकी आशंकाका प्रत्याख्यान कर इस " कृत्रिमार्थविलक्षणत्व " हेतुका असिद्ध हेत्वामासपना भी नहीं है इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिकद्वारा विद्वापन करे देते हैं।

नासिद्धिर्भणिमुक्तादौ कृत्रिमेतरतोऽकृते । कृत्रिमत्वं न संभाव्यं जगत्स्कन्थस्य तादशः ॥ ७१ ॥

उपादान शक्तियोंके प्रत्यक्ष रूपसे परिह्नापक, अशरीर, न्यापक, एक ऐसे विशिष्ट कर्ता द्वारा नहीं किये जा चुके मणि, द्वारा, पन्ना, सोना, चांदी, काठ, कंकण, पत्थर, मट्टी, मोती, गोलोचन, कस्त्री आदि पदार्थीमें कृत्रिमविभिन्नत्व (विलक्षणत्व) देतुसे नहीं कृत्रिमपना साध्य सम्भवने योग्य है। तिस ही प्रकारके अनेक पदार्थीके स्कन्य रूप हो रहे स्वरूप जगत्का कृत्रिमपना भी सम्भाव-नीय नहीं है। अतः पक्षमें ठहर जानेसे हेतुके स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास दोष नहीं लगा।

पणिश्वकाफलादीनां केषांचित्कृत्रिमत्वं वीहिसंमर्दनादिना रेखादिमस्वमतीत्या स्वयप्रुप-यन् परेषां समुद्राकरोत्यानां तथा रेखादिमस्वासंमत्ययेनाकृत्रिमत्वं च तद्देळसण्यमालसयत्येव। तद्दद् दृष्टकर्तृकमासादादिभ्यः काष्ट्रेष्टकादिघटनाविश्वेषाश्रयेभ्यस्तद्विपरीताकारभतिपस्या भूभूघ-रादीनां वैलक्षण्यं मतिपत्तुमहित च न चेदिभिनिविष्टमना। इति नासिद्धो हेतुर्भणिश्वक्तादावकु-त्रिमत्वच्यवहारस्रातिमसंगात् तद्दैळक्षण्यस्यापि तद्ददसिद्धेः।

प्रायः सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतिकृति (नक्क) करनेवाळे इस युगमें नक्की मोती, हीरा, पन्ना, माणिक्य (इमीटेशन) आदि बनने छगे हैं । ऐसे मणि, मुक्ता, आदिकोंको हम भी स्वतंत्र बुद्धिपूर्वक चाहे जैसे छोटा , बडा, बना देनेवाळे कारीगर पुरुष करके कृत्रिमपना स्वीकार करते हैं । धानमें मिळाकर रगडनेसे यदि रेखा या कोई रगडका चिन्ह पड जाय तो उससे उन मणि, मोती, माणिक आदिके नक्षडीपनका परिश्वान हो जाता है । और भी रत्नपरीक्षाके उपायों द्वारा माणिक, मोती आदिके नक्रवीपन या अस्वीपनकी परीक्षा कर की जाती है। जिससे कि कैई नक्वी पदार्थोंके कृत्रिमपन और अने क असली पदार्थोंके अकृत्रिमपनका परिकान कर लिया जाता है। आजकल तो घृत, दूध, चून, खांड, बख भी नक्तठी पदार्थोंसे बने हुये आने ठगे हैं। सुना है कि मनुष्य भी नकछी बना दिये गये हैं। जो कि मनुष्योचित कतिपय कियाओं को भी करते हैं। कछको कोई स्वर्ग, नरक यहांतक कि मोक्षको भी नक्रली बनाले तो कोई आश्वर्य नहीं है। रामचन्द्रके युगमें (जमानेमें) एक इन्द्र नामका राजा इस भरत क्षेत्रमें ही स्वर्गकी पूरी नकल बनाकर स्वयं इन्द्र बन बैठा था । कैदलाने या दुःखियोंके घर तो अधोलोकस्थ नरकोंसे उपमेय हैं । पुण्यशाली धनिकोंके स्थान स्वर्ग कल्पित किये जा सकते हैं। निराकुछ साधुओंकी तपोमूमिको कोई कवि एक देशसे मोक्षस्थानकी कल्पना कर सकता है। किन्तु इन सब उपचरित या अनुपचरित पदार्थोंके गौण. मुख्यपनकी परीक्षाके उपाय विश्वमान हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि त्वयं नैयायिक पाण्डित भी किन्हीं किन्हीं मणि, मोती, वृत आदि पदार्यीका धान्योंके साथ रगडना, उष्ण जलमें तथाना आदि कियाओं करके रेखा पड जाना, खुरसट छग जाना, पानीमें विखर जाना आदिसे सहित-पनकी प्रतीति हो जाने करके कृत्रिभपनको स्त्रीकार कर रहा है वह नैयायिक ऐसी दशामें समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये दूसरे मोली, न्या, हीरा, पना, मणि, आदिकोंके तिस प्रकार रेकी आदिसे

सहितपनकी समीचीन प्रतीति नहीं होनेकरके अक्रियम और उन क्रियम विकक्षणपनका चारों ओरसे स्वरूपपरिश्वान कर छेता ही है जैसे सूक्ष्मविचार बुद्धिद्वारा नकछी मणि, मोती, वृत्त आदिसे असली मणि, मोती, आदिका विकक्षणपना या अकृत्रिमपना जान लिया जाता है उसी प्रकार सकर्त्वक देखे जा रहे और काठ चतुःकाष्टी (चौलट) ईट, चूना, छप्पर, किवाड, मनखण्डा, पुछ, पहिया आदिक विशेष अवयव घटनाओंके आश्रय हो रहे प्रासाद, कुथे, नहर, बम्बा, गाडी, आदिकसे पृथिवी, पर्वत, सूर्य, दरें, घाटियां, समुद्र, निर्यां, आदिकोंका उन कृत्रिम गृह आदिके विपरीत त्रतिपत्ति हो जानेसे विकक्षणपनको यह नैयायिक समझनेके किये भी समर्थ हो जाता है इतनी सकम सामग्री या दृष्टान्तके मिछ जानेपर भी यदि नैयायिक उन दृष्टकर्तक कोठी आदिकोंसे पर्वत आदिकोंके इस ब्रसिद्ध विलक्षणपनको नहीं सपन्न सकेगा तब तो इसकी चित्तवति एक खोटे अभिनिवेशसे यक्त ही मानी जा सकती है। समुचित वस्तुको यदि कोई कदाप्रहवश नहीं समझ पावे तो इसमें समझ। देनेबाले बक्ता या बस्तुका क्या दोष है ! पूरा मूल्य देकर भन्ने ही नक्की अल्पमूल्य चीजोंको मोख केकर अविचारी या पोंगा बने रहो । असकी पदार्थोंको भोगनेवाका परीक्षक विद्वान कभी भी ऐसी अविचारित पोलम पोल कियाको अभिरुचित (पसन्द) नहीं करता है इस कारण हमारा हेत असिद्धहेत्वामास नहीं है अन्यथा द्वीरा. पन्ना. मोता. मंगा आदिमें अक्रत्रिमपनके व्यवहारकी क्षति हो बानेका प्रसंग होगा और उन पुराने गृहोंके समानही उन अकृत्रिम मोती, मणि आदिमें उन कृत्रिम मणि, मोती आदिकसे विलक्षणपनकी भी अभिद्धि हो जायगी। अर्थात वैशोधिक भूधर आदिकोंको कृत्रिम मानते हुये यदि महल, कोठी आदि कसे विलक्षणपना प्रयिवी, पर्वत आदिकमें नहीं मानेंगे तो समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये असली मोती, मणियोंको भी अकृत्रिमपना या कृत्रिमोंसे विलक्षणपना ये नहीं साध पार्येंगे आन्त, अआन्तका विवेक उठ जायगा । यह सोनेका मूल्य देकर मुख्यमा मोल किया जा रहा है पामर (गंवार) पुरुष भी मही, पत्थर, पीतक, खढ आदि हे बने हुये सांप. सिंह. घोडा, हायी, छौरा आदिक्से असकी सांप, सिंह, हाथी आदिको विकक्षण और अकुनिम माननेके किये उद्यक्त रहता है।

न हि वयं दृष्टकृतिमक्र्यदिविकक्षणतयेश्यमाणत्वमक्वतिमतयेश्यमाणत्वं वच्मो येन साध्यसमो हेतुः स्यादनित्यः अन्दो नित्यभर्माद्भुषळन्थेरित्यादिवत् । नापि भिन्नदेशकाळा-कारमाश्रतयेश्यमाणत्वं तद्भिदभ्मदे येन पुराणमासादादिनानैकातिकः । किं तिर्दे १ घटना-विश्वेषानाश्रयतयेश्यमाणत्वं अगतः मतीतक्वत्रिमक्ट्यदिविकस्रणतयेश्यमाणत्वमभिषीयते । ततो निरवधमिदं साधनं ।

इम जैन ऐसे प्रतिमाराहित या अदार्शनिक नहीं हैं जो कि कर्चांसे जन्य होकर दीख रहे कृत्रिम क्ट (ऊंचा धम्मा, मीनार, ठोस गुम्मज) गृह, किछोने आदिसे विकासणयने

करके देखे जा रहेपनको ही अक्रुत्रिभपनकरके देखा गयापन झट कह देवें जिससे कि शब्द अनित्य है नित्य पदार्थोंके धर्मकी अनुपल्लिक होनेसे '' या पर्वत अग्निमान है अग्रिवाका होनेसे इत्यादिक हेत्ओंके समान हमारा दृष्टकत्रिमविकक्षणतया ईक्यमाणत्व हेत् ''साध्यसम '' नामक दोषसे प्रसित होजाय ! तथा केवल मिन देश, भिन काल और भिन आकार सहितपने करके देखे गयेपनको मी वह दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हम नहीं कह रहे हैं जिससे कि प्राने कोठी. किले. गढ. खंडहर. खेरा. आदि करके व्यभिचार होजाय। तो फिर हम जैन क्या कह रहे हैं ! इसका उत्तर यह है कि काठ, ईट, छोहा, गाटर आदिकी घटना (रचना) विशेषके नहीं काश्रय होरहे पन करके देखा गयापन ही जगत पक्षका कृत्रिम होकर प्रतीत होरहे कृट आदिसे विलक्षणपने करके देखा गयापन हेतु इम जैनों करके कहा जारहा है । अर्थात्—हमारा हेत् साध्य सारिखा नहीं है जिससे कि अवतक साध्यकी असिद्धि होनेसे प्रतिन्नार्थे कदेशासिद्ध दोषवान होजाय क्योंकि बुद्धिमान कर्ताद्वारा होसकनेवाली विशेष विशेष ढंगकी रचनाओंका आश्रय रूपसे जगत नहीं देखा जारहा है। नदियां, टेढी, मेढी बह रही है। पर्वत ऊंचे, नीचे, कोई शीतळ कोई उष्ण है। प्रथिवी कहीं ठाठ, पीली, काली, होरही है, समुद्रमें भी पानी बरसता है, मेंछ, दादी मुख्या देने बाळोंके बाळ पुनः उपज आते हैं कांखमें बाळ व्यर्थ उपजा दिये हैं. कही अतिवृष्टि कहीं अनावृष्टि होरही है। अनेक स्थलोंपर पापी जीव आनन्द भोग रहे हैं जब कि पुण्यात्मा सम्जन पुरुष अनेक दुःखोंको झेल रहे हैं। ईश्वरका निषेध करने वालेंका मंह नहीं बन्द किया जाता है: सर्वज्ञ, व्यापक, दयाल भी ईश्वर भला चोर, व्यभिचारी, हिंसकोंके हृदयमें बरे भावोंको क्यों उत्पन्न करता है ? जब कि वह सर्वज्ञ, सर्व राक्तिमान स्वक्तिर किया गया है। कोई भी हितैषी पिता या राजा अपने पत्र या प्रजाको जान बुसकर अनयौंमें ढकेलकर पुनः उसको दण्ड देनेके लिये अभिलायक नहीं रहता है अन्यथा यह सब उत्तरदायित्व पिता या राजाके ऊपर ही पडेगा। कृतकृत्य ईश्वर कहां बैठकर किन कारणोंसे किस लिये जगतको बनाता रहता है ? इन आक्षेपोंका भन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। सृष्टि, प्रलय, उत्पत्ति विनाश, कहीं वृद्धत्व, किसीमें युवत्व, आदि अनेक विरुद्ध कार्यीकी एक ईवर यगपद कथमपि नहीं कर सकता है। जगतमें कहीं साध पुरुष या पतित्रता क्रियोंपर विपत्तियोंके पहाड ढाये जारहे हैं। किसी किसी धर्मात्मांके आवश्यकीय एक पत्र भी नहीं है। कतिपय कसइयोंके घर जब कि कुटुम्ब, धन, सम्पति, प्रमुतासे, भरपूर हैं गरीबोंको सताया जारहा है । धार्मिकवादका तिरस्कार कर पूंजीवादके गीत गाये जारहे हैं। गेंद्रओंके साथ निर्दोष भिनुवामी पिस रहे हैं। स्थान स्थानपर शोक, अरति, के कारण वह रहे हैं । अतः कृत्रिम कृट आदिसे विकक्षण-पना ही जगतका अकृत्रिमपना नहीं है जिससे कि हेत और साध्य दोनों एकसे होजाय किन्त बुद्धिमान सर्वेष्ट द्वारा होने वाकी रचना विशेषके आधार नहीं होरहेपन करके जग-त्का दीवनां हीं इमारें पूर्वोपात बेतका अर्थ है दशकर्तक पदार्थौकी अपेका भिन्न देश. मिन आकाश, मिन काल, सिहतपने करके जगत्का दीख जाना अपने हेतुका अर्थ कहते तब तो पुराने कुयें, खण्डहरोंसे व्यमिचार आसकता था क्योंकि पुराने खण्डहर मिन देशीय मिन कालीन और विभिन्न आकार वाले हैं किन्तु वे अकृतिम नहीं हैं। माई हम तो हेतुका शरीर बुद्धिमान कर्तासे होनेवाली विचारपूर्वक रचनाओंका अनाधार होकर दीख रहापन कहते हैं। तिस कारणसे हमारा यह दृष्टकृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहापन हेतु सम्पूर्ण दोषोंसे रिहत है। अतः अपने अकृतिमत्व नियत साध्यको साथ डालता है। यहां अब किसी कुतकिको अवकाश नहीं रहता है।

नतु चेदस्यदादिकर्त्वक्र्यादिविलक्षणतयेक्षणं जगतोस्यदादिकर्त्रयेक्षयेवाकृतिमत्वं साथयत् मणिष्ठक्ताफलादीनामिव समुद्रादिभभवानां न पुनरस्यदिलक्षणमद्देश्वरकृतिविशेषापेक्षया
तदुपभोक्तुमाण्यदृष्ट्विशेषापेक्षयाप्यकृतिमत्वन्यसंगात् । न च तद्देपक्षयाकृतिमत्वे ज्यवहरणात् ।
परेषामृतिमत्वव्यवहारिवरोधः प्रतीतकर्तृव्यापारापेक्षया केषांचित्कृतिमत्वेन व्यवहरणात् ।
परेषामृतीदियकर्तृव्यापारापेक्षणेनाकृतिमतया व्यवहृतेर्नीश्वरवादिनाप्यभ्युपगमनीयत्वात्,
अन्यथास्य सर्वत्रोत्पत्तिमति तदुपभोक्तृमाण्यदृष्ट्विशेषहेतुके कथमकृतिमव्यवहारः कचिदेव
युज्येत । ततोऽस्मदादिक्त्रपेक्षया जगतोऽकृतिमत्वसाधने सिद्धसाधनमस्यदिलक्षणेश्वरकृतिशेषापेक्षया तु तस्य साधने विरुद्धो हेतुः साध्यविपरीतस्यास्यदादिक्रविशेन्येवाकृतिमत्वस्य
ततः सिद्धिरिति केचित् ।

नैयायिक या पौराणिक अपने ईश्वर कर्तृवादको करनेके लिये पुनः अनुनय करते हैं कि आप जैनोंने जो इस हेत हारा साध्यको साधा है वह अस्मदादिक राज, बर्ड्ड, मिस्री, आर्दिक अर्जाओं हारा बनाये गये स्त्प, मीनार, आदिकसे विलक्षणपने करके दीखना तो जगत्को अस्मद् आदिक कर्ता-ओंकी अपेक्षा करके ही अक्षत्रिमपनको साध सकेगा। जैसे कि समुद्र, खान, आदिसे उपजे हुये मणिमुक्ता आदिकोंके कर्ता अस्मद् आदिक नहीं होसकते हैं। अर्थात्—हम सारिखे अल्पबल, अल्पबान, बाले जीव जगत्के कर्ता नहीं होसकते हैं यह हम नैयायिकोंको भी अभीष्ट हैं, किन्तु फिर हम लोगोंसे विलक्षण होरहे महेश्वर नामक विशेष कर्ताकी अपेक्षासे जगत्का अक्षत्रिमपना नहीं साधा जा सकता है। अर्थात्—हम लोग मले ही जगत्के कर्ता नहीं होय फिर भी हमसे विलक्षण होरहा महान् ईश्वर तो जगत्का कर्ता सुल्भतया सध जावेगा। यदि जैन विद्वान देखे जारहे बर्ड्ड, कोरिया, कुम्हार, अप्यापक, वैज्ञानिक, इन्जिनियर, आदिक एकदेशीय कर्ताओंसे विलक्षण होरहे महेश्वरको जगत्का कर्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्दिय, खक्ष, भूषण, क्क्ष, आदिक कार्य पदार्थोक्ष उपमोग करने वाले प्राणियोंके अदृष्ट विशेष (पुण्य पाप) की अपेक्षा करके भी जगत्को अक्षत्र जिम पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात् —जैसे जैन जन यों श्वष्ट कह बैठते हैं कि जगत्को कर्त्त कर्ता हम आदिक कीई भी संसारी नहीं हैं, हमसे विलक्षण होरहा ईश्वर भी जगत्का विधायक

नहीं है। उसी प्रकार हम नैयायिक भी कह सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, राग, द्वेष आदिके करण कारक जैसे बसला. दण्ड, तुरी, आदिक नहीं हैं उसी प्रकार इन करणोंसे विलक्षण होरहा अदृष्ट भी शरीर आदिका करण नहीं होसकेगा किन्तु यह अदृष्टका करण नहीं बन सकना हम, तम, दोनोंको इष्ट नहीं है। साधारण व्यक्तियोंको जगत्का कर्तृत्व नहीं होनेपर भी असाधारण परमात्माको जगतका कर्तत्व सध सकता है। ईश्वरको नहीं माननेवाले जैन या वीद्य यो भय करें कि उस ईवर या अदृष्टकी अपेक्षा करके यदि अथौमें कृत्रिमपना माना जायगा तो सभी स्थानीपर उन पदार्थोंके कृत्रितपन और अक्नुत्रिपपनके पृथक् पृथक् हो रहे व्यवहारका विरोध हो जायगा । सभी पदार्व कृत्रिम बन बैठेंगे । इसपर हम नैयायिक यों समझाते हैं कि इस भीतिकी आशंका नहीं करना **ईत्रक्तो अपेक्षासे क्वत्रिमपना होते हुये** भी उन पदार्थोंके कृत्रि**मपन**के या अकृत्रिमपनके न्यवहारका विरोध नहीं हो पाता है क्योंकि जिन पदार्थीमें कत्ताओंके व्यापार देखे जा रहे हैं। उसकी अपेक्षा करके किन्हीं किन्हीं घट, पट, भूषण, गाडी, गृह आदि पदार्थींका कृत्रिमपने करके संसारमें व्यवहार हो रहा है । और इन पदार्थोंसे न्यारे सूर्य, चन्द्रमा, प्रायेशी, शरीर, पर्वत, आदिक पदार्थीको इन्द्रि-योंके अगो।चर हो रहे विशेष कत्ताके व्यापारकी अपेक्षा करके अक्रियपन रूपमे न्यवहार हो रहा है। अर्थात-ईश्वरको उनका कर्तापन होते हुये भी वे अकृत्रिम हैं। ईश्वरको जगतुका कर्ता नहीं माननेवाले जैन, चार्वाक, बौद्ध, बादियों करके भी इसी ढंगसे क्रात्रीमपन और अक्रुत्रिमपनका स्वीकान करना अनिकर्य पडेगा अन्यथा यानी दृष्टकर्तक पदार्थीको ही कृत्रिम मानते हुये यदि अतीन्द्रिय कर्त्ता द्वारा उपज रहे पदार्थोंको अकृत्रिम नहीं माना जायग। तब तो इस अनीश्वर वादीके यहां उन उन शरीर, इन्हिय, आदि कार्योके उपभोक्ता प्राणियोंके पुण्य, पाप, विशेषकी कारण मामकर जन्म हे रहे सम्पर्ण उत्पत्तिमान कार्योमेंसे किन्हीं विशेष कार्योमें ही भला अक्रुत्रिमपनेका व्यवहार कैसे समितित हो सकेगा ! तुम ही बताओ तुम जैन भी तो सीपके जीवके पुण्य, पाप, या पुरुषार्थसे उपजे हुये अपनी मोतीको अक्रिक्स मान रहे हो तिस कारणसे हम नैयायिक कहते हैं कि जैन विद्वान यदि हम आदि कर्ताओं की अपेक्षासे जगतको अकृत्रिमपना उक्त अनुमानसे साथ रहे हैं। तब तो जैनों के फपर सिद्धसाधन दोष है। इम ईल्लरवादी नैयायिक भी तो अस्मद आदिककी अपेक्षा जगत्को सकर्तक नहीं मानते हुये अक्रुत्रिम मान रहे हैं हम टोगोंसे विख्क्षण हो रहे कर्ता विशेष ईश्वरकी अपेक्षा करके तो उस जगतुको यदि अकृत्रिम साधा जायगा तब तो जैनोंका दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्यमाणत्व " हेत विरुद्ध हेन्यामास है क्योंकि प्रकरण प्राप्त अकृत्रिमत्व साध्यसे विपरीत हो रहे अस्मद् आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके ही अक्रिअमपनेकी उस हेत्रसे सिद्धि हो। पाती है हम छोगोंसे विलक्षण ईश्वर कर्त्ताकी अपेक्षा भी अकृत्रिमपनकी उस हेत्रसे सिद्धि नहीं हो सकती है अतः जैनों हा हेत् साध्यसे विपरीत हो रहे साध्याभावके साथ न्याप्तिको रखनेवाला होनेसे विरुद्ध हुआ । यहांतक कोई नैयायिक पण्डित कह रहे हैं।

तेपि न न्यायिवदः, अनित्यः बन्दो नित्यविकक्षणतया पतीययानत्वात् कक्षवादिवदित्यादेरप्येवमगमकत्वमसंगात् । बन्यं हि वकुं यदि निरितिश्वयनित्यविकक्षणतयेक्षणात्सातिब यानित्यत्वमनित्यत्वं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता " वेनैवं न्यवहारात् स्यादकौडस्थ्येपि नित्यतोवि " स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । अनेकक्षणत्रयस्थायित्वं साध्यं तदा विकद्धो हेतुस्तदिपरीनस्य साविश्यनित्यस्थाणस्यैवानित्यत्वस्य ततः सिद्धिरिति ।

अब आचार्य महाराज समाधाम करते हैं कि वे नैयायिक पण्डित भी न्यायमार्गको नहीं समझ रहे जैसा नाम वैसा काम करनेवाले नहीं है। देखिये तमने शब्दको अनित्य सिद्ध करनेके बिये यह अनुमान बनाया है कि शन्द (पक्ष) अनित्य है (साध्यदछ) क्योंकि नित्य पदार्थींस विरुक्षणपने करके प्रतीन किया जा रहा है (हेत) करुसा, रोटी, दाल आदिके समान (अन्वय-दृष्टान्त) अथवा " पर्वतो बन्हिमान धुमात महानसक्त " इत्यादिक असिद्ध हेतुओंको भी इस प्रकार कचोद्योंद्वारा तम्हारे यहा अगमकपनेका प्रसंग होगा यहां भी शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकोकरके यों कहा जा सकता है कि नैयायिक उक्त अनुमानद्वारा यदि निरितशय नित्य पदार्थींसे विख्क्षणपने करके दीख जाना हेत्रसे सातिशय नित्यत्व स्थरूप अनित्यत्वको साध रहे हैं तब तो सिद्धसाध्यता दोष है। हम मीमांसक भी शब्दको कूटस्थ नित्य नहीं मानते हैं अग्निका संयोग हो जानेपर अनित्यजल अपने शीत अतिशयको छोड देता है और उष्णताका आधान कर छेता है। किन्तु कृटस्य नित्य पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता है। कटस्थका अर्थ " अनाधेयाप्रहेयातिशय " है । जो पदार्थ चाहे कितने भी श्रेरक कारणेंका सम्प्रयोग हो जानेपर उनके धर्मी अनुसार धर्मान्तरोंको प्रहण नहीं करता है और अपने उपात्त कर छिये गये अतिरायोंको छोडता भी नहीं वह वह कटस्य है जैसे कि आकाश किन्तु नित्य हो रहा भी शब्द कुटस्य नहीं है वैदिक, छौकिक, महान् अभिन्यंजक, अल्प अभिन्यंजक ध्वनि, कण्ड, ताल्र, आदि परिस्थितियों के बराशवर्ती हो रहा परिणामी नित्य है। अतः ऐसे सातिराय नित्यस्वरूप अनित्यत्व भी सिद्धि करनेपर इम मीमास क तुम नैयायिकोंके ऊपर " सिद्धसाधन " दोष उठाते हैं। स्वयं मीमांसकोंने अपने प्रन्थोंमें यों कहा है कि संकेत काल व्यवहारकालमें वहका वही व्यापक हो रहा शब्द नित्य है । क्योंकि उस संकेतगृहीत शन्द करके ही मैं शान्द बोध करनेवाल। पुरुष यह व्यवहार करता है कि यह गी है. अमुक घट है इत्यादि, अतः कूटस्थपना नहीं होते हुये भी शन्दको नित्यपना युक्तिप्राप्त है। व्यंज-कोंकी तीवता, मन्दता, अल्पीयत्स्व, तत्तरेशीयत्व आदिकी अपेक्षा शन्दमें कुछ अतिशयोंकी संक्रान्ति होना अभीष्ट है ऐसे अनित्यत्वका इसने खण्डन कहां किया है ! हां अनेक तीन तीन क्षणोंमें स्थायी-पन यदि अनेक शब्दोंका अनित्यपना साधा जाता है तब तो तुम नैयायि होंका हेतु विरुद्ध हेत्वामास है, क्योंकि उस तुम्हारे सर्वथा अनित्यस्व साध्यसे विपरीत होरहे सातिराय नित्यस्वरूपही अनित्यपनकी

शन्दमें उस हेतुरे शिद्धि होसकती है। अर्थात् --क्षाणिकवादी बीद्ध तो पदार्थीका प्रथम क्षणमें आत्मकाम मान कर दूसरे क्षणमें ही ध्वंस मानते हुये ज्ञान, घट, आदिको क्षणिक मानते । जैनोंके यहां एक क्षण या दो, चार, छाखेंा, असंख्य, क्षणोंतक ठहरने वाळी सूक्ष्म पर्याय या स्थूड पर्यायोंको क्षणिक कहा जा सकता है कारण कि अनेक (संख्यात, असंख्यात) क्षणोंतक ठहरनेवाले बिजली, बबूला, दीपकालिका, आदि भी जगत्में क्षणिक पदार्थ माने गये हैं। अतः " दितीयक्षणद्वतिष्वंसप्रतियोगित्व " या " अनेकक्षणवर्तिष्वंसप्रतियोगित्व " ये दोनों रुक्षण सूक्ष्म समयवर्ती पर्याय अथवा कतिपय समयवर्ती स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षासे समुचित हैं किन्तु वैशेषिकोंने तृतीयक्षणवृत्तिष्वंस-प्रतियोगित्व यानी प्रथम समयमें उत्पत्ति द्वितीय समयमें शन्दकी स्थिति (श्रुति) और तीसरे क्षणमें नाश हो जाना ऐसा क्षणिकपना शन्द या ब्रानोंमें स्वीकार किया है। हां, अपेक्षाबुद्धिका चौथे क्षणमें वे ध्वंस होना मानते हैं। वैशेषिक पण्डित पांचवें क्षणमें नष्ट हो जानेवाली क्षणिक कियाओंका चार क्षणतक ठहरे रहना स्वीकार करते हैं। ईस्वर इच्छा या संयोग आदिसे प्रथम क्षणमें कियाकी उत्पत्ति, द्वितीय क्षणमें उससे विभाग, तृतीय क्षणमें पूर्व संयोगनाश, चतुर्य क्षणमें उत्तरदेशसंयोग पनः पांचवे क्षणमें क्रियाका नाश होजाता है। यों क्षणिकत्वके कतिपय अर्थ है। इसी प्रकार नित्यके भी कूटस्य नित्य, सातिशय नित्य, परिणामी नित्य, धारा प्रबाह नित्य, बीजाङ्कुर न्याय अनुसार नित्यत्व, अनादि सान्त नित्यत्व, सादि अनन्त,नित्यत्व, ऐसे कतिपय अर्थ हो सकते हैं। अतः शन्दका अनित्यपना साधनेपर नैयायिकोंके ऊपर हम मीमांसकोंने सिद्धसाधन और विरुद्ध दोष उठाये हैं । इसी प्रकार साध्यमें विकल्प छगा कर वन्हिमान् धूमात् आदि अनुमानोंमें भी उक्त दोष खगाये जा सकते हैं। जैसे कि नैयायिकोंने जैनोंक उपर सिद्धसाधन या विरुद्ध हेत्वाभास उठा दिये हैं।

यदि पुनर्नित्यमात्रविक्रसगतयेसगादिति हेतुरिष्टमेव स्निकत्वाख्यमानित्यत्वं साथयति, ततो न सिद्धसाथनं परस्य, नापि विरुद्धो हेतुरिति मतं तदा दृष्टक्रत्रिमसामान्यविलक्षणतये-स्नुणादिति हेतुरस्मदादिकत्रपेक्षयास्मद्विक्रसगेश्वरादिकत्रपेक्षयापि वाऽक्वत्रिमत्वं साधयतीति कथं नैयायिकस्यापि सिद्धसाधनं विरुद्धो वा हेतुः स्यात ।

फिर नैयायिक पण्डित यदि मीमांसक्रोंके प्रति यों कई कि सामान्य नित्यसे विद्यक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हेतु तो शब्दमें इमारे इष्ट हो रहे ही दो क्षण या तीन क्षणतक ठहरना नामके अनित्यपनको साथ देता है। तिस कारणसे मीमांसक्रोंकी ओरसे दिया गया सिद्ध साथन दोष दूसरे इम नैयायिक्रोंके ऊपर नहीं आ सकता है। तथा इमारा हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि इम नैयायिक तुम मीमांसक्रोंके यहां सिद्ध हो रहे सातिशय नित्यपनको शब्दमें नहीं साथ रहे हैं। तथा इमारा हेतु अनुकृत साध्यके साथ हो रही ज्यांतिक्रों आरता है। इस प्रकार नैयायिक्रोंका मन्तन्य होय तब

तो हम जैन भी कहते हैं कि देखे जा रहे सामामान्यरूपसे सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विकक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हमारा हेतु अस्मदादिकत्तांओं की अपेक्षासे अथवा हम लोगोंसे विकक्षण हो रहे महेश्वर, ब्रह्म, प्रकृति, ब्रह्मा, आदि कत्तींओं की अपेक्षासे भी नहीं कृत्रिमपनको जगत्में बहुत अच्छा साध देवेगा भल्ले ही उन उन कित्पय पदार्थों के कर्ता अनेक जीवातमायें हैं । किन्तु एक किसी ईश्वर या प्रकृतिकी अपेक्षा जगत् कृत्रिम नहीं है । ऐसी दशामें नैयायिककी ओरसे भी हमारे उपर सिद्धसाधन दोष कैसे हो सकता है ! और हम जैनोंका निर्दाष हेतु " दष्टकृत्रिमविकक्षणतया ईक्षण " मला विरुद्ध हेत्वाभास कैसे हो सकता है ! । यानी नहीं हो सकता है ।

यथैव हि निरितशयनित्यात् सातिशयनित्याच वैलक्षण्यग्रुत्पादकविनाशकारणकत्वं मतीयमानं शब्दे स्वष्टं क्षणिकत्वं साधयेत्, तथैवास्मदादिकृतात्क्कटमासादादेरीश्वरादिकृताच त्रिपुरदाहांधकाग्रुरविध्वंसनादेः सामान्यतो वैलक्षण्यं घटनादिविशेषानाश्रयत्वं जगित समीक्ष्य-माणं सकलबुद्धिमत्कत्रिपेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयतीति सर्व निरवधं।

जिस ही प्रकार मीमांसकोंके ऊपर घडक कर नैयायिक यो कह सकते हैं कि साख्योंके यह माने गये पुरुषके समान निरित्शय नित्य पदार्थ और मीमांसकोंक यहा माने गये जीवात्माओंक समान सातिशय नित्य पदार्थ अथवा और भी किसी प्रकारके नित्य पदार्थीसे विलक्षणपना यानी सृष्टिप्रिक्रिया और प्रख्यप्रिकरो अनुसार सबकी उपादेय उत्तर पर्यायका उत्पादक होते हुये पुनः उसके विनाशका कारण होजाना यहां " नित्यविञक्षणतया ईक्षण " हेतु शब्दमें भले प्रकार प्रतीत किया जारहा उस हमारे अभीष्ट होरहे दो तीन क्षणतक ठहरना स्वरूप क्षणिकलको साध देवेगा । हम जैन भी नैया-यिकोके सम्मुख आत्मगौरव सहित कह सकते हैं कि उस ही प्रकार इम तम मिस्री, बढ़ई, कारीगर आदि द्वारा बनाये गये स्तुप, चबुतरा, चौपारें, कोठियां गृह, झोंपडे, चौकी, मन्दिर आदि पदार्थींसे और तुम पौराणिकोंके मतानुसार मान छिये गये कार्यविशेषोंके कर्ता ईश्वरस्वरूप महादेव. विष्यु, ब्रह्मा, आदि करके किये गये त्रिपुरका दाह, अन्यकासरका विश्वंसन करना, गंगाका धारण, कामदेवका भस्म करना, आदि या चक्र धारण, कंतमर्दन, कैटभका जीतना, शिशुपाळवध, अथवा तपस्या द्वारा चतुर्मुख बनाना, इंसपर चढ छेना, आदि कार्योंने सामान्यतया विकक्षणपना यानी काठ. ईट. छोहे. चुनाका ठीकठीक जोडना, छप्पर बना छेना, शक्ष धारण कर छेना, तपस्या कर छेना आदिक बिशेष घटनाओंका आश्रयरहितपना भन्ने प्रकार जगत्में देखा जारहा है यह हम जैनोंका हेत हमारे अभीष्ट साध्य होरहे सम्पूर्ण ही बुद्धिमान कर्ताओं की अपेक्षा करके अकृत्रिमपनको जगतमें साध देता है। भावार्य-पौराणिकोंके विचार अनुसार यदि शिवजीने त्रिपरका दाइ कर दिया अन्धक राक्षमका विष्वंस कर दिया. गजासुरकी मार डाळा झ्यादिक कियारें कथंचित् थोडी देरके लिये मानी जासकती हैं । विष्यु भगवानुने नृतिह, कृष्ण, आदि अवतार द्वारा हिरण्यकशिष, पतना,

केशी, का वध किया ये कियायें भी असम्भव नहीं हैं, किन्तु ईश्वर करके जगत्का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि जगतमें कर्ताओं द्वारा होनेवाली विशेष घटनायें या योजनायें नहीं पायी जाती हैं जगतमें उक्त त्रिपरदाह आदि कर्तसाध्य कार्योंसे विलक्षणपना भी स्रूछभतया बढिया देखा जारहा है अतः यह अविनाभावी हेतु जगत्में अकृत्रिमपनको साधिहा देता है। रीत्रसम्प्रदाय बाले पुराणोंमें त्रिपुरकी उत्पत्ति और विनाहाकी कथा इस प्रकार लिखी है कि '' ततस्ते सहिता राजन , संप्रधार्यासकृद्वह । सर्वलोकेश्वरं बाक्यं प्रणम्येदमधात्रवन् । अस्माकं तं वरं देव, प्रयच्छेमं पितामह ? वयं पुराणि त्रीण्येव समास्थाय महीमिमाम् । विचरिष्याम छोकेऽस्मित्वतुप्रसादपुरस्कृताः । ततो वर्षसहस्रे त समेध्यामः परस्परम् । एकीभावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ । समागतानि चै कतं यो हन्याद्भगवंस्तदा । एकेपुणा देववरः स नो मृत्युर्भित्रिष्यति । एवमस्त्रिति तान्देवः प्रत्युक्तवा प्रात्रिशहितम् । ते तु छन्धवराः प्रीताः संप्रधार्य परस्परम् । परत्रयविसन्द्यर्थमयं वहर्महासरम् । विश्वकर्माणमजरं दैत्यदानवप्रजितम् । म्वतपसा चके धीमान् पुराणि च । त्रीणि कांचनमेकं वैरीप्यं कार्णायसं तथा। काञ्चनं दिवि तत्रासी-दन्तरीक्षे च राजतम् । आयसञ्चाभवद्भीमं चक्रस्थं पृथिवीपते । एकैकं योजनशतं विस्तारायामस-म्मितम् । गृहाद्वालकसंयुक्तं बृहत्प्राकारतोरणं । गृहप्रवर बाधमसम्बाधमहापथम् । प्रासादैर्विविधैरचैव द्वारिश्वाध्यपशोभितम् । पुरेषु चामवन् राजन् । राजानो वै प्रथक् पृथक् । काञ्चनं तारकाक्षस्य चित्रमा-सीन्महात्मनः । राजतं कमलाक्षस्य वियुन्मालिन आयसम् । त्रयस्ते दैत्यराजानश्रील्लोकानाञ्च तेजसा । भाकस्य तस्थुरूचुध कश्वनायं प्रजापतिः । तेषां दानवमुख्यानां प्रयुतान्यर्धुदानि च । कोट्यश्व प्रति वीराणां समाजग्मुस्ततस्ततः । मांसादाश्च सुद्दमाश्च सुरैविर्निकृताः पुरा । महदैश्वर्यमिष्कन्तिकपुरं दुर्गमा-श्रिताः । सर्वेषाञ्च पुनस्तेषां सर्वयोगनहो मयः । तमाश्रित्य हि ते सर्वे वर्त्तयन्त्यकुतोभयाः । ये हि यं मनका कामं दप्यात् त्रिपरसंश्रयः । तस्मै कार्म मयस्तं तं विदधे मायया तदा । तारकाक्षस्रतो वीरो हरिर्नाम महाबलः । तपस्तेपे परमकं येनातुभ्यत् पितामहः । सन्तुष्टमकृणोद्देवं वापी भवतु नः पुरे । शक्कैर्वि-निहता यत्र क्षिप्ताः स्पूर्वेळवत्तराः । स त ळब्ना वरं वीरस्तारकाक्षः सतो हरिः । ससूजे तत्र वापी तां मृतसञ्जीवनी प्रभो । येन रूपेण दैत्यास्त येन योगेन चैव ह । मृतास्तस्यां परिक्षिप्तास्तादृशेनव जिन्नरे । तां प्राप्य ते पुनस्तांस्तु सर्वांन् छोकान् बनाधिरे । महता तपसा सिद्धाः सुराणां भयवर्द्धनाः । नैतेषाममबदाजन क्षयो युद्धे कथञ्चन ॥ इस प्रकार त्रिपुरकी उत्पत्ति है । त्रिपुरमें रहनेवाले मय आदि महापराक्रमी दैत्योंने सम्पूर्ण छोक्रको बाधा पहुंचाया तब सम्पूर्ण देवोंने एकत्रित होक्ररके महादेवसे उसके मारनेकी प्रार्थना की । एक महान् दढ रथ बनाया गया। मारां प्रार्थना करनेपर पितामहने रथका सारथी होना स्थीकृत किया । उस रथपर चढकर महादेवने बाण करके तीनों नगरोंको दग्ध कर दिया और मय आदि असुरगणोंको जलाकर पश्चिम समुद्रमें फेंक दिया। इस वृतान्तको पुराणोंमें यों छिखा गया है कि " सर्वछोकस्य तेजांसि दृष्ट्वैकस्थानि मारिषाः । युक्तं निवेदयामासुर्देवास्तस्मै-. महात्मने " " मृतिं सर्वी समाधाय त्रैकोक्यस्य ततस्ततः रथं ते कल्पयिष्यामो देवेश्वर महीजसम्

तथैव बुद्धया विद्दितं विस्वकर्मकृतं महत् । ततो विबुधशार्द्द्वास्तं रथं समकल्पयन् । विष्णुं सोमं हुताशञ्च तस्येषुं समकल्पयन् । शृङ्मग्निर्वभूवास्य भल्छः सोमो विशाम्पते । अतिष्ठत् स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवत्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरीक्षे प्रराणि च । त्रिपवैणा त्रिशल्पेन तदा तानि बिभेद सः । पुराणि न च तं शेकुर्दानवाः प्रतिवीक्षितुम् । शरं काळाग्निसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम् । पुराणि दग्धवन्तं तं देवा याताः प्रवीक्षितम् " " तान् सोऽसरग-णान दग्ध्वा प्राक्षिपत पश्चिमाणर्वे । एवन्त त्रिपरं दग्धं दानवारचाध्यशेषतः । महेरवरेण कृद्धेन त्रैळो-क्यस्य हितैषिणा " तथा व्यासकृत वैष्णव सम्प्रदायवाले हरिवंश पुराणके एकसी पेतालीसर्वे अध्यायमें अन्धक असरकी उत्पत्ति यों लिखी है कि दिति कहती भयी " हतपुत्रास्मि भगवन् देवैर्धमभूताम्बर । अवर्ष्य पुत्रमिष्ठामि देवैरमितविक्रमम् । इसके उत्तरमें कश्यप उवाच । अवस्यस्ते स्त्रतो देवि दाक्षा-यणि भवेदिति । देवानां संशयो नात्रं कश्चित् कमछछोचने । देवदेवमृते रुद्रं तस्य न प्रभवाम्यहम् । आत्मा ततस्ते पुत्रेण रक्षितच्यो हि सर्वथा । अन्त्रालभत तां देवीं कश्यपः सत्यवागथ । अङ्गुल्योदर-देशे तु सा पुत्रं सुपुत्रे ततः ॥ यह अन्धक असुर अविचारक पाप पंकमें फसे हुये अन्धे मदान्ध पुरु-षोंके समान स्वच्छन्द भ्रमण करता हुआ देव या मनुष्योंको अनेक कष्ट देता भया । पश्चात महेरासे उसको मारनेके लिये दुःखित जनोंने प्रार्थना की । इरिवंश पुराण एक सौ छियालीसमें अध्यायमें लिखा है कि " मुमोच भगवाञ्छलं प्रदीप्तामिसमप्रभम् । ततः पश्चात् हरोत्सप्टमन्धकोरसि दुईरम् । मस्म-साज्ञाकरोद्रीद्रमन्धकं साधकण्टकमिति '' इसी प्रकार गजासर कामदेव आदिके विनाश किये जानेकी रोचक कथायें पुराणोंनें लिखी हैं। विष्णु करके प्रल्हादकी रक्षाके लिये हिरण्यकशिपुका वध अष्छे ढंगसे लिखा गया है । इसी प्रकार कंस, मुर आदिका नाहा करना भी बडी श्रद्धाबुद्धिसे उपदिष्ट किया गया है। सच पूछो तो यह स्पष्ट रूपसे संकल्पी हिंसा है। एक छोटी श्रेणीका जैन गृहस्थ भी जिस संकल्पी हिंसाको नहीं कर सकता है। परमात्मा या परमात्माके आशिक गुणोंको धारनेवाछ। देव या पुरुष तो कथमपि ऐसी हिंसाको नहीं करना चाहेगा। सञ्जन पुरुषोंके प्रभावशाली उपदेशों हारा है। कर पुरुष शान्त हो जाते हैं। अस्त कुछ भी हो वैशेषिक या नैयायिक दार्शनिकोंने उक्त पीराणिक कथाओंपर अखण्ड विस्त्रास नहीं रक्खा है। ये ईश्वरको अदेह स्त्रीकार करते हैं। हां, ईश्वर द्वारा विशिष्ट शक्तियोंको प्राप्त कर कोई कोई जीवात्मायें जगत्में बढ़े बढ़े चमत्कारक कार्यीको कर पाडती है ऐसा वैशेषिक मान छेते हैं । जैन भिद्धान्त अनुसार देव या राक्षसोंकी आयका मध्यमें ही छित्र हो जाना नहीं माना गया है हां, तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्य-शाली पुरुषोंके या विद्याओंको साधनेवाले पुरुषोंके अधीन अनेक देवता हो जाते हैं। अनेक देवोंके ऊपर कई पुण्यात्मा पुरुषोंका प्रभाव स्थापित हो सकता है। जैन पुराणोंमें भी महादेव, राम-चन्द्र, कृष्ण, पाण्डव, आदिके चरित्रोंका वर्णन हैं। रुदोंकी उत्पत्ति तो चारित्रसे सह हो चुके मुनि और अधिकाके सम्बन्ध दारा हुई मानी गयी है। इस कल्पकाखकी अब-

सर्पिणीमें इये ग्यारह रुदोंमेंसे सबसे प्रथम भीमाविक नामक रुद्रने श्री अजितनाथ स्वामीकी बाल्यावस्थामें अनेक उपसर्ग किये पश्चाद् बालक अजितनाथकी महती राक्तिको आश्चर्या-न्वित देखकर महादेवने अजितनाथकी स्ताति की और क्षमा मांगी । अन्तिम सारपिकने चौदह सो निचायें सिद्ध करली थीं. अनेक राजाओंका पराजय किया था। ये ठद महाराय भोगोंमें दिनरात व्याक्षिप्त रहते थे । विद्याओं करके अनेक कष्टमाध्य अनहोने कार्योको करके डालते थे। इसी प्रकार ब्रह्मा भी एक तापसी हुये हैं, जिन्होंने सैकडों वर्षोतक तपस्या की और तिलो-समा पर आसक्त होकर तपस्यस्की शक्तिसे चार, पांच, मुख बनाये इत्यादिक कृतियां उक्त प्रहर्षोकी प्रसिद्ध हैं, पद्मपुराण, इरिवंशपुराण, पाण्डव पुराणोंमें रामचन्द्र, कृष्ण, का विस्तृत कथनाक मिळता हैं। होलिकादाहकी पृथा भी इसी भित्ति पर अवलम्बित होकर प्रसिद्ध है। जैन पराण और वैष्णव या शिव पुराणों के कतिपय प्रकरण मिल जाते हैं। किन्तु जहां कार्य कारणमावका मंग होय या असम्भव व्यवस्था होय वह अजैन पुराणोंका विषय बाधित होजाता है जैसे कि मनुष्योंके संसर्गसे देवियोंके संतानकी उत्पत्ति बनाना, कानसे कर्णकी उत्पत्ति मानना, मनुष्यका घड और हाथीका सिर जुडकर गणेराजीका उत्पाद मानना, ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणेंकी उत्पत्ति मानना, गायके सींगपर प्रथिवीका घर रहना, जटाओंमें गंगाका झेलना । फिर कितनेही दिनोतक गंगा नदीका जटाओंमें ही अन्तर्भत रहना इत्यादिक विषय निर्बाध नहीं हैं। अलंकार पूर्ण साहित्यमें घटा, बढा कर कह दिया जाता है किन्त असम्भवके परिद्वारका वहां भी उक्ष्य रखा जाता है। अतः किन्हीं किन्हीं शक्तिशाली पुरुषों करके कभी कचित्र प्रसिद्ध इये त्रिपुरका दाह या अधंक असुरका विव्वंस, कोटिशिलाका उठाना आदि सम्भ-वनीय विषयोंको मान लिया मी जाय । किन्तु एक बुद्धिमान ईस्वर करके जगत्का बनाया जाना क्यमपि विश्वसनीय नहीं है। यों तो जिनसेनाचार्य कृत सहस्रनाममें महादेव, विष्य, ब्रह्मा, सगत, भादि देनोंके अनेक नामोंका उल्लेख है । अमरकोशमें " शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः " **ईश्वर**, शंकर, मृत्युञ्जय, वामदेव, हर, ईशान, त्र्यम्बक, त्रिलोचन, त्रिपुरान्तक, अन्धकरिष् आदि अनेक नाम महादेवके कहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्माके परमेष्टी, आत्मभू, पितामह, स्वयंभू, बेधा, नामेय आदि नाम हैं। स**दक्षनाममें "** श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शंभवः शभुरात्मभूः । नित्यो मृत्युंजयो मृत्युरमृतात्मामृतोद्भवः । यगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः " दुरितारिहरो हरः " त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षण " त्रिपुरारिबिछोत्तनः" सर्वक्लेशापद्दः साधुः सर्वदोषद्दशे हरः, शंकरः शंत्रदो दान्तो" "तीर्थकृत् केवलशानः" " नामेयो नामिजो जातः '' स्वय ^{उड्ड}योतिर जोऽजन्मा, सर्वद्वः सर्वदर्शनः '' " सुगतिः सुश्रतः सुश्रुक, सुगतो इतदुर्नयः '' सिद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा '' " समन्तभदः शांतारिर्धर्माचार्या दयानिधिः'' सुक्ष्म-दशीं जितानंगः '' " कुपालुर्धमदिशकः '' इत्यादिक कतिपय अन्वर्धनामोंका निर्देश किया गया है। इनमेंसे अनेकोंका अर्थ सहस्रनामकी स्तृतिमें यों िखा है कि " अनंतभवसंज्ञानजयादासीरनंतजित " हे भगवन् तुम अनन्तको अर्थात् मत्र-संतारको जीतनेकी अपेक्षा "अनन्तजित्" है। छोटे छोटे शारी-

रिक बळधारी मनुष्य या देवता अथवा नौला, गरुड, मोरपक्षी भी सांपको जीत सकते हैं जीतना तो क्या मार भी देते हैं । किन्तु आप तो अनम्त हो रही संसारकी सन्तनका जय करनेसे अनन्तजित 🐧 '' त्रैलोक्यनिर्जयावासद्धर्ष्यमतिदुर्ज्जयं, मृत्युराजं विजित्यासीठिजन मृत्युंजयो भवान् '' तीनों छोकके जीतनेसे जिस यमराजको खोटा अभिमान प्राप्त हो चुका है जो कि अतीव कठिनतासे जीतने योग्य है उस आयुष्यकर्मरूपी मृत्यराजको जीतकर हे जिन आप ही मृत्यंजय माने गये हैं। अर्थात्-यमराज नामका कोई एक देवता सबको मारनेवाला नहीं है। क्यों जी उसका मारनेवाला कौन है ? ब्रह्मा, विष्यु, महेशके वह अधीन है ? या उसके अधीन ब्रह्मा, विष्यु, महेश हैं ? स्र्येका पत्र और यमनाका भाई माने गये यमकी उत्पत्तिके प्रथम मृत्युर्ये कैसे होती थी? धर्मराज, यमराजका क्या सम्बन्ध है ? क्या यमराजके पुत्र पुत्रियां अविनश्वर हैं ? या उनकी मारनेवाला कोई दूसरा यमराज है ? इन संपूर्ण प्रश्नोंका पौराणिकोंकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं होता है । अतः आयुष्य कर्मके जीतनेकी अपेक्षा श्री जिनेन्द्र देव ही मृत्युंजय हैं ''त्रिपुरारिस्वमीरोशो जन्ममृत्यु जरान्तकृत " जन्म, जरा, और मृत्यु इन तीन नगरींका अन्त कर देनेसे तुम जिनेन्द्र देव ही " त्रिपुरारि " हो तुम ही ईश हो । त्रिकाल त्रिलोकवर्ती भिन्न भिन्न तत्त्वोंको युगपत् जाननेवाले केवलज्ञान नामक चक्कको धार रहे तम त्रिनेत्र हो । माथेमें तीसरे नेत्रका होना अलीक है । निर्माण कर्म शरीरमें दोही नेत्रोंको बनने देता है। विकियाशक्तिया विद्याबल्धे मले ही दिखाऊ उत्तर आकार चाहे कैसे भी बनालो । ऐसे त्रिनेत्रपन या सहस्रनेत्रपनकी कोई विशेष प्रशंसा नहीं है '' त्वामंधकांतकं प्राहुर्मेहांघासरमर्दनात , अर्द्धन्ते नारयो यस्मादर्द्धनारीस्वरोऽस्यतः " वस्तुतः स्वयं अन्धा होरहा और दूसरे सम्बंधियोंको मदोन्मत्त होकर अन्या कर रहा मोह नामके अन्यासुरका मर्दन कर देनेसे हे जिन भव्य जीव तुमको ही " अन्यकान्तक " कहते हैं। सर्वज्ञ होते हुये भी भविष्यमें देवोंके लिये दु:ख प्राप्तिका नहीं ज्ञान रखने वाले वे ही पहिले किसीको अवस्य होनेका वरदान करें पुनः उसीको रथ बनाकर सारथी होकर बाण चळाकर वे ही उन त्रिपुरोंको मारें यह तथ्य बृतान्त नहीं प्रतीत होता है। तथा दिति माता किसीसे नहीं मारा जासके ऐसे पुत्रकी अमिलाया करे और कश्यपके द्वारा पेट पर अंगुलियोंको फेरते रहने पर ऐसे पुत्रको उपजा देवे पुनः महादेव द्वारा उस अवश्य पत्रका संहार किया जाय ऐसे कथानक प्रतीति की उच्च शिखरपर आरूढ होने योग्य नहीं है। अतः त्रिपुरि और अन्धकासुर मर्दनका कथानक श्रीजिनेन्द्र देवमें जन्म, जरा, मृत्यु और मोह राक्षसका क्षय कर देनेसे सप्रतीत होजाता है। आठ कमींसे आधे चार घातिया कर्मस्वरूप प्रबल शत्रु जिन अर्हन्त देवके नहीं हैं। अतः अर्ध+न+अरि अर्धनारीक्षर अर्हन्त परमेष्ठी हैं। आधा पुरुषका और आधा स्नीका यों एक शरीर बन कर चिर जीवित रहे या बढ़ी भारी माहिमाकी पावे यह समझमें नहीं आता है। इसी प्रकार मोक्षपदमें आध्यासीन होनेसे शिव और पाप शत्रुओंका हरण करनेसे हर, लोकमें सुख करनेसे शंकर आदिक नाम भी जिनदेवके सुषटित हो जाते हैं। " शिवः

शिवपदाष्यासाहुरितारिहरो हरः, शंकरः कृतशंकोके संभवस्त्रं भवन्मखे कृषभोसि जगञ्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोद्यैः नामयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुळनन्दनः " " जन्मामिषेकवामाय वामदेव नमोऽस्तु तें " " केवळ्झानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते " " नमः परमित्रज्ञान" नमःपरमदृष्ट परमार्थाय तायिने" " नमः सुगतये तुम्यं शोभनां गतिमीयुषे " इत्यादिक शिव, सुगत, ब्रह्माके पर्यायवाची नामोंसे यथार्थ महत्त्वोद्योतक सम्भवनीय घटित हो रहे अर्थ श्री जिनेन्द्रदेवमें स्थापन किये गये हैं इस कारण सम्पूर्ण बुद्धिमान् कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके भी जगत्में अकृत्रिमपना साध दिया जाता है इस प्रकार हम जैनोंका सम्पूर्ण कथन युक्तिपूर्ण निर्दोष है । हमारे " दृष्टकृत्रिमविळक्षणतया ईक्षण हेतुमें किसी दोष की सम्भावना नहीं है ।

न ही त्यरनारायणादयः स्याद्वादिनाममिसद्धा एव, नापि तत्कृतित्रपुरदाहान्धकासुर-विध्वंसनादयो येन तद्विलक्षणं साधनस्रुपादीयमानं विरुद्धचेत । महेत्वरादेरिक्ललजगत्कारणस्येव तेषामनिभमतत्वात् ताहक्षो महतां जगत्स्कन्धस्य सकलघटनाविशेषानाश्रयस्येत्वरापेक्षयापि कर्तृभस्त्वमसंभाव्यं सिश्वेशविशिष्टत्वादेः साधनस्य तत्वयोजकत्वायोगस्य समर्थनात् ।

हम स्याद्वादियोंके यहां ईश्वर, नारायण, बल्डदेव, राक्षस, देव आदिक जीव अप्रसिद्ध नहीं है। और उन महादेव आदि करके किये जा चुके त्रिपुरका दाह, अन्यक असरका विष्वंस, पार्वतीपरिणय, विद्यासायन आदि या कोटिशिला उठाना, प्रतिनारायणका पराजय करना, अनेक व्यंतर देवोंका अधि-पतित्व, अनेक लीलायें, लौकिक सुल भागना आदिक भी इन जैनोंके यहां अप्रसिद्ध नहीं हैं जिससे कि उन त्रिपरदाह आदि कृत्रिम कार्यीस विरुक्षणपने करके दीख जाना हेत् विरुद्ध हेत्वामास हो सके। अर्थात्-जगत्को अङ्गित्र सिद्ध करनेके लिये पूर्व अनुमानमें प्रहण किया जा रहा हमारा दृष्टकृत्रिम विरुक्षणतया ईक्षण हेतुविरुद्ध नहीं है । त्रिपुर तो क्या ऐसे भी इतिहासमें अवसर आ चुके हैं कि प्रचंड राजाओंने बीसों पुरोंका और उनमें रहनेवालोंका विध्वंस कर दिया गया है। कोधी मुनि अपने तैजस शरीर द्वारा सैकडों पुरोंका विनाश कर देता है। वीर निर्वाण सम्बद् २४५६ चौबससी छप्पन या बिक्रम सम्बत् १९८६ में राज्याधिकारियोंने करोड़ों टीडियोंका विश्वंस कर दिया था, ईसत्रीय सन् १९१४ से १९१९ तक हुये यूरपदेशके महायुद्धमें छ।खों मनुष्योंका संक्षय हो चुका है। सन् १९१८ और १९१९ में भवंकर युद्धज्वर (इनफुल्यूइञ्जा) के कारण भारतीय ६० छाख मनुष्यकाल कविलत हो गये थे। द्वेग, हैजा, में असंख्य मनुष्योंका विनाश हो जाता है। विकृत पुद्रल और कर जीवोंके निमित्तसे घण्टों या मिनटोंमें करोडो, अरबों, खरबों, कीट, पतंग, मार दिये जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थेकर महाराज असंख्य जीवों का उपकार करते हैं। अमतैजस पुतला द्वारा मुनि कोसों तक सुभिक्ष फैला देते हैं। कोटिशिला या कैलाशको नारायण अथवा रावणने उठा लिया यों जैन पुराणोंमें प्रसिद्ध है इसादिक अनेक कार्य किये जा सकते हैं। किन्तु ये सम्पूर्ण

उक्त कार्य उन घट, पट, आदि कार्योंसे विलक्षण नहीं हैं जिनको कि बनानेवाले कत्ती देखे जा रहे हैं । अतः हम जैन संभावना प्रयुक्त तुम पौराणिकोंके त्रिपुरवंत, आदि कार्योको कथंचित् मान भी लेवें. निर्वाध विषयोंक स्वीकार कर लेनेमें कोई हानि नहीं है। बात यह है कि उन स्याद्वादियोंके यहां अखिल जगत्के कारण माने जा रहे महेश्वर, विवाता, ब्रह्माँदेत आदिको ही अभीष्ट नहीं किया गया है दृष्टकर्तक पदार्थीमेंसे तिस प्रकार विलक्षण हो रहे असेख्य योजन लम्बे. चोडे. अति-महान , और काठ, ईंट, आदिकी जुडाई करना, खम्भे बनाते हुये बारहदारी बनाकर शिखरकी रचना करना इत्यादिक ढंगसे सम्प्रण विशेष. विशेष, घटनाओंके आश्रय नहीं हो रहे जगत स्वरूप स्कन्धका कत्तीसहितपना तुम्हारे ईश्वरकी अपेक्षा करके भी असम्भव ही है। क्योंकि जगत को ईश्वरकृत्यपना साधते हुये तुन वैशैषिकों द्वारा प्रयुक्त किये गये सनिवेश विशिष्टत्व, अनेतनोपादानत्व आदिक हेत्ओंको उस ईश्रकृतत्व साध्यकी सिद्धिमें प्रयोजकपनका अयोग्य है इसका समर्थन हम जैन पूर्व प्रकरणोमें कर चुके हैं । अर्थात्—तुम्हारे ईश्वर, नारायण, आदिको इम जैन स्वीकार करते है ये भन्य मनुष्य पूर्व कालोंमें अपने अपने माता पिताओंसे उत्पन्न होकर अधिक राक्तिराली हो चुके हैं। भीमावली आदि ग्यारह रुद हैं। " भीमावलि जिर्म हु विसालणयण सुष्प-दिह चला । तो पुंडरीय अजिवंर जिर्णामीय पीड सब्हनो " ये ग्यारह रुद्रों हे नाम हैं ॥ उसहद-काले पढ़मद् सत्ताका सत्त स्विहिपहुदीसु, पीडो संति जिणिदे वीरे सच्चा सुदी जादी " भीमावलि और जित शत्र ये दो रूद भी बूबमनाथ और श्री अजितनायी कालमें हुये हैं और पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, बासुपुज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, और शान्तिनाथके कालमें क्रमशः रुद्र, विशा-लनयन, सुप्रतिष्ठ, पण्डरीक, अजितंबर, जितनाभि, पीठ, ये रुद्र हैं और सत्यकिस्त श्री महावीरके कालमें हुये है तथा श्री त्रिलोकसारकी गाथानुसार " तित्रिहदुविहतयं मू पुरिसुत्तम पुरिससिंह पुरि-सादी, पुण्डरीय दत्त णारायण किण्हो अद्भचनकहरा '' इस अवसर्पिणीमें ये नी नारायण हुये हैं और असागीओ तास्य मेसमय णिन्नेभकइउद्दंत महु । बिक पहरण रावणया खचरा भूचर जरासंधो '' ये नी प्रतिनारायण इये है तथा " बलदेवा विजयाचलपुधम्मसुष्पहसुदंसणा गंदी, तो गंदिमित्त रामा पडमा उपरि तु पढिसक् '' इस गाथा अनुसार नौ बळदेव हुये माने गये हैं और इस अत्रसर्पिणी के बियाळीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी सागर परिमित चतुर्थ कार्डमें " चन्नी मरहे। सगरो मध्वसणक्कुमार संतिकुंश्रुजिणा, अरजिण सुमोम महापण्डमा हरिसेण जय ब्रह्मदत्तक्खा " ये बारह चऋवती हुये माने गये हैं इन महाप्रक्षोंके द्वारा किये जान के महान अतिशयित कार्य भी प्रतिद्व हैं। व्यंतर, भवनवासी, आदि देव निकाय भी प्रमाणों द्वारा निर्णीत हैं किन्तु अनादि निधन जगत्की रचना ऐसी विखक्षण है जो कि किसी एक बुद्धिमान द्वारा कथमीप कर्तव्य कोटिमें नहीं आसकती हैं। अतः हमारे साध्यके साथ व्यातिको अञ्चल्ण धारे रहना रूप समर्थनसे युक्त होरहा हेतु अपने नियत साध्यका प्रयोजक है। अतः जगत् अक्तिम ही सिद्ध हुआ।

एतेन समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिद्दद्यान्तस्य साध्यधमीविकलत्वं साधनधमीविकलत्वं च निराकृतं, तत्रापि सकलकृत्रिमविलक्षणतयेक्षणस्य महेश्वरकृतत्वासंभवस्य च कृतनिश्व-यत्वात् । तदेवं निर्विक्रवाधकरिद्दितात् यवचनादनुमानाचाकृत्रिमकोकव्यवस्थानाचैकचुद्धिम-त्कारणो स्रोकः संकनीयः कालादिवतः ।

इम जैनोंके समर्थनपूर्वक इस उक्त कथनकरके समुद्र या खानोंसे उत्पन हुये अकृत्रिम (असूछी) मोती, प्रवाट, जम्छाट, मणि, सोना, चांदी, हिंगुल, हरिताट, अभ्रक, ताम्र, वैहुर्य, गेरू, पीली-मिही, कंकण, पत्थर, आदिक दृष्टान्तकी साध्यधर्मसे विकलता और साधनधर्मसे रहितताका निराकरण किया जा चुका समझ छेना चाहिये। क्योंकि उन मणि मुक्ताफळ आदिमें भी जीवोंके बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा किये गये सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थीस विकक्षणपने करके दीख जाना स्वरूप हेत और महेश्वर करके किये गयेपनके असम्भन स्वरूप साध्यका भन्ने प्रकार निश्चय कर लिया गया है । अर्थात्—विशिष्ट रचनावाळा जगत् (पक्ष) किसी भी **ई**स्वर, ब्रह्म, ब्रह्मा, महादेव या महेरा, अल्लाह, आदि बुद्धिमान् आत्मा करके स्वकीय पूर्ण ज्ञान या संभव, असंभव, चाहे जिस किसी भी कार्य करनेकी इच्छा अथवा कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तु शक्तिरूप पुरुषार्थ द्वारा किया गया नहीं है (साध्य), कृत्रिमरूपसे देखे जा चुके कूट आदिसे विलक्षणपने करके दीखना होनेसे (हेतु) सप्रुद् या खान अथवा वन्य इक्षोंसे समीचीन, अनिर्वचनीय अदृष्ट, जीव, पुद्रल, आदि कारणोंकरके उपजे मणि, मोती, आदिके समान (अन्त्रयदृष्टान्त) इस प्रकार हम जैनोंद्वारा कहे गये अनुमानके दृष्टान्तमें साध्य और हेत भले प्रकार घटित हो रहे हैं । तिस कारण इस प्रकार सम्पूर्ण बाधकोंसे रहित हो रहे आगमप्रमाण और अनुमान प्रमाणसे इस लोकके अकृत्रिमपनकी व्यवस्था हो रही है। अतः किसी एक बुद्धिमान् आत्माको कारण मानकर यह छोक उत्पन्न हुआ है इस प्रकारकी रांका कथमि नहीं करनी चाहिये, जैसे कि काल, आकाश, स्वयं ईस्वर, आदिक पदार्थीमें जैसे कृत्रिम-पनका संदेह अणुमात्र भी नहीं किया जाता है।

ततो मध्यछोकस्य निवेशः कथितः । द्वीपसम्बद्धपर्वतक्षेत्रसरित्यभृतिविशेषः सम्यक् सक-छनेणमादिनयमयेन ज्योतिषा मवचनमृत्रस्त्रैर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः स्वयं पूर्वा-परश्वास्त्रार्थपर्यायछोचनेन मवचनपदार्थविदुपासनेन चाभियोगाविशेषविश्वेषण वा मपंचेन परि-वेद्यो अधोलोकसिवेश्वविश्वेषविदित्युपसंहरकाइ ।

तिस कारणसे उक्त प्रकार श्री उमाखामी महाराजने यहांतक मध्यलोकके अनादिनिधन सिन-वेशका निरूपण कर दिया है। जम्बूद्धीप, धातकीद्धीप, पुष्करद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र, कालोदिधि, पुष्करवर आदि समुद्र तथा हिमबान, महाहिमबान, आदि पर्वत एवं भरत, हैमवत आदि क्षेत्र कि च गंगा, सिन्धु, आदि नदियां एवं च पग्न आदि सरोधर तथेष भोगभूमि, कर्मभूमि, आदिकोंकी

अन्य भी विशेष विशेष रचनाओंको भले प्रकार चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। नैगम, संप्रह, ज्यवहार, द्रम्यार्थिक, पर्यायार्थिक, आदि नयोंसे तन्मय होरहे तथा सर्वज्ञप्रतिपादित और गणधर प्रन्थित द्वादशांग प्रवचनको मूळ मानकर उत्पन्न हुये श्रीउमास्त्रामिकृत सूत्रों करके उपज रहे ब्रानप्रकाश करके द्वीप आदिकी विशेषताओंको समझ छेना चाहिये, एक त्रिषयको सनकर उसके सम्बंधी अनेक विषयोंकी भावना करने बाले सक्ष्मबुद्धि सज्जनों करके स्वयं शालके अर्थोंकी पूर्वापर पूर्यालोचना द्वारा द्वीप आदिकी विशेष रचनाओंका परिज्ञान कर छेना चाहिये एवम सर्वज्ञोक्त शाखों या प्रकृष्ट क्काओंके वचनके द्वारा निर्णीत किये गये पदार्थीका परिज्ञान करनेवाले प्रकाण्ड विद्वानोंकी उपासना करके भी विस्तारसे ही द्वीप आदिकोंकी विशेषतायें जानी जासकती हैं । अभियोगोंकी अन्तरराहितपनकी विशेषताओं करके मध्य छोककी रचना विशेषोको जैसे हो तैसे किसी भी प्रकार (उपाय) से समझ छेन। योग्य है। जैसे कि अधोलोककी विशेष रचनाओंका विस्तारके साथ समझ लेना आवश्यक है। भावार्थ — श्री उमास्त्रामी महाराजने तृतीयाध्यायमें पहिले छह सूत्रों द्वारा अधीलोकका संक्षिप्त वर्णन लिखा है। किन्तु इन मूलसूत्रोंके अनुसार अथवा सर्वज्ञोक्त सम्प्रदाय अनुसार प्रसिद्ध हो रहे अन्य प्रन्थोंके परिज्ञान करके अधोलोककी रचनाओंका विस्तृत वर्णन समझ लिया जाता है । उसी प्रकार सिद्धान्तप्रन्थोंकी भावनाको धारनेवाळे व्यूत्पत्तिशाळी सक्तनों करके प्रमाणनयात्मक प्रकाश करके मध्यलोक सम्बन्धी विशेष विशेष रचनाओंका विज्ञान कर लेना चाहिये यद्यपि संक्षेपरूपसे उक्त सुत्रोंमें ही अधोलोक और मध्यलोकका सम्पूर्ण निरूपण हो चुका है। फिर भी विशेष इति करनेके लिये अन्य आतोपन्न शालोंके प्रमेयोंकी भावना करनेवाले सजनों करके अपनी प्रमाणनयात्मक न्नान उयोति करके गजदंत, यमकादि, जम्बुवृक्ष, स्वयम्पुरमण द्वीप, मध्यस्त्रोकके चारों कोन आदिका विचार कर छेना आवश्यक है। प्रवचन और प्रवचनके ज्ञाता पुरुषोंकी परिचर्यासे अनेक अतीन्द्रिय अधौंका निश्चय कर लिया जाता है। इतना लक्ष्य रऋवा जाय कि कोई अन्यवादी कुचोब या कुस-क्तियों द्वारा हम जैनोंके ऊपर अभियोग नहीं लगा सके। सिद्धान्तशाखोंक पूर्वापर विचार और ष्रकृष्ट विद्वानोंकी रत्संगातिसे उक्त कार्य मुलभसाध्य हो जाता है। किसी लम्बे चौडे महलको बना-नेके छिये पाहिले छोटा चित्र बना लिया जाता है । त्रिचक्षण गृहपति उतने ही इंगितसे प्रासादके पूरे प्रमेयको इदयंगत कर लेता है। आप्तोपन्नं शाखों द्वारा उत्थित हुई ज्ञानज्योति तो विशेष रूप करके ततोऽपि अधिक परिज्ञप्ति करा सकती है। त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञपि आदि प्रन्थोंका परिशिखन करनेसे मध्यलोकको अतीव सुन्दर मनोहारी दश्य मानो सजनोंके सन्मुख ही उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इस संक्षिप्त वक्तव्यका उपसंहार कर रहे श्री विद्यानन्दस्वामी माळिनी छन्दः द्वारा अप्रिम वार्तिकको कहते हैं।

> इति कथितविशेषो मध्यलोकस्य सम्यक् । सकलनयमयेन ज्योतिषा सन्निवेशः।

प्रवचनभवस्त्रैर्जन्यमानेन सद्भिः । कथमपि परिवेद्यो भावयद्भिः प्रपंचात् ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने मध्यछोकके कतिपय विशेषस्थलोंका सामान्य रूपसे तृतीयाध्यायके चौंतीस सूत्रोंमें समीचीन वर्णन कर दिया है। सर्वन्न प्रतिपादित द्वादशांग मूळक शास्त्रों या प्रकृष्ट वक्ताओंसे उत्पन्न हुये सूत्रों करके उपज रहे सम्पूर्ण नयतन्मय ज्ञानज्योतिर्द्वारा भावना-शक्तिको धारनेवाळे सञ्जन पुरुषों करके किसी भी समुचित उपायोंके अनुसार मध्यळोकके सिनिवेशका विस्तारसे परिज्ञान कर ळेना चाहिये। सूत्रोंमें इतना ही कथन करना पर्यात है।

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजकृत तत्त्वार्थसूत्र प्रन्थके तीसरे अध्यायका श्री विद्यानन्दस्वामीकृत प्रकरणोंका समुदायस्वरूप दुसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ।

अधोलोकश्चित्रो नरकगणना नारकजनस्तथा लोको मध्यो बहुविधविश्वेषो नरगणः । तदायुर्भेदश्च मतिनियतकालो निगदितस्तिरश्चामध्याये स्थितिरपि तृतीयेत्र सुनिना ॥ १ ॥

इस तीसरे अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने प्रथमसूत्रकरके चित्र, विचित्र प्रकारका अधोलोक कहा है, रानप्रमा आदि सात भूमियां बातवल्योंपर और वातवल्य तो आकाशके आश्रयपर अवलंबित हैं। यों सुमेरु पर्वतके नीचे सात राज्यक अकृत्रिम अधोलोकका सुन्दर आश्चर्यकारक विचित्र सिन्नेवेश है। दूसरे सूत्रमें चौरासी लाख नरकोंकी गणना की गई है तथा अप्रिम तीसरे, चौथे, पांचवें, छहे, सूत्रोंमें नारकी जीवोंकी दुर्व्यवस्था और उनकी आयुओंका निरूपण किया गया है। इसके आगे सातवें आदि सूत्रोंमें मध्यलोकका वर्णन है, वहां द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, हद, कमल, नदियां, आदिका वर्णन करते हुये सूत्रकारने ढाई द्वीपमें रहनेवाले भोगभूमियां, कर्मभूमियां, आर्थ, म्लेन्छ, आदि बहुत प्रकारोंकरके मनुष्योंके समुदायका विशेष कहा है तथा उन मनुष्योंकी आयुके विशेष मेद भी कह दिये हैं, जो कि जवन्य, उत्कृष्ट, आयुके भेद श्वासके अठारहवें भाग, जवन्यदशासे लेकर कोटि पूर्व वर्षतक कर्मभूमिमें और एक समय अधिक कोटि पूर्व वर्षसे प्रारम्भकर तीन पल्यतक भोगभूमियोंमें प्रत्येक नियतकालको धारनेवाले हैं। अन्तमें तिर्यञ्च जीवोंकी जवन्य, उत्कृष्ट, स्थितिका भी सूत्रकार मुनि महाराजने लगे हाथ प्रतिपादन कर दिया है।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्चिकालंकारे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥ इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्य करके विशेषरूपेण रचना किये गये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् प्रन्थमें यहांतक

तीसरा अध्याव परिपूर्ण हुआ।

तृतीयाघ्यायकी विषयसुची।

इस तीसरे अध्यायमें श्री विद्यानन्द स्वामी करके ज्याख्या किये गये प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही जीवोंके निवास स्थानोंकी जिज्ञासा होनेपर कहे गये " रतशर्करा" आदि सत्रकी उपपत्ति की गर्या है । आगमप्रमाणसे समझायीं गयीं भूमियें और वातवलय तथा आकाशके आश्रयपनको युक्तियोंसे सिद्ध किया है। पौराणिकोंके यहां माने गये कछवा, रोषनाग आदिको भूमिका आधारपना नहीं सम्भवता है। पश्चात भूमिका गोल आकार माननेवाले कतिपय प्राचीन पण्डित और आधानिक अनेक युरूपीय पण्डितोंके मतानुसार भूमिके ऊपर नीचे अमणका अनुवाद कर पुनः भूअमणवादका ऊहापोहपूर्वक खण्डन किया है। कचित्, कदाचित् , भूमिका अयल्प कम्प हो जानेसे चित्तमें बढा भारी उद्देग (घवडाहट) व्याकुळतायें उपज जाती हैं. रहेंटक झुळा या गोल झुळापर झुळनेवाळोंके हृदयमें भारी आधात पहुंचता है, तो फिर भूमिका वेगयुक्त भ्रमण माननेपर इन शरीरधारी जीवोंकी कितनी दुर्दशा होगी ? इसका अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है । सांपको उल्टा लटका देनेसे उसका निकृष्ट संहनन धोडी देरमें स्वलित होकर सर्प मृतप्राय हो जाता है। इसी प्रकार भूमिके ऊपर नीचे छटक, रहे ये टूटे चरखा सरीखे शरीरको धारनेवाले प्राणियोंकी घुमा देनेपर भुरभुरी गजक, के समान दुर्व्यवस्था हो जायगी । भूमिकी आकर्षण शक्ति इस विपत्तिकी रक्षा नहीं कर सकती है। पचास मनकी महीके देखको यदि आकाशमें लटका दिया जाय और उस डेलपर नीचेकी ओर एक बालक या एक कटोरा जलको धारण कर दिया जाय तो वह झट नीचे गिर पड़ेगा क्या ! पचास मन महीका देख उस सेरभर पानीको या पांच सेरके बालकको अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा नीचेकी ओरसे खेंच नहीं सकता था ? यदि तम यों कहो कि महती भूमिकी आकर्षणराक्ति अत्यधिक है। अतः दिनमें सूर्यप्रकाशसे अभिभूत हुये ताराओं के समान उस छोटेसे मृतिका पिण्डकी शक्ति दब जाती है। बड़ी भूमि अपनी ओर बालक या जलको खींच लेती है इस पर हम जैनोंका यह कहना है कि प्रधिवीमें आकर्षण शक्ति मध्य केन्द्रमें है ? या सर्वत्र खण्ड खण्डोंमें थथायोग्य वांटके अनुसार धोढी धोडी फैल रही है ! इन दोनों पक्षोंके अनुसार तुम्हारा उक्त सिद्धान्त रक्षित नहीं रह सकता है। क्योंकि महीको खोदकर एक ओर ऊंची और दूसरी ओर नीची ढळाऊ स्थानमें जमा देने पर ऊपर उभरी भूमि पर रक्खी हुई गेंद नीचे नहीं लडकनी चाहिये तथा खण्ड, खण्ड, राजि मानने पर पचास मनका ठोस गोछा नीचली पोली इलकी भूमिकी बांटमें आयी हुई थोडी शक्तिसे कहीं बढ़ कर है। गोल भूमि पर लम्बा, चौडा, समह जल या नदीजल नियत त्रिधीसे नहीं ठहर सकता है। प्रेरक वायुओंका परस्परमें प्रतिघात होजायगा। देखो, गुरु पदार्थ अधः पतनशील होते हैं । मुमिमें भाक्षर्यण शक्ति है । जलभाग बीचमें कुछ उभरा रहता है। इन सिद्रान्तोंका हम खब्दन नहीं करते हैं। किन्तु नियत अमण कराने के कार-

णोंका अमाव होनेसे और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों करके विरोध होजानेसे इस अचला भूमिका भ्रमण कथमपि नहीं होपाता है। यूरोपीय विद्वानोंने कोई चेतन कर्त्ता मूमिका श्रमण करानेवाळा भी अमीष्ट नहीं किया है। जैसे कि जैनोंने सूर्य, चन्द्रमा, आदिके विमानोंको भ्रमानेवाछे अभियोग्य जातिक देव माने हैं। अतः इस भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण या पूर्व पश्चिम श्रमण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके आगे भूमिका अधःपतन माननेवाले मता-न्तरोंको दिखळा कर श्री विद्यानन्द आचार्यने युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर दिया है। इसी प्रकार भूमिका ऊर्घ्यगमन या सूर्यकी ओर निकट, निकट गमन अथवा तारतम्य मुद्रासे सूर्यके दूर दूर हो रहे भ्रमणका निराकरण भी हो जाता है। अनादि कालसे सूर्य, भूमि आदि सञ्यवस्थित हैं। अन्यथा न जाने कितने समय पूर्व ही इनकी दुर्दशा हो गयी होती । अतः उक्त कल्पनायें सब निरा-धार हैं। अस्मदादि मनुष्य या जम्बूदीप, छवणसमुद्र आदि असंख्य द्वीप समुद्रोंकी आधारभूत ये रत्नप्रभा या शर्कराप्रभा आदि भूमियां अनन्त योजनोंतक फैली हुयी नहीं हैं। और अन्य अन्य अनेक भामियोंके आधारपर डटी हुई भी नहीं हैं। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा ठीक ठीक नापे जा रहे किसी मध्यम असंख्यातासंख्यात नामकी संख्याबाले योजनों करके लम्बी चौडीं नाप ली गयी है। सात प्रथिवियोंके मध्यवर्ती छह अन्तरालोंमें असंख्यात योजनोंका अन्तर है। अतः ये स्थूल भूमियां निश्चयनयसे स्वाश्रित और व्यवहार दृष्टिसे वातवलयके आश्रित समझा दी गयीं हैं। उस उस जातिके पापकी विचित्रतासे उन उन भूमियोंमें कर्मवश जीवोंका गमन होते रहना बताया है। उन सात भूमियोंके कतिपय भागोंमें निवास करनेवाले नारकी जीवोंकी उपार्जित कर्म अनुसार अपनी अपनी आयुःपर्यन्त स्थितिको कह कर नारिकयोंकी अञ्चभ छेश्या आदिक परिणितियोंको युक्तियों द्वारा साधा है। रौद्रध्यानसे नरकोंमें उत्पत्ति होनेके कारण मैढा, तीतर, कुत्ता आदिके समान परस्पर रूड भिड कर दुःख भुगतना साथा गया है असुर कुमारों द्वारा दुःख देनेके हेतुको समझा कर उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको अनुमान द्वारा प्रसिद्ध किया है। उसके पश्चात् मध्यलोकका वर्णन करते हुये और सूत्रोक्त पदोंकी सफलताको पृष्ट करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने जम्बुद्वीप आदिपदसे बहु-बीहि वृत्ति द्वारा निकाल दिये जा रहे जम्बूदीपको वडे अच्छे ढंगसे बाल बाल बचा लिया है। मेरु और इसके इधर, उधर, भरत आदि क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रोंका व्याख्यान कर वृत्तवेदाढ्योंकी रचना बता दी है। भरत आदि सान ही क्षेत्रोंका अवधारण करते हुये आचार्य महाराजने अन्य मतियोंकी कल्पित क्षेत्र संख्याओंका प्रत्याख्यान कर दिया है। दुग्धमें घृतके समान जग-त्में सर्वत्र स्याद्वाद सिद्धान्त ओतपोत होकर प्रविष्ट हो रहा है । उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाळे पर्वतोंकी उपपत्ति, परिणाम, पार्श्वरचना, विस्तार आदिका व्याख्यान कर अगले हद और पुष्करोंके प्रतिपादक सूत्रोंका विवरण तथा कमलनिवासिनी सूत्रका अर्थ समझा दिया है। नदियोंके प्रतिपादक सूत्रका पदकुत्य कर गंगा आदिक

नादियोंका कुळ विवरण दिखाया है। महागंगा, महासिन्धु आदि नदियोंके चार कोशवाछे छोटे योजनोंसे इजारों योजनोंके विस्तार, लम्बाई, गहराईयों, को दृष्टान्त पुरस्सर साध दिया है। भरत आदि क्षेत्रोंकी व्यवस्थाके प्रतिपादक सूत्रोंकी अनतिविस्तारसे टीका कर दी है। भूमियोंकी अवस्थिति बतानेवाले सूत्रमें भूमिशब्दके प्रहणसे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी भूमियां उतने ही आकाशमें ऊंची नीची लम्बी चौडी होकर घटती बढती रहती है। उनमें रहनेवाळे मनुष्य आदिके अनुभव, आयुः, आदिका घटना बढना तो प्रसिद्ध ही है। हां, भोगभूमियोंमें या नरक, स्वर्गी, में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंका पश्चिमण नहीं है। पश्चात् ढाईदीप सम्बन्धी भोगभूमियां, जीवोंकी आयुका वखान कर विदेहस्य जीवोंकी आयुको दिन, मास, वर्ष, आदि द्वारा गणनाका विषय बताते हुये श्री आचार्य महाराजने जम्बूदीपके मरतकी आकाश सम्बन्धी नापको समझाया है। धातकी खण्डका व्याख्यान करनेके प्रथम लवण समद और उसमे विराज रहे पाताल, गीतमद्वीप, का विशेष निरूपण कर दिया है। व्याख्यान कर्ताओं के उत्सूत्रवादीपन दोषका निराकरण कर धातकी खण्डके भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर मध्यम और बाह्यविष्क्रम्भ योजनी द्वारा गिना (नपा) दिये गये हैं। इष्वाकार पर्वतोंके विवरणको भी छोडा नहीं है। इसके अनन्तर पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर, मध्य, बाह्य, विष्करमोंको गणितशास अनुसार निकालकर वर्षधर और मानुषोत्तर शैक्की मनोहर रचनाको दिखा दिया गया है। यहां भी दोनों इध्याकार पर्वतोंको संक्षेपसे कहते हुये गुरुवर्यने विस्तृत प्रतिपत्ति करनेवालोंको विद्यानन्द महोदय प्रन्थके अध्य-यनकी ओर द्युकाया है। आर्य, म्डेच्छ, मनुष्योंके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्थाको अनुमान मुद्रासे साध कर क्षेत्र आर्य आदिकोंके सकारणपनको सुझाते हुथे आचार्य महाराजने अन्तर्हीपज म्डेच्छोंकी आयु, शरीर उत्सेध, प्रवृत्तियोंका निरूपण कर दिया है । कर्मभूमि सम्बन्धी आठ सी पचास म्लेम्ल खण्डोंके सम्पूर्ण मनुष्य और ढाई द्वीपसम्बन्धी एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंके कतिपय चाण्डाल, कमाई, आदि **जीवोंको म्हेन्छाचारोंकी पालना करनेसे बहुत प्रकार**के म्हेन्छोंकी न्यवस्था करा दी है । संतान परम्प... रासे चली आयी सम्प्रदाय अनुसार यह आर्यन्यवस्था या म्लेच्क्रन्यवस्था विचारशील न्यवहारियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणोंसे निश्चित है । कुछ, गोत्र, वर्ण, जाति, व्यवस्थाओंमें रहस्य अवस्य है। घोडे, कुत्ते, बन्दर, गेंडू, चना, नारंगी, आम, लुकाट, गुलाबका फूल आदिक पद्म, अन, फल, पुष्प इनकी सन्तान अनुसार भिन्न भिन्न जाति या कुलकोटी अनुसार संतति (नस्छ) में महान् अन्तर पड जाता है । इसी प्रकार नास्तिकोंकी संतान या आर्य, म्हेण्ड, पुरुषोंकी संतान भी पारिणामिक रहस्यसे रीती नहीं है। कुछीनता, अकुछी-नता, छिपी नहीं रहती है। बात इतनी ही है कि जो जिस विषयका भापनेवाला है, वह उस विषयके सूक्ष्मरहस्योंका युळभतया परिज्ञान कर छेता है। मन्दज्ञानी अन्य पुरुष उपेक्षा धारण करते हुये उस मूढ विषयतक नहीं पहुंच पाते हैं। चिर अभ्यस्त श्रृङ्गारी पुरुष अतिशीव ही श्चियोंके सौन्दर्यको निरख लेता है। ब्रह्मचारी उदासीन पुरुष अथवा योगी या पशु उस युवती सुन्दर क्षीके छीला, स्मित, विलास, सुन्दरता, आदिको नहीं जान पाता है। मोटे, पतले, बढे, नाटे परु-षोंमेंसे सहद शरीरसंगठनावाले पुरुषकी परीक्षा जितना शीव एक कुशल मल कर लेता है, उतना प्रविष्ट हो कर कोई दूसरा मूनि या शास्त्रीय परीक्षामे उत्तीर्ण विद्वान अथवा बालक. पश्. जैंडरी. कर्यचित नहीं कर सकता है। खरीदनेवाले या नहीं खरीदने वाले पुरुषों और भोली बुद्धि, चंचल बुद्धिवाले ग्राहकोंकी परीक्षाकी पुराना दुकानदार जितना प्रविष्ट होकर कर लेता है उतना विशद रूपसे कोई नवीन दुकानदार नहीं कर पाता है। बढिया चीर या गठकटा जितना शीव दसरोंके छिपे हुये धनको भांप लेते हैं, स्वयं घरवालोंको घंटोंतक ढूंढने पर भी जब कि वह धन नहीं मिलता है. उस प्रकार कोई क्षञ्जक या राजा, महाराजा नहीं ताड सकते हैं । समीचीन न्यायकत्ती अनुभवी जज बडी सुरुभतासे मायाचारी, असत्यवक्ता, अभियुक्तों (मुलाजिमों) के बास्तविक अपराधौंको समझकर निप्रह या अनुप्रह कर देता है इस न्यायशासनको कोई प्रतिष्ठाचार्य या पुरोहितजी महाराज कथम-मपि नहीं साथ सकते हैं। ख़िफ्या पुलिसके प्रवर्तनको घसखोदा गवार नहीं समझ सकता है। बीणाकी हृदयतलस्पर्शी इंकारके तत्त्वको भैस विचारी क्या जाने है देशभक्त महामना स्वार्थत्यागी परु-वोंकी समीचीन भावनाओंकी ओर स्वदेशके साथ प्रीति नहीं रावनेवाले विनोदी पुरुषोंका लक्ष्य नहीं जाता है। स्वर्ण रत्नमय भूषणोंकी भी अवना कर देनेवाली राजमहिबीके परितृप्त हार्दिक भावोंके अन्तस्तलपर विचारी गोंगची, कौडियों या पीतल, कार्सोंके बने हुये गहनोंको वडे चावसे पहन रही प्रामीण की नहीं पहुंच सकती है। कुटुम्ब, परिवार, धन, महल, राजविश्वति आदिका परित्यागकर तपस्या कर रहे मुनिमहाराजकी परिणतिओंका परिज्ञान दीन, हीन, मिखारीको नहीं हो पाता है। प्रकरणमें यह कहना है कि छहार, सुनार, दुकानदार, पण्डित, साधु, व्यभिचारी, चोर, डाकु, काटिला खी. राजा, किसान, वैज्ञानिक, मल्ल, बाजीगर, माली, आदि सभी जीवोंके कार्योमें बढे बढे रहम्य छिपे हुये हैं । जड पदार्थी या चेतनपदार्थीकी परिणातियां अनेक सूक्ष्म, अति सक्ष्म, अति-शयको धार रही हैं । जो जीव जिसका जितना अभिलाषी या अभ्यासी अथवा व्यसनी है, उसमें उतना प्रविष्ट होकर परिक्वान कर सकता है, सम्पूर्ण पदार्थीमें अनन्तधर्म हैं। जड या चेतनोंकी सम्पूर्ण स्थलसूक्ष्मपरिणतियोंको मन्द क्षयोपरामधारी जीव नहीं समझ पाता है। सम्प्रदायसे चले आये सदाचार, असदाचारों, का प्रभाव संतान, प्रतिसंतानों, की आत्माओं पर अवस्य पडता है । पूर्वजन्मर्मे जिन आत्माओंने उस उस जातिके कर्मीका उपार्जन किया है वे जीव उन उन आर्य या म्लेन्छ पुरुषोंमें जन्म धार रहे हैं। मध्यमें भी किसी सन्तानी व्यक्तिके आचारोंसे परिणतियें विलक्षण हो जाती हैं। कुल, देश, जाति, क्षेत्र, काल, भाव, की परिस्थितियोंके अनुसार आत्माओंकी बडी बडी विशेष परिणितयां हो जाती हैं। शरोखेके छेदमेंसे सर्थ किरणोंके पडनेपर जो रज उडती फिरती दीखती है उसका एक कण भी शरीरके उत्पर बीझ

डालता है, भले ही उस बोझके दबावको स्थूल बुद्धिवाला पुरुष नहीं समझ पावे, इसमें विचारी सूक्ष्म परिणित क्या चिकित्सा करे ? यह बात किसी विचारशाली विद्रान्से छिपी नहीं है । मुखमें खाध पदार्थके घर हेनेपर और चलानेपर चारों ओरसे लारके फुल्वारोंकी बौछार होती है। रीते क्रियारहित मुखमें उतनी लार नहीं टपक पाती है। इंसते, खेलते, हुये बाककको गोदमे लेकर क्सल माता पिताके जो परिणाम है उनका अनुभव मानि महाराज या वन्ध्य पुरुष अथवा वन्ध्या स्त्रीको नहीं हो पाता है। अतः आर्यपन या म्लेच्छपनका किसीको अनुभव नहीं होय यह उसके क्षयोपशमका दोष है। मनुष्योंमें तो वस्तुभूत आर्थत्व या म्लेन्छत्व व्यवस्थित हो ही रहा है। प्राचीन मार्गसे चळी आ रहीं सम्प्रदायोंके प्रामाण्यका निर्णय भी कष्टसान्य भले ही होय किन्त असम्भव नहीं है । अनेक संप्र-दायोंका निर्णय करना तो बुद्धिपर थोडा वल देनेपर सहजसाध्य हो जाता है। सांख्योंके प्रकृति तत्त्व या वेदान्तियोंके अद्वैतवाद आदिकी कल्पनार्ये भी नयविवक्षा अनुसार किसी वस्तुभित्तिपर अवलंबित हैं, निष्कारण नहीं हैं। क्वचित् प्रसिद्ध हो रहे धर्मका ही अन्यत्र आरोप किया जा सकता है। अतः गुणोंको कारण मान कर हुये आर्यपन और दोषोंको कारण मान कर हुये म्लेच्छपनकी व्यव-स्थाको श्री विद्यानन्द आचार्यने भले प्रकार दशी दिया है। वैशेषिकोंकी मानी हुई नित्य, न्यापक, अमूर्त होरही ब्राह्मणत्व, चाण्डाळत्व आदि जातियोंका युक्तियोंसे खण्डन किया है। वस्तुतः उर्ध्वताः सामान्य या तिर्यक्सामान्यको जाति पदार्थ माननेमें महती शोभा है। अनेकान्तवाद तो सर्वत्र फैल रही है इसके आगे भरत आदि क्षेत्रोंमें कर्मभूमि, भोगभूमिका विवेक करते हुये मनुष्य और तिर्य-चोंकी जवन्य, उत्कृष्ट आयुके प्रतिपादक सूत्रोंका अनातिविस्तारसे विवरण किया है । असंख्याते द्वीप समुद्रोंमेंसे मध्यके ढाई द्वीपेंका ही और जीवतत्त्वका वर्णन करते करते बीचमें द्वीपसमुद्रोंका निरूपण क्यों किया ! इन आशंकाओंका प्रत्याख्यान कर उन द्वीपसमुद्रोमें मनुष्योंके उत्पादक अभ्यन्तर, बहि-रंग कारणोंका विचार किया गया है । जीवोंके आधारस्थानोंको समझानेके लिये अधोलोक, मध्यलोक, का निरूपण करना अत्यावश्यक है। इसके अनन्तर प्रकरण अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्य-त्ताके साथ सृष्टिकर्तवादका निराकरण किया है। अन्य प्रन्थोंमें नहीं देखनेमें आयीं ऐसी बहुतसी युक्तियों करके पौराणिक, वैशेषिक, नैयायिकोंको श्वकक्षीर डाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य जिस विषयको पकड छेते है, उसको परिवर्ण करके हैं। छोडते हैं। तृतीय अध्यायके चालीस मूर्जोके पूरे विवरणसे प्रन्थ अपेक्षा कुछ ही थोडा और गम्भीर अर्थ अपेक्षा बहुत बडा कर्तृखण्डनका प्रकरण इस छोटेसे " तिर्यग्योनिजानां च " सूत्रके नीचे उसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने जोड दिया है, जैसे राजवार्तिकमें " छौकान्तिकानामष्टी सागरोपमाणि सर्वेषाम् " सूत्रके विवरणमें अनेका-न्तवादको हिल्मा दिया है। गजघण्टको बलीबर्दपर लगा देनेसे भी एक विनोदपूर्ण शोभा हो जाती है । स्वतन्त्र उद्भट टीकाकारोंके विषयमें हम सारिखे मन्दबद्धि परुषोंको समालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। केवळ गुरुभक्तिवश आचार्योकी स्तुति करते हुये मुखसे ये शब्द निकल पडते हैं।

कि जहां कहीं जब किसी विषय के प्रतिपादन करने की विवक्षा भगवान श्री विद्यानन्द आचार्यके उपज बैठती है. निराकरणीय उस सदोष विषयका तभी वहां खण्डन कर मटियामेट कर देते हैं. और मण्डनीय निर्दोष प्रभेयको उन्नतिके शिखरपर विराजमान कर देते हैं । ऐसी प्रतिभातत्परता प्रशं-सनीय, प्रभावनीय या आदरणीय ही नहीं किन्तु पूजनीय भी है। इसके विना स्वमताप्रही, एकान्तवादी पण्डितों के अमिमानका निराकरण और अनेकात्मक वस्तुके गृढ गर्भान्धित अतिशयोंका प्रकाश नहीं हो पाता है। ईश्वरके कर्तृवाद का प्रत्याख्यान करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने वैशेषिकों के हेतुओं का मंड फेर दिया है। ईक्टर हो परारीर या अरारीर नित्यज्ञानवान या अनित्यज्ञानवान कैसा भी माना जाय वैशेषिकोंके अभीष्ट कर्त्वादकी सिद्धि कथमपि नहीं हो पाती है। अनवस्था, साध्यविकल-दृष्टान्त, व्यतिरेकाप्रसिद्धि, कदाचित् नार्यानुत्पत्ति ये दोष श्राटिति, उपिथत हो जाते हैं। सर्वथा भिन हो रहे छड़े पदार्थ समजाय करके सर्वथा भिन्न माने गये जानका ईश्वर में वर्तना स्वीकार करनेवाले वैरोषिकोंके यहां ईश्वर कथमपि '' ज '' या जाता नहीं बन सकता है । छोष्ठके समान अज ईश्वर या मुक्तात्माके समान अशरीर ईश्वर भठा जगत्को कैसे बना देगा? यहां और भी अनेक सक्ष्म विचार किये गये हैं। ईश्वरको मरारीर माननेवालों की विशेव ऋपसे अवज्ञा की गयी है। जैसा कोठी आदिमें सिननेशिवशिष है वैसा जगाएं नहीं है। इस प्रकार किसी एकदेशीय विद्वानके द्वारा वैशेषि होंके ऊपर उठाये गये असिद्धत्व दोष हो उचित नहीं बता हर सिनवेशिवशेषादि हेतुओं ने व्यमि-चार आदि दोप देना आवश्य ६ वताया गया है । इस हे पश्चात् व्यतिरेक की असिद्धि बताकर ईश्वर और जगत्के कार्यकारणमाव ता मंग कर दिया है। काल, आकाश, आदि मी यदि कूटस्य नित्य या सर्वथा सर्वगत माने जाय ते। ये भी किसी भी अर्थिकयाकी नहीं कर सर्केंगे । यह पक्की बात समझो । महेश्वरकी भिन्नुक्षा द्वारा जगज्जी उपित माननेपर बहुत अच्छा विवेचन किया है। चक्रक दोवों के प्रहारका ढंग निराज ही है। क्रम कमने होने बाली अनित्य महेश्वरिस्ट-क्काओं अथवा नित्य एक सिस्ट्रक्षा द्वारा जगतकी उत्पत्ति होनेमें अनेक दोष आते हैं । नित्य, व्यापक, होरहे ईश्वरज्ञान और ईश्वर ईन्डा स्वम्हप कारणों हा व्यतिरेक नहीं बननेसे व्यापकके अनुप्रस्म करके व्याप्य होरहे कार्यकारणमावकी अधिद्ध दोवने अरुचि दिखाते हुये अपर विद्वानों के मुखसे बाधित हेत्वामास उठाना समुचित बताया गया है । यहांका विचार भी सादर अध्ययनीय है । अन्य एकदेशीय विद्वानों की सम्मति अनुसार वैशेषिकों के उत्पर उठाये गये असिद्ध, बिरुद्ध, दोषोंका अनुमोदन किया गया है । इस अवसरपर श्री विधानन्द आचार्य महाराजकी मित्रनीति अनुकरणीय है । वैशेषि होने कई बार अपने पक्षको पृष्ठ करनेके छिये उद्योग किया, किन्तु अतंद्यशून्य भी परस्पर गुणित हो कर यदि एकके अंक्षको परास्त करना चाहें तो उनका दुःभाइस निरर्थक ही समझा जायगा। अस्तु । नित्य गुणी और उसके नित्य गुगको वर्षया किन है। कह रहे वैशेषिकों के पूर्वपन्न पर स्याद्वादियोंने गुणक गुणीका अर्थनित तादात्म्य सम्बन्ध साथ दिया है। ऋर्थित, यत्रिभशिक्षिक, आदि हेतुओं वे दर

दिये । अनेक दोषोंका निराकरण करना वैशेषिकोंकी शक्तिका कार्य नहीं रहा । इसके आगे वैशेषिकोंके करणत्व आदि अन्य हेतुओं की भी आचार्य महाराजने निः मारता दिखायी है। यहां नैयायिकोंने चिड कर जो कुचाय उठाये हैं उनको अपने प्रन्थमें पूर्णरित्या अनुवाद कर पश्चात् उन कुचोबोंका निरा-करण कर दिया है। जगतमें अनेक प्रकारके कार्य हो रहे हैं। सबका प्रयोक्ता कोई प्रधान व्यक्ति होवे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। एक के उत्पर एक, पुनः उसके भी अन्य अधिकारियोंकी कल्पना करते हुये अनवस्था दोष वैशेषिकोंके यहां दर्निवार बता दिया है । ईम्राके अनादिकालीन शुद्धि नहीं सम्भवती है। दृष्ट, इष्ट, प्रमाणोंसे विरुद्ध कथन करनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ कहना भी उपदासास्पद है। वैशेषिकोंके सभी अनुमानोंको आचार्य महाराजने दूषित कर दिया है । वैशेषिकोंका आगम माना गया वेद. प्रमाणभूत नहीं है । हां, समीचीन अनुमानोंसे जिनोक्त आगमसे छोक अकृत्रिम सिद्ध हो जाता हैं। लोक: (पक्ष) बुद्धिमता नैव कृत: (साध्य) दृष्ट, कृत्रिम, कृटादिविलक्षणतया ईक्षण होनेस (हेतु) समुद्र या खानमें उपजे हुये माणि, मोती, आदि के समान (अन्त्रयदृष्टान्त) इस अनुमानके प्रत्येक अवयवको आचार्योंने बडी पृष्ट्युक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है। व्यर्थमें उठा दिये गये विरुद्ध आदि हेत्वाभासोंका अचूक विष्वंसन कर दिया है। अन्य भी कितने ही मध्य, मध्यमें सविनोद स्वप-क्षमण्डन और परपञ्चलण्डन करनेमें युक्तिया दी गयीं हैं. जो कि श्लोकवार्त्तिक प्रन्थका प्रविष्ट होकर परिशीलन करनेवालोंके हृदयंगत हो कर संतोषाधायक है । अनादि कालसे अनन्त काळतक इस जगतकी व्यवस्था जढ या चेतन कारणोंके अथवा अनन्त परिणमनोंके अधीन होकर प्रवर्त रही है। एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अक्षय अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तानन्त गुणे अक्षय अनन्त पुद्रखद्रव्य ये सम्पूर्ण द्रव्य सार्वदिक, नित्य हैं। इनकी स्वामाधिक और जीव पुद्रलोंकी वैमाविक भी पर्यायें न जाने किन किन कारणोंसे हो रहीं उत्पाद, न्यय, ध्रीन्य, स्वरूप न्यवस्थित हैं। अतः छह प्रकारके बन्योंका पिण्ड यह छोक अनादिनिधन चळा आ रहा, अकृत्रिम, है। किसी एक प्रेरक बुद्धिमान करके बनाया गया नहीं है। अनेक छोकिक छोटी छोटी यक्तियों द्वारा है। जब कर्तवादका जीर्ण बस्नके समान खण्डन हो जाता है । पुनः निर्देष अनुमान और त्रिकोक त्रिकाल अवाधित आगमसे तो विद्वानोंके हृदयमें छोकके अकृत्रिमपनका चमत्कारभाव स्थायी हो जाता है। जगत्की विशिष्ट परिणतियोंका अध्ययन करनेवाछे सहदय सजन विद्वानों करके इस छोकका पूर्ण स्वरूप समझ छेन। चाहिये । श्री उमास्वामी महाराजने तीसरे अध्यायमें जीवोंके अधिष्ठान विशेष अवोछोक और मध्यछोकका बढी गम्भीरतासे सन्नों द्वारा निरूपण कर दिया है। प्रमाण और नय नामके अन्यर्थ उपाय तत्त्रोंसे छोककी अन्य रचनाओंका भी परिज्ञान कर लिया जाता है। इस अक्रुनिम छोककी रचना इतनी अद्भत है कि छाखों, करोडों, प्रन्थों करके भी भरपूर नहीं कही जा सकती है। फिर भी जीवतत्त्वका सांगोपांग परिच्छेद करनेके लिये अथवा धर्मध्यानको भावनेके उपयोगी मध्यलेककी विशेषस्थलीय रचनाओंको

जाननेके छिये आचार्य महाराजने मन्योंको आदेश दिया है। प्रबल परचक्रसे विजय प्राप्त कर स्वतःसिद्ध गायनकी उपजी हुई इच्छाके अनुसार विजताको माछिनी छन्दःका प्रयोग विशेष हृदयप्राही शोमता है। तीसरे अध्यायके निरूपणको संक्षेपसे दिखाते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने शान्तिरस और प्राप्तादको बढानेवाले शिखरिणी छन्दःकरके सूत्रकारके उदिष्ट कर्त्तन्यकी निर्विष्ठ परिपूर्णताको दर्शा दिया है। चाह्ने चारों अनुयोगोंमेंसे किसी भी अनुयोगका विषय होय, श्री विद्यानन्द आचार्य उसको युक्तियों द्वारा साधे विना छोडते नहीं हैं। छोकानुयोग अनुसार तत्त्वार्थसूत्रके करणानुयोग सम्बन्धी तृतीय अध्यायके प्रमेयको द्वयानुयोगसम्बन्धी चर्चा करके मढ देनेवाले श्री विद्यानंद आचार्यका प्रयास सर्वथा खुल है। सद्गुरुओंको हितवाक्य सर्वाङ्गीण पथ्य है। समन्ताद् भदका आश्रय छेकर अकलंक पथपर मुमुञ्जुओंको चलानेके लिये श्री विद्यानन्द आचार्यके गम्भीरप्रन्थ विद्या और आनन्दके विधायक होने ही चाहिये। यों तीसरे अध्यायके उपर किये गमे विवरणको श्री विद्यानन्द स्वामीने दो आन्हिकोंमें परिसमात कर दिया है।

चेतः सम्भ्रमकारणत्विविधुरा नोवीं खबद्श्राम्यति।
अभ्रम्छेच्छकुभोगभोगजगतीत्यादौ जिन प्राणिनां ॥
स्वस्वाद्द्यवशादकुत्रिममिमं छोकश्च वै श्रद्द्ध्य ।
भन्यो ज्ञानचरित्रजुद्छिवकृते पुष्णातु सद्दर्शनम्॥१॥

इस प्रकार श्री तत्त्वार्यश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान्प्रत्यकी आगरामण्डलान्तर्गत चावलीप्रामनिवासी सहारनपुरप्रवासी न्यायाचार्योपाद्धित माणिकचन्द्रकृत हिन्दी देशभाषामय '' तत्त्वार्थीचन्तामणि '' टीकामें तृतीयाध्याय परिपूर्ण हुआ।

निर्वाधसम्बिदितस्किसुधाः स्रवन्ती । संशीतिविश्रमविमोहतमांसि इन्त्री ॥ जीवादितत्त्वकुसुदानि विवोधयन्ती । वाक्चन्द्रिका त्रिश्चवनं धिनुताङ्जिनस्य ॥

॥ ओं नमोईत्परमेष्ठिने ॥

अथ चतुर्थोध्यायः।

अब श्री उमास्त्रामी महाराज अधोळोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुक्तनेपर ऊर्ध्वलोकका निरूपण करनेके लिये " तत्त्वार्थाधिगममोश्वराालग्रन्थके चौथे अध्यायका प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि ऊर्ध्वलोकिनिवासी करपोपपन और करपातीत देवोंसे असंख्यात गुणे अधोतिषा देव इस मध्यलोककों निवास करते हैं। रत्नप्रभाके खरभाग और पंक्षभागमें असंख्यातासंख्यात भवनवासी और व्यन्तर निवास कर रहे हैं। फिर भी पूरे लोकके ठीक ऊपर नीचेके दो टुकड़ा कर देनेपर मध्यलोककी जड परसे डोरी निकल जाती है। अधोलोकके ऊपरका खरभाग और पंक्षवहुलभाग निकटवर्ती संयुक्त मित्र होनेसे उपचारतः ऊर्ध्वलोकों गिन लिया जासकता है। दूमरी बात यह है कि ऊर्ध्वलोकों विराज रहे अनग्तानन्त श्री सिद्धपरमेष्ठियों के अनन्तवें भागने भी थोडे ये भवनत्रिक देव हैं। अतः चतुर्निकायके देवोंका निरूपण करनेवाले इस अध्यायको ऊर्ध्वलोकानुयोग कह देनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है अधवा "देवस्थान" इतना ही इस चौथे अध्यायको प्रतिपाद आधारका नाम एव लेना उपपत्तिपूर्ण है।

कई बार देव रान्द आया है। उन देवोंका परिज्ञान कराना आवश्यक है। और अधोलोक, मध्यलोकका वर्णन करने के पश्चात् कमप्राप्त कर्धलोकका वर्णन करना भी अनिवार्य है। अतः सम्य-ग्दर्शनके विषयभूत जीवतस्वके कित्रपय भेदोंके स्थान निर्णयार्थ श्री उमान्त्रामी महाराज चतुर्थ अध्या-यके आदिमे घनगर्जनोषम शन्द स्वक्ष्प प्रथमसूत्रका उच्चारण करते हैं।

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देवगति नामक्तर्यक्षे परवश हो रहे असंख्याने संसारी जीव देव इन भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक चार निकायों (मण्डलिया) को घार रहे विराज रहे हैं।

देवगितनामकर्मोद्रये सित दोव्यंतीति देवाः चुत्याद्यथीविरोधात् । बहुत्वनिर्देशांतर्गत-भेदमितप्त्यर्थः । स्वधमिविशेषोपपादितसामध्यीश्विचीयंत इति निकायाः चत्वारो निकायाः येषां ते चतुर्निकायाः । कुतः पुनश्रत्वार एव निकाया देवानामिति चेत्, निकायिनां तेषां चतुः-मकारतया वश्यमाणत्वात् । ते हि भवनवासिनो, व्यंतरा, ज्योतिष्का, वैमानिकाश्चेति चतु-विवाशिकायिभेदाच निकायभेदा इति । नैक एउ देवानां निकायो नापि द्वावेव त्रय एव वा, पंचादयोप्यसंभाव्या एव तेषामत्रांतर्भावात् ।

नाम कर्मकी गति नामक प्रकृतिके उत्तरभेदस्वरूप देवगति संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते जो दीवते रहते हैं, इस कारण वे जीव '' देव '' कहे जाते हैं। '' दिवुक्तीडाविजिगीषाव्यव-

ढारचुतिस्तुतिमोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु " इस धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर देव शद्ध बनाया गया है । प्राय: सभी देव शति कान्ति, भगवत् स्तृति, मोद, कीडा आदिको धारते हैं। अतः देव शहकी व्यत्पत्तिसे प्राप्त हये द्योतन आदि अर्थीकी अविरोधरूपसे घटना हो जानेसे भवनवासा आदि चार निकायोंके उद्देश्यदलको न्यक्तियोंमें देवपना शोभ जाता है। अर्थात-अन्तरंग कारण हो रहे देव-गति नामकर्मका उदय होनेपर बहिरंगभत बति आदि कियाओंके सम्बन्धको धारनेवाले जीव देव कहलाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि सत्रकारको लाघन गणका लक्ष्य रखते हये "देवश्वत-र्णिकायः " यो मूत्र कहना चाहिये था। जाति वाचक होनेसे देव शद्ध द्वारा स्त्रतः ही बहुत अर्थीकी प्रतिपत्ति हो जावेगी । इस प्रकार कटाक्षके प्रवर्तनेके पूर्व ही श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करें देते हैं कि देव शद्वका बहुवचन रूपसे कथन करना तो देवोंके इन्द्र, सामानिक, आदि या स्थिति, प्रभाव, गति, शरीर, आदि करके हो रहे बहुतसे अन्तर्गत भेदोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये है। अनेक शक्ति आत्मक देवगति नामकर्मके उदयस्वरूप स्वधर्मिविशेष करके प्राप्त करायी गयी साम-र्थ्यसे निचयको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात्—देव अपने अपने उपार्जित कर्मकी सामर्थ्यसे कतिपय समुदायमें पुष्टिको प्राप्त हो रहे हैं, इन कारण ने समुदित देवमण्डलियां निकाय मानी जाती हैं। जिन देवोंकी निकार्ये चार हैं. वे देव चार निवायवाले हैं। यदि यहा कोई वादी यों प्रश्न करे कि फिर देवोंके चार ही निकाय किस प्रकारसे हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करें देते हैं कि संघ या मण्डलियोंमें रहनेवाले उन दी सी छप्पन प्रमाणांगलोंकी प्रदेशसंख्याके वर्गका जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर लब्ध हुई संख्याप्रमाण ज्योतिषी देवोंसे कुछ अधिक हो रहे देवोंको चार प्रकारवाले स्वरूपसे भविष्यमें कहना है। अतः वे देव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमान निक, यों चार प्रकारोंसे महामण्डळत्य व्यक्तियोंका भेद हो जानेसे नियम करके निकायोंके चार भेद-बाले हो जाते हैं। देवों का निकाय (संघ) एक ही नहीं है। अथवा दो ही या तीन ही देवों के निकाय भी नहीं हैं । तथा देवोंकी पांच, छः, सात, आठ आदि निकार्ये (टोलियां) भी असम्भव ही हैं । क्योंकि उन पांच आदिकोंका इन चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है । अर्थात —पराणोंमें काचित एक देवता शब्दसे ही सम्पूर्ण देवोंका प्रहण कर लिया है। अन्यत्र सुर, असुर या दैत्य. आदित्य इन दो भेदोंमें सम्पूर्ण देवोंका संप्रह कर छिया है। पुर अपूरीके साथ परिपुज्य देवोंके मिल देनेसे अन्य भी कतिपय देवोंके भेद हो जाते हैं । गणदेवताओंकी अपेक्षा, आदित्य, विस्व, वसु, तुषित आभास्त्रर, अनिल, महाराजिक, साध्य, रुद्र ये नौ भेद माने गये हैं। योनिकी अपेक्षा देवोंके विद्याधर अप्सरस्, यक्ष, राक्षस्, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुद्धक, सिद्ध, भूत, ये दश मेद स्वीकृत किये हैं। जैन -सिद्धान्तमें भी इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि अनेक भेद गिनाये हैं । किन्तु इन सबका उक्त चार निकायोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। पीपल, सांप, अस, नदी, ब्राह्मण, वायु, योनिज आदि कपोलकल्पित देवताओं के अतिरिक्त वस्तु मूत सम्पूर्ण संसागी देवोंका इन चार है। निकायोंमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

नतु च ब्राह्मसौम्यपाजापत्यपेंद्रयक्षराक्षसभूतपिशाचानामष्ट्रमकाराणामष्टी निकायाः इतो न परोक्ता इति चेत्, परागमस्य तत्यितपादकस्य प्रमाणत्वासंभवादित्यसकृदिभिधानात्।

यहां पीराणिक पण्डितोंकी एक और शंका है कि ब्राह्म (ब्रह्मासम्बन्धी) २ सीम्य (चन्द्रमासम्बन्धी) ३ प्राजापत्य दक्ष, कश्यप, आदि प्रजापतियोंके अपत्य ४ इन्द्रसम्बन्धी ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत ८ पिशाच इन आठ प्रकारवाले देवोंकी आठ निकायें दूसरे विद्वानोंके यहां कही गयी है। अतः सूत्रकारने देवोंकी ये आठ निकायें क्यों नहीं कहीं ? यों शंका होनेपर तो श्री विद्यानोंके प्रमाणताका करते हैं कि उन दूसरे विद्वानोंके आठ निकायोंका प्रतिपादन करनेवाले आगमकी प्रमाणताका असम्भव है, इस बातको हम कई वार अनेक प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अपनी, अपनी, पोथियोंमें कोई भी चाहे जैक्षी अन्ट सन्ट बातोंको लिख देता है। किन्तु प्रमाणभूत आगमोंके विषयका आदर होता है। ब्रह्मा इन्द्र, दिति, अदिति, कश्यप, आदिसे देवोंकी सृष्टि होना कहना अलीक वचन है। अतः देवोंकी चार निकायें ही सत्यार्थ है।

ननु च नारकमनुष्याणामिवाधारवचनपूर्वकं देवानां वचनं किमर्थे न कृतमित्याशंक-मानं शत्यावेदयति ।

पुनः किसी शिष्यका जिज्ञासापूर्वक अनुनय है कि तृतीयाध्यायमें जैसे नारकी जीवोंके आधार का पाहिले निरूपण कर पश्चाद नारक जीवोंका कथन किया है और मनुष्योंके आधार होरहे जम्बूदीप, भरत, आदिका पूर्वमें वर्णन कर पीछे मनुष्योंका प्रतिपादन कर दिया है, उसी प्रकार सूत्रकारको प्रथम देवोंके आधारस्थानोंका वर्णन कर पुनः आध्यभूत देवोंका वचन करना चाहिय था। ऐसा वचन श्री उमास्वामी महाराजने किस लिये नहीं किया ! पद्धतिभंगदोषको क्यों स्थान देते हो ! इस प्रकार आशंका कर रहे विनीत शिष्यके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी बढिया ढंगसे वार्तिकों हारा समाधान वचन कहते हैं।

देवाश्रतुर्णिकाया इत्येतत्सूत्रं यदम्बीत् । नारकाणामिवाधारमनुत्क्वा देवसंविदे ॥ १ ॥ सूत्रकारस्तदेतेषां लोकत्रयनिवासिनां । सामर्थ्यादूर्वलोकस्य संस्थानं वक्तुमेहत ॥ २ ॥

नारिकयोंके आधार संमान देवोंके आधारको प्रथम नहीं कहकर सूत्रकार श्री उमास्वामी महा-राज जो " देवाश्वतुर्णिकायाः" यो इस सूत्रको कह चुके हैं। वह तीनों छोकोंमें निवास करनेवाले चतुर्निकायसम्बन्धी इन देवोंकी सामध्यसे उर्घ्यलोककी रचना विशेषको कहनेके छिये सूत्र बना दिया है। अर्थात्—देवोंका कोई विशेष स्थान नियत होता तब तो सातों नरक या मनुष्य छोकके समान देवस्थानोंका भी नियत रूपसे वर्णन कर दिया जाता। किन्तु देव तीनों छोकमें रहते हैं और सूत्रकारको अधोछोक और मध्यछोककी वर्णनाके पश्चात् उर्ध्वछोकका वर्णन करना है। अतः आधारपूर्वक आधे-योंका कथन नहीं कर छघु उपाय द्वारा आधेयपूर्वक आधारोंका कथन करना न्यायप्राप्त है। वक्ताको प्रकरणकी सामर्थ्य इसी ओर झुका रही है।

न हि यथा नारकाणामाधारः प्रतिनियतोऽधोलोक एव मनुष्याणां च मानुषोत्तरान्मध्य-लोक एव, तथा देवानामूर्ध्वलोक एव श्रूयते । भवनवासिनामधोलोकाधारतयेव श्रवणात्, व्यंतराणां तिर्यग्लोकाधारतयापि श्रूयमाणत्वात् । ततो लोकत्रयनिवासिनां सामध्यीद्ध्वलोकस्य संस्थानं च मृदंगवद्दक्तुमैहत मूत्रकारः आधारमनुक्त्वा निकायसंविचये सूत्रप्रणयनात् ।

जिस प्रकार नारिक्योंका आधार अधोलोक ही ठीक नियत हो रहा है और मनुष्योंका आधार मानुषोत्तर पर्वतसे भीतरका मध्यलोक ही प्रतिनियत है, तिस प्रकार देवेंका आधार स्थानप्रामाणिक शाखोंद्वारा केवल ऊर्ध्वलोक ही नहीं बात किया जा रहा है। क्योंकि भवनवासियोंका अधीलोक ही स्थान आधारपने करके आम्नायप्राप्त शास्त्रोंद्रारा चुना जा रहा है। अर्थात्-त्रिलोकसारमें भी यों लिखा है कि " वेंतर अप्पमहद्विय मन्झिमभवणामराणभवणाणि, भूमीदोधो इगिदुगबादाळसहस्सइगिळक्खे " रयणपद्दर्पक के भागे असुराण होंति आवासा, भौम्मेसु रक्खसाणं अवसेसाणं खरे भागे " तथा व्यंतर देवोंका आधारपने करके निर्यग्छोक भी सर्वज्ञ आम्नात शाखद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। " चित्तव इरादु जावय मेरुदयं तिरियलोयिकथारं, भोम्मा इवंति भवणे भवणपुरावासंगे जोगो ''। तथा तृतीयाध्यायके प्रथम सूत्रकी राजवार्तिकमें ' तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधक्षेक्षेक योजनसङ्कं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्रशस् योजनसहस्रेषु किंत्रर्रित्र्राश्वमहारगगंवर्वयक्षभूत पिशाचानां नागिवयुत्सपर्णाप्रियातस्तिनेतोदधिद्वीपदिकुकुमाराणां नवानां भवनवासिनां चावासाः । पं तबहुळमागेऽपुरराक्षसानामात्रासाः " तिस कारणसे तीनों छोकोंमें निवास करनेके शील (देव, आदतको) धारनेवाले देवोंकी चार निकार्योके कण्ठोक्त निरूपणकी सामर्थ्यसे ही विना कहे ऊर्घछो कता मृदंग (पखावज) के समान संस्थानको कहनेके छिये सूत्रकार अभिकाषा रखते थे । अतः देवों के आधारस्थानको नहीं कह कर उनकी निकायोंका सम्बे-दन करानेके छिये श्री उमास्त्रामी महाराजने प्रथम ही " देवाश्वतर्णिकायाः " यह सत्र बना दिया 🕯 । भावार्थ-अधीलोक्त और मध्यलोकका निरूपण कर चुक्तनेपर अर्ध्वलोकका निरूपण तो कुछ आगे पछिके प्ररूपण द्वारा विना कहे ही बात कर छिया जाता है। देवोंका स्थान एक उप्विकेक ही नियत भी नहीं है। तिर्धिश्व भी तीनों लेकोनें रहते है। अतः देवोंके स्थानविशेषको बतानेक छिये उर्घ्वजोक स्थानका निरूपण करना सूत्रकारको अनिवार्य नहीं पढा । जो विषय विना कहे ही केवल सामध्यसे ज्ञात कर लिया जाता है, उसके लिये सूत्र रचना करना पुनरुक्तसारिखा है। अतः आधारिवशेषको नहीं कह कर तीनो लोकके यथायोग्य आदेय हो रहे निकायोंका प्रतिपादक सूत्र चतुर्थ अध्यायों प्रथम स्थान पा गया है।

अब उन देवोंकी लेक्याओंका निर्णय करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्र हो कहते हैं ।

आदितश्चिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

भवनवासी, ब्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार निकायोंमें आदिसे प्रारम्भ कर भवन-वासी, ब्यंतर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त छेश्यावाछे देव हैं 'अर्थात्—भवनिक देवोंके कृष्ण, नीछ, कापोत, और पीन ये चार छेश्यायें पायी जाती है। कोशादि कषाय परिणामोंके साथ जो मन, वचन, कायका अवल्प्यन रखनेवाछे योगोंकी प्रवृत्ति हो जाती है, आत्माकी इस संकीण परिणातिको छेश्या कहते हैं। कोश्वरूच या तृतीयगुणस्थान अथवा तृतीय गुणस्थानके दिविगुड-मिश्रित स्वादके समान मिश्रभाव अथवा नीसरे गुणस्थानमें पाये जा रहे सम्यग्निध्यापनसे मिछे हुये जान एवं '' शब्दार्थोभयपूर्ण '' और '' आलोचनप्रतिक्रमणतदुभय '' यहा पढे हुये उभय इनको समझनेवाछे विद्वान् छेश्या स्वरूप संकर परिणातिके रहस्यको झटिति समझ छेते हैं। चारित्रमोहनीय-कर्मकी चारो जातिके चार कोश्व या चार मान आदि और हास्य, रित, भय, जुगुस्ता, एक कोई सा वेद, यों एक साथ नी प्रकृतियोंका किसी मिध्यादिष्ठके उदय होनेपर जैसे एक चारित्र गुणकी नी पर्यायात्मक एक संकर विभाव परिणाति होती है, इसी प्रकार कवाय और योगकी मिश्रणात्मक छेश्या नामकी चित्रपरिणाति हो जाती है।

संक्षेपार्थिमिहेदं सूत्रं लेक्यापकरणेऽस्य वचने विस्तरप्रसंगात् । तेन भवनवासिव्यंतर-ज्योतिष्कानिकायेषु देवाः पीनांतलेक्या इति । इह तु देवा इत्यवचनमनुषुत्तेर्थवनवास्याय-चचनं च तत एव ।

सूत्रकारने प्रन्थका संक्षेप करने के लिय लेश्याका प्रकरण नहीं होने पर भी यहा यह लेश्याका प्रातिपादक सूत्र कह दिया है। यदि लेश्याके प्रकरणमें इस सूत्रकों कहा जाता तो शब्द सन्दर्भके अधिक विस्तार होने का प्रसंग हो जाना, यह तुच्छ दोष लग बैठता। अर्थात्—" पीतपद्म शुक्ल लेश्या दिनिशेषेषु " इस सूत्रके पहिले या पीछे यदि भवनिक देवों की लेश्याको कहा जाता तो वहा प्रन्थ बढ जाता अथवा इसी को नवीन दंगसे लेश्याका प्रकरण मानकर यहां पीतपद्म शुक्ल लेश्या दिनिशेषेषु " सूत्र कहा जाता ते। यहां सौधर्म आदि स्वर्गोका निरूपण करना आवश्यक होता। अतः संक्षेपके लिये सूत्रकार को यो यथादछ प्रत्यका पूंधना ही समुचित प्रतीत हुआ है, जो कि सर्वीग सुचार है। निस कारण इन सूत्रका अर्थ इस प्रकार है कि भवनवानी, व्यंतर, ज्योतिषक, इन

तीन निकायों में विराज रहे देव यथोचित पीतपर्यंत यानी कृष्ण, नीठ, कापीत, पीत, ठेक्याबाठे हैं।
यहां प्रकरणमें संक्षेपसे कथन करनेपर तो देवाः इस शब्द हा कथन करना नहीं पड़ा। क्योंकि पूर्वसूत्रसे
" देवाः " पदकी अनुशत्ति होजाती है और सूत्रकारको सवनवासी, व्यंतर, आदि निकायोंका मी
कण्ठोक्त निरूपण नहीं करना पढ़ा। क्योंकि तिस है। कारणसे यानी सवनवासी आदि निकायोंकी पूर्व
सूत्रसे ही अनुशत्ति होरही है।

कथिष निकायेष्वित्यनुवर्तियतुं श्वक्यं, तेषामन्यपदार्थे श्वती सामध्यीभावात् । चत्वारश्च ते निकायाश्चतुर्णिकाया इति स्वयदार्थायामपि वृत्ती देवा इति सामानाधिकरण्यानु-पपित्तिति चेका, उभयथापि दोषाभावात् । अन्यपदार्थायां श्वती ताविककायेष्विति श्वक्य-मनुवर्तियतुं । त्रिष्विति वचनसामध्यीत् त्रित्वसंख्यायाश्च संख्येयैर्विना संभवाभावादन्येषा-मिद्दाश्चतत्त्वात् प्रकरणाभावाच त्रिनिकायेरेव तैर्भवितव्यमित्यर्थसामार्थ्याकिकायानुवृत्तिः । स्वपदार्थायामपि वृत्ती तत एव तद्नुवृत्तिः प्रधानत्वाच निकायानां चतुःसंख्याविश्वषणरिक्तिनामामनुवृत्तिघटनात् त्रित्वसंख्यया चतुःसंख्याया वाधितत्वात् । देवा इति इति सामानाधि-करण्यं तु निकायनिकायिनां कथंचिद्भेदाक्च विरुध्यते ।

यहां किसी पण्डितका आक्षेप है कि इस दूसरे सूत्रमें त्रिष्ठ राह्नका सामानाधिकरण्य करनेंके िये " निकायेषु " ऐसे सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति करना आवश्यक है। किन्तु पूर्व सूत्रमें " निकायाः " ऐसा प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त पद पड़ा हुआ है। और वह भी " चतुर्नि-कायाः " यहां समासवृत्ति द्वारा चतुर शद्धके साथ चुपट रहा है। " पदार्थः पदार्थेनान्वेति नत्वेकदेशेन, एकयोगनिर्दिष्टानां सद वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः " इन नियमोंके अनुसार यहां निकायेषु इस प्रकार सप्तर्मा बहुवचनान्त पदकी भला किस प्रकार अनुकृति की जा सकती है ! क्योंकि उन निकायोंका अन्य पदा-र्थको प्रधान माननेवाली बहुनीहि नामकी वृत्ति होनेपर स्वतंत्र बने रहनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। चत्वारो निकायाः येषां " यो बहुब्रीष्टि समास करनेपर " समर्थः पदविधिः " के अनुसार दोनों पदोंकी सामर्थ्य परस्परमें भिड रही मानी गयी है। भाण्डागार (खजाना) में दो अधिपतियोंके तांढे छग चुकनेपर पुनः एक ही अधिपतिको भाण्डागार खोळनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। उसी प्रकार यहाँ " चतुर्निकायाः " में से निकायाः अथवा " अर्थवशात् विभक्तेर्विपरिणामः " इस न्यायसे त्रिषु पदके समिमव्याहार अनुसार निकायेषु पदकी अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है। हां, चार जो वे निकाय यों विष्रह कर बनाये गये चतुर्निकायाः इस शद्भकी स्वपदार्थप्रधाना कर्मधारय समास नामकी पृत्ति मानने-पर यद्यपि स्वतंत्र रूपसे समर्थ हो रहे निकाय शद्भकी अनुकृति की जा सकती है, तो भी '' देवा '' इस पदके साथ सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुवृत्त किये गये ''निकायाः'' शहर्क साथ " देवा: " यह पद चळ रहा है। और " पीतान्तकेदया: " पद भी देवपरक है। किस्त

त्रिषु राद्धकी पराधीनतासे विपरिणत हो गया निकायेषु यह पद अपने संसर्गी देवाः इस प्रथमान्त बहुवचनके समानाधिकरणपनको कथमपि रक्षित नहीं रख सकता है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि अन्यपदार्थप्रधान या स्वपदार्थप्रधान दोनों प्रकार वृत्ति करनेपर भी कोई दोष नहीं आता है। देखिये, सबसे पहिले अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली " चार हैं निकाय जिन्होंके " ऐसी बहुबीहि समासबूचि करनेपर तो निकायेषु यों सममी बहुबचनान्त पदकी अनुवृत्ति की जा सकती है। क्योंकि त्रिष्ठ इस प्रकार सप्तमी बहुवचनान्त पदके कथनकी वैसी सामर्थ्य है । कारण कि त्रित्व नामकी संख्याका गिनने योग्य संख्येयोंके विना ठहर जाना असम्भव है । निकायोंके अतिरिक्त किन्ही अन्य घट, पट, उदासीन पदार्थीका यहां श्रतज्ञान नहीं किया जा रहा है और उनका प्रकरण भी नहीं है। यहां त्रिष्ठ पदके श्लिप्य दन होने योग्य उन भवनवासी आदि तीन निकायोको ही होना चाहिये। इस प्रकार अर्थकी सामध्यंस सप्तमी बहुवचनान्त बनाकर निकाय शब्दकी अनुवृत्ति कर ही जा सकती है। तथा दूसरी स्वपदार्थप्रधान कर्मधारय। वृत्तिके करनेपर। भी तिस ही। कारणसे यानी त्रिषुका श्रवण होनेसे उस निकायेषु की अनुवृत्ति की जा सकती है और कर्मधारय समासमे चत्र राष्ट्रके समान निकायोकी भी प्रधानता हो जानेसे चत्र संख्या नामके विशेषणसे रहित हो रहे केवल निकायोंकी अनुवृत्ति हो जाना घटित हो जाता है। इस सूत्रमें कण्ठोक्त की गयी त्रित्व संख्या करके निकायाः के पुंच्छला हो रही चतुःसंख्याको बाधा युक्त कर दिया जाता है। अतः चार संख्या निकायेष्रका पीछा छोड देती है। रही यह बात कि देवाः इसके साथ निकायेषुका सामाना-धिकरण्य बिगड गया, इसपर हमःरा यह कहना है कि निकाय (समुदाय) और निकायी (समुदायी) इनका क्यंचित अभेद हो जानेसे '' देशाः पीतान्तलेश्याः '' यों सामानाधिकरण्य वन जाना तो विरुद्ध नहीं पडता है। यानी निकाय और निकायियोंकी भेदिनिक्क्षा करनेपर निकायेष देवाः यों भेदसचक सक्षमी विभक्तिको बीचमें लाकर पातान्ते स्थाःके साथ अभेद करते। हये। वाक्यसन्दर्भ सघ-दित हो जाता है। कोई आपत्ति होनेका प्रसंग नहीं है।

त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्या इति युक्तमिति चेन्न, इष्टविपर्ययमसंगात्। आदित इति वचने त्वत्र सूत्रगौरवमनिवार्ये। ततो यथान्यासमेवास्तु।

च्युता ही को अन्तिमछक्ष्य स्थीकार करता हुआ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि "आदितिक्षिष् पीतान्तलेश्याः " इतना लम्बा सूत्र नहीं बना कर केवल " त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्याः " इतना लोटा सूत्र बनाना ही समुचित है । भवनवासी, न्यंतर, ज्योतिष्क इन तीन निकायवाले देव पीतपर्यंत लेश्याओंको धार रहे हैं । यह अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो ही जायगा । पन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि इष्ट अर्थसे विपरीत अर्थकी प्राप्त हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा । तीन निकायोंमें भवनवासी, न्यंतर, वैमानिक, या ज्यन्तर, उयोनिष्क, वैमानिक अथवा भवनवासी, ज्योतिष्क, वैमानिक, यो इन तीन

निकायोंके भी पीत पर्यन्त छेश्याका विधान समझा जायगा। जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार इष्टसे विपरीत है। यदि बह पण्डित मों कहे कि आदितः शब्द जोडकर "आदितिक्षंनिकायाः पीतान्तछेश्या" आदिसे छेकर तीननिकाय वाछे देव पीतपर्यन्त चार छेश्याओंको धार रहे हैं, यों सूत्रद्वारा कथन किये जानेपर इष्टसे विपरीत अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग नहीं आवेगा। आचार्य कहते हैं कि यो कहने पर भी तो यहां सूत्रका छम्बा, चौडा गौरव दोष अनिवार्य ही रहा। तुम्हारे "आदितिक्षानिकायाः पीतान्तछेश्याः " इसकी अपेक्षा तो सूत्रकारके " आदितिक्षित्र पीतान्तछेश्याः " यों सूत्र बनानेमे ही छाघव गुण है, दृष्ट अर्थ भी सुघटित होजाता है। तिस कारण जैसा सूत्रकारने सूत्रका विन्यास किया है वही बहुत अच्छा बना रहो।

किमर्थिमिहादित इति वचनं १ विपर्यासिनिष्टत्यर्थे, अंतेन्यथा वा त्रिष्विति विपर्यासस्यान्यथा निवारियतुमशक्तः । स्रोक्तिबृक्त्यर्थस्तु त्रिष्विति वचनं । चतुर्निष्ट्रत्यर्थे कस्माक्त भवति १ आदित इति वचनात् चतुर्थस्यादित्वासंभयात्, अंत्यत्वात्पंचमादि निकायानुपदेशात् ।

कोई तटस्थ परुष प्रयत्न करता है कि यहां सूत्रमे आदितः यानी आदिसे प्रारम्भ कर या आदौ इति आदितः आदिमे यह तीन अक्षरवाला पद सूत्रकारने किसलिये कहा है ! श्री विवानन्द स्वामी इसका समाधान करते हैं कि विपर्यासकी निवृत्तिके छिये आदितः कहा गया है। अन्तमेंके तीन निकाय अथवा अन्य प्रकारोंने मनुष्य, निर्धेच, देव इन तीनमें या भवनवासी, कल्पवासी, कल्पा-तीत इन तीनमे इत्यादि प्रकारसे प्राप्त हो रहे थिपयीसकी अन्यथा यानी आदितः इस पदका कथन किये बिना निवृत्ति नहीं की जा सकती है। अतः आदितः पद सार्थक है। आदिसे प्रारम्भ कर तीन निकायोंमें या आदिभत तीन निकायोंमे पीतपर्यन्त लेक्या है। यह अर्थ सल्ब्य हुआ। तथा इस सूत्रमें त्रिपु इस प्रकार बचन तो दो निकाय और एक निकायकी निवृत्तिके लिये हैं। अर्थात-आदिकी दो या एक निकायोंने पीतपर्यन्त छेश्या नहीं, किन्तु आदिकी तीनों निकायोंने पीतपर्यन्त लेक्या है। यदि यहां कोई यो आक्षेप करें कि संख्येयपरक त्रिशब्द करके नियत तीन निकायोंका कथन करते हुये जैसे दो, एक, इन न्यून संख्याओंकी व्याष्ट्रित कर ली जाती है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त आधिक हो रही चार संख्याकी निशात्तिके छिये किस कारणसे त्रिप्र शहकी सफलता नहीं कहीं जाती है ! देखों " पंचेन्द्रियाणि " कह देनेसे एक, दो, तीन, चार, और छ: सात. आठ. आदि इन्द्रियोका पांच पदसे व्यवच्छेद हो जाता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते है कि आदितः इस प्रकार मूत्रकारने कथन किया है। यदि चारों निकाय ही अभीष्ट होते तो आदितः कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। आदितः कहनेपर चार निकायोंमेंसे कमसे कम एक निकायको तो छोडना चाहिये। तभी आदितः कथन सफल होसकता है। चौधे निकायको आदि-पनेका असम्भव है। क्योंकि चौथा वैमानिक निकाय सम्पूर्ण चारों निकायके अन्तमें पडा हुआ है। हां, यदि

पांचवें, इठवें, कोई अन्य निकाय होते तो चौथा भी पांचवे, इठवेंका आदिभूत होसकता था, किन्तु सिद्धान्तमें पांचवें, उहे, आदि देव निकायोंका उपदेश नहीं किया गया है। अतः सूत्रकारने जितना कहा है विपर्यसिंकी निवृत्तिको करता हुआ उतना ही सूत्र सर्वीग सुन्दर है।

आवेषु पीतान्तलेक्या इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपर्ययमसंगात् । आदौ निकाये भवा आवा देवास्तेषु पीतान्तलेक्या इति विपर्ययो ययान्यासं सुन्नकः परिहर्तु, निःसंदेहार्थे वैवं ययनं ।

पुनः छषुताको ही जीवनप्राण स्वीकार कर रहा पण्डित कह रहा है कि टाधव गुण होनेसे "बाबैख पीतान्तलेक्याः" आदिमें होने वाली निकायोंमें पीतपर्यन्त लेक्या हैं, इतना ही छोटा सूत्र बनाया काय । चौथी निकायका आवपदसे प्रहण नहीं होसकनेको आप जैन स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। प्रत्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । च्योंकि सिद्धान्तसे विपर्शत होरहे अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग होजायेगा। आदिकी निकायमें होनेवाले देव आवा कहे जायंगे, उन आदि निकायवाले दश प्रकार भवनवासी देवोंमें ही पीतान्तलेक्याका विधान होसकेगा । इस प्रकार विपरीत अर्थकी आपत्ति होगी । हां, जैसा स्वकारने सूत्र रचा है उस ढंगसे विन्यासका अतिक्रमण नहीं किया जाय तो सम्पूर्ण विपर्यासींके प्रसंगका सुलमतया परिहार किया जासकता है और सबसे अच्छा समाधान यह है कि किसी प्रकारका सूत्रप्रमेयमें सन्देह नहीं रह जाय । स्पष्टरूपसे अभिग्नेत अर्थका निर्णय होजाय । अतः संदेहोंके निरासके लिये "आदितिकन्न पीतान्तलेक्याः " इस प्रकार सूत्र पढा गया है ।

अय पीतान्तवचनं किमर्थे ? लेक्यावधारणार्थे, कृष्णा नीला कपोता पीता पद्मा शुक्ला केक्येति पाठे हि पीतांतवचनात् कृष्णादीनां संप्रत्ययो भवतीति, पद्मा शुक्ला च निवर्तिता स्यात्। तेन त्रिष्वादितो निकायेषु देवानां कृष्णा नीला कपोता पीतेति चतस्रो लेक्या भवंतीति।

यहां अब कोई नवीन प्रकरणकी शंका उठाता है कि सूत्रकारने पीतपर्यन्त यह कथन किस लिय किया है! आचार्य समाधान करते हैं कि सम्भव रहीं छेश्याओंका नियम करने के लिये पीतान्त पद कहा गया है। "किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्क केस्साय, छेस्साणं णिदेसा छण्चेत्र हवंति णियमेण "(गोम्मटसार जीवकाण्ड) कृष्णा, नीला, कपोता, पीता, पद्मा, शुक्ला ये छह छेश्यायें हैं, इस प्रकार पाठ होनेपर पीतपर्यन्त कथन करनेसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, इन जातिकी चार छेश्याओंका मले प्रकार सम्वेदन हो जाता है। पद्मा और शुक्ला छेश्याकी निवृत्ति कर दी जावेगी। अर्थात्—" सम्भवन्यभिचाराम्यां स्यादिशेषणमर्थवत्, स्वपरात्मोपादानापोहनन्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुनं, स्वचतुष्टयापेक्षयात्तित्वं और परचतुष्टयापेक्षया नात्तित्वं ये दो स्वभाव ही वस्तुको मृत्युसे या सांकर्यसे बचाकर स्वांशोमें सर्वदा जीवित बनाये रखते हैं। स्वपक्षमण्डन, परपक्षालण्डन जैसे वादी, प्रतिवादी, करते हैं, उसी प्रकार इस युद्धको सम्पूर्ण वस्तुयं या वस्तुके अखिल अंश भी ठाने रहते

हैं। अन्यथा एक समय भी परचकते स्व को रक्षित रखना असम्भव ही समझो। तिस कारण आदिम तीन निकायोंमें देवोंके कृष्ण, नील, कापोत और पीत इस प्रकार चार केश्यायें होती हैं, यों स्त्रका अर्थ सुसंगठित हो जाता है।

अन्यथा कस्माच भवंति तेषु देवा इत्युच्यते ।

सूत्रोक्त अर्थमें युक्तियोंकी अभिळाषा करता हुआ कोई संशयाळ पण्डित प्रश्न करता है कि उन निकायोंमें देव अन्य प्रकारों करके किस कारणसे नहीं होते हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिमवार्तिक हारा समाधान कहते हैं ।

त्रिष्वाद्येषु निकायेषु देवाः सूत्रेण सूचिताः । संति पीतांतलेश्यास्ते नान्यथा बाधितत्वतः ॥ १ ॥

आदिमे होनेवाली भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें समुदित हो रहे देव तो पीतपर्यन्त लेश्याओंको धार रहे विद्यमान हैं। इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र हारा तत्त्वसूचन किया गया है। वे भवनत्रिक देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्कके अतिरिक्त अन्य प्रकारोंसे व्यवश्थित नहीं है। तथा पीतान्त लेश्याधारीपनके सिवाय अन्य प्रकार पद्मशुक्ल लेश्याबाले भी नहीं हैं। क्योंकि यों अन्य प्रकारोंसे भवनत्रिक देवोंकी व्यवस्था माननेपर बाधां प्राप्त हो जावेगी निर्वाध सिद्धान्त सूत्र अनुसार ही है।

न ताबहेवाः सूत्रोक्ताः संतोन्यया भवंति, सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वात्सुखादिवत् । नापि त्रिषु निकायेषु पीतांतलेञ्याः सूत्रेणोक्तास्तदन्यया पश्चलेञ्याः शुक्ललेञ्याः वा भवंति, तत एव तद्वत् ।

सूत्रमें कहे जा चुके ढंग अनुसार प्रवर्त रहे संते तीन निकायके देव तो अन्य प्रकारोंसे नहीं सम्भव रहे हैं (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणोंके नहीं संभवनेका बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु) अपने अपने अनुभूत किये जा रहे सुख, वेदना, शल्य, आदिके समान (अन्वयदद्यान्त) इस अनुमान करके देवेंकी आगम द्वारा श्रूयमाण हो रही सूत्रोक्त व्यवस्थाको साध दिया गया है तथा तीन निकायोंमें पीतपर्यंत छेल्यावाछे देव जो इस सूत्रकरके कहे गये हैं। वे अन्य प्रकारोंसे पद्मछेल्यावाछे अथना श्रुवछछेल्यावाछे भी नहीं सम्भवते हैं (प्रतिज्ञा)। तिस ही कारणसे यानी बाधक प्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु)। उसीके समान यानी अपनेसे अतिरिक्त प्राणियोंको अतीदिय हो रहे किन्तु निजको स्वसम्बद्धान्त । इस प्रकार दो अनुमानोंकरके सूत्रोक्त उद्देश्यदछ और विधेयदछ दोनोंके प्रमेयको श्री विद्यानन्द आचार्यने अवधारणका ताछा छगाते हुये सिद्ध बहर

दिया है। लक्षणके आतिन्याप्ति, अन्याप्ति और असम्भव दोषों तथा हेतुके न्यमिचार, विरुद्ध, आदि दोषोंसे रहित हो रहा इस सूत्रका प्रमेय निष्कर्लक है।

अब उन चारों निकायोंके अन्तरंगमें प्राप्त हो रहे विकल्पोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

दश, आठ, पांच, बारह ये विकल्प इन मवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक देवोंके हैं। किन्तु वैमानिकोंमें कल्पातीत देवोंको नहीं पकड कर षोडश स्वर्गवासी कल्पोपपन देवोंतक ही उक्त व्यवस्था समझ छेनी चाहिये।

देवाश्रतुर्णिकाया इत्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधोस्य चतुर्णो निकायानामंतर्विकल्पप्रतिपादनार्थ-त्वात् न पुनरादितिस्विष्वित्यादीनां पीतांतलेक्यानां कल्पोपपन्नपर्यतत्वाभावात् । तेन चतुर्णो देवनिकायानां दशादिभिः संख्याश्रव्देर्यथासंख्यमभिसंबंधो विज्ञायते, तेन भवनवासिव्यंतर-ज्योतिष्कवैमानिका दशाष्ट्रपंचद्वादश्रविकल्पा इति । वैमानिकानां द्वादश्विकल्पांतःपातित्वे प्रसक्ते तद्यपंदनार्थे कल्पोपपन्नपर्यतवचनं, श्रेवेयकादीनां द्वादश्विकल्पवैमानिकविक्षिणवम्तितेः। एतदेवाभिधीयते ।

देव चार निकायवाले हैं, इस प्रकार अनुइत्त किये जा रहे प्रथम सूत्रके साथ इस तृतीयसूत्रका चारों ओरसे सम्बन्ध हो रहा है। क्योंकि प्रन्थकारको चारों निकायोंके अन्तरंग हो रहे भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करा देना प्रयोजन अभीष्ट हो रहा है। किन्तु फिर इस तृतीयसूत्रका द्वितीय सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं हैं। क्योंकि आदिसे लेकर तीन निकायोंमें इत्यादि द्वितीय सूत्रवाक्यकरके कहे गये पीतपर्यन्त लेक्स्यावाले भवनत्रिक देवोंके कल्पोपपन्न पर्यन्तपनका अभाव है। चारों निकायके देव तो कल्पोपपन्नपर्यन्त कहे जा सकते हैं। तीन निकायके नहीं। तिस करके चारों देवनिकायोंका संख्यावाची दश, आठ, आदि संख्यावाचक शद्धोंके साथ यथांसख्य ठीक सम्बन्ध हो जाना जान लिया जाता है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ यों सुघटित हो जाता है कि भवनवासी देव दश प्रकारके हैं। व्यन्तरनिकायके देव आठ प्रकारके हैं। ज्योतिष्क देव पांच विकल्पोंको धार रहे हैं। और वैमानिक देवोंके अन्तरंग भेद बारह हैं। यहां सूत्रका उत्तरार्ध नहीं करनेपर सम्पूर्ण कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिकोंका बारह भेदोंके भीतर ही अन्तः प्रविष्ट हो जानेका प्रसंग प्रप्त हो जाता। उस अनिष्टप्रसंगका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार कल्पोपपन पर्यन्त ऐसा वचन सूत्रके साथ लगाये देते हैं। क्योंकि प्रैनेयक आदि विमानवासी कल्पातीत देवोंका बारह भेदवाले कल्पोपपन वैमानिक

देवोंसे पृथग्भाव प्रतीत हो रहा है। इस ही सिद्धान्तको श्रीविद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा युक्तिपूर्वक कहे देते हैं।

चतुर्ष्विप निकायेषु ते दशादिविकल्पकाः। कल्पोपपन्नपर्यता इति सुत्रे नियामतः॥ १॥

चारों भी निकायोंमें वर्त रहे वे देव (पक्ष) दश, आठ, आदि विकल्पोंको धार रहे हैं। (साध्य) क्योंकि सूत्रमें ही कल्पोपपन्नपर्यन्त इस प्रकार नियम कर दिया गया है (हेतु)। सर्वत्र असंभवद्वाधकत्वाद इस युक्ति करके आगमोक्त सिद्धान्तोंका निर्णय हो जाता है।

चतुर्निकाया देवा दशादिविकल्पा इत्यभिसंबंधे हि वैमानिकानां द्वादश्विकल्पांतः-पातित्वमसक्ती कल्पोपपमपर्येता इति वचनानियमो युज्यते, नान्यथा । इन्द्रादयो दशमकारा एतेषु कल्प्यंत इति कल्पाः सीधमीदयो रूदिवश्वाम भवनवासिनः । कल्पेषूपपन्नाः कल्पो-पपनाः साधनं कृता बहुल्लिति द्वतिः मयूरव्यंसकादित्वाद्वा, कल्पोपपनाः पर्यते येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः माग्रैवेयकादिभ्य इति यावत् ।

पहिले सूत्र और तीसरे सूत्रका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर जब कि चार निकायवाले देव दश आदि भेदोंको धार रहे है, यह अर्थ बन बैठता है तो कल्पवासी और अहमिन्द्र इन सम्पूर्ण वैमा-निक देवोंको बारह भेदों के भीतर ही प्रविष्ट होनेका प्रसंग आया । ऐसी दशामें सत्रकारको एक ही अवलम्बनीय उपाय हो रहे " कल्पोपन्नपर्यन्त " इत कथनते मर्यादाकी नियति कर देना युक्त पडता है। अन्य किन्हीं भी पातालकोड उपायोंने उस अनिष्ट्रपसंगका निवारण नहीं हो सकता है । इन्द्र, सामानिक, आदिक दश प्रकार इन देवोंमें वस्तुभूत कल्पित किये जा रहे हैं । इस कारण ये देव या सौबर्म आदिक सोलड़ स्वर्ग कल्प कड़े जाते हैं । यद्यपि भवनवासी. ब्यंतर. और ज्योतिष्क देवोंके स्थानोंमें भी इन्द्र, सामानिक, आदि यथासम्भव दश या आठ प्रकार वस्तुभूत कल्पे जारहे हैं । तथापि रूढिके वशसे सौधर्म आदि सोछह स्वर्ग ही कल्प हैं । भवनवासी आदिकोंके स्थान कल्प नहीं हैं । रूढि शब्दोंमें धार्वर्थ स्वरूप कियाका घटित करना केवल व्यत्पत्तिके लिये ही शोभता है, अर्थोशमें नहीं । उससे अन्याप्ति, अति-ब्याप्ति, असम्भव दोषोंका परिहार नहीं होपाता है और करना भी नहीं चाहिये। ''कल्पोपपन्ना'' इस शन्दमें सतमी तत्पुरुष समास तो कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उपज चुके यों कर छेना चाहिये। " साधनं कृता बहुछं '' इस सूत्रसे यहां तत्परुषद्वाति होजाती है। यद्यपि '' नखैर्भिनः नखभिनः स्वेन कृतं स्वकृतं '' इत्यादि स्थलें पर साधनवाची शब्दका कृत् प्रत्ययान्त पदके साथ उक्त सूत्र करके समास होपाला है। फिर भी बहुछं शब्दकी सामर्थ्यते अधिकरणवाचक ससम्यन्त पदका भी कदन्त शब्दके साथ सम्भव जाता है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण अनुसार "कर्तृकरणे कृता बहुलं " इस सूत्रोक्त बहुल शब्दको सर्वोपाधिव्यभिचारार्थ नियत किया है। फिर भी "कचित् प्रवृत्तिः कचिदप्रवृत्तिः कचिद्विप्रवृत्तिः कच्यापकः अर्थका लक्ष्य करः "साधनं कृता बहुलं " इस सूत्र अनुसार मयुरव्यंसकः, आदि गणभे प्रविष्ट होनेसे "कल्पोपनाः यहां तत्पुरुष वृत्ति कर लेना । जिन देवोंके पर्यन्तमें कल्पोपपन देव हैं, वे देव कल्पोपपन पर्यन्त हैं यह बहुवीहि वृत्ति कर दी जाती है । प्रवेयक आदिसे पहिले पहिलेके देव दशः, आठः, पांच, बारह भेदवाले हैं, यह सूत्रका पिलतार्थं हुआ ।

अब स्वामीजी सूत्रकार पुनरपि उन निकार्योके विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये अगरे सूत्रको रचते हैं।

इंद्रसामानिकत्रायश्चिशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्याकिल्बिषिकाश्चेकशः॥ ४॥

१ परम ऐक्वर्यशाली और स्वकीय मण्डलका सर्वाधिकारी प्रमुहन्द्र है २ इन्द्रके समान परिवार, आयु आदिको धारनेवाले सामानिक देव हैं ३ मंत्री, पुरोहित आदि तेतीस देवोका मण्डल त्रायिक हो १ सभामें बैठने वाले पारिषद हैं ५ इन्द्रकी मानूं रक्षा करनेक लिये नियुक्त होरहे, रुद्र चेष्टावाले और परचक्रको मारनेक लिये ही मानूं उच्चत होरहे तथा इंद्रके पीछे खडे रहनेवाले ऐसे देव आत्मरक्ष हैं ६ स्वकीय अधिकृत लोकप्रान्तको पाल रहे गवर्नर, कमिक्नर, कलक्टर, कौतवाल, आदि सारिखे देव लोकपाल हैं ७ सेनामें नियुक्त हो रहे देव अनीक हैं ८ पुरनिवासी या देशनिवासी जनोंक समान प्रकीर्णक देवोंका मण्डल है ९ वाहन, यान, सेवकत्व आदि किया करनेमें आज्ञा अनुसार छटिति अभिमुख होनेवाले दाससमान देव आभियोग्य हैं १० मंगी, चाण्डाल, कसाई, आदिक समान पापबहुलदेवोंको किल्विषक कहते हैं। यो एक एक निकायके ये इन्द्र आदिक दश विकल्प हैं।

अन्यदेवासाधारणाणिमादिग्रणपरमैन्वर्थयोगादिंदंतीतींद्राः ।

इन दशोंका विशेष अर्थ इस प्रकार है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली असाधारण हो रहे अणिमा, गरिमा, प्रभुता आदि गुणस्वरूप परम ईस्वरताके योगसे जो प्रभावशाली होकर स्व निकायमें सर्वोपरि विशाज रहे हैं, इस कारण वे इन्द्र देव कहे जाते हैं। देवोंमें भवनवासीके चालीस ४० व्यन्तरोंके बसीस ३२ कल्पवासियोंके चौबीस २४, ज्योतिषियोंमें सूर्य चन्द्र यों दो इस प्रकार. ९८ इन्द्र या प्रतीन्द्र गिनाये गये हैं। किन्तु तीन निकायोंमें व्यक्तिमेदसे गिनती करनेपर ज्योतिष्क निकायमें असंख्याते इन्द्र और असंख्याते प्रतीन्द्र समझ छेने चाहिये। क्योंकि इस मध्यछोकमें असंख्याते चन्द्रमा और असंख्याते सूर्य है। चन्द्र विमानोंमें निवास कर रहे प्रधान देव इन्द्र हैं और सूर्यविमानोंके प्रधान अधिकारी देव प्रतीन्द्र हैं। सामानिक देवोंमेंसे प्रधान देव प्रतीन्द्र होता है। सभापति, उपसभापति या मंत्री, उपमंत्री, अथवा कछक्टर, डिप्टी कछक्टर, एवं तहसीछदार, नायव तहसीछदारके समान इन्द्र और प्रतीन्द्रका जोडा सुशोभित है।

आङ्कैश्वर्यवर्जितमायुर्वीर्थपरिवारभागोपभागादिस्थानमिद्रैः समानं तत्र भवाः सामानिका इन्द्रस्थानाईत्वात् , समानस्य तदादेश्वेति ठक् । महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्याः ।

सम्पूर्ण अधिकृतोंके ऊपर आज्ञाप्रचार और उन सबके ऊपर ईश्वरता इन दो शक्तियोंको छोडकर शेष आयु, नीर्य, परिवार, भोगोपभोग, स्थान आदि व्यवस्थायें जिन देवोंकी इन्होंके समान है उन देवोंके मण्डलके समान कहते हैं। उस समान नामक पिण्डमें होनेवाले देव सामानिक हैं। क्योंकि समय पड़नेपर ये देव इन्द्रका स्थान प्राप्त करनेके लिये योग्य हैं, जैसे कि सभापतिकी अनुपस्थितिमें उपसभापति उस सभापति स्थानके योग्य समझा जाता है। समान शन्दसे "समानस्य तदादेश्व" इस तद्धित सम्बन्धी सूत्र करके ठक् प्रत्यय हो जाता है। ये सामानिक देवकुलमें सबसे बढ़े महत्तर या इन्द्रके माता, पिता गुरु, उपाध्याय, चाचा, ताऊ, आदिके सहश हो रहे प्रतिष्ठित स्थानोंपर नियत होकर आदरणीय हैं। अर्थात्—जैसे आधुनिक, अत्रत्य, राजाओंके पिता, गुरु, पाठक, आदि पूज्यपुरुषोंका सद्भाव विशेष हषोंस्पादक है तथेव इन्द्रका भी परिकर विद्यमान है। आवश्यक परिकरके विना सासारिक सुख फीका रहता है। पुण्यके ठाठ तारतम्यको लिये हुये सर्वत्र एकसे हैं।

त्रयस्त्रिश्चित जाताः त्रायस्त्रिशाः " दृष्टे नाम्नि च जाते च अण्डिद्वा विधीयत " इत्य-भिधानमस्तीति अण्डिद्विधीयते, कथं वृत्तिर्भेदाभावात् । मंत्रिपुरोहितस्थानीया हि ये त्रय-स्तिश्चदेवास्त एव त्रायस्त्रिशा न तत्र जाताः केचिद्वये संतीति दुरुपपादावृत्तिः । नैतत्सारं, संख्यासंख्येयभेदविवक्षायामाधाराधेयभेदोपपत्तेः, त्रयस्तिश्चत्संख्या तदाधारः संख्येयास्तु यथोक्तास्तदाधेया इति सूपपादा वृत्तिः । अथवा त्रयस्तिश्चदेवा एव त्रायस्त्रिशाः स्वार्थिकोपि इत " इति बहुत्वनिर्देशात् अंतिमादिवत् ।

तेतीस नामक मण्डलीमें सद्भूत हुये देव त्रायिकाश कहे जाते हैं " तत्र जातः " इस सूत्रद्वारा त्रयित्रहात् शब्दसे अण् प्रत्यय कर लिया जाता है। दृष्ट अर्थमें और नाम अर्थमें तथा जात अर्थमें किया गया अण् प्रत्यय विकल्प करके हित् कर दिया जाता है, इस प्रकार शब्दशासका अभिधान है। इस कारण यह अण् प्रत्यय डित् किया गया " डित्वादि लोपः " हित् होनेसे अत् इतनी टि का

छोप होकर बद्धि करते हुये त्रायस्त्रिश शब्द बना छिया जाता है। यहां कोई आक्षेप करता है कि सुने जातः स्रोप्तः यहां सप्तम्यन्त आधारभूत सुप्त (आगरा नगर) से उसमें उत्पन हुये देवदत्त आधेयका भेद है। अतः तद्वितवृत्ति सुलभतया होजाती है। किन्तु तेतीसमें उत्पन्न इये त्रायखिंदा देव यहां आधार और आधेयमें कोई भेद नहीं दीख रहा है। मंत्री, परोहित, वाइसराय, वजीर, प्रधान, न्यायाधीश, आदि प्रतिष्ठित स्थानों (पदों) पर विराज रहे जो ही देव त्रयत्रिंशत हैं, वे ही त्राय-क्षिश हैं। कोई उन त्रयक्षिशत्में उपजे हुये न्यारे देव नहीं हैं। इस कारण भेद नहीं होनेसे यहां अण प्रत्यय विधायक तद्वितवृत्ति कठिनतासे भी नहीं बन सकती है। प्रन्थकार कहते हैं कि इस आक्षेपमे कोई सार नहीं है। क्योंकि संख्या नामक भाव और संख्या करने योग्य भाववान् पदार्थीके भेदको विवक्षा करने पर यहां आधारआधेयभाव बन जाता है। तेतीस नामकी संख्या उन देवोंका आधार है और यथायोग्य कहे गये अनुसार गणना किये गये देव तो उस संख्याके आवेय हैं । इस प्रकार तद्वित वृत्तिका बनना बद्दत अच्छा घटित होजाता है । अर्थात् — नैयायिकोंके यहां निष्ठत्व, वृत्तित्व या समवेतत्व सम्बन्धसे जैसे गुणमें गुणी ठहर जाता है, उसी प्रकार गुण, गुणीम कथंचित् अभेदको माननेवाले जैनोंके यहां तो अतीय सुन्दरनासे संख्यामे संख्येय ठहर जाता है। नैयायिक तो समवेतत्व आदि ब्रस्यानियामक सम्बन्धों करके आधेयोंमें आधारोंको धरते हैं । किन्त स्याद्वादियोंके यहा डोरोंमें वस्त्र या वस्त्रमें डोरे और शरीरमे हाथ पांव या हाथ पांत्रोंमें शरीर इस ढंगसे संख्यामें संख्येयका निवास करना बृत्तिनियामक कथांचित् तादाल्य सम्बन्धसे नियत होरहा है। अथवा कुछ अरुचि रही होय तो संतोषकारी उपाय यह है कि तेतीस देव ही त्रायितंश हैं। इस प्रकार केवल निजयक्वतिके अर्थको ही कहनेवाला स्वाधिक अण् प्रत्यय भी यहां किया जासकता है। जात अर्थमें होनेवाला अण् प्रत्यय स्वार्थमें भी होजाता है । क्योंकि " इत " ऐसा एकवचन नहीं कर इतः (तद्धिताः) यो बहुवच-नान्त अधिकार सुत्रका कथन किया है। यह बहुवचन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्वार्थमें भी तद्भित प्रत्यय होरहे हैं । जैसे कि अन्ते भन्नः अन्यः । अन्य एव अन्तिम, यहां स्त्रार्थमें डिमच प्रत्यय होकर अन्तिम शब्द बना है। मेषजभेव भैषजं, शीलभेव शैली इत्यादिक पदोंमें स्वार्थिक प्रत्यय हुये हैं। इन्होंके समान यहां त्रायिक्षंश शब्दमें अण प्रत्यय स्वार्थको ही कह रहा है, जात अर्थको नहीं।

परिषद्वक्ष्यमाणा तत्र जाता भवा वा पारिषदाः परिषत्तद्वतां कथंचिद्धेदात्ते च वयस्य-पाठमर्दत्रत्व्याः । आत्मानं रक्षंतीतीत्यात्मरक्षास्ते श्विरोरक्षोपमाः ।

सुधर्मा सभा या बाह्य परिषद, मध्यपिषद, अभ्यन्तर परिषद, इस ढंगसे सभा या सभायें विद्यानी जावेंगी, उस (उन) सभामें सभ्य होकर उपज रहे अथवा सभाओंमें सद्भावको धार रहे देव पारिषद हैं। अर्थात्—यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो सभा कोई जढ पदार्थ नहीं है। अनेक जीवोंके समुदायको सभा कहते हैं। नथापि सभा और उस सभावाछे देवोंका समुदाय समुदायीकी अपेक्षा कथंचित् भेद होजानेसे जात अर्थ या भव अर्थमें परिषद् शब्दोस अण् प्रत्यय कर दिया गया है।

अन्तिम उपाय स्वार्थिक अण् प्रत्ययका समझ छिया जाय। ये सभामें बैठनेवाछे देव उस इन्द्रके सम-वयस्क मित्र (हम उमर) या पीठमर्द यानी सन्धिको करनेवाछे संधानकारीपुरुष आदि सारिखं देव हैं, तथा आत्माकी (इन्द्रकी) रक्षा करते हैं, इस कारण वे देव आत्मरक्ष हैं । जैसे कि वर्तमानमें राजा महाराजाओं के शरीररक्षक या मस्तक (बौडी गार्ड) होते है उन्हों के समान ये हैं । यधिप इन्हों का कोई शत्रु नहीं है, उनकी आयु मध्यमें छित्र भी नहीं होसकती हैं । तीव पुण्य होनेसे उनपर कोई अकस्मात आक्रमण भी नहीं करता है । फिर भी विभूतियों या ऋदियोंकी विशेषतया जो स्थापना होरही है, उस वस्तुस्थितिका निरूपण कर देना ही आचार्य महाराजका छक्ष्य है। इन सब परिकरों के होनेसे प्रभुके प्रकर्ष रूपसे सदा प्रीति उपजती रहती है । आत्मगौरव झळकळाता रहता है । एक धनपति (सेठ) या महीपति (रईस) के बीस, पचास आदि सवारियां रहती हैं । यधिप उन सबका उपयोग नहीं होता है । किसी किसीका तो जन्मपर्यन्त भी उपभोग नहीं हो सका है । फिर भी सांसारिक सुखोंकी उत्पादक विशिष्ट पुण्यानुसारिणी सामग्री जो प्राप्त हुई है, वह टाळी भी तो नहीं जा सकती है । अतः शिरोरक्षकोंके समान वे आत्मरक्ष देव इन्द्रके पछि खडे रहनेवाछे, कृष्ट प्रचित्रक, शक्षाक्षपरिवृत, शोभ रहे है ।

लोकं पालयंतीति लोकपालास्ते चारक्षकार्थचरसमाः । अनीकानीवानीकानि तानि दंडस्थानीयानि गंधर्वानीकादीनि सप्त । प्रकीर्णा एव प्रकीर्णकाः ते पौरजानपदकल्पाः ।

प्रजा समुदाय स्वरूप छोकको पाछते रहते हैं, इस कारण वे देव छोकपाछ कहे जाते हैं, अर्थचर या आरक्षक कर्मचारी जैसे आधुनिक राजाओंके होते हैं, उसी प्रकार इन्होंके यहां भी ये ठाठ लग रहे हैं। अर्थाच्—गांव आदिमे नियुक्त हो रहे आरक्षिक सिपाहियोको तलबर कहते हैं। राजाओंके करमाग (तहसीछ) को गृहीत (वस्छ) करनेवाछे कार्यमें नियोगी हो रहे अन्यक्षोंको अर्थचर कहते हैं, जो कि तहसीछदार, खजानची, कछत्त्रटर, किमश्तर आदि हैं। नगरके प्रबंध या रक्षोंमें नियुक्त हो रहा कोतवाछ है। दुर्ग, किला आदिकी रक्षा करनेवाछ महातलबर इत्यादिक अधिकारी छोकपाछ माने गये दें। प्रान्तोंके रक्षक चीफ किमश्तर, छेक्टीनेण्ट गवर्नर भी इन हीं छोकपाछोंमें गणनीय हैं। यथि स्वर्गोंमें तहसीछ प्राप्त करनेकी या गढकी रक्षा करने आदिकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी प्रकृष्ट हर्षकी उत्पादक सामग्री विद्यमान है। तथा सेनाके समान अनीक जातिके वे देव अनीक कहे जाते हैं। प्रजारक्षणमें विग्न डाछनेवाछ परचक्रको दण्डनीति अनुसार दण्डन्यवस्था कर देनेवाछम विभाग दण्ड है। ऐसे सेनाके स्थानपर नियुक्त हो रहे गंधर्यानीक १ हस्त्यनीक २ अञ्चानीक ३ रथानीक ४ पदात्यनीक ५ हथमानीक ६ नर्तकी अनीक ७ इन सात प्रकारकी सेनाओंसे उपछ-स्थित सात जातिके अनीक देव हैं। जैसे यहां राजप्रासादोंके इघर उधर निकटवर्ती प्रदेशोंभें नगर निवासी नागरिक अथवा देशनिवासी या प्रान्तिवासी महोदय सक्कन विराजतें है, उन पौर या

जानपद, महाशयोंके सदश इतस्ततः फैल रहे ही वे प्रकीर्णक जातिके देव हैं। जो कि महाराजाके समान इन्ह्रके नागरिक या राष्ट्रीय जनोंके तुल्य ये देव भी बिशिष्ट हर्षके उत्पादक हैं।

वाहनादिभावनाभिमुख्येन योगोभियोगस्तत्र भवा अभियोग्यास्त एव आमियोग्याः इति स्वार्थिकः यण् चातुर्वर्ण्यादिवत्, अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः अभियोगमई-तीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः । किल्विषं पापं तदेषामस्तीति किल्विषिकाः तेत्य-वासिस्थानीयाः । एकैकस्य निकायस्यैकञ्च इति वीप्सार्थे शस् ।

सवारी छ जाना, छ आना, ऐसे नाहन, या दास्य कर्म आदि परिणतिरूपेस अभिमुखपने करके जो योग यानी किटबद्धपना है, वह अभियोग कहा जाता है। उस अभियोगमें विद्यमान हो रहे देव अभियोग्य हैं और वे ही देव आभियोग्य कहे जाते हैं। मत्र अर्थमें अभियोग्य शब्द बनाकर पुनः स्वार्थिक यण प्रत्यय किया गया है, जैसे कि चतुर्वणों एव चातुर्वण्ये, चतुराश्रमा एव चातुराश्रम्यं, त्रिलोका एव त्रैलोक्यं, त्रिकाला एव त्रैकाल्यं, आदिक पदोंमें स्वार्थिक यण प्रत्यय किया गया है। अथवा अभियोग साधवः आभियोग्याः यों "तत्र साधुः" इस सूत्र द्वारा यण प्रत्यय किया जा सकता है और अभियोगको करनेके लिये जो समर्थ हो रहे हैं, वे अभियोग्य हैं, इस अर्थमें भी आभियोग्य शब्दको बना लिया जाता है, चाकर, दासों (खिदमंदगार) के समान ये देव हैं। किल्विष यानी पाप जिन देवों के विशेषतया विद्यमान है, इस कारण वे देव किल्विषिक हैं। प्राप्त या नगरके अन्तिमभागमें वस रहे चाण्डाल, श्रयच, भंगी, चर्मकार आदि निकृष्ट मनुष्यों के स्थानापत्र हो रहे ये देव हैं। यद्यपि यहांके चाण्डालोंक नीचगोत्रका उदय है और देवोंमें सबके उद्यगोत्रका ही उदय है। फिर भी कोई लौकिक विभूतिका परिकर रिक्त नहीं हो जाय, इसिलये यथायोग्य जितना सम्भव हो सके उत्तना उपमान उपवेयभाव घटित कर लेना चािये। एकशः यहा एक एक निकायके यों अर्थ कर वीप्ता अर्थमें शस् प्रत्यय किया गया है। यानी एक एक देव निकायके ये इन्द्र आदिक दश दश मेद पाये जाते हैं।

कुतः पुनरंकैकस्य निकायस्येद्रादये दशविकल्पाः मतीयंत इत्यावेदयति ।

तर्कामिलाषी कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर यह बताओ कि एक एक निकायके ये इन्द्र, सामानिक, आदिक दश मेद भला किस प्रमाणसे निर्णात किये जा सकते हैं ? इन प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधानकोटिका निवेदन करे देते हैं।

> इन्द्रादयो दशैतेषामेकशः प्रतिसूत्रिताः । पुण्यकर्मविशेषाणां तद्धेतूनां तथा स्थितेः ॥ १ ॥

एक एक निकायके प्रति इनके इन्द्र आदिंक दश मेद श्री उमास्मामी महाराजने सूत्र द्वारा ठीक निरूपण किये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन इन्द्र, सामानिक आदिके हेतु हो रहे निशेष विशेष पुण्यकर्मीकी तिस प्रकार व्यवस्था हो रही है (हेतु)।

यथैव हि देवगतिनामपुण्यकर्मसामान्याद्देवास्तद्विशंषभवनवासिनामादिपुण्योदयास भवनवास्यादयस्तथैवेंद्रादिनः।मपुण्यकर्मविशेषेण इंद्रादयोपि संभाव्यंते, तेषां तद्धेतूनां युक्त्याग-माभ्यां व्यवस्थितविश्वकाभावात् ।

जिस ही प्रकार गित नामकर्म भी उत्तर प्रकृति हो रही सामान्य देवगित नामक पुण्यकर्मके उदयसे उक्त चारों निकाय भे जीव देव हो रहे हैं और उस देवगित भी उत्तरांत्तर मेद हो रहीं भवनवासी, व्यंतर या असुरकुमार, किन्नर आदि विशेष पुण्यप्रकृतियों का रमोदय हो जाने से भवनवासी व्यंतर, असुर, किन्नर, आदि देव हो जाते हैं उसी प्रकार देवगित भेद, प्रभेद, हो रहे इन्द्र, सामानिक, आदिक नामकर्म और अन्य शुपनाम, सातावेदनीय, शुभगोत्र इन पुण्यकर्म विशेषों के उदयसे इन्द्र आदिक भेद भी हो रहे सम्भव जाते हैं, मिन मिन्न कारणों से मिन्न मिन्न कार्यों भी उत्पत्ति हो जानेका नियम है। उन इन्द्र आदिकां के सृष्य हेतु हो रहे उन पौद्र छिन कर्म विशेषों की युक्ति प्रमाण और आगमप्रमाण करके सुव्यवस्था हो रही है। कीई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः मनुष्यों या पशुओं की मिन्न मिन्न सूरतें, मूरतें, सुख, दु:ख, बुद्धि, वैभव, आदिके समान देवों के इन्द्र अहमिन्द्र आदि भेद भी पौद्र छिक कर्मिवशेषों के अनुसार सुघटित हो जाते हैं। "असंमवद्वाधकत्वादस्तु सिद्धिः"।

यों तो इन्द्र आदिक दशों भेद चारों भी निकायोंमें उत्सर्गविधिद्वारा प्रसंग प्राप्त हुये। तिस कारण अपवाद करनेके लिये विशेषसूत्रको श्री उमास्त्रामी महाराज कहते हैं।

त्रायस्त्रिशलोकपालवर्ज्यां व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

•यन्तर और ज्योतिष्क निकायसम्बन्धी देव त्रायिक्तंश और छोकपाछ जातिके देवोंसे रहित हैं।

इन्द्रादिदशविकल्पानामुत्सर्गतो अभिहितानां चतुर्षु निकायेष्वविशेषेण प्रसक्तौ तद्र्थमिदमुच्यते।

सामान्यरूपकरके उत्सर्गविधिसे कहे जा चुके इन्द्र, सामानिक, आदि दश मेदोंका जब चारों निकार्योमें विशेषरिक्त होकरके प्रसंग प्राप्त हुआ तो उस कुछ अनिष्टप्रसंगके निवारणार्थ श्री उमास्वामी महाराज इस अपवाद सूत्रको त्रग्वानते है। अपवाद नियमोंको ढालकर अतिरिक्त स्थानोपर अनपोदित उत्सर्गविधियां प्रवर्तती हैं " अपवादा उत्सर्गविधि बाधन्ते "

कुतः पुनर्न्यतरा ज्योतिष्काः त्रायस्त्रिक्षेक्षंकपालेश्च वर्ज्या येन तेष्टविकस्या एव स्युरि-त्यारेकायाभिद्रभारः। कोई यहां शंका करता है कि क्या कारण है ? जिससे फिर ब्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय-बाछे देव विचारे श्रायिक्षश और छोकपाछ करके वर्जित हो रहे हैं, जिससे कि वे ब्यन्तर या क्योतिष्क देव इन इन्द्र, सामानिक, पारिषद, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्बिषिक, आठ विकल्पवाछे ही समझे जांय, इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विचानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा इस वक्ष्यमाण समाधानको कहते हैं।

तत्रापि व्यंतरा वर्ज्या ज्योतिष्काश्चोपवर्णिताः । त्रायस्त्रिरोस्तथा लोकपालैस्तद्वेत्वसंभवात् ॥ १ ॥

उन चारों निकायोंमें भी न्यंतर और अ्योतिष्क ये दो निकाय तिस प्रकार तेतीस देव और लोकपाल देवों करके रीते हो रहे आगम द्वारा कहे गये हैं। क्योंकि उन त्रायिक्षश और लोकपालोंके उत्पादक हेतु विलक्षण जातीय पुण्यविशेषका दो निकायोंमें सम्भव नहीं है। अर्थात्—राजाओंको विशिष्ट जातिका पुण्य होनेपर ही निहोरे करते हुये, हितशासक, मंत्री, पुरेहित, आदिक पुरुष प्राप्त हो सकते हैं। वैसा पुण्य इन दो निकायोंमें नहीं है। तथा राजा बने विना ही पूर्ण राज्यपर अधिकार करना, यथायोग्य मनमानी चलाना, अधिकृत प्रजा वर्गसे अपनी प्रार्थना करवाना, आदि जातिका पुण्य भी किन्हीं किन्हीं जीवोंके होता है। वे ही मंत्री, पुरोहित आदिके स्थानापन्न हो। सकते हैं। राजाकी हाने हो या लाभ हो इनको दोनों अवस्थाओंमें निश्चिन्तता है। सुकाल पडे, परचक्रके साथ युद्ध नहीं होय अच्ला ही है। किन्तु यदि दुष्काल पड जाय अथवा परचक्रस लड़ाई छिड जाय इनको कैसी चिन्ता या आकुलता नहीं है, जैसी कि न्याकुलता राजाको सताती है। अतः दो निकायोंमें उक्त दो मेद नहीं माने गये है।

न हि व्यंतरज्योतिष्कानिकाययोख्यां ख्रिशङ्कोकपालनामपुण्यकर्मविशेषस्त्रायश्चिशङ्कोकपाल्यः स्ट्रेविशेषकल्पनाद्देतरस्ति यतस्तयोस्त्रायश्चिशङ्कोकपालाश्च स्युरिति तद्वर्ज्यास्ते देवाः तद्तिशय-विशेषस्य प्रतीतिहेतोर्निकायांतरवत्त्रत्रासंभवात् ।

उक्त वार्तिकका व्याख्येय अर्थ यह है कि व्यंतर और ज्योतिष्क दो निकायके देव आत्माओं के अवस्थित और लोकपाल नामक विशेष पुण्य कमींका सद्भाव नहीं है, जो कि त्रायिक्तंश और लोकपाल जातिके विशेष देवोंकी वन्तुभूत कल्पनाका कारण माना गया है, जिससे कि उन मध्यवर्ती दो निकामोंमें त्रायिक्तंश और लोकपाल देव हो जावें। इस कारण वे व्यन्तर और ज्योतिष्कदेव उन त्रायिक्तंश और लोकपालकी प्रतीतियोंके कारण हो रहे उन व्यतिकाय उक्त पुण्यविशेषोका अन्य निकायोंके समान उन दो निकायोंमें असम्भव है । अर्थात्—अन्य दो निकाय भवनवासी और कल्पवासी देवोंके तो तादश पुण्यविशेष हैं, जिससे कि उनमें त्रायक्तिश और

छोकपाछ देव उपज जाते हैं। विशिष्ट कार्यके उत्पादक अतिशयवाछ कारणीं के नहीं होनेसे व्यन्तर और ज्योतिष्क देव उन दो कल्पनाओंसे बंचित है। जहां कारण होगा वहीं कार्य उपजेगा। मध्यवर्षी निकायोंमें कारणोंके वश इन्द्र आदि आठ भेद हैं। किन्तु भवनवासी और कल्पवासियोंमें दशोंके हेतु सातिशय पुण्यविशेषोका सद्भाव होनेसे दशों प्रकार जातिके देव पाये जाते हैं।

अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन चारों निकायोंमें क्या एक ही एक इन्द्र है ? अथवा क्या कोई अन्य नियम (अपवाद) है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

पूर्वयोद्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वकी भवनवासी, न्यन्तर, इन दो निकायोंमें समुदित होरहे देव अपने प्रभु दो दो इन्होंको धारनेवाले हैं। अर्थात्—दो दो इन्होंके आधिपत्यमें इन देवोंकी टोलीको रहना पढता है। प्रत्येक देव तो एक ही इन्होंके अधीन है। किन्तु समुदाय अपेक्षा यह कथन है।

भवनवःसिन्यंतरिनकाययोः पूर्वयोर्देवा द्वींद्रा न पुनरेकेंद्रा निकायांतरवदिति प्रति-पत्त्यर्थियदं सूत्रं । पूर्वयोरिति वचनं प्रथमिद्तियानिकायमितपत्त्यर्थे, तृतीयापेक्षया दितीयस्य पूर्वत्वोपपत्तेः द्विचनसामर्थ्याचतुर्थापेक्षया तृतीयस्य पूर्वत्वेप्यप्रहणादप्रत्यासत्तेः ।

पूर्वववर्ती भवनवासी और व्यंतर इन दो निकायों में देव दो दो इन्द्रवाले हैं। किन्तु फिर ज्योतिष्क या कल्पवासी इन अन्य निकायों समान एक एक इन्द्रवाले देव ये नहीं है। इस सिद्धान्तका। प्रातिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने यह सूत्र रचा है। चाहे हजारों, लाखों, असंख्यों, भी पदार्थ होवें उन सवका पूर्ववर्ती (पिहला) पदार्थ एक ही होगा। अत: प्रथम वाचक पूर्वशद्धको एक वचनमें ही सामर्थ्य है। आद्य अर्थको कह रहे पूर्व शद्धका दिवचन या बहुवचन अलीक ही समझा जाता है। किन्तु यहां सूत्रमें पूर्वयोः इस प्रकार दिवचन ओस् विभक्तिवाले पदका वचन है, जो कि पहिली निकाय भवनवासी और दूसरी निकाय व्यन्तरदेवोंकी प्रतिपत्ति करनेक लिये है। प्रथमका प्रत्यासन होनेसे द्वितीयको दिवचनकी सामर्थ्यस पकड लिया जाता है। तृतीयकी अपेक्षा करके द्वितीयको पूर्वपना न्यायसे भी बन जाता है। दिवचनकी सामर्थ्यस पहिले और दूसरे निकायोंका पूर्वपना सुवटित है। यचपि चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तीसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना है, तो भी निकटवर्तिता नहीं होनेसे प्रथमके साथ तृतीयका प्रहण नहीं किया जा सकता है। हां, निकटवर्ती होनेस प्रथमका संगी दितीय बन जाता है। अर्थात्—'' उपस्थित परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावः''। प्रधानाध्यापकर्मे दिल्वकी अनुपपत्ति होनेपर दितीयाध्यापक (सिक्ष मास्टर) को उसका संगी बना कर दोपनकी रक्षा कर ली जाती है। चीये, पाचवे, अध्यापकको मिला कर नहीं।

द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वांद्रा इत्यंतनीतवीप्सार्थो निर्देशः । द्विपदिका त्रिपदिकेति यथा वीप्सायां वुनो विधानादिइ वीप्सागतिर्युक्ता न प्रकृते किंचिद्विधानमस्ति । ति सप्तपर्णादि-बद्भविष्यति वीप्साविधानाभावेपि वीप्सासंप्रत्ययः । पूर्वयोनिकाययोद्दी द्वाविद्वौ देवानामिति निकायनिकायिभेदविवक्षावशादाधाराधेयभावो विभाव्यते ।

निकायवाले जिन देवोके दो दो इन्द्र हैं वे देव दो इन्द्रोंवाले है, इस प्रकार साकल्येन ज्यापनेकी इच्छा रखते हुये पुनः पुनः कथन करना स्वरूप वीप्साको अन्तरंग गर्भमें प्राप्त कर इस सन्नका अर्थ निर्देश किया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि जिस प्रकार द्विपदिका, त्रिपदिका, द्विशतिका आदि पदोंमें '' पादशतस्य संख्यादेवींप्साया बुन् छोपश्च '' इस सूत्र करके बुन् प्रत्ययका विधान होजानेसे यहा वीप्साका परिज्ञान होना समुचित है । किन्तु प्रकरणप्राप्त " द्वीन्द्राः " इस पदमे कोई प्रत्ययका विभाग नहीं श्रयमाण है । ऐसी दशामें यहा वीप्ताका अन्तर्गर्भ कैसे समझा जायगा ? अर्थात-ही ही पादी ददाति इति द्विपदिका ददाति, दुगुना दुगुना दो भागोंको देरहा है, द्विपदिका जब्दमें दो पादका गीत समझा जाता है। जिस गीत या पदमें दो दो पादोंकी टेक गानी पड़ती है या तीन तीन पदोंकी देक बहा गायी जाती है वह त्रिपादिका गीति है। पंक्तिबद्ध तीन तीन पायों-वाळी लम्बी, चौडी, तिपाईको भी त्रिपादिका कह मकते है। यहां द्विपदिका, त्रिपदिका, शब्दोंमे बन प्रत्ययसे वीप्सा अर्थ उक्त होजाता है। वु को अक आदेश कर देते है। किन्तु वैसा कोई प्रत्यय द्वीन्दाः रान्दमें नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो सप्तपर्ण, अष्टापद आदिके समान वीप्ता वाचक प्रत्ययका विधान नहीं होते हुये भी वीप्ता अर्थकी भले प्रकार प्रतीति होजावेगी ! जिस बक्षके एक एक पर्वमें सात सात पत्ते लग रहे हैं वह वृक्ष सप्तपर्ण है, पंक्ति पंक्तिमें आठ आठ पांत्रवाला बत खेलनेका नकशा अष्टापद है, इसी प्रकार दो दो इन्द्रवाले निकाय द्वीन्द्र हैं। पूर्वत्रत्ती दो निकायों में निवास कर रहे देवोंके दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार निकायोको कहा रहे पूर्वयोः यह द्विवसनान्त सप्तमी और देवोंको कह रहे द्वीन्द्राः इस प्रथमान्त विभक्तिसे यक्त होरहे पदोंके वाच्य अर्थोंका निकायः और निकायी यानी समूह और समूहीके भेदकी विवक्षाके वरासे आधार आधेयभाव होजाना विचार लिया जाता है। पूर्वयोः शब्दको षष्टी विभक्तिवाला पद माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। अतः धान्योंकी राशि, रुपयोका ढेर, रुपयेमें चांदी, मेलेमें मनुष्य इस ढंगसे अभिन पदार्थीमें कथंचित भेद. अभेदकी विवक्षा होजाती है " सिद्धिरनेकान्तात "।

द्वींद्रा निकाययोर्देवाः पूर्वयोरिति निश्रयात । तत्रैकस्य प्रभोर्भावो नेति ते स्तोकपुण्यकाः ॥ १ ॥

उक्त सूत्रका युक्तिपूर्वक अर्थ वार्त्तिकमे यों किया जाता है कि पूर्ववर्ती दो निकायोंमें क्स रहे देव दो दो इन्द्रवार्क हैं, यह सिद्धान्तशास्त्रदारा निर्णीत है। उन दो निकायोंमें केवळ एक ही प्रभूका सद्राव नहीं है । कारण कि वे देव स्वल्प पुण्यवाछे हैं अथवा वे दो दो इन्द्र स्वयं हीनपुण्य हैं । (प्रतिक्षा हेतु) । अर्थात्—जब अधिकृतोंका पुण्यमन्दराक्तिक हो जाता है तभी अधिकृत प्रजावनिक एकसे अधिक दो तीन आदिक नेता प्रभु बन बैठते हैं । अच्छे पुण्यशाळी जीव या तो स्वयं प्रभु होते हैं अथवा एक ही प्रभुके तंत्र होकर रहते हैं । "अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः, एकः कृती शकुन्तेषु योन्यं शक्रान् न याचते " इन पद्यांसे उक्त अर्थ व्यनित होता है । दूसरी बात यह है कि जिस पदार्थके दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान् हैं । छोटा या बढा यथायोग्य कोई कार्य होय उसका अधिकार एक व्यक्तिको ही प्राप्त होय तभी आधिपत्यका कर्तव्य पूर्णरीत्या निभता है । संशयाछ स्वामीको एक देश, एक काल, एक ही कार्यपर समान शक्तिवाले दो अधिकारियोंका नियुक्त करना दो नार्वोपर चढनेके समान भयावह है । "एको गोत्रे स भवति पुमान् यः कुटुम्बं बिमर्ति एकपातिवत " आदि वाक्य एकस्वामित्वको प्रतिपादन करनेमें तत्यर हैं । अतः हीनपुण्यवाले पूर्ववर्ती दो निकार्योमें दो दो इन्द्र हैं ।

भवनवासिनिकाये असुराणां द्वाविद्री चमरवैरोचनी, नामकुमाराणां घरणभूतानंदी, विद्युत्कुमाराणां इरिसिंद्द्दिकांती, सुवर्णकुमाराणां वेणुदेववेणुधारिणी, अभिकुमाराणां अभि-शिखाप्रिमाणवी, वातकुमाराणां वेश्वनप्रभंजनी, स्तनितकुमाराणां सुघोषमद्दाधोषी, उदिषकुमाराणां जलकांतजलप्रभी, द्वीपकुमाराणां पूर्णविशिष्टी, दिक्कुमाराणां अभितगत्यमितवादनी। तथा व्यंतरिनकाये किस्नराणां किसरिकंपुरुषी, किंपुरुषाणां सत्पुरुषमद्दापुरुषी, महोरगाणाम-तिकायमद्दाकायी, गंधर्याणां गीतरितगितवश्वसी, यक्षाणां पूर्णभद्रमाणिभद्री, राक्षसानां भीम-महाभीमी, पिशाचानां कालमहाकाली, भूतानां मितरूपामितरूपी। एवमेतेषामेकैककस्य मभो-रभावात्ते स्ताकपुण्याः प्रभवो निश्चीयंते।

भवनवासी नामक पहिछी निकायमें निवस रहे अयुरकुमार जातिके देवोंके चमर और वैरोचन नामके दो इन्द्र हैं। नागकुमार जातिके देवोंके प्रमु घरण और भूतानन्द दो इन्द्र हैं, विशुन्कुमार देवोंके अधिकारी हरिसिंह और हरिकान्त दो इन्द्र हैं, सुपर्णकुमार जातिके असंख्य देवोंके नेता वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं, अग्निकुमार जातिके असंख्याते भवनवासी देवोंके अधिपति अग्निशिख और अग्निमाणव हैं, वातकुमार भवनवासियों के स्वामी वैछम्ब और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं, स्तनितकुमार देवोंके परिशृढ तो सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं, उदिधिकुमार देवोंके अधिप जळकान्त और जळप्रम ये दो इन्द्र हैं, हिपिकुमारोंके नायक पूर्ण और विशिष्ठ ये दो इन्द्र हैं तथा असंख्याते दिक्कुपार जातीय भवनवासियोंके ईश अमितगित और अमितशाहन इन्द्र हैं। तिसी प्रकार व्यन्तर नामकी दूसरी निकाय में किकार जातीय देवोंके अधिनायक कीर महानुकुष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुकुष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुकुष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुकुष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुक्ष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुक्ष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुक्ष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुक्ष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुक्ष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरोंके पति अनिकाय और महानुक्ष दो इन्द्र हैं, महोत्रण जातीय स्वन्तरों के पति अनिकाय और महानुक्ष हो इन्द्र हैं स्वर्तर स्वत्र हो स्वर्तर हो हो स्वर्तर हो स्वर्तर हो स्वर्तर हो स्वर्तर स्वर्तर हो स्वर्तर ह

काय ये दो इन्द्र हैं, गन्धर्व जातीय व्यन्तरोंके नाथ गीतरित और गीतयशा ये दो इन्द्र है, यक्ष जातीय व्यन्तरोंके अधीश पूर्णभद्र और माणिभद्र ये दो इन्द्र हैं। राक्षस जातीय असंख्याते व्यन्तर देवोंके ईस्वर मीम और महाभीम दो इन्द्र हैं। पिशाच नामक व्यन्तरोंके अधीश्वर काल और महाकाल दो इन्द्र हैं। भूतोंके आज्ञापक प्रतिरूप और अप्रतिरूप दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार इन असुरकुमार, किचर आदि देवोंके एक एक ही प्रभुक्ते नहीं होनेसे वे देव स्तोकपुण्यवाले और वे प्रभु भी स्तोक पुण्यवाले निश्चित किये जाते हैं। " अधिकस्याधिक फलम् " यह कचित्की नीति यहां लाभप्रद नहीं है। सीके एक पति समान प्रजाजनोंका एक पति ही बना रहे यही सर्वतोभद्र है। अनेक सदस्योंकी बहुसम्मति या सर्वतम्मतिके अनुसार हो रहे कार्योक्त अनुमोदन करनेवाले महाशय भी एक प्रमुताकी नीतिका उद्धंवन नहीं कर सके हैं। इसले प्रपंचन।

इन देवोके सुख किस प्रकारका है ! ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको उतारते हैं ।

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

ऐशान नामक स्वर्गतक काय द्वारा मैथुन सेवन करनेवाळे देव हैं। अर्थात्—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन भरपूर तीनों निकायोंमें और सीधर्म, ईशान, स्वर्गसम्बन्धी देवोंमे मनुष्योंके समान काय द्वारा देवदेवियों के मैथुन व्यवद्वार हैं।

प्रतिपूर्वाचरः संज्ञायां घत्र् पविचरणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनं । काथे प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः । असंहितानिर्देशोऽसंदेहार्थः । ऐशानादित्युच्यमाने हि संदेहः स्यात् किमा-इंतर्भूत उत दिक्छद्वोध्याहार्थे इति विपर्ययो वा स्यात् । ऐशानात् पूर्वयोरित्यनुवर्तमानेनाभि-संबंधात । असंहितानिर्देशे तु नायं दोषः ।

प्रति उपसर्ग पूर्वक चर धातुसे संज्ञा अर्थमें बज प्रत्यय किया गया है। प्रविचरणभाव ही प्रवीचार है, इसका अर्थ मैथुनका उपतेवन करना है। जिन देवोंका प्रवीचार कायमें होता है वे देव कायप्रवीचार हैं, यों बहुबीहि समास कर लिया है। इस सूत्रमें आङ्निपात और ऐशान इन दो पर्दोमें संधि करके नहीं कथन करना तो अतंदेहके लिये है। यदि दोनोंके स्थानमें ऐच् एकादेश कर ऐशानाद यों सूत्र कहा गया होता तो श्रोताओं को संदेह हो सकता था कि यहां आङ् अन्तर्भूत लिया हुआ है! अथवा क्या आङ् लिया हुआ नहीं है! ऐसी दशामें पूर्व प्रत्यक् आदि दिशावाचक शब्दका अध्याहार करने योग्य है। ऐशानसे पूर्व दिशावक यों अर्थ होगा तभी '' अन्यारादितरतेदिक्शद्वाञ्च्रारपदाजाहि युक्ते '' इस सूत्रद्वारा ऐशानाह यह पंचनी विभक्ति होसकती है। अथवा पूर्वयोः इस पदकी पूर्वसूत्रसे अनुद्वित करके ऐशानसे पूर्ववती देवोंमें काद्रस्वीचार यों

अभिसम्बन्ध होजानेसे विपरीत अर्थ होजानेका प्रसंग होजाता है। ऐशानके पूर्वमें तो कोई निकाय नहीं है। ऐशान स्वयं एक चौथी वैमानिक निकायके व्याप्य माने गये कल्पोपपनका व्याप्य होरहा है, तथा ऐशानमें भी तो कायप्रवीचार व्यवस्थित रखना है। हां, सन्धिको नहीं कर सूत्र कथन करनेपर तो यह कोई दोष नहीं आता है। आङ्को उडा देनपर अनिष्ट होजानेका संशय है। क्योंकि पूर्वयोः का अधिकार चला आरहा है। अतः कथमि सन्देह नहीं होय इसल्यि सूत्रकारने " आ ऐशनात्" ऐसा संधिरहित सूत्रनिर्देश कर दिया है। कुछ संक्लेश उत्पादक कमीका विपाक होनेसे ये विचार देव मनुष्योंके समान श्रीसम्बन्धी विषयसुखोंका अनुमन करते हैं। यही वहांकी देवियोंकी व्यवस्था है।

देवाः कायप्रवीचारा आ ऐशानादितीरणात् । चतुर्ष्विप निकायेषु सुस्रभेदस्य सूचनं ॥ १॥

भवनवासी देवोंसे प्रारम्भ कर ईशान स्वर्गवासी देवोतक काय द्वारा मैथनप्रवृत्ति करनेवाले देव हैं, इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा कथन करनेसे चारों भी निकायोंमें सुख विशेषकी सूचना कर दी गयी है। अर्थात -देवोंके पंचेन्द्रिय सम्बन्धी मोगोंकी पुष्कछ सामग्री विध-मान है । स्पर्शन इन्द्रियजन्यः पुष्पराय्यान्त्रितः कोमळवल्रोंपर विलोडन, सुन्दर वल आभूषणींका परि-वंग, कल्पवृक्ष या कल्पकताओं के सुक्रीमळ पुष्प, पत्र, प्रवाल आदिका स्परीन, चेतीहर सदा युवति देवांगनाओंका माहेन्द्र स्वर्गतक आलिंगनार्थ सोत्साह उपसर्पण, इत्यादिक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी मौग उपमोग बहां परिपूर्ण हैं । देवों के मानसिक आहार है । मनुष्य या पदा. पक्षियों के समान कवळा-हारको वे नहीं करते हैं। अतीव मन्द क्षुधावेदनीय कर्मके उदय या उदीरणा होनेपर उसी समय देवींके कण्डसे परमदिन्य शक्तिवारी अनेकरत्मूर्ण अयुत्तमय रसीला लारसारिला पदार्थ सरता है. जो कि महती तृतिका सम्पादक है। सूक्ष्मपर्याकोचना करने पर प्रतीत होजाता है कि मन्य या पशु भी कत्रलाहार द्वारा जो षट्रस युक्त पदार्थीका स्वाद केते हैं, उस अननन्द प्राप्तिमें भी स्वकीय मुखसे निकली हुई लास्को विशेष सहायक मानना चाहिय । यद्यपि पौद्रलिक मोज्य पदा-थींमें रसपरिणात विषमान है। किन्तु भिन्न भिन्न प्रकृतिके जीवोंकी न्यारे न्यारे भोज्य पदार्थींसे उत्पन हुई लारकी बोळारें ही स्त्राद जन्य . सुखितरोषों को उप जानेमें प्रेरक निमित्त हैं। क्षधापीडित दो महीनेके बचेके मुखमें अंगुड़ी या खड़की स्तनी मुखमें दे देनेपर उसी समय उसके मुखसे छारके कुन्बरि छुटते हैं। और कुछ देरतम बबे हो तृति हो जाती है। तीर्थमरके जन्ममालेंम देवों हारा भगवान् के अंगूठेमें अपृतका स्थापन करना इसी रहस्यको व्यनित करता है। मैस गायके मुखमें लार मिल जानेपर घास या मुस विशेष सुस्ताद हो जाते हैं । ऊंट के मुखर्ने निविके पत्ते, उन राजाओं के षद्धसमूर्ण व्यंजनोंसे नहीं अधिक आनंदके उत्पादक हैं । गेंडु आके मुखमें मिडीके साथ उसकी छारके मिछ जानेपर वह कौर सहूस दुस्वादु हो जाता है। उपवास या एकासन मतकी अमस्थामें कदानिह

अती (क्लेजा) पर ग्रुष्कता आनेपर या मुंहमें सूखट आनेपर लार करके उस शुष्कताको मिटा किया जाता है । मुनिजन भी दिन या रातमें स्वकीय पुरुषार्थसे छारको उपजा कर उक्त किया करते हुये दोषमाजन नहीं हो जाते हैं। हां, मुखमें अंगुजी डालकर चचोरते हुये अधिक लारकी उपजानेके किये उन्हें आतर नहीं होना चाहिये। कवळाहारियों के भोजनमें छार मिळ जानेपर वह सरवाष भी सपाष्य हो जाता है। कोई मनुष्य तो छार मिछानेके छिय दूध या पानीको रोंधकर पीते हैं. अस्त । मनुष्य या पशुपक्षियोंके स्पर्शन-इन्दियजन्य या रसना-इन्दियजन्य सुखोंकी प्राप्ति करनेमें उनके शारीरिक धातुओं या ठारोंका हर्षक्षय जैसे होता है, उसी प्रकार घाण, चक्कु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा विशिष्ट भोग उपमोग करते हुये भी शरीरसम्बन्धी उपधातुओंका व्यय (खर्च होना) प्रव-र्तता रहता है, तभी तो युवा अवस्थामें घातु उपवातुओंकी अधिक उत्पत्ति होते रहनेसे इन्द्रियोंके भोग, उपभोग, विशेष आनन्दोत्पादक होते हैं । और बृद्ध अवस्थामें शरीरकी मूळ्यंजीका घाटा हो जानेपर वे के वे ही अथवा उनसे भी अतिशय सुन्दर इन्द्रिय विषय विचारे सखोत्पादक नहीं है। पाते हैं। " बृद्धस्य तरुणी विषम् "। बात यह है कि जैसे धनका उपार्वन कर विनियोक्ता पुरुष उसके बहुभागको भोग, उपभोग, या दानमें व्यय कर देता है, और अल्प भागको उपार्जक धनकी सन्तानमें मिला देता है. उसी प्रकार शरीरके धात. अपवात या बैकियिक शरीरके अन्य जातीय शरीराक्यक बहुभाग शरीर सुख के लिये हैं। उपज कर ब्यय होते रहते हैं। यदि कंजूम प्रकृ-तिका प्राणी वीर्य, लार या अन्य वैक्रियिक शरीर या वृक्ष आदि शरीरमें उपज रहे उन अमूल्य पदार्थीका व्यय नहीं करता है तो त्रैराशिक अनुसार उसके पास माल टाल नहीं मिलता है। तभी तो विशेषतया इन्द्रियों के उपमोगी रिसक पुरुष और शरीर शक्तियोंका अल्पन्यय करनेवाछे संयमी जीवोंके अपेक्षा कत छार आदिके संचयका तारतम्य नहीं देखा जाता है। अतः न्यायप्राप्त सामग्रीका भोग उपभोग करनेसे ही कुपके स्रोत समान बह रहे छार आदिके अनुसार उपमोग करनेका प्रवाह प्रचित हो रहा है। हां, पापोंकी प्रतिपक्षमावना या वैराग्यरसमें निमन्न होरहे अथवा भोगोमें उदासीन होरहे जीवोंके शरीरका कार्याच्य (कारखाना) ही दूसरे ढंगका होजाता है। परितृप्त या रेगी अधका बीतराग साध एवं शोधी, उदासीन, इनकी प्रवृतियोंपर सूक्ष्म छक्ष्य देनेसे सब जीवोंको उक्त सिदान्त स्पष्ट प्रतिभासित होजाता है । कुल्धारासे जिनके शरीरसृंस्थान सुन्दर सुदढ बने हुये है अत्यल्प कक्ष भोजन करनेपर भी उनके शरीरोंमेंसे छात्रण्य फटा पढता है, जबकि दुर्व्यवहारी धनपतियोंके मुख या शरीर हतकान्ति हो रहे हैं। पुण्य या सदाचार तो अभ्यन्तर कारण है ही। किन्तु मुखमें हार और शरीरमें घात, उपवातुओं की पुष्कल उत्पत्ति ही टाक्प्य, सीन्दर्य, तृप्ति, स्वाद, सुख आदि प्रधान कारण होजाती हैं । देवोंके शरीरमें वही शारिरिक अमृत रसोपम छारसारिखे पदार्थोंकी सुरुभ प्राप्ति विद्यमान है । अतः वे रोटी, दाक, फल, मेथा, दूध, घृत, पेडा, घेवर, मोदक, आदि बहिर्भत पदार्थीका कत्रल आहार कदाचित् भी नहीं करते हैं। बस्तुतः आनन्दोत्पादक सम्पूर्ण सामप्रियां शारीरमें ही

विद्यमान हैं। और सच पूछो तो अक्षयसुखका मण्डार आत्मा ही है। शरीरकी माता या पितामही होरहीं आहारवर्गणाओं में वह आत्माको सुख देनेवांकी शक्ति न है और न थीं। प्रत्युत आत्माने ही शरीरको सुखोत्पादक शक्तिकी थोडी भीख दे दी है। बस. उसी उपचरित असद्भूतनय अनुसार आत्माके सुखसे होरहे शारीरिक सुखको अपना रहा यह जीव सोंठकी गांठ मिळनेपर बन गये पैसारी चूहे के समान बहिरात्मा बन रहा है । तभी तो सुमुक्ष, बती, इन्द्रियजन्य मुखोंपर छात मारकर अती-न्द्रिय स्वारमोपलब्धिजन्य सुखका रसास्वादन करनेके लिये उच्चत रहते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि देवोंका रसना इन्द्रियजन्य सुख बहिर्भृत पदार्थीसे नहीं प्राप्त होकर अपनी शारीरिक प्रकृति अनु-सार अपने अम्थंतर कारणों अनुसार उपज जाता है। तथा इदयहारी पुष्प, शरीर, आदिकी दिन्य गन्धको सुंघ कर देवांके प्राण इन्द्रियजन्य सख होरहा है। स्वकीय स्थानोंमें होरही सन्दर रचनायें. देव देवांगनाओंके अनुपम सौन्दर्य, मध्यलोक सम्बन्धी अनेक द्रीप समुद्रोंकी स्वर्गीय छटायें, आदिको निरख कर देवोंके चक्कः इन्द्रिय द्वारा उपभोग प्रवर्त रहे हैं। स्वयं गाना बजाना अथवा अन्योंके गीत, वादित्र, आदिका श्रवण कर श्रोत्र इन्द्रियजन्य सुख उनके उपजते रहते हैं। परिशेषमें जाकर सब जीवोंको '' जगत् कायस्वभावो वा संवेगवैराग्यार्थ '' के अनुसार वैराग्य भावनापर ही झुक जाना आवश्यक पडेगा, तभी तो स्वर्गीमें ऊपर ऊपर या अहमिन्द्रोंमें गति, शरीर, परिप्रह, अभिमानकी, द्वीनता है । अहामिन्द्र देवोंकी तो ऐसी विलक्षण परिणति है कि जाने आने या त्रिकिया करनेकी परिपूर्ण सामर्थ्य होते हुये भी वे तीर्थकरोंके पंचकल्याणक उत्सवोंमें भी मध्यळोकमें नहीं उतरते हैं। वहीं स्वस्थानसे सात पेंड चळकर भगवान्को नमस्कार कर छेते हैं। यहां वहां बहुत अमण करना कुछ अच्छा थोडा ही है। मन्दकषाय या शुक्छछेश्याकी जातियां नाना प्रकारकी हैं । सर्शर्थसिद्धिके एक भवतारी देवोंमें तो परम शुक्छ-ळेश्या सांसारिकसुर्खोकी चरमसीमापर पहुंचाती हुई उत्तरभवसम्बन्धी परम वैराग्य भावनाओंकी प्रयोजक हो रही है। उत्तरभवमें तम्पूर्ण पुण्यपापोंका क्षय करानेवाली और इस भवमें उत्कृष्ट पुण्यकी सामग्री वन रही यह सर्वार्थिसिद्धिके देवोंकी भेद विज्ञानसे पगी हुई सुखानुभूति तो चमत्कारपूर्ण है। " किमाश्चर्यमतः परम् " भोगोंका चरमक्र उपेक्षा है। अन्त, इस वार्तिकर्मे चार निकायोंके इन्द्रियजन्य सुखका सचन कर दिया है।

चतुर्णिकाया देवाः कायमवीचाराः इति संबंधाचतुर्ष्विपि निकायेषु सुराणां सुरतसुख-विशेषस्य कथनं गम्यते आ ऐशानादिति वचनात् । तर्हि वैमानिकनिकाये सर्वस्रराणां काय-प्रवीचारमसक्ती तिशृद्ध्यर्थे ऐशानादिति वचनपभ्युषगंदुं युक्तं ।

देवोंकी चार निकार्ये हैं यों अनुकृत किये गये पहिले सूत्रके साथ काय प्रवीचारवाले देवोंका बाचक "कायप्रवीचाराः" इस शहुका सम्बन्ध कर देनेसे चारों भी निकायोंमें देवोंके सुरत सम्बन्धी

सुक्तिवेशेषका कथन करना जान किया जाता है "आ ऐशानात् " ईशान खाँतक ऐसा वचन करनेसे मर्यादा बांध दी गयी है, तब तो चौधी वैमानिक निकायमें सम्पूर्ण देवोंके मनुष्य, पशु, पिक्षियोंके समान शरीर हार। मैथुनप्रवृत्तिका प्रसंग प्राप्त हो जानेपर उस प्रसंग की निवृत्तिके किये ऐशानाद् इस प्रकार सूत्रकारका वचन स्वीकार करनेके किये युक्तिपूर्ण है। वैमानिक, मवनवासी और व्यन्तर ये तींनों जातिके देव उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक हैं। हां, व्यन्तरोंसे ज्योतिषी देव तो संख्यात गुणे अधिक हैं। परिश्रिष्ट सम्पूर्ण वैमानिक देवोंसे असंख्यात गुणे देव केवल सीधर्म और ऐशान दो स्वर्गोमें बस रहे हैं। इस सूत्रहारा आदिकी तीनों निकायें और चौथी वैमानिक निकाय मेसे ईशान स्वर्गवासी देवोंतक एक सांसारिक विशिष्ट सुख माने जा रहे कायप्रवीचारका प्रतिपादन हो चुका है। अब सनत्कुमार आदि अच्युत पर्यन्त वैमानिक देवोंके मिथुनजन्य सुखविभागका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्निमसूत्रको कहते हैं।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

उक्त देवोंसे शेष बच रहे अच्युत पर्यन्त देव तो परस्पर स्वकीय नियत देव, देवियोंके स्पर्शमें, रूप अवलोकनमें, शद्वश्रवणमें और मनोजन्य मानसिक विचारोंमें, मैथुनोपसेवन कियाको धार रहे हैं। अर्थात्—उक्तम देवोंमें मैथुनप्रवृत्ति उत्तरोक्तर न्यून होती गयी है। देव सदा प्रवीचारमें ही अवलोन नहीं रहे आते हैं। मनुष्य, की, पशु, पिक्षयोमें भी सर्वदा ही काम केदना जागरूक नहीं रहती है। किन्तु अन्तरंग या बहिरंग कारणाँके मिलनेपर कामवासनायें जग जाती हैं या जगा की जाती हैं। सभी जीवोंको चाहे वे वर्मात्मा न भी होय कामसेवनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक आवस्यक कर्त्तव्य बने रहते हैं। मनुष्योंको शरीदप्रकृतिके अनुसार शौच, स्नान, मोजन, शयन आदि कार्योमें आवश्यक काल्यापन करना पढ़ता है। अनेक पशु, पश्ची, तो स्वकीय नियत ऋतुओंके अतिरिक्त कितने ही महीनोत्तक अरतिवान उदासीन रहे आते हैं। हां, श्रृंगारी पुरुषोंको आत्मवलकी न्यूनता हो जानेसे विषयवासनायें अधिक सताती हैं। देवदीवियोंके मी जब कभी कामवासनायें उपजतीं हैं तो वे परस्पर स्पर्श, रूपावलोकन, आदि द्वारा लीकिकचृतिको प्राप्त होते हुये प्रीतिलाम कर लेते हैं। " पण्णामिन्द्रियाणां स्वेषु स्वषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः " स्परीन इन्द्रियके समान या उससे भी अधिक कामसेवन इन अन्य इन्द्रियों द्वारा भी होता है, यह बात इस स्करें समान या उससे भी अधिक कामसेवन इन अन्य इन्द्रियों द्वारा भी होता है, यह बात इस स्करें स्वनित हो जाती है।

त्रेषा इति वचनं उक्ताविष्ठप्रदार्थ, ते चोक्ताविष्ठप्तः सानत्कुमारादयः कल्योपपणा प्रवाच्युतान्ताः परे अवीचारा इति वक्ष्यमाणत्वात् कल्योपपणपर्यन्तानामेव द्वादश्वविकल्पत्वेन निर्दिष्ठानां वकरणाच्य । इस सूत्रमें " रोषाः " यह बचन तो कहे जा चुके भवनित्रक और सौधर्म, ईशानवासी देवोंसे अविशिष्ट बच रहे कल्पत्रासी देवोंका संप्रह करनेके लिए हैं और वे उक्तोंसे अविशिष्ट रहे देव तो तृतीय स्वर्गवासी सानत्कुमार आदिक अच्युत स्वर्गपर्यन्तके कल्पोपपन देव ही प्रहण किये जाते हैं। क्योंकि अप्रिम सूत्र द्वारा परले कल्पातीत देव प्रवीचाररिहत हैं। यो परिभाषण भविष्यमें किया जानेवाला है। तथा " दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः " इस सूत्र द्वारा बारह विकल्पधारीपने करके कहे जा चुके कल्पोपपन्नपर्यन्त स्वर्गवासी देवोंका ही यहां प्रकरण प्राप्त हो रहा है। अतः कल्पातीत देवोंमें कोई अतिप्रसंग नहीं हो पाता है।

नन्वेवं के स्पर्शमवीचाराः के च रूपादिमवीचारा इति विषयिवेकापरिज्ञानादगमकोऽयं निर्देश इत्याशंकायामिदमभिधीयते ।

यहां किसीकी शंका है कि इस सूत्र करके आधारमूत विषयोंका पृथक्, पृथक् रूपसे विचार नहीं किया गया है कि इस प्रकार कौनसे देव तो स्पर्श द्वारा मैथुनप्रमृत्तिको धार रहे हैं, और कौनसे देव मला रूप, शद्ध, आदि करके कायपुरुषार्थमें क्वळीन हैं थों विशेषतया परिज्ञान नहीं होनेसे यह सूत्रका निर्देश करना अभिग्रेत अर्थका गमक नहीं है। यों बाशंका होनेपर श्री विधानन्द आचार्य द्वारा यह समाधान वचन कहा जाता है।

ते स्पर्शादिप्रवीचाराः शेषास्तेभ्यो यथागमं । क्षेयाः कामोदयापायतारतम्यविशेषतः ॥ १ ॥

उन उक्त देवोंसे शेष रहे वे कल्पवासी देव तो स्पर्श आदिमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। इस सिद्धान्तको आम्नायानुसार प्राप्त हुये आगमप्रमाणका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। चारित्रमोहनीय सम्बन्धी वेदकर्मके उदय या उदीरणास्त्ररूप कामोदयके अपाय (विनाश) की तरतमरूपसे विशेषता देखी जाती है। अतः स्पर्श, रूप, शन्द, इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट होरहे सह-कारियों द्वारा देवोंमें ऊपर ऊपर प्रवीचार अल्प अल्प है। अथवा यों अनुमान कर लेना कि वे उप-रिम चौदह स्वर्गवासी देव (पक्ष) कामवेदनाकी न्यूनताके तारतम्य अनुसार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि काम वेदनाके सम्पादक वेदकर्मोंके उदयका नाश होजानेकी तरतमताका विशेष होनेसे (हेतु)। अर्थात् — छुखटिया, सिरकटा, ल्हिरिया, चीता, सिंह, इनको जैसे उत्तरोत्तर भय हीन हीन है या कृपण, स्कुटुम्बधनी, अधमर्ण, न्यापारी, पण्डित, भोगभूमियां, देव, सम्पग्दिष्ट, मुनिमहाराज, उपशमश्रेणीवाले, इन जीवोंमें जैसे मय उत्तरोत्तर न्यून है अथवा कृष्ट्गारी, रिसया, उपभोक्ता सद्गृहस्य, मछ, अणुवती श्रायक, उदासीन, इनमें उत्तरोत्तर कामवेदना स्वस्प है, इसी प्रकार सानत्कुमार आदि देवोंमें ऊपर ऊपर कामयुरुषार्थकी न्यूनता है। कामकी हीनसाके तारतम्यसे सुखकी प्रकर्षताका तारतम्य अविनाभानी है।

ते देवाः शेषाः सानत्कुमारादयो यथागमं स्पर्शादिप्रवीचाराः प्रतिपत्तच्याः । सानत्कुमारमाईद्रयोः स्पर्शभवीचारा देवास्तेषामुत्पभमेथुनमुखालिप्सानां समुपस्थितस्वदेवीशरीरस्पर्शमात्रात्पीत्युत्पत्तौ निष्टतेच्छत्वोपपत्तेः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः, स्वदेवीमनोक्क्ष्यावलोकनमात्रादेव निराकांक्षतया पीत्यितिशयोपपत्तेः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु
शब्दप्रवीचाराः, स्वकांतामनोक्कशब्दश्रवणमात्रादेव संतोषोपपत्तेः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु
मनःप्रवीचाराः, स्वांगनामनःसंकल्पमात्रादेव परमस्रखानुभवसिद्धेरिति हि परमागमः श्रूयते ।

उक्त देवोंसे परिशिष्ट हो रहे वे सानत्कुमार माहेन्द्र आदिक देव तो आम्नाय प्राप्त आगम अनु-सार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले समझ लेने चाहिये। वह आगमविधि इस प्रकार है कि सानत्क्रमार और माहेंद्र स्वर्गीमें निवास करनेवाले देव स्पर्श करनेमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। क्योंकि मैथुनजन्य सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होते ही उन देवोंके उसी समय उपस्थित हो गयी निजदेवियोंके शरीरका केवल स्पर्श यानी आर्लिंगन या स्तन, मुखचुम्बन आदि क्रिया कर केनेसे प्रीति उत्पन्न हो चुकनेपर उन देवोंकी मैथुन इच्छा की निष्टाति होनारूप कार्य सध जाता है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, छांतव, कापिष्ट स्वर्गीमें निवास कर रहे देव तो रूपमें प्रवीचार करनेवाले हैं । क्योंकि मैथुनकूलकी अभिलापा होते ही उसी समय निकटप्राप्त हयीं अपनी सुन्दर देवियोंके मनोज्ञ रूप यानी सुन्दर वेष, विळास, विभ्रम, चातुर्व, श्रङ्गार, आकार, सीन्दर्यका, केवल अवलोकन कर लेनेसे ही स्वकीय भोगा नांक्षाकी निवृत्ति होते हुये आतिशय यक्त प्रीति उपजनारूप कार्य बन जाता है। तथा नौथें, दशवें ग्याग्हरें, बारहवें, ग्रुक, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, स्वर्गनियासी देवोंके शद्भमें ही प्रयीचार होता है। अपनी अपनी रमणीय कान्ताओंके मनोज राद्वीके सुनने मात्रसे संतोषकी सिद्धि हो जाती है। देवियों के मधुर संगीत, कोमल हास्य, भूषण शद्ध, तृत्यकी संकार आदिका श्रवण कर पूर्व देवोंकी अपेक्षा इनको अत्यविक प्रेम रस उपजता है । आनत, प्राणत, भारण, अन्यत, इन स्वर्गीमें देव मनमें ही। प्रवीचार करनेवाले हैं । अपनी अंगनाओंके मानसिक संकल्प मात्रसे ही उक्त देवोंकी अपेक्षा अत्यधिक वैपायिक सुखका अनुभव साध हेते हैं। इस प्रकार प्राचीन परम आगम बाक्य सने जा रहे हैं। भावार्थ-वर्तमानमें भी इस ढंगसे मनुष्य या क्षियोंमें अंशरूप करके यों कामपुरुषार्थ सेत्रन देखा जाता जाता है । परस्पर श्रीपुरुषोंक सुन्दर अवयर्त्रोकी टकटकी छगा कर निरखने वाले रिनकों या बक्रमक धार्मिकोंमें चाक्षप मैथून बहुत पाया जाता है । तीत्र वेदना या चळाकर उपजायी गयी वासनाओंके अनुसार कायप्रवीचारमें प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त समयोंमें कामवेदनाका अल्प आघात होनेकी दशामें स्पर्श प्रवीचारसे ही बीपुरुषोंकी इच्छाने परिपूर्ण हो जाती है। कदाचित अत्यल्प वेदनाकी दशाओंमें रूपावलोकन, परस्पर संभाषण, मनोज जन्य मानसिक विचारोंसे ही तासे हो जाती है। उत्तरोत्तर ढळती हुई अवस्थायें

शारीरिक शक्तिकी हानिशीलता अनुसार अर्द्धवृद्ध या वृद्धजनोंमें दृष्टान्तरूपेण उक्त सूत्रार्थ घटित हो जाता है। इसी प्रकार देवोंमें भी उक्त सूत्रार्थको युक्तिपूर्वक घटित कर छेना चाहिये। जो अह परुष शरीरस्पर्श या शकरजोमोचनसे ही प्रीति उपजना स्त्रीकार करते हैं, उनका तिद्धान्त भ्रममुखक है। छौकिक प्रीतियोंकी उत्पत्तिके अनेक साधन हैं। वस्तृतः विचारा जाय तो विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख कोरा सुखाभास है। जितनी जितनी विषयत्रणा न्यून है उतना ही उतना यह जीव अतीन्द्रिय सुख को परखने छग जाता है। तभी तो देवोंके बहिरंग आर्टिंगन आदि सामग्री जितनी जितनी हीन होती जायगी उतना ही उतना ने छोकिक सुखकी जार बढते जायेंगे । अत्यधिक संसटोंसे छोकिक सखोंमें भी एक प्रकारका विष्न ही पड जाता है। श्रंगारी किन भी कहता है कि "न पथ्यं नेपथ्यं बहत-रमनंगोत्सवविधी " कानीत्सवमें बहुत इंझटे छगा छेना अडचनीं की निमंत्रण देना है। छत्तीस प्रकारके व्यंजनोंकी अपेक्षा एक बारमें चार पांच सुन्दर व्यंजन ही अधिक त्रिकारक समझे गये हैं । हां, भिन्न समय न्यारी न्यारी छा होंमें छत्तीस क्या छत्तीस सौ व्यंजन भी विचित्रहिचयोंके अनुसार तृतिकारक होस भते हैं। भूखसे कुछ कम भोजन करनेमें जो आनन्द है वह नाकतक भोजनको इंस छेनेमें नहीं है। जाडेकी ऋतुर्ने अत्यल्प शीतवाधा सहते हुथे उपयोगी परिनित क्लॉ द्वारा उपभोग करना जितना स्वास्थ्यप्रद होते ह्रये मने हारा है उतना आवश्यकतासे अधिक गूदरा ठादे रहना सुबसम्पादक नहीं है। परिशेषमें जाकर प्रीप्म ऋतुमें जैसे बस्रोंका परित्याग ही बांछनीय होजाता है, उसी प्रकार ठोस सखको चाहनेवाले जीवोंके लिये झंझटोंकों हटा कर केवल आत्मध्यरूप इकला रहजाना ही आदरणीय होजाता है। अलम्—पूर्वपूर्ववर्त्ता देवोंके अवलम्ब उत्तरोत्तर देवोंने नहीं है। किन्तु उत्तरोत्तर देवोंके स्पर्श. रूप, शद्ध, आदिमें होनेवाले प्रवीचार तो पूर्व पूर्व देवोंके आवश्यक रूपसे पाये जाते हैं। यानी जो देव रूप प्रवीचारवाले हैं वो स्पर्शप्रवीचारवाले नहीं है । किन्तु स्परीप्रवीचारवाले देव रूपप्रवीचार. शद्रप्रवीचार और मन:प्रश्रीचारोंको भी धारते हैं । परमागम द्वारा की गयी व्यवस्था सर्वथा निर्दोष है।

ततस्तदनतिक्रमेणैव विषयविवेकविज्ञानात्रागमकोऽयं निर्देशः । पुनः प्रवीचारग्रहणा-दिष्टाभिसंबंधमत्ययादन्यथाभिसम्बन्धे चार्षविरोधात् । संभाव्यंते यथागमं स्पर्शादिप्रवीचारा देवाः कामोदयापायस्य चारित्रमोहक्षयोपशमिवशेषस्य तारतम्यभेदान्मनुष्य विशेषवत् ।

तिस कारणसे उस आतोक परमागमका अतिक्रमण नहीं करके ही देवोंमें स्पर्श, आदि विषयोंका विभाग जान लिया जाता है। अतः यह सूत्रकारका कथन अवीधक नहीं है। "काय प्रवीचाराः आ ऐशानात्" इस पूर्वसूत्रसे यहां प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती है। फिर जो सूत्रकारने उस सूत्रमें प्रवीचार ब्रहण किया है उस व्यर्थ पड रहे प्रवीचार शब्दके ब्रहणसे आगम विधि अनुसार इष्ट अर्थका अभिसम्बन्ध कर लेना प्रतीत हो जाता है। यदि दो दोमें या चार चार स्वर्गीमें यों अन्य प्रकारोंसे स्पर्श रूप आदि विषयक प्रवीचारोंका अभिसम्बन्ध किया जावेगा तो ऋषि

प्रोक्त सिद्धान्तप्रन्योंसे इस सत्रका बिरोध ठन जायगा । खल्प भाषण करनेवाले उदात्त उद्भट विद्वानोंके शब्द व्यर्थ नहीं जाते हैं। अतः प्रवीचार शब्दकरके इष्ट अर्थकी ज्ञापि कर छी जाती है। इस सत्रार्थका यों अनुमानवाक्य बना छेना कि सानत्क्रमार प्रभृति देव (पक्ष) स्पर्श, रूप आदि विषयक मैथन प्रवृत्तियोंको धार रहे आगमविधि अनुसार जाने गये सम्भावित हो रहे हैं (साध्यदल) कामसम्पादक वेदकर्मके उदय या उदीरणाके विनाश स्वरूप चारित्रमोहनीयकर्म प्रतियोगिक विशेष क्षयोपरामकी तरतमताका भेद होनेसे (हेत्) मनुष्य विशेषोंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात-उत्तरोत्तर अधिक धर्मात्मा बन रहे सम्यग्द्धि, पाक्षिकश्रावक, दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, दिवाऽमुक्त प्रतिमात्राले श्रावकोंमें जैसे क्षायोपशामिकभाव अण्वत ब्रह्मचर्य है। " देसविरदे पमत्ते इंदरे य खओव-समियभावोद्, सो खलु चरित्तमोहं पिडच भिणयं तहा उविरं '' यो गोम्मटसार अनुसार पांचवे देश बिस्त गुणस्थानमें चारित्रमेहिनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव माना गया है। यद्यपि नोकषायकी वेद नामक प्रकृति देशचाति है । तथापि देशचातियोंमें अपेक्षाकृत सर्गचातिस्पर्धकोंका सद्भाव पाया जानेसे पाक्षिक आदिमें सर्वधातिस्पर्धकोका उदयाभाव क्षय और मिनष्यमें उदय आनेवाले सर्वधाति स्पर्ध-कोंकी उदीरणा नहीं हो सकते योग्य वहांका वहीं उपराम बना रहना तथा देशघाति वेद प्रकृतिके निषेकोंका उदय यों क्षयोपराम बन जाता है। यद्यपि देवोंमें कोई बत नहीं है। देशविरतके नहीं होतेसे उनके क्षायोपशमिकचारित्र कहनेके छिये जी हिचिकिचाता है। फिर भी अन्तरंग कारणकश कामोदय उत्तरोत्तर देवोंमें अत्यल्प है। अतः कषायोंकी मन्दता होने ने उन देवेंकि निस्तन्देह चारित्र मोहका क्षयोपराम कहनेके लिये सर्द्ध उत्साह हो जाता है। जब कि गोम्मटसारमें ही कहीं दर्शन मोह कचित् चारित्रमोहका अवलम्ब लेकर दूपरे गुणस्थानमें पारणांमिक भाव और क्षपकश्रेणीमें क्षायिक भाव जो कि सिद्धोंमें कहने चाढिये भिगत किये हैं, तो अन्तरंग कर्मीकी शक्ति अनुसार मैथनसंज्ञाकी उत्तरोत्तर हानिकी ओर झक्तनेवाले जीवोंके चारित्रमेहका क्षयोपराम कहना अनुचित नहीं है। अतः यह हेत् पक्षमें वर्त जाता है। सर्वथा प्रतीचाररहित सर्वर्थासिद्धिके देवोंको भले हैं। चतर्थ गुणस्थानवर्त्ती कहते रहो और कामतीवाभिनिवेश नामक अतीचारको धार रहे दर्शन प्रतिमा-वार्छ स्वस्त्री-आसक्त मनुष्यको भछे ही पंचमगुणस्थानवर्त्ती कहे जाओ, हम टोकते नहीं है। किन्तु वेदकर्मीके उदय, उदीरणा, पर सूक्ष्म कश्य देनेसे सूत्रीर्थिसिद्धिके देवी या छीकान्तिक देवींमें अखण्ड बन्हचर्य पाया जा रहा हैं। स्ठोकवार्तिकालंकार उक्त सिद्धान्तका पोषक प्रतीत हो रहा है। भगवान्का अभिषेक करनेवाळे पुरुषोंका या व्रतधारी श्रावकोंका रस, रुधिर, मळ, मूत्र,मयशरीर भन्ने ही पवित्र आत्मारूप उपाधिकी अपेक्षा न्यवहारदृद्धि उपचरित पवित्र मान लिया जाय. किन्त सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिक, मर्बार्थसिद्धिस्य इन देशोंके धातु, उपधातु, मलमूत्रविद्दीन शर्रारों अथवा एकें-दिय जीव में वृक्ष, घास, जल, अग्नि शरीगेंको उपचारकी शरण लिये विना ही पवित्र कहनेके लिग्ने उत्साहके मारे जीव बांसी उछलना है। कर्म, पुद्रल, आस्मा, निज पारिणाम, उपादान कारण आदिकी शाकियोंपर विचार करनेसे उक्त सिद्धान्तका नग्नरहस्य स्पष्ट दीख जाता है । अन्नती उच्चर्ण और निचवर्णके तत्त्वकी अथवा अहिंसक धीवर या चाण्डाळ और हिंसक नाम्हणके तत्त्वकी समझने-वाळे सहदय उदात्त विद्धानोंको उक्त सिद्धान्तके सन्मुख सिर झकाना पढेगा । अनुक्त भी चारित्र सिद्धोंमें रखना पढता है । देवोंके क्षायोपशमिक चारित्रका निरूपण कर देनेवाळे निमीक श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजसे अपनी आत्माके उदात्तमात्र बनानेकी शिक्षा छो—इत्यळम् पळ्ळवितेन । समझनेवाळोंके ळिये संकेतमात्र पर्याप्त है । छजाळुओंको समुद्र, नद, कूपकी आवश्यकता नहीं है । स्त्रल्प जळ ही पापका संकल्पपूर्वक त्याग करनेके ळिये इष्टसाधक हो जाता है ।

किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि गुरुजी महाराज, यदि सोल्रह स्वर्गतक इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओं कि ऊपर प्रैत्रेयक त्रिमानवासी अहिमन्द्रोंके किस प्रकारका सुख प्रवर्तता है ! यो प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अहमिन्द्रोंके सुखका निर्णय करनेके लिये अप्रिम सूत्रकी यों कह रहे हैं।

प्ररेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

सीलह स्वर्गीके उपर नवप्रैवेयक, नव अनुदिश, और पांच अनुत्तर विमानोंमें उपज रहे परले अहमिंद्र देव तो मैथुनप्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं। मनसे भी मैथुन सुखके अनुभवसे रीते होरहे वे कल्पातीत अहमिन्द परमहर्षका अनवरत अनुभव करते रहते हैं। अर्थात्—िक्तिसोको भूंख या प्यास लगे उसकी षट्रस पूर्ण उत्तम, उष्ण, भोजनों या मधुर शीतल जल द्वारा निवृत्ति करके जो सुखका अनुभव किया जाता है, वह सुख अविक्रिन, अनवरत, ठोस, निर्वाध, नहीं है। केवल रोगका प्रतीकार मात्र है। हां, यदि किसी केवलज्ञानीको भूंख, प्यास, या नींद, रोग ही नहीं है, उसके अविक्रिन परमसुख उच श्रेणीका माना जाता है। इसी प्रकार कल्पातीत देवोंके कामवेदनाके प्रतीकारकी शंशटोंमें नहीं पडनेके कारण सतत परम हर्ष होता रहता है।

परे ब्रह्णं कल्पातीतसर्वदेवसंब्रहार्थे । ततो अनिष्ठकल्पनानिष्टतिः । अपवीचारब्रहणं ब्रक्कष्ट-मुखप्रतिपत्त्यर्थे, ते न मनःप्रवाचाराः । तेभ्यः परे कल्पातीताः सर्वदेवाः ववीचाररहिता इत्युक्तं भवति ।

इस स्त्रमें पर शब्दका प्रहण करना तो सम्पूर्ण कल्पातीत असंख्याते देवोंका संप्रह करनेके छिये है। तिस कारणसे अनिष्टकल्पनाओंकी निवृत्ति होजाती है। अन्यथा यानी परे शब्दका प्रहण यदि नहीं किया जायगा तो। कातिपय स्वर्गवासी देवोंमें वा कुछ ही कल्पातीत देवोंमें प्रवीचाररिहतपनकी अनिष्टकल्पना की जासकती। है। इस स्त्रमें अप्रवीचार शब्दका प्रहण करना तो अद्यमिन्द्रोंके होरहे प्रकृष्ट सुखकी। प्रतिपत्ति करानेके छिये है। वे देव मनते भी प्रवीचार करनेवां नहीं है। यद्यपि प्रथम, दितीय, मृतीय, या चसुर्य गुणस्थानके भावोंको पार रहे प्रैनेयकवासी अद्यमिन्द्र और केवल चतुर्य

गुणस्थानवर्ती नव अनुदिश, पांच अनुत्तर विमानवासी अहामिन्दोंके वेदकर्मका उदय है। द्रव्यवेद अनुसार देवोंके पुरुषोचित उपांग मी हैं। किन्तु आत्मीय पुरुषार्थजन्य विलक्षण परिणतियोंके नहीं कर-नेसे द्रव्यवेद और भाववेद व्यर्थ पड जाते हैं। छठें, सातवें, आठवें, गुगम्थानोंमें भी तो द्रव्यवेद और भाववेदका सद्भाव है। फिर भी देवोंसे अनन्तगुणा निकाम सुख साधुओंके माना गया है। ब्रह्मचर्य महावतकी बड़ी महिमा है। कामको अनन्तकालत कके लिये जीतनेवाले क्षीणकषाय या केवलज्ञानियोंके परम अतीन्द्रय सुख अनन्तानन्त विद्यमान है। यद्यपि क्षी, पुरुषोंके मिथुन सम्बन्धी पुरुषार्थजन्य प्रकृति तो हक्ष, घास, कीट, नपुंसक, नारकी आदिमें भी नहीं है, फिर भी इनके कामजन्य तीव दु.खवेदना है, जोकि अहमिन्दोंके सर्वथा नहीं है। इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार कह दिया गया होजाता है कि उन तीन निकाय सम्बन्धी और स्वर्गवासी देवोंसे परे होरहे सम्पूर्ण क-पातीत देव तो मैथुनसेवाके धन-पंक (दलदल) में निमप्रता (फसे रहना) स्वरूप प्रवीचारसे रीते हैं। अर्थात्—अनेक मनुष्य धर्मात्मा नहीं होते हुये भी जन्मने ही स्वभावतः कामवासनाओंने दूर रहते है। उस दशामें उनको बहा गम्भीर सुख मिलता है। प्रथम गुणस्थानवर्ती आधुनिक वीर पुरुषोंमें भी कदाचित् प्रवीचार रहित माव पाये जाते हैं। कोई आध्वर्य नहीं है।

कुतः पुनवक्तेभ्यः परेऽप्रवीचारा इत्याह ।

अब श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि महाराज, बताओ, कहे जानु के देवोंसे परछे देव फिर प्रवीचारसे रहित भटा किस युक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं ? आगम उक्त विषयोंके ऊपर युक्तियोंके प्रवर्त जानेसे ही आगम के ऊपर अनुप्रह हो कता है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिमवार्तिकोंको समाधानवचनस्वरूप कह रहे हैं । उनको सनो, समझे।

तेभ्यस्तु परे कामवेदनायाः परिक्षयात् ।
सुखप्रकर्षसंप्राप्तेः प्रवीचारेण वर्जिताः ॥ १ ॥
संभाव्यंते च ते सर्वे तारतम्यस्य दर्शनात् ।
नराणामिह केषांचित् कामाप्रायस्य ताहराः ॥ २ ॥

उन उक्त देवोंसे परली ओरके वे विवादापन संपूर्ण कल्पातीत देव तो (पक्ष) मैथुनोपसेत्रनसे वर्जित होरहे सन्भव रहे हैं (साध्य) कामनेदनाप्रीडाका परिक्षय होजानेसे (हेतु) काम सुखको अत्यन्त तुष्छ या मैथुनकर्मको अतीव हानिकारक समझ रहे और व्यायाम, दुग्धपान, निश्चिन्तता, घृतमेवा भोजन, आदिके भोगी मञ्जके समान (अन्वयद्यान्त) । इस अनुमानसे अहमिन्होंमें प्रवीचार-रहितपना साथ दिया जाता है । तथा सुखके प्रकर्षकी भन्ने प्रकार प्राप्ति होजानेसे (हेतु) अहमिद्रोंके

कामनेदनाका परिक्षय साथ दिया जाता है। यहां वर्तमानकालमें भी किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके तिस प्रकारके कामके विनाशका तारतम्य देखा जाता है। अर्थात्—वर्तमानमें सम्पूर्ण युवा पुरुष कामुक ही होय ऐसा कोई अवधारण नहीं है। कई पुरुष तो जन्मपर्यंत कामसे नहीं सताये देखे गये हैं। हां, श्रियोंके मासिकधर्म होनके कारण मानसिक कामनिकारोंसे रहितपना दुर्लभ है। " हांगे पुरिसे बत्तीसं"। तभी तो देखोंकी गणनासे बत्तीस गुनी भी गिनतीमें असंख्याती देखियां प्रनीचाररहित नहीं कही गयीं है। आर्थिका मी उत्कृष्टसंयमको प्राप्त नहीं कर सकती है। किन्तु वीररसप्रेमी, उदासीन, शान्तरसी, पुरुषोंमें कामवेदनाके विनाशकी तरतमता देखी जाती है। इस हेतुहारा विवादापन्नजीवोंमें प्रनीचारसे रहितपना साथ दिया जाता है। जैसे अनेक पुरुष सदासे ही श्रृंगार रसके प्रेमी होते हैं, तहत् अनेक जन कामरससे सर्वोश उदासीन रहनेवाले भी देखे जा रहे हैं। जब कि किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके यहां वैसी कामवेदनाका अपाय है। अतः वे सभी अहमिन्द देव विचारे प्रनीचारसे रहित हो रहे सम्भव जाते हैं।

विवादापन्नाः सुराः कामवेदनाक्रांताः सन्नरीरत्वात् मसिद्धकामुकवत् इत्ययुक्तं कामवे-दनापायस्य शरीरित्वेन विरोधाभावात् । केषांचिदिद्दैव मनुष्याणां मंदमंदतमकामानां विनिश्च-यात् कामधेदनाहानितारतम्ये शरीरहानितारतम्यदर्शनाभावात् मक्षीणशेषकल्मषाणामपि शरी-रिणां प्रमाणतः साधनात् ।

जगत्वर्ती सम्पूर्ण देव देवियों यहांतक कि बहा, विष्णु, महेरा देवों को मी मैथुनोपसेवी स्वीकार कर रहा कोई पांराणिक पाण्डत आक्षेप करता है कि विवादमें प्रसित हो रहे कल्पातात देव (पक्ष) कामजन्य पीडासे आकान्त हैं (साध्य दल) । रारीरसहित होनेसे (हेतु) वेश्या-सक्त या परक्षीगामां कामुकपुरुषेक समान (अन्वयदद्यान्त)। प्रन्थकार कहते हैं कि युक्ति व्याप्ति-यांकी झपटोंको नहीं झेल सकनेवाला यह आक्षेप तो अनुचित हैं। क्योंकि कामवेदनाके अपायका शरीराधारीपनके साथ कोई विरोध नहीं है। वर्तमानमें यहां ही किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके अतीव मन्द और उससे भी अत्यिक मन्द्र हो रही कामप्रवृत्तिका विशेषरूपेण निश्चय हो रहा है। धर्म या वर्तोंका लक्ष्य नहीं रखते हुये भी अनेक मनुष्य मन्द्रकामी हैं। एक पंजाबके मल्लेन यावत् जन्ममें एक ही बार मैथुनसेवन किया था, जिसका फल्स्वरूप उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि युवा अवस्थामें पिएणत होनेपर सम्पूर्ण यूरुपनिवासी मल्लोंका विजेता हुआ, जो इस समय विद्यमान है। युना जाता है कि एक विशिष्ट जातिका सिंह जन्ममरमें एक ही बार मैथुनसेवा करता है। किन्हीं श्रुंगारी पुरुषोंके पारिणाम जैसे विटल्वकी विपुल तृष्णामें इबे रहते हैं, उसी प्रकार अनेक उदासीन जीवोंके परिणाम स्वमाव हां से कामरहित प्रतीत हो रहे हैं। कामवेदनाकी हानिका तारतम्य होनेपर शरीरकी हानिके तारतम्यका दर्शन नहीं हो रहा है। यानी कामवेदनाके हीन हीन होते होते जीवोंके शरी-रक्षी भी हानि होती जाय ऐसा नियम नहीं है। बहुमाग स्थलोंमें तो इसके विपरीत दीन, हीन,

रुण, क्षीण, शरीरधारी श्रृंगार रिसक पुरुषकी अपेक्षा वीर, योद्धा, मछ, प्रतिमछ पुरुषोंके शरीर इद, पुष्ट, बलिष्ठ, लम्बे चीडे, सुडील होते हैं। निकृष्ट वेश्याओं के काममय घृणित शरीरोंसे महाचारिणी या स्वदेशरक्षणतत्परा लजाल कियों के शरीर उन्नत देखे जाते हैं। कहांतक कहें, सम्पूर्ण कामवासना सम्बन्धी पापोंका प्रकर्षरूपसे नाश कर देनेवाले या ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन सम्पूर्ण वातिया कर्मोका प्रक्षय कर चुके श्री जिनन्द देशोंका भी शरीर सिहतपना प्रमाणोंसे साधा जा चुका है। जब कि वेदकर्मका या घातियाकर्मोंका प्रक्षय कर चुके शरीरधारी जिनेन्द्र मगवान्के अनन्त बलशाली, सर्श्री सुन्दर, लग्बा चीडा सुडील, पवित्र, परम औदारिक शरीर है, तो शरीरधारीपन हेतुकी कामवेदनासहितपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। हां, कामवेदनाकी त्रृटि होते होते साथमें यदि शरीरकी भी त्रुटि होती जाती तो शरीरधारी देशोंका या तिर्थंकरोंका भी कामपीडितपना साधनेमें सहायता मिल सकती थी। किन्तु यहां तो इसके विपरीत प्रस्ताव उपस्थित होगया, अतः पीराणिकोंका हेतु व्यभिचार दोषप्रसित है।

एतेन कामित्वे साध्ये सत्त्वप्रयेयत्वाद्योपि हेतवः संदिग्धविपक्षव्याद्यत्तिका इति प्रति-पादितं ततः संभाव्या एव केचिद्मवीचाराः।

इस इक्त कथन करके इस बातका भी प्रन्थकारनें प्रतिपादन कर दिया है कि कल्पातीत देवों में कामीपना साध्य करनेपर कहे जाने योग्य सत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व, चेतनत्व आदिक हेतुओं की भी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। क्योंकि कामसेत्री जीवोंके समान मन्दकामी या सर्वथा प्रविचार रिहत जीवोंमें भी सत्त्व आदिक हेतु पाये जाते हैं। जब कि व्यभिचारीपुरुष भी कभी कभी तीव रोग, गाढ सुष्ठित, आदि अवस्थाओं में कामपीडासे वर्जित हैं तो मठ, जितिन्द्रय साधु, महामना व्यागी, क्षीणकषाय आदि जीवोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? विपक्षमें हेतु के ठहर जानेका निश्चय नहीं भी होय, किन्तु विपक्षमें वर्तनेका पीराणिकोंको भी सन्देह होजायगा। अतः शरीरधारीपन या सत्त्व आदिक हेतु उस कामपीडितपनको साधनेमें संदिग्ध व्यभिचार हेत्वाभास दोषप्रस्त हैं। तिस कारणसे कोई देव यानी कल्पातीत देव या छीकांतिक देव बिचारे प्रतीचारसे रिहत होरहे सम्भवने योग्य ही हैं, जैशा कि उक्त वार्तिकोंमें कहा गया है।

इत्येवं नवभिः सूत्रैः निकायाद्यंतरस्य या । कल्पना संशयश्रात्र केषांचित्तन्निराकृतिः ॥ ३ ॥

किन्हीं किन्हीं अजैन विद्यानोंके यहां चार निकायोंके अतिरिक्त दूसरे दूसरे ढंगसे देवोंकी दो ही तीन ही अथवा पांच आदिक ही निकाय मानी गयी हैं। केव्या या देवोंके अन्तर्गत मेद, इन्द्रव्यवस्था, प्रवीचार आदिकी दूसरे प्रकारोंसे कल्पनायें गढ़ी जारही हैं और किन्हीं किन्हीं पण्डितोंके यहां देवोंकी निकाय, छेक्या, भेद, प्रभेद, आदिका जो संशय होरहा है, यहां चतुर्थ अध्यायकी आदिमें इस प्रकार नी सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने उन सब कल्पनाओं या संशयोंका निराकरण कर दिया है। अर्थात्—उक्त नी सूत्रोंक प्रमेयमें अध्यात, अतिब्याप्ति दोष नहीं हैं।

पथमेन सूत्रेण तावत्केषांचिश्विकायांतरस्य कल्पना तत्संदेदः चात्र निराकृतिः । द्विती-येन लेक्यांतरस्य, तृतीयेन संख्यांतरस्य, चतुर्थेन कल्पांतरस्य, पंचमेन तद्पवादांतरस्य, पृष्ठेने-द्रसंख्यांतरस्य, सप्तयेनाष्ट्रमेन चानिष्टप्रवीचारस्य, नवमेन सर्वप्रवीचारस्येति नविभः स्त्रैनिका-याद्यंतरकल्पनसंश्चयनिराकृतिः प्रत्येतव्या।

उक्त वार्तिकका विवरण यों है कि यहां चौथे अध्यायमें सबसे आदिके पाहेले सत्र करके तो किन्हीं किन्हीं पुराणकारोंके यहां मानी गयीं देवोंकी दूसरी निकायोंकी कल्पना और दूसरे ढंगकी उन निकार्योका जो सन्देह हो रहा है उसका निराकरण कर दिया गया है। " आदितक्षिष्ठ पीतान्त-छेरयाः " इस दूसरे सूत्रकरके भवनत्रिक देवोंमें अन्य पद्म, शुक्छ, छेरयाओंकी निराकृति कर दी गयी है। तथा '' दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपनपर्यन्ताः '' इस सूत्र करके तो नियत हो रही दश, आठ, पांच, बारह, संख्याओंने अतिरिक्त संख्याओंकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। चौथे '' इन्द्र सामानिक " आदि सत्रकरके दश विध कल्पनाके सिवाय अन्यविकल्पोंका निराकरण कर दिया है। पाचवें " त्रायांकेंश " आदि सत्र करके उन दश विकल्पों के दो निकायों में हो रहे अपवादके सिवाय अन्य अपवादोंका निरास कर दिया गया है। छड़े '' पूर्वयोद्धीन्द्राः '' सूत्र करके इन्होंकी उक्त संख्याके आतिरिक्त संख्याओंका बारण कर दिया है। सातवें, आठवें, '' कायप्रवीचारा आ ऐशानात् '' और '' शेषाः स्पर्शरूपराद्वमनःप्रवीचाराः '' सूत्रों करके अनिष्ट प्रवीचारोंका प्रत्याख्यान किया गया है। नौवें " परेऽप्रवीचाराः '' सूत्र करके सब कल्पातीत देवोंके प्रवीचारसहितपनका व्यवच्छेद किया गया है। इस प्रकार नौ सूत्रों करके अन्य निकाय आदिकी असम्दत या सदसम्दत उभय-कोटिस्पर्शी संशयकी निराकृति हो रही समझ छेनी चाहिये। उक्त सूत्रोंके नौ वाक्य सावधारण हैं। कण्ठोक्त कही चाहे न कही, वाक्यमें विना बुखाये ही एवकार द्वारा अवधारण छग बैठता है। " वाक्येऽनधारणं तावदानिष्टार्थनिवत्तये "।

आदिनिकायसम्बन्धी जो दश विकल्पवाले देव कहे जाचुके हैं, उन देवोंकी सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञाका विज्ञापन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तानितो-दिधद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

भवनोमें निवास करनेके शीलको धारनेवाले देव भवनवासी हैं। वे १ अझुकुमार.२ नागकुमार ३ विद्युत्कुमार ४ सुपर्गकुमार ५ अग्निकुमार ६ वातकुमार ७ स्तनितकुमार ८ उद्धिकुमार ९ द्वीप-कुमार १० दिक्कुमार इन दश विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

भवनवासिनामकर्मीदये सति भवनेषु वसनशीला भवनवासिन इति सामान्यसंज्ञा प्रथम-निकाये देवानां । असुरादिनामकर्मविशेषोदयादसुरकुमारादय इति विशेषसंज्ञा । कुमारज्ञब्दस्य प्रत्येकभभिसंवंधात् तेषां कौमारवयोविशेषविक्रियादियोगः ।

गित संज्ञक नामकर्भकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे भवनवासी नामक नामकर्मका उदय होते सन्ते, भवनोंमें निवास करनेकी टेववाले, देव भवनवासी हैं। इस प्रकार पहिले निकायमें यह देवोंकी अखिल विशेषोंमें घटित हो रही सामान्य संज्ञा है। हां, उस भवनवासी नामकर्मके भी उत्तर भेद स्वरूप असुर, नाग, आदि विशेष नामकर्मोंका उदय हो जानेसे असुरकुमार, नागकुमार, आदिक विशेष संज्ञायें प्रवर्त जाती हैं। '' इन्ह्रादी इन्ह्रांते च श्रूपमाणं परं प्रत्येकमिसल्बच्यते '' इस नियम अनुसार अन्तके कुमार शहका प्रत्येक असुर आदिमें पीछे सम्बन्ध जुड जाता है। उन भवनवासी देवोंके कुमार अवस्थामें हो रहे सारिखे आयुष्यविशेष, विकिया करना, वेष, मूषा, आयुष, कीडन, यान, वाहन, आभरण, आदिसे अत्यविक प्रीति होनेका योग है, इस कारण उनको कुमार कह दिया जाता है। भावार्थ—लोकमें भी कई बालकोंका अजितकुमार, भानुकुमार आदि नामनिदेश कर लिया जाता है। किन्तु वृद्ध अवस्थामें ये नाम शाद्विकोंके यहां उसी प्रकार खटकते हे, जैसे कि वृद्ध विवाह आक्षेप करने योग्य है। नाम परिवर्तनके लिये देवोंमे उतनी आवश्यकता नहीं उपजती है। जितनी कि बुद्धे अजितकुमार आदि मनुष्योंमें है। किन्तु क्या किया जाय ! नामपरिवर्तन करना अमीष्ट नहीं है। यद्यपि सम्पूर्ण देवोंके जन्मसे अन्तर्मुकुर्तके पीछे और मरनेके छह मास पूर्वतक भरपूर युवा अवस्था नियत रहती है, फिर भी कुमारोंक समुचित विकिया, वेष, क्रीडापरना आदिमें अत्यधिक प्रेमभाव होनेके कारण इनको कुमार शब्दसे कह दिया जाता है।

केचिदाहुः देवैः सहास्यंतीति असुरा इति, तद्युक्तं, तेषामवमवर्णवादात् । सीधर्मादि-देवानां महाप्रभावत्वादसुरैः सह युद्धायोगात् तेषां तत्मातिक्क्ल्येनाष्ट्रतेवैरिकारणस्य च परदारापहारादेरभावात् ।

कोई कोई पीराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि "देवैः सह अस्यन्तीति असुराः" अदितिके पुत्र आदित्य देवोंके गाथ दितिके पुत्र दैत्य यानी असुर सदा छडते रहते हैं। देवोंके साथ युद्धमें प्रहरण आदिकों को क्षेपते हैं अथवा छडाईमें मारकर देवोंको नदी आदिमें फैक देते हैं, इस कारण वे असुर हैं। प्रन्थकार कहते है कि यह उन स्मृतिकारोंका कथन युक्तिश्चरण है। क्योंकि उन देवोंके उत्पर इस प्रकार कहते पर अवर्णवाद यानी इंद्रा दोष छम बैछता है। देखों, चौथी निकायके सौधर्म आदिक

देवों या अहमिन्द्र आदि देवोंका महान् प्रमाव है। विचारे अल्पबळी अपुरकुमारोंके साथ सीधर्म आदि देवोंका कथमिप युद्ध होनेका योग नहीं लग पाता है। दूसरी बात यह है कि जैनसिद्धान्त अनुसार उन अपुरकुमारोंकी उन देवोंके या देवोंकी अपुरोंके प्रतिकृळपन करके प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि जन्मकल्याणक या समवसरण आदिमें प्रवर्तेंगे भी तो अनुकृळ होकर ही प्रवृत्ति करेंगे। वचन और कायसे तो क्या मनसे भी प्रतिकृळताको नहीं ठान सकते हैं। तीसरी बात यह है कि परखीहरण या परधनप्रमोष अथवा दूसरेके अधिकृत देशपर स्वाधिकार जमाना आदि चेष्टाये ही वैरके कारण हैं। इन देषके हेतुओंका अभाव हो जानेसे देव और अपुरोंमें युद्ध कथमिप नहीं ठनता है। मिध्याज्ञानी आप्रहीजन चाहे कैसी भी हांठी, सांची, कल्पनायें करें, प्रामाणिक विद्वानोंके यहां उन गपोडोंका कोई मूल्य या आदर नहीं है। मळे जीवोंपर हांठा कलंक लगाना कोई अच्छा थोडा ही है।

अथैतेषां भवनवासिनां दञ्चानामपि निरुक्तिसामर्थ्यादाधारविशेषप्रतिपत्तिरिति प्रदर्श्वपति।

अब महाराज यह बतलाओं कि इन दशों भी प्रकारके भवनवासी देवोंके भवन कहां हैं ! इसके उत्तरमें श्री विधानन्द स्वामी " भवनवासी " इस सामान्य संज्ञावाचक शद्भकी निरुक्तिके साम-ध्येसे हैं। हो रही विशेष आधारकी प्रतिपत्ति बन बैठती है, इस सूत्रकारके रहस्यको भळे प्रकार दिख लाये देते ह ।

दशासुरादयस्तत्र प्रोक्ता भवनवासिनः । अभोलोकगतेष्वेषां भवनेषु निवासतः ॥ १ ॥

उन देवोंमें असुरकुमार, आदिक दश भवनवासी देव भछे प्रकार कहे गये हैं (प्रतिहा)। क्योंकि नीचे अधोछोक्रमें प्राप्त हो रहे भवनोंमें इन देवोंका निवास हो रहा है (हेतु)। यों अनुमान हारा भवनवासी शहकी निरुक्तिके अर्थको साथ दिया है।

क पुनरघोलोके तथां भवनानि श्र्यंते १ रत्नमभायाः पंकबहुळभागे भवनान्यसुरकुमा-राणां, खरपृथिवीभागे चतुर्दश्योजनसङ्खेषु नागादिकुमाराणां । तत्रोपर्यधश्चैकैकस्मिन् योजन-सङ्खे तद्भवनाभावश्रवणात् । तत्र दक्षिणोत्तराधिपतीनां चमरवैरोचनादीनां भवनसंख्याविश्वेषः परिवारविभवविश्वेषश्च यथागमं मतिपत्तच्यः ।

फिर महाराज यह बताओ कि अधोलोकमें कहां उन देवोंके भवन सर्वद्वप्रतिपादित शाख द्वारा द्वात किये जाते हैं ? आचार्योकी ओरसे इसका उत्तर इस प्रकार है कि इस रत्नप्रभाके दूसरे पंकबहुल भागमें असुरकुमारोंके भवन अनादिकालीन रचे हुये हैं। और रत्नप्रभाके पहिले खरपृथिवी भागमें चौदह हजार योजन मोटे और असंख्यात योजन कुने चौड़े स्थानोंमें अवशिष्ट नकाकुमार,

सुपर्णकुमार, आदि नौ प्रकार भवनवासियोंके भवन हैं। एक छाख अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रभा पृथ्वीके जपरछे उस सौछह हजार योजन मोटे खरपृथिवी भागमें जपर नीचे एक एक हजार योजन मोटे स्थानमें उनके भवनोंका अभाव आम्नाय द्वारा सुना जाता है। उन देवोंमें दक्षिणदिशाके अधि-पति और उत्तरिदशाके अधिपति हो रहे चमर, वैरोचन आदि इन्होंके अधिकृत भवनोंकी संख्या और परिवार, विभूतिविशेषको आसोपज्ञ शाख आम्नाय अनुसार समझ छेना चाहिये। त्रिछोक-सार, राजवार्तिक आदि प्रन्थोंमें भवनवासी देवोंके सात करोड बहत्तरछाख भवनोंका निरूपण किया है। देवोंका ऐश्वर्य संख्यात, असंख्यात, योजन छम्बे चौडे विमान, चैसालय आदिका वर्णन किया गया है। युक्तिवादके प्रदर्शनका स्थल नहीं होनेसे या अन्य प्रन्थोंमें मिल जानेके कारण यहां कह देनेपर कोई विशेष अत्यधि क श्रद्धामाव नहीं उपजनेकी सम्भावना अथवा चमन्कृति-जनक कोई विशेष उपयोगिता नहीं प्रतीत होनेसे यहां प्रन्थिवस्तार नहीं किया गया है।

अब श्री उमास्वामी महाराज दितीय-निकायसम्बन्धा देवोंकी सामान्यसंज्ञा और विशेषसंज्ञाका अवधारण करनेके छिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

व्यंतराः किंनर किं पुरुष महोरगगं धर्वयक्षराक्षस भूति पिशाचाः

दूसरे व्यन्तरदेव तो किनर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गंधर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ मूत ७ और पिशाच ८ इन विशेषसंज्ञाओं को धार रहे हैं।

व्यंतरनामकर्गोदये सित विविधांतरिनवासित्वाद्यंतरा इत्यप्टविकल्पानामपि द्वितीयिनकाये देवानां सामान्यसंज्ञा । किन्नरादिनामकर्मविशेषोदयात् किन्नरादय इति विशेषसंज्ञा । किन्नराद्य कामयंत इति किन्नराः, किंपुरुषान् कामयंत इति किंपुरुषाः, पिश्चिताञ्चनात् पिशाचा इत्याद्य-न्वर्थसंज्ञायामवर्णवादयसंगात्, देवानां तथाभावासंभवात् । पिशाचानां मत्स्यादिषद्यितदर्शनात् पिश्चिताशित्वसंभव इति चेत् न, तस्याः कीडामुखनिमित्तत्वात् तेषां मानसाहारत्वात् ।

गित नामकर्मके भेद, प्रभेद, स्वरूप हो रहे किंनर, किग्युरुष, आदि विशेष नामकर्मीका अन्तरंगमें उदय होते संते और बहिरंगमें नाना प्रकारके देशान्तरोंमें निवास करनेवाले होनेसे ये देव ध्यन्तर कहे जाते हैं। दूमरी निकायमें पाये जा रहे आठों विकल्पताले भी देवोंकी यह सामान्यसंज्ञा अन्वर्ध है। मवनवासी और व्यन्तरशब्दोंकी निरुक्तिने ही उक्त देवोंके निवासस्थानोंका निर्णय हो जाता है। असंख्यात विकल्पवाले नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदरूप किनर आदि विशेष प्रकृतियोंके उदय से हो रही किंनर, किंग्युरुष, आदिक यों विशेष संज्ञायें हैं। जो पौराणिक पण्डित अपनी व्याकरण-इनाको यों बखान रहे हैं कि कुस्तित नरोंकी अभिलाषा रखते हैं, तिस कारण ये देव किंनर हैं, घोडेके

मुख समान मुख होनेसे कुसित नर हो रहे रमणकुराज देवोंकी अनेक देवदेवियोंको अभिकाषा रही आती है । " विम्बोष्ठं बहुमनुते तुरंगवक्त्रः " इत्यदि क्षोक करके माघ कविने स्वरचित शिद्यपालवध काव्यमें इसी मावको दिखलाया है । और किप्परुषोंकी कर रहे हैं, इस कारण किन्पुरुष देव कहे जाते हैं। " पिसितमाचामति या पिशितमञ्जाति " इस निरुक्ति द्वारा मांसका मक्षण करनेसे पिशाच हैं। महान सर्पका आकार धारनेसे महोरग हैं. इत्यादिक शद्धनिरुक्ति अनुसार उक्त देवोंकी अन्वर्थसंज्ञा माननेपर आचार्य कहते हैं कि बढ़े मारी अवर्णवाद होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि देवोंके तिस प्रकार किन्नरोंके साथ रमण, मांसमक्षण, सर्पचेष्टा, आदिका असम्भव है। देव स्वतः बडे भोगी और सर्वागसंदर हैं। देवोंके वैक्रियक शरीर अत्यधिक पित्रत्र हैं। अञ्चर, दर्गन्य, घणायोग्य, मनुष्योंके निकृष्ट औदारिक शरीरोंकी वे कभी अभिलाषा नहीं करते हैं। मांस. मध, सेवन नहीं करते हैं। यदि कोई यों आक्षेप करें कि पिशाचोंकी मछली. मांस. मदिरा. नैवंद्य आदिमें प्रवृत्ति हो ही दीखनेसे मांसभक्षण करना उनके सम्भव जाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि कीडाजन्य ख़खका निमित्तकारण मात्र वह प्रवृत्ति है। आहारके छिये मत्त्य, मांस, आदिमें प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि उन देवोंके मानस आहार है। मनमें आहारकी अभिलाषा उपजते ही झठ ५०ठसे अमृतोपम, सुस्थाद, रस झरफर पूर्ण तृतिको कर देता है। अर्थात्—देवींमें तीन कषायवान या जीवोंको द:ख देकर भी कीडा करनेवाठे अनेक देव हैं। म्लेच्छ या कसाइयोंके छोकरे मेंडक, चूहा, बर्र, ततेया, चिरैया, पिञ्चा, मछली, मांसखण्ड, हण्डी आदिके साथ निर्दय होकर खेळते हैं। उसीमें विशेष हर्षका अनुभव करते हैं। विद्रोह काळमें प्रतिपक्षियोंके बाळकोंको गेंद बनाकर दृष्ट खिलाडियोंका कीडा करना सुना जाता है। इस कियाम अनेक बालकोंकी मृत्युयें भी होत्तुकी हैं। किन्तु कपायवानोंको कोई चिन्ता (परवा) नहीं है। इसी प्रकार कीडा सुखके छिये अनेक मिध्यादृष्टि देव मतस्य आदिमें प्रशासि करते हैं। तात्रिक विद्वान् मत्स्य, मास, आदिको दिखाकर देवोंका परितृप्त होना मानते हुये मत्स्य, मांस, मद्य, रक्त, मळ, शव आदि द्वारा जीवोंकी मृतवाधाओंको मिटा देते हैं। ये सब कियायें कीडाप्रकृतिक देवोंके सुखनिमित्त भलें ही होजांय. किन्त आहारसामप्री यह नहीं हैं। देवोंके मांसमक्षण या मानुष शरीरके साथ रमण अथवा धातु, उपधात, सन्तानीत्पत्ति आदि स्वीकार कर छेना यह देवोंका सबसे बडा तिरस्कार है। देवोंके छिये इससे बड़ी गाली नहीं होसकती है। अतः व्यन्तरोंकी उक्त संज्ञायें या विधाता नामकर्मकी किन्नर आदि संबायें रुद्धि शहूमात्र है। धार्ल्य उतना ही घटाया जाय जितना कि युक्ति, शास, और अनुभवस अबाधित होय । शेषको विचारशाठी विद्वान छात मारकर फेंक देते हैं ।

क पुनर्च्यतराणां विविधान्यंतराण्यवकाश्चरथानाख्यानि यतो निरुक्तिसामर्थ्यदितेषामा-भारमतिपाचिरित्याइ । कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराजजी, फिर बताओं कि इन व्यन्तर देवोंके नाना प्रकारक देशान्तरवर्षी अवकाशस्थान नामके आवास और नगर कहां कहां हैं ! जिससे कि व्यन्तर शम्दकी निरुक्तिके सामध्येसे इन किन्नरादि देवोंके आधारकी प्रतिपात्ति हो सके ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विचानन्द आचार्य समाधान करते हुथे अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

अष्टभेदा विनिर्दिष्टा न्यन्तराः किन्नरादयः । विविधान्यंतराण्येषामधोमध्यमलोकयोः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज करके किनर, आदिक आठ मेदवाले न्यन्तरदेव तो विशेषरूपसे नाम माजतया उदिष्ट कर दिये हैं। इन न्यन्तरोंके अधोलोक और मध्यलोकमें अनेक प्रकार अन्तर यानी मवनपुर, आवास, और भवन, नामके असंख्यात निलय है। द्वीप या समुद्रमें होनेवाले मध्यमाग प्राप्त स्थानोंको भवनपुर कहते हैं। हद, पर्वत, वृक्षोंमें बनें हुये ऊर्ध्वगत स्थानोंको आवास कहते हैं, चित्रा, पृथिवीमें बने हुये अधःप्राप्त स्थानोंको भवन कहते हैं।

अघोळोके तावदीपरिष्टे खरपृथिवीभागे किंनरादीनामष्टभेदानां व्यंतराणां दक्षिणाधि-पतीनां किंपुरुवादीनां चोत्तराधिपतीनामसंख्येयनगरशतसहस्राणि श्रूयंते, मध्यलोके च द्वीपादिसग्रुद्रदेश्वप्रामनगरिकचतुष्कचतुरस्रगृहांगगरथ्याजलाशयोधानदेवकुलादीन्यावासशत-सहस्राणामसंख्येयानि तेषामाख्यायंते । तद्विशेषसंख्यापरिवारिवभूतिविशेषो यथागमं प्रति-पत्तक्यः पूर्ववद् ।

अधोलोकमें रलप्रमाके सोलह हजार योजन मोटे उपिरम प्रदेश सम्बन्धी खरपृथिती भागमें किनर, सत्पुरुष आदिक आठ मेदवाले दक्षिण दिशाके अधिपति हो रहे व्यन्तरोंके निवासस्थान बने हुये हैं तथा खरपृथिवीभागमें ही उत्तरदिशाके अधिपति किम्पुरुष, महापुरुष, आदि व्यन्तर इन्द्रोंके असंस्थाते छाख नगर विधमान हैं, ये आप्तोक्त शाखोंद्वारा जाने जा रहे हैं। अर्थात्—इस जम्बूद्वीपसे तिरखे असंस्थाते छाख नगर विधमान हैं, ये आप्तोक्त शाखोंद्वारा जाने जा रहे हैं। अर्थात्—इस जम्बूद्वीपसे तिरखे असंस्थाते छीप समुद्रोंका उद्घंचन कर परली ओरके द्वीपसमुद्रोंमें ऊपरके खरपृथिवी भागमें उत्तरदिशाकी ओर किनर, सत्पुरुष आदि सात दक्षिण इन्द्रोंके असंस्थाते छाख नगर आदि अनादिकालसे विधमान हैं और इसी प्रकार उत्तरदिशामें किम्पुरुष आदि सात व्यन्तरेन्द्रोंके उत्तने ही असंस्थाते नगर रचे हुये हैं। हां, राक्षसजातीय व्यन्तरोंके आवास तो रत्नप्रभाके चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुछ भागमें असंस्थाते छाख नगर बने हुये हैं और उत्तरदिशामें रत्नप्रभाके पंकबहुछ भागमें राक्षसेन्द्र दक्षिणदिशाधिपतिके असंस्थाते छाख नगर शाखद्वारा वर्णित हो रहे हैं। सरपृथिवी भागमें उपर नीचे एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंस्थाते योजन कोड स्थानोंमें सात प्रकारके व्यन्तर और नी प्रकार मोटे और असंस्थाते योजन स्थानोंमें सात प्रकारके व्यन्तर और नी प्रकार

भवनवासियोंक आवास बने हये हैं। शेष बचे हये असरक्सार और राक्षसेंके आवास तो पंकबहरू-भागमें हैं। तीसरे अन्बह्रलभागमें तीस लाख नरक हैं। तथा असंख्यात योजन लम्बे, चीडे. और ऊंचाईमें मेरुसम एक छाख चालीस योजन मध्यलोकमें मी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, प्राम, नगर, तीन ओर पथवाला त्रिक, चार ओर मार्ग जानेवाले चौक, चौकीर प्रान्त, घर, आंगन, गढी, कुंचा, सरोवर, उद्यान (बगीचा) देवस्थान, गुरुकुळ, वसतिका, शून्यगृह, प्राचीन खण्डहर आदिक असंख्याते लाख उन व्यन्तरोंके आवासोंको शाकोंमें वर्णन किया है। अर्थात—द्वीप, समद्र, आदिमें असंख्याते अकृत्रिम स्थान, अनादिसे, अनन्त, कालतक रचे हुये हैं । हां, गली, कुंचे, सरोवर, उप-वन, खण्डहर, शून्यगृह आदिमें भी क्रीडातत्पर व्यन्तरोंके अनेक कृत्रिमस्थान नियंत होरहे है। भाजकर भी अनेक स्थलेंपर व्यन्तरदेवींका आवास या उपद्रव होरहा, कचित् अनुप्रह हुआ सना जाता है । वह बहुमाग सत्य है । हां, वंचक धूर्तपुरुषोंने जो मायाजाल रच रक्खा है अथवा अनेक बालक, स्त्री, पञ्चओंमें मृतवाधा, (खोर) की आकुलताओंकी जो भरमार छारही है, उसमें तथ्यांश अत्यलप है। जगत्में भोली भाली जनताको ठगनेके लिय स्थाने तांत्रिक, मांत्रिक, पुरुषोंने न्यर्थका प्रपंच अधिकतर फैला रखा है। अखण्ड सम्यग्दर्शन सूर्यके विना मिथ्यात्व मोहअंधकारका मका विनाश कैसे होसकता है ! । उन नगरोंकी विशेष विशेष संख्यायें तथा व्यन्तरेग्द्रोंके परिवार बा विभातिविशेषकी आगम अनुसार प्रतिपत्ति कर छेनी चाहिये. जैसे कि पूर्वमें भवनवासियोंके भवनसंख्या परिवार, विभूति, आदिको आगम अनुसार समझ छेना स्वीकार कर चुके हो। त्रिछोकसार आदि प्रन्थोंमें इनका विशेष वर्णन मिळता है। भवनवासियोंके सात करोड बहत्तर ळाख भवनोंमें एक एक में असंख्याते देव निवास करते हैं। किन्तु व्यन्तरोंके असंख्याते नगरोंमें संख्याते देव या किसी किसीमें असंद्र्याते देव भी बस रहे हैं। " तिण्णिसय जोयणाणं कदिहिदपदरस्स संखभागिमेदे। भौमाणं जिणगेहे गणणातीदे णमंसाभे '' इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार उक्तव्यनि निकलती है। आवास स्थानीको समझनेके लिये " विंतरणिलयतियाणि य भनणपुरानासभनणणामाणि, दीवसमुद्दे दहागिरितरुमि चित्तवाणिम्ह्यमे । उद्ग्या आवासा अवीगया त्रितराण भवणाणि, भवणपुराणि य माञ्झमभागगया इदि तियं णिळ्यं ॥ चित्तवइराद् जावय मेरुदयं तिरियलोयवित्यारं, भोम्मा ह्वांति भवणे भवणपुरावासगे जोगी ॥ ये तीन गाथायें उपयोगी हैं । अतीन्द्रिय ज्ञानीकी प्रत्यक्ष होरहे सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, पदार्थीमें भी यद्यपि कतिपय युक्तियोंका प्रवेश है, फिर भी प्रतिवादियोंका विशेष आक्षेप नहीं प्रवर्त-नके कारण और अन्य प्रन्थोंमें विस्तृत कथन होनेस यहां सविस्तर निरूपण नहीं किया गया है। अत्यधिक मनोहर दश्योंका कितना ही अधिक वर्णन किया जाय, जिनेन्द्रगुणकीर्तनके समान वह अत्यस्प ही गिना जायगा । अतः प्रथम हीसे संकोचपर संतोष कर छेना अच्छा जचता है ।

अब तीसरे निकायकी सामान्यसंबाका निर्देश करनेके क्रिये श्री उमास्वामी महाराज वाशिक सूत्रको कार्यो हैं।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च॥

जिन देवोंके निवासत्यान हो रहे विमानोंका स्वभाव चमकते रहना है या शरीर, आभरण, शादिमें चमक, दमक, जिनकी अभीष्ट हो रही है, वे देव ज्योतिषक इस सामान्यसंज्ञाकी धारते हुये सूर्य, चन्द्रमा, और प्रष्ठ, नक्षत्र, प्रक्षिण प्रतारक इन पांच विशेषसंज्ञाओं को प्राप्त हो रहे हैं। यद्यपि विमानोंके नाम सूर्य, चन्द्रमा, आदिक हैं । तथापि उनमें निवास करनेवाले देवोंको भी " ताल्यात्त-च्छन्यासिद्धिः " उसमें ठहरना होनेके कारण इस आधेयको भी उस आधारवाचक शब्द करके उक्त कर दिया जाता है। अर्थात्-अयोतिष्करेशों के गण सूर्य १ च इसा २ प्रह ३ नक्षत्र ४ प्रकीर्णक-तारक ५ इन पांच विशेषजातियोंमें विभक्त हो रहे हैं। इन्द्रस्वरूप एक चन्द्रमा सम्बन्धी विमानोंके परिवारका परिमाण यों है कि एक चन्द्रमाके साथ एक १ सूर्य प्रतीन्द्र है, अञ्चामी ८८ प्रह विमान हैं। अद्वाईस २८ नक्षत्र विमानों के पिण्ड हैं। यानी कृति का नक्षत्र में ६ छड़ तारे है, रोहिणीकी पांच तारे हैं। मृगशीर्षमें तीन हैं, इत्यादि तथा छियासठ हजार नौसी पिचत्तर कोटाकीटी ६६९७५०००००००००००० तारक विमान हैं । इस प्रकार मध्यलोक्तमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा है। उन्हींके अनुसार प्रद्र आदिकोंकी संख्या लगा लेना। ढाई द्वीपमें एक एक चन्द्र-माका उक्त परिवार नियत है। अन्यत्र आगम अनुसार समझ छेना । एक एक उये।तिष्क विमानमें सैकडों, इजारों, यों संख्याते देव निवास करते हैं । सम्पूर्ण देवोंनें ज्योतिषियोंकी संख्या बहुत बडी हुई है। दिन या रातके समय नभोमण्डलमें जो चमकते हुये पदार्थ दीख रहे हैं, वे देवीके निवास स्थान हो रहे विमान है। स्वयं देव नहीं हैं। बीचरेंसे काटे गये आये छड़ है समान ये विमान निचले परिदृष्ट भागमें द्वाळ प्रदेशवाले हैं। और ऊपर सपाट, चौरस, भागमे ज्योतिष्क देवोंके प्रासाद उनमें बने हुये हैं। केवल प्रसिद्ध हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, ही ज्योतिष्म नहीं हैं। किन्तु प्रह, नक्षत्र, और उछाले हुये पुष्पोंके समान अनियत स्थानोंपर विखर रहे अनादिनिधन तारक भी उथीतिषक हैं। अथवा केवल प्रह आदिक ही ज्योतिषक नहीं हैं। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, भी ज्योतिषकों में ही परिग-णित है। यों सन्नोक्त चकार द्वारा परस्परमें ध्मचय कर लिया जाता है।

ज्योतीं वि एव ज्योतिष्काः को वा यावादेरिति स्वार्थिकः कः ज्योतिः शहस्य यावा-दिषु पाठात् । तथाभिधानदर्शनात् मकृतिर्छिगातिशृत्तिः कृटीरः समीर इति यथा ।

धोतन या कान्तिस्वरूप ज्योतिः हैं। ज्योतिष्क हैं। ज्योतिषि एव ज्योतिष्काः चमक रहीं अनेक ज्योतियां ही ज्योतिष्क हैं। यो नयुंसकिंग ज्योतिः शद्धके बहुवचनान्त रूपवालें विग्रह करके स्वार्थमें क प्रत्यय कर ज्योतिष्क शद्ध बना लिया है। " को या यात्रादेः" इस सूत्र द्वारा याव, मणि, आदि अनेक शद्धवाले यावादि गणमें ज्योतिष शद्धका पाठ होनेसे स्वार्थको ही कहनेवाले क प्रस्थयको लकर ज्योतिष्क सद्ध साधु बना जिया जाता है। कोई अन्धेप करता है कि स्वार्थक

प्रत्ययबाळे पदका लिंग भी प्रकृतिके अनुसार होना चाहिये । जैसे सिंह एव सिंहकः, मृत् एव मृत्तिका, कमैंव कार्मण, यहां प्रकृति के लिंग अनुसार ही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदोंका भी लिंग वही है। उसी प्रकार ज्योतिष शह नपुंसक्रिंग है। स्वार्थमें क प्रत्यय करनेपर भी ज्योतिष्क शह नपुंसक्रिंग ही बना रहेगा, किन्तु यहां ज्योतिष्काः ऐसा पुर्छिग शद्धस्वरूप सुना जा रहा है। सो क्यों ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते है कि तिस प्रकार छिंगका अतिक्रमण करते हुये भी शहू व्यवहार हो रहा देखा जाता है। स्वार्थिक प्रत्ययवाले पदका कहीं कहीं प्रकृतिके लिंगसे अतिक्रमण हो जाना कहा गया है । अतः ज्योतिष्क शद्धमें भी ज्योतिष् प्रकृतिक लिंग नपुंसकका उल्लंघन होकर पुर्लिग देव या निकाय शद्भकी विशेषणताको धार रहा ज्योतिष्कशद्ध पुर्लिंग हो गया है। जिस प्रकार कि " कुटी-शमीञ्चण्डाम्यो रः " इस सूत्र करके कुटीर शमीर आदि शब्द बना लिये जाते हैं । हस्या कुटी कुटीरः. हस्वा शमी शभीर:, छोटी कुटिया (झोंपडी) कुटीर है। छोटी शीशोंका पेड शमीर है। यहां बीलिंग कुटी और शमी शहरो स्वार्थमें र प्रत्यय कर पुर्लिग कुटीर, शमीर, शह बना लिये गये **हैं।** कुटी या शमीका ह्रस्वपना उसका निजशरीर ही है । अतः हस्य अर्थको कह रहा र प्रत्यय अवयवींका छोटापन होते हुये भी स्वार्थको है। कह रहा है। किसी पुरुषके एक अंगुळी कमती होय या बढती होय, एतायता वह विशिष्ट मंत्रसम्बन्धी विधियोंमें भले हैं। उपयोगी नहीं समझा जाय, किन्तु उपांगदीन या उपामआविक पुरुषका निज डील कोई विभिन्न नहीं हो जाता है। इसी प्रकार कृत एव कृत कः ताञ्च एव ताञ्च कः यहा शुद्ध प्रकृति का जो अर्थ है, वही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदका है। न्यून, अविक, नदीं है। किन्तु हस्त्रा कुडी जुडीरः, प्रशस्ता मृत् मृत्स्ना, कुस्सितोऽस्त्रः अश्वनः, लघुनमो लविष्ठः, अंगु श्रेय आगुलिकः, यहा अवपर्वोके न्यून, अविक, प्रकृष्ट, निकृष्ट या सादस्य होते हुये भी सार्थिकानं का कोई विशेष नहीं है। अतः कुटीर या देव एव देवता, ओषीय-रेव औषवम् , शर्तरेव शार्वरम् , यहा भी कारणवश हो रही छिंगकी आविवृत्तिके समान ज्योतिषक । शद्वमें छिंग का परिनर्तन हो जाता है । यों शद्वशास्त्र के साथ अर्थशास्त्रका सम्बन्ध समझते हये न्याय प्राप्त अर्थका प्रहण कर लिया करो ।

सूर्याचन्द्रमसा इत्यत्रानङ् देवताद्वंद्वत्रतेः । ग्रहनक्षत्रमकीर्णकतारका इत्यत्र नानङ् । पुनर्दन्द्रग्रहणात्तस्येष्टित्रिपये व्यवस्थानादश्वरादिवत् किनरादिवच ।

सूर्यक्ष चन्द्रमाश्च इति सूर्याचन्द्रमसी इस प्रकार द्वन्द्र होनेपर यहां देवता वाचक शद्धोंकी दन्द्रसमास नामक वृत्ति हो जानेते "देवता दन्द्रे " इस सूत्रकरके आनक् हो जाता है। देवता होनेपर भी प्रहाश्च, नक्षत्राणि च, प्रकीर्णकतारकाश्च, यें। दन्द्र करनेपर बन गये प्रइनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाः यहां आनक् प्रत्यय नहीं हो पाता है। क्योंकि " आनक् दन्द्रे " इस सूत्रसे दन्द्र इम शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती थी। किन्तु व्याकरण सूत्रकारने "देवता दन्द्रे " इस सूत्रमें पुनः दन्द्रप्रहण किया है। वह दन्द्र पद व्यर्थ होक्कर बापन करता है कि अभीष्ट विषयोंमें यह व्यवस्था है, जैसे कि

भार, नाग, विद्युत् इत्यादि सूत्रमें और किनर किम्पुरुष आदि सूत्रमें दवता वाचक पदोंका दन्द्र समास होनेपर भी आनक् नहीं किया गया है। इस कारण पुनः दन्द्रपदके प्रहण करनेसे उस भानक्की इह हो रहे विषयमें व्यवस्था है। भट्टोजि दीक्षितने भी " पुनर्दन्द्रप्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिप्रहार्य " कहकर इसी अर्थको व्यक्त किया है।

कथं ज्योतिष्काः पंचविकल्पाः सिद्धा इत्याइ ।

यहा कोई तर्क उठाता ै कि सूत्रमें कहे जा चुके पांच विकल्पवाले ज्योतिष्कदेव भला किस प्रकार सिद्ध हैं ? सूर्य, चन्द्रमा, आदि विमान तो प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीत हो रहे हैं । किन्तु उनमें रहनेवाले ज्योतिष्क निकायके देवोंका अस्मादश पुरुषोंको प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसी दशामें देवोंकी सिद्धि किस प्रमाणसे निर्णीत कर ली जाय ? वताओं। यों वैंडी तर्कके उपस्थित होनेपर श्री विद्यानन्द सामी वात्तिक द्वारा इस प्रकार वक्ष्यमाण समाधान वचनको कहते हैं।

ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः सूर्याद्या ज्योतिराश्रिताः । नामकर्भवशाचाद्यक् संज्ञासामान्यभेदतः ॥ १ ॥

दिन या रातको आकाशमें चमक रहे सूर्य आदिक पांच प्रकारके विमान देखे गये हैं। विमान और विमानोंमें रहनेवाछे देव दोनों ही ज्योतिके आश्रय हो रहे ज्योतिष्क निर्णीत किये जाते हैं। तिस तिस जातिके उदयापन नामकर्मकी अधीनतासे उन देवोंकी सामान्य और विशेषरूप करके ज्योतिष्क और सूर्य आदि तैसीं संज्ञायें हो जाती हैं।

ज्योतिष्कनामकर्मोद्यं सित तदाश्रयत्वाज्ज्योतिष्का इति सामान्यतस्तेषां संज्ञा सूर्या-दिनामकर्मिविशेषोदयात्सूर्याद्या इति विशेषसंज्ञाः । त एते पंचधापि दृष्टाः प्रत्यक्षज्ञानिभिः साभात्कृतास्तदुपदेशाविसंवादान्यथानुपपत्तः ।

गातकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ज्योतिष्क संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते उस ज्योतिः (कान्ति) का आश्रय होनेसे देव ज्योतिष्क हैं। इस प्रकार उन देवोंकी ज्योतिष्क यह सामान्यक्रपसे संज्ञा हो रही है। हां, जीवविषाकी उस देवगित प्रकृति के उत्तरोत्तर भेद, प्रभेद, हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदि विशेष नामकर्मोंके उदयसे विशेषदेवोंकी सूर्य, चन्द्रमा, आदिक ये विशेषसंज्ञायें अनादिकाळसे प्रवृत्त रही हैं। जैसे कि मनुष्यगतिका उसके विशेष कहे गये आर्य, म्लेच्ल, भोगभूमि, आदि पौद्रालिक प्रकृतियोंका विपाक होनेपर हम, तम, आदि जीव मनुष्य या आर्य आदि कहे जा रहे हैं, उसी प्रकार अन्तरंग कारणोंकी मित्तिपर ज्योतिष्कदेव या सूर्य आदिक देवोंकी व्यवस्थायें स्युक्तिक प्रतिभासित हो जाती हैं। अनन्तानन्त सूक्ष्मविषयोंका केवल्ज्ञानियोंने प्रत्यक्ष किया है। हां, उनके उपदिष्ट अन्तरेहारा साधारणवानी श्रदाल जीव भी त्रिविष्रकृष्ट पदार्थोंका श्रुतज्ञान कर लेते हैं।

वे प्रसिद्ध हो रहे पांचों भी प्रकारके ये प्रकरण प्राप्त ज्योतिषी देव तो अवधि, मन:पर्यय, और केवड इन प्रत्यक्षज्ञानोंको धारनेवाले अतीन्द्रियदर्शी प्रत्यक्षज्ञानियोंकरके देखे जा चुके हैं। यानी मुख्यप्रत्यक्ष श्रानोंकरके वे देव विशदरूपेण साक्षातकार किये जा चुके हैं। क्योंकि उन प्रत्यक्षह्यानियोंके उपदेशका अविसम्बादीपना (निर्बाधपना) अन्यथा यानी किसी प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा विषयोका प्रत्यक्ष किये जा चुके विना नहीं बन सकता है। अर्थात् -वर्तमानमें सूर्य, चन्द्र, प्रहणव्यवस्था, विमानोंकी गति, प्रहोंका बारह राशियोंपर संक्रमण आदिको ज्योतिष भिषयके पण्डित ठीक ठीक बता देते हैं। इस दिशासे इतना टेडा, नौकीला, अर्धप्राप्त, या खप्राप्त, इतनी देरतक, आदि बखाना गया सूर्यप्रहण पहेगा. या चन्द्रप्रहण पढेगा. अमृक दिन शक्त अस्त हो जायगा. फलाने दिन बृहस्पतिका उदय होगा. इत्यादि व्यवस्थाओंको यद्यपि ज्योतिषशास्त्र निर्णात कर देता है. फिर भी उन प्रत्यक्षज्ञानीको धन्य है, जिसने अनादि, अनन्त, काळतक होनेवाळी ज्योतिष्क विमानीकी परिणतियोंका प्रत्यक्ष अक्लोकन कर तद्तुसार अव्यभिचरित नियमोंको अ्योतिषशाखोंमें गूंध दिया है। प्रत्यक्षज्ञानीको सिद्ध करनेके छिए यह भी बढ़ी अच्छी एक युक्ति है। अतः ज्योतिष्क विमान और उनके निवासी देवोंका प्रत्यक्षपूर्वक और तद्वपदिष्ट आगम प्रमाणोंद्वारा निर्णय कर लिया जाता है। रूपा और रूपवान पहलके साथ सम्बद्ध हो रहे जीवका यथायोग्य प्रत्यक्ष करनेवाले अवधिज्ञानियों और मन:पर्यय ज्ञानियोंको भी देवोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि मनुष्य या तिर्थेच जीवोंके जीवित शरीरोंका प्रत्यक्ष होकर उन उन आत्माओंका भी उपचारसे प्रत्यक्ष हो जाना अभीष्ट है तब तो देवदेवियोंको भी परस्परमें अथवा स्वयंको भी स्वकीय वैक्रियिकशरीरोंका इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर छिया जाय, कोई क्षति नहीं पढ़ेगी। देव चाहे तो अपने वैक्रियिक शरीरका मनुष्य, तिंथेच या नारिक्रयोंको भी प्रत्यक्ष करा सकते हैं । विप्रकृष्ट पदार्थों की सिद्धि करने का उपाय इतना क्या थोड़ा है ! अलम् ।

सामान्यतोऽनुमेयाश्र छद्मस्थानां विशेषतः । परमागमसंगम्या इति नादृष्टकल्पना ॥ २ ॥

अवींग्दर्शी छप्रस्थ जीवोंके अनुमान प्रमाण द्वारा वे उपोतिष्क देव सामान्य रूपसे जानने योग्य हैं। और आयुः, शरीर, छेश्या, प्रमाव, आधारस्थान, आदि विशेष रूपोंसे तो ज्योतिषी देवोंको सर्व-क्रोक्त परम आगमप्रमाण द्वारा भछे प्रकार समझ छेना चाहिये। इस कारण सूत्रकार द्वारा कहे गये ज्योतिष्क देवोंकी व्यवस्था यह अदृष्ट या अप्रमाणिक पदार्थको कल्पना नहीं है। छप्रस्थ जीवोंके प्रस्थक्ष या अनुमान प्रमाण विचारे अल्प पदार्थीमें ही प्रवर्तते हैं। इनसे अनन्तानन्त गुना प्रमेय अत-क्राम या केवछ्डान द्वारा निर्णय करनेके छिये अवाशिष्ठ पदा रहता है। क्रूपमण्डूकबुदिसे पदार्थोंका निर्णय कहीं हो पाता है। समुद्रहंसकीसी उद्धर बुद्धियोंसे जिलेक, त्रिकाक्यरी कल्पून पदार्थ परिकात कर किये जाते हैं। हां, अप्रामाणिक, विसम्बादी उपदेशोंसे सदा बचते रहना चाहिये। नहीं तो अज्ञानकृपमें पतन होना अनिवार्य समझो।

अब श्री उमास्वामी महाराज विशेषतया ज्योतिष्क विमानोंकी और विमानोंके साथ हो रही ज्योतिष्क देवोकी गतिक विशेषका प्रतिपादन करनेके क्रिये प्रवचनैकदेश अप्रिम सूचका उचारण करते हैं।

मेस्प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३॥

दाई द्रीप और दो समुदों के समुदित स्थानस्यरूप पैंताछीस छाख योजन छन्ने, चौडे, गोछ मनुष्य छोकमें (के ऊपर) ज्योतिष्क देव सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये, विश्वान्ति छिये विना सतत अमणरूप गतिको करते रहते हैं। आधार और आध्यमें एकताका उपचार कर छेनेसे ज्योतिष्क देवों करके आरूढ हो रहे विमान अमण करते रहते हैं, यों सूत्रका अर्थ कर छेना चाहिये।

ज्योतिष्का इत्यनुवर्वते । चुल्लोक इति किमर्थमित्यावेदयति ।

पूर्वस्त्रसे " ज्योतिष्ताः " इस पदकी अनुद्वाति कर की जाती है। अतः इस स्त्रका यह अर्थ हो जाता है कि मनुष्यकोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे नित्य गतिवाले ज्योतिष्क देव हैं। कोई विनीत श्रोता प्रश्न करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रमें " चूळोके " इस प्रकार अधिकरण वाचकपद किस प्रयोजनकी सिद्धिके किय प्रयुक्त किया है र ऐसी जिह्नासा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी शिष्य प्रबोधनार्थ अप्रिमवार्तिकका आवेदन कर रहे हैं।

निरुक्त्याव।सभेदस्य पूर्ववद्गत्यभावतः । ते नृलोक इति प्रोक्तमावासप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

पूर्वकी दो निकार्ये हो रहे भवनवासी और व्यन्तरोके समान शब्दनिरुक्ति द्वारा ज्योतिषियोंके विशेष आवास स्थानोंकी इति नहीं हो सकती हैं। अतः ज्योतिषियोंके आवासकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकारने '' नृलोके '' ऐसा अधिकरण ठीक कहा है। अर्थात्—भेरुकी प्रदक्षिणा देते हुये नित्यगतिको कर रहे वे ज्योतिष्क देव मनुष्यलोकमें ही हैं। यद्यापे नृलोकसे बाहर भी असंख्याते ज्योतिष्क हैं। किन्तु वे नित्यगतिमान् नहीं होते हुये स्थिर हैं। इस कारण नित्यगतिवाले ज्योतिष्क और नृलोके इन दोनों पदोंमें एवकार लगाकर अनिष्ट अर्थकी ज्यावृत्ति कर लेनी चाहिये। एवकार तो विना कहे ही बीचमें कृद पडता है।

न हि ज्योतिष्काणां निरुक्तयावासमतिपत्तिर्भवनवास्यादीनामिवास्ति यतो हुस्रोक इत्यावसम्बद्धियस्यर्थे बोच्यते ६ पुनर्हुळोके तेषामावासाः श्रृयंते ? मयनवासी आदि देवों के शह निरुक्ति करके जैसे निवासस्थानों की प्रतिपत्ति हो जाती है, अर्थात् मवनों में निवास करने की टेव रखते हुये भवनवासी हैं और विविध देशान्तरों में अवकाश पा रहे व्यन्तर हैं, विमानों में निवास कर रहे वैमानिक हैं, इस प्रकार क्योतिष्क देवों के निवास स्थानों की परिष्ठिति केवल " क्योतिष्क " शब्द की निरुक्ति कर देने से नहीं हो पाती है जिससे कि ज्योतिषियों के निवासस्थानों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार द्वारा " मुलोके " यह नहीं कहा जाय ! क्योतिष्क शक्ष तो केवल धुति, प्रकाश, या व्यक्तना मात्र स्वभावों का प्रतिपादन कर रहा है। किन्तु यहां क्योतिष्यों के आवासका परिज्ञान कराना अत्यावश्यक है। कोई नम्न श्रोता पूछता है कि मनुष्यकों के उन ज्योतिष्कों के नियत हो रहे आवासस्थान फिर कहां शास्त द्वारा ज्ञात किये जा रहे हैं! बताओ, ऐसी बुमुत्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकों को कहते हैं।

अस्मात्समाद्धराभागादूर्धं तेषां प्रकाशिताः । आवासाः क्रमशः सर्वज्योतिषां विश्ववेदिभिः ॥ २ ॥

जगद्वर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् वेदन करनेवाले केवलज्ञानी महाराजने वादी, प्रतिवादी या वक्ता श्रोताको पश्टिष्ट हो रही इस रत्नप्रभा भूमिके समतळ भागसे ऊपर स्थानोंमें उन सम्पर्ण ज्योतिषी देवोंके आवासस्थानोंको यों वस्यमाण प्रकार करके क्रम क्रमसे प्रकाशित किया है। अर्थात् - छट्ठे दःषमा काल के अन्तमें चलनेवाले संवर्तक नामा वायु करके इस आर्यखण्डके गिरि, वृक्ष, भूप्रदेश ये सब कार्य नष्ट श्रष्ट हो जाते हैं। एक हजार योजन नीचे तक भूमि चक्तनाच्र हो जाती है। ऐसी दशामें नाप बिगड जाता है। अतः समतंछ भूभागसे यानी सुदर्शन मेरुकी जडसे ठीक एक हजार योजन ऊपर जम रही मध्यलोक व्यापिनी इस निधमान इत्य-मान चित्राभूमिके ऊपर तळसे योजनोंको नापकर उयोतिष्क विमानोंका विन्यास हो रहा समझ छेना चाहिये तथा छवणसमुद्रका जल इस चित्रा भूमिके समतलसे जलहानि दशामें ग्यारह हजार और जलवृद्धि दशामें सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ रहा है, लवणसमुद सम्बन्धी सूर्य, चन्द्रमा, आदि तो जलमें ही धूमते रहते हैं। कोई आतुर पण्डित जलके उपरिमतलमें स्योतिषियों को ऊंचा नहीं नाप बैठे इसळिए पृथिवीके "समभागसे ऊपर" यह प्रन्थ कारका बाक्य सामिप्राय है। गणित शास्त्रज्ञोंको एक एक अंगुल यहांतक कि एक एक प्रदेश, एवं शून्य बिन्दु आदि तकका लक्ष्य रखना पढता है। इस प्रन्थको धनने समझनेवाले पदि गृहें की छतपर बैठे हुये हों या कई सीढियां चढकर ऊपरके स्थानों में बैठे हुये हैं अथवा काल्दोबसे हुये कित्राम् मिक्र नीचे ऊंचे प्रदेशींपर विराख रहे होंय ती रेसी दशामें नाप करनेवाले क्षेक क्षेत्र नाप नहीं कर पायेंगे । अतः गणिसहों का सूक्ष करन कराने में क्रिये घराके समत्तक भागको श्रुप अपादान नियत कर दिया है। वजामूमिके उपरिवमानमें अक एक क्ष्मार योजन जैना निजासा कपराज समसज है। बस, बहां ही जमनार बैठ जाहरी है

योजनानां शतान्यष्टौ हीनानि दशयोजनैः।

उत्पत्य तारकास्तावबरंत्यध इति श्रुतिः॥ ३॥

ततः सूर्या दशोत्पत्य योजनानि महाप्रभाः।

ततश्रंद्रमसोशीतिं भानि त्रीणि ततस्रयः॥ ४॥

त्रीणि त्रीणि बुधाः शुका गुरवश्रोपरि कमात्।

चत्वारोंगारकास्तद्रबत्वारि च शनैश्रराः॥ ५॥

इस चित्रा प्रथिवीसे देश योजनों करके हीन होरहे आठसी यानी सातसी नवी ७९० योज-मोंके ऊपर उछल कर आकारा मण्डलमें सबसे पहिले तो तारे गमन कर रहे देखे जाते हैं। जो कि सम्पर्ण ज्योतिषियोंके निचले भागमें विचरण करते हैं, ऐसा शास्त्रशास्य है। उन तारोंसे दश योजन उपर उक्क कर देखा जाय तो महती प्रभाको धार रहे सूर्यविमान चर रहे हैं। उन सूर्यविमानोंसे अस्सी योजन ऊपर उन्नल कर वर्तरहे किनी परार्थ की देखा जाय तो उन आकाश प्रदेशों में चन्द्रमा गमन कर रहे प्रतीत होते हैं। उन चंद्रियमानोंसे तीन योजन ऊपर अञ्चिनी आदि नक्षत्र विमान भागण कर रहे हैं। उन नक्षत्रोंसे तीन, तीन, योजन ऊपर उछ्छ कर कमसे सुध. शक और बृहस्पति प्रहोंके विमान रचित हैं। उसी प्रकार यानी उस गुरुसे चार योजन ऊपर उक्क कर मंग्रल विमान है। उससे चार योजन ऊपर चल कर शनिश्वर प्रह चर रहे हैं। त्रिलोकसारमें " णउदुत्तर सत्तसथे दस सीदी चदुदुगे तियच उक्के, तारिणसितिरिक्खबुद्दा सुक्कगुरुंगारमंदगदी " ऐसा पाठ है। और राजवार्त्तिकमें " णत्रदुत्तर सत्तत्रया दससीदीबदुतिगं च दुगचदुक्कं, तारारविससि-रिक्खा बहुभग्गवगुरुअंगिरारसणी " इस गाथा हो उक्तं च कहकर उच्दृत किया गया है। सर्वार्थसिदिः, त्रिलोकसार और श्रुतसागरीका मत एकसा बैठ जाता है। किन्तु श्री विद्यानन्द स्वामीका मन्तव्य राज-बार्तिकके कथित अनुसार है। यानी राजवार्तिकमें चन्द्रमाके तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका अमण माना है. जब कि त्रिछोकसारमें चन्द्रमाओं के चार योजन ऊपर नक्षत्रोंका भ्रमण माना गया है। इसी प्रकार अन्य बुध आदिमें अन्तर समझ छेना चाहिये । यों आम्नायके भेदका जैसे अन्यत्र निवारण कर किया जाता है उसी प्रकार यहां भी प्रन्थकर्ताओं के गुरुपरिपाटी द्वारा स्मरण रहे यथायोग्य प्रमेय अनुसार आगमवाक्योंका श्रदान कर छेना चाहिये तिसही कारण प्रन्थकार यहां आगमप्रमाणकी प्रधानता अनुसार "श्राति " ऐसा शद्ध छिल रहे हैं। एकसी दश योजनोंकी मुटाई अविरुद्ध है। जिल स्थानीपर ज्योतिक मण्डल स्थिर है वहां भी उक्त क्रमसे ही रचनायुक्त होरहा है और मसुन्य लोकमें भ्रमण कर रहा भी इसी उक्त विन्यासको धार रहा है।

चरंति तादशादृष्टविशेषवशवर्तिनः । स्वभावाद्या तथानादिनिधनादुद्रव्यरूपतः ॥ ६ ॥

सर्य आदि विमानोंमें निवास कर रहे ज्योतिष्क देव तिस जातिक अदृष्टविशेषके पराधीन वर्त रहे सन्ते अमण कर रहे हैं। अधवा अनादि, अनन्त द्रव्य रूपसे तिस प्रकारका स्वभाव होनेसे मनुष्य छोकमें वे विचरते रहते हैं तथा बाहर स्थित बने रहते हैं। परिशेषमें सबसे अच्छा सिद्धान्त यही है कि जीवन, मरण, चलना, ठहरना, प्रथिवीकी स्थिरता, वायुकी चंचलता, गुरुपदार्थका अधःपतन-स्यभाव, छोककी स्थिरता, आकाशकी व्यापकता, काळद्रव्यका अणुपरिमाण, जीवोंका चेतनत्व, पृद्रख इव्यक्ता जढल, नरकोंमें दु:खारेपादक कारणोंका सद्भाव, स्वर्गीमें सुखारेपादक सामग्री, मुक्ति अवस्थामें अनन्त सुख, ये व्यवस्थायें अनादिनिधन द्रव्यके निजगांठके स्वभावों अनुसार व्यवस्थित हैं । द्वलोकमें ज्योतिषियोंका भ्रमण और नलोकसे बाहर असंख्याते उयोतिषियोंका वहांके वहीं बने रहना निजगाठकी परिणतियोंपर अवलम्बित है। भ्रमण और गमन दोनोंके लिये कारणोंका इंद्रना एकसा आवश्यक है। जीवन और मरण दोनों ही सकारण हैं । कार्यकारणभावके वेत्ता विद्वानोंके यहां उत्पाद. व्यय और स्थिति तीनोंको कारणजन्य माना गया है। ज्योतिष्कोंको भ्रमण करानेके छिये जितने शक्तिशाछीकी भावश्यकता है उतना शक्तिशाली कारण उनकी स्थिर रख सकता है। कचित वह कारण बहिरंग भी होता है। किन्त बहुमाग स्थलोंमें अन्तरंग ही कारण प्रधान माना गया है। धर्म, अधर्म, दोनों द्रव्योंकी शक्ति समान है उत्कट रीद्रच्यान और प्रकृष्ट शुक्छभ्यानकी शक्ति तीलमें बरावर है। एक सातवें नरकमें पहुंचा देता है, दूसरा मोक्षमें धर देता है। ज्योतिष चक्रको ठहराये रखनेमें अल्पबक कारणसे कार्य होजाय और ज्योतिष चक्रका अमण करानेमें महान् शक्तिशाली कारण उपयोगी होंय ऐसा चित्तमें नहीं भार छेना चाहिये। सत्रार. सामाथिकी, वातवलय आदि करके घोडा, मन, छोक, ग्रुक, अस्थि, स्वकीय पाठ आदि को एकाम धारे रखनेमें बडी शक्ति लगानी पडती है। अतः प्रकरणमें ज्योतिषक विमानोंका परिश्रमण अनादि निधन द्रव्यरूप स्वभावसे निर्णीत कर दिया है। यह समाधान बहुत बढिया रुचिकर है। सभी दार्शनिकोंको इसी समाधानपर मस्तक छुकाना पढेगा।

एष एव नभो भागो ज्योतिः संघातगोचरः। बद्दलः सदशकं सर्वो योजनानां शतं स्मृतः॥ ७॥

व्योतिष्क विमानोंके या तत्सम्बन्धी देवोंके समुदायका विषय हो रहा यह आकाश भाग ही सर्व दशस्त्रित सी योजनोंका मोटा सिदान्तक ऋषियोंकी परिपाटी अनुसार स्मरण किया जा रहा है। अर्थाद् -- यहां सम भागसे सात सी नव्ये बढ़े योजन ऊपर चळकर ज्योतिष्क चक्रका प्रारम्भ हो जाता है। १०+८०+६+६+६+६+६+४+४=११० यों मध्यक्षेक सम्बन्धी एक सी हक्ष योजन

मोटे सबरे आकाशमें वे इस दौ सौ छत्पन प्रमाणांगुओं वर्गका जगत्वतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर प्राप्त हुई संख्या प्रमाण क्योतिषी देव या उन देवों के संख्यातरें भाग प्रमाण क्योतिषक विमान निवस रहे हैं। एक एक विमानमें हजारों, छाखों यों संख्याते देव रह जाते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्चीन सम्पूर्ण विमानों में अञ्चित्रम-बन रहे अनादि अनन्त अञ्चित्रम चैत्याख्योंको इस गाथा करके नमस्कार किया है। " वेसदछप्पण्णंगुङ कदिहिदपदरस्स संखमागिमेदे, जोइसिजणंदगेहे गणणातीदे णमंसामि "।

स घनोदिधपर्यंतो नृलोकेऽन्यत्र वा स्थितः । सिद्धस्तिर्यगसंख्यातद्वीपांभोधिप्रमाणकः ॥ ८॥

और वह ज्योति के विमानोंका ज्यूह मनुष्य छोकमें अथवा मनुष्य छोकसे बाहर भी तिरका असंख्यात द्वीप और असंख्याते सम्पूर्ण समुद्रमाण छम्बा, चौडा, होकर घनोद्धिपर्यन्त ज्यवस्थित हो रहा सिद्ध है। अर्थात्—मध्यछोकस्थ त्रसनाछी सम्बन्धी एक सौ दरा योजन मोटे आकाश मागमें पूर्व, पश्चिम, बारह योजन मोटे वातवछयको छोडकर छोकपर्यन्ततक फैळा हुआ है। और दक्षिण, उत्तरमें, त्रसनाछीतक उथोतिषचक स्थित है। यानी सात राजू छम्बा, एक राजू चौडा, और मेरुसम एक छाख चाछीस योजन ऊंचा मध्यछोक है। दक्षिण और उत्तरसे तीन तीन राजू स्थावर छोकके मागको घटा कर इसके ठीक बीचमें एक राजू छम्बा, एक राजू चौडा, त्रसनाछीका भाग है। उस त्रसनाछीमें पूर्व और पश्चिम बारह योजन मोटे वातवछय प्रमाण कमती एक राजू चौडे और उत्तर दक्षिणमें पूरे एक राजू छम्बे तथा एक सौ दश योजन ऊपर नीचे मोटे चौकोर आकाश प्राङ्गणमें ज्योतिश्वक प्रतिनियत है। मध्यछोक सम्बन्धी पूर्व, पश्चिम, छोकप्रान्तमें पांचयोजन मोटे पहिछे घनोद्धिवातपर्यंत ज्योतिश्व विमान फैळ रहे हैं। हां, दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनाछीसे घनोदिव वात निकट नहीं है। तीन तीन राजू दूर है।

सर्वाभ्यंतरचारीष्टः तत्राभिजिदथो बहिः । सर्वेभ्यो गदितं मूलं भरण्योधस्तथोदिताः ॥ ९ ॥ सर्वेषामुपरि स्वातिरिति संश्लेपतः कृता । ब्यवस्था ज्योतिषां चिंत्या प्रमाणनयवेदिभिः ॥ १० ॥

तृत्वोक सम्बन्धी उस ज्योतिष्क मण्डलमें सम्पूर्ण स्वकीय ज्योतिष्क विमानोंके अभ्यन्तर (मौतर) चरनेवाला अभिजित् नामको मक्षत्र इष्ट किया गया है और अपने अपने द्वीप या समुद्रसम्बन्धी सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके बाहर कर कर मूलनामको नक्षत्र कहा गया है। निसी प्रकार स्वार्ध शीर्ष भरणी नक्षत्र सम्बन्धी पांच तारे चर रहे कहे गये है तथा सबके ऊपर स्वातिनक्षत्रका एक तारा चर रहा है। विशेष यह है कि यहां सर्व शब्दसे यदि सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डल अभिप्रेत है तब तो सबसे नीचे तारे और उनसे तिरानवे योजन ऊंचे नक्षत्र तथा सबके ऊपर शनिश्वरको कहनेवाले सिद्धान्तवचनका इस भरणी नक्षत्रको सबसे नीचे और स्वाती नक्षत्रको सबके ऊपर कहनेवाले सिद्धा-न्तको अपवाद कथन समझा जाय । हां, यदि '' उत्तरदानिखण उड्डा-धोमञ्ज्ञे आमिजिनूळसादीय. भरणी कित्तिय रिक्खा चरंति अवराणमेवं तु " इस त्रिलोकसारसम्बन्धी गाथाकी " अथाकारो चरतां कियनक्षत्राणां दिग्विभागमाह '' '' अब श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचकवर्ती कितने ही एक नक्षत्रोंकी दिशाके विभागको कहते हैं " इस श्री माधवचन्द्र त्रैवियकत उत्थानिका अनुसार केवल नक्षत्रोंका है। दिग्विभाग मानना अभीष्ट होय, तब सर्व नक्षत्रोंके अधः (भीतर) भरणी और सर्व नक्षत्रोंके ऊपर स्वाती नक्षत्रके विचरनेकी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है। यों सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके नीचे तारायें, मध्यमें नक्षत्र. ऊपर शनिश्चर प्रह. इस सिद्धान्तकी रक्षा भी होजाती है। अभिजितको भीतरकी ओर और मुलको बाहरकी ओर भले ही सम्पूर्ण नक्षत्रोंकी अपेक्षा या सम्पूर्ण ज्योतिक मण्डलकी अपेक्षा भी कह देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। इस प्रकार संक्षेपने ज्योतिक विमानोंकी यह स्मरण अनुसार आगमोक्त न्यवस्था कर दी गयी है। प्रमाण और नयके वेत्ता विद्वानों करके ज्योतिषियोंकी अन्य विस्तृत व्यवस्थाका भी उपरिष्ठात चिन्तन कर छेना चाहिये। प्रन्थकर्ताके एक एक अक्षरपर तर्क-वादका वक्खर चढवानेके लिये उत्सक बैठे हुये प्रतिवादियोंके सम्मुख विप्रकृष्ट विषयोंका इतना ही निरूपण करना पर्याप्त है । श्रद्धाल श्रोता अन्य विद्यानन्द महोदय, त्रिलोकसार, आदि प्रन्थोंसे अपनी विस्तृत अभिलाषाको परितृप्त करें।

मेरुभदक्षिणा नित्यगतय इति वचनात् किमिष्यत इत्याइ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ज्योतिष्क देवों के लिये सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहना और नित्य गतिमान् बने रहना इस सूत्र प्रतिपादित बचनसे श्री उमास्वामी महाराजको कौनसा प्रमेय अभीष्ट हो रहा है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी समाधान बचनको कहते हैं।

मेरुपदक्षिणा नित्यगतयस्त्वित निवेदनात्। नेवापदक्षिणा तेषां कादाचित्कीष्यते न च ॥ ११॥ गत्यभावोपि चानिष्टं यथा भूभ्रमवादिनः। भुवो भ्रमणनिर्णितिविरद्दस्योपपत्तितः॥ १२॥

इस सूत्रमें कहे गये सम्पूर्ण पद इतरका व्यवच्छेद करते हुये सफल हैं, निरर्थक नहीं । देखो, नेक्सी प्रदक्षिणा करते हुये व्योतिषक निरय गतिकाने हैं, इस प्रकार सूत्रकर्ता करके निवेदन करने हैं तो उन ज्योतिष्क देवोंकी गित प्रदक्षिणारिंदत नहीं हो पाती है और कभी कभी होनेवाछी गिति भी इंट नहीं की गयी है तथा ज्योतिष्क विमानोंकी गितिका अभाव भी अनिष्ठ है, जैसा कि ज्योतिष्कोंका गरमभाव भू का अमण कहनेवाछे विदान मान रहे हैं। क्योंकि पृथिवीका अमणरिंदतपना प्रक्तियोंसे निर्णीत हो चुका है। अर्थात्—मेरुप्रदक्षिणा शब्दसे ज्योतिष्कोंके प्रदक्षिणारिंदतपनकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। गित होनेमें नित्यपना लगा देनेसे बहुत दिनोंतक स्थिर ठहरते हुये ज्योतिष्कोंके कभी कभी गित कर लेनेका व्यवच्छेद कर दिया है। पृथिवीका अभण माननेवाले आर्यभव या यूरप, अमेरिका, इटलीनिवासी कितिपय आधुनिक विदानोंने ज्योतिष चकको स्थिर मानकर सूर्य आदिमें गितिका अभाव इंट कर लिया है। ज्योतिष्कोंकी गितिका प्रतिपादन करते हुये सूत्रकारने ज्योतिष्चक्रके गत्यमाव और पृथिवीके अमणकी व्यावृत्ति कर दी है। क्योंकि उन विदानोंके बूते भू का अमण निर्णीत नहीं हो सका है। और प्रन्थकारने तृतीय अध्यायमें पृथिवीके अमणरिंदतपनका युक्तियोंसे निर्णय कर दिया है।

न हि मत्यक्षतो भूमेर्श्वमणनिर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात् । न वायं श्रांतः सक्कः देशकालपुरुवाणां तद्श्रमणावतीतेः । कस्यविशावादिस्थिरत्वानुभवस्तु श्रांतः परेषां तद्रमनानुभवन वाथनात् ।

प्रत्यक्ष प्रमाणोंते इस अचला भूमिके अमणका निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष. चाक्षच प्रत्यक्ष तथा स्थिर भूमिके होते सन्ते हो रही असम्ब्रान्ति (अन्याकुलता) को धारनेवाले मनसे हये प्रत्यक्षप्रमाणों करके भूमिका स्थिरस्वरूप करके ही अनुभव हो रहा है। यह अनुभव होना अमन्नान नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण देश और कालमें वर्त रहे पुरुषोंको उस भूमिका अमण प्रतीत नहीं होता है। देखो सीपमें इआ चांदीका ज्ञान या मृगत्यामें हुआ जलका ज्ञान तथा शुक्लरांखमें पीतत्वका ज्ञान अवाधित नहीं है। अनेक देश कतिपयकाल और कई सम्वादी पुरुषोंकी अपेक्षा बाधा उत्पत्ति होजानेपर पूर्वज्ञान आन्त माने जाते हैं । किन्तु सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण पुरुषोंकी अपेक्षा अवाधित होरहा पूथि-बीकी स्थिरताका ज्ञान कथमपि आन्त नहीं है। यदि भूअमणवादी पण्डित यें। कहें कि अनम्बस्त किसी नगरके नीचे वहनेवाळी नदियां या समुद्रमें नावके ऊपर किसीको अमण करनेका अवसर मिळ जाता है, उस मुम्बबुद्धि पुरुषको चलती हुयी नाव तो स्थिर प्रतीत होती है और नगर या समहतट भमण करते हुये दृष्टिगोचर होते रहते हैं। दिशाकी आन्ति भी होजाती है। इसी प्रकार पृथिवीके अमण होनेपर भी सूर्य आदिकी स्थिर दशामें हम स्थूल बुद्धि पुरुषोंको पृथिवीके स्थिरत्वका अनुभव हो जाता है, जो कि भ्रान्त हान है। प्रन्थकार कहते हैं कि यों किसी किसी असंज्ञी सारिखे पाँगा पुरुषको चल रहे नात्र, वायुमान, रेलगाडी आदिके स्थिरपनका हो रहा अनुभव तो भ्रान्त है। क्योंकि दूसरे विचारशील पुरुषोंको उन नाव आदिके गमनके हो रहे अनुभव करके उस अनुभवकी बाधा कर दी जाती है। किन्तु प्रथिवीकी स्थिरता तो सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण कार्

और अखिल पुरुषोंके यहां बाधारहित हैं। यों प्रत्यक्षप्रमाणसे भूअमणका निर्णय नहीं हो सका। अतः आर्यभट पण्डितने जो यह कहा है। "अनुलोम गतिनीस्यः परयस्यचं विलोमगं यहत्, अचलानि मानि तहत् समपश्चिमगानि लक्ष्कायाम् " नावमें बैठा हुआ अनुकूल सीधा जा रहा मनुष्य किनारेके स्थिर हो रहे बक्ष, पर्वत, आदि पदार्थोंको जैसे उन्नटी ओरको चलता हुआ देखता है, उसी प्रकार लंकामें अचल ज्योतिष्क मण्डलको पश्चिमकी ओर चलते हुये देखता है। यह आर्यभटका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। दल्ला विषम है।

नाप्यतुमानतो भूञ्जमणिवनिश्रयः कर्तु सुञ्चकः तद्विनाभाविश्चिंगाभावात् । स्थिरे भवके सूर्योदयास्तमयपध्यान्हादिभूगोलञ्जमणे अविनाभाविश्चिंगमिति चेश्च, तस्य प्रमाणवा-िषतिषयत्वात् पावकानौष्ण्यादिषु द्रव्यत्वादिवत् । भचकञ्जमणे सति भूञ्जमणमंतरेणापि सूर्योदयादिभतीत्युपपत्तेश्च । न तस्मात् साध्याविनाभाविनयमनिश्चयः । प्रतिविद्दितं च प्रपंचतः पुरस्तात् भूगोलञ्जमणमिति न तद्वलंबनेन ज्योतिषां नित्यगत्यभावो विभाविषितुं श्वच्यः । नापि कादाचित्कीष्यते गतिनित्यग्रहणात् ।

तथा अनुमानप्रमाणों से मी मूअमणका विशेषतया मले प्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उस भूभ्रमणरूप साध्यके साथ अविनाभावको धारनेवाले ज्ञापकर्लिंगका अभाव है। भू के भ्रमण और ज्योतिश्वककी स्थिरता मान छेनेपर होनेवाले दिन, रात, प्रहण, राशिसंक्रमण, आदि कार्य तो पृथिवीकी स्थिरता और ज्योतिष्कोंका भ्रमण माननेपर भी सुक्रमतया उपपन हो जाते । यदि ण्योतिष्क मण्डलको स्थिर माननेवाला यों कहे कि नक्षत्र मण्डलके स्थिर होनेपर और भूगो-लका अमण होते सन्ते सूर्यका उदय होना, सूर्यका अस्त होना, मध्याह (दुपहर) होना, प्रहण पड जाना आदि ही अविनाभावी लिंग हैं। प्रत्यकार कहते हैं, यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस लिंगके साध्यरूप विषयकी प्रमाणींसे बाधा प्राप्त हो जाती है। जैसे कि अग्निमें अनुष्णता, अदाहकता आदिकी सिद्धि करनेमें प्रयुक्त हुये द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, आदि हेतु बाधित हेत्वामास है। इसी प्रकार तुम्हारे मुक्रमणके लिंगके विषय हो रहे साध्यकी पत्यक्षप्रमाण द्वारा बावा उपस्थित हो रही है। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष्कचक्रका अमण होते सन्ते भूअमणके विना भी सूर्योदय, सूर्यास्ततः आदिकी प्रतीति होना युक्तियोंसे सध जाता है। इससे भी भू का अमण सिद्ध नहीं हो पाता है। तिस कारण हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव बन जानास्त्ररूप नियमका निश्चय नहीं हो सका है। विद्वानः आर्यमहने किला है। " भपञ्जरः स्थिरो भूरेवाबृत्याबृत्य प्रतिदैवसिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयाति प्रहनक्षत्राणाम् " सूर्यं आदिक संव नक्षत्र मण्डल स्थिर है। पृथिवी ही बार बार चूम चूम कर प्रत्येक दिनमें होनेवाले प्रह. और नक्षत्रोंके उदय और अस्तका सम्पादन करती है। ऐसी युक्ति रहित आर्यमहकी प्रतिकार्ये आदरणीय नहीं हैं। नया अधिक विस्तारसे भूगोळके अमणका खण्डन हम पूर्व प्रकरणमें कर चुके हैं। इस कारण उस मूजमणका अवस्य केकरके ज्योतिषियोंको नित्य गतिका अभाव नहीं विचारा (निर्णय) जा सकता है। याँ प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणसे ज्योतिष्यक्षकी नृत्योकमें गति निर्णात की जा सकती है। यह ज्योतिष्कोंकी गति कभी कभी होनेवाली भी नहीं इष्ट की गयी है। क्योंकि गतिका विशेषण देनेके लिये सूजकारने "नित्य" शहूका प्रहण किया है। अतः नृत्योकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य हो रही मानी गयी है। कतिपय ज्योतिष्कोंकी हो रही नित्य गतिका बालक बालिकाओंतकको प्रत्यक्ष हो जाता है।

तद्रतेनित्यत्वविश्वेषणानुपातिरधौन्यादिति न शंकनीयं, निस्यश्वद्रस्याभीक्ष्णवाचि-त्वाभित्यमहसितादिवत् ।

कोई यहा रांका करता है कि ज्योतिष्कोंकी उस गतिका निस्यपना यह विशेषण नहीं बन सकता है। क्योंकि कोई गति ध्रुव नहीं है। बौद्ध, वैशेषिक, मीमांसक, यहांतक कि जैन भी किया-ओंको अनित्य स्वीकार करते हैं। कुत्यकारिणीकी झउझट पूर्विक्रयायें नष्ट होरहीं संती उत्तरिक्रियायें उपजती हुई दिखती हैं। '' कर्मत्वऽनित्यमेव '' कोई भी किया नित्य कालतक स्थिर नहीं रह सकती है। क्षणक्षणमें अन्य ही किया होजाती है, ऐसी दशामें ज्योतिष्कोंकी नित्यगति आपने कैसे कही ' बताओ। प्रत्यकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नित्य शद्ध अमीक्ष्णताका वाचक व्यवस्थित होरहा है, जैसे कि नित्य ही इंसनेवाला देवदत्त है या नित्य बकवाद करनेवाला यद्धत्त है, नित्यकी बालक है इत्यादि स्थलोंमें नित्यका अर्थ अभीक्ष्णता यानी पुनः पुनः या असकृत है, देवदत्त नित्य इंसता रहता है, इसका अर्थ शीच जाते, सोते आदि अवस्थाओंमें भी सदा इंसते रहना नहीं है। किन्तु अनेकवार पुनः या पुनः बहुतसी कियाओंमें दिनरात बहुभाग अवसरोपर इंसते रहना है। प्रातःसे लेकर सार्यकालतक इंसना ही जब अत्यन्त कष्टसाध्य है, ऐसी दशामें नित्य इंसते रहना तो असम्भव ही समझियेगा। कुळ देरतक इंसते रहनेपर भी शरीर या आत्मामें प्रतिक्षण अनेक इंसियां विनशती, उपजती, रहती हैं। इसी प्रकार ज्योतिष्कों की गतिमें नित्यका अर्थ पुनः पुनः एकके पीछे झट दूसरी गति, अनेकवार गति यों अभीक्ष्णता करना चाहिये। जैसा कि नित्य इंसना, नित्य बक बक करना, नित्य रोना, नित्य टोटा होना, नित्य पुजन करना आदिमें शोमता है।

अर्घाधोभ्रमणं सर्वज्योतिषां भ्रवतारकाः । मुक्त्वा भृगोलकादेवं प्राहुर्भृभ्रमवादिनः ॥ १३ ॥ तद्य्यपास्तमाचार्यैर्नुलोक इति सूचनात् । तत्रैव भ्रमणं यस्मानोध्याधोभ्रमणे सन्नि ॥ १४ ॥ श्रुव तारोंको छोडकर सम्पूर्ण क्योतिषियोंका भूगोळसे ऊपर, नीचे, श्रमण होरहा है, इस प्रकार मूश्रमणवादी विद्वान् बिटिया कह रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त प्रन्थमें लिखा है " श्रुवेशातिभेचश्रस्थ नितेमें प्रयास्पतः। निरक्षािभमुखं यातुर्विपरीते नतोश्रते" उत्तरीय मेरुकी ओर जानेवाळे मनुष्यको श्रुवतारा ऊचा उठता हुआ दीखता है और दक्षिणका नक्षत्र मण्डळ नीचेको जानेवाळा दीखता है तथा दिक्ष-णीय श्रुवकी ओर जानेवाळे पिषकको इसके विपरीत नीचे, ऊचे, दीखते हैं। यानी श्रुवतारा नीचा जारहा है और दक्षिणीय नक्षत्र मण्डळ ऊपरको जारहा भासता है। सिद्धान्तिशरोमणि प्रन्यके गोळा-च्यायमें " उदाधुवं याति यथा यथा नरस्तथा तथा खान्ततमृक्षमण्डळम् उदाधुवं पश्यित चोन्नतं क्षितेः " मनुष्य जितना जितना उत्तर दिशाकी ओर जाता है, वैसा वैसा दक्षिणमागके नक्षत्र मण्डळको आकाशसे नीचा नम्न होरहे देखता है और उत्तरधुवको पृथिवीसे उन्नत उन्नत होते जारहेको देखता है। योरपके अनेक विद्वान् इन बातोंका समर्थन करते हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि भूजमणवादियोंका यह चन्द्रमा, मंगळ आदि ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे घूमना स्वीकार करना भी निराकृत कर दिया गया है। वयोंकि सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य महाराजने इस सूत्रभें " नुळोके" ऐसा सूत्रण किया है। यदि तुम्हारे मन्तन्य अनुसार ज्योतिश्वक्तिका ऊपर, नीचे, की ओर अमण माना जावेगा तैसा होते सन्ते तो उस मनुष्य छोकमें ही ज्योतिश्वक्तिका अमण होना नहीं बन सकेगा।

वनोदभेः पर्यते हि ज्योतिर्गणगोचरे सिद्धे नृष्ठोक एव, भ्रमणं ज्योतिषामूर्ध्वाधः कयमुपपवते १ भूविदारणमसंगात् । तत एव विंशत्युत्तरैकादश्योजनशतविष्कम्भत्वं भूगोल-श्राम्युपगम्यत इति चेन्न, जत्तरतो भूमंडळस्ययत्तातिकमात् तदिधकपरिमाणस्य मतीतेः तच्छ-तमागस्य च सातिरेकैकादश्योजनमात्रस्यैव समभूभागस्यामतीतेः कुरुक्षेत्रादिषु भूद्रादश्यो-जनादिममाणस्यापि समभूतळस्य मुमसिद्धत्वात् । तच्छतग्रणविष्कंभभूगोळपरिकल्यनाया-मनवस्थाप्रसंगात् ।

पूर्व, पश्चिमकी ओर धनोद्धि पर्यन्त तथा दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनालीकी मर्यादातक जब कि ज्योतिश्वक्रका विषयभूत यह लोक सिद्ध हो चुका है तो ऐसा होते सन्ते फिर मनुष्य लोकमें ही ज्योतिश्वियोंका ऊपर नीचे अमण होना मला किस तरह युक्तसिद्ध हो सकता है! यों तो ऊपर नीचे अमण मानने पर पृथिवीके फटजानेका प्रसंग आ जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात्— भूगोलका अमण माननेवाले अन्य नक्षत्रमण्डलका भी अपनी कक्षा अनुसार अमण होना स्वीकार करते हैं। सिद्धान्ताशिरोमणिके गणिताष्यायमें कहा है कि " सुष्ट्या भचकं कमलोद्धवेन प्रहे: सहैतह भगणादि-संदी:। शक्ष्यक्षमे विश्वस्त्रा नियुक्तं तदन्ततारे च तथा श्रुवत्वे "। यदि महाममण्डल ऊपर नीचे धूमेगा तो पृथिवी अवक्षय कट आयगी। यदि भूअमणवादी यों कहें कि तिस ही कारण अर्थात्— पृथिवीका विदारण नहीं हो जाव। अतः हमारे यहां ग्याब्ह सी बीस वोजन जीवा मूगोल स्वीकार

किया जाता है। इतनी चीडी पृथिवी अपनी धुरी पर या सूर्यका चक्कर देती हुई धूमती रहतीं है। अन्य नक्षत्र या प्रह मी स्वकक्षामें चूमते रहते हैं। " ततोऽपराशामिमुखं भपञ्जरे सखेचरे शीवतरे भ्रमत्यपि । तदल्पगत्येन्द्रदिशं नमश्चराश्चरन्ति नीचोचतरात्मवर्तम् '' । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उत्तरकी औरसे भूमण्डलके इतने ग्यारहसी वीस योजन चौडे परिमाण होनेका अतिक्रमण हो रहा है। उस ग्यारहसी बीस योजन चौडाईसे अधिक परिमाणवालेकी प्रतीति हो रही है। उस ग्यारहसी बीसके सौमे भाग केवल कुछ अधिक ग्यारह योजन ११ योजनके ही समतल हो रहे भूभागकी प्रतीति नहीं होती है। कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंमें बारह योजन आदि प्रमाणवाली या इससे भी अधिक समतल (सपाट) हो रही पृथिवीकी भी अच्छी प्रसिद्धि हो रही है। यदि उस बारह आदि योजन प्रमाण समतलसे पुनः सौगुना चौडा भूगोल कल्पित किया जायगा तब तो अनवस्थाका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ-भगोलवादियोंने प्रियोकी चौडाई ग्यारहसौ वीस योजन स्वीकार की। किन्तु यह ठीक नहीं बैठता है। उत्तरकी ओर पृथिवी अधिक विस्तारवाली माननी पडेगी। दूसरी बात यह है कि गोलपदार्थका सौमा माग समतळ दीखा करता है। सिद्धान्तशिरोमणिमें कहा है कि " समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरा तनीयान् । नरश्व तत्पृष्ठगतस्य कृत्का समेत्र तस्य प्रतिभात्यतः सा '' इसका अर्थ यह है कि जिस कारण गोलपरिधिका सौमा भाग सम दीखा करता है, यह पृथ्वी बडी लम्बी, चौडी, मोटी है और मनुष्य अत्यन्त छोटा है। उस पृथितीकी पीठपर प्राप्त हो रहे उस मनुष्यको थोडी दूर दृष्टि जानेसे इस कारण वह पृथ्वी समत्छ ही दीखती है। इन नियम अनुसार केवल एक योजनका पांचवां भाग अधिक ग्यारह योजन ही समतल भूमि दीखनी चाहिये । किन्तु कुरुक्षेत्र (पानीपत) आदिमें बारह, चौदह, वीस योजनवाळे भी समतल (मैदान) पाये जाते हैं। सिँहान्तशिरीमणि गणितान्यायमें " प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्तांगनन्दान्धयः । तद्यासः कुमुजंगसायकमुबोऽथ प्रोच्यते योजनम् । याम्योदकपुरयोः पळान्तरहतं भूवेष्टनं भांशहत् । तद्भक्तस्य पुरान्तराध्वन इह ज्ञेयं समं योजनम् ॥ १ ॥ इस स्रोक द्वारा प्रथितीकी परिधि चार हजार नी सी सडसठ ४९६७ योजन और व्यास पन्द्रह सौ इन्यासी १५८१ योजन बताया है। कोई यूरोपनिवासी पण्डित सात हजार नी सी बारह मीछ ७९१२ मीछ पृथिवीका व्यास मानते हैं। अन्य इससे भी न्यून या अधिक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कोई ठीक प्रथिवीके नापकी व्यवस्था नहीं हो सकी है। अनेक विद्वानोंके परस्पर विरुद्ध मन माने नापोंसे पृथिवीके परिमाणकी यथार्थ व्यवस्था नहीं समझी जायगी। वस्तुतः यह रत्नप्रभा पृथिवी सात राज् छम्बी, एक राज् चौडी, और एक छाख अस्सी हजार योजन मोटी समतल है। काचित् इसके प्रदेश ऊंचे, नीचे, भी हो गये हैं। गैंद या नारंगीके समान गोल माननेपर अनेक दोष आते हैं । सूर्यसिद्धान्तमें जो यह लिखा है कि " अल्पकायतया मर्त्याः स्वस्थानासर्वतरे मुखम्, पश्यन्ति वृत्तामध्येतां चत्राकारां वसुन्वराम् " प्रथिवीकी अपेक्षा मनुष्योंका अत्यल्य शरीर

होनेसे छोटे छोटे मनुष्य गोल भी इस प्रथिवीको अपने स्थानसे चक्रके संगान चपटी आकारवाळी देखते हैं । बात यह है कि मनुष्यकी चक्ष्यों बहुत दूर तक छन्वे, चौहे, फैले हुये पदार्थको पूरा नहीं देख पाती हैं। अतः गोठ दीखना या चक्रके समान दीखना दोनों ही आन्तिहान हैं। गोठ पृथिवी यदि भ्रमण करती ह्रयौ मानी जावेगी तो ध्रवतारा एक ही स्थानपर नहीं दीखना चाहिये। सूर्यके समान ध्रवतारा भी घूमनेवाले मनुष्योंको न्यारे न्यारे स्थानपर दीखना चाहिये था । किन्तु ऐसा . नहीं है । ध्रुवतारा रातमर एक ही स्थानपर दीखता है । पृथिवीका नाम गी है । गच्छति इति गीः जो चळती है, अतः वह पृथिवी गी है, ऐसी पोली, उचर, युक्तियोंसे पृथिवी चलायमान सिद्ध करना शहुन्यवहारको नहीं समझना है। यों तो अचला, स्थिरा, अनन्ता ये नाम भी पृथिवींके हैं। जो कि असंख्य योजन लम्बी पृथिवीको स्थिर सिद्ध करते हैं । भूगोलवादियोंका कहना है कि किनारेसे देखनेपर दूरवर्ती जहाजका पिहले ऊर्घभाग (मस्तूल) दीखता है, इसी प्रकार दूरसे ताड वृक्षको देखकर ऊपरला शप्पा पहिले दीखता है। क्योंकि अधीभाग पृथिवीकी गोलाईकी ओटमें आ जाता है। छल्ल सिद्धान्तमें यह कहा है। " समता यदि विद्यते भवस्तरवस्तालिनमा बङ्ख्याः कथ-मेव न दृष्टिगोचरं नु रहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः " ऐसी दीली पोली युक्तियोंको सुन कर हमें हंसी आती है। जब कि सौ हाथ ऊंचे पदार्थको दो कोससे देखनेपर दस हाथका अन्तर पड जाता है। जहाज या तालक्क्षका निचले दस हाथ भाग नहीं दखिता है । इतनेसे ही यदि प्रधिनीको गोल मान लिया जानेगा, तब तो भूमि पचास या सौ कोसकी ही सिद्धि हो सकेगी। ऐसी दशामें आग-रेको यदि गोछभूमिके ऊपर मान लिया जाय तो कानपुर पृथिवीके नीचे मानना पडेगा । किन्तु कुछ योरपनासिओंने अमेरिका (न्यूयार्क) को आगरके नीचे स्वीकार किया है। इसी प्रकार सिद्धान्त शिरोमणिके मूळोकाच्यायमें प्रथिवीके चपटी होनेमें यह आक्षेप किया गया है कि " यदि समा मुक्रो-दरसनिमा भगवती धरणी तराणिः क्षितेः । उपरि दरगतोऽपि परिश्रमन् किम् नरैरमरेरिव नेक्ष्यते ॥ यदि निशाजनकः कनकाचळः किम् तदन्तरगः स न दस्यते । उदगमन्तु मेरुरथांशुमान् कथमदेति च दाक्षणभागके ॥ २ ॥ " इसका अर्थ यह है कि यदि दर्पणके पेटसारिखी भूमि समतक मानी जायगी, तो पृथिविके ऊपर बहुत दूर प्राप्त हुआ भी घूमता हुआ सूर्य देवोंके समान मनुष्योंको क्यों नहीं दीखता है ! दूसरी बात यह कही गयी है कि सूर्यकी ओट करनेवाला सुमेरु पर्वत यदि रातको कर देता है तो दृष्टा और सूर्यके अन्तरालमें प्राप्त हो रहा वह सोनेका बना हुआ सुमेरु पर्वत क्यों नहीं दीखता है । तथा मेठकी आबसे निकलकर सर्यका उदय माना जायगा तो उत्तर दिशामें सूर्यका उदय होना चाहिये। क्योंकि मेरु उत्तरकी ओर है। शीतकाळमें जो पूर्वसे भी हट कर दक्षिणकी ओर सूर्य उदय हो रहा है, वह कैसे भी नहीं हो सकेगा। इस आक्षेपपर हमको यह कहना है कि यहांसे दो हजार कोसके एक योजन अनुसार आठ सौ योजन ऊपर सूर्य है। आजकल इतना ऊंचा मनुष्यका जाना दुर्कम है। हां, देवता अवस्य ही सूर्यको धूमता हुआ देख

छेते हैं । जब यहींसे सूर्य चलता हुआ दीख रहा है तो ऊपर जानेकी क्या आवश्यकता है ! पृथिषी दर्पणके समान समतळ है। ब्रांखोंके देखनेका स्वभाव ऐसा ही है, जिससे कि दरवत्ती पदार्थका जपरका माग दृष्टिगोचर होता है। दूसरी बातपर यह कहना है कि कनकाचळकी ओटमें सूर्यके ना जानेसे कनकाचळ कैसे दीख सकता है। रातके समय दीपक यदि भीतकी आडमें आजाय तो क्या भीत दीख जाती है ! " यथा प्रकाशिस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसी न तथा तमस्त्यम् " अन्धकारमें बैठा हुआ पुरुष प्रकाशमें धरे हुये पदार्थको देख सकता है, किन्तु प्रकाश या अन्धेरेमें बैठा हुआ पुरुष अन्धकारमें स्थित पदार्थको नहीं देख सकता है। कणाद, गौतम, आदि ऋषियोंने भी '' सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः '' माना है । सूर्य जब सुमेरुकी आडमें आ जाता है तो यहांक्षे एक लाख योजन दूर पहुंच जाता है। किन्तु आंखें सैंतालीस हजार दो सी त्रेसिंठ योजन दुरवर्ती पदार्थसे अधिक दुरके पदार्थको नहीं देख सकती हैं। अतः जम्बुदीपकी वेदीके ऊपर भ्रमण कर रहा सूर्य जब निषध पर्वतपर आता है तब यहां भरतक्षेत्रसे दीखता है। अतः पूर्व दिशासे उदय होना माना जाता है और पश्चिम निषधके ऊपर पहुंचनेपर हम छोगोंको सूर्य नहीं दीख पाता है। सूर्यकी किरणोंके नहीं पहुंचनेसे यहां रात हो जाती है। यही उदय, अस्त या दिन, रात, होनेका बीज है। किरणें पहुंचने या फैलनेका सिद्धान्तदृष्टिसे यह विचार है कि सूर्य, अग्नि या प्रदीप अपने परिमित लम्बे, चौडे, स्वकीयशरीरमें ही नियत है। उनके निभित्तसे यहां फैल रहे भिन प्रहलोंकी चमकी छी पर्यायें हो जाती हैं। सूर्य देशसे यहां कोई किरणें नहीं आती है। यूरोपके कातिपय विद्वानोंने भी सूर्यका घमना और प्रधिवीकी स्थिरता सिद्ध करनेके लिए अब अनेक युक्तियां उपस्थित की हैं। विशेषन विद्वान इस विषयका गम्भीर अन्वेषण कर सकते हैं।

कयं चास्यिरेपि भूगोले गंगासिध्वादयो नद्यः पूर्वापरसमुद्रगामिन्यो घटरन् ? भूगोलमध्यतः प्रभवादिति चेत्, किं पुनर्भूगोलमध्यं ?। उज्जयिनीति चेत्, न ततो गंगा-सिंध्वादीनां प्रभवः सम्रुपलभ्यते । यस्मात्तत्रमवः प्रतीयते तदेव मध्यमिति चेत्, तदिदमित-भ्याइतं । गंगाप्रभवदेशस्य मध्यत्वे सिन्धुप्रभवभूभागस्य ततोतिन्यविद्वतस्य मध्यत्वविरोधात् । स्ववाह्यदेशापेक्षयात्वस्य मध्यत्वे न किंचिदमध्यं स्यात् स्वसिद्धान्तपरित्यागश्चोज्जयिनी-मध्यवादिनां ।

दूसरी बात इम भूगोळअमण वादियोंसे यह पूंछते हैं कि भूगोळको अस्थिर माननेपर गंगा। ब्रह्मपुत्र, या सिन्धु, नर्मदा, आदि नदियां भट्टा पूर्वसमुद्रकी ओर और पश्चिमसमुद्रकी ओर जारहीं कैसे घटित हो सकेंगी! गोळ पूर्यियीके संचलन होनेपर यहां वहां अस्तब्यस्य होकर फैळ जावेंगी, वैसे कि घूमते हुये लट्ट्रपर या घूम रही चाकीपर वहा दिया गया पानी यहां वहां कहीं भी विदिशाओं में वह निकलता है। यदि तुम भूगोळनादी वों बहों कि भूगोळके मन्यसे इन नदियोंकी अपित

ह्यी है। इस कारण ये पूर्वपश्चिम समुद्रकी ओर यह जाती है। यों कहनेपर हमारा प्रश्न उठता है कि भूगोलका मध्य फिर कौनसा स्थान माना गया है ? बताओ । यदि तम उज्जैनको भूगोळका मध्य कहांगे जैसा कि '' सिद्धान्तशिरोमणि '' में भूमध्य रेखाको कहते हुये किला है '' पहुंकीञ्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत् , सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा सवः " प्रनथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं पढ़ेगा । क्योंकि उस उज्जैनसे तो गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंकी उत्पत्ति कथमपि नहीं देखी जाती है। माछबदेशमें विराज रही उज्जैनसे कोई छोटी नदी भी नहीं उत्पन ह्यी है। हां, उत्परके प्रान्तसे आरही एक पत्रकी शिप्रा नदी उज्जैन होकर अवस्य बह रही है। गंगा, और सिन्धुकी उत्पत्ति स्थान तो वहांसे सैकडों कोस दर है। यदि तुम यो कहो कि जिस स्थानसे उन नदियोंकी उत्पत्ति होरही प्रतीत होती है वही स्थान भगोलका मध्य है। प्रन्थकार कहते है कि सो यह कहना तो अत्यधिक रूपसे व्याचातदोष युक्त हैं। गंगाके प्रभवस्थानको यदि मध्य माना जायगा तो सिन्धनदीके आध्यप्रवाही स्थानके भूमागको जोकि उस गंगोत्तरीसे बहुत व्यवधान युक्त होरहा है. मध्यपनका विरोध होजायगा। भावार्थ-तिञ्चतमे पडे हुये कैलाश पर्वत इस नामसे पुकारे जानेवाले स्थानसे क्षुद्रसिन्धु नदी निकलती है। और हिमालयमें गंगोत्तरी पर्वतसे अदगंगा नदी निकल्ती है। दोनों स्थानोंमें बीसों कोसका अन्तर है। इतने बढे अन्तरको ले रहे दो स्थानोंको प्रथिवीका मध्यस्थान कहनेवालोंके ऊपर व्याघातदोष आपडता है। हा. अपने अपने छहां ओर फैले हुये बाह्यदेशकी अपेक्षा यदि इन दोनों प्रभव स्थानोंको मध्य माना जायगा तब तो कोई भी स्थान मध्यरहित नहीं हो सकता है। अपने अपने इधर उधर स्थानकी अपेक्षा सभी स्थल मध्य हो जायंगे । प्रथिवीको चपटी या प्रान्तभागवाली मानने-वार्जोंके यहां कुछ अन्तस्थान या आदि स्थान, उपरिम स्थान, नीचे स्थल भले हैं। अमध्य स्वरूप मिल जांय, किन्तु प्रथिवीको गोल माननेवालोंके यहां तो इस ढंगसे सभी मध्यस्थल बन बैठेंगे। दूसरी बात यह है कि यों माननेपर उज्जैनको प्रथिवीका मध्य कहनेवालोंके यहां अपने स्वीकृत सिद्धान्तका परित्याग हुआ जाता है।

तद्परित्यागे चोजनिया उत्तरतो नद्यः सर्वा उद्कृष्टुख्यस्तस्या दक्षिणतोऽवाङ्गुख्य-स्ततः पश्चिमतः मत्यङ्गुख्यस्ततः पूर्वतः माङ्गुख्यः मतीयरन्, भूम्यवगाइभेदाश्वदीगतिभेद इति चेश्व, भृगोळमध्ये महावगाहमतीतिमसंगात् । न हि यावानेव नीचैर्देशेवगाहस्तावानेवो-ध्र्यस्योके युज्यते । ततो नदीभिभूगोळातुख्यतामतिकम्य वहंतीति भूगोळिवदारणियित समयेव धरातळम्बळंवितुं युक्तं समुद्रादिस्थितिविरोधश्च तथा परिहृतः स्यात् ।

यदि सस सिद्धान्तका परियान नहीं करोंने यानी भूगोळवादी उस उज्जैनको मध्यदेश मानते रहनेका आग्रह करेंगे, तब तो उज्जैनसे उत्तर ओरवाळी नदियां सब उत्तरकी ओर मुख करके आने

बहती रहेंगी और उस उज्जैनसे दक्षिण ओरसे वह रही नदियां सब दक्षिण मुखवाळी ही रहेगी, उस उज्जैनके पश्चिम बाज्से वह रही नदियां सब पश्चिमको मुख करती हुई और उस उज्जैनसे पूर्वकी ओरसे चाल हो रहीं नदिया सब पूर्वमुखवाली ही बहती हुई प्रतीत होनी चाहिये। अर्थात--गोल बस्तके मध्यस्थलसे जिस ओरको पानी बह जायगा ठीक उसी ओर सीधी रेखामें चलता रहेगा। पूर्व मुखवाली नदियां दक्षिण या उत्तरकी ओर कथमपि नहीं जा सकेंगी। किन्तु इसके विपरीत एक नदीकी भी गांत न्यारी न्यारी दिशाओं में हो रही टेढी, मेढी भिन्न भिन्न देखी जा रही है। छोटीसी सिप्रा नदी है। कहीं किसी दिशाकी ओर कचित् अन्य दिशाकी ओर मुखकर बहु रही है। यदि तुम भूमिकी गहराईके भेदसे नदीकी गतिमें भेद हो जाना स्वीकार करोगे, यानी जहां जैसी गहरी भूमि मिल जाती है उधरकी ओर नदी दुलक पढती है। गोल वस्त्रमें भी नीचे. ऊंचे प्रदेश हैं ही। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो भूगोलके मध्यमें महान् अवगाहकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग होगा । प्रथिवीको गेंदके सहश गोल या नारंगीके समान माननेवालोंके यहां भूमध्यदेशमे बडी गहराई मानी ही जावेगी । ऐसी दशामें नदीका बहुतसा जल वहां ही एकत्रित हो जावेगा । देखो, नीचे प्रदेशमें जितनी ही गहराई है उतनी ही गहराई ऊपर हे भूगोर्क्स मानना समुचित नहीं। तिस कारणसे तो यह ज्ञात होता है कि ये नदियां भूगोलका अतिक्रमण कर वह रही हैं। ऐसी दशामें नदियों करके भूगोलका विदारण हो जावेगा । अतः इस प्रथिवीतलको दर्पणके समान समतल माननेका ही पक्ष अवलम्ब करना युक्त है। पृथिवीको समतल माननेसे एक यह भी लाभ है कि समुद्र, सरोवर आदिकी हो रही स्थितीके विरोधका भी परिहार तिस प्रकार चपटी माननेपर हो चुकता है। अर्थात् ---गोलभूमिपर अरबों खरबों मन समुद्र जल ठहर नहीं पाता है, दुलक पडेगा गिर पड़ेगा, द्वीपेंकी बहा के जायगा, कभी कहीं और कदाचित कहीं समुद्र या ताळाब बन जायेंगे, नियत स्थलोंपर समुद्र आदिकी स्थित नहीं रह सकेगी।

तद्भूमिशक्तिविशेषात्स परिगीयत इति चेत्, तत एव समभूमौ छायादिभेदोस्तु । श्रक्यं कि वक्तुं छंकाभूमेरीदृशी शक्तिर्यतो मध्यान्हे अल्पछाया मान्यखेटाष्ट्रक्तरभूमेस्तु तादृशी यत-स्तद्धिष्ठिततारतम्यभा छाया ।

यदि आप भूगोळवादि यों कहो कि उस भूमिकी विशेषशक्तिसे वह समुद्रादि स्थितिके विशेषका परिहार किया गया बखाना जावेगा, तब तो इम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति ही समतल भूमिमें छाया, परछाई आदि पडनेका भेद भी बन जाओ। चूंकि यों कहा जासकता है कि लंका भूमिकी इस प्रकार शक्ति है, जिससे कि दुपहरके समय मध्यान्हमें वहां छोटी छाया पडती है और मनखेडा आदिसे प्रारम्भ कर उत्तरदिशावाळी भूमिकी तो उस प्रकारकी शक्ति है जिससे कि भूमिपर अधिष्ठित होरहे पदार्थोंकी तरतमभावसे शोभित होरहीं छाया पडती है। अर्थाव पुनको

प्रथिवीमें आकर्षणराक्ति माननी ही पढती है। आर्यभट्टने गोलपादमें कहा है कि " यहत् कदम्बपुष्प-प्रन्थिः प्रचितः समंततः कुछुमैः । तद्वद्धि सर्वजल्जैः स्थलजैश्व भूगोलः " आकर्षणराक्ति अनुसार प्रथिवींमें सब ओरसे पदार्थ खिचकर चुपट रहे हैं। भिद्धान्तशिरोमणिमें यों कहा है " आकृष्टि शक्तिश्व महीतया यत स्वस्थं गुरु स्वाभिमखं स्वशक्त्या, आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतिवयं खे '' प्रधिवीमें आकर्षणराक्ति विद्यमान है. उस निजकी राक्ति करके गुरु पदार्थको अपने अभिमुख खेंच छेती है और अपनेपर टिका छेती है। वे पदार्थ पडते हुये सारिखे दीखते हैं, वस्तुत: वे खिच रहे हैं । सब ओरसे सम हो रहे आकाशमें यह माटी प्रथिती भठा कहा गिरे ! इस आकर्षण शक्तिसे सम्पूर्ण पदार्थ प्रथिवीपर गिरकर ठहर जाते हैं । '' यो यत्र तिष्ठत्यवनि तलस्था मात्मानमास्या उपरि स्थितं च. स मन्यतेऽतः कुचतुर्थं संस्था मिथश्वते विर्ध्यगित्रामनन्ति । अधः शिरस्काः कुदला-न्तरस्थाञ्छाया मुनुष्या इव नीरतीर, अनाकुलास्तिर्य्यगधः स्थिताश्च तिष्ठन्ति ते तत्र वयं यथात्र " अर्थ यह है कि जो मनुष्य जहां ठहर रहा है यह अपनेको इस प्रथिवीके ऊपर ठहरा हुआ और प्रथिवीको अपने नीचे स्थिर हो रही मानता है इस कारण प्रथिवीके चारों ओर ठहर रहे मनुष्य परस्पर अपनेको वे तिरछा समान मान रहे हैं, यानी अपनेको जपर और दूसरोंको नीचे ठहर रहा समझ बैठते हैं। जैसे कि जड़के तीरपर खड़े होकर मनुष्य नीचेकी ओर सिरवाले और ऊपर प्रथिवीकी ओर चुपटे ह्रये पांत्रवाले होते सन्ते छायाको देखते हैं । किन्तु तिरछे, नीचे, स्थित हो रहे वे मनुष्य आकुळतारहित हो कर वहीं निवास करते हैं जैसे कि हम यहां सानन्द रहते हैं। आकाशकी ओर गिर नहीं पडते हैं और भी कहा है कि " सर्वतः पर्वतारामप्रामचैत्यचयैश्वितः । कदम्बक्समप्रस्थि केसरप्रकटैं।रेत्र '' गोळाव्यायमें कदम्बके फूळकी गांठ समान पृथिवीको सब ओरसे पर्वत, गांव, बाग, नदी समुदाय करके गिरा हुआ माना है। इस भास्कराचार्यजीके कथनपर इसकी यह कहना है कि आर्र्वणशक्तिको प्रथियीमें भले ही माना जाय । किन्तु इतनी बढी आकर्षणशक्ति प्रथिवीमें नहीं है जो कि समद्र, पर्वत, आदि महान स्कन्धोंको खीचती रहे नीचेको नहीं गिरने देवे । पौद्रलिक पदार्थीमें गुरुत्वशक्ति (भारीपन) भी विद्यमान है जिससे कि वे अधःपतन स्वभाववाछे हैं । चुम्बककी आकर्षणशक्ति सुईको गिरनेसे रोक सकती है, पहाडको गिरनेसे नहीं रोक सकती है। छायाका द्रष्टान्त तुम्हारे या नैयायिक के मत अनुसार विषम पडता है, वैशेषिकोंने छायाको तेजोऽभाव माना है। अतः वह तुच्छ पदार्थ गिर नहीं सकता है। जैनसिद्धान्त अनुसार " छेतुं भेतुं अन्यत्र नेतुं नैव शक्यते " ऐसे गीरवरहित और प्रकाशको रोकनेवाळे निमित्तोंने हो रही छाया मानी गयी है। विषम दृष्टान्तसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अन्यया स्वप्नका दृष्टान्त पाकर ज्ञानाहैत या ब्रह्माहैत भी साधा जा सकता है, जो कि तमको आनिष्ट पडेगा । पदार्थीमें अनेक राक्तियोंको हम स्वीकार करते हैं । द्रप-हरके समय छंकामें मनुष्यकी दो. तीन. अंगुल छाया पडती है । और पूनाके निकट प्रान्तमें बस रहे मान्यखेटसे उत्तरकी और निवासवाके मनुष्योंकी छांड बढती जाती है। यो प्रथिवीकी गांठकी शक्तिकों

अनुसार या कुछ मीचा छंचा प्रदेश होनेसे छांह घट बढ जाती है। कई निमित्त कारणोंसे अनेक न जाने क्या क्या नैमित्तिक कार्य बन जाते हैं। कठिन छोहे (ईस्पात) का हुरा नरम शाणसे पैना हो जाता है। चमडा या कपडासे भी कुछ पैना कर छिया जाता है। जनी कपडेपरसे मैछ या तेलकी चीकट अथवा डामर तार कोलको महीका तेल या पैट्रेल थो डालता है। जैसे कि आत्मापर चुपटे हुये कर्मकलंकको तपस्या करके हटा दिया जाता है।

तथा दर्पणसमतकायामि भूमौ न सर्वेषाग्चपरिस्थित द्व्यें छायाविरहस्तस्यास्तद-भेदनिमित्तक्षितिवेषेषासद्भावात् । तथा विद्यमित समरात्रमि तुल्यमध्यदिने वा भूमि-क्रकिविद्येषादस्तु ।

तिसी प्रकार दर्पणके समान समतल भी भूमिमें सन्पूर्णके उत्पर सूर्यके स्थित हो जानेपर ल्रायाका अभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि उस ल्रायाका निमित्त कारण उस पृथिवीकी अभिन्न हो रही विशेष निमित्त शाक्तियोंका असद्भाव है। सद्भाव पाठ योग्य है। भावार्थ—जल, लहरवाला जल, लहरा, रिवत पात्र (कर्ल्ड्दार गिलास) आदिमें जो नाना प्रकार प्रतिविक्त पढते है। उसका निमित्त कारण उन पदार्थोंकी आत्मभूत हो रहीं विभिन्न शक्तियों हैं। उसी प्रकार मध्याहमें जब सिरके उत्पर सूर्य आ जाता है तब भी भूमिकी विभिन्न शक्तियों अनुसार थोडीसी छाया पढ जाती है। सूर्यकी ठीक सीधी अधोरेखापर आजानेका किसी मनुष्यको कदाचित्त ही अवसर पडता है। सीधी अधोरेखाके थोडा भी इधर उधर हो जानेपर छाया पढ जायगी। तथा विश्वमान् अवस्थामें दिनके सनान रातका होना अथवा तुल्य मध्यदिनका होना भी भूमिकी शक्तिविशेषसे हो जाओ। अर्थात्—सिद्धान्तिशियोगिणिके अनुसार लंका और उच्जैनके उत्पर जाती हुई कुरुक्षेत्र आदि देशोंके छू रही दोनों धुवोंके उत्परकी रेखाको भूमध्यरेखा या विश्वमत् रेखा माना गया है। विश्वमद् इत्त अवस्थामें दिन और रात समान हो जाते हैं। ये सब बातें भूमिकी शक्ति और सूर्यके अमण विशेषोंसे साध्य हैं।

भाच्याग्रुद्यः भतीच्यामस्तमयः सूर्यस्य तत एव घटते । कार्यविशेषदर्शनादृद्रव्यस्य शक्तिविशेषातुपानस्याविरोधात् अन्यथा दृष्ट्यनेरदृष्टकस्यनायाश्चावद्यंभावित्वात् । सा च पापीयसी महामोहविजृंभितमावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी भूमिकी विशेषशाक्तिओंसे पूर्व दिशामें सूर्यका उदय और पश्चिम दिशामें सूर्यका अस्त होना घटित हो जाता है। क्योंकि विशेषकार्योंके देखनेसे द्रव्यकी विशेष शाक्तिओंके अनुमान हो जानेका कोई विशेष नहीं है। अन्य प्रकारोंसे यदि सूर्यके उदय, अस्त, होने माने जायंगे तो देखे जारहे की हानि और अदृष्टपंदार्थ की कल्पना अवस्य हो जावेगी। जो कि वह दृष्टहानि और अदृष्टभूत्य के अम्प्रकारियोंके महान् मेहकी चेष्टाको जता रही है।

अर्थात् ऋतुओंका परिवर्तन, वृष्टि, आंधी, जाडा, गरमी आदि पडना, नियत बनस्पतियोंकी उत्पत्ति, विमिन्न समयोंमें अनेक वृक्षोंका फलना, फलना, आदि कहीं सोना, काचित् केसर, कहीं रल, आदि का उत्पन्न होना कहीं उण्णकालमें भी शीत पडना, हिम (बरफ) गिरना, काचित् शीत कालमें भी उणाता होना इत्यादिक सम्पूर्ण कार्य जैसे भूमिकी शक्तिसे होजाते हैं, उसी प्रकार पर्वतमय भूमिके उरली ओर आजानेपर सूर्यका उदय और परली ओर जानेसे सूर्यका अस्त होना बन जाता है। भूमिकी शक्ति अनुसार सूर्यकी किरणें कहीं दूरतक फैलती हैं और कहीं निकट प्रदेशोंतक ही जा पाती हैं। चौमासेमें दिन फलनेपर देख सकते हो। भगोंनामें पानी भर देनेपर बीचमें घरा हुआ रुपया ऊंचा उठा हुआ दीखता है। बादलोंमें कभी सूर्य भी इसी प्रकार देरतक प्रकाश कर फिर झट रात होजाती देखी जाती है। बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध होरही बातको टाल देना और बिलकुल नई बातको गढ लेना उचित नहीं है। "शक्तयः कार्यानुसेयाः"। भूमिकी विलक्षण शक्तियां तुमको भी माननी पडेगी। बडे भारी पापको महामोही जीव भले ही करें, विचारशील विद्वान् ऐसे अयुक्त सिद्धान्ताभासोंको नहीं गढते फिरते हैं।

न च वयं दर्पणसमतलामेय भूमिं भाषामहे मतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपच-यापचयसिद्धिर्निम्नोस्नताकारसङ्गावात् । ततो नोज्जियन्या उत्तरोत्तरभूमौ निम्नायां मध्यं दिने छायाद्यद्धिर्विरुध्यते । नापि ततो दक्षिणक्षितौ समुस्रतायां छायाद्यानिरुस्रतेतराकारभेदद्वारायाः शक्तिभेदमसिद्धेः । प्रदीपादिवादित्यास द्रे छायाया द्वद्विघटनात् निकटे प्रभातोपपत्तेः ।

तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादेविंबार्धदर्शनं विरुध्यते । भूमिसंख्यतया वा सूर्यादि-मतीतिर्न संभान्या, द्रादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननग्रक्तिसद्भावात् । न च भूमात्रनिवंधनाः सम-रात्रादयस्तेषां ज्योतिष्कगतिविशेषनिवंधनात्वादित्यावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी ऊंचे, नीचे, प्रदेशों अनुसार उदय समय और अस्त समयपर सूर्य, चन्द्रमा आदिके बिग्बोंका आधा दर्शन होना विरुद्ध नहीं पडता है। यहां. पक्षान्तर अनुसार भूमिमें संख्या होकरके सूर्य, चंद्र, आदिकी प्रतीति होना सम्भावना योग्य नहीं है। क्योंकि दूर, अतिदूर, आदि भूमिके तिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्षको उपजानेकी शक्तिका सद्भाव है। यानी पृथिविको गोल मानने बाले यह हेतु देते हैं कि चारों ओर दृष्टि पसार देखनेपर सब ओर गोल दीखता है और आकाशमण्डल गोल कटोरेके समान होकर भूमिको ढक रहा प्रतीत होता है। दूर वर्त रहे सूर्य, चन्द्रमा गोल पृथिविसे स्पर्श कर रहे हैं। अतः पृथिवी गोल है। किन्तु यह युक्ति निर्वल है। द्रव्य इन्द्रिय मानी गयी आंखोंकी आकृति मसूरकी दाल समान गोल होनेसे चारों ओर गोल घेरेमें वस्तुयें दीख जाती हैं। दूरका पदार्थ यहांसे नीचा होता हुआ दीग्व जायगा। यह दृष्टिका अम है। अलीक ज्ञानोंने परमर्थ सिद्धान्तकी पृष्टि नहीं होसकती है। दूमरी बात यह है कि समरात्रि दिन, बढना, आदि होनेमें हम जैन केवल पृथिवीको ही कारण नहीं मानते हैं। उनके कारण अन्य भी हैं। उयोतिक विमानोंकी गाति विशेषको कारण मानकर भी समरात्र आदिक होजाते हैं, इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकों हारा प्रकटीकरण करते हैं।

समरात्रं दिवावृद्धिर्हानिदोंषाच युज्यते । छायाप्रहोपरागादिर्यथा ज्योतिर्गतिस्तथा ॥ १५ ॥ खखंडभेदतः सिद्धा बाह्याभ्यंतरमध्यतः । तथाभियोग्यदेवानां गतिभेदात्स्वभावतः ॥ १६ ॥

दिनके ठीक बराबर रात्रि होना या दिन बढना, रात घटना और दिन घटना, रात बढना अथवा छाया पढना या प्रहोंका उपराग (प्रहण) होना राशिसंक्रमण आदिक जैसे ज्योतिषियोंकी गतिस हो रहे युक्तिसिद्ध हैं। अथवा उन ज्योतिषियोंकी गति अनुसार हो जाते हैं। उसी प्रकार बाहरकी गठी, अम्यन्तर वीथी, मध्यम वीथीके, अनुसार आकाशके खण्डोंके भेदसे वह ज्योतिषियोंकी गति न्यारी न्यारी सिद्ध है। क्योंकि उन सूर्य आदि विमानोंको खींचनेवाळे तिस प्रकार गतिप्रेमी आभियोग्यजातिके देवोंकी गतियां भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं। यथार्य बात यह है कि तिस प्रकार अनादि काळसे सूर्य आदिक विमान स्वभावसे ही उन उन प्रति दिनके छिये नियत हो रही गळियोंमें

भमण करते हैं। अर्थात् समरात्र आदि कार्य तो ज्योतिष्क विमानोंकी भिन भिन आकाश खण्डों में हो रही गतिके अनुसार हो जाते हैं। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका भेद भी आभियोग्य जातिके देवोंकी विशेषगतिसे या स्वकीय स्वकीय स्वभावसे ही बन रहा है।

सूर्यस्य तावचतुर्शातिशतं मंडलानि । तत्र पंचषष्टिरभ्यंतरे जंबृद्वीपस्याशीतिशतयोजनं समबगाह्य प्रकाशनाज्जंबृद्वीपाद्वाह्यमंडलान्येकाश्वर्विशतिशतं लवणोदस्याभ्यंतरे त्रीणित्रिशानि योजनशतान्यवगाह्य तस्य प्रकाशनात् । द्वियोजनमेकैकमंडलांतरं द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशयो- श्रनेकषष्टिभागाश्रैकैकमुद्यांतरं ।

उक्त वार्तिकोंका विवरण यह है। सबसे प्रथम यों कहना है कि जम्बूदीपमें सूर्यके एकसी चौरासी मण्डल माने गये हैं। पांचसी दश और अडतालीस बटे इक्सिट योजन चौडे एवं कुछ अधिक तीन लाख परिधिवाले गोल चार क्षेत्रमें सूर्यके एकसी तिरासी तो दो दो योजन चौडे अन्तराल हैं। और एक सी चौरासी सूर्य मण्डलके अमण स्थान हैं। उनमें पेंसठ तो जम्बूद्वीपके भीतर हैं। क्योंकि जम्बूद्वीपकी वेदीसे एक सी अस्सी योजनतक भीतर घुसकर सूर्य प्रकाशता रहता है। हा, जम्बूद्वीपसे बाहर लवणसमुद्रमें एकसी उनीस मण्डल हैं। क्योंकि लवणसमुद्रमें तीनसी तीस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन भीतर जाकर उस सूर्यका प्रकाशना आगमोक्त है। एक एक मण्डलका अन्तराल दो दो योजन है और अडतालीस बटे इक्सिट योजनसे अधिक हो रहे दो योजन तो एक एक उदय अवस्थाका अन्तराल कहा जाता है। अडतालीस बटे इक्सिट योजनका सूर्य है और दो योजन वीचमें रीता स्थान है। अतः यह पूरा स्थान पांचती दस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन हो जाता है। जम्बूद्वीपकी वेदीके उपर यह चार क्षेत्र पांचसी दस योजन चौडा होकर तीन लाख अठारह हजार तीनसी चौदह योजन परिधिवाला गोल व्यवस्थित है। सूर्यका चार क्षेत्र यहासे आठसी योजन उपर और चन्द्रमाका इतना ही चार क्षेत्र आठसी अस्ती योजन ऊंचा जाकर समझना चाहिये।

तत्र यदा त्रीणि श्रतसहस्राणि षोडशसहस्राणि सप्तशतानि ख्रिधिकानि परिधिपरिमाणं विश्वति तुल्लेमपत्रेशदिनगोचरे सर्वपध्यमंडलं मेर्स पंचस्त्रातियोजनसहस्रैः पंचसप्तितयोजनिश्वति तृल्लेमपत्रेशदिनगोचरे सर्वपध्यमंडलं मेर्स पंचस्त्रातियोजनिश्वति योजनैकपिशाणिश्वाप्राप्य सूर्यः प्रकाशयित तदाहिन पंचदशमुहूर्ता भवंति रात्री चेति समरात्रं सिध्यति । विषुपति दिने द्वाविशत्येकयोजनपष्टिभागसातिरेकाष्ट्रसप्तिदिशतपंच-सहस्रयोजनपरिमाणैकमुहूर्तगतिक्षेत्रोपपत्तेः ।

उन एकसी चौरासी मण्डलोंमें जब सूर्य सम्पूर्ण मण्डलोंके मन्यमें स्थित हो रहा प्रकाश रहा है, तब दिन और रात्रिमें पन्दह पन्दह मुद्धते होते हैं यों समान दिन रात सिद्ध हो जाता है। उस समय जन्नूद्वीपके सूर्यका अमण तीन लाख सोल्ड हजार और दो अधिक सातसी ३१६७०२ योजन परिचिके

परिमाणको घारता है। दक्षिणायनमें तुलाराशिक प्रवेश अवसरपर और उत्तरायणमें मेषराशिक प्रवेशक दिनका विषय होनेपर सूर्य मेरुको पेताछीस हजार योजन और पिचत्तर योजन तथा योजनके इकसठ मार्गोमेंसे चौबीस भागों करके दूर अप्राप्त होकर चमक रहा है। अर्थात-जम्ब्रद्वीपकी वेदीके ऊपर जम्बूढीपका सूर्य घूमता रहता है। उत्तरायणका प्रकरण मिळनेपर वेदीके एकसी असी योजन भीतरतक घुसकर प्रकाशता है और दक्षिणायनके दिनोंका विषय मिळनेपर वेदीसे तीनसी तीस और अडतालीस बटे इससिठ योजनतक बाहर लक्ष्ण समुद्रमें जाकर प्रकाशता है। चार क्षेत्र पांचसी दशकी आधा कर यानी एक ओरके दोसी पचपनमेंस द्वीपके चार क्षेत्र एकसी अस्तीको घटा कर पिचत्तर योजन वेदीसे बाहर हटकर बीचली गली आती है। दश हजार योजन चौढे सुमेरु पर्वतके आधे पांच इजारको अर्घ जम्बूदीप पचास हजारमेंसे घटा देनेपर वेदीसे मेरुका व्यवधान पैतालीस हजार समझा जाता है। चूंिक बीचकी गली वेदीसे पिचत्तर योजन बाहर इटकर पड़ी है। अतः मध्यम गलीसे मेरुका अन्तर पैतालीस हजार पिचत्तर योजन ४५०७५ है। "इदि जोयण एगारह भागो जदि वहुदे यहा यदि वा '' इस नियम अनुसार आठसी योजन ऊंचे सर्यके समत्रकपर सुदर्शन बहुत्तर और आठ बटे ग्यारह योजन घट गया है। एक ओरकी घटाईके लिये आधा करनेपर छत्तीस और बढ जाते हैं । अतः मध्यम गळीसे मेरुका अन्तर पैताळीस हजार एकसौ ग्यारह योजन हो जाता है । किन्तु गहां मेरुकी ग्यारहमें भाग घटाईके अनुसार छत्तीस और चार बटे ग्यारह योजनोंकी विवक्षा नहीं की गयी है। मध्यम वीथीतकका व्यास एक लाख एकसी पचास १००१५० योजन है । " विक्लंभकगदहगुण करणी वहस्स परिश्यो होदि '' इस नियमके अनुसार इसका वर्ग दस अरब तीन करोड बाईस हजार पांचसी होता है. इसको दस गुना करनेपर एक खरब तीस करोड दो लाख पद्मीस हजार १००३००२२५००० होता है। इसका वर्गमुळ निकाळनेसे तीन लाख सोलह हजार सातसी दो कुछ अधिक योजन मध्यम वीयीकी परिधि (घेरा) बन जाती है । चार क्षेत्र पांचसी दसके आधे दो सौ पचपनमेंसे एकसौ अस्सी योजन भीतरहा भाग घटा देनेपर वेदीसे पिचत्तर योजन हवण समुद्रमें घुसकर मध्यम गठी मिलती है। भीतरले एकसी अस्तीमें पिचत्तर जोड देनेसे या बाहरले तीनसी तीसमेंसे पिचहत्तर घटा देनेपर मध्यम मार्ग दो सी पचपन योजन आ जाता है। जो कि चार क्षेत्र पांचसी दसका आधा है। छड छड महीनेके उत्तरायण, दक्षिणायन गमनके ठीक विचले एक एक दिनके लिये दिन और रात समान हो जाते हैं। " कम्मासद्वगयाणं जोइसयाणं समाणादिणरत्ती. तं इसुवं '' (त्रिक्टोकसार) इसको विषुमान् या विषुव कहते हैं । विषुमान् दिनमें पांच हजार दोसौ अठहत्तर और एक योजनके साठ भागोंमेंसे बाईस भागसे अधिक परिमाणबाला स्थान एक मुहर्स यानी दो घडी अथवा अडतालीस मिनटमें हो रही सूर्यकी गतिका क्षेत्र बन जाता है। अर्थात् हाई दीपके सभी सूर्य साठ मुहूर्तमें अपनी योग्य परिधीको घूमकर पूरा कर छेते हैं। जब कि जम्बूद्वीपका सूर्य मन्यम निधीपर भमण सर रहा साठ मुक्तीमें तीन काका, सोकह बजार सात सी दो योजन कुछ

अधिक परिधिको पूरा करता है तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिपर चक्कर कगायगा ! इस त्रैराशिकके अनुसार एक मुहर्राकी गतिका क्षेत्र निकल आता है। जम्बूद्वीपमें आमने सामने सदा वर्रा रहे दो सूर्य हैं बो कि जम्बूद्वीपके अन्तमें वेदीके ऊपर एकसी चौरासी गकियोंमें घुमते रहते हैं। उवणसमुद्रमें जम्बूद्वीपकी नेदीसे पचास इजार भीतर घुसकर उठे हुये जलमागमें घूम रहा लवणसमुद्रका पहिला सूर्य है। इससे एक लाख योजन भीतर और घुसकर दूसरा सूर्य है जो कि लवणसमुद्रकी वेदी (परली) से पचास हजार योजन उरली ओर जलमें है। यों लक्षणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य हैं और इसी प्रकार सुमेरुको बीचमें देकर इनके ठीक सामने परछी ओर छवणसमुद्रमें दो अन्य सूर्य हैं, जो कि साठि मुहुर्तमें अपनी अपनी परिधिका पूरा भ्रमण कर छेते हैं । यों चारों सूर्य ग्यारह हजारसे लेकर सोलह हजार योजनतक ऊपर उठे हुये जलमें स्वकीय नियत स्थानोंपर चूमते रहते हैं। दो लाख योजन चौडे लवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य इधर उधरकी वेदियोंसे पचास हजार योजन घुसकर हैं। अतः सर्यकी चौडाई अडतालीस वटे इकसिट योजनको एक लाखमें घटा देनेसे निन्यानवै इजार नौ से निन्यानवें और तेरह बटे इकसिंठ योजन छत्रण समुद्र सम्बन्धी एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका अन्तर निकल आता है। धातकीखण्डमें बारह सूर्य हैं। " दो हो वग्गं बारस बादाळ बहत्तरिंद इणंसखा पुक्खर दलोत्ति परदो अवहिया सन्त्र जोइगणा "। जो कि एक ओर छह और ठीक उसके सामने सुमेरु पर्व-तका अन्तराल देकर परली ओर छह यूम रहे हैं। " सगरविदलविंबूणा लवणादी सगदिवायरह-हिया, सूरंतरं सुजगदी आसण्ण पहंतरं तु तस्स दर्ङं '' इस त्रिलोकसारकी गाधा अनुसार सूर्य सूर्यका अन्तर और वेदिकासे सूर्यका अन्तर निकाळ छेना चाहिये । इसी प्रकार काळोदक समुद्र और पुष्करार्ध द्वीपके न्याठीस और बहत्तरि सूर्योंको भी जान छो। एक ओर आधे और इसी प्रकार दूसरी ओर सुद-र्शन मेरुका व्यवधान देकर इकईस और छत्तीस सूर्य तारतम्यको छ रही गतिसे अमण कर रहे हैं। दो दो सूर्य और दो दो चन्द्रमाका चार क्षेत्र एक एक नियत है। हां, ढाई द्वीपसे बाहर द्वीपों और समुद्रोंकी बेदीसे पचास हजार योजन और उससे परें एक छाख योजन चढ कर गोछ द्वीप, समुद्रोंमें बल्य रचलिये गये हैं। उनमें एक सौ चवालीस, एक सौ अडतालीस, आदि नियत हो रहे सूर्य-बिम्ब सूक्ष्म परिधिके विभाग अनुसार अवस्थित हैं। यों ढाई उद्धारसागरके समयों प्रमाण असंस्थाते द्वीप समुद्रोंमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा आदि हैं । इसका विशेष त्रिलोकसारमें दृष्टव्य है ।

दक्षिणोत्तरे समप्रणिधीनां च व्यवदितानामपि जनानां प्राच्यमादित्यपतीतिश्च छंकादि-कुरुक्षेत्रांतरदेशस्थानामभिमुखमादित्यस्योदयात् । अष्टचत्वारिंशचौजनैकषष्टिभागत्वात् प्रमाण-योजनापेक्षया सातिरेकत्रिनवतियोजनञ्जतत्रयमगणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया दूरोदयत्वाच स्वाभिमुखळंषीद्वपविभाससिद्धेः ।

दक्षिण और उत्तरदेशोंमें समान रेखान्तरपर प्राप्त हो रहे और दूरदेशका व्यवधान होड रहे भी मनुष्योंके पूर्वदिशामें ही सूर्यके उदयकी प्रशीति हो रही है। क्योंकि उद्भारे आदि डेकार कुरुक्षेत्रतक अनेक मध्यवर्ती देशों में स्थित हो रहे मनुष्यों के अभिमुख होकर सूर्यका उदय हो रहा है। कारण कि बड़े माने जा रहे प्रमाण योजनकी अपेक्षा एक योजनके इकसिट मागों में अडताछीस माग परिमाण सूर्य है। चूंकि चार कोसके छोटे योजनसे पांचसी गुना बड़ा योजन होता है। अतः अडताछीसको पांचसीसे गुणा कर देनेपर और इकसिटका भाग देनेसे तीनसी तिरानवे सही सत्ताईस बटे इकसिट छोटे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेघ अंगुळसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसी तिरानवे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेघ अंगुळसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसी तिरानवे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेघ अंगुळसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसी तिरानवे योजनका एक घनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन, ऐसे तीनसी तिरानवे योजन छम्बा चौड़ा सूर्य है। दूसरी बात यह है कि उगते समय यहांसे हजारों बढ़े योजनों दूर सूर्यका उदय होनेसे व्यवहित हो रहे मनुष्योंके भी अपने अपने अभिमुख आकाशमें छटक रहे देदीप्यमान सूर्यका प्रतिभासना सिद्ध है। भावार्य—सूर्य भी बड़ा है और चमकदार है तथा उदय होते समय सूर्य यहांसे बहुत दूर है। सबसे बड़ा दिन हो जानेपर सैंताळीस हजार दो सी त्रेसिट बड़े योजन दूरपर रहता है और छोटे दिनके अवसरपर इकतीस हजार आठसी इकतीस योजन दूर है। अतः छङ्का, उज्जेन, कुरुक्षेत्र, आदि दूर दूर देशोंपर ठहरे मनुष्योंको भी अपनी पूर्व दिशाकी और समुखरेखापर दीख जाता है। जितना बड़ा या दूरवर्ती पदार्थ होता है उतनी ही देखनेवाळोंको उसकी सरळ रेखाकी टेड कमती होती जाती दीखती है।

द्वितीये अहिन तथा मितभासः कृतो न स्यात्तदिविश्वेषादिति चेन्न, मंडलांतरे सूर्यस्यो-दयात् तदंतरस्योत्सेधयोजनापेक्षया द्वाविशत्येकषष्टिभागयोजनसहस्रममाणत्वात्, उत्तरायणे तदुत्तरतः मितिमासस्योगपत्तेः दक्षिणायने तद्दक्षिणतः मितिभासनस्य घटनात्।

कोई प्रतियादी आक्षेप करता है कि दूसरे दिन तिस प्रकार अपने ठीक सन्मुख गगनतलमें अवलियत हो रहे सूर्यका प्रतिभास किस कारणसे नहीं हो पाता है ! जब कि उतने ही बढे सूर्यका उतनी ही दूरपर उदय होना अन्तररहित निर्धमान है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दूसरे दिन अगले दूसरे मण्डलमें सूर्यका उदय हो जाता है । पहिले दिनके सूर्योदयके इस दूमरे दिनके सूर्योदयका अन्तर छोटे उत्सेध योजनोंकी अपेक्षा एक हजार योजनप्रमाण हो जाता है । अर्थात्—एक एक मण्डलका अन्तर बढे योजनोंसे दो योजन है । पाच सो से गुणा कर देनेपर छोटे एक हजार योजन हो जाते हैं । " दीडबि चारिक वेदीए दिणगदीहिदे उदया " इस नियमके अनुसार बाईस बटे इकसिठ बढे योजन प्रमाण संख्या निका ह छेनी चाहिये । स्थूल रूपसे सर्वत्र जम्बूदीप सम्बन्धी एक सौ चौरासी मण्डलोंमें प्रत्येकका एक एक हजार छोटे योजनंका न्यवधान पढ़ा हुआ है । अतः सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन लंका, कुरुक्षेत्र आदिके उत्तरकी ओर झुकता हुआ पूर्वमें प्रातःकाल सूर्योदयका प्रतिमास जाना चटिक वन जाता है । और दक्षिणायनमें उन देशोंसे दक्षिणकी और हो रहे सूर्योदयका प्रतिमास जाना चटिक

हो जाता है। छोटे इजार योजन इट इटकर प्रति दिन उदय होनेसे उत्तर दक्षिणकी भोर सूर्यों- दयका प्रतिमासना उन्तित ही है।

सूर्यपरिणामदक्षिणोत्तरसमप्रणिधिभूभागादन्यभदेशे कृतः पाची सिद्धिरिति चैत्, बद-नंतरमंडछे तथा सर्वाभिम्रखमादित्यस्योदयादेवेति सर्वमनवद्यं, क्षेत्रांतरेपि तथा व्यवहारसिद्धेः।

कोई पूंछता है कि सूर्योदय परिणामके धारी पूर्वदेशों या उसके समतल निकटवर्ती उत्तर दक्षिण भूभागोंमें सूर्योदय अनुसार पूर्विदेशाकी मले ही प्रसिद्धि हो जाय, किन्तु उनसे न्यारे अन्य प्रदेशोंमें मला पूर्विदेशाकी सिद्धि किस ढंगसे करोगे ! इस प्रकार पूछनेपर तो हम समाधान करते हैं कि उसके अन्यवहित परली ओरके मण्डलपर तिस प्रकार दूरवर्ती होकर सबके सन्मुख तीन सी जानवे छोटे योजन लम्बे चीडे सूर्यके उदय होनेसे ही पूर्विदेशाकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् — जम्बूद्धीपके आमने सामने हो रहे दो सूर्य जब जम्बूद्धीपकी वेदीके ऊपर पांच सौ दस योजन क्षेत्रमें सब ओर घूम रहे हैं तो सबसे पहिले उदय अनुसार सब देशवालोंको पूर्विदेशाकी सिद्धि हो जाती है, सूर्योदय अनुसार पूर्विदेशाकी कल्पना करनेपर भिन्न भिन्न देशवालोंको दिशालोंका सांकर्य भी हो जाता है, तभी तो " सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः " यह नियम अञ्चण्ण बन जाता है। इस प्रकार जैनसिद्धान्त अनुसार सम्पूर्ण व्यवस्था निदीष बन जाती है। हैमवत, हिर, विदेह, आदि न्यारे त्यारे क्षेत्रोंमें भी तिस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिशाओंके व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं आता है।

तदेतेन माचीदर्शनाद्धरायां गोलाकारतासाधनममयोजकमुक्तं तत्र तत्र दर्पणाकारतायामपि माचीदर्शनोपपचेः। यदा तु सूर्यः सर्वाभ्यंतरमंडले चतुश्रत्वारिश्चयोजनसङ्सैरष्टाभिश्च योजनशतैर्विशैर्मरुपय प्रकाश्चयति तदाइन्यष्टादश्च मुहूर्ता भवन्ति । चस्वारिश्चषद्छताधिकनवनवतियोजनसङ्खविष्कंभस्य त्रिगुणसातिरेकपरिधेस्तन्यण्डलस्यैकाकात्रिश्चयोजनषष्टिभागाधिकैकपंचाशद्विश्वतोत्तरयोजनसङ्खपंचकमात्रमुहूर्तगतिक्षेत्रत्वसिद्धेः सेषा मक्कपर्यन्ततः माप्ता दिवाबद्विहानिश्च रात्री सूर्यगतिभेदादभ्यंतरमंडलात सिद्धा ।

तिस कारण इस कथन करके उस भूगोलको माननेवालेका यह हेतु अनुकूलतर्करित कह दिया जा चुका है कि प्राची दिशाके देखनेसे पृथिवीमें गोल आकारका साधन कर लिया जाता है। क्योंकि उन उन प्रान्तोमें भूमिका दर्पणके समाम समतल आकार होनेपर भी पूर्वदिशाका दीख जाना बन जाता है। अर्थात्—म्यारे न्यारे मण्डलोंपर सूर्यका उदय हो जानेसे अनेकदेशीय पुरुषोंको भिन्न भिन्न दिनोंमें अपने अपने सन्मुख सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशा दीख जाती है। हां, जिस समय सूर्य सबसे बढ़े दिनके अवसरपर सम्पूर्ण मण्डलोंके भीतरले मण्डलमें क्यालीस हजार योजन और आठ

सौ बीस योजन भेरुसे दूर अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब तो दिनमें अठारह मुहूर्त हो जाते हैं। आधा मेरु ५००० योजनका है। और सूर्य १८० योजन भीतर आ गया है। दोनों ओर छह सौ चालीस योजनोंसे अधिक निन्यानवे हजार ९९६४० योजन अम्यन्तर बीधीकी चौडाई हो जाती है। '' विक्खम्भवग्गदहगुण करणी बहस्स परिग्यो होदि '' इस नियम अनुसार कुछ अधिक तिगुनी अर्थात्—तीन छाख पन्द्रह हजार नवासी ३१५०८९ योजन इमकी परिधि है। एक सूर्य साठ मुहूर्तमें जब इतनी परिधिका अमण करता है, तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिको पूरा केगा ! इस त्रैराशिक विधिक अनुसार पांच हजार दो सौ इक्यावन योजन और एक योजनके उन्तीस बटे साठि भाग अधिक एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होना सिद्ध हो जाता है। सो यह सूर्यके सबसे भीतरछी गलीपर पूमनेके दिन अठारह मुहूर्त यानी चौदह सही दो बटा पांच घन्टे प्रकर्पपर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी हिस है। और इसी दिन बारह मुहूर्तकी रात है। अतः यह रातकी सबसे बढी हुयी हानि है। जो कि सूर्यकी गति विशेषसे हो रही उसके अभ्यन्तर मण्डलपर आनेसे सिद्ध हो जाती है।

्यदा च स्यैः सर्ववाद्यमंडले पंचचत्यारिंशत्सहसै क्षिभिश्र शतै स्विशैर्योजनानां मेरुमप्राप्य भासयित तदाहिन द्वादश्च हुतीः । पष्ट्यिकशतषट्कोत्तरयोजनशतसहस्रविष्कंभस्य तित्रग्रण-सातिरेकपरिधेः तन्मंडलस्य पंचदशैकयोजनपष्टिभागाधिकपंचात्तरशतत्रयसहस्रपंचकपरिमाण-गति स्कृतिक्षेत्रत्वात् सेषा परमप्रकर्ष विन्तप्राप्ता ताविद्विद्वाहानिवृद्धिश्च रात्रौ सूर्यगतिभेदाद्वाह्याद्व-गनसंडमंडलात् सिद्धा ।

तथा जिस समय मूर्य जम्बूडीपकी वेदीसे समुद्रकी और तीन सौ तीस अडतालीस बटे इकसिट योजन अधिक इटकर सबसे वाहर के मण्डलपर पैतालीस हजार तीन सौ तीस ४ ५३ ३० योजनों करके घरको अश्राप्त होकर प्रकाशता है, तब दिनमें बारह मुद्रुर्त हो जाते हैं। एक लाख छह सौ साठ १००६६० योजन बाहरली बीधीकी चीडाई है। दोनों ओरके पथ व्यास पिण्ड छवानवें बटे इकसठ योजनकी विवक्षा नहीं की गयी है। उस वादरले मण्डलकी इसने कुछ अधिक तिगुनी यानी तीन लाख अठारह हजार तीन सौ चौदह ३१८३८४ योजन परिषि है। साठि मुहूर्तमें इतनी परिषिको पूरा यूमता है, तो एक मुहूर्तमें मूर्य कितना यूमगा ? इसका उत्तर एक योजनके साठि भागोंमें चौदह या पन्दह भागसे अधिक पाच हजार तीन सौ पांच योजन है। इतने योजन परिमाणवाला एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होता है। सी यह तो परमजक्षके पर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी हानि है। अर्थात्—बाहरकी गलीमें यूमनेपर बारह मुहूर्त यानी १३ घन्टाका दिन होता है। तथा यह रातमें सबसे बढ़ी हुर्यी दृष्टि है। अर्थात्—इस दिन सबसे बड़ी अठारह मुहूर्तकी रात होती है। जो कि सूर्यकी गति विशेष अनुसार पांचसी दस योजन सम्बन्धी आकादा प्लप्क बाहरले मण्डलसे हो रही सिद्र हो जाती है।

मध्ये त्वनेकविधा दिनस्य मुद्धिहोनिश्चानेकमण्डलभेदात् सूर्पगतिभेद्धादेव सुशागमं, मंडलं प्रयागणनं च प्रत्येतच्या तथा दोषामृद्धिर्हानिश्च युज्यते ।

दिनकी सबसे बडी बृद्धि अठारह मुहूर्त और सबसे प्रकृषि हानि बारह मुहूर्तकी सिद्ध कर दी गयी है। मध्यमें होनेवाली अनेक प्रकार दिनकी वृद्धियां और हानियां तो अनेक मण्डलिंक भेदसे सूर्यकी गातिक भेद अनुसार ही हो जाती हैं। आगम अनुकूल और मण्डलपर गृति अनुसार तथा परिधि गणनाका अतिकम नहीं कर समझ लेनी चाहिये। तिस ही प्रकार रात्रिकी बृद्धि और हानियां मी समुचित हो रहीं युक्त बन जाती हैं। भावार्थ—" सून्दो दिणरत्ती अद्वारस बारसा हुंद्धताणं अन्मन्तरिक्ट एदं विवरीयं बाहिरिक्ट हो " " कक्कडनयेर सन्वन्भन्तर बाहिर पहिंडिओ होदि, मुह्मूभीण विसेसे बांथीणंतरिहदे पचयं " (त्रिलो कसार)। यों प्रति दिन दिन और रातकी हानि या वृद्धिका चय दो बढे इक्सिंठ मुहूर्त समझ लेना चाहिये।

तदेतेन दिनरात्रिद्यदिहानिदर्शनाद्भवा गोलाकारतानुमानमपःस्तं, तस्यान्यथानुप्रपत्ति-वैकल्यादन्यथैव तदुपपत्तेः।

तिस कारण इस कथन कर के भूगोलगादिगों के इन अनुभान का भी खण्डन कर दिया, गया समझो कि पृथिनी का आकार गोल है (प्रतिज्ञा) क्यों कि दिन या रातकी बृद्धि और हानियां देखीं जा रही हैं (हेतु)। बात यह है कि उस हेतु की अपने साध्य के साथ अनिनामात्र बने पृहनिकी विकलता है। साध्य के निना ही उस हेतु की उपगति हो। जाती है। भावार्थ — पृथ्वी के बस्त आकारके साथ दिन या रातकी हानि, बृद्धियों का नियम नहीं है। सूर्य की अनेक मण्डलोंपर हो रही गतिके अनुसार वह दिन और रातका घटना, बढना दूसरे प्रकारोंसे ही बन जाता है।

तथा छाया महती दृरे सूर्यस्य गतिमनुनः तयित अंतिके श्रित्वरा न पुनर्भू मेर्गोछका-कारतामिति छायाद्विद्धानि दर्शनमिष सूर्यगति मेद्दिवितक नेत्र । मध्यान्हे कि चिच्छायात्रि रहेषि परत्र तहर्शनं भूमेर्गो छाकारतां गनयित समभूमी तद् नुपपति रित चेत्र, तदापि भूमिनिम्नत्वो-कात्त्वित्रोषमात्रस्येत्र गतेः तस्य च भरतेरा वत्यो दृष्टरवात् " भरतेरा वत्याद्विद्धि हासीं षद्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां इति वचनात् ।

उक्त वार्ति तोंमें इसके आगे छाया पड़ी हुई है। इसका विवरण यों है कि तिसी प्रकार सूर्यके दूर होनेपर बड़ी छम्बी पड़ रही छाया और सूर्य के निकट होनेपर अति अल्प हो रही छाया भी सूर्य की गतिका ही अनुमान कराती है। किन्तु किर पृथिशिके गोल आकारसहितपनकी अनुमिति नहीं कराती है। इस प्रकार छायाकी इदि जौर छायाकी हानिका दीख़ना भी सूर्य की भिन्न भिन्न गति-आँको निभिन्त पाकर ही हुआ कहन चाहिये। अतः प्रातःकाल सूर्य के दूर रहनेपर दक्ष, गृह,

मनुष्य आदिकी छाया छम्बी पडती है और मध्यान्द्रतक सूर्यके निकट आ जानेपर छाया छोटी छोटी होती जाती है। पुनः मध्यान्हसे सायंकालतक सूर्यके अधिक अधिक दूर होते जानेपर छाया बढती चकी जाती है। दैदींच्यमान पदार्थोंके दूर निकट जाने आ जानेपर छाया बढती, घटती, हो रही प्रसिद्ध है। कवि कहता है कि "आरम्भग्रवी क्षयिणी क्रमेण क्रवी परा बृद्धिमती च पश्चात . दिनस्य पूर्वार्धपरार्थिमन्ना छायेव मैत्री खलसम्बनानाम् ''। यदि यहां कटाक्ष करे कि मध्यान्हके समय किसी देशमें छायाका अभाव होनेपर भी दूसरे देशोंके इपहरके समय उस छायाका दर्शन हो रहा (हेतु) भूमिके गौछ आकारको साध देवेगा । क्योंकि समतक भूमिमें वह कहीं छायाका न होना और कहीं होना नहीं बन सकता है। भावार्थ-सूर्यकी निचली ओर ठीक सीधी रेखा पर खड़े हुये मनुष्यकी छाया नहीं पडती है । हां. गोल प्रधिवीके कुछ इधर उधर बगडमें खडे हो जानेसे तिरछे होगये मनुष्यकी दोपहरको छाया अवस्य पढ जायगी। भन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब भी भूमिके केवल नीचेपन या ऊंचेपन विशेषोंकी ही उस हेतसे इति हो सकेगी और वह भूभिका नीचा ऊंचापन भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें काल्यश हो रहा देखा जा चुका है। स्वयं पूज्यचरण सूत्रकारका इस प्रकार वचन है कि भरत बरावत क्षेत्रोंके बादि और हास छह समयवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंकरके हो जाते हैं। अर्थात--भरत और ऐरावतमें आकाशकी चौडाई न्यारी न्यारी एक छाखके एकसौ नब्बेवें भाग यानी पांचसी क्रव्यीस सही कह वटे उनईस योजनकी ही रहती है। किन्तु अवगाहन शक्तिके अनुसार इतने ही आकाशमें भूमि बहुत घट, बढ, जाती है। न्यूनसे न्यून पांचसी छन्त्रीस छह बटे उनीस बोजन भूमि अवस्य रहेगी। बढनेपर इससे कई गुनी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थल कहीं वीसों कोस ऊंचे, नीचे, टेढे, तिरछे, कौनियाये, हो रहे हो जाते हैं । अतः भ्रमण करता हुआ सर्य जब दुपहरके समय ऊपर आ जाता है, तब सूर्यसे सीवी रेखापर समतल भूमिमें खडे हुये मनुष्योंकी छाया किंचित् भी इधर उधर नहीं पडेगी। किन्तु नीचे, ऊंचे, तिरछे, प्रदेशोंपर खडे हुये मनुष्योंकी छाया इधर उधर पड जायगी। क्योंकि सीधी रेखाका मध्यम ठीक नहीं पडा हुआ है: भछे ही जकडीको टेडी या सूथी खडी कर उसकी छायाको देखळो ।

तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभनायुरादिभिर्द्वद्विहासौ भितपादितौ न भूमेरपरपुद्रछैरिति न मंतव्यं, गीणशब्दाभयोगान्मुरूयस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे भयोजनाभावात् । तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्द्विद्वासौ मुख्यतः भितपत्तव्यौ, ग्रुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफळतामस्तु ते भवीविश्वानुरूषंघिता स्यात् ।

थोडे आकाशमें बडी अवगाहनावाठी वस्तुके समाजानेमें आश्वर्य प्रगट करते हुये कोई बिहान् यों मान बैठे हैं कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी इदि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहनेवाछे

ममुन्योंके शरीरउञ्चता, अनुमव, आयु, सुख, आदि करके बृद्धि और न्हास होरहे सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्रलॉकरके भूमिके वृद्धि और व्हास सूत्रमें नहीं कहे गये हैं। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि गीण होरहे शब्दोंका सन्नकारने प्रयोग नहीं किया है । अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है । अन्य प्रकारोंसे यानी तत्में स्थित होनेसे तत् शब्दपनेकी सिद्धि या " भरतऐरावतयोः " को सप्तभी विभक्तिका रूप मान छेना इन ढंगोंसे मुख्य शन्दके अर्थका अतिक्रमण करनेमें कोई प्रयोजन नहीं दीख रहा है। " मंचाः क्रोषन्ति " " गंगायां घोषः " आदि स्थलोंपर तात्पर्यकी अनुपपति होनसे सुख्य अर्थका उक्कंघन कर गौण अर्थका आदर कर लिया जाय। किन्तु यहां वृद्धि और हास इन कृदन्त क्रियाओंका योग हो जानेसे " भरतऐरावतयो: " इस षष्ठयन्तपदका उनमें आधेय हो रहे मनुष्य, पशु, आदिक यह गीण अर्थ नहीं किया जा सकता है। विचारशाली दार्शनिक सूत्रकार आलंकारिक कवियोंकी छटामें निमग्न नहीं हैं । अतः भरत ऐरावत शब्दका मुख्य अर्थ पकडना चाहिये । तिस कारण भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रोंकी दृद्धि और हानि हो रही मुख्यरूपते समझ छेनी चाहिये। हां, गीणरूपसे तो उन दोनों क्षेत्रोंमें ठहर रहे मनुष्योंके अनुभव आदि करके वृद्धि और हास हो रहे समझ छो, यों तुम्हारे यहां सूत्रकारका तिस प्रकार वचन सफळताको प्राप्त हो जाओ और क्षेत्रकी बृद्धि या हानि मान छेने पर प्रत्यक्षसिद्ध या अनुमान सिद्ध प्रतीतियोंका भी उल्लंघन नहीं किया जा चुका है। भावार्थ---समयके अनुसार अन्य क्षेत्रोंमें नहीं केवल भरत ऐरावतोंमें ही भूमि ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती है। तदनुसार दुपहरके समय छायाका घटना बढना या किचित् सूर्यका देर या शीवतासे उदय, अस्त, होना, घटित हो जाता है। तभी तो अगले '' ताम्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः '' इस सूत्रमें पडा हुआ " भूगयः " शब्द ब्यर्थ सम्भव होकर ज्ञापन करता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रकी भूमियां अवस्थित नहीं हैं। ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती हैं।

सूर्यस्य प्रहोपरागोपि न भूगोङङायया युज्यते तन्मते भूगोङस्याल्पत्वात् सूर्यगोङस्य तबहुर्गुणत्वात् तया सर्वप्रासप्रहणविरोधात् ।

सूर्यका प्रहों के द्वारा उपराग होना (सूर्यप्रहण) भी भूगोळकी छाया करके होरहा मानना उचित नहीं है । क्योंकि उन भूश्रमण वादियोंके मतमें भूगोळका परिमाण अल्प माना गया है । सूर्य गोळ उससे चौगुना स्त्रीकार किया है, तिस प्रकार होनेपर सर्त्रप्रासक्तप्रहण होजानेका विरोध पड़ेगा। अर्थात्—मूगोळवादी प्राचीन पण्डितोंने पृथित्रीसे सूर्यको चौगुना स्त्रीकार किया है । यदि पृथिवीकी छायासे सूर्यप्रहण माना जावेगा तो भरपूर सूर्यका ढक जाना ऐसा खप्रास प्रहण नहीं पड सकेगा । क्योंकि छोटा पदार्थ बडे पदार्थको पूरा नहीं ढक पाता है । आधुनिक कई युरोपीय विद्वान सूर्यको भूमिसे एक सौ आठ गुना पा तेरह छाख गुना अथवा पन्तह छाख गुना स्त्रीकार करते हैं । आर्थभर,

छ्लाचार्य, आदि मारतवर्षाय विद्वान् भी पृथिवित सूर्वको बडा मान बैठे हैं। ऐसी दशामें भूगोलकी छायासे सर्वीग सूर्वप्रहण नहीं हो सकेगा।

एतेन चंद्रछायया सूर्यस्य प्रहणमपास्तं चंद्रमसोपि ततील्पत्वात् । क्षितिगोलचतुर्गुणछा-यावृद्धिघटनाचंद्रगोलवृद्धिगुणछायावृद्धिघटनाद्वा ततः सर्वप्रासं प्रहणमिकद्धमेवेति चेत् कृतस्तत्र तथा तच्छायावृद्धिः । सूर्यस्यातिद्रत्वादिति चेन्न, समतलभूमावपि तत एव छायावृद्धिप्रसंगात् ।

चन्द्रकी छाया करके सर्यका प्रहण पडना भी इस कथन करके खण्डित कर दिया गया है। क्योंकि उस सुर्यक्षे चन्द्रमाका भी परिमाण अल्प माना गया है। अल्प परिमाणवाले पदार्थक्षे बडी परिमाणवाली वस्तुका एक अंश मले ही दक जाय, किन्तु परिपूर्ण प्राप्त कथमि नहीं हो सकता है। भावार्थ-आर्यभद्रकृत क्षोक है कि " छादपति शशी सूर्व शाशनं च न महती भूष्ठाया " प्रहणके अवसरपर चन्द्रमा सूर्यको और बडी पृथित्रीका छाया चन्द्रमाको ढक छेती है। सूर्य सिद्धान्तमें भी कहा है कि " छादको भास्करस्येन्द्रस्यःस्यो घनवद्भवेत् , भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशन्यस्य भवेदसी '' बृहत्संहितामें '' भूच्छायां स्वप्रहणे भारकरमर्कप्रहे, प्रविशतीन्दः प्रप्रहणे मतः पश्चा-केन्द्रोभीनीश्व पूर्वाधीत " भारकराचार्यने सिद्धान्तशिरोमाणे गोलाध्यायमें कहा है कि " पूर्वाभिमुखी गच्छन् कुच्छायानन्तर्यतः शशी विशति, तेन प्राक् प्रप्रइणं पश्चात् मोक्षोऽस्य निस्सरतः '' '' भूमि-विंधुं विधुं दिनं प्रहणोऽपि धत्ते " इत्यादिक मन्तन्य उचित नहीं है। यहा कोई भूगोळवादी कहते हैं कि दूर होनेपर छोटे पदार्थसे भी बडा पदार्थ ढक जाता है। आंखोंसे एक गज दूरपर एक छोटी सी किताबके आड़े आ जानेसे पांच सी गज दूर वर्ती सैकडों गज छम्बा चौडा पदार्थ भी दक कर ओक्षिल हो जाता है। दूरपर पदार्थों की छाया भी बढ़ जाती है। तदनुसार भूगोलसे चौगुनी छायाकी बृद्धि घटित हो जाती है। अयन चन्द्रगोलने भी कई गुनी बृद्धिरूप छ।या भी बृद्धि घटित हो जाती है। अतः उस बढी हुयी छाया अनुसार सूर्यका सर्वप्राप्त प्रहण पड जाना विरुद्ध नहीं है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां सूर्यमण्डलके निकट तिस प्रकार उस छाय की बाद्धि किस कारणसे बनेगी ? बताओ । यदि तुम भूगोळवांदी यों कहो कि सूर्य अत्यन्त दूर है, इस कारण धत्रे के फूल समान छाया उत्तरीत्तर बढती हुयी जा रही बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्यों कि समतलमें भी तिस ही कारण यानी सूर्यके अति दूर होनेसे ही छायाकी बृद्धि होजानेका प्रसंग आजाता है। फिर तुमने छायाकी बृदिसे भूमिक गोड आकारको क्यों साधा था ! अर्थात्—ध्रमण करते हुये सूर्यके दूर देश या निकट देशमें वर्तनेपर छायाका बढना या घटना सध जाता है।

क्यं च भूगोलादेरुपरि स्थितं सूर्ये तच्छायामाप्तिः मतीविविरोधात् तदा छायाविरह-मसिद्धेमध्येदैनवत् ततः तिर्यक् स्थितं सूर्ये तच्छायामाप्तिरिति चेन्न, गोलात्पूर्वदिश्च स्थिते स्वी पश्चिमदिगभिद्धारत्वज्ञयोपपचेस्तत्माप्त्ययोगात् । सर्वदा तिर्यनेव सूर्यम्रहणसंमृत्ययमसंगात् । मध्यं दिने स्वस्थापरि तत्मतीतेश्र क्षितिगोछस्याधःस्थिते भानी चंद्रे च तच्छायया ग्रहणमिति चेक्र, रात्राविव तददर्शनमसंगात् ।

दसरी बात यह कहनी है कि भूगोल, चन्द्रगोल, आदिके ऊपर जब सूर्य स्थित होजावेगा तो ऐसी दशामें उनकी छाया सर्यपर किस प्रकार प्राप्त होजावेगी ! क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध होजा-बेगा । उस समय तो मध्यान्हके समान छायाका विरह्न प्रसिद्ध होरहा है । यदि भूअपणवादी पण्डित यहां थीं उत्तर कहे कि उन भूगोल आदिसे सूर्यके तिरका स्थित होनेपर सूर्यमें उनकी छाया प्राप्त होजाती है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि भूगोलसे पूर्व दिशाओं में सूर्यके स्थित होजानेपर पश्चिमदिशाके अभिमुख छाया होना बनेगा। अतः उस सूर्यपर पृथित्री या चन्द्रमाकी छाया प्राप्त होनेका योग नहीं बन पावेगा। सर्वदा तिरछे ही सूर्यप्रहण होनेके भन्ने प्रकार ज्ञान होनेका प्रहंग आवेगा, किन्तु दिनके मध्यभागमें आकाशके ऊपर उस सूर्यप्रहणकी प्रतीति होरही है। फिर भी कोई यों कहे कि सुगेलिक नीचे सर्य और चन्द्रमाके स्थित होजानेपर उनकी छाया करके सर्यप्रहण पड जानेगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि रातमें जैसे सूर्यप्रहणका दर्शन नहीं होता है, उसीके समान दिनमें भी उस सूर्यप्रहण के नहीं दीखनेका प्रसंग आवेगा। अर्थात्—राहु अरिष्ट विमाणा किंचुणं जोयणं अधोगंता छम्मासे पब्बंत चंदरवी छादयंति कमे '' इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार नीचे, नीचे चल रहे राह्न और अरिष्ट विमानों करके सूर्य और चन्द्रमाका प्रहण पडना मानना चाहिये । यों छाया पड जानेसे प्रहण नहीं होजाते हैं । चन्द्रविमानके चार प्रमाणांगुल नीचे राहुका विमान और सूर्य विमानके नीचे चार अंगुल नीचे अरिष्टका विमान भ्रमण करता रहता है। अन्य दिनोंमें ये त्रिमान अगल बगल रहते हुये चुमते हैं। अमावस्या या पूर्णिमाके दिन अदाचित् नाचे आजानेपर प्रहण दिवस मान छिया जाता है। यो पूर्णिमाके अतिरिक्त चन्द्रमाक नीचे सदा ही राहुका विमान तारतम्य अनुसार भ्रमण करता रहता है। जोकि प्रत्यक्षित है। इस विषयके तलस्पर्शी विद्वान् भूगोल या सूर्यप्रहण आदिका अन्य समीचीन युक्तियों द्वारा अच्छा विवेचन कर छेवें। " नहि सर्वः सर्वविद् "। मेरे निकट इस विषय के साधन अत्यल्प हैं। श्री विद्यानन्द स्वामीकी युक्तियां अकाट्य हैं। हां, मेरे लेखमें त्रुटियां होना सम्भव है। " तद्धि जानन्ति तद्विदः" उस विषयको उसकि परिपूर्ण अन्तः प्रवेशी विद्वान जान सकते हैं। मनीविणः शोधयन्त ।

नतु च न तयावरणरूपया भूम्यादिछायया ग्रहणप्रुपगम्यते तदि द्विर्यतो ऽयं दोषः । किं तिर्दे हैं उपरागरूपया चंद्रादी भूम्यायुपरागस्य चंद्रादिग्रहणव्यवहारिवषयतयोपगमात् । स्फिटिकादी जपाकुमुमायुपरागवत् तत्र तदुपपचेरिति किश्चित्, सोपि न सत्यवाक् तथा सित सर्वदा ग्रहणव्यवहारमसंगात् भूगोकात्सर्वदिश्च स्थितस्य चंद्रादेस्बदुपरामोपपचेः । जपाकुन

सुमादेः समंततः स्थितस्य स्फटिकादेस्तदुपरागवत् । न हि चंद्रादेः कस्यांचिदपि दिश्वि कदा-चिद्रव्यवस्थितिर्नाम भूगोलस्य येन सर्वदा तदुपरागो न भवेत् ।

मुख्रमणवादी स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि भूमि आदिकी आवरणस्वरूप हो रही छाया करके सर्य आदिका प्रहण पडना उस प्रहणके वेता विद्वानों करके नहीं स्वीकार किया जाता है। जिससे कि यह उपर्युक्त दोष लग बैठे, तो प्रहणवेत्ता विद्वान क्या स्वीकार करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि उपरागस्त्ररूप छाया करके प्रहण पडना माना जाता है। चन्द्र, सूर्य, आदिमें भूमि आदिके उपराग पड जानेको ही चन्द्र आदिका प्रहण पड जाना, इस व्यवहारके विषयपन करके स्वीकार किया गया है। जैसे कि स्फटिक, मोटे काच, आदिमें जपाका पुण्प, गुलाबका फल, डंक आदिका उपराग पढ जाता है । अतः उन चन्द्र आदिमें भूमि आदिके उपरागसे उस प्रहण पडनेकां उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ—दीप्यमान सूर्य, चन्द्रमाओं के कपर धंत्रठी प्रथिवी आदिकी छाया करके प्रहण होना हम नहीं मानते हैं । किन्तु धुंघले पदार्थकी चमकीले पदार्थपर आभा पढ जाने मात्रसे प्रहण हो जाता है। स्फटिकमें जपाकुसुमकी छाया नहीं पडती है, केवल जपा कुसुमकी आभासे स्फटिक लाल दीखने लग जाता है। जैसे घाममें लाल या हरा वस टांग देनेसे कुछ यहां वहां लाल या हरी कान्ति पड जाती है । हां, दर्पण या खड़गमें छाया पडती है । छाया और उपरागमें यही अन्तर है । यहांतक कोई भूअमणवादी कह रहा है । प्रन्यकार कहते हैं कि वह भी सत्य बोजनेवाजा नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार होनेपर सदा है। प्रहणके व्यवहार होनेका प्रसंग आवेगा। जब कि भूगोलसे सम्पूर्ण दिशाओं मे चन्द्रमा आदि स्थित हो रहे हैं ऐसी दशामें चन्द्र आदि में उस भूगोलका उपराग पडना सदा बन जायगा जैसे कि जपाकुसुम, गेंदाका कुछ, प्रदीप, आदिके सब ओर स्थित हो रहे स्फटिक आदिपर उन जपाकुसुम आदिकी कान्ति पढना स्वरूप उपराग बन बैठता है । चन्द्र आदिकी किसी भी एक दिशाम कभी भूगोलकी मला व्यवस्था नहीं होय यह तो कथमपि तुम नहीं कह सकते हो जिससे कि सदा उस भूगोलका उपराग चन्द्र आदिके ऊपर नहीं हो सके। अर्थात्—आधुनिक भूगोलबादी भी सूर्यकी प्रदक्षिणा दे रही पृथिनीको मानते हैं । और चन्द्रमाको प्रथिवीकी परिकमा दे रहा स्त्रीकार करते हैं। ऐसी दशामें चन्द्रमा या सूर्यके ऊपर भूमिका उपराग पडना सुरूभ कार्य है। चमकीले पटार्थपर यहा वहांके पदार्थकी आभा अतिशीघ्र पढ जाती है।

तस्य ततोतिविमकर्षात् कदाचिक भवत्येव मत्यासस्यातिदेशकाळ एव तदुपगमादिति चेत्, किमिदानीं सूर्योदेर्श्वनणमार्गभेदोम्युपगम्यते १ बादमम्युपगम्यत इति चेत्, कयं नाना-राशिषु सूर्यादिग्रहणं मतिराशि मार्गस्य नियमात् मत्यासस्रतम्मार्गश्रमण एव तद्घटनात् अन्यथा सर्वदा ग्रहणमसंगस्य दुर्निचारत्यात् ।

यदि पूर्वपक्षी विद्वान यों कहें कि वे चन्द्र आदिक उस भूगोळसे अत्यधिक दूर देशमें हैं। अतः देशका घ्यवधान होनेसे कदाचित् चन्द्रादिके ऊपर भूगोळका उपराग नहीं हो पाता ही है। हां, अतिनिकटवर्सी देशमें सम्बन्ध हो जानेके अवसरपर ही उस उपरागका होना माना गया है। यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि क्या इस समय सूर्य आदिके चारों ओर अमणका भिन्न भिन्न मार्ग स्वीकार किया जाता है! अर्थात—चन्द्रमा या भूमिका भिन्न भिन्न मार्गोपर अमण होना स्वीकार करनेपर ही दूर देशमें पहुंच जाना या निकट देशमें आकर चमकींळे पदार्थोपर उपराग हाल देना बन सकता है। यदि तुम परपक्षी विद्वान यों कहो कि क्या आक्षर्य है। हम अत्यर्थ रूपसे अमणके मार्गका भेद बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं। यों कहनेपर तो हम जैन आक्षेप करेंग कि बताओ अनेक राशिओंमें सूर्य आदिका अमण कैसे होगा! जब कि प्रस्पेक राशिपर अमणका मार्ग नियत कर दिया गया है। तब तो तुम्हारे विचार अनुसार अतिशय निकटवर्ती मार्गपर अमण करनेपर ही वह प्रहण पडना घटित हो सकता है। अन्य प्रकारोंसे माननेपर सर्वदा ही प्रहण पडते रहनेके प्रसंगका कठिनतासे भी निवारण नहीं किया जा सकता है।

मितराशि मितिदिनं च तन्पार्गस्यामितिनियमात् समरात्रदिवसशिद्धहान्यादिनियमामावः कृतो विनिवार्येत १ भूगोळश्वकोरिति चेत्, उक्तमत्र समायामिष भूमौ तत एव समरात्रादिः नियमोस्त्वित । ततो न भूछायया चंद्रग्रहणं चंद्रछायया वा सूर्यग्रहणं विचारसहं।

एक बात यह भी तुमसे पूंछना है कि प्रत्येक राशि या प्रत्येक दिन जब उन भूगोळ, चन्द्रमा, आदिके मार्गका कोई प्रतिनियम नहीं हैं, तो ऐसी दशा हो जानेसे समान दिन रातके होने या दिनकी वृद्धि, हानि आदिके होने नियमका अभाव हो जाना भछा किससे निवारित किया जा सकता है! अर्थात्—चाहे कभी दिन, रात, समान हो जायंगे। छह छह महीने पीछे समान दिन रात होनेका नियम नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार चाहे जब दिन रात घट, बढ, जायंगे। कोई नियत व्यवस्था नहीं रह सकेगी। यदि तुम यों कहो कि भूगोछकी शक्तिसे समान दिन रात आदिकी नियत व्यवस्था हो जायगी, प्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हम पहिछे ही कह चुके हैं कि समतछ भूमियें भी तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति और सूर्य आदिकी गतिविशेषसे ही समान रात, दिन, आदिका नियम हो जाओ। व्यर्थमें अठीक सिद्धान्तोंके गढनेसे कोई छाम नहीं है। तिस कारण पृथिवीकी छायासे चन्द्रमाका प्रहण मानना और चन्द्रमाकी छायासे सूर्यका प्रहण स्वीकार करना परीक्षा आत्मक विचारोंको सहन नहीं कर सकता है। सिद्धान्तशिरोमणिके कर्ता भास्कराचार्य या आर्यभ्र आदि विद्धानोंका मन्तन्य समुचित नहीं है।

राहुविमानोपरागोत्र चंद्रादिग्रहणव्यवहार इति युक्तसुत्पक्यामः सकस्वाधकविकस्त्वात्।

हां, नीचे चल रहे राहुके विमान द्वारा उपराग होना यहां चन्द्र आदिके प्रहणका व्यवहार करानेवाला है। इस सिद्धान्तको हम युक्तियुर्ण देख रहे हैं। क्योंकि यह मन्तव्य सम्पूर्ण कावक प्रमा- णोही रहित है। अर्थाह पहण में समय नीचे राहु या व्यक्तिका किमान आ जाने से स्वर्ध और चन्द्र-माकी कालि दव जाती है। त्रिलोक्सारमें कहा है। "राहु और अरिष्ठ विमानकी व्यक्ति उपक चढ़ कार अंगुल प्रमाण उपर चलकर कमसे चन्द्र विमान और सूर्ध विमान अमण करते हैं। हाई होपमें कभी कभी करह महिनेमें राहुके विमान सूर्यके ठीक नीचे भी का जाते हैं। हां, अन्य समयोगें अमल, बगल, कुल दूर ही रहते हैं। रेश टाई दीपने बाहर असंख्यात हीप समुद्र सम्बन्धी राहुके विमान तो असंख्यात सूर्यचन्द्रमाओं के ठीक नीचे न रहकर कुल इवर उधर विराज रहे हैं। यहां भी चन्द्रमाके नीचे राहुविमान केवल पूर्णिमाको छोडकर सरा कमती बहती बना रहता है। चन्द्र-प्रहुणके अवसरपर पूर्णिमाको भी नीचे आ जाता है।

न हि राहुविमानानि सूर्योदिविमानेभ्योख्यानि सूर्यते । अष्ट्रषत्वारिभयोजनैकविधिनाः गविष्कंभायामानि तत्त्रगुणसातिरेकपरिधोनि चतुर्वित्ततियोजनैकपष्टिभागवाहुल्यानि सूर्य-विमानानि, तथा पट्पंचात्रद्योजनैकपष्टिभागविष्कंभायामानि तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधौन्यष्टावि-स्रतियोजनैकपष्टिभागवाहुल्यानि चन्द्रविमानानि, तथैकपीजनविष्कंभायामानि सातिरेक्षयोजन व्यवस्थिनयर्घतृतीयभन्नःशतवाहुल्यानि राहुविमानानीति श्रुतेः ।

राहु या अरिष्टके अनेक विमान तो सूर्य चन्द्रमा आदि विमानोंसे छोटे हैं, यो शालहारा प्रतीत.
मही होते हैं। यानी सूर्य आदिके विमानोंसे राहु विमान बढे हैं। अनेक अन्तरित पदाप्रीमें आगाल प्रमाणका ही साम्राज्य है। सर्वत्र युक्तियों के प्रदर्शनकी टेन रखना प्रशस्त नहीं है। प्रकरणमें यह कहना है कि एक योजन के इकसिठ भागों में अडतालीस भागप्रमाण लम्बे, चौड, और उस चौडाईसे कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाले तथा चौडाईसे आधी चौबीस बटे इकसिठ योजन मोटाईवाले अर्द्ध गोल और उसके कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाले तथा अहाईस बटे इकसिठ योजन चौडाई, लम्बाईवाले अर्द्ध गोल और उसके कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाले तथा अहाईस बटे इकसिठ बढे योजनप्रमाण मोटाईको धार रहे अस्टियात, चन्द्र विमान हैं। तथा इन के नीचे कुछ आगे पीछे वर्त रहे पूरे बढे एक योजनकी लम्बाई चौडाईको धार रहे और कुछ अधिक तीन केन परिधिवाले तथा लाई सौ बढे धनुष प्रमाण मोटाईको धार रहे और कुछ अधिक तीन केन परिधिवाले तथा लाई सौ बढे धनुष प्रमाण मोटाईको धार रहे और कुछ अधिक तीन केन परिधिवाले तथा लाई सौ बढे धनुष प्रमाण मोटाईको धार रहे गोनोंसे अडतालीस बटे इकसिठ योजन लम्बा चौडा और इससे आमा मोटा आमे लड्ड से समान गोल है। नीचेकी ओर गोलाई है। और उपस्क्री और स्पाट तलपर अनेक देनोंस पहल बने हुये हैं। उन सबका अधिष्ठाता एक सूर्य देव (प्रतीन) है। इस सूर्य विमानकी परिधि एकसी इक्यावन बटे इकसिठ बढे योजनकी है। और चन्द्रमाका विमान लग्न बटे इकसिट योजन ती किन लग्न बटे इकसिट योजन केन चिमान केन विमान की विमान लग्न बटे इकसिट विमानकी परिधि एकसी इक्यावन बटे इकसिट बढे योजनकी है। और चन्द्रमाका विमान लग्न बटे इकसिट योजन ती विमान लग्न बटे इकसिट विमानकी परिधि एकसी स्वस्तर है। विमानकी विमान लग्न बटे इकसिट विमानकी परिधि एकसी इक्यावन विमान लग्न बटे इकसिट योजन ती है।

महाना आहि विभावकी स्वाहि, जी सह, हमसे वही पूरा एक पोजन है जिसकी विरिधि लीन सही स्वाहित आहे अह की सन हो साम है। वहीं सह विभावकी के बेट बंदे दाईसी धनुष प्रमाण है। वहीं लह विभावकी कार्य साम है। वहीं किरणोंका कैटना यानी उनके निमित्तसे अन्य पुहल पिण्डोंका निमान काला है। यहीं हहण पडनेका रहत्य है। में ही हहण दिन शुक्तकार्यों हो हा कि पीराणिक विभाव आहि है, फिर की स्तुक्क, जासकका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कि पीराणिक विभाव अधिकार काला है।

तती न चेद्रविवस्य सूर्यविवस्य वाऽर्धग्रहोपरागो कुंठविषाणत्वदर्शनं विरुध्यते । नाप्य-न्यदा तीक्ष्णविषाणत्वद्वर्शनं व्याहन्यतं राहुविमानस्यातिकृतस्य अर्धगोलकाकृतेः परभागनी-स्रक्ते सम्बन्धे अर्धगोलकाकृती सूर्यविवे चंद्रविम्वे तीक्ष्णाविषाणतया प्रतीतिघटनात् । सुन्धी-चंद्रमसां राहुणां च गतिभेद्राचद्वपरागभेदसंभवाद्रहयुद्धादिवत् । यथेत्र हि व्योतिर्मतिः विद्वा क्षमा अक्षेपरागविः सिद्ध इति स्माहादिनां दर्शनं ।

ज्ञान सूर्य दिविकानस्य राष्ट्रविकानियामा इसं भाष्यः, स्फाटिकस्थेव स्वच्छस्य तेना-सिक्रेनीका शाक्यकात् ध स्वच्छस्यं पुनः सूर्यदिविकानानां मणिनयत्वात् । तप्ततपनीयसम्बर्भाणे कोशिकासम्बर्धिनयानि व्यूर्वविकानानि, विमलसृणालवर्णानि चंद्रविकानानि अंकपणिपर्यानि कोशिकासम्बर्धिन व्यूर्विकानानि अविद्यानिपरानीति करमानमसद्भावात् ।

सर्प भादि विमानका राहुके विमान करके उपराग यानी धुंधछी कान्तिवाछा या कान्तिरहित होजाना असम्भव करने योग्य नहीं है। क्योंकि स्वच्छ स्कटिकका जैसे छाछ , जपापुष्पसे उपराग होजाता है, उसी प्रकार अंजन समान काळे उस राहु विमान करके सूर्यादिका उपराग होना सम्भव जाता है। सूर्य आदि विमानोंका स्वच्छपना तो फिर मणिमय होनेके कारण व्यवस्थित है। तपाये गये **जारु प्रवर्णके** समान प्रभाको धारनेवाले और लोहिताक्ष मणिकी प्रचुरताके धारी अनेक सूर्य विमान 🖹 । बीर निर्मेळ मृणाळ (कमळकी ढंडी) समान वर्णवाळे और मध्यमें कृतिपय काळे मणियुक्त चिन्होंको गोदमें भार रहे अनेक चन्द्रविमान हैं। एवं अंजनके समान प्रमाके धारी काली अरिष्टमणिके प्राचुर्यको लिये हुये असंख्याते राह्नविमान हैं । इस प्रकार सर्वज्ञोक्त परम आगमका सद्भाव है । भावार्थ-पूर्वका विमान तपाये सुवर्णके समान कुछ रिक्तमा िये ह्रये चमकदार हैं। इससे बारह इजार उच्च किरणें नैमित्तिक बनती रहती हैं। सूर्य, बन्द्रमा, ग्रुक, आदि ज्योतिष्क विमान मूलमें उष्ण नहीं हैं । केवल सूर्य, मंगल, अग्निज्वाल, अगस्य बादि विमानोंकी प्रभायें उच्च हैं। चन्द्रमाकी तो प्रभा भी शीतल है। चन्द्र विमान कुछ हरितपनकी किये हुने चनकदार हैं। चन्द्रमाकी नारह हजार शीतल किरणे हैं। चन्द्र विभानोंके नीचमें कई काले नीले मणिमय चिन्ह हैं तथा राहुका बिमान अंजनसमान कुछ कालिमाको लिये हुये है । जैनसिद्धान्त यह है कि सूर्य चन्द्र विमानों के अधोभाग में कुछ अन्तराङ देकर कदाचित् राहुविमान आ जाते हैं। अत: उनकी प्रमा नीचेकी और नहीं फैल पाती है। हां, अपने पूर्ण खरूपमें वे सर्वदा अक्षणण रहते हैं। यथायोग्य नीचेक पहल स्कन्धोंपर चाकचक्य नहीं पढ पाता है, जैसे कि दिवियामें धरे **■ये रत**की कान्ति चारों ओर नहीं फैल पाती है। अथवा राहुके पूर्णशित्या या कुछ भाग नीचे आ जानेपर परिस्थिति अनुसार स्वभावसे ही वैसी अत्यल्प कान्ति हो जाती है। स्वच्छ पदार्थके उन्मुख इहा और इत्यके अन्तरालमें पढ़े हुये काले नीले या धुंधले पदार्थ आ रही नैमित्तिक कान्तिको रोक देते हैं। ये सब बातें प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यहां कुत की की गति नहीं है। प्रत्यक्षत्रमाण और परमागम प्रमाणसे बाधित हो रहे कुसिद्धान्तोंका परीक्षकोंके हृदयमें आदर नहीं है।

श्विरोमात्रं राहुः सर्पोकारो वेति भवादस्य मिध्यात्वात् तेन प्रहोपरागानुपपत्तेः चराइ-मिहरादिभिरप्यभिषानात् ।

राहु नामक एक विमान है जो कि कृष्ण या शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके नीच अमण कर रहा दीखता रहता है। इस विमानके ऊपर अनेक सुन्दर प्रासाद बने हुये हैं। उनमें अपने परिवारसाहित एक राहु नामका सुन्दर, दिल्य शारीरधारी, अधिष्ठाता निवास करता है। जो कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि ऊपरका केवल सिरका भाग राहु है और नीचेका घड़ केतु है। अर्धात्—प्राणचर्चा है कि विष्णु जब अमृतको बांट रहे थे उस समय राहु नामका एक राक्षस देवताका वेप आरण कर देवोंकी पंक्तियें आ कैल था, मोहिनी क्रांचारी विष्णु भगवान्ने उसकी अमृत परीस

दिया | वह झट पी गया | इस अवसरपर सूर्य और चन्द्रमाने पैश्न्य (चुगर्छा) कर दिया | विष्णुने क्रोधवश हो करके राहुका शिर काट डाळा | किन्तु वह अपृत पी चुका था । अतः मरा नहीं । इसी कारण सूर्य और चन्द्रमाको राहु और केतु प्रस छेते हैं । कोई राहुका आकार सर्प सरीखा मानते हैं । किन्तु ये सम्पूर्ण प्रवाद मिथ्या हैं । ऐसे उन राहु या केतु करके प्रहों द्वारा उपराग होना नहीं बनता है । वराहमिहर, आदि विद्वानोंने भी ऐसा ही कहा है । बृहत्सहितामें लिखा है, " एवसुपरागकारण-मुक्तमिदं दिव्यद्यमिराचार्येः राहुरकारणमस्मिकित्युक्तः शाससद्वावः" ।

कयं प्रनः सूर्यादिः कदाचिद्राहुविमानस्यार्वाग्भागेन महतोपरञ्यमानः कुंठविषाणः स एवान्यदा तस्यापरभागेनाल्पेनोपरञ्यमानस्तीक्ष्णविषाणः स्यादिति चेत्, तदाभियोग्यदेवगाते-विश्वेषात्तिद्वमानपरिवर्तनोपपत्तः । षोडश्वभिर्देवसहस्तिरुद्धंते सूर्यविमानानि पत्येकं पूर्वदक्षिणो-परापरभागात् क्रमेण सिंहकुंजरवृषभतुरंगरूपाणि विकृत्य चत्वारि देवसहस्राणि वहंतीति वचनात् । तथा चंद्रविमानानि प्रत्येकं षोडश्वभिर्देवहस्तिरुद्धंते, तथेव राहुविमानानि प्रत्येकं षदुर्भिर्देवसहस्तिरुद्धंते इति च श्रुतेः ।

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि यदि प्रहोपरागकी व्यवस्था मों है तो फिर बताओ कि सूर्य आदिक कभी कभी राहविमानके उरछे बढ़े भाग करके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते तिस प्रकार मौधरे सींग लारिल आकारवाले कैसे हो जाते हैं ? और वही सूर्य आदिक अन्य समयोंमें उस राहुके परछे छोटे भागकरके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते मळा पैने शीगसारिखे आकारवाछे कैसे दीखने लग जाते हैं ! बताओ, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उन अवसरींपर उन विमानों के वाह क आभियोग्य जातिके देवों की गति विशेषसे उन सूर्य आदि विमानों का परिवर्तन बन जाता है। देखो, सोछह हजार देवों करके सूर्य निमान धारे जाते और चलाये जाते हैं। प्रत्येक सूर्यको एक एक पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम भागोंसे कम करके सिंह, हाथी, बैठ, और बोडेके रूप अनुसार विकिया कर चार चार हजार देव धारे रहते हैं, ऐसा शाखोंका बचन है। यानी पूर्वकी ओर चार हजार देव सिंहका रूप धारण कर सूर्यको चळा रहे है। नियत गतिसे इवर उधर नहीं होने देते ह । दक्षिण दिशामें हाथियों का रूप धारे हुये चार हजार आभियोग्य देव सूर्यकी नियतगति अनुसार ढो रहे हैं। उत्तरमें बैछका रूप धार रहे चार इजार देव सूर्य विमानको नियत न्यवस्था अनुसार कादे हुये हैं। तथा पश्चिम भागसे अश्वनेषधारी चार सहस्र देव सूर्यको डाटे हुये है। मनुष्यों द्वारा चळायी गयी पर्वतीय गाडीको जिस प्रकार चारों ओरसे छम कर मनुष्य होते हैं, उसी प्रकार सूर्यविमानोंकी व्यवस्था है। तिसी प्रकार चन्द्रविमान भी प्रत्येक सोछह इजार देवों सरके डोये जाते हैं। उस है। प्रकार राहुविमान भी एक एक चार हजार देवों करने बारे जाते हैं।

इस प्रकार आतोपत्र शाकोंसे निर्मात किया जाता है। अतः किया नीमा, छेठा, मेठा, गमानही जानेसे कुण्ठनिपाण या तीक्पनिपाण सारिसा हो गया प्रशेषराण प्रतीत हो आता है।

सदाभियोग्यदेवानां सिझदिकपविकारिणां कृतो गतिभदस्ताहक् इति चेत्, स्वयावत एव पूर्वोपात्तकर्मविशेषनिमित्तकादिति ह्यः । सर्वेषाभवमम्युपगणस्याकरंपभवित्वादन्यथा स्वेष्टविशेषव्यवस्थानुपपत्तेः तत्मतिषादकस्यागमस्यासंभवद्याश्वकस्य सद्भवाच ।

यदि यहां कोई यों प्रश्न करे कि उन सूर्य अदिक बाहक 'सिंह आदि अपीकी विकित्यको धारनेवाले आमियोग्य देवोंकी तिस प्रकारकी विशेष खति अन्य किस कारणसे क्षेत्राली है ! याँ पूछनेपर तो इम संगीरव यह उत्तर कहते हैं कि स्वभावते ही उन देवेंकी वैसी वैसी गति होजाती है। वायु या रक्तकी होरहीं गतियोंपर कचोच चलाना व्यर्ध है। दो चार कोदीतक कारण बहाते ह्रये भी अन्तमें जाकर स्वभावपर ही टिककर सन्तोष प्राप्त होता है। पूर्व जन्मोंमें उपात्त किये गये कर्मिवरेषोंका निमित्त पाकर उन आभियोग जातीय देवोंकी स्वभावते ही वैसी वैसी नाना प्रकारकी गति होजाती है, जिससे कि ग्रुक्लपक्ष भी दितीयाको कभी ऊँचे खड्ग समान, कमी तिरके खड्ग समान, कदाचित मीथरा, पैना, सींगसारिखा चन्द्रमा दीख जाता है। प्रहणमें भी ऐसी ही दशा प्राप्त है। जाती है। ग्रहणके अवसरपर किरणों या कळाओंके द्वक जानेकी अपेक्षा ग्रह सिद्धान्त सर्वांगसंदर प्रतीत होता है कि वैसी परिस्थिति अनुसार उतनी ही मन्दकान्ति स्वभावसे ही उपन जाती है। जैसे कि गाह अन्य-कार होजानेपर दर्पणमें प्रतिविंव नहीं पडता है, या प्रयोगके विना पानी ऊपरको नहीं चढता है। सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियों के यहां इस प्रकार स्वभावका स्वीकार करना आवश्यक रूपसे होनेवाळा कार्स है। अग्निज्यालाका स्वभाव ऊपरको जाना है, गुरुपदार्थ अधःपतन स्वभाव बाले हैं। ज्ञान आस्ताका स्वभाव है। पुद्रक्के स्वभाव रूप आदिक हैं। यो सभी हो वस्तुओं हे स्वभाव गानने पडते हैं। अन्यक्षा अपने अभीष्ट विशेष तस्योंकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह है कि उन बाहक अभि-योग्य देवोंकी गतिविशेषका प्रतिपादन करनेवाला आगम विकास है। जिसके कि बाधक प्रमाणोंका असम्भव होरहा है। ज्योतिषशास्त्रके विषयमें आगमकी शरण प्रायः सबको छेनी पदाती है। इसके विना कोई ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष दर्शनका अभिमान (शेखी) बखाननेवाले दो दो चार चार जन्मतक श्री एक नक्षत्रकी मुक्तिका भी निर्णय नहीं कर सकते हैं। सम्पूर्ण क्योतिषशासका जानना तो असीव द्वर्षभा है। हां, त्रिकोक त्रिकालक आस के द्वारा कहे गये शास्त्रों द्वारा स्तोककालमें पूर्ण निर्णय कर किया आता है।

गे। छाकारा भूमिः समरावादिदर्धनान्यवाद्युपपत्रेतिस्थेतद्वाधकमागमस्यास्थेति सेत् का अवदितोरमयोजकत्वात्। समरावादिदर्धनं दि यदि तिष्ठद्भूमेगों छाकारतायां आध्यायां क्षेत्रस्तद्वा न मयोजकः स्यात् आम्यञ्चेमगें छाकारतायामपि सदुपपत्रः। अव्य अवस्थिगों छाकारतायां साम्यायां सपाय्यभ्योजको सेत्रसिष्ठकृष्णो छाकारतायामि सहस्रधनात्।

कोई सुरमणावादी कटाक्ष करते हैं कि सूचि (पक्ष) गोळ आकारवाळी है (साध्य) क्योंकी समान रात किन होना, दिनका घटना बहना, रातका घटना बहना, अनेक देशोंमें एक ही समय न्यारी तिका देवी, आदि क्रायाओंका परना, प्रद्वीपराम होना आदिका दर्शन अन्यथा यानी गील भूमिको माने विका बब महीं सकता है (हेतु) यह अनुमान आप जैनोंके इस उक्त आगंमका नाथक सहा हुआ है। फिर क्षापने स्वकीय आगमको बाधकरहित कैसे कहा ! मन्यकार सहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि इद्य अनुमानमें कहा गया हेत अप्रयोजक है। अपने साध्यके साथ नियतव्यासिक्षो नहीं धार रहा है। विचारिये कि समरात्र आदिका दीख जाना यदि ठहर रही भूमिके गोल आकार होनेको साध्य करनेमें हेत है ! तब तो हेत साम्बका प्रयोजक नहीं हो सकेगा । व्यक्तिचार दोष आता है । असण कर रही भूमिक गोछ आबार होनेमें भी वह समग्रत आदिका दीख जाना बन सकता है। अतः विपक्षते भ्यावृत्त नहीं होनेके कारण तुम्हारा हेत् अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अब यदि तुम भूभ्यमण-वादी बनकर सर्वके चारों ओर युम रही भूमिके गोल आकार होनेको साध्य करनेमें उस हेतुका प्रयोग करोगे तो भी तुम्हार। हेत अनुकुछतर्कवाळा नहीं है। क्योंकि ठहर रही भूमिक गोळ आकार होनेपर भी वह समराध्र आदिका दीख जाना घटित हो जाता है । फिर भी व्यभिचार दोव तदवस्य रहा, जैसे कि सीन्दर्यको साधनेमें धनिकपना हेत् व्यभिचारी है । समान दिन रात आदिका दीखना तो भूमिकी चल और अचल दोनों दशाओं में सथ जाते हैं। ऐसे विपश्चवृत्ति हेतसे भूमि गोल भाकारवाली नहीं सध पाती है ।

अय भूसामान्यस्य गोलाकारतायां साध्यायां देष्ठस्तथाव्यमककस्तिर्वक्रसूर्यादि भ्रमण-वादिनामभेगोलकाकारतायामपि भूमेः साध्यायां तदुपपतेः । समतलायामपि भूमो ज्योतिर्गति-विश्वेषास्त्रमरावादिदर्शनस्योपपादितत्वाच । नातः साध्यसिद्धिः कालात्ययापदिष्टत्वाच । ममाणवाधितपक्षनिर्देश्वानंतरं मञ्जूषमानस्य देउत्वेतिमसंगात् । ततो नेदमनुमानं देत्वाभासोत्यं षाषकं मलकामस्य येनास्मादेवष्टसिद्धिनं स्यात् ।

अब यदि तुम यों कहो कि भूमिक ठहरने या चूमनेका विशेष विचार नहीं कर भूमि सामान्यके गोळ आकारसिंदेसपनको साध्य करनेने वह हैतु कहा जायगा प्रत्यकार कहते हैं कि तो भी हुन्हाण हेतु साध्यका ज्ञापक नहीं है। क्योंकि सूर्य आदिका तिरछा अभण कहनेवाले या पृथिवीका सूर्यादिके उत्तर तिरछा अभण कह रहे मण्डितोंके यहां भूमिके आधे गोळ आकार होनेको भी साम्य करनेपर बहु सम रात आदिका दीखना बन जाता है। अर्थाद् पूरा गोळ आकार पा आधा गोळ आकार होनों प्रकार भूमिकी रचना माननेपर वह होतु ज्ञाम जाता है। अर्थाः फिर भी न्यभिचार होष तक्ष्मण रहां। इसरी जात यह है कि दर्भण के समझ समतल हो रही भूमिमें भी क्योतिष्क विमानोंकी विशेष विशेष गरियोंसे समझा आहिका दीखना युक्त किस कर दिया गावा है। अर्थाह साम राज राज राज राज राज राज चौडी और एक लाख असी हजार योजन मोटी इस हमारे तुम्हारे आश्रय हो रही राजप्रमा। भूमिको या इस छोटेंसे भरतक्षेत्रको सपाट समतल मान लिया जाय तो भी प्रत्यक्ष उत्पर दील रहे इन क्योतिष्क विमानों की गति अनुसार समान दिन रात आदि हो जाते हैं। इन सिद्धान्तों को साधने में अभी पूर्व प्रन्यद्वारा हम उपपत्ति दे चुके हैं। इस कारण इस समरात्र आदि दीखनास्त्रक्ष हेतुसे भूमिक गोळ आकार साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती है। व्यभिचारके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा हेतु कालात्ययापदिष्ट यानी वाधित हेलाभास है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और आगमप्रमाणसे बाधे जाचुके प्रतिज्ञाक्त्रयनके अनन्तर प्रयुक्त होरहा है। यदि प्रमाणवाधित पक्षके होनेपर भी पुनः बलात्कारसे हेतुका प्रयोग कर दिया जायगा तो अतिप्रसंग दोष वन बैठेगा। "अप्रिरतृष्णः इन्यलात्, प्रेस्य दुःखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वात् " आदि असत् हेतु भी समीचीन हेतु वन जायेंगे। तिस कारण हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ यह तुन्हारा अनुमान हम जैनों के प्रकरणत्राप्त आगमका बाधक नहीं है। जिससे कि इस आगमसे ही हमारे इह सिद्धान्तकी सिद्धि नहीं होजाती। अर्थात् — आतोपक्र आगम हारा ज्योतिष्क देवोंकी गति, भूमिका समतल आकार, आदिक सब सध जाते हैं। व्यर्थकी शंकाओं कोई लाभ नहीं है। कतिपय यूरोपीय विद्धान भी पृथिवीको अचला सिद्ध करने के लिय अनेक युक्तियों हारा उन्मुख होरहे हैं। अन्तमें जाकर सबको वही सर्वक्रोक आम्नाय अनुसार सिद्धान्त मानना पढ़िगा।

ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषां । संवादकमनेकांते सति तस्य प्रतिष्ठिते ॥ १७ ॥

इस कारण स्याद्वादियों के यहां ज्योतिषशास्त्र युक्तिपूर्ण सथ जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ विदेष रखनेवाले पण्डितों के यहां यह ज्योतिषशास्त्र समुचित होकर सम्वादक नहीं न्यवस्थित होरहा है। क्यों कि अनेकान्तिसिद्धान्तके प्रतिष्ठाप्राप्त हो चुकनेपर उस ज्योतिषशास्त्रका सम्वादकपना निर्णात होता है। बाधकप्रमाणोंसे रहितपना या सफलप्रकृतिका जनकपनारूप संवाद तो पदार्थोंमें अनेक धर्म माननेपर ही घटित होता है।

न हि किंचित्सर्वयैकांते ज्योतिःशास्त्रे संवादकं न्यवतिष्ठते प्रत्यसादिवत् नित्यायेकांत-रूपस्य तद्विषयस्य सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वाभावात् तस्य दृष्टेष्टाभ्यां वाधनात्। ततः स्याद्वादि-नामेव तद्युक्तं, सत्यनेकांते तत्प्रतिष्ठानात् तत्र सर्वथा बाधकविरहितनिश्चयात्।

ज्योतिषशासको सर्वथा एकान्तस्वरूप मान छिया जावे तो कुछ मी सूर्यप्रहण आदि परिणाम बाधारहित सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें संवादकपना सर्वथा एकान्तपक्ष मानने-पर घटित नहीं होता है। अथवा सर्वथा एकान्त पक्षमें ज्योतिषशास सफछ प्रवृत्तिका जनक नहीं बन पता है। जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण सर्वथा एकान्त माननेपर संवादक नहीं है। उस तुम्हारे ज्योतिष शासके विषय होरहे नित्यपन, चर्छपन, आदि एकान्तरूपोंके बाधक प्रमाणींके असंभवनेका अच्छा निर्णय नहीं हो जुका है। क्योंकि उन एकान्तर्करूपकी प्रत्यक्ष और अनुसाम आहि प्रमाणींसे बाधा होजाती है। तिस कारण स्याहारियों के यहां ही वह ज्योतिषशास समुचित माना मुखा है। कारण कि अनेकान्त होनेपर ही उस ज्योतिषशासकी प्रतिष्ठा है। जैनोंके अनेकान्त बासक उस अ्योतिषशासकी प्रतिष्ठा है। जैनोंके अनेकान्त बासक उस अ्योतिषशासकी प्रतिष्ठा है। जैनोंके अनेकान्त बासक उस अ्योतिषशासकी प्रतिष्ठा है। प्रदातक विद्यानन्द स्वामीने गम्भीरयुक्तियों और आम्नायप्राप्त शास्त्रों हारा अ्योतिष्ठिष्यक विद्यान करा दिया है। मुझ स्तोकबुद्धि भाषाकारने स्वकीय स्वल्य क्षयोपश्चम अनुसार आचार्य महामानक शास्त्रों शास्त्र है। विशेषक विद्यान ही विद्यान है। विशेषक विद्यान हो विषयपर अच्छी छानबीन कर जैनसिद्धान्तकी प्रभावना करें, यह मेरी समीचीन भावना है। जिनेक लेकानुयोग, अतीव गम्भीर महोद्द्यि है। उसमें जितना भी गहरा प्रविद्व होकर अन्वेषण किया आयोग उत्तनी ही अट्ट प्रमेयरलोंकी प्राप्ति होती जानेगी।

इत्यन्नं प्रतिभाशानिभ्यो महोदयेभ्यो नीरक्षीराश्चिचनहृंसायमानेभ्यः ॥ अब इस समय श्री उमास्त्रामी महाराज मनुष्य नोकस्य श्योतिष्कोंकी गतिके सम्बन्ध सार्वे जगद्भरमें प्रवर्त रहे न्यवहार कान्की प्रतिपत्ति करानेके निधे अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

तत्कृतः कालबिभागः॥ १४॥

उन गतिमान् अयोतिषियौ करके किया जानुका समय, आविष्ठ, उच्छ्वास, मुहर्त आदि क्यून् हार कार्टोका विभाग होरहा है।

किं कृत इत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि उन क्योतिषी देवोंकरके क्या किया गया है ! ऐसी विकास केवेत-पर श्री विधानन्द खामी अभिमवार्तिकको कहते हैं ।

ये ज्योतिष्काः स्मृता देवास्तत्कृतो व्यवहारतः । कृतः कालविभागोयं समयादिनं मुख्यतः ॥ १ ॥ तद्विभागान्तथा मुख्यो नाविभागः प्रसिद्धचित । विभागरिहते हे तो विभागो न फले कविव ॥ २ ॥

विशेक विकालदर्शी तीर्थेकर श्रीजिनेन्द्रनाथ मगवान् समवस्रणमें विराजकर मन्यवीर्थेके सार्वोका उपरेश देते हैं। द्वादशांन नेता गणकरदेन तम क्रिका समरण रख कर समावन द्वार सार्वे ग्रंथते हैं। पश्चात्—अनेक आचार्य आग्नाय द्वारा स्मरण होते चले आ रहे उस प्रमेयको शालों में लिपिवद्ध करते हैं। अतः सर्वज्ञोक्त अर्थका अविच्छिन सम्प्रदाय द्वारा स्मरण कर परिज्ञात हो रहे शालोक्त अर्थको स्मृत यानी स्मरण किया जा चुका ऐसे कहनेकी परिपाटी चली आ रही है। अर्जन विदान भी ईश्वरोक्त या वेदोक्त अर्थोको मनुस्मृति, याञ्चवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति आदि प्रन्थोंमें प्रन्थकर्ता ऋषियों द्वारा स्मरण किया जाकर लिपिबद्ध कर दिया गया मानते हैं। गुरुपरिपाटी अनुसार श्री उमास्त्रामी महाराज करके जो ज्योतिष्क देव स्मरणपूर्वक कहे जा चुके हैं, उन देवों करक गति द्वारा किया गया यह समय, आविलकों, दिन, वर्ष, आदि स्वरूप कालविमाग व्यवहारसे नियमित किया गया समझना चाहिये। मुख्यक्रपसे यह कालविमाग ज्योतिष्कों करके नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—मुख्य कालद्वय तो नित्य है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। हा, व्यवहारकालोंको नापको ज्योतिष्कों द्वारा सावा जाता है। किन्तु यह अवस्य है कि उस व्यवहार कालके समय आविल आदि विमागोंसे मूल कारण वह मुख्य काल तो विमाग रहित नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। तिस प्रकार व्यवहारकालोंके अनन्तानन्त मेद, प्रमेद, स्वरूप विमागोंके समान मुख्यकाल भी द्वयक्तपसे असंख्यात विमागोंको धार रहा है। क्योंकि यदि हेतुको विभाग रहित माना जायगा तो फल यानी कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। विभागवाले कार्योको उत्पन्न कर सकते हैं।

विभागवान् पुरूषः काछो विभागवत्फलनिभित्तत्वात् क्षित्यादिवत् ।

प्रन्यकार अनुमान बनाते हैं कि मुख्यकाल (पक्ष) विभागोंको धारता है (साध्य)। विभागवाले फलोंका निमित्त कारण होनेसे (हेनु) ग्रार्थित, जल, आदिके समान (अन्वयदद्यन्त)। अर्थात्—नाना जातिवाली पत्थर, मही, लोहा आदि प्रार्थिवियोंसे जैसे चूना, घडा, सांकल, आदि विभक्त कार्य बनते हैं, अथवा मेचजल, सारकृपजल, नदीजल, समुद्रजल, मिनदेशीय जल, आदिसे किसान या माली जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के वनस्पति आदि कार्योंकी उत्पत्ति कराते हैं, उसी प्रकार विभागयुक्त कालद्रव्य ही विभागवाले ज्यवहारकालोंको फलस्वरूप उपजा सक्षेगा। हां, यह बात दूसरी है कि अनन्तानन्त जीवोंसे अनन्तगुणो पुद्रलद्भय हैं और पुद्रलद्भयोंसे भी अनन्तगुणा व्यवहारकाल है। किन्तु निश्चयकालद्रव्य तो लोक प्रेरशप्रमाण असंख्याते ही हैं। फिर भी मुलमें असंख्याते द्वयों करके बहिरंग उपाधियों द्वारा कार्योंके अनन्तानन्त भेद किये जा सकते हैं। मुलमें विभागरिहत हो रहे कोरे एक द्रव्यसे असंख्याते या अनन्ते भेद नहीं हो सकते हैं। यहां इस समय प्रन्यकारको केवल विभागवान् कारणसे ही विभागवान् कार्योंकी सिद्धि कराना अमीष्ट हैं। वैशेषिक या नैयायिक कालद्रव्यक्ते एक ही पानते हैं। उनके प्रति इस अनुपानका प्रयोग है। जो विद्वान् पक्षपात रहित होकर स्क्ष्मतत्वोंके जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति छन्न उपाय करके असंख्य मुल कारणींसे अनन्तसंभीने। द्वारा अनन्तोंक जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति छन्न उपाय करके असंख्य मुल कारणींसे अनन्तसंभीने। द्वारा अनन्तानन्त फलोंको सिद्धि झरित कराई जा सकती है। सूक्ष्म परम



अतीन्दिय छोटी छोटी गिलयोंमें या सिद्धान्तसम्बन्धी उन्नत सतखने प्रासादोंके ऊपर भी अनुमान स्वरूप गजरथोंपर चढकर चलनेका आपह किये जाना केवल बालकपन है। न्यातिप्रहण, न्यातिस्मरण, हेतुदर्शन, पक्षधमिता ज्ञान, आदि सामग्री स्वरूप मोटे शरीरको धारनेवाला विचारा अनुमान उन् सूक्ष्म सिद्धान्तोंमें नहीं प्रवेश कर सकता है। जो कि परम अतीन्द्रिय हैं, वहां श्रुतज्ञान या सब ज्ञानोंक गुरुमहाराज केवल्ज्ञानका ही प्रवेशाधिकार है।

समयाविकादिविभागवद्यवहारकाञ्चलक्षणफञ्जनिमित्तत्वस्य ग्रुख्यकाञे धर्मिणि १सि-दत्त्वात् नाप्याश्रयासिद्धः, सकञ्काञ्चादिनां ग्रुख्यकाञ्चे विवादाभावात् तदभाववादिनां तु मतिक्षेपात् । गगनादिनानैकांतिकोऽयं हेतुरिति चेन्न, तस्यापि विभागवद्वगाहनादिकार्योत्यती विभागवत एव निमित्तत्वोपपत्तः ।

मन्दगति द्वारा एक प्रदेशते दूसरे प्रदेशपर परमाणु के पहुँचनेमें जितना काळ ळगता है, वह समय कहा जाता है। असंख्यात समयोंका पिण्ड आवाले काल है। संख्यात आवलियोंका एक ज्वास होता है। तीन हजार सातसी तिर्चर श्वासों का मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका दिन रात होता है। तीनसी पैसिट या तीनसी छिपासिट दिनों हा एक सीरवर्ष होता है। पूर्व, पल्य, सागर, कल्प कार्लोकी भी गणना कर छेना । यहां हेतुकी निर्दोषता दिखळानी है कि समय, आविछ, नाडी, स्वासं. आदि विभागवाले व्यवद्यस्कालस्वरूप अनेक फलोंका निमित्तकारणपना यह हेतु मुख्यकाल द्रव्यं स्त्ररूप पक्षमें प्रतिद्व हो रहा है। अतः इम जैनों का हेतु स्त्ररूपातिद्व हेत्वाभास नहीं है। हेतु के पक्षमें वर्तजाने मात्रक्षे स्वरूपासिद्धि दोष का निराकरण हो जाता है। तथा हमारा उक्त हेत आश्रया-सिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि काठको स्वीकार करनेवाले सम्पूर्ण वादी ।विद्वानोंके यहां मुख्य कालको स्वीकार करनेने कोई विवाद नहीं उठाया गया है। हां, उन मुख्यकालका अमाव माननें-बाले चार्वीक, खेताम्बर आदि बारी विद्वानोंका तो युक्तियों द्वारा तिरस्कार (निराकरण) कर दिया जाता है। प्रन्थकर्ताके सन्मुख इस समय कालको माननेवाले विद्वान उपस्थित है। जब कालकी सर्वथा नहीं माननेवाले वादी कोई आक्षेप करेंगे तब दूसरे अनुमानों द्वारा उसको समझा दिया जायगा । उतावले नहीं बनो, धीरतापूर्वक प्रन्थकारके अपूर्व प्रमेयोंका गम्भीरबुद्धिसे परिशीलन करो, जो कि सद्योधका निदान है। यहां कोई आक्षेप करता है कि तुम जैनोंका यह विभागवाले फलोंका निमित्त-पना हेत तो आकाश, दिशा, धर्मद्रव्य, आदि करके व्यभिचारदोषवान् है। देखो, अखण्ड गुगन आदिक स्वयं त्रिमागत्राले नहीं होते हुये भी विभागवाले अवगाह्य, पूर्व-पश्चिमवर्त्ती, गमनयोग्य इन विभागवाळे पार्लोके निमित्त कारण हो जाते हैं। एक अखण्ड आकारामें छोटे छोटे परिमाणवार्ले अनेक विभक्त पदार्थ ठहर जाते हैं, इत्यादि । प्रन्थ कार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि विभागवाळे ही उन आकाश, दिशा, बर्भहरूप आदिकोंको भी विभागवाछे गृह आदिके अवगृहत्न, गमन, जादि कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तपना वन रहा है। आकाश, धर्मद्रव्य, इन सबके प्रदेश माने निमेत्तपना वन रहा है। आकाश, धर्मद्रव्य, इन सबके प्रदेश माने निमेत्त है। अपने न्यारे न्यारे प्रदेशत्पर न्यारे न्यारे अपनाह्योंको आकाश अवगाह दे रहा है। एक प्रदेशमें अनन्ता द्रव्य भी ठहर सकते हैं। इसके छिये भी अनन्तानन्त स्वभावोंकी शरण छेना अष्टसहनीमें पुष्ट कर दिया गया है। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है।

नतु च पद्यवयवभेदो विभागस्तदा नासौ गगनादावस्ति तस्यैकद्रव्यत्वोपगमात् । पद्मदिवदवयवारभ्यत्वानुवपत्तेश्च । अथ पदेशवक्ष्वोपचारो विभागस्तदा कालेप्यस्ति, सर्वगतै-कृष्णक्वादिनामाकाशादिवदुपचरितपदेशकालस्य विभागवक्ष्वोपगमात् तथा च तत्साधने सिद्ध-सायनमिति कश्चित् ।

कारको वस्तुतः एक ही माननेवाळा कोई पण्डित (वैशेषिक) यो पूर्वपक्ष उठाता है कि बाप जैनोंने कालको विभागवाला जो सिद्ध किया है. वहां विभागका अर्थ यदि स्वकीय अवयवींका भिन्न भिन्न होना है ? तब तो वह विभाग इन आकाश, ईश्वर, दिशा, आदिमें नहीं है । क्योंकि उस गगन आदि अलण्डपदार्थोंको एक द्रञ्यपना स्वीकार किया गया है। तथा पट, गृह, घटीयंत्र बादिक जैसे स्व भीय छोटे छोटे अवयर्त्रोंके द्वारा बनाने गये हैं, उस प्रभार स्वकीय अवयर्त्रोंसे आर-**व्यवना बाकाश आदिमें नहीं बन पाता ै।** ऐती दशामें आप स्यादादियोंके हेतुका गगन आदिसे व्यक्तिचार बना रहना तदबत्थ रहा. यानी विभागवाले फलोंका निभितकारण गगन है। किन्त स्वयं अवयवर्षि भेदररहरूप विभाग तो नहीं चार रहा है। अब यदि आप जैन विभाग का अर्थ आकाशमें मध्य प्रदेशोंको नहीं मानते इये प्रदेशसिंहतपन का उपचार होना मात्र करेंगे, तब व्यभिचारका बारण तो हो जायगा । गगनमें हेर्ने रहते हुये उपचरित प्रदेश स्त्रचप विभागोंसे सहितपना विद्य-बान है। किन्तु तब तो कालमें भी प्रदेशसिहतपनका उपचारस्वरूप विभाग विद्यमान है। क्योंकि सर्वेत्र व्यापक एक है। काळद्रव्यक्ती स्वीकार करनेवाटे वैशेषिकोंके यहां आकाश आदिके समान उप-चरित प्रदेशवाले कालद्रव्यका विभागसहितपना स्वीकृत कर लिया है। और ऐसा होनेपर काल इस्पर्में उस उपचरित प्रदेशस्वरूप त्रिभागको साधनेमें तुम स्याद्वादियोंके ऊपर सिद्ध साधन दोष आग होता है। एक कालके उपचरित प्रदेश हमारे यहां सिद्ध हैं। उन्हींको आप जैन साध रहे 🖁 । यहांतक कोई वैशेषिक या नैयायिक कह रहा है ।

परमार्थं एव गगनादेः समदेश्वत्वनिश्वयात् तस्य सर्वदात्रस्थितमदेशत्वात् एकद्रव्यत्वाञ्च द्विविषा अवयवाः सदावस्थितवश्चषोऽनवस्थितवशुषश्च । गुणवत्तव सदावस्थितद्रव्यमदेशाः सदावस्थिततद्वयमदेशाः सदावस्थिता एवान्यथा द्रव्यस्यानवस्थितत्वमसंगात् । पटादिवदनवस्थितद्रव्यमदेशास्तु तंत्वा-व्याऽनवस्थितास्तेषामवस्थितत्वे पटादीनामवस्थितत्वापत्तेः । कादाचित्कत्वस्येयत्तयावधारिता-

चयवत्वस्य च विरोधात् । तत्र गगर्नं धर्माधर्यकामीवाश्वात्रस्थितप्रदेशाः सर्वे यतावधारितपर्दे चत्वेन षक्ष्यमाणत्वात् प्रदेशप्रदेशिभावस्य च तेषां तैरनादित्वात् ।

अब आचार्य महाराज इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि गगन, धर्मद्रव्य आदिके प्रदेशसहित-पनका परमार्थरूपसे ही निश्चय हो रहा है। क्योंकि उन गगन आदिके सर्वदा अवस्थित हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश या असंख्याते प्रदेश वस्तुतः ।निर्णात है। अर्थात्--त्रिलोकसारकी टीकार्मे अनन्तानन्त नामकी विशेष संख्याके मध्य भेदोंको निकालते हुये श्री माधवचन्द्र त्रैविधने द्विरूपर्याधारामें जीवराशिक ऊपर अनन्त स्थान चळ कर पुद्रळ राशिको भूत, भविष्यत और पद्रल्याशिक्षे अनन्तस्थान चल कर दिरूपवर्गधारामें योंकी राशिको उपजाया है। उस काळ समयोंकी राशिसे अनन्त स्थान चळ कर दिरूप-वर्ग धारामें अलोकाकाशकी श्रेणीको उपजाया है। एक प्रदेश लग्बी, एक प्रदेश चौडी और पूरे आकारा प्रमाण ऊंची आकाराकी श्रेणि ही श्रेणि आकारा है। इसका एक बार वर्ग कर देनेपर प्रतरा-काश होजाता है। आकाश श्रेणिक प्रदेशोंका घन कर देनेपर पूरे आकाशके प्रदेश गिन लिय जाते हैं। जोकि मूळप्रन्थ अनुसार वहां ही दिरूप घन धारामें सर्वीकाशको प्रैविच महोदयने गिना दिया है। र्यों आकाराद्रव्यके मुख्य प्रदेशों भी संख्या सर्वदा नियत होरही अवस्थित है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रञ्यके भी छोकप्रदेश प्रमाण असंख्याते प्रदेश नियत हैं। दूसरी बात यह है कि गगन, धर्मद्रव्य, आदिको एक एक द्रव्यपना निर्णीत है। अतः इनका अत्रय मेंसे बनाया जाना हमको भी अभीष्ट नहीं है। हां इनके मुख्यप्रदेश स्वरूप अवयव माने जा सकते हैं। चुंकि अवयव दो प्रकारके होते हैं। एक तो सर्वदा स्वकीय शरीरोंको सदा अवस्थित रखनेवाले अवयव हैं। और दूसरे स्वकीय शरीरको अवस्थित नहीं रखनेवाले अवयव हैं। उन दो प्रकारके अवयवोंमें द्रव्यके सदा अवस्थित होरहे प्रदेश तो गुणोंके समान सर्वदा अवस्थित ही रहते हैं। अन्यथा यानी प्रदेशोंको अनवस्थित माना जायगा तो द्रव्यके भी अनवस्थितपनेका प्रसंग होगा । किन्त द्रव्य तो अनादि अनन्तकालतक अपनी नियत संख्याओं में व्यवस्थित रहती हैं। घटती बढती नहीं हैं। " नासती विद्यते भावो ना-भावो विश्वते सतः "। अर्थात - द्रव्यकी ऊर्ध्वारा कल्पना अनुसार जैसे गुण उसमें अनादि अनन्त काछतक जडे हुये हैं, उसी प्रकार तिर्यग् अंश कल्पना अनुसार द्रव्योंके प्रदेश भी सदा अवस्थित हैं। हां, अञ्चाद द्रव्यस्वरूप पुद्रच पर्यायोंके प्रदेश अवस्थित नहीं हैं । दूसरे पट, पुस्तक, आदिके समान अवस्थित अञ्चाद बच्चोंके प्रदेश तो तंतु, पत्र, आदिक अनवस्थित हैं। क्योंकि उन तंतु आदिकोंके यदि अवस्थित माना जायगा तो पट आदि अञ्चद्धदन्योंको भी अवस्थितपनेका प्रसंग होगा । अर्थात-तंतुओंके यहां वहां सरक जानेपर या न्यून अधिक होजानेपर पट आदिका सरकना या न्यूनता, अधिकता जो दिखाई देरही है वह अनवस्थित नहीं दीख सकेगी । अतः घट पट, पस्तक आदिके प्रदेश दसरी जातिके अनवस्थित शरीरवाले माने गये हैं। कभी कभी उपज रहे या कभी न्यूनं और कदाचित

अधिक प्रदेशोंको धार रहे पदार्थीको इतने नियत परिमाण करके निर्णीत किये गये अवयर्वेसे सहितपनका विरोध है। भावार्थ —जो कराचित होनेवाला अशुद्ध द्रव्य है, यह इतने ही यों नियत किये गये अवयवोंको धारनेवाला नहीं है। और जो सदासे नियतप्रदेशोंको धार रहा दृव्य है, वह कदा-चित् होनेवाला अञ्चद्धह्वय नहीं है। उन दन्यों में आकाशद्रन्य तथा धर्म अधर्म और एक जीव-इन्य ये सब नियत अवस्थित प्रदेशोंको धार रहे हैं, जिस कारणसे कि नियत संख्यामें अवधारे गये प्रदेशोंने सहितपन करके आकाश आदि द्रव्योंकी पांचने अध्यायमें स्वयं सूत्रकार द्वारा कह दिया नावेगा । " आकाशस्यानन्ताः " " असंख्येया प्रदेशा धर्माधँमैकजीवानाम् " इन दो सूत्रों करके आकाराके अनन्तानन्त प्रदेश और धर्म, अधर्म, एक जीव इनके असंख्याते प्रदेश नियत हो रहे कह दिये जावेंगे । संसारमें पारिश्रमण कर रहा जीव चींटी, हाथी, मत्स्य, नारकी सक्ष्म निगीदिया. बक्ष आदि अनेक छोटी बडी पर्यायोंको धारता है। इन पर्यायोंमें जीव के प्रदेश कमती बढती नहीं हो जाते हैं । किन्त जीवकी रबड़ के समान संकोच या विस्तार अवस्थामें वे सभी छोकाकाशप्रमाण प्रदेश सदा विद्यमान रहते हैं। जो जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है, उस जीवको कदाचित भी छोक प्रदेश बराबर अपने प्रदेशोको फैलाकर लम्बी चौडी पर्यायको धारनेका अवनर नहीं मिलता है। हां, जो मोक्षको जाते हैं, उनमेंसे कतिपय जीवोको तेरहवें गुणस्थानमें केवली समुद्धात करते समय केवल एक समय अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंके फैलाने का अवसर मिल जाता है। यह भी एक बडा विलक्षण विस्मयकारी प्रसंग है कि अनन्तानन्त जीवोंमेंसे कतिएय अनन्त जीव ही। अनादि अनन्त कालों की अनन्तानन्त संक्रीच विस्तारवाळी परिणितियोंकी सदा धारते हुये एक ही बार छोकप्रदेश बराबर व्यक्त स्वकीय पर्यायको धार सके हैं। अस्त । कुछ भी हो, एतावता संकोच, विस्तार, अवस्थामें भी जीवके असंख्यात प्रदेशोका सद्भाव गर नहीं जाता है। यदि कोई धनपति कृपणतावश अपने विद्यमान टाखों रूपयेका न्यय नहीं कर पाता है, इतने ही से उसके टाखों रूपयोंकी संख्या न्यून नहीं हो नाती है । तथा उक्त सत्र अनुसार उन गगन आदि द्रव्योंका अपने उन अनन्त या असंख्याते प्रदे-बोके साथ हो रहा प्रदेशप्रदेशीभाव अनादि है। अतः ऐसे नियतप्रदेशस्वरूप अवयव उन आकाश आदि द्रव्योंके विद्यमान हैं। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है। यह बात दूसरी है कि अखुण्ड आकाशका विभागसहितपना इम प्रदेशोंकी अपेक्षा मान रहे हैं। और कालका विभाग-सहितपना हम जैन द्रव्योंकी अपेक्षा उक्त अनुमान द्वारा साध रहे हैं।

कथमनादीनां गगनादितत्प्रदेशानां प्रदेशपदेशिभावः परमार्थपथपस्थायी १ सादीनामेव तंतुपटादीनां तद्भावदर्शनात् इति चेत्, कथिमदानीं गगनादितन्मइच्वादिगुणानामनादि-निधनानां गुणगुणिभावः पारमार्थिकः सिध्धेत् १ तेषां गुणगुणिलक्षणयोगात्तथाभावं इति चेत्, तर्हि गगनादि तत्प्रदेशानामपि प्रदेशिपदेश्वस्रभणयोगात् प्रदेशपदेशिभावोस्तु । यथैव हि गुणपर्ययवद्दव्यमिति गगनादीनां द्रव्यलक्षणमस्ति तन्महत्वादीनां च " द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणा " इति गुणलक्षणं तथावयवानामेकत्वपरिणामः प्रदेशिद्रव्यमिति प्रदेशिलक्षणं गगनादीनामवयुतोऽवयवः प्रदेशलक्षणं तदेकदेशानामस्तीति युक्तस्तेषां प्रदेशपदेशिभावः।

यहां फिसीका आक्षेप प्रवर्तता है कि आकाश आदि द्रव्य और उनके नियत अनन्ते या असंख्याते प्रदेश जब अनादिकालके है तो ऐसी दशामें उनका " प्रदेशप्रदेशीभाव " होना मला वास्तविक मार्गमें प्रस्थान करनेवाका कैसे समझा जायगा ? बताओ । देखो. सादि हो रहे ही तंत पट. कपाल घट, पत्र, पुस्तक आदिकोंका वह प्रदेशप्रदेशीमाव या अवयव अवयवीमाव देखा जाता है, जैसे धेडी और रुपयोंका आधार आधेयभाव है या पुत्र और पिताका जन्य जनकभाव है। या कटाक्ष करनेपर तो प्रन्थकार उस कटाक्षकर्ता बैशेषिकको पूंछते हैं कि भाई इस अवसरपर तुम्हारे यहां भी अनादिनिधन हो रहे आकाश, दिशा, जल, परमाणु, मन आदिक द्रव्य और उनके परम महापरिमाण, एकत्व संख्या, नित्यसंयोग, शुक्छरूप, अणुपरिमाण आदि गुणोंका भछा गुणगुणीभाव विचारा पारमार्थिक कैसे सिद्ध हो सकेगा ! बताओ, प्रथम गुणी उपजे, पश्चात यदि उसमें गुण आकर समवायसम्बन्धरे प्रविष्ट हो जाय. तब तो घट घटरूप. आम्र. आम्ररस. आदि सादि पदार्थोंका गुणगुणीमाव शोभता है । अनादि अनन्तद्रव्य या अनादि अनिधन गुणोंमें गुणगुणीमाव अच्छा नहीं लगता है, यों यह चोच तुम्हारे ऊपर भी उठाया जा सकता है। यदि तम वैशेषिक यों कही कि अनादिनिधन हो रहे द्वयगुणोंका भी गुण और गुणीके लक्षणका योग हो जानेसे तिस प्रकार " गुणगुणीभाव " (सम्बन्ध) हो जायगा । यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अनादि अनिधन गगन आदि और उनके प्रदेशोंके भी प्रदेशी और प्रदेशके छक्षणका योग हो जानेसे '' प्रदेशप्रदेशीभाव '' हो जाओ । अखण्डित अनेक देशवाळे गगन अदिमें प्रदेशीका छक्षण घटित हो जाता है, और तिर्थगुअंश-कल्पनस्यरूप प्रदेशों ने उनके प्रदेश हो जानेका छक्षण घटित हो रहा है। देखो, जिस ही प्रकार " गुण और पर्यायोंको धारनेवाले द्रुप होते हैं " यह श्री उमास्त्रामी आचार्य करके कहा गया द्रव्यका लक्षण गगन, धर्म द्रव्य आदिके विद्यमान है। और " द्रव्यके आश्रित हो रहे सन्ते स्वयं जो निर्गुण पदार्थ हैं। वे गुण होते हैं, " इस प्रकार गुणका उक्षण उन गगन आदिमें सम्बन्धी हो रहे परम महत्त्व, रूप, आदि गुणोंके घटित हो रहा है, उसी प्रकार " अनेक अवयवोंका पिण्डस्वरूप एकत्व परिणामसे आकान्त हो रहा प्रदेशी द्रव्य है '' इस प्रकार प्रदेशीका लक्षण आकाश आदिमें विद्यमान है और '' अखण्ड द्रव्यमें अब यानी पश्चात् तिर्यगुअंश कल्पना द्वारा अभेदरूपसे युत यानी ामिश्रण होचुके अवयव पदार्थ तो प्रदेश है " यह प्रदेशोंका छक्षण उन आकाश आदिके एक देश होरहे प्रदेशोंको विद्यमान है। इस कारण अनादि अनन्त भी आकाश आदि और उनके प्रदेशोंका '' प्रदेशप्रदेशीभाव '' वन जाना शक्तिपर्ण है ।

कालस्तु नैकद्रव्यं तस्यासंख्ययगुणद्रव्यपरिणामस्वात् । एकैकस्मिल्लोकाकाश्रमदेशे काल्राणोरेकैकस्य द्रव्यस्यानंतपर्यायस्यानभ्युपगमे तद्देशवर्तिद्रव्यस्यानंतस्य परमाण्वादेरनंतपरिणा-मानुपपत्तिरिति द्रव्यतो भावतो वा विभागत्वे साध्ये काल्लस्य न सिद्धसाधनं । नापि गगनादि-नानैकांतिको हेतुः ।

किन्तु कालपदार्थ तो एक पदार्थ नहीं है । क्योंकि वह काल अनन्त गुण और अनन्त पर्या-योंके माथ तदात्मक होरहा संता असंख्यात द्रव्यस्वरूप है। अर्थात-एक एक जीव इन्यके समान एक एक कालागुमें वर्तनाहेत्त्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक नित्यशक्ति स्वरूप गुण विद्यमान हैं। और उन गुणोंकी प्रतिक्षण होनेवाळी पर्याये अथवा पर्यायोंमें पाये जारहे अनन्तानन्त या असंख्यात अविभागप्रतिच्छेदस्यरूप परिणाम विद्यमान है। वे काळाणुर्ये द्रव्यरूपसे असंख्यात माने गये हैं। जगच्छेणींके चन प्रमाण लोकाकाराके एक एक प्रदेशपर एक एक द्रव्य होकर कालाणुर्ये अवस्थित हैं। यों कालाणु द्रव्य असंख्याते हैं। एक एक कालाणु द्रव्यकी १ अनुजीवी २ अतिजीवी ३ पर्याय शक्ति ४ सप्तमंगी विषय इन चार प्रकारके गुणोंकी जातियों अनुसार अनन्तानन्त सहभावी पर्यायें हैं। तथा छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर उस कालायुको निभित्त पाकर अनन्तानन्त कार्य हो रहे हैं। उन कार्यों के अनुरूप अनन्तस्यभावरूप पर्यार्थे कालाणुमें एक समयमें विद्यमान हैं। एक समयमे एक गणकी उत्पाद, न्यय, धौन्यशालिनी परिणति अवस्य होती है। यो अनन्तानन्त गुणोंकी अनन्ता नन्त परिणतियां काळाण्रमें एक समय पायी जाती हैं। यदि छोकाकाशके एक प्रदेशपर अनन्तानन्त पर्यायों (स्वभावों) वाले एक एक कालागु द्रव्यको स्वीकार नहीं किया जायगा तो उस आकाश देशमें वर्त रहे अनन्त परमाण या अनंत जीवद्रव्य अथवा अन्य भी धर्म आदि द्रव्योंके हो रहे अनन्त परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि सभी द्रव्य परिणामी माने गये हैं। कोई द्रव्य कटस्थ नहीं है। मावार्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंका और स्वयंका वर्तियता काल द्रव्य है। न्यारे न्यारे काल द्रव्य तो छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर विद्यमान हो रहे अनन्तद्रव्योंके भिन्न भिन्न परिणामोंके वर्त-यिता हो सकते हैं। आकाशके समान यदि अकेला कालद्रव्य मान लिया जायगा तो सर्व द्रव्योंका एक ही जातिका कार्य तो हो जायगा, जैसे कि अकेड आकाश द्रव्यसे भंगी, बाह्मण, नारकी, मुक्त, दिदि, राजा, रोगी, निरोग, पापी, पुण्यात्मा, जड, चेतन, धर्म, अधर्म, सब ऊंच नीचको कोरा अवकाश मिल जाता है। किन्तु अनेक काल द्रव्योंसे जो असंख्य कार्य एक समयमें होरहे प्रतीत होते हैं वे काळ द्रव्यसे नहीं हो सकते हैं। देखिये, एक ही स्थलपर कोई जीव बुद्धा होरहा है, वहीं कोई युवा होरहा है, बालक भी वहीं खेल रहा है, जहां ही किसीके चोरांके परिणाम होरहे हैं वहां ही किसीका धर्मध्यान या शाख चर्चामें मन लग रहा है। इन सब कियाओंको करानेमें कालद्रव्य निमित्त-कारण होरहा है। जिसी कालद्रव्यको निमित्त पाकर निस्य निगोदिया जीवकी व्यवहार राशिमें आने योग्यः परिणति होजाती है वहीं बैठे हुये पंचेन्त्रिय जीवके इतरगति निगोदमें प्राप्त होजानेके समूर्य कारण

उपज बैठते हैं । छोटासा काल परमाणु एक कुटुम्बाधिपतिके समान वर्त रहा उन मिन्न भिन प्रकृति-बाके अनेक प्राणियों या जडपदार्थोंको अनुकुछ वर्तानेमें उपयोगी होता रहता है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो आकाशके एक एक प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके सदश. विख्क्षण. विरुद्ध. महाविरुद्ध अपरिमित परिणाम कार्य होरहे हैं । बस. अनन्त स्वभावींवाळा एक काळ परमाण ही उन सम्पूर्ण कार्योको संभाछ छेता है। इसी प्रकार आकाशके दूसरे प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके होरहे पुष्पक्रिया, पाप-किया, सम्यग्दर्शन, निष्यादर्शन, व्यभिचार, ब्रह्मचर्य, नरकगमन, स्वर्गगमन, निगोदप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति, अर्थहानि, अर्थलाभ, शृंगाररस, बैराग्यरस, बीरता, कायरता, स्मरण विस्मरण, जीवन मृत्यु, तरुणपन अतिवृद्धपन, रोग स्वस्थता, न्याय अन्याय, दया हिंसा, पतन उत्यान, मान अपमान, सौन्दर्य कुरूपता, अथवा मेघवर्षण वात्या, सुगन्ध दुर्गेध, जळवर्षण आतप, सुस्वादु दुःस्वादु, फर्जेका सहना पकना, पुग्पप्राप्ति फलप्राप्ति. औषधिउत्पादन विषउत्पादन, हीरा उपजना कोयळा उपजना, वृक्षमें कफजनक कफनाशक शक्तियें बनना, सीपमें हुड़ी या मोती बनना, स्थान प्रस्थान, धातुधारण धातपात, जीर्णता नवीनता, मृतिका उत्पत्ति सवर्ण उत्पत्ति, विधरता विवाहिता, पाग्छपन चातर्य, आदि परिणामोंको दूसरा कालाण अपने अनेक स्वभावों द्वारा संभाग लेता है। जैसे कि एक प्रधाना-ध्यापक अपने अधीन होरहे अनेक अध्यापक अथवा छात्रगण एवं अन्य कर्मचारियोंको अंतरंग बहिरंग कारणों द्वारा कर रहे नियत कार्योंकी ओर वर्ता देता है। इस कारण द्रव्य रूपसे अथवा भाव रूपसे कालका विभाग सिहतपना साध्य करनेपर हम जैनोंके उत्पर कोई साधन दोष नहीं है। क्योंकि तुम न तो कालको द्रव्यरूपसे अनेक मानते हो और गुण, परिणाम, स्वभाव इन भावोंकी अपेक्षा भी काछको अनेक नहीं मानते हो। अतः असंख्य काछ द्रव्य और उन एक एकके अनन्त स्वभावोको उक्त अनुमान द्वारा जो हम साध रहे हैं, वहां वादी जैनकी अपेक्षा सिद्ध होते हुए भी प्रतिवादी नैयायिक, मीमासक, वैशेषिक आदिकी अपेक्षा असिद्ध हो रहे पदार्थको ही साध्य बनाया जा रहा है तथा हमारा हेत् आकाश आदि करके व्यभिचारी भी नहीं है। क्योंकि द्रव्य अपेक्षा तो नहीं, किन्तु प्रदेश या पर्यायोंकी अपेक्षा इम जैन आकाशको भी विभागवाळा स्वीकार करते हैं। अतः हमारा हेत निर्दोष है।

क्षित्यादिनिदर्शनं साध्यसाधनविकलित्यपि न मंतव्यं तत्कार्यस्यांकुरादेविभागवतः मतीतेः, क्षित्यादेश्व द्रव्यतो भावतश्च विभागवत्त्वसिद्धेरिति स्कं " विभागरिहते हेती विभागो न फल्ले कवित् " इति ।

फिर भी वैशेषिक यदि यों मान बैठें कि श्विति, जरू आदि दशन्त तो साध्यदक या साधन दलसे विकल हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह भी मनमें नहीं मान बैठना चाहिये। क्योंकि उन श्विति आदिकोंके कार्य हो रहे अंकुर, पाषाण, कीयका, कंगल, आदिक पदार्थ तो विभागवाले प्रतीत

हो रहे हैं । अर्थात् एक खेतमें उसी महीसे गेंह, जी, चना, मटर सरसें आदिके अनेक अंकुर उपज रहे हैं, चाहे कैसा भी ऊंचा, नीचा, टेडा, मुख करके बीजको डाछ दो, मही उसका अंकुर ठीक ऊपरकी ओर निकाल देती है। वहीं मही तत्काल जल, वायु, आतप, की आदि या शुष्क परिणितियोंका आकर्षण कर लेती है। खात पदार्थोंका अंकुर पुष्प, फल, घास आदि रूप परिणाम करा देती है. जैसे कि स्योग्य कटम्बिनी फ्ली अपने कट्म्बसम्बन्धी जेठ, पति, देवर, लडके, बचे बहु बेटियों, बृद्ध सास सम्रुर आदिके लिये यथोचित भोग्य उपभोग्य पदार्थीका विभाग कर देती है। पृथिवीसे अनेक कार्य हो रहे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जलसे भी अनेक कार्य हो रहे हैं. एक मेघजन ही अनेक बनस्पतिओंमें भिन्न भिन्न परिणतियें कर रहा है। सांपक्ते मुखर्मे, सीपमें, उष्ण तेळमें, तस लोहेपर अमेक विभक्त कार्योंको कर रहा है। सरोवरका जल दंवीको ऊपर उलाल रहा है और कंकडको नीचे गिरा रहा है। उपरसे तुंबीको नीचे नहीं गिरने देता है और कंकडको उपर नहीं उळळने देता है। अग्निया वायके भी विभिन्न जातीय कई विभक्त कार्य युगपत हो रहे दीखते हैं। कृत्रिम बिजिली द्वारा अंजन, पंखा, चिन्किया च अयी जाती हैं। अने क दीपक अयोतिया चमक रहीं हैं। विजिल्ही द्वारा रोगीकी चिकित्सार्ये भी होती हैं। तारों द्वारा या विना तारके शद्ध फेंके जाते हैं। दूर प्रदेशींसे गायन यहां सुना जाता है। तस्वीरें छी जाती हैं। और अक्रत्रिम बिजुछीसे अनेक उत्पात हो जाते हैं। वाय द्वारा जगत की बडी भारी प्रक्रिया सध रही है। असंख्य मनों भारी पदार्थ वायु-पर इट रहा है। जीवनके आधार आसोच्छ्रास वायुस्त्ररूप है। समुद्रकम्पन, वातन्याभि, आंधी. आदि सब विभिन्न वायुओंके फल है। प्राथियी आदिक पुद्रल द्रूपोंकी अचित्य शक्तियां हैं । अनेतन पदार्थोर्भ भी अनन्त बड़ है । " जीवाजीवगदमिति चरिमे " यों गोमटसारमें भी कहा है। विभिन्न जातिके भेद प्रभेदोंकी धारनेवाले प्रथिवी, जल, आदि प्रसिद्ध ही है। अतः श्विति आदिक दृष्टान्तोंमें विभागवाले फटों का निभित्तपना यह हेत और विभागसहित-पना इतना साध्य सुक्रभ्य हो भर ठहर रहा है। आरण कि द्रव्यरूपसे और परिणानों स्वरूपसे क्षिति आदिकोंको पूळमें ही विभागसहितपन। सिद्ध है। इस कारण श्री विद्यानन्द आवार्यने उक्त वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कहा था कि विभागरिहत हेत्के होनेपर कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकत। है। स्फटिकमाणि जब मुल्में रूपवान है तो जपाकुत्म आदिके योगसे ठाल, पीला, आदि हो सकता है । मुख्में रूपरहित होरहे आकाशको कोई छाछ, पीछा नहीं कर सकता है । अतः यहातक आकाश को केवल भाषांकी अपेशा विभागसिद्वापन और कालको द्रव्य और माव दोनोंकी अपेक्षा विभाग-सहितपन साधनेका प्रकरण समाप्त हो चका है।

मनुष्य छोकसे बाहर ण्योतिष्क विमान हैं भी ! या नहीं हैं ! यदि हैं तो किस प्रकार वर्त रहे हैं ! शिष्योंको इस विषयकी प्रतिपत्ति करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अगछे सूत्रको कहते हैं।

बहिरवस्थिताः ॥ १५॥

मनुष्य छोकसें बाहर वे ज्योतिष्क विमान या उनमें निवास करनेवाले ज्योतिषीं देव जहां के तहां निश्चल हैं। अर्थात् — मनुष्य लोकसे बाहर भी ज्योतिष्कदेव असंख्यातासंख्यात विधमान हैं। किन्तु वे विमान गतिशील नहीं हैं। जहां के तहां अवास्थित हैं।

किमनेन सूत्रेण कृतिमित्याइ।

इस सूत्रकरके सूत्रकार महाराजने क्या स्वपक्षमंडन और परपक्षखण्डन किया है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्दस्वामी समाधान कहते हैं ।

बहिर्मनुष्यलोकांतेऽवस्थिता इति सूत्रतः । तत्राऽसत्ताव्यवच्छेदः प्रादक्षिण्यगतिक्षतिः ॥ १ ॥

मनुष्य छोकके अन्तमें बाहर ज्योतिषक्ष विमान अवस्थित हैं, इस प्रकार सूत्र कर देनेसे वहाँ मनुष्य छोकसे बाहर ज्योतिषियोंकी असत्ताका ज्यवच्छेद कर दिया जाता है और प्रदेशियास्त्रके होनेवाछी गतिकी क्षति कर दी जाती है। अर्थात्—यदि यह " बहिरवस्थिताः" सूत्र नहीं बनाया जाता तो पूर्वसूत्र अनुसार मनुष्य छोकमें ही ज्योतिष्कोंका अस्तित्व सिद्ध होता। मनुष्य छोकसे बाहर उनका असत्त्व होजाता। तथा " बहिस्सिन्त " या " बहिरपि " ऐसा सूत्र बनाया जाता तो मनुष्य छोकसे बाहर ज्योतिष्कोंका अस्तित्व तो सिद्ध होजाता, किन्तु उनकी पूर्व सूत्रानुसार मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये नित्यगति भी सिद्ध होजाती, जोकि इष्ट नहीं है। हां, इस सूत्रमें अवस्थिता कह देनेसे उनकी प्रदक्षिणापूर्वक गति या और भी दूसरे प्रकारकी गतियोंका ज्यवच्छेद कर दियासूया है।

कृतेति शेषः।

इस थार्तिकमें कोई तिकत या कृदन्तकी किया नहीं पढ़ी हुयी है। अतः " कृता " इस रोष रही कियाको जोड केना चाहिये। व्यवच्छेदके साथ पुर्लिंग " कृत " राह्को जोड देना और बीलिंग क्षातिः राह्के साथ वाक्यमें रोष रह गयी " कृता " इस कृदन्त सम्बन्धी कियाको जोड केना। क्योंकि कोई भी वाक्य धार्ल्यस्वरूप कियासे रीता नहीं हुआ करता है।

एवं सूत्रचतुष्टयाज्ज्योतिषामरचिंतनं । निवासादिविशेषेण युक्तं बाधविवर्जनात् ॥ २ ॥

इस प्रकार बाधक प्रमाणोंसे विवर्जित हो रहे चारों स्त्रोंके प्रमेयसे भी उमास्त्रामी महाराजने निभासस्यान, प्रकार, गति, अथवा स्थिति आदि विश्लेषों करके ज्योतिष्क देवोंका समुचित चितवन कर दिया है। अथवा इस वार्तिकको अनुमान वाक्य बना छिया जाय कि उक्त चार सूत्रों द्वारा निवास आदिकी विशेषता करके ज्योतिष्क देवोंका चिंतवन करना (पक्ष) युक्ति पूर्ण है (साध्य)। बाधक प्रमाणोंका विशेषतया वर्जन होनेसे (हेतु) यों बाधकोंका असम्भव होनेसे उक्त सूत्रोंके अती-न्दिय प्रमेयकी अप्रतिहतसिद्धि हो जाती है।

श्री उमास्वामी महाराज देवों की आदिम तीन निकायों का वर्णन कर चुके हैं। अब चौथी निकायवाछे देवों की सामान्यसंज्ञाका प्ररूपण करने के छिये अधिकार सूत्रको कहते हैं।

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

इससे आगे जिन पुण्यवान् जीवोंका वर्णन किया जायगा, वे " वैमानिकानिकायवाछे देव हैं।" यह अधिकार सूत्र है।

स्वान्युकृतिनो विश्वेषेण मानयंतीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः । परेपि वैमानिकाः स्युरेविमिति चेका, वैमानिकनामकर्मोदये सति वैमानिका इति वचनात् । तेन श्रेणीं इक्सपुष्पप्रकीर्णकभेदात् त्रिविषेषु विमानेषु भवा देवा वैमानिकनामकर्मोदयाद्वैमानिका इत्यिष- इता वैदितच्याः ।

विमान राद्व भी निरुक्ति इस प्रकार है कि स्वसम्बन्धी यानी अपनेमें बैठे हुये पुण्यशाळी जीवोंका
" वि " यानी विशेषक्रप्रकरके " मानयंति " यानी मान कराते हैं, इस कारण वे विमान कहे जाते हैं।
उन विमानोंमें उपज रहे देव जीव वैमानिक हैं। विमान राद्ध में मन अर्थ में ठण् प्रत्यय कर छेना चाहिये। यदि
यहां कोई पण्डित यों अि प्रसंग उठावे कि विमानों में तो भवनवासी आदि देव भी विचरते हैं। ज्योतिष्क देव तो
सदा विमानोंमें ही बस रहे हैं तथा विमानों में विद्याघर मनुष्य या आजकाल के उडाके मनुष्य भी
विद्यामन हैं। यों इस निरुक्ति द्वारा तो ये दूसरे देव या मनुष्य भी वैमानिक हो जायेंगे। आचार्य कहते
हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गतिनामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे वैमानिक संज्ञक नामकर्मका उदय होते सन्ते जो जीव विमानोंमें वर्तमान हैं वे वैमानिक हैं। ऐसा विशेषणाक्रान्त वचन कर देनेसे अतिव्याप्तिका वारण कर दिया जाता है। सिद्धान्त या न्यायविषयोंमें केवल शब्दकी
निरुक्तिसे ही निर्दोष लक्षण नहीं बन जाता है। तिस कारण श्रेणी, इन्द्रक, पुष्पप्रकीर्णक, इन मेदोंसे
तीन प्रकारके विमानोंमें विद्यमान हो रहे और वैमानिक नामक नामकर्मका उदय हो जानेसे वे देव
वैमानिक हैं। इस प्रकार इस सूत्र द्वारा वे वैम निक देव अधिकार प्राप्त हो जुके समझ छेन चाहिये।
अर्थात् यहासे आगे उत्तरवर्ती सूत्रोंमें सर्वत्र वैमानिक ता आवेकार ओत पोत रहेगा। अखिलोंके
अधिपति होरहे इन्द्रके समान ठीक बांचमें अवस्थित होरहे विमान इंद्रक विमान श्रेणीविमान हैं।

और उछाछे हुये घूछ जैसे अज्यवस्थित यहां वहां टेडे मेढे स्थानोंपर गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीणियोंके बीचमें अस्तव्यस्त फैल गहे विमान पुष्पप्रकीर्णक हैं। ये तीनों प्रकारके विमान अनादि कालसे अनन्तकालतक उसी स्थानपर जमे हुये हैं। उडाके विमानोंके समान यहां वहां नहीं उडते फिरते हैं। भले ही कृत्रिम छोटे छोटे विमानोंमें बैठकर देव यहां वहां, नंदीश्वर द्वीप, समुद्र, पर्वत, आदिमें अमण करें, भूमियोंमें प्रतिष्ठित नहीं होनेसे इन अकृत्रिम विमानोंको मवन, आवास या नगर नहीं कहा जासकता है। कुछ विमान तो जलके ऊपर या भापके ऊपर प्रतिष्ठित हैं और कृतिपय विमान बायुपर प्रतिष्ठित हैं। किन्तु रोष बहुभाग विमान आक्राशमें ही विना सहारके अवलम्बित होरहे हैं। पराश्रयकी अपेक्षा स्वाश्रयपक्ष ही अन्तमें निश्चयसे आदरणीय है। अब श्री उमास्वामी महाराज उन बैमानिक देवोंके मूल दो भेदोंका निरूपण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७॥

कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उत्पन्न हुये देन और कल्पोंका अतिक्रमण कर **उपर उपज रहे** देन यों कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो नैमानिक देनोंके भेद हैं।

सौधर्मादयोऽच्युतांताः कल्पोषपन्ना इंद्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पोपपन्ननामकर्मो-दयवशवर्तित्वाच न भवनवास्यादयस्तेषां तदभावात् । नवप्रैवेयका नवानुदिशाः पंचानुत्तराश्च कल्पातीताः कल्पातीतनामकर्मोदये सति कल्पातीतत्वात् तेपामिद्रादिदशतयकल्पनाविरहात् सर्वे-षामहर्मिद्रत्वात् ।

प्रथमस्वर्गवासी सौधर्मको आदि लेकर सोलहर्ने अच्युत स्वर्गपर्यन्त ठहरनेवाले देव कल्पोपपन हैं। क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, आदि दश अवयववाली कल्पनाका सद्भाव हो रहा है। दूसरी बात यह है कि गतिनामकर्मके ल्याप्य तद्याप्य हो रहे कल्पोपपन्न संज्ञक नामकर्मके उदयकी अधीनतामें वर्तना होनेके कारण सोल्ड स्वर्गके देव कल्पोपपन्न हैं। हां, भवनवासी आदिक तीन निकायोंके देव तो कल्पोपपन्न नहीं है। क्योंकि उनके मले ही इन्द्र, सामानिक, आदि दश या आठ विकल्प पाये जाते हैं। फिर भी उस कल्पोपपन्नसंज्ञक नामकर्मके उदयका अभाव है। कल्पे पपन्नत्वकी सिद्धि करनेके लिये इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका सद्धाव होते हुये कल्पोपपन्न मंज्ञक नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता इतना लम्बा ज्ञापकहेतु या कारक हेतु उपयोगी है। अर्थात्—कर्मोके उदयके पराधीन बने रहना इसलिये कहा गया है कि ध्रुव उदयवाले गतिकर्मका कभी कभी दल्य, क्षेत्र, काल, मावके नहीं मिळनेपर रसोदय नहीं हो पाता है। देवपर्यायमें अपनी स्थितिके परिपूर्ण हो जानेपर उदय प्राप्त हो गई मनुष्याति विना फल दिये ही लिस जाती है। इसी प्रकार कदाचित्त देवगति कर्मकी मनुष्य अवस्थामें स्थिति पूरी हो जानेपर फल दिये विना ही कोरा प्रदेश उदय हो

जाता है। ऐसी दशामें जीव कर्मोद्यके परार्थान नहीं हो सका। अतः प्रत्यकारने हेतुके विशेष्य दंख कर्मोद्य हारा हुई पराधीनतापर अधिक बज दार्जा है। कल्पातीत देवोंमें हेतुका विशेषण दंख और विशेष्यदंख दोनों भी नहीं घटते हैं। अवोधिवयक तीन, मध्यमैवेयक तीन और उपरिमप्रवियक तीन और उपरिमप्रवियक तीन यो ऊपर ऊपर वर्त रहे नो मैवेयक सम्बन्धी देव तथा चार दिशाओं चार विदिशाओं और एक मध्यमें ठहर रहे, यों नौ अनुदिश विमान सम्बन्धी देव एवं विजय, वैजयंन, जयंत, अपराजित, सर्वाध-सिद्धि यो पांच अनुत्तर विमानवासी देव तो कल्पातीत हैं। क्योंकि गति कर्मके भेद, प्रभेद, हो रहे कल्पातीत नामक नाम कर्मका उदय होते सन्ते आत्म विपाकी कही गयी गति प्रकृतिकी अधीनता वश ये कल्पातीत देव हैं। मछे ही इनमें अधः आदिपनेकी या नौ, नौ, पांच संख्यासहितपनेकी कल्पना है, तो भी प्रकरणमें इष्ट की गयी इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका विरह होनेस वे सब कल्पातीत दें। क्योंकि भवनवासीपन, इन्द्रसामानिकपन आदि झगडोंसे रहित होते हुये वे कल्पातीत देव सबके सब अहमिन्द्र हैं। अहमेव इन्द्रः, अहमेव इन्द्रः, मैं दी इन्द्र हूं, मैं उपर कोई प्रमु नहीं है, यों उनकी आत्मामें सर्वदा प्रतिभास होता रहता है। अहमिन्द्रपनका विघातक वहां कोई प्रसंग भी नहीं है।

वैमानिका विमानेषु निवासादुपवर्णिताः । द्विधा कल्पोपपनाश्च कल्पातीताश्च ते मताः ॥ १ ॥

पूर्ववर्ती अधिकार सूत्रको मिळाकर इस सूत्रका अर्थ यों होजाता है कि उन विमानोंमें निवास करनेसे वे देव वैमानिक कहे जाते हैं। तथा वे देव कल्पोपन और कल्पातीत यों दो प्रकार माने गये हैं। यह अर्थ सूत्रकारको अमीष्ट है। यहापि दरा प्रकारकी कल्पना भवनवासी देवोंमें है और कल्पनासे अतीत मनुष्य तियेच नारकी जीव भी हैं। फिर भी रूढिशद्धके होनेसे या इन विशेष कर्मोंकी अधीनतासे अर्थघटना करनेमर कोई अतिन्याप्ति नहीं होती है।

न वैमानिकाक्षिषा चतुर्था वान्यथा वा संभाव्यंते द्विविधेष्वेवान्येषामंतर्भावात् ।

वैमानिक देव तीन प्रकार या चार प्रकार अथवा अन्य पांच, छह, विकल्प अन्य या पटलोंकी अपेक्षा त्रेसठ ६३ आदि अन्य प्रकारोंके नहीं सम्भावित होरहे हैं। क्योंकि इन दो प्रकारोंके ही अन्य सम्पूर्ण समुचित प्रकारोंका अन्तर्भाव होजाता है।

ते च कथमवस्थिताः १

वे कल्पोपन और कल्पातीत विमान या विमानवासी देव किस प्रकार अवस्थित होरहे हैं! बताओ, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर अनके विशेष अवस्थानोंको समझाते हुये श्री उमास्वामी महाराज अभिमसूत्रको कहते हैं।

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

सौधर्म, ऐशान, आदि कल्प और कल्पातीतों के विमान ऊपर ऊपर वर्त रहे हैं। आगमकी व्यवस्था अनुसार विमानोंकी या पटलोंकी अवस्थिति है।

साभीप्येऽघोऽध्युपरीति द्वित्वं तेषामसंख्येययोजनांतरत्वेपि तुल्यजातीयव्यवधा-नाभावातु सामीप्योपपत्तेः ।

व्याकरणके " सामीप्येऽघोऽप्यपरि " इस सत्र द्वारा उपर्यपरि यहां समीपपन अर्थको घोतन करनेपर उपरि अव्ययका दो बार प्रयोग किया गया होनेसे द्वित्व होगया है । यद्यपि उन कल्पवासी या अहमिन्द्रोंके विमानोंका उत्पर नीचे अन्तर अथवा त्रेसिठ पटळोंमें प्रत्येक दो पटळोंका अन्तर असं-ख्याते योजनोंका है. तो भी तल्यजातिवाके पदार्थीका व्यवधान नहीं होनेसे समीपपना बन जाता है। अर्थात्—सीधर्म, ईशान, खर्गीके अधस्तन विमानीसे कुछ कमती डेढ राजू प्रमाण असंख्यात योजनो ऊपर चलकर सनत्कमार. माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग है। सनत्कुमार माहेन्द्रके नीचले विमानोंसे कुळ कम डेढ राजू ऊपर चळकर बहा ब्रह्मोत्तर स्वर्ग हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर सम्बन्धा आधा राजुका अन्त-राळ देकर ऊपर ळान्तव, काविष्ठ, स्वर्ग हैं । यों ही आगम अनुसार ऊपर थी समझ लेना । सानत्कु-मार माहेन्द्रके अधोभागसे ऊपर डेट राजतक सानत्क्रमार, माहेन्द्र, देवोंका ही अधिराज्य है, और सानत्क्रमार माहेन्द्रके प्रारम्भसे बालाप्र कमती आकारासे आदि लेकर नीचे कुछ कम डेट राजू तक सौधर्म ईशानोंका अधिकार है। सौधर्म, ईशान, स्वर्गमें ऋत विमळ आदि इकतीस पटल हैं " एकेक इंदयस्य य विचालयसंखजीयणपमाणं '' एक एक पटल या इन्द्रक विमानींका अन्तराल असंख्याते योजन है। किन्तु जगत्में तुल्यजातिवाले पदार्थीको ही न्यवधायक माना जाता है। मान. अपमान. ळजा. प्रतिष्ठा सब समान जातित्राकों में समझी जाती हैं । बूओं की पांकेमें या घोडे, मनुष्य आदिकी पांकियों में भके ही बीचमें आकाश. तण. वाय. आतप. वज्र. खन्मे. आजायं फिर भी तल्य जातिवाके पदार्थीका मध्यमें समाबेश नहीं होनेसे उनमें अन्तराल नहीं माना जाता है। प्रत्यक्ष ब्रान द्वारा हुये प्रतिभासमें मले हैं। अन्य उत्पादक कारणोंका व्यवधान होय. किन्तु ज्ञान जातीय अन्य प्रतीतिओंका व्यवधान नहीं पडनेसे विशदपना आरूढ माना गया है। इसी प्रकार कल्पोपपन और कल्पातीत वैमानिकोंमें अन्य वैमानिकोंका या पटलोंका व्यवधान नहीं पडनेसे समीपपना बन जाता है ।

किमनोपर्युपरीत्यनेनाभिसंबध्यते ! कल्पा इत्येके । कल्पोपपन्ना इत्येन कल्पग्रहणस्यो-पसर्जनीभृतस्यापि विशेषणेनाभिसंबंधात् । राजपुरुषं। इयं, कस्य राज्ञ इति यथा प्रत्यासत्तेर्बुद्-ध्यपेक्षितत्वादिति । तक बुध्यामहे, वैमानिका इत्यविकारार्थे वचनमित्येतस्य व्याघातात् । यथा दि वैमानिका देवाः कल्पोपपनाः कल्पातीताश्चेति संबध्यते तथोपर्युपरीत्यपि त प्रदेशि

ष्ठपर्युपरि तद्धाम नाधस्तिर्यक् च तत्स्थितिः । यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः ॥ १॥

उन वैमानिक देवोंके निवास स्थान प्रपर उपर न्यर्वास्थित है। अश्रीभागों या तिरछे ह्रपसे उन निवास स्थलांकी स्थिति नहीं है। जिस प्रकार कि सवनवासी आदि देवोंके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये है, ऐसे वैमानिकोंक अकृतिम विमानांकी रचना नहीं है। यह उक्त सूध द्वारा निर्णय कर दिया गया है। भाषार्थ—चार निकायके देवोंमे पहिले तीन निकायके देव अवः या तिर्यग्रूरपसे रचे गये सवन, नगर या विमानोमें निवास करने हैं। किन्तु इन्हक, श्रेणीवद और पुण्य प्रकीर्णक रूपसे व्यवस्थित हो रहे कल्पोपपक और कल्पातीन देवोंके विमान तो उत्पर उपर रचे हुये हैं। वद्यपि सातवीं प्रथिवीमे लगा कर पहिली प्रथिवीन कार्यक्रियों कि भी इन्द्रक विले श्रेणीवद बिल, पुण्यप्रकीर्णक विक रूपमे निव्यस्त है। किन्तु ये विमान नहीं है। सूमिण्य विले है। इसी प्रकार व्योतिष्क देवोंके निवासस्थान विमान है। किन्तु वे पण्यप्रकीर्णक रूपमे मले ही अवस्थित होंच इन्द्रक श्रेणीवद और उनके मध्यवर्ती पुण्यप्रकीर्णक रूपमे आकाश प्राकृणणमें व्यवस्थित होंच तथा वे किले और अयोतिष्क विमान ये कल्पोपपक्त और कल्पातीतव्य निशेषोंसे आकान्त मी नहीं है। अतः इन्द्रक, श्रेणीवद, प्रकीर्णक, विमान ये कल्पोपपक्त और कल्पातीतव्य निशेषोंसे आकान्त मी नहीं है। अतः इन्द्रक, श्रेणीवद, प्रकीर्णक, विमान ये कल्पोपपक्त और कल्पातीतव्य निशेषोंसे आकान्त हो रहे पदार्थ उपर उपर रचे हुये हैं। यह उक्त मूक्ता परकीर्तिपुरःसर निर्होंच समन्य कर दिया गया है।

न दि यथा भवनवासिनो व्यंतराश्वाधस्तिर्यक् समवस्थितयो ज्योतिष्काास्तिर्यक् स्थित-यस्तथा वैमानिका इष्यंते, तेषामुपर्थुपरि समवस्थितत्वात् उपर्युपरि वचनेनैव निर्णयात् ।

जिस प्रकार कि भवनवासी और ब्यंतर देव अधोछोक्तमें और तिर्थक्लोकमें नीचे या तिरहे स्रपते बने हुये अपने निवासत्थानोंमें मेळ प्रकार अवस्थितिको कर रहे हैं, रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें भवनवासियोंके नीचे और तिरछे सुन्दर भवन बने हुये हैं, और ब्यन्तरोंके असंख्यात द्वीपसमुदोंमें भी रत्नप्रभाके उपरिम भागमें तिरछे फैले हुये असंख्य नगर या आवास बने हुये हैं, तथा नीचे पंकभागमें असुर और राक्षसोंके असंख्याते हजार नगर है, एवं असंख्यातासंख्याते श्योतिष्क देव तो इस समतल भूमिसे ऊपर सात सी नच्चे योजनसे प्रारम्भ कर केवल एक सी दश योजनसक मोटे देशमें असंख्यात योजनोंक एक राज् लम्बे, चौडे, प्रदेशमें तिरछे फैले हुये असंख्य विमानोंमें स्थितिको कर रहे हैं, तिस प्रकार उक्त तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते हुये नहीं माने गये हैं। क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंसे विभिन्न रूप रेखकी ऊपर उपर अले प्रकार स्थिति हो रही है। वे यहां वहां अस्त ब्यस्त नहीं निवस रहे हैं। कारण कि प वैमानिका: "

ष्पर्युपरि तद्धाम नाधस्तिर्यक् च तन्धितः । यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः ॥ १॥

उन वैमानिक देवोंके निवास स्थान क्रयर क्रयर न्यवांस्थात है। अश्रोभागोंमें या तिरछे रूपमें उन निवास स्थलोंकी स्थिति नहीं है। जिस पकार कि सवनवामी आदि देवोंके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये है, ऐसे वैमानिकों के अकृत्रिम विमानोंकी रचना नहीं है। यह उक्त सूत्र द्वारा निर्णय कर दिया गया है। मापार्थ—चार निकायके देवोंमें पहिले नीन निकायके देव अवः या तिर्यग्रू एपे रचे गये मक्त, नगर या विमानोंमें निवास करते है। कि । उन्ह्रक, अर्णावद और पुण्य प्रकीर्णक क्रपमें न्यवस्थित हों के ल्यांग्य के पहिले प्रविचित्र नार्यक्रयोंके विमान तो उत्तर उत्तर रचे हुये हैं। पद्यपि सातनी प्रथिवींसे त्या कर पहिली प्रविचित्र नार्यक्रयोंके विले भी इन्द्रक विले अणीबद्ध बिल, पुण्यप्रकीर्णक विक्र क्रपमें नियमन है। किन्तु वे पण्यप्रकीर्णक क्रपमें सले है। इसी प्रकार व्योतिष्क देवोंके निवासस्थान विमान है। किन्तु वे पण्यप्रकीर्णक क्रपमें मले ही अवस्थित होंच इन्द्रक श्रेणीवद और उनके मन्यवर्ती पुण्यप्रकीर्णक क्रपमें आकाश प्राङ्गणमें न्यवस्थित नहीं है। चया वे बिल और अमिन देमान ये करपोयपक्रय और करपोतीत्व विशेषणोंसे आकान्त हो रहे पदार्थ क्रपर उपर रचे हुये है। यह उक्त गूत्रका परकीर्तिपुरःसर निहींच समन्य कर दिया गया है।

न दि यथा भवनवासिनो व्यंतराधार्धास्तर्यक् समर्वास्थतयो व्योतिष्काास्तर्यक् स्थित-यस्तथा वैमानिका ३ष्येते, तेपामुपर्युपरि समयस्थितत्वात् उपर्युपरि वचनेनैव निर्णयात् ।

इस सूत्रके अग्रिम सूत्रमें उनके मेदोंको दिखाते हुये सूत्रकारने तीसरे स्थानपर अठारहर्व '' उपर्युपरि '' इस सूत्ररूप बचन करके ही उक्त सिद्धान्तका निर्णय कर दिया है ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि यदि इस प्रकार वे वैमानिक देव ऊपर ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं तो बताओ कितने विमानों में वे वैमानिक देव हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महा-राज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

सौधभैँशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मलोकब्रह्मोत्तर-लांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयो-रारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवेजयंतजयंताप-राजितेषु सर्वार्थसिखौ च ॥ १९ ॥

सीधर्म ऐशान, सानत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, ल्लान्तव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, शतार सइसार, इन स्वर्गीमें और आनत, प्राणत, एवं आरण, अन्युत, स्वर्गीमें कल्पोपपन्न वैमानिक देव निवास करते हैं। तथा नवप्रवेयक और नौ अनुदिश विमानोंमे असंख्याते कल्पातीत वैमानिक देव निवस रहे हैं। अर्थात्—केवल सर्वार्थिसिद्धि विमानमें दिक्तप वर्गधाराको पाचवी कृतिके वनस्वक्रप मनुष्य संख्याके विचतुर्थ प्रमाण स्वियोसे तिगुने या सतगुने सर्वार्थिसिद्धिके देव मात्र संख्याते हैं। ज्ञान्य संख्या कभी रह जाय तो मानव स्वियोसे तिगुनी और उत्कृष्ट संख्या होनाय तो सत्तुनी इन एक भवतारी देवोंकी गणना है। शेष सम्पूर्ण कल्प और कल्पातीतवर्ती संख्यातविमानोमें असंख्याते देव निवास कर रहे हैं।

सुधर्मा नाम सभा सास्मिन्नस्तीति सीधर्मः कल्पः "तदस्मिन्नस्तीत्यण् " तत्कल्पः साइचर्यादिद्रोगि सीधर्मः, ईन्नानो नामंद्रः स्वभावतः ईन्नानस्य निवासः कल्प ऐन्नानः " तस्य निवास " इत्यण् तत्साइचर्यादिद्रोप्येन्नानः, सानत्कुमारो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः तत्साइचर्यादिद्रोपि सानत्कुमारः महेंद्रो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पो माहेंद्रः तत्साइचर्यादिद्रोपि माहेंद्रः, ब्रह्मनामंद्रः तस्य लोको ब्रह्मलोकः कल्पो ब्रह्मोन्तर्थ लात्वाद्योच्युतांता इन्द्रास्तत्साइचर्यात् कल्पा अपि लांतवादयः, इन्द्रलोकपुरुषस्य श्रीवास्थानीयत्वाद्श्रीवाः श्रीवासु भवानि श्रेवंयकाणि विमानानि तत्साइचर्यादिद्रा अपि ग्रेवं-यक्ताः, विजयादीनि विमानानि परमाभ्युद्यविजयादन्वर्थसंक्वानि तत्साइचर्यादिद्रा अपि विजयादिनामानः सर्वार्थानां सिद्धः सर्वार्थसिद्धिविमानं तत्साइचर्यादिद्रोपि सर्वार्थसिद्धः।

पहिले स्वर्गमें सुधर्मा संबन्ध समाका एक बहुत विद्याल भवन बना हुआ है, जिस स्वर्गमें वह स्थमां सभा बनी हुई है वह कल्प सीधर्म स्वर्ग है " तदस्मिन्नस्ति " इस तद्वितके सूत्र करके यहां सुधर्मा शब्दसे अण प्रत्यय कर सीधर्म शब्दको साधु बना किया जाता है, उस सीधर्म कल्पके सहचर पनेसे पहिले स्वर्गका इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है अथवा स्वभावकरके अनादिकालसे इन्द्र या स्वर्ग का नाम सौधर्म पड रहा है। इसी प्रकार स्वभावसे ही ईशान नामका इन्द्र है, ईशान इन्द्रका निवास हो रहा दूसरा कल्प ऐशान है। यहां "तस्य निवासः" इस तद्धित सूत्रसे अणु प्रत्यय कर ऐशान शब्द उत्पन्न कर छिया गया है । उस स्वर्गके सहचरपनेसे ऐशान कह दिया जाता है। तृतीय स्वर्गमें अनादिकालीन संज्ञाके वश स्वभावसे ही सनःकुमार इन्द्र चला आ रहा है । उसका निवासभूत कल्प सानःकुमार है । यहां भी '' तस्य नित्रासः '' इस सूत्रकरके अण प्रत्यय कर छेना चाहिये । उस सानत्क्रमार स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्र भी सानत्कुमार कहे जा सकते हैं । मत्त्रधीय अच् प्रत्ययकरके भी यहां निर्वाह किया जा सकता है। महेन्द्र नामका इन्द्र स्वभावसे ही है। उसका निवासस्थान कल्प माहेंद्र है। उस माहेन्द्र स्वर्गमें भाराप्रवाहरूपसे जो इन्द्र होते चले आ रहे हैं उस स्वर्गके सहचरपनेसे वे इन्द्र भी माहेन्द्र 🖁 । ब्रह्मा नामक इन्द्र हैं उस इन्द्रका छोक पांचर्या ब्रद्यछोक नामका कल्प है और ब्रह्मोत्तर नामका छठा कल्प है। इसी प्रकार छान्तवको आदि छेकर अच्युतपर्यन्त इन्होंकी व्यवस्था स्वभावसे ही होती चली आ रही है। उसके सहचरपनेसे लांतव आदिक कल्प भी अनादि सिद्ध संज्ञाओं को धार रहे हैं। स्वर्ग या कल्प तो अनादिसे अनन्तकालतक प्रवर्त रहे हैं । किन्तु उनमें देव या इन्द्र निवास कर रहे अपने आयुष्पको नियनकालतक सख्यूर्वक विता रहे हैं । उन उन स्वर्गीमें जन्म लेनेवाले इन्द्र धारा प्रवाहसे उन्हीं नामोंको धारते है। इस चौदह राजू ऊंचे छोकको या केवछ ऊपरछे सात राजू के इन्द कोकको यदि प्रशाकार नियन कर छिया जाय तो उसकी शीवा (नार) के स्थानापन होनेसे छोकके तेरह राज्के उत्परके कतिपय स्थान प्रीवायें कहे जायंगे। प्रीवाओं में बिन्यस्त हो रहे विमान प्रैवेयक हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे इन्द्र भी प्रैवेयक हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश हैं। विजय आदिक विमान अन्य छौकिक उत्कृष्ट अभ्यदयका विजय करनेसे यथार्थ नामा कहे जाते हैं। यानी विजय. वैजयंत, जयंत और अपराजित ये नाम दूसरेको जीतने और किसीसे नहीं पराजित होनेकी अपेक्षासे अपने ठीक अर्थको छेकर घटित हो रहे हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे उनमें रहनेवाले असंख्याते अहमिन्द्र भी विजय, वैजर्यत आदि नामों हो धार रहे हैं । सम्पूर्ण छौकिक अर्थों की परिपूर्ण सिद्धि हो जानेके कारण सर्वार्थितिक नामक इन्द्रक विमान भी अन्तर्थ संज्ञक है। उसके साहचर्वसे इन्द्र भी सर्वार्थिसिद्ध है। ऐसे अहमिन्द्र सर्वार्थिसिद्ध विमानमें संख्याते हैं। अर्थात्—'' मेरुत शद दिवह दिवह दल्लाक एक सरव्यासि, कपाणमङ्गुगला गेनेव्जादी य होति कमे " (त्रिलोकसार) मेहके तलसे एक छाख चाछीस योजन अथना इस समतल भूमिसे निन्याननै हजार चाळीस योजन और बाळाप्र

कपर उद्धल कर सीधर्म, ऐशान, ये दो कत्प दक्षिण और उत्तर दिशाओं में व्यवस्थित हैं। इनमें ऋत आदिक इस्तीय पटल हैं। दक्षिण दिशाका अधिपति सौधर्म इन्द्र है और उत्तर दिशाके मेणी विमान और पृथ्पप्रकीर्णकोंका अधिकारी ऐशान इन्द्र है। सबसे जपरले प्रभा संज्ञक पटलमें इन्द्रक बिमानसे दक्षिणदिशामें अठारहर्ने श्रेणी वद निमानमें सीचर्म इन्द्र रहता है। उभी प्रकार बचीस श्रेणीवद विमानवाली उत्तर दिशाके अठाग्डव विमानमें ऐशान इन्द्रका निवास है। एक एक पटलमें असंस्थाने योजनोंका अन्तर है। समनल मूमागमे कपर डेड राजू स्थानतक सीधर्म, ऐशान, इन्होंका आधिपत्य है। सीधर्म ऐशान स्वर्गीसे अनेक योजन अपर अयस मेरुनलसे ठीक डेट राज अपर सानकामार, माहेन्द्र स्वर्गीका प्रारम्भ है । अंजन अदि सात पटलगळे ये दो स्वर्ग दक्षिण उत्तर समान नलामें रचे हुये हैं। कुछ कम डेड राज्य क डन का अधिकार है। मेरुतछते तीन राज् ऊपर समत्त्रा स्थानमें ब्रह्म और प्रद्योत्तर स्वर्ग बने हुये है। इन दोना अधिपति ब्रह्मा नामना एक इन्द्र है। आधे राजु ऊपर तक इनका साम्राज्य है । मेरुनव्से सांडे तीन राजु ऊपर चलकर लांतर और कापिष्ठ स्वर्ग बरोबरमें रचे हये हैं। इन दोका अभिपति एक ही लतन इन्स है। इसके ऊपर कुछ कम आना सब चलकर जाक, महाशक दो स्वर्ग दक्षिण और उत्तरकी और विस्यस्त है । उनका अधिपति एक शक इन्ह है। इसके उत्पर कुछ कम आधा गत् वानी मेहनच्ये साडे चार राज् अपर उछछ कर सतार और सहसार ये स्वर्ग समाननागमें रचे हुवे हैं। उन होका अधिपति मतार नामका एक इन्हें हैं। वर्ष, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और कर्न इन पाचा दिशाओं में आने आने रान्तक इसका अविराज्य है। सतार, सहस्रारेम कुछ कम आधा राज अपर आनत, प्रागत, दो स्वर्ग हैं। इनके दक्षिण दिशा सम्बद्धी और उत्तरदिशासम्बन्धी अधिर्पात हो इन्द्र हैं । उनने आधे गज् अपर उन्नर कर यानी सेह तलमें साड़े पाच राजू उपरसं अल्ण अनुत सर्ग प्राय्म हो जाते हैं. जो कि इक्षिण उत्तर दिशाम समतला कोटिपर व्ययम्थित है। मेरुताओं लंब तात् अपर अपरिम एक सन्के निचले भागमें नी वैत्रेयक विमानोंके नी पट र है। इनके अपर नी अविदेश निमानोक्ता एक परल है जिसमें कि चार दिशाओं और चार विदिशाओं तथा एक मन्ति हो ती निमान सव रहे हैं। इसके उपर पांच अनुसरींक पाच विमान हे । गर्नार्थिनिद्धिने बारह योजन अप विद्धालय है। मर्नार्थिनिह और सिहलोक्त अन्तरालमें एक राज चौड़ी सात राज, उम्बी आठ योजन मोटी होकान्तस्परिंती आठवीं '' ईषन्प्राम्मास '' नामकी पृथियी है। इस प्रथियींके ठीक, बीचम मन्ष्यक्षेत्रबगबर उन्हीं चौड़ी आठ योजन मीटी गील सिइशिला जट रही है, जो कि भिड़लेक समिन कहीं जा रही आये छड़के समान नीचे समतल और जपर क्रमसे घटनी हुई ढलाऊं होकर ५६। इंड है। उस मिद्ध वित्रान क्षेत्रके जपरले या लोकमें सबसे ऋपर बड़े धनुपोंसे नपे पत्रहरीं पिचतर १५७५ धनुष मोटे तनुवानके पन्द्रहसीवें या नी खाखें भागमें उत्कृष्ट और जवन्य अवगाइनावारे अवग्वानन्त सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं। उनकी त्रियोगसे इम नमस्कार करते हैं। एक मही एक बटे बीस गदावनुषमें वडी अवगाइनाके सिद्ध हैं।

और सात बटे चार हजार महाअनुवर्षे छोटी अबगाहनाके सिद्ध मर्गधाम् बिराजमान है। मध्यमें अवगाहनाओंके अनेक भेद हैं। वहां भी अनन्तानन्त सिद्ध हैं।

तस्य पृथग्प्रहणं द्वन्द्वे कर्तव्येषि स्थित्यादिनिश्चभेतिपश्यर्थे। सर्वार्थसिद्धस्य हि स्थिति स्त्रुष्टा जघन्या च त्रयस्त्रिश्चतागरोपमा विजयादिश्यो जघन्यतो द्वात्रिश्चत्सागरोपमस्थितिश्यो विश्विष्टा मभावतथ तत्तोल्पमभावेश्यः इति श्रूयते।

उस सर्वार्थिसिद्धिका यद्यपि विजय आदिकके साथ इन्द्र समाम कर देना चाहिये था। फिर भी रिथिति, प्रमान, आदि विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये सर्वार्थिसिद्धिका पृथक् स्वतंत्र प्रहण किया है। क्यार्थिसिद्धि विमानमें रहनेशांके सर्वार्थिसिद्ध देवकी उत्कृष्ट स्थिति और ज्ञध्य स्थिति दोनों तेतीस सागरोपम हैं। बचीत सागर ज्ञध्य और तेतीस सागरोपम उन्कृष्ट स्थितिको धारनेशांछे विजय आदि चार वैमानिकोंसे यह ज्ञध्य, उत्कृष्ट, विकल्पोंसे रीता हो रही सर्वार्थिसिद्ध देवोंको स्थिति विशिष्ट है। तथा प्रमावसे भी उन अस्प प्रभावशांके विजय आदि अहमिन्दोंको अपेक्षा सर्वार्थिसिद्ध देवोंका प्रभाव अत्यिक है। ऐसा शाखो हारा आग्नायपूर्वक मुना जा रहा है। विजय आदि चार विमानोंमें रहनेशांके सम्पूर्ण असंख्याते देवोंका जितना मिलकर प्रभाव है, उससे अधिक सर्वार्थिसिद्धिके एक देवका है। इत्यादि विशेषोंको दिखलानेके लिये सर्वार्थिसिद्धी ऐसा सूत्रमे पृथक् असमसितपद पड़ा हुआ है। किन्द प्रत्ययान्त होनेसे अधिक माना गया सर्वार्थिसिद्धी शह भी इन्द्रकी संक्षा पढ़ जानेसे पुलिक्श कर दिया जाता है। सर्वार्थिसिद्धी और सर्वार्थिसिद्ध दोनों शद्ध अभीष्ट हो रहे दीकते हैं।

प्रैवेयकाणां पृथम्प्रहणं कल्पातीतत्वज्ञापनार्थे, नवक्रह्रस्याबात्तकरणमनुदिवस्थनार्थे। दिव आनुपूर्व्येणानुदिवं विपानानीति पूर्वपदार्धप्रधाना वृत्तिः दिक्छद्वस्य करदादित्वात् आकारांतस्य वा दिवाक्रहस्य भावात् तत्साहचर्यादिद्रा अप्यनुदिवास्ते च नव संति प्रैवेप-काणानुपरीति श्रवणात्।

" प्रैवेयकेषु " इस पदका पूर्व या उत्तरपदोके साथ इन्ह समास नहीं कर जो पृथक प्रहण कर दिया गया है, वह तो प्रैवेवकों के कल्पातीनपनको समझाने के किये हैं। अर्थात — सौधर्मकों आदि लेकरके अन्युत्तपर्यन्त बारह इन्द्रोकी अपेक्षा बारह कल्प है। उनसे न्यारे ऊपरले बिमान सम कल्पातीत हैं। इस सिद्धान्तको समझाने के लिये प्रैवेयकेषु यह पद पृथक् कर दिया है। सूत्र-कारकी एक एक मात्रा अपिरिमिल अर्थको झेल रही है। यचपि प्रैवेयक नौ हैं। ऐसी दशामें " नय च ते प्रैवेयका नवप्रैवेयका " थों समास कर " नवप्रैवेयकेषु " कह देना चाहिये था। फिर जो स्त्रकारने नव और प्रैवेयक पदीमें समासवृत्ति नहीं की है, वह नौ अनुदिश विमानोंका सूचन करने के लिये है। यानी प्रैवेयकरे जपर नौ अनुदिश विमान मी है। दिशाओंके अनुद्विपने करके कने हुए विमान

नव अनुदिश हैं । यहां दिश् शन्दकी अनुपदके साथ पूर्वपदके अर्थको प्रथान रखनेवाळी समासद्वारी कर दी गई है । दिश् शन्दका शरदादि शन्दोंमें पाठ होनेसे " अन्ययीमावे शरतप्रमृतिम्यः " इस सूल करके यहां समासान्त टच् कर दिया जाता है । अथवा आकारान्त दिशा शन्दका सद्भाव होनेसे "अन्ययीमावश्च और नपोऽचो हस्यः" मूत्रोंद्वारा अनुदिश शन्द बनाया जा सकता है । उन अनुदिश विमानोंके सहचरपनेसे इन्द्र भी अनुदिश कहे जाते हैं और वे अनुदिश विमान प्रैवेयकों के उत्पर एक परूकों नो हैं । यों आर्थशास्त्रोंद्वारा ज्ञात किया जा रहा है । नवसु शन्दका प्रैवेयकों में एक बार अन्वय कर पुनः आवृत्त किये गये दूसरे नवसुका अर्थ नौ अनुदिश विमान कर लिया जाता है । " न्याख्यान्ततो विशेषप्रतिपत्तिक हि सन्देहादलक्षणं "।

नतु च सौधर्मैशानयोः केषांचिद्रप्युपरिभावाभावादच्यापकतापरिभावस्य स्यादित्या-शंकायाभिद्रमाह ।

यहां किसीकी संका है कि " उपिर उपिर " शद्ध षष्ट्यन्त पदकी अपेक्षा रावता है। अतः समान्त्रमार, माहेन्द्र, आदिको सौधर्म, ऐशानके ऊपर ऊपरपना एंट नी वे नी चेके त्रिमानोसे ऊपर ऊपरपना सर्वार्थसिद्धितक सुरूभतया घट जाता है। किन्तु सबसे नी चेके सौधर्म और ऐशानको किन्होंके भी ऊपर ठहरनेका अभाव हो जानेसे ऊपर ऊपर सद्भावकी सर्वत्र वैमानिकोंमे ज्यापकता नहीं हो सकी है इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्त्रामी अग्रिम वार्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

सौधर्मेशानयोर्देवा ज्योतिषामुपरि स्थिताः। नोपर्युपरिभावस्य तेनाच्यापकता भवेत ॥ १ ॥

जब कि सीधर्म और एशानमें रहनेवाछे देव ज्योतिषियों के ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं। तिस कारणसे ऊपरछ ऊपरछे भागों में टहरने के परिणामकी अव्यापकता नहीं हो वेगी। ज्योतिष्क विमानों से अठानने हजार एक सौ चालीस ९८१४० योजन और बालाप्र ऊपर सीधर्म ऐशान विमान व्यवस्थित हैं। अर्थात् ज्योतिष्क विमानों की अपेक्षा वैमानिकों के त्रेसर पटलोंका ऊपर ऊपर वर्तना सर्वत्र व्याप जाता है। यद्यपि ज्योतिष्कों में भी समतल चित्रा भूभाग के ऊपर सान सौ नव्ये ७९० योजनसे प्रारम्भ कर ९०० योजनतक एक सौ दस ११० योजनों ज्योतिष्कों का तारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, बुध, अत्रक्त, बृहस्पति, मंगल, शनि, इन काम अनुसार ऊपर ऊपर वर्तना पाया जाता है। फिर भी हमें यहां वैमानिकों के ऊपर ऊपर कपर कपर कपर वर्तना पाया जाता है। फिर भी हमें यहां वैमानिकों के उपर ऊपर कपर कथन प्रकरणमें ज्योतिष्कों का घसीटना अभीष्ट नहीं हो रहा है। अव्यापकताका समूल उच्छेद करने के लिये उदारोदर (बहा पेट) नीति अनुसार ज्योतिष्कों का भी ऊपर ऊपर ठहरना बढ़ा कर लिख दिया है।

कुतः पुनर्दयोरुपर्युपरिभावः माम्बैवेयकेभ्य एवेत्याइ।

किसी प्रतिवादीका कटाक्ष है कि उक्त व्याख्यान करनेसे प्रतीत हुआ है कि सौधर्म आदि कल्पोंमें दो दो स्वर्ग बराबर ठहरते हुये ऊपर ऊपर सीळह स्वर्ग वर्स रहे हैं। किन्तु सुत्र द्वारा यह अर्थ नहीं निकलता है। प्रेवेयकोंसे पहिले ही यह व्यवस्था होय। पुनः प्रेवेयकों, अनुदिशों, या विजया-दिकोंमें दो दो का युगल ऊपर ऊपर नहीं व्यापे यह भी मूल्सूत्रसे ध्वनित नहीं होता है। अतः बताओ कि प्रेवेयकोंसे ही पाहिले दो दो स्वर्गोंका ऊपर ऊपर वर्तना है, यह कैसे निर्णात किया जा सकता है! टीकाकारोंको मूलसूत्रके अनुसार ही चलना चाहिये। सिद्धान्तको न्यून अधिक कथन करनेसे तत्त्वोंका कूपपतन या आकाशमें फेंक दिया जाना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार सामिमान जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकोंको समाधानार्थ कहते हैं।

सोधमंत्यादिस्त्रे च द्वंद्ववृत्तिर्विभाव्यते । सोधमंदिविमानानामुपर्युपरि नान्यथा ॥ २ ॥ आनतप्राणतद्वंद्वमारणाच्युतयोरिति । सूचनादंतशः सा च कल्पेष्वेवैकशस्ततः ॥ ३ ॥ ग्रैवेयकेषु नवसु नवस्वनुदिशेष्वयं । ततोनुत्तरसंज्ञानां पंचानां सेष्यतेर्थतः ॥ ४ ॥

" सीर्थमशानसानन्तुमारमाहेन्द्रज्ञसज्ञलोत्तर " इत्यादि स्त्रमें कहे गये सीर्थम आदि विमानोंका ऊपर ऊपर इन्द्र यानी युगळरूपसे वर्तना विचार लिया जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी एक एकके ऊपर वर्तते हुये यों सोळह पटळ होंय या चार चारका चतुष्क सममागमें बनाकर सोळह स्वगांके चार ही चतुष्क या पटळ कर दिये जांय इत्यादिक ढगोंसे ऊपर ऊपर वर्तना नहीं है। क्वोंकि अन्तमें पडे हुये आनत प्राणत ता इन्द्र कर पुनः आरण और अन्युतोंका इन्द्र किया गया है। अतः स्वित्त होता है कि जैसे आनत, प्राणत, और आरण अन्युतोंके युगळ समानमागोंमें रचे होक्सर ऊपर ऊपर हैं, उसी प्रकार सीधर्म, ऐसान, आदिके युगळ भी दो दो स्वगींकी समतुळा होकर ऊपर ऊपर रच रहे हैं। अन्यथा छावनके छिन आनत आदि चारोंका इन्द्र कर एक ही योग किया जा सकता था। हां, पहिले बारह स्वगींका छावनार्थ इन्द्र समास कर दिया है। और उनके ऊपरके दो युगळोंका समास नहीं करनेसे युगळरूपसे सब स्वगींका वर्तना सूत्रकार हारा सूचित कर दिया गया है। यह युगळरूपसे हो रही हात्त बारह कल्प यानी सोळह स्वगींमें ही है। उससे परखे ओर नो प्रैनेयकोंमें नो अनुदिशोंमें और उससे ऊपर पांच अनुत्तर संज्ञक विभानोंमें यह वर्तना एक

एक रूपसे हैं। अर्थात् निष्मेनेयक अने अने अने हो तर उपर उपर नौ पटलों ने तर्र हैं। नव अनुदिशोंका एक ही पटल उपरिम नौमें भैनेयक के उपर है। उसके उपर पाचों अनुनरींका एक ही समतुलाबाला पटल है। सूत्रोक्त शहोंकी शक्तिसे और अर्थनम्बन्धा न्यायसे भी नह सौधर्म आदि कन्पोंकी या कल्पातीतोंकी युगल रूपसे या एक एक रूपसे इस प्रकार बन्ति होना अभीष्ठ होरहा है। सहसारत क दो दो कल्पोंका पहिले इतरेतर इन्द्र समास कर पश्चात् लड़ युग्माका इन्द्र कर लेना। आगे रुपन्ट ही है।

सौधर्मेत्यादिम् त्रे निदिष्टानां सौधर्भेज्ञानदीनां श्रेणीद्रक्षप्रकाणीत्मकपटस्रभावापकानां विमानानामुपर्युपरि द्वंद्वर्तनं विभाव्यते आनत्याणतद्वंद्वमनन्तरमारणाच्युतयोरिति स्थनादन्यका कृष्यकरणे प्रयोजनाभावात् । तथ द्वंद्वर्तनं कल्पेष्येव विभाव्यते । तदंते वृष्यकरणात् प्रागेष सौधर्मेज्ञानयोः सानत्कुपारमाद्देन्द्रयोरित्यवृष्यकरणात् ।

मीधमंशान श्यादि सूत्रमें कथन किये गये चारों दिशाओमें पंक्तिबद्ध कें हुये श्रेणीबद्ध बिमान और श्रेणीबद्धों के ठीक बीचमें ठहर गहा इन्द्रक शिमान एवं दो दो श्रेणीयों के बीच बीचके चार तिकोने बिखेर हुये पुष्पों के ममान फैक रहे पुष्पप्रकीर्णक विमान यों श्रेणीजातीय, इन्द्रक और प्रकीर्णक जातीय, विमानों हररूप परलमान को प्राप्त होरहे मीधर्म, ऐशान, आदि विमानोंका उपर उपर युग्म रूपसे वर्तना निर्णात कर बिया जाता है (प्रतिक्षा) क्योंकि आनतप्राणतके दन्द्र पश्चात् आरण अन्युतोंका पृथक्रूपमें मुत्रमें कथन किया है। मुत्रकारने आनिम चारों व्यागोंकी ममामहिन जो नहीं की है, उसका यही प्रयोजन है कि मोलह स्वर्ग दो दो होकर यमल स्पिस उपर अपर आट द्रय वर्त रहे हैं। सुत्रकारका समासहिन नहीं करनेमें अन्य प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है। और यह दन्द रूपसे दो दोका बरावर होकर वर्तना करणोंमें की विश्वारा जाता है। क्योंकि उन करणोंमें ही अन्तके चार करणोंमें दन्द्र समासहिन्द की गई है। उनके पहिले ही सीधर्म आदिक शाह करणोंमें हो खन्तके चार करणोंमें दन्द्र समासहिन्द की गई है। उनके पहिले ही सीधर्म आदिक शास्त्रकारमाहैन्द्री तथा ब्रह्मा च ब्रह्मोत्तरक्ष ब्रह्मब्रह्मोत्तरिक स्वाहिक्तपसे छह युगलोंके छह दन्द्र समास किये गये हैं। पुनः सीधर्मेशान पदकी और सानत्नुमारमाहैन्द्र आदि पांच युग्म पदोंकी अनुति नहीं की गई है। यानी आठ कल्प या ब्यह स्वर्गोक्षा दन्द्र समास कर दिया गया है। इसीसे करणोंमें युगल्खिका सिद्धान्त निर्णात होजाता है।

तत एव नवसु ग्रैवेयकेष्वेकशो वर्तनं विभाव्यते । नवस्त्र तुदिशेषु च तत्र दिग्विदिग्ब-त्यंकैकविमानमध्यगस्येंद्रकविमानस्यैकत्वात् । तत एवानुचरसंज्ञानां पंचानामेकशो वर्तनं विभाव्यते दिग्वत्यंकैकविमानमध्यगस्येंद्रकस्य सर्वार्थसिद्धस्यैकत्वात् । अर्थतश्चैवं विभाष्यते अन्यभोक्तनिर्देशकपस्य प्रवोजनामुपपत्तेः ।

तिस ही कारणसे यानी नवपद और ग्रैंबेयकपदमें वृत्ति नहीं करनेसे नौ ग्रेंबेयकोमें एक एक होकर नौ पटलोंमें एक एक ग्रैवेयकका वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है। नव शदको र्थवेयकपदके साय समास वृत्ति नहीं करनेसे नौ अनुदिश भी प्राप्त हो जाते हैं। नव अनुदिशों में सम्पूर्णीका एक पटल है। उनमें दिशा और विदिशाओं में एक एक वर्त रहे यों आठ विमान और एक मध्यमें प्राप्त हो रहा इन्द्रक विमान यों न्यारे, न्यारे समत्रकावाले विमानोंको वहाँ एकपना प्राप्त है। नवसु शद्धका योग विभाग या आवृत्ति कर एक नव शद्धको ग्रैवेयकके साय और दूसरे नवको अनुदिशमें जोड लेना । तिस ही कारणसे यानी पांचों अनुत्तरोमे एकशः वृत्तिका अन्वय कर देनेसे अनुत्तर संज्ञक विजयादि पांचों विमानोंकी एकबार समतुला (लेविल) में वृत्ति हो रही निश्चित कर ली जाती है। क्योंकि चार दिशाओं में वर्त रहे एक एक विमान और मध्यमे प्राप्त हो रहे सर्वार्थिसिद्धि नामक एक इन्द्रक विमानको एकपना प्राप्त है। शह शक्तिसे ये बात व्याकरण मुद्रया प्राप्त हो जाती है। तथा अर्थ संबंधी न्यायसे भी इस प्रकार उक्त सिद्धांत विचार लिया जाता है कि सूत्रकारके यथोक्त प्रकार सूत्रमें <mark>कथन कर दिये गये</mark> कमका अन्य प्रकार कोई प्रयोजन नहीं बन रहा है। जो कह दिया गया प्रयोजन है वही न्याय युक्तियोसे निर्णीत है। इस प्रकार सौधर्म ऐशान स्वर्गके इकत्तीस पटल, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गीके सात पटल, अम्हयुग्मके चार पटल, लांतव युग्मके दो, शुक्र युगलका एक, शतार द्वन्द्वका एक पटल एवं आनतादि चार कल्पोंमें छह पटल, नौग्रैवेयकोंके नौ पटल, नौ अनु-दिशोका एक पटल, पांच अनुत्तरोंका एक पटल यों ऊर्ध्व लोकमे असंख्याते योजनींका व्यवधान लिये हुये त्रेसठ पटल हैं। सबसे नीचेके ऋतु पटलके मध्यवर्ती ऋतु इन्द्रक विमानसे चारों दिशाओं में बासठ बासठ विमानों की पंवित बद्ध श्रेणी श्रसनालीतक चली गयी है। ऊपर ऊपर पटलमें चारों दिशाओंसे एक एक विमान कमती होती गयीं चारों श्रेणियां व्यवस्थित हैं। बासठसें अनुदिश संबंधी पटलमें एक एक विमान दिशाओमे वर्त रहा है। यहां विदिशाओं में भी चार विमान है ऊपरके अनुत्तर विमान सम्बन्धी त्रेसिठवें पटलमें विदिशाओं में असंख्यात योजन व्यासवाले चार श्रेणी बद्ध विमान और मध्यमें एक लाख योजन व्यासवाला सर्वार्थसिद्धि इंन्द्रक विशान यों पांच विमान है। यह रचना थालीमे रखे हुये ऊपर पंक्तियोंमें क्रमबद्ध कमती कमती हो रहे लड्डुओं के ढेर समान अनादि अनन्त अकृत्रिम बन रही है। श्रेणियों के बीच चार तिकोनोंमें पुष्प प्रकीर्णक विमान अवस्थित हैं। इन्द्रक श्रेणी, बद्ध पृष्य प्रकीर्णक विमानोंकी संख्या, उनका संख्यात या असंख्यात योजनका व्यास, और मोटाई, वर्ण, आदिका निरूपण त्रिलोकसार राजवात्तिक, ग्रन्थोंमें दृष्टव्य है। सम्पूर्ण विमानोंमें एक एक अक्रुत्रिम जिन मन्दिर विराजमान हैं। विमानोंकी संख्या परिमाण जिन मन्दिर को नमस्कार होओ।

वे च स्त्रितंतु सीधर्मादिषु करंगेषु करणातांतेषु च बैमानि हा देवाः।

उनत सूत्रमें कहे जा चुके सौधर्म आदि कल्पोंमें और ग्रैंवेयक आदि कल्पातीतोंमें निवास कर रहें वे देव परस्परमें किन किन विशेषताओंको धारते हें ? इसकी प्रतिपत्ति करा-मेके लिये सूत्रकार अगले सूत्रको कहते हैं।

स्थितिप्रभवामुख्युतिलेइयाविशुद्धींद्रियावि -विषयतोधिकाः ॥ २०॥

आयुष्य प्रमाण स्थिति, निग्नहानुग्रह करना स्वरूप प्रभाव, इन्द्रियजन्य लौकिक सुख, दीप्ति स्वरूप द्युति, लेश्या, इन्द्रियोंका विषय, अत्रधिज्ञानका विषय इन करके ऊपर ऊपरके वैमानिक देव अधिक हो रहे हैं। यानी त्रेसठ प्रस्तारों में ऊपर ऊपर स्थिति आदिक बढ रहे पाये जाते हैं।

स्योपात्तायुष उदयात्तास्मिन् भवे तेन शरीरेणावस्थानं स्थिति, शापानुग्रान्क्षणः मभ'वः, सदेघोदये सतीष्ठ विषयानुभवनं सुखं, श्वरारवसनाभरणादिदीप्तियुतिः, कपायानुभित्रा यागप्रश्वतिर्हेदयात्तात तस्या विश्वाद्धवेदयात्रिथिद्धः, इन्द्रियस्यावधेश्व विषये। गोचरः प्रत्येयः, विषयशब्दस्येदियादिभ्यां प्रत्येकमिनिसंदेधात् अन्ययोगर्युपरि देवानाविदियाभिष्टदिवसगात् सिद्धांतिविरोधापक्षेः।

अपने करके पूर्व जन्ममें उपाजित किये गये आयुष्य कर्मका उदय हो रहे उस भवमें उस गृहीत शरीरके साथ अवस्थान बना रहना स्थिति है कुद्व हो कर अपने अधिकृत प्राणियो में सिसीको अनिष्ट प्राप्त कर। देना शाप स्वरूप प्रमाव है। और किसीके उत्तर प्रमन्न होते हुये इष्ट प्राप्त करा देना स्वरूप अनुग्रह नामक प्रभाव है। अन्तरंगमे साता वेदनीय कर्मका उदय होते सन्ते इष्ट विषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र, अलंकार, गंत्र, द्वःय, मुकुट आदिकी दीष्तिको द्युति कहते है। कषायों से अनुरंजित हो रही योगों की प्रवृत्ति लेक्या है। जो कि "गतिकपार्यालगमिण्यादशंना, इत्यादि सूत्रकी ग्याग्हवीं व तिक्रमें कही जा चुकी है। उस लेक्याकी विशुद्धि हो जाना लेक्या विशुद्धि है। इन्द्रियों हो और अवधि ज्ञ नका विषय यानी आतब्य प्रमेय इन्द्रिय विषय और अवधि विषय समझ लेना चाहिये। विषय शद्धका इन्द्रिय और अवधि इन प्रत्येकके साथ पीछे संबंध कर दिया जाता है। अन्यथा यानी इन्द्रियों से साथ विषय यक्ता यदि संबंध नहीं किया जायगा तो उत्तर उत्तर देशों के इन्द्रियों की अभिवृद्धिका स्संग हो जानेसे सिद्धां से विषद्ध कथनकी आपित्त हो जायगी अर्थात्—सभी देशों के इन्द्रियों पांच ही हैं। छह, सात, पच्चीस, पवास अ।दि इन्द्रियां नही है। अवधिक्रान भी देशावधिके मध्य भेद वहां नहीं है। या जाते हैं। देशावधिके अतिरिक्त कोई परमाविध, सर्वविध, या अन्य भेद वहां नहीं है।

सिद्धान्त शास्त्रीमें ऐसा ही उल्लेख है। अतः इन्द्रिय और अवधि शहका पहिले इन्द्र समास कर 'इन्द्रियावधी 'पद बनालो। पुनः षष्ठी तत्पुरुष द्वारा 'इन्द्रियावधिविषय 'पदको ब्युत्पन्न कर लेना चाहिये।

स्थित्यादिनां दृद्दे रिथतिश्रद्धस्यादी ग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्रभावादीनां । तेभ्यस्ततः इत्यत्रा 'पादाने द्दीयर्द्दोरिति तक्षिः तैवाँ ततस्तक्षि प्रकरणे " आधादिभ्य उपसंख्यान " पिति तक्षिः ।

स्थिति आदिक शहोंका स्थितिरच प्रभावरच सूखं च द्यतिरच लेश्याविशृद्धिरच इन्द्रिया-बधि विषयश्च, यों निक्षित द्वारा द्वन्द्वसमास करनेपर स्थिति शद्दका आदिमें ग्रहण हो जाता है। क्योंकि आयुष्य कमें द्वारा जीवन स्थिति नियत होतेपर जीवके प्रमाव, सुख, आदि हो सकते हैं। अतः प्रभाव प्रादिक सब उस स्थितिको पूर्ववर्ती मानकर पीछे उपजनेवाले पदार्थ हैं। स्थिति शद्भा स्वन्त भी है किन्तू स्वन्तपना द्यतिमें भी पाया जाता है। लेश्या विश्विष्टिमें अच् अत्यधिक है। अतः ग्रंथकारने स्थिति पद आदिमें ग्रहण करनेके लिये सबके पूर्वमें वर्तना यही पूष्ट हेत् प्रयुक्त किया है। द्वन्द्व समास कर चुकनेपर स्थिति प्रभाव सुख द्यति लेक्याविश् द्वीन्द्रिया-वधिविषया इम पदसे तेम्यः ततः इतिः यान्। स्थिति प्रमाव मुख द्यतिलेक्याविश् द्वीन्द्रयाविषयेभ्य इति स्थिति प्रभात्रमुखद्यतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियाविधिविषयतः यह सुत्रोक्तपद यना लेना चाहिये । यहां " अपादानेऽहीयरुहोः " इस सूत्र करके तिस प्रत्यय करना चाहिये । पंचमी विभक्तिवाले अपादान अर्थकी विवक्षा होनेपर तसि प्रत्यय हो जाता है। किंतू 'स्वपदात हीयेत ' 'पर्वताते अबरोहति, ऐसे पदों में हीय और रुहका योग होनेपर तिस प्रत्यय नहीं हो पाता है। अथवा भिषयै: यों ततीयांत इन स्थिति अ।दि पदसे विषयत: बनालो तद्धित संबंधी तसि प्रत्ययके प्रक-रणमें ' आद्यादिभ्य उनसंख्यानं ' आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ पार्श्व आदि आकृति गणपतित शहोंसे पंचमीके अतिरिक्त अन्य विभिवनयों के अयमें भी तीस प्रत्यय हो जाता है। ऐसा वार्तिक द्वारा उत्सर्ग सूत्रसे अधिक उपसंख्यान किया गया है। इस कारण यहां तृतीयांत पदसे भी तसि प्रत्यय किया जा सकता है। पंचमी विभक्त्यन्त पदमे इतनी प्रेरकता नहीं हं, जितनी कि तृतीयांतपद द्वारा प्रेरककारणता ध्वनित हो जाती है।

चपर्युपरि वैमानिका शति चानुवर्तते तेनैवमिसंबंधः क्रियते चपर्युपरि वैमानिकाः मति-कःपं मतिमस्तारं च स्थित्यादिभिरोधका शति ।

इस सूत्रमें ' उपर्युपिर ' और वैमानिकाः' इन दोनों सूत्रोंकी अनुवृत्ति हो रही हैं। तिस कारण दो सूत्रोंको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों कर लिया जाता है कि ऊपर ऊपर वैमा-निक देव प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें स्थिति, प्रभाव, आदिकोंसे अधिक अधिक हो रहे विराजते हैं।

इतस्ते तथा सिद्धा इत्याइ।

वे वैमानिक देव तिस प्रकार स्थित आदिकसे अधिक हैं, यह सूत्रोक्त कथन भला किस प्रमाणसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, ऐसी तर्कणा उपस्थित होनेपर ग्रन्यकार वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं।

सप्तभिस्ते तथा ज्ञेषाः स्थित्यादिभिरसंशयं। तेषामिह मनुष्यादौ तारतम्यस्य दर्शनात्॥ १॥

वे वैमानिक देव (पक्ष) तिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि सात विशेषताओं करके कपर कपर अधिक हो रहे निस्संशय जान लेने चाहिये (साध्य) । क्योंकि इस दृश्यमान लोकमें जन स्थिति आदिकोंका सेठ, राजा, महाराजा, मल्ल, अध्यापक, आदि मनुष्यों या अनेक पक्षियों अथवा बंदर, सिंह, आदि तिर्यंचोंमें हो रहा तरतम भाव देखा जाता है। (हेत्) अर्थात्-पृण्य-शाली व्यापारी सेठ, राजा, मल्ल, यं।गाभ्यासी, अ।दिकी आयु अधिक अधिक देखी जाती है। सिपाती, थानेदार, कलक्टर, कमिश्नर, लार्ड, वायसराय, आदिमे उतरोत्तर प्रभाव अधिक है, भिक्षक, किसान, दकानदार, जमीदार, सेठ आदिमें उत्तरीत्तर सूख भी वढ रहा है । रोगी, अल्परोगी, दास (मजुर) अध्यापक, व्यापारी, मल्ल, महाभट आदि निश्चिन्त पुरुवोंकी शरीर कान्ति भी उतरोत्तर बढ रही दीखती है। स्वच्छतासे प्रेम रखनेवाले वैद्य, डाक्टर, कप्तान, कल-क्टर, प्रभ, इनमें शरीर, वस्त्र, गहने, आदिकों की कान्ति भी वढ गही देखी जा रही है। नारकी कर, तिर्यंच, मन्द्रा, देव, भोगभूमियां, सर्वार्थसिद्ध, श्रावक, मृति, इनमें कषाय और योगकी मिश्रण परिणति स्वरूप लेश्याकी विशृद्धि उत्तरोत्तर बढ रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार रोगी, निर्धन, अधमणं, (कर्जदार) घृतभोजो, निश्चिन्त पशु, पञ्जी, मण्डलेश्वर चक्रवर्ती, देव इनमें स्पर्शन, घाण, चक्षु, आदि इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करना उत्तरोत्तर बढते चले जा रहे देखे जाते हैं ितथा तियंच, नारकी, भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क, अस्रकुमार, सौधर्म, इन्द्र, आनत प्राण वासी अनुत्तर विमानवासी, मृति, चरमशरीरी. इनमें अविश्वज्ञान उत्तरोत्तर बढता जा पाया रहा शास्त्रों द्वारा ज्ञात हो रहा है। इसी प्रकार तियंच योनिम विशेष रूपसें भी पक्षियोंकी चिरैया, नीलकंठ, चील, गृह आदिकी आयु बढती हुई है। पशुओं में कूता, छि।या गद्या, घोडा, ऊंट हाथी अथवा बिल्ली, चीता. रींछ, वघेरा, सिंह, अप्टापद, इनकी आयु ऊपर ऊपर अधिक है। जल चरोंमें मेंडक मछली, कछुआ, मगर, घडिनाल, इनकी आयु बढ रही पायी जाती है। बन्दर, कुत्ता, भेडिया सिंह, बडे मच्छ, चील, गृद्ध, आदिके प्रभाव, सुख, दीन्ति लेश्या, इन्द्रियोंके विषय इनमें घटती बढतीका हो रहा तारतम्य देखा जाता है। वस, इसी तार-तम्य हेत्की सामर्थ्यसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति आदिक अधिक हो रहे साध लिये जाते हैं।

मनुष्यादी स्थितंस्तावचारतम्यस्य दर्शनादेवानामुगर्धुपरि स्थित्याधिकयं दृष्टं संभाव्यते । येवामापं समाना स्थितिः तेवामापं गुणताधिकत्वसिद्धः । मभावस्य च तारतम्यदर्शनं तैना-धिकं । यः मभावः सौधर्मकल्पे निम्नहानुम्रहपराभियोगादिषु तद्दनंतगुणत्वादुपर्धुपरि दंवानां केवलं मंदाभियानतयाल्पसंक्लभ्रतया च न मवर्तनं ।

मन्ष्य, तियँच, आदिमें सबसे पहिली स्थितिके तरतम भावका दीखना होनेंसे देवेंकि कपर कपर स्थिति करके अधिकपना देखा जा चुका सम्भावित हो रहा है। सर्वंज देव या दिव्यज्ञानी आचार्य, जिन अतीन्द्रिय पदार्थीका प्रत्यक्ष कर लेते हैं, उनमेंसे कतिपय वदार्थीकी बादी, प्रतिवादी पुरुष युनितयों द्वारा सम्भावना कर लेते हैं। उनकी उत्कृष्ट और जबन्य स्थितिको आगे कह देंगे। हां, जिन देवोंकी स्थिति समान भी है, उनके भी अन्य गुणों करके अधिकपना सिद्ध हो रहा है। जैसे कि सौधर्म, ऐशान, स्वर्गीमें कुछ अधिक दो सागर उत्कृष्ट आयु है। सनत्कूमार, माहेन्द्र, की भी इतनी ही जघन्य आयु है। एक समय अधिक कोई अधिक नहीं समझी जाती है। विजय, वैजयंत, जयंत, की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और सर्वार्थसिद्धिकी तेतीस सागर बराबर है एवं इन्द्रकी आध्के समान ही सामानिक देवोंकी भी आयु है। फिर भी इनमें गुणोंकी अपेक्षा अधिकता है। दश सागर उत्कृष्ट आयुवाले अम्होत्तर स्वर्गवासी देवोंकी अपेक्षा आठ सागर प्रमाण आयुष्यधारी लौकान्तिक देव गुणोंसे अधिक है। र्जंसे कि निर्धन मुखंया रोगीके साठ वर्षतक जीवनकी अपेक्षा नीरोग विद्वान्का पचास वर्षतक जीवन सुचार (बेहतर) है। दस दिनके काल कोठरी निवास नामक दण्डसे दो माहका कारावास कही अच्छा है। फांसीकी अपेक्षा जन्म पर्यन्त द्वीपान्तवास (कालापानी) दण्ड हरूका है। तथा प्रभावका भी तरतम रूपसे दीखना होनेसे देवोंमें उस प्रभाव करके ऊपर अपर अधिक-पना सम्भावित हो रहा है। सौधर्म कल्पमे देवोंका जो निम्नह करना, अनुमह करना, दूसरोंको लताडना, आश्रितोंपर अपराध नियत कर देना, आजा चलाना आदि नियोगोंमें प्रभाव है। ऊपर ऊपर उससे अनंत गुणा होनेसे देवोंका प्रभाव अधिक हो रहा है। केवल अभिमान या अन्य कषायोंकी मन्दता होनेसे और अल्प संक्लेशवान हीनेसे ऊपर ऊपरके देव विचारे आश्रित-देवोंपर निग्रह, अनुग्रह, आदि नियोग चलानेमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं। जैसे कोई प्रधानाध्यापक अानी सज्जनता, मन्द कवाय, औपाधिक क्षणिक पदिवयोंमें अनादर आदि कारणोंने अपने काश्रित अध्यापक, छात्र मंडल या कर्मचारियोंपर स्वकीय पूर्ण प्रभाव नहीं डालता है। मले ही छोटी पदवीवाला प्रबंबक (मुप्रिन्टेन्डेन्ट) छात्रोंपर भारी प्रभाव गांठ लेवें । बात यह है कि गम्भीर प्राणी अपने पूरे प्रभावका क्या दहीं करते हैं। जो अपने प्रश्रावींका विधिकता या अनचित रूपसे उपयोग करते हैं, वे गम्भीर जीवोंमें निदाक पात्र होकर छोटे समझे जाते हैं। दूसरों के उपकार करने में अपने प्रभावका भले ही उपयोग किया जाय, किन्तु दूसरों के निग्नह, अभि-योग संचालनमें जो पुरुष जिल्ला भी अपने प्रभावका अल्प न्यय करेगर बहु पुक्ष उद्याना ही

जदात्त सम्बीर, महामना, समझा जायगा। हां, साधु अनुग्रह और दुर्जन दण्ड करनेवाले राज-वर्गके प्रभुओं (अफसरों) की बात निराली हैं। देवों में ऊपर ऊपर ऐसी निग्रह करानेवाली प्रभुताके जपयोगकी सामग्रीकी भरमार नहीं हैं।

प्विमद्द मुखस्य तारतम्यदर्शनाचेषां मुखेनाशिक्यं । गुत्या तारतम्यदर्शनादिति पुत्यापिक्यं । छत्याविद्युद्धस्तारतम्यदर्शनाचाधिक्यं, समानल्डयानामि कर्मविद्युध्यधिकत्वः सिद्धः । इदियाविषयस्य तारतम्यदर्शनादिदियविषयणाधिक्यं । तद्ददविषिविषयण तथा संभावनायां बापकाभावात् ।

इसी प्रकार यहां मनुष्योमें सुखके तारतम्यका दर्शन होनेसे उन कल्प और कल्पातीत देगोंके भी लौकिक सुखों करके अधिकपना सिद्ध कर दिया जाना है। द्युनि यानी दीप्ति करके भी यह तारतम्य देखा जाता है। इन कारण आगमगम्य, परोक्ष, देवों में इन दृष्टान्तकी सामर्थ्य अनुसार द्युनि करके अधिकपना साध दिया जाता है। लेक्याओं की विशुद्धिका तारतम्य यहा मनुष्य या तिर्यंचों में देखा जाता है। इम कारण उम लेक्याविशुद्धि करके अधिकपना देवों में सम्भावने योग्य है। "पीनपद्मशुक्ललेक्या दित्रिशेषेषु" इस सूत्र द्वारा वैमानिक देवों में लेक्या-विधि कह दी जायगी, किन्तु जिन देवों की लेक्या समान है, उनके भी उत्तरोत्तर प्रस्तारों में कर्मोंकी विशुद्धिका अधिकपना सिद्ध है। जैसे कि सौअम में पीत लेक्या हैं, सानत्कुमार स्वगं में भी पीत लेक्या है। तथा आरण, अच्युन, ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी देवों में सबके एकसी शुक्क लेक्या है। किर भी कर्मोंके मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदय अनुसार लेक्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही है। योंही यहां मनुष्य तिर्यंचों में छह इन्द्रियोंके विषयका तरतम माव देखा जाता है। अतः देवों में भी इन्द्रियोंके विषय करके अधिकपना अनुमित हो जाता है। उन्हींके समान देशाविधिक अधिक अधिक हो रहे विषय करके जिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक हो रहे देशाविधिके विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्भावना करने से बाधक प्रमाणोंका अभाव है। 'असंभवद्वाधकत्वाद्धन्तुसिद्धिः'।

गत्यादिभिरधिकत्वप्रसंगे तिश्ववृत्त्यर्थभाइ

कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि जिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि करके ऊपर अधिकपना है, उसी प्रकार वैमानिक देवों में गति, शरीर, आदि करके भी अधिकपनका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ? ऐसी दशामें उस अनिष्ट प्रसंगकी निवृक्तिके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सुत्रको कहते हैं।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः॥ २१॥

गति, शरीर, अवगाहना, परिग्रह और अभिमानसे वे वैमानिक देव उत्तरोत्तर प्रस्तारोंमें हीन होन होकर विराज रहे हैं।

चभयनिभिचनशादेशांतरपासिनिभिचः कायपरिस्पंदां गतिः, शरीरिभिद्ध नैक्कियिकप्रुक्तः स्थलां प्रात्तं, स्थापनिक्यां परिश्रद्धां वस्यपाणः, मानकषायोदयात् मतियोगेष्वप्रणाति-परिणामां अभिमानः । गतिश्वरीरपरिश्रद्धाभिमानिर्मातश्चर्यार्थे परिश्रद्धाभिमानिर्माः परिश्रद्धां परिश्रद्धां

अन्तरंग और बहिरंग दोनों निमित्त कारणोंके वशसे एक देशसे अन्य देशोंकी प्राप्तिका निमित्त हो रही शरीरके परिस्पन्दरूप कियाको गति कहते हैं। कार्योंके उपादान तथा अन्त-रंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन, निमित्त ये कारण जब जुड जाते हैं, तब कार्यकी उत्पत्ति हो जाती हैं । आकाशमें गति होनेके उपादान और बहिरंग अन्तरंग निमित्त कारण नहीं हैं। सिद्धक्षेत्रमें विराज रहे सिद्ध परमेष्टियों में गतिका बाहरंग कारण गति नाम कर्मका उदय नहीं हैं। छातीमें वेग या अश्ववार इन प्रेरक कारणों के नहीं मि :नेपर घोडा गमन नहीं करता है। उदातीन कारण समान मानी गयी कीलके नहीं होनेसे चाक शीघा भ्रमण नहीं कर पाता है। अतः शरीरधारी दे गोंकी गतिमें उपादान कारण जीव और शरीर तथा निमित्त कारणोंमें प्रेरक निमित्त छातीके वेग, मनका उत्साह, गति कर्मका उदय ये अन्तरंग हैं। बाहन, विमान, पांव, भूमि आकाश, भ्रमणेच्छा, प्रमुकी श्राज्ञाका पालत, ये बहिरंग हैं। धर्मद्रव्य, आकाश, उदासीन कारण हैं। यों अन्तरंग, बहिरंग, कारणोंसे देवोंकी गति पर्याय बनती है। यहां देवोंके प्रकः रणमें वैकियिक शरीर ग्रहण करना चाहिये, जिसका कि लक्षण हम द्वितीयाध्यायमें कर चके हैं। लोभ कषायके उदयसे सकल्प, विकल्प, स्वरूप मुर्च्छा होकर विषयोंमें आसक्ति हो जाना परिग्रह है। यह मूर्जी स्वरूप परिग्रह स्वयं सूत्रकार द्वारा आगे सातवें अध्यायके ' मूर्च्छा परि-ग्रहः ' सूत्रमें परिभाषित कर दिया जावेगा । चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृति मान कवा-यके उदयसे प्रतिस्पर्धा रखने शलों या साथवाले प्रतियोगी मनुष्यों में प्रणाम नहीं करना, नहीं दबना, स्वरूप परिणाम अभिमान है। उक्त चार पदोंका द्वन्द्व समासकर पुनः तृतीय विभक्तिके गति शरीर परिग्रहाभिमानों करके इस अर्थमें तसि प्रत्यय कर "गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः" यह पद बना लेना चाहिये। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें ऊपर ऊपर वैमानिक देव इन गति, बरीर, परिग्रह, और अभिमान करके हीन हो रहे समझ लेने चाहिये। यह सूत्रका मूल वर्ष है।

कुतस्ते तथेत्याइ।

वे वैमानिक देव भला किस कारणसे ऊगर कार तिस प्रकार गति आदिक करके हीन हो रहे हैं ? बताओ, इस प्रकार आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अधिम वास्तिक द्वारा समाधान वसनको कहते हैं।

उपर्युपरि ते हीना गत्यादिभिरसंभवात । तत्कारणप्रकर्षस्य परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

गति, शरीर, आदिकों करके वे देव ऊरर ऊर हीन हो रहे हैं (प्रतिज्ञा)। क्योंकि ऊपर ऊपर तिस जातिके परिणाम विशेष होते रहनेंसे उन गति आदिकोंके कारणोंकी प्रकर्ष-ताका असम्भव हैं (हेतु)। अर्थात्-पूर्वजन्ममें उपात्त शुभ कर्मोंके अनुसार विशुद्धिका अध्यव-साय बढता बढता रहनेसे और अत्यव्य संक्लेशभाव होनेसे वैमानिक देव सामर्थ्य, सुल, सन्तोष, आदिके अधिक होनेपर भी गति आदि करके हीन हैं।

गत्या तावदुर्णयुर्वि हाना देवास्तत्कारणस्य विषयाभिष्यंगोर्द्रकस्य हानत्वात् तथा परिणामेनोत्पत्तः । श्वरीरेणापि शिनास्तत्कारणस्य प्रदृद्धश्वरीरनामकर्मोद्यस्य शिनत्वात् । सौधर्मैश्वानयोर्देशानां शरीरं सप्तार तिनमाणं, सानत्कृत्वारमाहें प्रयोरगतिनहीनं कापिष्टांतेषु, ततापि सहस्रारांतेष्वरत्निहीनं, ततोष्यानतप्राणतयोरधारित्नहीनं, त रोष्यारणः च्युतयोः, तनोष्ययाप्रैरे-यक्षेषु, ततो मध्यप्रैवेयकेषु, ततोष्युपरिमर्प्रवेयकेष्यनुदिश्वविमानेषु च, ततोनुत्तरेषु तत्रारात्निः मात्रस्थादेवसर्रारस्येति हि श्रुतिः ।

सबसे प्रथम कही गयी गति करके तो ऊपर अपरके देव हीन हो रहे है। क्यों कि उस गतिके कारणभूत हो रही विषयों में तीव आसक्तिकी अधिकता (चाव) के हीन हीन होनेसे तिस प्रकार अल्प गति परिणाम करके वैमानिकोंकी देव पर्याय उपजती रहती है। अर्थात्-कीडा, गमनविनोद (शैल सपाटा) करनेके लिये सौधर्म, ऐशान, स्वर्गके देव जितना यहां बहुं असंख्याते द्वीप समुद्रोमें बार बार गमन करते है, उतना ऊपर ऊपरके देव यहां वहां नही घुमते फिरते हैं। विनोदकी बात दूर है। धार्मिक कियाओं के लिये भी ऊपर ऊपरके देव अत्यल्प आते जाते हैं। वैमानिक अहमिन्द्र देव तो नन्दीश्वर पर्व पूजा, सुमेरु चैत्यालय पूजन, जिन जन्म महोत्सव आदिमें भी वहां नहीं आते जाते है। गतिके समान ही शरीर करके भी वैमा-निक देय ऊपर ऊपर हीन हैं। क्योंकि उस लम्बे, चौडे, मोटे, शरीरके कारणभूत शरीर नामक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही 'प्रवद्ध शरोर' संज्ञक नामकर्मके उदयकी हीनता है। अर्थात्-- महामत्स्य, हाथी, छठवें मातवें नरकके नारकी, भोगभिमयां, नन्दीश्वर द्वीपकी वाबडियोंके कमल, बारह योजनका शंख, स्वयंप्रभपर्वतके बाह्य भागमें पाये जा रहे उत्कृष्ट व्यवगाहनाके त्रस जीव, इन स्थूल अवगाहनावाले जीवोंके देहविपाकी शरीर प्रकृतिकी विशेष भेद हो रही प्रवृद्धशरीर नामक प्रकृतिका उदय विद्यमान है। किन्तु वैमानिक देवोंक प्रवृद्ध शरीर नाम कर्मका उदय नहीं है, किन्तु 'क्षुल्लक शरीर संज्ञक नाम कर्मका उदय है। शरीर प्रकृतिके अवगाहनाओं के भेद अनुकूल असंख्याते भेद हैं। वैमानिकों में उत्तरोत्तर छोटे छोटे हो रहे शरीरोंके अन्तरंग कारण वैसी वैसी स्तोक शरीर प्रकृतिका उदय पाया का रहा

है। तदनुसार सौधमं और ऐशान स्वगोंमें देवोंका शरीर सप्त अरित प्रमाण है। 'प्रकोष्ठें विस्तृतकरे हस्तो मुघ्टचा तु बद्धया। स रितः स्यावरितस्तु निष्किन्छेन मुघ्टना 'इस अमरकोष अनुसार कोनीसे लेकर पसारी हुई छोटो अंगुलीतक अरित नामका नाप है। कपडे, भींत, आदिके नापमें बहुत स्थानोंपर इतने ही हाथका उपयोग प्रचलित है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वगोंमें एक हाथ हीन यानी छह हाथ प्रमाण लम्बा शरीर है। उन माहेन्द्र देवोंसे भी ऊपर अम्हलोक, बद्धोत्तर, और कापिष्ठ पर्यन्त देवोंमें एक हाथ हीन यानी पांच हाथ परिमाण अंचा शरीर है। उनसे भी ऊपर सहस्रार पर्यन्त शुक्त, महागुक, शतार, सहस्रार इन चार स्वगोंमें देवोंका एक अरित हीन यानी चार हाथ अंचा शरीर है। उससे भी ऊपर आनत प्राणत, स्वगोंमें आधा अरित हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर आरण अच्युत स्वगोंमें आधा अरित हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर तीन अधो ग्रैवें यकोंमें आधा अरित कम यानी ढाई हाथ लम्बा शरीर है। उससे भी ऊपर तीन अधो ग्रैवें यकोंमें आधा करित कम यानी ढाई हाथ लम्बा शरीर है। उससे भी ऊपर तीन मध्य ग्रैवेयकोंमें आधा हाथ कम अर्थात्-दो हाथ ऊंचा शरीर है। उन मध्यग्रैवेयकोंसे भी ऊपर ऊपरले तीन उपरिम ग्रैवेयकोंमें और तदुपरि नौ अनुदिश विमानोमें यो बारह स्थानोंपर देवोंका खेढ हाथ प्रमाण ऊंचा शरीर है। उन अनुदिशोंसे ऊपरले वहां अनुत्तर विमानोंमें देवोंका शरीर केवल एक अरित (हाथ) प्रमाण ऊंचा है। यो आप्तोक्त सिद्धांत शास्त्रों द्वारा सुना जा रहा है।

परिग्रहेणापि विमानपरिवारादिलक्षणेन होनाः तत्कारणस्य प्रकृष्टस्याभावात् । सौध-र्मादिषु हि देवानामुपर्युपरि नामकर्मविद्योबोल्पाल्पतराल्पतमविमानपरिवारहेतुरंतरंगो बहिरंगस्तु क्षेत्रविशेषादिरिति कारणापकर्षतारतम्यात् कार्यापकर्षतारतम्यसिद्धिः ।

विमान संख्या, सःमानिक आदि परिवार, सेना, भूषण, वाहन आदि स्वरूप परिग्रह करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस परिग्रह के कारणभूत होरहें मध्यमजातीय पुण्यके प्रकर्षका अभाव है। अर्थान्-दिद्ध पुरुषोंके तीव्र पापका उदय होनेसे सुखोपयोगी परिग्रह नहीं मिल पाता है। परिस्थितिका अल्पसंतोषी पुरुषोंके या जवन्य भोग-भूमियोंके जवन्यपुण्यका उदय होनेसे सुखोत्पादक थोडा परिग्रह एकत्रित हो जाता है। मध्यम जातिके पुण्य अनुसार राजा, महाराजाओं, भवनित्रक देव, सौधमं स्वर्गी आदिके अत्यधिक परिग्रह जुड रहा है। किंतु उत्तम जातीय पुण्यका उदय होनेसे ऊपरले देव या अहाँमद्र अयवा उत्तम भोगभूमि के जीवों के अत्यल्प परिग्रह है। कारण कि सौधमं आदि मे देवोंके ऊपर ऊपर अल्प विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे और अल्पतर विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे तथा उससे भी थोडे अल्पत विमान परिवार आदि परिग्रह के हेतु हो रहे विशेष नामकर्म का उदय यह अन्तरंग कारण विद्यमान है और सौधमं स्वर्ग, आनत, प्राणत, गैवेयक, अनुत्तर ये क्षेत्रविशेष ऊपर ऊपर अल्पकषाय, लौकिकभावोंकी तृटि आदिक तो परिग्रह की हीनता में बिहरंग कारण हैं।इस प्रकार अन्तरंग कारण और बहिरंग कारणों के अपकर्षका ऊपर ऊपर उरतन साव होने से परिग्रह जुड जाना स्वरूप कार के तरतम द्वारा होरहे अपकर्ष की सिदी

होजाती है अर्थात् उत्तर उत्तर देवों के लोभ कषाय का मन्द, मन्दतर मन्दतम, उदय है तथा अल्प अल्पतर, अल्पतम परिच्छदों के कारण उन उन स्तोक, स्तोकतर, स्तोकतम, विशिष्ट पुण्य प्रक्र-तियों के उदय अनुसार वंसे वैसे कार्य होजाते हैं।

कुतोभिमानेन हीनास्ते ? तत्कारणप्रकर्षस्याभावादेव । कि पुनरिभमानकारणं ? शरी-रिणामप्रतनुकषायत्वं मनसः संक्लेशोवधिशुद्धिविरहादतत्वावलोकनमसंवेगपरिणामश्च तस्य हानि-तारतम्यादुपर्युपरि देवानामिभमानहानितारतम्यं तत्पुनरिभमानकारणस्य हानितारतम्यं तत्प्रति-पक्षमूतानां प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशाविधिविशुद्धितत्वावलोकनसंवेगपरिणामाधिक्यानां तारतम्या-दुपपद्यते पूर्वजन्मोपात्तविशुद्धाध्यवसायप्रकर्षतारतम्यादुपर्युपरि तेवामुपपावस्य घटनाच्च ।

वै वैमानिक देव अभिमान से हीन होरहे भला किस कारण से हैं ? इस प्रश्नपर ग्रन्थ-कार उत्तर देते हैं कि उस अभिमान के कारणभूत कवायों के प्रकर्व का अभाव होजाने से ही वे अभिमानहीन हैं। फिर कोई पूछता है कि अभिमानका कारण क्या है ? इसके उत्तर में भाचार कहते हैं कि शरीरधारी जीवों का अत्यल्प कषायों से रहितपना मन का संक्लेश, अव-धिज्ञान की विश्विद्ध की विकलता होजाने से तात्त्विकदृष्टि द्वारा यथार्थतत्त्वों का अवलोकन नहीं होना स्वकीय परिणामों में सवेग या वैराग्य भाव नहीं जगना, ये सब अभिमान के कारण है। गर्व के उन कारणों की हानिका तरतम भाव होने से ऊपर ऊपर देवों के अभिमान की न्युनता का तरतम भाव सध जाता है। वह अभिमान के कारणों की हानिका तरतमभाव तो फिर उसके प्रतिपक्षभूत होरहे विशेष मुक्ष्मकषाय यानी मन्दकषाय परिणाम, अल्प संक्लेश, अवधि ज्ञान की विशुद्धि, वास्तविक जीव अादि तत्त्वों का अवलोकन, गर्व, फ्रोध, आदि विभाव परि-णामों के औपाधिकपने पर पहुंचकर ज्ञप्ति कर लेना, संसारभी हता या लौकिक कार्यों में निरु-त्साह, अधिकष्प परिणाम इनकी अधिकता के तारतम्य से बन जाता है। क्योंकि पूर्व जन्मों में पुरुषार्थं द्वारा गृहीत हुये विशद्ध अध्यवसायों की प्रकर्षता के तारतम्य से ऊगर ऊपर स्थानों में उन देवों का उत्पाद घटित होरहा है। भावार्थ-सौधर्म से ऊपर ग्रैवेयकतक भले ही वे देव सम्य ग्दुष्टि होय चाहे मिथ्याद्ष्टि होय, उनके कषायों की मन्दता या अल्प संक्लेग आदि हेत् पाये जा सकते हैं। वर्तमान में भी अनेक अर्जन विचारे कतिपय जैनों की अपेक्षा मन्दकषाय देखे जाते हैं। प्रधानाध्यापकपन सेठियापन, जमीदारी, राज्याधिकार, राजपदिवयाँ, चौधरायत, पंचपना, सुन्दरता, जातिगर्व, ज्ञानमद, तपस्या आदि का गर्व जब कि दूसरे दूसरे मनुष्यों में अत्यल्प पाया जाता है किन्तु स्वयं को धर्मात्मापनका गर्व कररहे किसी किसी व्यक्ति में उन पदों का अभि-मान चकाचक भर रहा है। अल्प संक्लेश भी भिष्यादिष्टयों के पाया जाता है। समी बीन अव-धिज्ञान द्वारा जैसे विशुद्धि होती है विभंग द्वारा भी विलक्षण जाति की विशुद्धि होना सम्भव है अनेक अर्जन साध्यों में कुश्रुतज्ञान द्वारा होरही विशुद्धि इसका दृष्टान्त है। इसी प्रकार तत्वाव-लोकन भी समझलिया जाय। ग्यारह अंग नौ पूर्वपाठी मिध्यादृष्टि के ज्ञानसे एक अक्षरको भी शुद्ध नहीं बोलने समझनेवाले सम्यन्द्रिक के तत्वावलोकन को ज्ञानदृष्ट्या हीन कहने में छज्जा

क्या है ? सम्यग्दर्शन के बिना भी यथोचित तत्वोंका बालोचन होसकता है, भर्ले ही उसकी औपाधिक सम्यग्जान नहीं कहो। इसी प्रकार संसार से भीति कराने वाले संवेग परिणाम मिध्या दृष्टि के भी होसकते हैं। रूप, धन, विद्या, कुल, बलके अभिमान, को सहस्रों अर्जन कुचल डालते हैं। कोध, गर्व, ये सब औपाधिक भाव हैं, दु:खकारण है, इन सब बातों को संकडों फकीर, भिक्षक आदिक समझते हुये गारहे हैं। लाखों अर्जन साधु संवेगवय अभिमानके कारणों को लात मारते हुये मन्दकपाय, अल्प संकलेश, आत्मिवशुद्धि, तत्वपर्यालोचना, संवेग, वैराग्य परिणामों को घाररहे बनों या पर्वत, गुफाओं, मे निवस रहे हैं। अतः ऊपर ऊपर के देव चाहे सम्यग्दृष्टि होंय अथवा मिथ्यादृष्टि होंय, परिग्रह और अभिमानसे हीन हीन होरहे हैं। नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों में तो सम्यग्दृष्टि हों हैं। उनकी परिग्रह हीनता और अभिमानहीनता के अन्तरंग कारण मन्दकषायपन आदि को सुलभतासे समझाया जा सकता है। श्रद्धालु जैन या भक्त पुरुषों के प्रति इममे अधिक युक्तियों के दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। नन्द कथाम होने से अल्पसंक्लेश होता है। अल्प संक्लेश से विशुद्ध अवधि उपजती है। उससे ऊपर ऊपर देव शारीरिक, मानसिक, दु:खों से घेरे जारहे असंस्य नारकी तियँच या मनुष्यों को तात्विक रूप से देखते है। उसको निमित्त पाकर सवेग परिणाम होता है। उस संवेगसे अनन्त दु:ख के हेतु परिग्रहोंमें अभिमान नष्ट होजाता है। यो उक्त पदों की एक वाक्यता करली जाती है।

कथं पुनरपर्युपरिमावो वैमानिकानां संगच्छत इत्याशंकायामिदमाह ।

कोई प्रतिवादी पण्डित आशंका उठाता है कि वैमानिक देवों का किर ऊपर ऊपर उपपाद जन्म होना भला किस प्रकार संगत होजाता है ! ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री. विद्या-नन्द स्वामी समाधानार्थ उत्तर वात्तिक को कहते हैं।

स्थित्यादिभिस्तथाधिक्यस्यान्यथानुपपत्तितः । नोपर्श्वपरिभावस्य तेषां शंकेति संगतिः ॥ २ ॥

स्थित, प्रभाव, आदि कों करके तिस प्रकार अधिकपन की अन्यथा यानी ऊपर ऊपर उपपाद के विना अन्य प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है। अतः उन वैमानिक देवों के उक्त ऊपर अगर स्वर्गी, पटलों या कल्पातीत विमानों में उपपाद जन्म लेनेकी शंका नहीं करनी चाहिये अर्थात् इस प्रकार यहां विशुद्ध परिणामों को निमित्त पाकर हुये पुण्यकर्म भेदोंके अनुसार देव ऊपर उपज जाते हैं। स्थिति, प्रभाव, आदि की अधिकता होनेसे ही देवों में ऊपर ऊपर गति शरीर, आदि की हीनता स्वयमेव सिद्ध होजाती है। जैसे कि किसी धर्मात्मा पुरुष में जिनेन्द्रभक्ति, दयाभाव, वतपालन, बहावर्य, स्वाध्याय, आवरण, की वृद्धि होते संते स्वयं वहां यहां व्यर्थ गमन, शरीरवृद्धि, परिग्रह अहंकार इन की त्रुटि निर्णीत होजाती हैं। सम्यग्दर्शन, सदाचार आदि गुणों की अधिकता से सज्जन पुरुषों में उस पुरुष की उत्तरोत्तर इयाति बढती है। अथवा देश में सुराज्य होने पर सुभिक्षा, शिक्षा, नीरोगता, समृद्धि, वाणिज्य

स्वात्मगौरव आदि की वृद्धि होते हुये बिना ही प्रयत्न के दरिद्रता, पराधीनता, पद पद पर अपमान सहना, दुभिक्ष आदि की हानि होजाती है। यों पूर्वापर सूत्र वाक्यों की संगति कर लेनी चाहिये।

पूर्वजन्ममाविस्वपरिणामिवशेविवशुद्धितारतम्योपात्तशुमकमंविशेवप्रकर्षतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यं तावद्वैमानिकानां सूत्रितं सर्वथा बाधकविधुरत्यःत्तवन्यथानुपपत्त्या च तेवामु-पर्युपरिभावस्य संगतिः । पूर्वजन्मभाविस्वपरिणामिवशेषिवशुद्धितारतम्योपात्तशुभकमंतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यस्य वर्शनात्, क्षीणान्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, तदाधिक्यविशेषस्य तेवामुपर्यु-परिभावेनान्यथानुपपत्तिसिद्धेः।

पूर्वं जन्म में होनेवा हे स्वकीय परिणाम विशेषों की विशुद्धि के तरतमभाव करके उपाजित किये गये शुभ पुण्य कर्म विशेषों की प्रकर्षता के तारतम्य से स्थिति, प्रभाव, आदि की करके वैमानिक देवों का अधिकपना तो सूत्रकार द्वारा पूर्व सूत्र में सूचित कर दिया गया ठीक है। क्योंकि बाधक प्रमाणों की सभी प्रकारों से विकलता होजाने के कारण उन स्थिति आदिकों करके अधिकपना वस्तुतः सिद्ध होजाता है। और उस स्थिति आदि के अधिकपन की अन्यया-नुपपत्ति करके उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद हेने की निश्शंक संगति हो जाती है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पूर्व जन्ममें हो चुके स्वर्क य परिणामविशेषों की विशुद्धि के तारतस्य अनुसार उपाजित किये गये शुभ पौर्गलिक वर्मों के उदय की तरतमता से स्थिति आदि करके अधिकपना देखा जाता है। अतः अन्यथानुपपत्ति क्षय को प्राप्त हो चुकी समझनी चाहिये अर्थात् स्थिति आदि के आधिक्य का शुभपरिणामों द्वारा उपात किये गये शुभकर्मों के तारतम्य के साथ अविनाभाव है। स्थिति अदि की अधिकता का देवों के ऊपर ऊपर जन्म होने के साथ अविनाभाव नहीं है। ऐसी अविनाभावविकलदशा में उस पूर्वसूत्रोक्त स्थित आदि के आधिक्य से वैभानिक देवों का ऊपर ऊपर उपपाद सिद्ध नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उन स्थिति आदिकों के अधिकपन स्वरूप विशेष की उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद होने के साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्धि होरही है। यहाँ भी निजपुण्य अनुसार कुलीनता, अधिक स्थिति, ऊंचा प्रभाव, विशिष्ट सुख, सुन्दर कान्ति, उत्तम लेख्या, वाले पुरुष उच्च स्थानों में जन्म लेते हैं। पुण्यशाली, धर्मात्मा श्रावक, या मुनियों में तो गति, शरीर परि ग्रह और अभिमानकी हीनता भी देखी जाती है। अतः कारिका मे कही गयी अन्ययानुपपत्ति निर्बल नहीं है।

अयाद्येषु त्रिषु निकायेषु लेड्याविधानमुक्तं वैमानिकनिकाये संप्रत्युज्यते ।

बादि की भवनवासी, व्यन्तर,ज्योतिष्क इन तीन निकायों में लेश्या का विधान सूत्रकार करके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, इस सूत्र द्वारा पहिले कहा जा चुका है। अब प्रकरण बनुसार चौथी वैमानिक निकाय में लेश्या का विधान सुत्रकार द्वारा इस समय कहा जाता है।

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो, तीन, और शेषयुगलों में पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या को धारनेवाले देव निवास कर रहे विराजते हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान और सनत्कुमार माहेन्द्र इन दो युगलों में पीत लेश्या है। ब्रह्मब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, इन तीन युगलों में पद्मलेश्या है। और शेष ऊपर के विमानों में देवोंके शुक्ललेश्या है।

ननु च पूर्वमेतद्वक्तव्यं तत्र पुनर्लेश्याभावात् सूत्रस्य लाघवोषपत्तेः "आवितस्त्रिषु पीतांत-लेश्याः,, ततः '' पीतपद्मशुक्ला द्वित्रिशेषेष्विति,,। तदसत्, तत्र सौधर्माविष्रहणे सूत्रगौरवप्रसं-गावप्रहणेऽभिसंबंधानुपपत्तेः संक्षेपार्थमिहैव वचनोपपत्तेः।

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि इस सूत्र को पहिले ही कहना चाहिये था। वहाँ लेश्या शब्द विद्यमान है। फिर लेश्या शब्दके नहीं उपादान करने से सूत्रका स्नापन गुण बन जाता है। देखो, आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, आदि से तीन निकायों में पीत पर्यंत लेश्या वाले देव है। इस सूत्र के लगे हाय ही उससे पीछे "पीतपद्मशुक्लाद्वित्रिशेषेषु, यों सूत्र बनाकर पूनः लेश्या शब्द नहीं देना पडा । अतः गुणकृत और परिमाणकृत लाधव सेंत मेंत प्राप्त होजाता है । ग्रन्थकार कहते हैं वह आक्षेप करना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि वहाँ तीसरे सूत्र से आगे ही सौधर्मेगान आदि वैमानिकों के प्रतिपादक लम्बे सूत्रका निरूपण कर देनें पर सूत्र के दोष का प्रसंग होता है। यदि सीधर्मेशान आदि सूत्रका वहाँ तीसरे, जीथे, सूत्र के अवसर पर कण्डोक्त उपादान नही किया जायगा तो लाघवार्थ वहां किये जाने योग्य "पीतपद्मशक्ल लेख्या द्वित्रिशेषेषु "इसका ठीक ठीक सम्बन्ध कर देना नहीं बनसकेगा। इस कारण बढिया संक्षेप के लिये सौधर्म ऐशान आदि का निरूपण करचुकने पर यहाँ ही संक्षेप सूत्र का निरूपण करना सधता है। वस्तुतः विचारा जाय तो आक्षेपकार की अपेक्षा सूत्रकार को सक्षेपविधान कः अधिक लक्ष्य है। अतिथिको सम्पूर्ण निष्ट भोजनों का आद्य समझाते हुये पोंडे की एक पमोत्री परोस देने से उसकी अनेक स्वादपूर्वक क्षुधानिवृत्ति नहीं होजाती है। तथा सभी प्रकार के वस्त्रों का मूल कारण विनौलेको दे देने से शरीराच्छादन पूर्वक शोभा बढाते हुये शीतबाधा निवारण नहीं होसकता है। ऐसा लाघव भी ओछेपन का सम्पादक है।

पीतपद्मशृक्लानां हंद्वे पीतपद्मयोरौत्तरपितकं ह्स्वत्वं द्रुतायान्तपरकरणान्मध्यमिवडं-बितयोरुपसंरच्यानमित्याचार्यवचनदर्शनात् मध्यमाशद्वस्य विडंबितोत्तरपदे हंद्वेपि ह्स्वत्वसिद्धेः। ततः पीतपद्मशुक्ललेश्याः येवां देवानां ते पीतपद्मशुक्ललेश्या इति हंद्वपूर्वान्यपदार्था वृत्तिः।

पीता च पद्माच शुक्ला च यों भीता और पद्मा तथा शुक्ला पदों का इतरेतर इन्द्र-समास करने पर पीता और पद्मा पदों का उत्तरपद की अपेक्षा न्हस्व होना बन जाता है। अतः इन्द्र समास में पुंवश्दाव महीं होसकने का कटाक्षा नहीं करना चाहिये। जैसे कि संनीत शास्त्र में आचार्य का यह वचन देखा जाता है कि द्रता यात्री शीखता की मात्रा होनेपर तपर करने से मध्यम और विडम्बिता का सूत्रमार्ग से बाहर उपरिष्ठात वैसा ही कथन देना चाहिये। अतः मध्यमा शब्द का विडम्बिता इस उत्तर पद के परे रहते सन्ते द्वन्द्व में भी न्हस्य होना सिद्ध है। भावार्थ-द्रतमात्रा मध्ययात्रा और विलम्बितमात्रा यानी शीघ्र बोली गयी या मध्यम रूप से बोली गयी और विलम्ब से बोली गयीं मात्रायें "द्रतमध्यमविलाम्बता मात्रा कही जाती है। यहाँ उत्तर पद की अपेक्षा स्त्रीलिंग द्वता और मध्याशब्द को समास कर चुकने पर व्हस्व होजाता है। आज कल के इन पश्चात भावी पुरूषों को शब्दशास्त्र अनुमार साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु व्याकरण के नियम पूर्वआचार्यों के वचन बनाने चाहिये। भले ही व्याकरण में कोई सुत्र नहीं मिले, ऐसी दशामें ऋषियों के केवल वाक्य पढित अनुसार उपसंख्यान कर लिया जाता है अर्थात् "तपरस्तत्कालस्य,, अत इत् उत् इनसे केवल अकार इकार उकारका ही बोध हो सकता है। इस नियम अनुसार द्वता मात्रा में तपर करने पर दूता को ही शीघ्र बोल सकते हैं। मध्या और विलम्बिता का शीघ्र उच्चारण नहीं कर सकोगे। किन्तु गाने की अवस्थामे शीघ्र शीघ्र उच्चारण करते हुये तपर करने पर मध्यमा और विडम्बिता मात्राओं का भी शीघ्र उच्चारण कर लेना चाहिये। तभी राग या रागिनी ठीक गाये जा सकेंगे। तिस कारण पूर्व पदों को व्हस्त्र होजाने से "पीतपद्मशुक्र उलेश्याः ,, यह द्वन्द्व समासान्त पद बन जाता है। जिन देवों के पीतपद्मशक्ललेश्यायें पायीं जाती हैं, वे देव पीत-पर्मशुक्ल लेश्यावाले हैं। इस प्रकार पूर्व में सर्व पदार्थ प्रधान इन्द्र नामक समास वृत्ति कर चुकने पर पुनः अन्य पदार्थं को प्रधान करने वाली बहुन्नीहि वृत्ति कर ली गयी है। यहां यह भी कहना है कि " पूज्यापादा वृत्तिकारास्तु अथवा पीतश्च पदाश्च शुक्लश्च पीत-पद्मगुनलाः वर्णवन्तोऽर्थाः तेषामिव लेश्या येपां ते पोतपद्मशुनललेश्या इत्याहः " इन पुल्लिग शब्दों द्वारा बाच्य होरहे पीतपदा और शुक्ल वर्णवाले किन्ही किन्ही पदार्थों कीसी लेश्या जिन वैमानिक देवों की है, वे पीतपराशुक्ललेश्यावाले देव हैं। सर्वार्थसिद्धिकार यों द्वन्द्व र्गीभत बहुब्रीहि समास करके न्हस्व करनेके झगडे को ही मिटा देते हैं। उपमान, उपमेय का वाचक कोई विशिष्ट शब्द नहीं होने से ग्रन्थकार को उक्त विग्रह करने में अस्वरस प्रतीत होरहा है।

द्वित्रिशेषेष्वित्यधिकरणनिर्देशाद्य्यादिकल्यादीनामाधारत्वसिद्धेः ।

'दित्रिशेषेषु'' यानी दो तीन और शेष वैमानिकों में इप प्रकार सप्तमी विभक्ति वाले अधिकरणका सूत्रकार द्वारा निर्देश कर देने से दो आदि कल्प और आदि पदसे ग्रहण कियें गये ग्रैवेयक आदि कल्यातीतों के आधारपन की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् ऊपर कल्प आदि में रहने वाले देव दो, तीन, शेष, अधिकरणों में पीत आदि लेह्या वाले हैं।

कथं पुनः पीतावयो लेडयास्तवाधेयानां वैचानां विज्ञेया इत्यावेखते ।

फिर उन कल्प और कल्पातीत अधिकरणों के आधेयभूत होरहे देवों के भला पीत आदि लेक्यायें हैं, यह किस प्रकार प्रमाण द्वारा समझ लेना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य करके अग्रिमवात्तिक में समाधान का निवेदन किया जा रहा है।

लेश्याः पीतादयस्तेषां सूत्रवाक्यप्रभेदतः । प्रत्येतव्याः प्रपंचेन यथागममसंशयं ॥ १ ॥

उन चौथी निकाय के वैमानिक देवों के पीतादि लेश्यायें हैं। इस सिद्धान्त की आगम मार्गका अतिक्रमण नहीं कर उक्त सूत्र के वाक्यों का प्रभेद कर देने से विस्तृतरूप करके संशयरहित प्रतीति कर लेनी चाहिये अर्थात् दो दो, तीन तीन, शेष शेष, यों उक्त सूत्र से कितपय वाक्यों का उपप्लब कर आम्नाय अनुसार देवों के लेश्या का विधान कर लेना चाहिये।

द्वयोः सौधर्मेशानयोः सानस्कुमारमाहेंद्रयोश्च पीतलेश्याः द्वयोबंह्यलांतवकल्पयोः शुक्रशतारकल्पयोश्च पद्मलेश्याः द्वयोरानतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्च शुक्ललेश्याः, त्रिष्वधो-ग्रैवेयकेषु त्रिषु मध्यमग्रैवेयकेषु त्रिष्परिग्रैवेयकेषु च शुक्ललेश्याः। शेषेष्वनुदिशेषु पंचस्वनुत्तरेषु च शुक्ललेश्या इति सुत्रवाक्यप्रमेशतः प्रत्येतव्याः।

प्रथम ही "द्विशब्द का पीत पद्म और शक्ल इन तीन स्थानों के साथ तीन बार कथन कर यों भिन्न भिन्न वाक्यों को बनालो कि "द्वयोः पोतलेश्याः" दो युगलों में यानी सौधर्म और ऐशान तथा सानत्कु मार और माहेन्द्रकरूपों में वस रहे देव पीतलेश्यावाले हैं। फिर "ह्यो पद्मलेश्याः" दो में अर्थात दो इन्द्र युगलों द्वारा अधिकृत कल्पों की अपेक्षा दो में यानी ब्रम्हब्रम्होत्तर स्वर्ग वाले ब्रम्हकल्प में और छातव कापिष्ठ स्वर्ग वाले छातव कल्प में इसी प्रकार इन्द्र अपेक्षया शुक्र महाशुक्र स्वगंवाले शुक्र कल्प या शुक्र इन्द्र अधिकृत जीवों और शतार, सहस्रार, स्वर्ग वाले शतार कल्प में इन दो में पद्म लेश्याधारी देश निवास करते हैं। पुनः 'द्वयोः शुक्ललेश्याः" अर्थात् आनत प्राणत तथा आरण और अच्युत इन दो युगलों में देव शुक्ललेश्यावाले हैं। अब ति शब्द की केवल शुक्ललेश्या के साथ तीन वार आवृत्ति कर यों न्यारे न्यारे तीन वाक्य बनालो । " त्रिषु शुक्ललेश्याः " यानी तर ऊपर तीन निचले ग्रंवेयकों में देवों के शुक्छ छेश्या है। और "त्रिषु शुक्छ छेश्याः" यानी तर ऊपर बने हुये तीन मध्यम ग्रैबेयकों में इनसे कुछ अच्छे शुक्ललेश्याः बाले देव हैं तथा " त्रिषु शुक्ललेश्या " अर्थात् तर ऊपर बने हुये तीन उपरिम ग्रैवेयकों में इस शुक्ललेश्या से कुछ अच्छी शुक्ललेश्या की धारनेवाले देव हैं। अयानन्तर शेष शब्द का शुक्ल हैश्या के साथ दो बार आवृत्ति कर शेष नो अनुदिशविमानों में और शेष पांच अनुतार विमानों में निवास कर रहे देव शुक्ललेश्या वाले

हैं। यों अर्थ कर लेना चाहिये। इस प्रकार सूत्र वाक्यों के ब्राठ प्रभेद कर देने से वार्तिकोक्त प्रतिज्ञा अनुसार प्रतीति कर लेने योग्य अर्थ निकल आता है।

चतुःचतुःशेषे विवित्तवकतव्यं स्पष्टार्थमिति चेत् न, अविशेषेण चतुर्षु माहेंद्रांतेषु पीताग्राः प्रसंगात् चतुर्षु च सहस्रांतेषु कल्पेषु पद्मायाः प्रसक्ते,ः शेषेषु चानतादिषु शुक्ललेश्यायाः समनुषंगात् तथा चार्षिवरोधः स्यात् । तथ हि सौधर्मेशानयोः बेवानां पीता लेश्येष्यते, सान-त्कुमारमाहेंद्रयोः पीतपद्मा, ततः काविष्ठांतेषु पद्मा, ततः सहस्रारांतेषु पद्मशुक्ला, ततोऽन्युनतांतेषु शुक्लाः ततः शेषेषु परमशुक्लेति ।

कोई पण्डित यहाँ अपनी भोली बुद्धि अनुसार कह रहे हैं कि सूत्रकार को "पीत-पद्म गुक्ल लेश्याश्च तुश्चतुः शेषेषु " इस प्रकार स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादक सूत्र कह देना चाहिये। चार स्वर्गों में पोत लेक्या और चार में पद्म लेक्या तथा शेव स्थानोंपर शुक्ललेक्या को धारने वाले देव हैं। यों अर्थकी स्पष्ट प्रतीति करादी जा मकती है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना। क्योंकि यों सूत्र गढ़तेपर तो सामान्यरूपसे माहेद्र पर्यन्त चार स्वर्गों मे पोत लैश्या पाये जाने का प्रसग आवेगा और सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गी मे किन्तु इन्द्र अपेक्षा **त्रम्ह त्रम्होत्तर लान्तव कापिष्ट, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार इत चार कल्योनें पद्म लेश्या** होने का प्रसग आवेगा तथा इन से ऊगर के शेष आनत आदि सत्रह पटलों में शुक्ल लेश्या का भले प्रकार प्रसंग बन बैठेगा और तिस प्रकार इन तीन अनिष्ट प्रसंगो के लग जानेने आम्नाय अनुसार चले आरहे ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त से विरोध ठन जायगा। क्योंकि उस आर्थ सिद्धान्त में सीधम और ऐशान में रहनेवाले देवों के पीतलेक्या इष्ट की गयी है। तथा सानत्कुमार भीर माहेंद्र स्वर्गों में पीत लेक्या और पद्मलेक्या मानी गयी है। उन से ऊरर काविष्ठ पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्मा लेश्या है। इनके ऊपर सहस्रार पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या अभीष्ट की गयीं हैं। उनसे ऊपर अच्युत पर्यन्त स्वर्गों में शुक्ल लेश्या बलानी है। तथा उन सो उह स्वर्गोंसे भी ऊरर शेष ग्रैवेयक, अनुदिश, और अनुतर यो ग्यारह पटलोंमें परम-शुक्ललेश्या सिद्धान्त ग्रन्थोंमें विणित की गयी है। अतः " चतुश्चतुः शेषेषु " कह देनेसे अर्थ तो स्पष्ट हो गया, किन्तु अपसिद्धान्त दोष कूर चेष्टा पूर्वक भ्रकृटीको चढाये हुये सन्मुख हो जाता हैं। सिद्धान्त मार्गसे स्खलित होकर कोरे स्वष्ट कथन करनेको शेखी मारना समुचित नहीं है। "बच्चा भलेही मरजाय किन्तु दोरा (गंडा) नहीं टूट जावे " तांत्रिकोंको ऐसा निद्य भाषण नहीं करना चाहिये।

कयं सुत्रेगानिमहितोयं विशेषः प्रतीयते ? । पीताप्रहणेन पीतपद्ययोः संप्रहात् पद्माग्रहणेन पद्मशुक्लयोः इत्याहुः ।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र करके यह विशेष जब कण्डोक्त नहीं कहा है, तो किस बकार आप ग्रंथकारने यों प्राथय कर छिया है कि सनत्कुमार माहेन्द्रमें पद्मलेश्या पायी जाती है। और इतार सहस्रारों में भुक्ललेश्या भी देवों के रही है। इसके उत्तरमें श्री. विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पीताके ग्रहण करनेसे निकटवर्ती पद्माको मिला कर पीता और पद्माका संग्रह होजाता है। इसी प्रकार पद्मालेक्याके प्रहण करके परली ओर शुक्लाको खेंचकर पद्माशुक्ला दोनों छेश्याओं का संग्रह कर लिया बाता है। यों हम और अन्य विद्वान भी ऐसे अवसरोंपर सन्धि स्थानोंमें निवास करनेवाले खीवोंके लिये इसी ढंगसे कहते हैं। अर्थात् जैसे कि भिन्न भिन्न भाषाओं को बोलने वाले प्रान्तों के बीचमें वस रहे मनुष्य कुछ इस प्रान्त और कुछ उस प्रान्तकी मिश्रित भाषाको बोलते हैं। दिन और रात्रिके मध्यमें कुछ अंधेरा और कुछ प्रकाशकीं मिश्रण अवस्था पायी जाती है, उसी प्रकार पीतलेक्या-शब्द सीधर्म, ऐशान, देवोंके लिये स्वतंत्र है। और ब्रम्ह, ब्रम्होत्तर, लांतवकापिष्ठोंके शुद्ध पदालेश्या रक्षित है। फिर भी मध्यवर्ती सानत्कुमार, माहेन्द्रोंमें बहुभाग पीतके साथ अल्प भागमे पद्मलेश्याका भी विधान किया गया सै । एवं कापिष्ट पर्यन्त चार स्वर्गीमें सुद्ध पद्मलेश्या और आनत आदि अच्युत पर्यन्तों में शुद्ध शुक्ललेश्याकी विधि होते हुये भी मध्यवर्ती सुक, महाशुक्र, शतार, सहस्रारोंने बहुभाग पद्मलेश्या और अल्प भागमें शुक्ललेश्याकी विधि कर दी जाती है। संक्षेप कथन करने वाले सूत्रकार मला छोटेसे सूत्रमें अनेक सन्धिस्थानोंका निरूपण कैसे कर सकते हैं ? पूर्व निषधसे उदय हो कर भामण करते हुये सूर्यका पश्चिम निषध पर अस्त होजानेकी दिवसीय अवस्थाओं अनुसार होने वाले अनेक प्रकाशोंके तारतम्यका स्यूक दृष्टिसे वर्णन किया भी जासके, किन्तु दिन और रात की मिश्रण अवस्थाओंका प्रकाश और अन्धकारसे मिश्रित निरूपण तो आपाततः ही किया जासकता है। "तन्मध्यपतितस्तज् ग्रहणेन गृहचते,, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, भेद प्रभेद वाले परिणामोंकी मध्यम अवस्थाओंको कहाँ तक कहा जाय । बिना कहे ही अर्थांपत्या उनको समझ लिया जाता है।

कथं ! तथा लोके शब्दव्यवहारदर्शनात्। छत्रिणो गच्छंतीति यथा छत्रिसहचरितानामछित्रणामिष छित्रव्यपदेशात्। पाठांतरेपि यथा ध्याख्यानाददोष इति चेत् न, अनिष्टशंकानिवृत्यर्थत्वात् द्वित्रिशोवेष्वित पाठस्य, खतुःशेषेष्विति तु पाठे चतुणां चतुणांमुपर्युपरिभावेऽनिष्टः शंक्येत तिश्चवृत्तिर्यथान्यासवचने कृता भवति । यथासंख्यप्रसंगादत्राप्यनिष्टमिति चेत्र, ब्ह्यादिशब्दानामंतर्नीतवीप्सार्थत्वाद्विभोजनादिवत्। दिने दिने दिभोजने यस्य सि द्विभोजन इत्यादयो यथान्तर्नीतवीप्साणांस्त"थोपर्युपरि द्वयोद्वयोस्त्रिषु त्रिषु शेषेशु शेषेष्वत्यंतर्नीतवीप्साणां ब्ह्यादिशब्दा इह ब्याख्यायंते, ततो
न यथासंख्यप्रसंगो वाक्यभेवाष्ट्याख्यानाच्य ।

कोई तर्की प्रश्न करता है कि पीता ग्रहण करके पीतासे न्यारी पद्माका या पद्मा कह देनेसे पद्मा भिन्न शुक्लाका भी ग्रहण भला किस प्रकार होसकता है ? घटका निरूपण कर देने मात्रसे घटभिन्न पदार्थका प्रतिपादन कथमपि नहीं होसकता है। इस प्रश्नके उत्तरमें प्रस्थ-कार कहते हैं कि हम क्या करें। लोकमें तिस प्रकारके शब्दजन्य क्यवहार हो रहे देखे जाते हैं। जिस प्रकार कि छनों (छत्री)को खरूपे बाले जारहे हैं, यो कह देनेसे कत धारियों के साथ गमन कर रहे छत्र रहित कतियय जनों का भी छत्रधारीयन करके प्ररूपण कर दिया जाता है। उसी प्रकार यहां भी बहुभाग पीतं लेक्याबाले जीवोंके साथ अल्पभाग पद्मालेक्या वाले देवोंका प्रतिपादन होजाता है। पद्मालेक्या बालों के साथ शुक्ललेक्या बालें अल्प देवोंका ग्रहण होजाना बन जाता है। मिश्रित अवस्था पूर्वकी ओर झुक जाती है। लोक या शास्त्रमें अन्य प्रकार प्रसिद्ध होरहे शब्दों को यौगिक अर्थानुसार स्वबुद्धिसे सुधारकर बोलनेवाला नविशिक्षत अज्ञ ही समझा जायगा । घोडे को पानी दिखा दें। छतरी वाले जारहे हैं। बम्बई बचे।गे। गली मचान गारहे है। इन शब्दोंके स्थानपर घोडे को पानी पिलादे। और कुछ छतरी रहित मनुष्य जा रहे हैं। बम्बईमें सिकरने वाली हुंडी गली मचान पर बैठे मनुष्य गारहे हैं। यों कहने वाला स्याना छीकरा मूर्ख ही समझा जायगा। यदि यहां कोई यों शंका करे कि यों तो सूत्रकार द्वारा "चतुरचतुरशेषंषु" इस प्रकार न्यारा पाठ करने पर भी उक्त व्याख्यान कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। फिर जो हमने पहिले कहा था कि चार चार और शेषोंमें पीत लेश्या वाले पद्मलेश्यावाले और शुक्ललेश्या-वाले देव निवसते हैं, इसका आपने खण्डन क्यों किया ? व्याख्यान कर देनेसे आर्ष मार्गका कोई विरोध नहीं आता है। यहां भो तो आपको व्याख्यान करना ही पडा। प्रन्य कार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दो यगल तीन युगल और शेष शतार आदिकों में यथाकपसे पीत लेश्याबाले और शुक्ललेश्याबाले देव हैं। यों पाठकरना तो अनिष्ट शंशाकी निवृत्तिके **ढिये सूत्रकार**ने किया है। ''चनुश्रोषेषु'' इस प्रकार पाठ करने पर तो चार चार का ऊतर ऊपर सद्भाव मानने पर अनिष्ट अर्थ होजानेकी शंका होमकेगी। हां, उक्त मूत्र अनुमार 'द्वित्र-शेषेषु" यों ठोक रचनापूर्वक कथन करनेपर तो उस शकाकी निवृत्ति की जाचुकती है। फिर भी कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार न्यास करने पर भी यथासंख्यका प्रसग हो जानेसे यहां भी अनिष्ट अथंकी शंका होना तदवस्थ है। आपत्तिका निवारण करते हुवे भी आपतियोंसे छुटकारा नहीं मिला। दो युगलोंमे पीत लेश्या कहने पर सनत्कृतार माहेन्द्रोंमें पूर्णह से पीत रेक्याका विधान होगा। वहां कतिपय देवोंके पायी जारही पद्मलेक्याकी विधि नहीं होसकेगी। इसी प्रकार शतार, सहस्रार, स्वर्गीमें श्वललेश्यावाले कतिपय देवोको भी पद्मलेश्याधारी बनना पड़ेगा । यह अनिष्ट शंकापिशाची खड़ी हुई है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्यों कि सूत्रमें पड़े हये दो आदिक शब्दों के भीतर वीप्सा अर्थ गिमत होरहा है। जैसे कि द्विभी-जन, द्विपठन त्रिजपन मादि शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थका समावेश है। दिन दिनमें जिस मनष्यके दौ भोजन हैं, या जो छात्र प्रतिदिन दो दो पाठ पढता है, अथवा जो धर्मात्मा प्रतिदिन तीन तीन बार जाप देता है, वे द्विभोजन, द्विपठन, त्रिजपन, पुरुष हैं। अतः द्विभोजन इत्यादिक शब्द बीप्सा अर्थको अन्तरंगमें गिभत कर वस्नाने जाते हैं। उसी प्रकार दो, तीन, आदिक शब्द भी यहां ऊपर दो दो कल्पोंमें तीन तीन कल्पोमें और शेष शेष स्थानोंमें इस प्रकार वीप्सा अर्थ को गिभत किये हुये वखाने जाते हैं। तिस कारण केवल पीताका द्विके साथ और पद्माका केवल विके साथ तथा गुक्लाका अकेले घेपोंमें ही अन्वय होजाना यों यथासंख्यका प्रसंग नहीं

होपाता है। दूसरी बात यह है कि सूत्रके वाक्य प्रभेदसे व्याख्यान कर दिया गया होनेसे यथा-संख्य का प्रसंग तुम्हारा चाहा नहीं हो पाता है।

पीतमिश्रयद्यमिश्रशुक्ललेक्या द्विद्विचतुक्ष्यतुःकोषेष्विति पाठन्तरमन्ये मन्यंते, तत्र सूत्रगौरवं तववस्यं । अथवास्तु यथासंख्यमभिसंबंधस्तथापि नानिष्टप्रसंगः। कथं ? द्वयोः पृगलयोः
पीतलेक्याः सानत्कुमारमाहेद्वयोः पद्मलेक्यायाः अविवक्षातः, ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेक्यु
पद्मलेक्या शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेक्याया अविवक्षातः, कोषेषु सतारादिषु शुक्ललेक्या पद्मलेक्याया अविवक्षातः इत्युक्तौ अभिसंबंधात् । ततो न किन्यवार्षविरोधः ।

कोई अन्य विद्वान् निराले प्रकारके पाठको यों मान रहे हैं कि दो स्वर्गों में और दो स्वर्गों में तथा चार स्वर्गों में एवं चार स्वर्गों में तथा शेष स्थानों में पीतलेश्या और पीतामश्रलेश्या तथा प्रकश्या एवं पद्मिश्रलेश्या तथा शुक्ललेश्याको धारनेवाले देव विराजते हैं, आवार्य कहते हैं कि उस मान्यतामे सूत्रका गौरव दोष हो जाना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहा। कोई ल्राभ नहीं निकला। अथवा एक बात यह है कि उक्त सूत्रका भले ही यथासंख्य तीनों ओरसे सम्बन्ध होजाओ तो भी हमारे सिद्धान्त अनुसार किसी अनिष्ट के होजानेका प्रमंग नहीं होता है। किस प्रकार सम्बन्ध करते हुगे अनिष्टका प्रसंग नहीं होता है? इसका समाधान यों है कि दो युगलों में पीतलेश्या है। किन्तु सानत्कुमार, माहेन्द्र, इन दो स्वर्गों के कितपय देवों में पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की गयी है। तथा बम्हलोक आदिक तीन कल्प युगलों में पद्मलेश्या है। शुक्त और महाशुक्त में कितपय देवों के पायी जारही शूक्ललेश्याकी विवक्षा नहीं करनेसे पद्मलेश्या ही कह दीगयी है। शोष ऊपरले शतार आदि वैमानिकों में शुक्ललेश्या पायी जाती है। शतार और सहलारमें कितन एक देवों के पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं करनेसे शुक्ल ही लेश्या कह दी गयी है। इस प्रकार सूत्र का कथन कर चुकनेपर कम अनुसार सम्बन्ध हो जानेसे कोई अनिष्टापत्ति नही है। तिस कारण ऋषिप्रोक्त सिद्धान्त आम्नायसे कोई विरोध नहीं आता है।

लेश्यानिर्देशतः साध्याः कृष्णेत्यादिस्वरूपतः । वर्णतो अमरादीनां छायां निअति बाह्यतः ॥ २ ॥ अनंतभेदमासां स्याद्वर्णात्रमपि स्कृदं ! एकद्वित्रिकसंख्यादिकृष्णादिगुणयोगतः ॥ ३ ॥

अब प्रन्थकार मोल्ड अनुयोगों के द्वारा लेक्याओं को साधने योग्य बताते हैं। १ निर्देश २ वर्ण ३ परिणाम ४ संक्रम ५ कमं ६ लक्षण ७ गति ८ स्वामित्व ९ साधन ६० संख्या ११ क्षेत्र १२ स्पर्शन १३ काल १४ अन्तर १५ मन्व १६ और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों द्वारा छहीं लेक्याओं को साधिलया जाता है। प्रथमनिर्देशसे कृष्णा, नीला, कपोत,

हैं स्वा, ते को ले त्या, पचले त्या, शुक्ल ले त्या, इस प्रकार स्वरूपसे ले त्यायें साधने योग्य हैं। दूसरे वर्ण यानी रंगसे द्वय ले त्यायें वा स्वरूपसे भोरा आदिकों की छाया को धारतीं हैं। क्यांत् — शरीर विपाकी वर्ण नाम कमं प्रकृतिके उत्यसे उत्पन्न हुआ कायका रंग द्वयले त्या है। श्रीराके रंगके समान काली कृष्ण लेश्या है। नील मिण या मयूर कण्ठ के रंगको धार रही नील लेश्या है। कबूतर के समान रंगको प्राप्त होरही कापोती लेश्या है। सुवर्ण की सी छाया पीत लेश्या है। कमल के समान पद्मलेश्याका रंग है। शंख के समान भूरी कांतीवाली शुक्ल लेश्या है। इन लेश्या ओं के तारत स्यको लिये हुये अन्य अनन्त भेदवाले वर्णभी स्पष्ट रूप से होजाते हैं। जो कि एक, दो, तोन, आदि संख्यात या असंख्यात आदि अतिभाग प्रतिच्छे दस्व ए गुणों के योगसे इन द्वयलेश्या ओं के अनन्त भेद हैं। भावार्थ — लेश्या नामक पर्यायों में सख्याते, असंख्याते, और अनन्ते अविभाग प्रतिच्छे दों को हानि वृद्धि अनुसार अवान्तर भेद अनन्त हो जाते हैं। एक समयमें होने वाली एक पर्याय एक भेद गिना जायगा। चक्षु इन्द्रियों के प्रत्यत्त योग्य होने को अपेक्षा लेश्याओं के संख्याते भेद हैं। और स्कन्ध जातिकी अपेक्षा असंख्याते भेद हैं। किन्तु रंगी ली परमाणु यें या अविभाग प्रतिच्छे दों की अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्ण भेद हैं। किन्तु रंगी ली परमाणु यें या अविभाग प्रतिच्छे दों की अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्ण भेद हैं।

तथातः परिणामेन साध्या जीवस्य तस्वतः ।
स चासंख्यातलोकात्मप्रदेशपरिमाणकः ॥ ४ ॥
तत्कषायोदयस्थानेष्वियतस्कृष्टमध्यम – ।
जघन्यात्मकरूपेषु कलेशहान्या निवर्तनात् ॥ ५ ॥
कृष्णादयोऽशुभा स्तस्रो विवर्तते शरीरिणः।
जघन्यमध्यमोरकृष्टेष्वंशांशेषु विदृद्धितः ॥ ६ ॥
विशुद्धिरत्तरास्तिसः शुभा एवं विपर्ययात् ।
विशुद्धिरान्या संकलेशबृद्धचा चैव शुभेतराः ॥ ७ ॥
रक्का चाण्यसंख्येयलोकात्माध्यवसायभृत् ।
लेश्याविशेषतो होयाः कषायोदयभेदतः ॥ ८ ॥

तिसी प्रकार तीसरे अनुयोग परिणाम करके लेक्यायें साधने योग्य हैं। वस्तुनः विचारा जाय तो जीवके अध्यन्तर वर्त रहे परिणाम करके लेक्यायें साधी जाती हैं। और वह चीवके परिणाम असंख्याते लोकाकाशों के प्रदेश स्वरूप असंख्यातासंख्यात वायक परिमाणको लिये हुये हैं। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको धार रहे जीवोंकी कृष्ण आदिक तीन अशुभ-लैश्यायें इतने असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट, मध्यम, और जघन्य आत्मक स्वरूपवाले कषायोंके असंख्यातासंख्यात उदय स्थानोंमें संक्लेशकी हानि करके परिणमन होजानेसे परिण-तियाँ करतीं रहतीं हैं। अर्थान कर्मीके उदयकी जाति अपे ता असंख्यातासंख्यात औदियक कषाय स्थानोंमें संक्लेश की हानि होजानेसे उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंशमें और मध्यम अंशसे जपन्य अंशमें अशुभलेश्याओं का परिणमन होता रहता है। तथा जीवों की उत्तरवर्ती पीत आदि तीन गुम लेश्यायें विश्वद्धिकी विशेषत्या वृद्धि होजानेसे असंख्यात लोक प्रमाण कषाय सम्बन्धी औदयिक जघाय, मध्यम, उत्कृष्ट, अंश उपांशों में परिणमती रहती हैं। भावार्थ-शृद्धि की वृद्धि होजानेसे तेजो लेश्याके जघन्य अंशोंका अतिक्रमण कर मध्यम अंशोंमें आत्मा परिणत होजाता है। और मध्यमसे शुद्धिकी वृद्धि अनुमार पीत लेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट अंशोंमें परिण-मन कर लेता है। पद्मा और शुक्तालेश्यामें भी यही व्यवस्था है। इसी प्रकार विपर्यय करनेसे यों निर्णय कर लेना कि विश् द्विकी हानिसे शुक्तलेश्यायें उत्कृष्ट, मध्यम जबन्य अंशों में कम से परिणमेगी और इतर यानी अशुभलेश्यायें संक्लेशकी युद्धि होजानेसे स्वकीय जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंशों में परिणतियां करेंगी। एक एक कोई भी लेक्या असंख्यात लोक प्रमाण औदियक कपायाध्यवसाय स्थानं को धार रही है। बात यह है कि कषायोके उदयागत भेदोंकी विशेषता से लेक्याओमें विशेषताये समझ हेनी चाहिये । "कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या" लेश्यापरिणति में कषायोंके उदयकी प्रधानता है । कार्मणस्कन्ध या कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त जीवोंके यद्यपि अनन्त लेक्यायें है। किर भी जातिकी अपेक्षा उनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कर दिये जाते है। असंख्यात लोकोंके प्रदेश बराबर प्रमाणको धार रहे अध्यवसाय स्वानोमे जिनदृष्ट असंस्थात लोकप्रमाण राशिका भाग देने पर जो लब्ध आता बहुभ ग प्रमाण मक्लेशरून स्थान है। और एक भाग प्रमाण क्षत्र लेक्याओं के विशुद्धिस्थान है। फिर भी सामान्यसे ये सभी असंख्यात लोकप्रमाण सख्यावाले है। इन अध्यवमाय स्थानों में लेश्यारूप परिणतियां होती रहती है।

> तथा संक्रमतः सान्या हेश्याः क्छेशिवशुद्धिजात् । क्टिश्यमानस्य कृष्णायां न हेश्यांतरसंक्रमः ॥ ९ ॥ तस्यामेव तु षट्स्थानपतितेन विवर्धते । हीयते च पुमानेष संक्रमेण निजक्रमात् ॥ १० ॥ वृष्णा प्राथमिकक्छेशस्थानाद्धि परिवर्धते । संख्येयादप्यसंख्येयभागतः स्वनिमित्ततः ॥ ११ ॥

संस्थेयादिगुणाद्वापि नान्यथेति विनिश्चयः । छेश्यांतरस्य कृष्णातोऽशुभस्यान्यस्य बाधनात् ॥ १२ ॥ तत्कृष्णछेश्यतः स्थान।द्वीयमानो विद्वीयते । कृष्णायामेव नान्यस्यां छेश्यायां हेत्रभावतः ॥ १३ ॥ चानन्तादिभागाद्वा संस्थातादिगुणात्तथा । द्वीयते नान्यथा स्थानषद्कसंक्रमतोसुमृत् ॥ १४ ॥ यदानंतगुणा हानिः कृष्णायाः संक्रमस्तदा । नीलाया उत्तमस्थाने तहेश्यांतरसंक्रमः ॥ १५ ॥

तथा संक्रमणसे छहों लेश्यायें साधने योग्य है। संक्लेश और विशुद्धिसे उत्पन्न हुये स्थानोंसे लैरयाओं का संक्रमण होता है। स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण यो संक्रमणके दो भेद हैं। कृष्ण लेश्यामें बढते हुये क्लेशको प्राप्त होरहे जीवके स्वस्थान संक्रमण ही होगा । अन्य लेश्याओं में संकमण नहीं होसकता है। उस कृष्णलेश्यामें ही अनन्तभागवृद्धि, असंख्येय भागवृद्धि, संख्येय-भागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि असख्यातभागवृद्धि और अंनत गुणवृद्धी इस प्रकार छह स्थानोंमें पडी हुई वृद्धि करके कृष्णके भीतर ही अंश उपाश बढते रहते है। कृष्ण छेश्यासे कोई निकृष्ट स्थान नहीं हैं। जिसमें संक्लेशकी बृद्धि होजाने पर परस्थान संक्रमण होजाता। तथा यह जीव अपनी गृहीत कृष्ण लेश्याके अध्यन्तर कृपसे उत्कृष्ट्से मध्यम या जघन्य अंशोंमें संक्रमण करके हानिको प्राप्त होता है। अर्थात् कृष्णलेक्या सम्बन्धी उत्कृष्ट संक्लेशस्थानसे अनन्तभागहानि, असंख्येयभागहानि, संस्येयभागहानि, संस्येय गुणहानि, असंस्येयगुणहानि, अनन्तगुणहानि करके कृष्णलेश्याके जघन्य स्थानोतक स्वस्थान संक्रमण होता है। हां, संक्लेशकी विशेष हानि हो जानेपर अनन्त गुणहाणि अनुसार कृष्णलेश्यावाला जीव नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थान पर सकमण कर लेता है। वात्तिकों का अर्थ यह हुआ कि सबसे पहिने नियत होरहे कृष्णलेश्याके जघन्य संक्लेश स्थानसे अनन्तभाग, असंख्यातभाग और संख्यात भाग वृद्धियों अनुसार कृष्णलेख्या अपने निमित्त कारणों करके बहती जाती है। अथवा संख्यातगुण, असंख्यातगुण, आदि ऋमसे भी स्वकीय निमित्त कारणों अनुसार उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त बढती है। अन्य प्रकारोंसे नहीं बढती है। यों विशेष रूपसे निश्चय कर लेना । कृष्णलेश्यासे भिन्न कोई निकृष्ट जाति की दूसरी अश्मलेश्याके होनेकी बाधा है। अतः संक्लेशकी वृद्धि होनेपर कृष्णलेश्यामें स्वस्थान संक्रमण ही हुआ तथा कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट स्थानसे संक्लेश की हानिको अनुभव रहा जीव हीन होता जाता है। तब भी उत्कृष्ट,मध्यम,जघन्य अंशोंमें प्राप्त होरहा कृष्णलेश्यामें ही संक्रमण करता है। कारणोंका अभाव होजानेसे बन्य लेक्यामें संक्रमण नहीं करपाता है। अनन्त्रभाग आदि अथवा संस्पातगृज आदि स्थानों करके यह त्राणी तिसी प्रकार छह स्थानों में पतित हानिओं द्वारा संक्रमणसे हीन होता जायगा, अन्य प्रकारों करके हीन नहीं होता है। हां, जिस समय कृष्णलेश्या की अनन्तगृणी हानि होते हुये संक्रमण होगा, तब नीललैश्याके उत्कृष्ट स्थानमें प्राप्त होरहा उससे न्यारी अन्य लेश्यामें परस्थान संक्रमण होजाता है। अन्य प्रकारोंसे नहीं।

एवं विशुद्धिवृद्धे स्याच्छुक्छछेश्यस्य संक्रमः । शुक्छायामेव नान्यत्र छेश्या एवावसानतः ॥ १६ ॥ तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्त छेश्यांतरसंक्रमः । अनन्त गुणहान्येव नान्यहान्या कदाचन ॥ १७ ॥ मध्ये छेश्याचतुष्कस्य शुद्धिसंक्छेशयोर्न्शणां । हानौ वृद्धौ च विद्रोयस्तेषां स्वपरसंक्रमः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार विश् द्विकी वृद्धि होने पर शुक्ललेश्यावाले जीवका संक्रमण शुक्ललेश्याम ही होगा, अन्यत्र नहीं होगा। क्योंकि शुक्लसे बढिया कोई दूसरी शुभलेक्या ही नहीं है। शुक्तकसे उत्तम लेश्याओं का विराम होजानेसे बढ रहे शुभ परिणामोंका पलटना उसी शुक्ललेश्यामें ही हुआ करता है। हां, तिस प्रकार छह स्थानों में पडे हुये ऋपसे विशुद्धिकी हानि होने पर अन्य लेश्याओं में भी संक्रमण होजाते हैं। किन्तू विश्दिकी अनन्तगणी हानि करके ही शक्ललेश्या से पद्मलेश्यामें परिवर्तन होगा। अन्य संख्यातमाग हानि आदि पांच हानियों करके कभी नहीं परस्थान संक्रमण होसकता है। यों कृष्णलेश्या और शुक्ललेश्या के विषयमें स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमणका विचार कर दिया है। मध्यमें विराज रहीं नील, कापोत, पीत, और प्रग्न इन चार लेश्याओं का स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण तो उन जीवोंके विशृद्धि और संक्लेशको हानि या वृद्धिके होने पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ढंगोंसे समझ लेना चाहिये। भावार्थ-नील लेश्यामें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर जवन्य अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रमण है। और उत्कृष्ट अंशसे कृष्णलेश्यामें पहुंचने पर परस्थान संक्रमण है। यों ही संक्लेशकी हानि होनेपर नील लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रम है। और नीललेश्याके जधन्य अंशसे संक्लेश हानि दर्शामें कापोतीकी दशा प्राप्त होने पर परस्थान संक्रमण हैं। यही दशा अन्य लेश्याओं में लगा लेना। छह वृद्धियों में संख्यात पदसे उत्कृष्ट संख्यात पकडना और असंख्यात पदसे असंख्याते लोकोंके प्रदेशों प्रमाण संख्या ग्रहण करना तथा अनन्त पदसे जीवराधिका अनन्तगुणा और पुद्गल राधिका अनन्तवां भाग स्वरूप अनन्तसंख्या लेनी चाहिये। ये छहीं वृद्धियां लेक्या परिणतियों के अविभाग प्रतिच्छेदों में होती रहती हैं। अविमागप्रतिच्छेदोंकी कितनी ही संख्णायें ऐसी है, जिनकी कि कोई लेक्या परिणति नहीं घार सकी है। "अविभागपिडच्छेओ जहण्ण उद्डी पएसाणं" (गीम्मटसार) यह यह अविभाग प्रतिच्छेद का सिद्धान्त कक्षण है ॥

तथैव कर्मतो लेहगाः साध्याः षडिप भेदतः ।
फलभञ्जणदृष्टांतसानध्यांत्तत्त्ववेदिभिः ॥ १९ ॥
आद्या तु स्कन्धभेदेच्छा विटयच्छेदशेमुगी ।
परा च शाखाछेदीच्छादमुशाखिछदेषणा ॥ २० ॥
पिंडिकाछेदनेच्छा च स्वयं पतितमात्रक - ।
फलादिता च कृष्णादिलेहयानां भञ्जणेच्छया ॥ २१ ॥

तिस ही प्रकार वर्ध यानी किया को अपेक्षासे छहों भी लेश्याओका भिन्न भिन्नपने करके साथ लेना चाहिये। तत्ववेत्ता विद्वानों करके उन लेश्यात्राले जीवों के कर्तक्य होरहे फल भक्षण स्वरूप दृष्टान्नोंकी सामध्यसे यो निर्णय करना चाहिये। वनके मध्य देशमें मार्ग भ्रष्ट होगये छह पश्चिक एक फलपूर्ण वृक्ष को देख करके यो विचार करते हैं। पिहली कृष्णलेश्याके अनुमार एक मनुष्यके स्कन्ध (प ढ) को छ: डालनेकी इच्छा होजाती है। अर्थात् कृष्ण रेश्यावाला स्कन्धकों उलाड डालकर फल खाना चाहता है। और दूमरी नीललेश्याके अनुमार गुट्टेकों काट डालनेकी बृद्धि दूसरे मनुष्यकों होजाती है। तीकरे मनुष्यकों कापाती लेश्याके अनुमार डाली को काटनेकी इच्छा उपज जाती है। चौथे के पीतलेश्यां अनुमार लघुशाखाकों काटकर फल खानेकी वाछा उपजती है। पांचवें पुरुषको पद्मलेश्या अनुमार डाठला या फल ही को तोड़ने की इच्छा होती है। छठे मनुष्य को शुक्ललेश्या अनुमार केवल अपने आप नीचे गिर गये फलोकों प्रहण करने की अभिलाषा उपजती है। यो कृष्ण आदिक लेश्याओके अनुभार फलभक्षणकी इच्छा करके कर्त्तंच्य कियाओकी अपेक्षा छहों अतीन्द्रिय भावलेश्याये अनुमिन होजाती है।

तथा लक्षणतो लेश्याः साध्याः सिद्धाः प्रमाणतः।
पराननुनयःदिः स्थात्ऋषणायास्तत्र लक्षणम् ॥ २२ ॥
आलस्यादिस्तु नीलाया मात्सर्यादिः पुनः स्फुटं।
काषोत्या दढनैत्र्यादिः पीतादाः सत्यवादिता ॥ २३ ॥
प्रमृति पद्मलेश्यायाः शुक्लायाः प्रशमादिकं।
गत्या लेश्यास्तथा द्वेयाः प्राणिनां बहुभेदया ॥ २४ ॥

तिस ही प्रकार लक्षण यानी चिन्होंने छही लेश्याये प्रमाणोसे सिद्ध होरही साधलेनी चाहिये। उन छहीं में पहिली कृष्णलेश्याका चिन्ह तो दूसरोंका अनुनय (विनय) नहीं करना,

वैर नहीं छोडना, प्रचण्ड कोगी होना, द्या धर्म रहितयना, अपिरतोष, तीत्र दुष्टता, आदिक हैं। तथा नी अलेश्याके लक्षण तो आलस्य, विषयलो लुपता, भी हना, तृष्णा, ठगना, अतिलुब्धता, रूप अभिमान, आदिक हैं। फिर तीसरी अगुभलेश्या कापोतीके स्फुट रूपसे मत्सरता, ईर्ष्या, परिनन्दा, आत्मप्रशंसा, युद्धमरण, अविचारिता, शोक, भयबहुलता आदि हैं। एवं चौषी पीत लेश्याके दृढ़िनता, विचारशी तता, दानदयारित, कार्यसम्पादनपर्ता आदि बहिरंग चिन्ह हैं। तथा पद्मलेश्याले सत्यवादी पनको आदि लेकर क्षमा, सात्विकदान, ऋजुता, गुरुदेवता प्रजाकरणतत्परता, भद्रता आदि शुभ लक्षण हैं। छठी शुक्ललेश्याके प्रशम, रागद्धेषरहितपन, निदानवर्जन, श्रेयोमार्गानुष्ठान, आदि लक्षण हैं। यों व्यावतंक चिन्होंसे अन्तरंग लेश्यायें पहिचान ली जाती हैं। तथा सातवें गित अधिकार करके लेश्यायें समझ लेनी योग्य हैं। स्वकीय कारणों अनुसार बहुत भेदवाली प्राणियोंकी गित हो जानेसे लेश्यायें साध ली जाती हैं।

प्रत्यंशकं समाख्याताः षड्विशतिरिहांशकाः । तत्राष्ट्री मध्यमास्तावदायुषी बंधहेतवः ॥ २५ ॥ आष्ट्रीयदेशतः सिद्धाः शेषास्तु गतिहेतवः । पुण्यपापविशेषाणामुपचाययका हि ते ॥ २६ ॥

प्रत्येक लेश्याके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और मध्यवर्ती आठ अंशोंको मिलाकर यहाँ प्रकरणमे लेग्याओं के छत्र्वीस अंश बढ़िया वखाने गये हैं। उनमें कृष्ण और कापोतके मध्य-वर्ती तथा पीत और शुक्लके मध्यमवर्ती अाठ मध्यम अंश तो परभवकी आयुके बन्धके कारण हैं। यह सिद्धान्त ऋ पत्रोक्त उपदेशोंसे प्रसिद्ध है। अर्थात् कमं मूमिके मनुष्य या तियं चकी भुज्यमान आयुके तीन भागों में से दो भाग बीत चुकने पर अन्तर्मुहर्त तक पहिला अपकर्षकाल माना जाता है। यदि पहिले इस अपकर्ष कालमे उत्तर भवकी आयु न बंधे तो शेप आयुक्ते त्रिभाग करते हुये दो भाग बीत जानेपर अन्तर्मुहर्त कालतक आयुष्य कर्मका बन्ध होता है। यदि यहां-पर भी आयुष्य का बन्ध नहीं होय तो तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, सातवें, और आठवें त्रिभाग स्वरूप अपकर्ष कालमें आयुका बन्ध होजाता है। पूर्वके अपकर्षमें आयुका बन्ध होजाने पर उत्तर अपकर्षीमें तदविरुद्ध उसी आयुका बन्त्र होगा, न्यारी आयुका नहीं। यदि आठोंमें किसी भी अपकर्षमें आयु न बंदे तो मृत्युके अव्यत्रहित पूर्व अन्तर्मुहुर्तमें परभव की आयुका बन्ध अवश्यक होजाता है। देव और नारकी जीवोंकी भुज्यमान आयुके छहमास शेष रहनेपर आठ अपकर्षकाल आयुक्ते बन्धके योग्य रचे जाते हैं। भोगभूमियां मनुष्य या तियंचके स्वकीय आयुके नौ महीना शेष रहनेपर आयके बन्ध योग्य आठ अपकर्षकाल प्राप्त होते हैं । अपकर्षकाल में जैसा लेश्याका अंश होता है वैसा आयुष्यका बन्ध होजाता है। आयुक्ता बन्ध फल दिये बिना छटता नहीं है। स्थिति कमती बढती भले ही होजाय। छेरुयाओं के कारण इन बाठ अंशों को मध्यवर्ती इसिलये कहा है कि कृष्णलेश्या के कित्य तीव अंशों में और कापोत के कित्य ज्वन्य अंशों में आयु नहीं बंबती है। इसी प्रकार शुमलेश्याओं में पीत के कित्य ज्वन्य अंशों में और शुक्रलेश्या के कुछ उत्कृष्ट अंशों में आयुष्य कर्मको बन्धवाने की योग्यता नहीं है। खाः अशुभ लेश्याओं के मध्यमें पड़े हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पड़े हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पड़े हुये चार अंश यों आठ अंश मध्यम कहे जाते हैं। हां, श्रेप अठः रह अंश तो परभवके लिये गित कराने के कारण है। अवश्य वे अठारह अंश पुण्य विशेष और पापिवशेषोंकी वृद्धिके कारण होरहे हैं। यद्यप ज्वन्य, मध्यम, उन्कृष्टके अपेक्षा लेश्याके अठाग्ह भेदों में सभी भेद गिंभत हैं। इनसे न्यारे कोई आठ भेद नहीं होसकते है। फिर भी संसारमें समरण कराने वाले कर्मों में प्रधान होरहे आयुष्य कर्म को बंधवाने की अपेक्षा अठारहों के मध्य में से ही कुछ पृयग्भूत कर लिये गये आठ अश मध्यवर्ती माने जाते हैं। शेष अंश तो गतिके उपयोगे पुण्य, पापों की वृद्धि कराते रहते हैं। योग और कषाय की मिश्रितपरिणित ही लेश्या है। जो कि पुण्य पाप-स्वष्ट प्रकृति, प्रदेश, स्थित, अनुभाग इन चारों बन्धों की कारण हैं।

भवायुर्गतिभेदानां कारणं नामभेदवत । शुक्क त्कृष्टांशकादात्मा भवेत्सर्वार्थसिद्धिगः ॥ २७ ॥ कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यादशतिष्ठानगाम्यसौ । रोषांशकवशान्नानागतिभागवगम्यताम् ॥ २८ ॥

लेश्याओं के अंश ये नामकर्मके प्रभेदोके उदयसे युक्त होरहे विशेष भवकी आयु और गिति भेदोके कारण बन रहे हैं। आत्मा शुक्ललेश्याक उत्कृष्ट अशसे मर कर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त करने वाला होगा कृष्णके उन्कृष्ट अंशसे तो वह आत्मा सातवे नरकके इन्द्रक बिल अप्रतिष्ठान नरकमें जानेवाला हो बाता है। शुक्लकं मध्यम अंशको आदि लेकर कृष्णके मध्यम अंशोतककी परवशतासे यह जीव नाना गितयों को जाने वाला समझ लेना चाहिये।

यथागमं प्रपंचेन विद्यानंदमहोदया - । रखाभित्वेन तथा साध्या छेदया साधनतोषि च ॥ २९॥ संख्यातः क्षेत्रतश्चापि स्पर्शनात्काछतोतरात् । भावाचाल्पबहुत्वाच पूर्वसूत्रोक्तनीतितः ॥ ३०॥

किस लेश्यासे मरकर किस गति को प्राप्त होता है। इप सिद्धान्त को विस्तार करके समझना होय तो सदागम अनुसार समझलेन। चाहिये अथवा सिद्धान्तमर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रने गये हमारे "विद्यानन्द महोदय" नामक यन्य से निश्चय कर छेना चाहिये। जिस प्रकार निर्देश, वर्ण, आदि सात अधिकारों करके लेक्यायें साध थी गयी हैं, उसी प्रकार स्वामिपने करके और साधनसे भी छहों लेक्याओं का विवार कर लेना चाहिये। एवं संख्या से, क्षेत्र से, स्पर्शन से, कालसे, अन्तरसे भावसे और अल्पबहुत्त्रसे भी लेक्याओं की सिद्धि करलेनी चाहिये। अर्थात् उमास्वामी महाराजके अति संक्षिप्त सूत्रोंमें अनन्त प्रमेय भरा हुआ है। जो कि उप-रिष्ठात् टीका या व्याख्यानों से समझ लिया जाता है। उसी पूर्व सूत्रोंमें कही जाचुकी नीतिक अनुसार इप सूत्र में भी अधिक प्रमेय तत्ववेत्ताओं करके समझ लेने योग्य है। अथवा सर्वज्ञधारा-प्राप्त पूर्वऋषियोंके सूत्रोंमें कही जा चुकी स्याद्वाद मिद्धान्त नीतिसे स्वामित्व आदिकों करके यथा-मनाय लेक्याओं के अधिकार समझ लिये जाया। यन्यकारने यहां परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषयों में आगमपरिपाटीका अनुसरण करने के लिये तत्ववेत्ताओं को उद्युक्त किया है। राजवात्तिक गोम्मटसार प्रन्थोंमें भी उक्त सोलह अधिकारोंका विशेष निरूपण किया है।

वैमानिक देवों में लेश्या को वर्णन कर अब भगवान् सूत्रकार कल्पोंका परिज्ञान कराने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

प्राग्येवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सौधर्म से आदि लेकर नवग्रैवयकों मे पहिन्ते जो वैमानिक हैं, वे सब करुप हैं, अर्थात् सौधर्म से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त स्थान या उनमें रहने वाले देव कल्प कहे जाते हैं।

सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थः-सौधर्मादयः प्राग्यैवेयकेभ्यः कल्पा इति । सौधर्मा-दिसूत्रानंतरिमदं सूत्रं वक्तव्यमिति चेन्न, स्थितिप्रमादादिसूत्रत्रयस्य व्यवधानप्रसंगात्। सित व्यव-धानेऽनेत विधीयमानोर्थः कल्पेष्वेव स्यादनंतरत्वात् ।

परली ओर की अभिविधि (अवधि) तो कह दी गयी। किन्तु उरली ओर की मयदा नहीं कहो, इसके लिये सौधर्म आदि का जो तीन सूत्र पहिले ग्रहण किया है, उसकी अनुवृत्ति करली जाती है। तिससे इस सूत्रका यह अर्थ लब्ध होजाता है कि सौधर्मको आदि लेकर और ग्रैवेयकोंसे पहिले विमान स्थान या वैमानिक देव कल्प है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करें कि "सौधर्में शान" इत्यादि सूत्र के अव्यवहित उत्तर काल में ही यह सूत्र श्री उमास्वामी महाराजकों कहना चाहिये था। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सौधर्मके अनन्तर ही कल्पोंका विधान किया जाता ता स्थितिप्रभावमुख चुतिलेश्याविधुद्धीन्द्रयावधिविषयतोऽधिकाः गतिशरी-रपरिप्रहाभिमानतो हीनाः पीतपद्मजुक्ललेश्या दित्रिशेषेषु" इस प्रकार के तीनों सूत्रों का "प्राग्यैवेयकेश्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्यैवेयकेश्यः कल्पाः, इस सूत्रसे पीछे स्थिति प्रमाव आदि तीनों सूत्र पढे जाते, ऐसी दशामें व्यवधान होजाने पर इन तीन सूत्रों करके विधान किया जारहा अर्थ कल्पासी देवोंमें ही प्राप्त होता। स्थोंक ये बारह कल्प ही

अन्यवहित पूर्वं म उपात्त होरहे हैं। " न्यवहितान्यवहितयो रन्यवहितस्यैव ग्रहणं" इस परिभाषा अनुसार कल्यों में ही स्थिति आदिकसे अधिकता और गिन आदिकसे हीनता तथा दो तीन शेषों में पीतपद्मशुक्ललेश्याका विधान होसकेगा। सौधमंको आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सम्पूर्ण वैमानिकों में उक्त ती स्त्रोंका अर्थ लागू नहीं हो सकेगा। इस कारण यहां इस सूत्र के कह देने से सब बखेडा मिट जाता है।

के पुनः कल्पातीता इत्याह ।

सूत्रकारने कल्पों का तो कण्ठोक्त निरूपण कर दिया है। किन्तु कल्पातीत देवों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र नहीं रचा है। अतः यह बताओं कि फिर वे कल्पातीत देव कौनसे हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वात्तिकको कहते हैं।

कल्पाः प्रागेव ते बोध्या प्रवेयकविमानतः । तदादयस्तु सामर्थ्यात् कल्पातीताः प्रतीतितः ॥ १ ॥

इस सूत्र का अर्थ यह है कि ग्रेवेयक विमानसे पहिले ही वे कल्प रव रहे समझ लेने चाहिये। हां, विना कहे ही शब्दसामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि उन ग्रेवेयकों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्थान तो कल्पातीत हैं।

ननु च परिशेषाद्यैवेयकादीनां कल्पातीतत्वसिद्धौ मवनवास्यादीनां कल्पातीतत्वप्रसंग इति चेन्न, उपर्युपरीत्यनुवर्तनात् ।

यहां कोई प्रतिवादी आशंका उठाता है कि परिशेषन्यायसे यदि ग्रैवेयक आदिकों के कल्पातीतपन की सिद्धि की जायगीं, तब तो भवनवासी आदिकों को भी कल्पातीतपने का प्रसंग आता है। सो रह स्वर्ग या बारह कल्पोंसे शेष बच रहे देव तो अहमिन्द्रों के समान भवनवासी, क्यन्तर, ज्योतिष्क,देव भी हैं। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि 'उपर्युपरि' इस परकी अनुवृत्ति होरही है। अर्थान् ऊपर ऊपर वैमानिक देवोंके लिये उक्त पांच सूत्रोंका सम्बन्ध किया जाता है। नीचे के भवनवाधी आदिकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण अहमिन्द्र देव ही कल्पातीत हैं।

सूत्रकार के प्रति किसी का प्रश्न उठ सकता है कि तब तो लौकान्तिक देव वैमानिक देव होरहे सन्ते भला किन कल्पोपन्न या कल्पातीत देवों में ग्रहण किये जायेगे ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तर में सूत्रकार अग्निम सूत्र को कहते हैं

ब्रह्मलोकालया लोकांतिकाः ॥ २४ ॥

पांचवे स्वर्ग बम्हलोक में निवास स्थान कर रहे लौकान्तिक देव हैं अर्थात् पांचवे स्वर्ग में निवस रहे लौकान्तिक देव कल्पोपहन्न हैं। एत्यास्मिल्लीयत इत्यालयो निवातः । बह्मलोक आख्यो येवां ते बह्मलोकालयाः। सर्व-बह्मलोकदेवानां लौकांतिकत्वप्रसंग इति बेझ, लोकांतोपप्रलेवात्। बह्मलोकस्यांतो हि लोकांतः लोकांते भवा लौकांतिका इति न सर्वत्र बह्मलेकदेवास्तया। अथवा लोकः संसारः जन्मजरामृत्युसं-कीणः तस्यांतो लोकांतः तत्प्रयोजना लौकांतिकाः । ते हि परीतसंसाराः ततश्च्युत्वा एकं गर्भवास-मवाप्य परिनिवाति ।

चारों ओर या छहों ओरसे प्राप्त होकर इस स्थानमें जीव या पदगल लीन होजाया करते हैं। इस यथार्थ निरुक्ति द्वारा आलयका अर्थ निवास स्थान है। बाहरसे आता जाता हुआ मनुष्य स्पष्ट दीखता रहता है। किन्तु घरमें घसकर न जाने कहां झट लीन होजाता है। बाहरसे देखनेवाले केवल ताकते ही रह जाते हैं। जिन देवोंका निवास स्थान ब्रह्मलोक है, वे ब्रह्मलोकालय देव कहे जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि तब तो पांचवें स्वर्ग ब्रम्हलीकमें रहने बाले सभी देवोंको लौकान्तिकपनेका प्रसंग अता है। जगत श्रेणीके नौमे वर्गमलका उसी श्रेणिमें भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसकी आधी संख्या प्रमाण असंख्यातासंख्यात ब्रम्हलोकवासी सभी देव तो लौकान्तिक नही माने गये हैं। प्रन्यकार कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि लौकान्तिक शदमें लोकान्त इम प्रकृतिका संसर्ग होरहा है। चंकि बम्हलोकका जो अन्तिम स्थान है,वह लोकांत है लोकान्तमे होनेवाले देव लौकान्तिक हैं। इस कारण बम्हलोकमें सर्वत्र निवास कर रहे अन्य असंख्याते देव तिस प्रकार लौकान्तिक नही हैं। किन्तु चार ल खसे कुछ अधिक ही देव लौका-न्तिक है। अथवा दूसरी निरुक्ति यों की जा सकती है कि लोकका अर्थ यह जन्म, जरा. मृत्यू ओंसे संकीर्ण होरहा संसार है। उस संसारका जो अन्त है, वह लोकान्त है। जिन देवोंका लक्ष्यभूत प्रयोजन वह लोक का अन्त करना है, ऐसे देव लौकान्तिक हैं। वे लौकान्तिक देव नियमसे संसारसे निकान्त हुये समझने चाहिये। कारण कि उस अपने स्थान बम्हलोकसे चय कर कर्भभूमिमे एक मतुष्य जनमरूप गर्भवासको प्राप्त कर समन्तात शभ होरही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

कि पुनरनेन सुत्रेण कियत इत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि इस सूत्र करके फिर सूत्रकारने क्या लक्ष्य सिद्ध किया ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर वात्तिकको कहते हैं।

तत्र छोकांतिका देवा ब्रह्मछोकालया इति । स्वनात कल्यवासित्वं तेषां नियतमुच्यते ॥ १ ॥

उन वंगानिक देवोंके प्रतिपादक सूत्रमें श्री. उमास्वामी महाराजने ब्रह्मलोक में निवास करने वाले देव लौकान्तिक हैं। यों इस सूत्र द्वारा की गयी सूचनासे उन लौकान्तिक देवों का कल्पवासीपन नियत होरहा कह दिया है। लीकांतिकानां कल्पोयपन्नकल्पातीतेभ्योग्यत्वं माभूदिति तेवां कल्पवासिनियनोऽनेन क्रियते न ततो देवानां चतुःणिकायत्वनियमो विषध्यते ।

लौकान्तिक देवों को कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंसे भिन्नपना नहीं होवे इस कारण उन लौकान्तिकोंके कल्पवासीपने का नियम इस सूत्र करके किया गया है। तिस कारण देवों की चार निकाय होनेका नियम विरुद्ध नहीं पड़ना है। अर्थान् लौकान्तिक देव चार निकायसे बाहिर नहीं हैं। किन्तु वैमानिक देवोंके कल्पोपपन्न भेदमे गिंभत होजाते है।

तदिशेष प्रतिपादनाथँमाह।

अब प्रन्यकार अग्निमसूत्रका अवतरण हेतु यो कहते है कि सामान्य करके उपदिष्ट किये गये उन लौकान्तिकोंके विशेष भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये सूकार अग्निम सूत्रको कहते है।

सारस्वतादित्यवन्ह्यरूणगर्दतोयतुषिताव्यावाधारिष्टाश्च ॥

१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अष्ठण ५ गर्दतीय ६ तुषित ७ अन्याबाध ८ अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देवों के गण हैं। समुच्चय अर्थ वाचक च शब्द करके अग्न्याभ, सूर्याभ, आदिक सोलहगण अन्य भी समझ लेने चाहिये।

क्व इमे सारस्वतावयः पूर्वोत्तरावि विक्षु ययाक्रमं । तद्यया अरुणसमुद्रप्रभवो मूले संख्ये-ययोजनिवस्तारस्तमसः स्कंधः समुद्रवद्वलयाकृतिरिततीवाधकारपरिणामः स ऊर्ध्वं कमवृध्द्या गच्छन् मध्येंऽते वा संख्येययोजनबाहुत्यः अरिष्टिविमानस्याधोभागे समेतः कुक्कुटकुटीबदवस्थितः । तस्यो-परि तमें राजयोष्टावृत्पत्यारिष्टेंद्रकविमानसमप्रणिधयः। तत्र चतमृष्विप विक्षु द्वन्द्वं गतास्तिर्यंगालो-कातात् तदंतरेषु पूर्वोत्तरकोणाविष सारस्वतावयो यथाक्रमं वेवित्तथ्याः।

ये सारस्वत आदिक लौकान्तिकोंके देवगण भला कहां स्थित होरहे हैं? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्व और उत्तर दिशाकों मध्य कोण होरहे ईशान आदि दिशाओं में अर्थात् ईशान विदिशामें सारस्वत देवोंके विमान है। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आपति विदिशा में विद्या है। दक्षिण पश्चिम कोण यानी नैऋत्य विदिशामें गर्दतोयोंके विमान हैं। पश्चिम दिशामें तुषितोंके विमान है। पश्चिम उत्तर कोण यानी वायव्य विदिशामें अव्यावाधों के विमान हैं। उत्तर दिशामें अरिष्ट जातीय लौकान्तिकों के विमान है। उसी को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझना चाहिये कि नौमे अरुण समुद्रसे उत्पन्न हुआ और मूल मे संख्यात योजन विस्तार वाला अन्धकारका स्कन्ध ऊपर की ओर उठ रहा है। जो कि समुद्रके समान होरहा कंकणकी आकृति को धार रहा है। अत्यन्त तीन्न अन्धकार परिणाम स्वरूप हैं। अर्थात् चौमासे में वर्षायुक्त होरही अमाबस्या की रानिके निबन्ध बन्धकार से भी बत्यधिक गाढ

अन्धकार का पिण्ड उभर रहा है। वह क्रपर की और कमकमसे वृद्धि करके बढता जा रहा मध्य में और अन्त में संख्यात योजन मोटा होजाता है। पूनः शिखर के समान घट कर ब्रह्म स्वर्ग सम्बन्धी पहिले पडलके मध्यवर्ती अरिष्ट विमान के नीचे भागमें एकत्रित होता हुआ मुगैकी कूटी (कुडला) के समान अन्धकार स्थित होगया है। भावार्थ-मसजिदों की शिखर या भूसभरने की बरजी जैसे नीचे गोल होकर कमसे ऊपर को फैलकर बढ़नी हुई पून: शिखाऊ ऊपर जाकर घट जाती है। उसी प्रकार इस अन्धकारस्कन्ध की रचना समझना। धूम या काजल के समान अन्धकार भी पुरुगल की काले रंगवाली पर्याय विशेष है। कतिपय अन्धकार तो प्रकाशक पदार्थीसे नष्ट होजाते हैं। किन्तु पुर्गल की सुमेरु, सूर्य, कुलाचलों आदिके समान यह अन्धकारका पिण्ड स्वरूप अनिद अनिधन पर्याय है। उष्ण पदार्थं शीतस्पर्शका नाशक है। परन्तु शीतद्रव्य भी उप्णता को समूल नष्ट कर सकता है। इस अन्धकार परिणति पर सूर्य या अन्य विमान आदि के प्रकाशोंका प्रभाव नहीं पडता है। वैशेषिको के यहां अन्धकार जैसे कोई भाव पदार्थ नहीं होकर तेजका अभाव पदार्थ तुच्छ माना गया है। वैसा जैन सिद्धांत नहीं है। घली पटल, काजल, धुमरेखा, बाप्प आदिके समान अन्धकार भी पूद्गल की विशेष परिणति है। मसालके ऊपर निकल रहे काले ध्योंको जैसे मसाल की ज्योति नष्ट नहीं कर देती है, अथवा आंधींके आने पर लाल पीले रेत की सूर्यप्रभा कोई नष्ट नहीं कर देती है, प्रत्युत प्रकाशक पदार्थ उन काले पीले, धीले पदार्थोंको उन्हीं के ठीक रंग अनुसार प्रकाशित कर देते हैं। उसी प्रकार काली स्याही को धुलके समान फैल रहे इस गाढ अन्धकार को प्रकाशक पदार्थ नष्ट नहीं कर पाते हैं। भले ही उसके ठीक रूप अनुकूल उसकी जतादें। काले रंग की भीत या कपडे पर जो प्रका-शक पदार्थ का प्रभाव है, वही दशा यहां समझना। अरुण समृद्रके सूर्य या चन्द्रमा इस अन्ध-कारका बालाग्र भी खण्डन नहीं कर सकते हैं। पूनः उन एकत्रित हये अन्धकार के ऊपर अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान के निकटवर्तिनी होती संती अन्धकार की आठ पंक्तियां उठ कर झकतीं हुई फैल रहीं है। वहां चारों भी दिशाओं में दो दो होकर इन्द्र को प्राप्त हुई तिरछी लोक पर्यन्ततक चली गयी है । उन अन्धकार पंकिन्यों के अन्तरालमें पूर्वोत्तर दिशाके कोने ईशान आदि विदिशा या दिशाओं में सारस्वत आदिक विमान या देवगण यथाकतसे व्यवस्थित होरहे समझलेने चाहिये।

च शहसमुज्यिताः सारस्वताद्यंतरालर्वातनः परेऽग्न्यामसूर्याभावयो हृद्ववृत्त्या स्थिताः प्रत्येतव्याः, तद्यया । सारस्वतादित्ययोरंतरालेऽग्न्याभसूर्याभाः, आदित्यवन्हचोऽचंद्राभसत्याभाः, वन्ह्यरुणयोः श्रेयस्करक्षेमंकराः, अरुणगर्वतोययोर्वृषमेष्टकामचाराः, गर्वतोयतुवितयोनिर्माणरजी विगंतरक्षिताः, तुषिताच्याबाधयोरात्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाधारिष्टयोर्मक्ष्टसवः, अरिष्टसारस्वतयोरद्वविद्वाः, । तान्येतानि विमानानां नामानि तिभवासिनां च देवानां तत्स्राहचर्यात् ।

सूत्र में पडे हुंगे समुख्य अथंवायक च शहकरके दूसर दूसरे अम्याभ सूर्याभ, आदिक देव गणों का समुख्य कर लिया जाता है। सारह्वत आदिकों के आठ अन्तरालों में वर्त रहे अम्याभ, सूर्याम आदिक देवगण दो दोकी द्वन्द्ववृत्तिसे स्थित होरहे विश्वास कर लेने योग्य हैं। उसी बात को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार जानलों कि सारह्वत और आदित्य की अन्तरालमें दो अग्न्याभ और सूर्यामजाति के कई विमान विरचित हैं। तथा आदित्य और बन्हि के मध्यमें चन्द्राभ और सत्याम देवगण है। विश्व और अश्णोंके अन्तराल में श्रेयस्कर और क्षेमंकर इन दो जातिके लौकान्तिक भेद वस रहे हैं। अश्ण और गर्दतीय के अन्तराल में वृष्यंष्ट और कामचार इन दो मण्डलियोंका निवास है। गर्दतीय और तृष्वित के बोचमे निर्माणरज. और दिगन्तरक्षित देवगणों के स्थान है। तृष्यित और अव्यावाधके बीच में आत्मरक्षित और सर्व-रक्षित जातिके लौकान्तिक देव मण्डल हैं। अश्याबाध और अरिष्टके अन्तर स्थान में महत् और वसु निवास कर रहे हैं। अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व और विश्व जातिके देवगण बस रहे हैं। बरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व और विश्व जातिके देवगण बस रहे हैं। वे सारस्वत, अग्न्याभ आदिक ये सब विमानोंके नाम है, उन विमानोंका सहजरपना होनेसे उनमें निवास करने वाले देवों के भी प्रवाहमुद्रया सारस्वत आदिक नाम कहे जाते हैं।

तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः, आदित्याश्च सप्तशतगणनाः, बन्हयः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि, अरुणाश्च तावंत एव, गर्वतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि, तुषिताश्च तावंत एव. अव्यावाधा एकावशसहस्राण्येकावशानि,अरिष्टा अपि तावंत एव। च शह्वसमुन्चितानां संख्योच्यते-अग्न्याभे वेवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि,सूर्याभे नवनवोत्तराणि,चन्द्राभे एकावशैकावशोत्तराणि, सत्यामे त्रयोदश त्रयोदशोत्तराणि, श्रेयस्करे पंचवशपंचदशोत्तराणि, श्रेमंकरे सप्तदश सप्तदशोत्तराणि वृष्णेष्टे एकोनीवशत्यधिकानि, श्रेयस्करे पंचवशपंचदशोत्तराणि, श्रेमंकरे सप्तदश सप्तदशोत्तराणि वृष्णेष्टे एकोनीवशत्यधिकानिवशत्यधिकानि, कामचारे एकविशत्येकिवशत्यधिकानि, निर्वाणरात्रीत त्रयोवशत्यधिकानि, वर्गनिशत्यधिकानि, वर्गनिशत्यधिकानि, वर्गनिश्चर्यक्षिते संव्यविश्वतियधिकानि, सर्वरक्षिते एकाश्चिशविश्वास्त्रविश्वतियधिकानि, मस्ति एकिश्वरिश्वविश्वामि, वसुनि त्रविश्वरात्यधिकानि, अश्वे पचित्रशत्यविश्वराविश्वरानि विश्वे सप्तिश्वरात्यधिकानि वर्षेत्रशत्यधिकानि, वसुनि त्रविश्वरात्यधिकानि, अश्वे पचित्रशत्यविश्वराविश्वरात्यसिकानि विश्वे सप्तिश्वरात्तरात्रश्वरात्ति वर्षेत्रशत्यविश्वराति वर्षेत्रश्चरात्रश्वरात्तरात्रश्वरात्तानि वर्षेत्रश्वरात्तरात्रश्वरात्तरात्तरात्रश्वरात्ति वर्षेत्रश्वरात्ति वर्षेत्रस्वरात्ति वर्षेत्रस्वरात्ति वर्षेत्रस्वर्यस्वरात्ति वर्षेत्रस्वरात्ति वर्षेत्रस्वरात्ति वर्षेत्रस्वरात्ति वर्षेत्रस्वर्यस्वरात्ति वर्षस्वर्यस्वरात्ति वर्षस्वर्यस्वरात्ति वर्षस्वरात्ति वर्षस्वरात्ति वर्षस्वरात्ति वर्षस्वरात्ति वर्षस्वरात्ति वर्षस्वरात्ति स्वरत्यस्वरात्ति वर्यस्वरात्ति वर्षस्वराति स्वरत्यस्वरत्यस्वरात्ति स्वरत्यस्वरात्ति स्वरत्यस्वरत्यस्वरात्य

वव लौकान्तिक देवों की संख्याको गिनाते हैं। उन चौबीस गणों में सारस्वत देवों की संख्या सात सी है। और आदित्यों की गणना भी सात सी ही समझनी चाहिये। विन्हिगण के देवों की संख्या सात अधिक सात हजार है। अरुण जाति के देव भी उतने ही यानी सात हजार सात हैं। गर्दतीय विमानों में रहनेवाले देव नौ ऊपर नौ हजार हैं। तथा तुपित भी उतने ही यानी नौ हजार नौ हैं। अव्यावाध देवगण में ग्यारह हजार ग्यारह देवगण हैं। अरिष्ट भी उतने ही यानी ग्यारह हजार हैं। ब्यारह देवाण हैं। क्षिक्या अब कही

जाती है। अन्याभमें देव सात अधिक सात हजार हैं। सूर्याभविमानमें नौ अधिक नौ हजार हैं। चन्द्राभ में ग्यारह अधिक ग्यारह हजार हैं। सत्याभ में तेरह हजार तेरह देव बसते हैं। श्रेयस्कर में पंद्रह ऊपर पन्द्रह हजार देव निवसते हैं। क्षेमंकर में सत्रह अधिक सत्रह हजार देव निवास करते हैं । वृषभेष्टमें उनईस हजार उनईस अधिक देव वस रहे हैं । कामचारमें इकईस हजार इक ईस अधिक देव ठहरे हुये हैं। निर्माणरजाः में तेईस हजार तेईस अधिक अमर विराजते हैं। दिगन्तरक्षित में पच्चीस हजार पच्चीस सुर निवसते हं। आत्मरक्षित में सत्ताईस अधिक सत्ता-ईस हजार देव स्थत हैं। सर्वरिक्षतमें उन्तीस सहस्र उन्तीस देवों का निवास है। मरूत्में इकत्तीस हजार इक्तीस अधिक देव शोभते हैं। बसुमें तेतीस हजार अधिक तेतीस देव वस रहे हैं। अरव में पेंतीस अधिक पेंतीस हजार देव राजते है। विश्व में सैतीस अधिक सैतींस हजार देव निवास करते है। वे सब इन सख्याओं को धार रहे ये चौवीस लौकान्तिकोंके गण एकत्रित कर् दिये जांय तो सम्पूर्ण लौकान्तिक देवो की संख्या चारलाख सात हजार आठसी ऊपर छह हो जाती है। तत्त्रार्थमूत्र के टीकाकारों के मन्तव्य अनुपार उक्त संख्या ही ठीक है। हां, त्रिलीक-सार की "सारस्तद आइच्चा सत्तसया सगजुदाय वण्हरुणा। सगसगसहस्समुवरि दुसु दुतु दो दूग सहस्स विडिढकमा" इय गायाके अनुसार सारस्वत और आदित्यों की सातसी सात संख्या मानकर पुनः वृद्धि होजानेसे चार लाख सात हजार आठसौ वीस यह लौकान्तिक देवों की संख्या चोखी जवती है।

सर्वे स्वतंत्राः होनाधिकत्वामावात् । विषयरितविरहाद्देवषंयः ततः एवेतरेषां देवानाम-र्चनीयाः चतुर्देशपूर्वेषयाः सततं ज्ञानमःवनावहितमनसः नित्य संसारादुद्विग्नाः अनित्याशरणाद्य-नुप्रेक्षाविहतचेतसः तीर्यंकरिनःक्रमणप्रबोधनपराः नामकमंविशेषोदयादुपजायंते ।

ये सभी लौकान्तिक देत्र बहिमन्द्रोंके समान स्वतंत्र है। किसी इन्द्र, प्रतीन्द्र आदिका इन पर कोई कुत्सित अधिकार नहीं चलता है। परस्परमें भी हीनपना या अधिकपना नहीं होनेसे कोई किमीके परधीन नहीं है। इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंमें रागभावका विरह होजानेसे देवोंमें ऋषितुल्य होरहे ये देविष कहे जाते हैं। तिस ही कारणसे अन्य देवोंके पूजनीय हैं। चौदह पूर्वको धार रहे ये द्वादशागवेत्ता है। इनका चित्त सर्वदा ज्ञानाभ्यास की भावना करते हुथे उसीमें एकाग्र लगा रहता है। नित्य ही संसारसे उद्वेशको प्राप्त होरहे वैराग्यतत्पर रहते हैं। अनित्य, अशरण, संसार आदि बारह अनुप्रेक्षाओं के भावने में इनको चित्तवृत्ति रुकी रहती है। तीर्थंकर भगवान्के तपःकल्याणके अवसरपर नियोग साधते हुथे भगवान् को तत्वप्रदोध कराने के लिये तत्पर रहते हैं। निष्कमणके सिवाय अन्य किन्ही भी कल्याणोंमें या नन्दीरुवर-

द्वीप अथवा अन्य अकृतिम चैत्यालयोंकी वन्दना आदिमें इनकी जाने आने की उत्सुकता नहीं है। देवगति नाम कर्मके भेद प्रभेद होरहे लौकान्तिक देव नामक प्रकृति विशेषके उदयसे उक्त ढंग के ये देव उपज जाते हैं। नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्याती हैं। यह जीव पहिले शुभ, अशुभ, कर्मोंके अनुसार विभिन्न पर्यायों ने उपज जाता है। पश्चात् स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा विलक्षण कार्योंको साधलेता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में संसारी जीवों की अवस्थाओं का कर्मजनित और पुरुषार्थजनित न्यारा न्यारा स्वरूप दरसादिया गया है।

तेन्वर्थसंज्ञतां प्राप्ता भेदाः सारस्वतादयः । तेनेकचरमास्तद्वच्छकाचाश्रोपलक्षिताः ॥ १ ॥

लौकान्तिक देवगणोंके वे सारस्वत आदिक मेद अन्वर्थसंज्ञापनेको प्राप्त हो रहे हैं। तिस कारण ये लौकान्तिक देव एकचरम हैं। यानी एक मनुष्य भव लेकर चरमशरीर अवस्था से निर्वाण प्राप्त कर लेंगे। अतः शहमेंसे निकले हुये अर्थके अनुसार इसका नाम यथार्थ है। उमास्वामी महाराजने इन दो न्यारे सूत्रों करके एक भवतारी लौकान्तिक देवोंका स्वतंत्र निहन्पण किया है। यह उपलक्षण है। जैसे "काकेश्यो दिध रक्ष्यताम्" यहां काक पद दहीके उप-घातकों का उपलक्षण है। छह दक्षिण दिशाके इन्द्र, सौधर्म इन्द्रको इन्द्राणी, सौधर्म स्वर्गके लोकपाल, सर्वाथिसिद्धिके देव ये भी एक भवतारी हैं। अतः उन लौकान्तिकों के समान इस सूत्र हारा सौधर्म इन्द्र आदि सभी एक भवतारी जीवों का उपलक्षण कर दिया गया समझ लेना।

येथैकचरमा लोकांतिकाः सर्वेन्वर्यसंज्ञां प्राप्ताः सुत्रिताः तथा शकादयश्च तेषामुपल-कणत्वात् ।

जिस प्रकार कि एक चरम होरहे सभी लौकन्तिक देव परले जन्म में संसार का अन्त करने दाले होते हुये सत्य अर्थके अनुकूल होरही संज्ञाको प्राप्त होरहे सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं, उसी प्रकार सौधर्म इन्द्र आदिक भी एक चरम शरीर को प्राप्त कर दूसरे जन्म में संसार का अन्त कर देने वाले सूचित कर दिये गये हैं। क्योंकि उन सारस्वत आदिकों का एक भवतारी जीवों में उपलक्षणपना है। अत: 'ब्राम्हणवशिष्ट' न्याय से इन एक भवतारी जीवोंका न्यारे सूत्रों द्वारा निरूपण करना समुचित है।

क्व पुनद्विचरमा इत्याह १,

जब कि ये लौकान्तिक या शक आदिक एक चरम हैं, तो किर महाराज यह बताओं कि दिचरम यानी दो भवतारी जीव कौनसे हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महा-राज अग्निमसूत्रको कहते हैं।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय आदि विमानों में दो चरम वाले देव निवास करते हैं। अर्थात् विजय, वैजयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानोंके देव अधिकपनेसे अन्तिम दो मनुष्य भवोंको प्राप्त
कर मोक्षको चले जाते हैं। यहां विजय और आदि शद्धके साथ बहुश्रीहि समास तथा तत्पुरुष
समास कर देनेसे वैजयन्त, अपराजित, और अनुदिशोंका इष्ट्यहण सिद्ध होजाता है। ये तेरह
विमानोंके निवासी पल्यके असंख्यातवें भाग स्वरूप असंख्याते देव आयुष्य पूर्ण होते सन्ते सम्यकरवसे नहीं छूटते हुये मनुष्यों ने उपज कर पुनः संयमको आराधना करते हुये फिर विजयादिकों
में उपज कर वहां से च्युत होते हुये यहां कर्म भूमिमें मनुष्य भवको प्राप्त कर सिद्ध होजाते हैं।
यों दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा दिचरमपना होजाता है।

आविशद्वः प्रकारार्थः । कः प्रकारः ? सम्यग्दृष्टित्वे निर्प्रथत्वे च सत्युपपादः । स च विजय स्येव वैजयंतजयन्तापराजितानामनृदिशानामप्यस्तीति तत्राविशद्वेन गृह्यंते । सर्वार्यद्वस्य प्रहण प्रसंग इति चेश्र,तस्यान्वर्थसंज्ञाकरणात् पृथगुपादानाच्च लौकान्तिक्ववेकचरमत्वसिद्धेः ।

यहां सूत्रमें पड़े हुये आदि शहका अर्थ प्रकार है। वह प्रकार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि सम्य ग्दृष्टि होते हुये और निर्ग्रन्थपना होते हुये जो देवोंमें उपपाद जन्म लेना है। हां, वह सम्यग्दृष्टि और निर्म्रन्थ मनुष्यों का उपपाद विजय के समान वैजयन्त, जयन्त अपराजित, और अनुदिश विमानवासियों के भी विद्यमान है। इस कारण वहां आदि शद्ध करके बारह विमानों का ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् सम्यग्दुष्टि हो रहे महावती का ही मरकर जहां जन्म लेने का नियम है, वे स्थान बिजय आदिक कहे जाते हैं। जन्मके आदिमें सम्याद्धि होते हुयें अहमिनद्र-पनका अकलंक नियम भी इससे प्रतिकृत न शें पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टि महाव्रती पुरुषोंका ही उपपाद जन्म होना तो सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें भी है। अतः बादि पदसे यहां मानुषियोसे तिगुने या उत्कृष्टतया सात गुने सर्वार्थेसिद्धि वाले संख्यात देवेंके प्रहण होजानेका प्रसंग होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस सर्वार्थसिदि की ठीक ठीक वाचक शद्धके अनुसार अर्थ घटित होजानेवाली सज्ञा की गयी है। भावार्य-सम्पूर्ण अर्थी की सिद्धि प्राप्त करनेवाले ये देव हैं। अगले भव में ही मोक्ष की सिद्धि करलेवेंगे। दूसरी बात यह है कि सौधर्मेशान आदि सूत्रमें 'सर्वार्थसिद्धि' का पृथग रूपसे उपादान किया गया है। अतः लोकान्तिक देवोंके समान एक चरमशरीरपना सिद्ध है। अतः यह सुत्र सम्यग्दृष्टि महावती ही मनुष्योंके उपपाद स्थान होरहे विजय आदि तेरह विमानों में रहने वाले बहमिन्द्रोंके लिये चरितार्थ है।

कयं पुनविजयादीनां द्विचरमत्वं ? मनुष्यभवापेक्षाया तयैव व्याख्याप्रज्ञप्तिवंडकेऽ निधानात् । देवभवापेक्षायामिव त्रिचरमत्वप्रसंगात् ।

विजयादिक अहमिन्द्रोंके द्विचरमपना किस प्रकार व्यवस्थित है ? इनका समाधान यह है कि द' मनुष्य भवोंकी अपेक्षा करते सन्ते द्विचरमपना । यानी विजयादिक चेच्युत हो कर मनुष्योमें उपज कर संयम लेते हुये, पुनः विजयादिक में उपपाद कर पुनः मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध हो जाते हैं। तिस ही प्रकार व्याख्याप्रज्ञान्तिदण्डक नामक महा अधिकार में कहा गया है। यदि मध्यवर्त्ती देवभवकी अपेक्षा भी की जायगी तब तो त्रिचरमपनका प्रसंग होगा। दो मनुष्यभव और एक देवभव यों तीन भवतारी ये हो जायगे। व्याख्याप्रज्ञन्तिदण्डक में अन्तर प्रकरणके अनुसार आये हुये, विरोधका भी निवारण कर दिया है। अन्य कल्पमें उत्पत्ति हो जानेकी अपेक्षा नहीं रखकर किये गये, गौतम महाराजके प्रश्नपर भगवान्का उत्तर यह है, जो कि सूत्रमें कहा गया है।

मनुष्यमवस्य पुनरेकस्य मुख्यवरमत्वं येनैव निर्वाणप्राप्तेः । अपरस्य तु चरमप्रत्यासत्ते-रूपचरितं चरमत्वं सजातीयस्य व्यवधायकस्याभावात् तस्य तत्प्रत्यासित्तिसिद्धेः । द्वौ चरमौ मनु-ष्यभवौ येवां ते द्विचरमाः देवाः विजयादिषु प्रतिपत्तव्याः ।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि कितने ही थोड़े या बहुत पदार्थ क्यों न हों उनमें चरम एक ही हो सकता है। अनन्तानन्त पदार्थमें भी चरम एक ही होगा। िकर यहां दो को चरमपना कैसे कहा ? प्रन्यकार इसका समाधान यों कर देने हैं कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है। एक ही अन्तिम मनुष्य भवको मुख्य रूपसे चरमपना है, जिस ही करके निर्वागकी प्राप्त होती है। किंतु उसके निकटवर्सी दूपरे या तीसरे न्यारे भवको चरमगना तो चरमके निकटवर्सी होने के कारण उपचरित है। कोई दूपरा समान जातिवाला पदार्थ व्यवधान करनेवाला नहीं है। अतः उप दूसरे या तीसरे भवको उस मुख्य चरमकी निकटवर्तिता सिद्ध है। जिनके दो मनुष्य भव अन्तिम लेने शेष हैं, वे देव द्विद्वरम हो रहे विजय अदिक में निवास कर रहे समझ लेने चाहिये।

अयान्यत्र सौधर्मादिषु कियच्चरमा देवा इत्यावेदयितुमाह।

अब महाराज यह बताओ कि अन्य सौधर्म, आदिक विमानों में निवास कर रहे देव भला कितने चरम भवोंको ग्रहण कर निर्वाण प्राप्त करेंगे ? इस प्रश्नके समाधानका प्रज्ञापन कर-नेके लिये ग्रन्थकार उत्तरवार्त्तिकको कहते हैं।

तथा द्विचरमाः प्रोक्ता विजयादिषु यतोऽनराः । ततोन्यत्र नियामोस्ति न मनुष्यभवेष्विद्य ॥ १ ॥

जिस कारणसे कि विजय आदिकों में तिस प्रकार दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा द्विचरम देव अच्छे कहे गये हैं. तिस कारण अन्य वैमानिकों में यहां मन्ध्य अवों में नियम करानेवाला कीई नहीं है। अर्थात-सौधर्म बादिके देव सौ भव या अनन्त भव लेकर मोक्ष जायेंगे ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रैवेयकों तकमें उपजनेवाले अनन्तवार ग्रैवेयक या मन्ष्य भवोंमें संसरण करते रहते हैं। अनेक जीव तो मक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अतः लीकान्तिक आदिकोंका एक चरमपना और विजयादिकोंका दो चरमपना प्रसिद्ध है। क्षायिक सम्यग्द्धियोंका त्रिवरमपना यानी उत्कृष्टतया चौथे भवमें मोक्ष जाना निर्णीत है। तीर्थं कर प्रकृतिवाला जीव भी उत्कृष्ट तया द्विचरम है। तीसरे जन्ममें अवस्य मोक्ष पावेगा। अन्य जीवोंके लिये कोई मक्ति प्राप्त करनेके जिये भवोंका नियम नहीं बखाना गया है। भले प्रकार सल्लेखना करनेवाला जीव सात, आठ, जन्मोंम मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, ऐसा चरणानुयोगका सिद्धांत है। " जेनि होइ जहण्णा चउन्त्रिहाराहणा दू भवियाणं । सत्त्वप्रवे गंतुं ते विय पावन्ति णिग्वाणं " इनके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं किया गया है। भले ही न्यारेन्यारे जन्मोंकी अपेक्षा यह जीव महावृतोंको अधिकसे अधिक बत्तीस दार घारण कर सकता है। एक भवमें अधिकसे अधिक दो बार लेता हुआ। उपशम श्रेणीको चार बार ले सकता है। किन्तु इसमें तो कुछ कम अर्द्ध प्रशल परिवर्त्तन काल भी पूरा होकर अनन्ते जन्म हो सकते हैं। अनन्त कल्पकाल भी समाजाय। अतः यह कोई चरमभवोंको गणनाका नियम नहीं समझा जाता है।

यतो लौकांतिकानां सर्वार्थसिद्धस्य शक्तस्य च तदप्रमहिष्या लोकपालादीनामेकचरमत्व-मुक्तं तथा विजयादिदेवानां द्विचरमत्वं, ततोम्यत्र सौधर्माविषु नियमो नास्तीति गम्यते।

जिस कारणसे कि लौकान्तिक देवों का और सर्वार्थसिद्धिवाले देवों का तथा सीधर्म इंद्रका एवं उसकी अग्रमहिषी हो रही इन्द्राणीका तथैव लोकपाल आदिकों का एक वरमपना सिद्धांत ग्रन्थों में कहा गया है, तिस प्रकार विजय, आदिक देवों का द्विचरमपना निर्णीत है। उनके सिवाय सौधर्म आदिकों के अन्य देवों में कोई द्विचरमपन आदिका कोई नियम नहीं है। यों अर्थापत्या जान लिया जाता है। लोकपाल आदि यहां आदि। दक्षिण दिशाके इन्द्रोंका ग्रहण कर लेना, विलोकसारमें 'सोहम्मो वरदेवी सलोगपाला य दक्खिणमिरदा। लोगंतिय सञ्बद्धा तरो चुदा जिल्बुदि जन्ति " यों कहा है।

इत्येकादशभिः सृत्रैवेमानिकनिरूपणं । युत्तयागमवशादात्तं तन्निकायत्रतृष्टयम् ॥ २ ॥

इस प्रकार 'वैमानिकाः ' इस सूत्रसे प्रारम्भ कर 'विजयादिषु द्विचरमाः ' यहांतक ग्यारह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने वैमानिक देवोंका निरूपण किया है । युक्ति और आगमके वशसे उन देवोंकी चारों निकायोंको उक्त चौथे अध्याय द्वारा ग्रहण कर लिया जा चुका है। अर्थात्—यहांतक इस अध्यायके छव्वीस सूत्रोंमें चारों देवनिकायोंका समीचीन युक्तियों और सर्वेज धारा प्राप्त आगमके अनुसार कथन किया जा चुका है।

> इति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे चतुर्थाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् । यहांतक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महाग्रंथमें चौथे अध्यायका पहिला आन्हिक (प्रकरण समूह) परिसमाप्त हुआ।

प्राग्जन्माजितकर्मनित्यगतिकज्योतिष्किनिष्टनं क्षपा-घस्त्राविष्यवहारकालमचलास्थैय्यंञ्च मुक्त्यै विदन् । सूर्येन्द्रोरुपरागिताग्रहकृतानेन्दुक्षितिच्छः यया धर्म्यप्यानरतो मुवं समतलां पत्येवगोलां सुधीः ॥ १॥

अथ द्वितीयमान्धिकम्

जीवके औदियक भावोंमे तिर्यक् योनिकी गतिको औदियक भावोमे गिनाया है। फिर स्थितिके प्रकरणमें " तिर्यग्योनिजानां च " इस सूत्र द्वारा तिर्यचयोनिवाले जीवोंकी स्थित को समझाया है। वहां हम यह नहीं समझे कि तिर्यग्योनि जीव कौनसे हैं? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्निम सूत्रको समाधानार्थ प्रतिपादन करते है।

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः॥ २७॥

औपपादिक अर्थात्—उपपाद जन्मवाले देव और नारकी जीव तथा मनुष्य इनसे शेष बच रहे सम्पूर्ण संसारी जीव तिर्यग्योनि यानी तिर्यंच है। तीन गतिओं के जीव असं-ख्यातासंख्यात हैं। किन्तु तिर्यंच जीव अनन्तानन्त है।

औपपाविकाश्च मनुष्याश्चीपपाविकमनुष्या इत्यत्र द्वंद्वेर्म्याहतत्वादीपपाविकशद्वस्य पूव-निपातः । मनुष्यशद्वस्याल्पाक्षरत्वेषि तस्मादुत्तरत्र प्रयोगः, अर्भ्याहतत्वस्याल्पाक्षरापवादत्वात् । तेभ्योन्ये शेषाः संसारिणः तिर्यग्योनयः प्रत्येयाः, तिर्यग्नामकर्भोदयसद्भावात् । न पुनः सिद्धाः संसारिप्रकरणे तदप्रसंगात् ।

औपपादिक और मनुष्य यों इतरेतर द्वन्द्व कर 'औपपादिकमनुष्या. 'यह पद बनाना चाहिये। इस पदमें द्वन्द्व समास करनेपर अभ्यहित (पूज्य) होनेसे 'अव्यवहितं पूर्वं ' इस सूत्र अनुसार बहुत अच्वाले भी औपपादिक शद्दका पूर्वमें निगत हो जाता है। मनुष्य शद्दका अस्प अक्षरवाला या अत्यल्प अच्चाला होनेपर भी उस औपपादिक से पीछे प्रयोग किया है।

क्योंकि 'अल्पाच् तरं पूर्वं ' इस सूत्रका अपवाद करनेवाला ' अभ्यहितं च ' है। अतः अभ्य-हितपना अल्पाक्षरपनेको बाध लेता है। औपपादिकों में देव आ जाते हैं। और देव स्थिति, प्रभाव, आदि करके पूज्य कहे जा चुके हैं। उन औपपादिक और मनुष्योंसे अतिरिक्त शेष संसारी जीव तियंच समझ लेने चाहिये। क्योंकि उनके तियंग्गित नामक नाम कर्मका उदय विद्यमान रहता है। औपपादिक और मनुष्योंसे शेष रहे सिद्ध फिर नहीं ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि संसारी जीवोंके प्रकरणमें उन शुद्ध परमात्माओंका प्रसंग नहीं है। सिद्धोंमें गित कर्मका उदय नहीं पाया जाता है।

कस्मात्पुर्नीह तेभिधीयंते ? तियंग्प्रकरणे तेबामिभधानाहैत्वात् इत्याशंकमानं प्रत्याह । कोई शिष्य आशंका कर रहा है कि किस कारणसे फिर वे तियंच जीव यहां विना प्रकरण कहे जा रहे हैं। जब कि दूसरे अध्यायमें तियंचोंके प्रकरणमें उन तियंग्योनि जीवोंका कथन करना योग्य प्रतीत होता है ? इस प्रकार आशंका कर रहे शिष्यके प्रति प्रन्यकार समाधान वचनकों कहते हैं।

> सर्वलोकाश्रयाः सिद्धास्तियं चोप्यर्थतों गिनः । सन्त्यौपपादिके भ्यस्ते मनुष्ये भ्योपि चापरे ॥ १ ॥ इति संक्षेपतस्तिर्यग्योनिजानां विनिश्चयः । कृतोत्र सूत्रकारेण लक्षणावासभेदतः ॥ २ ॥

आधारभूत संपूर्ण लोकके आश्रित हो रहे तियंच प्राणी भी वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। तथा वे औपपादिक जीवोंसे और मनुष्य जीवोंसे भी न्यारे भिन्न प्रकारके विद्यमान है। इस प्रकार सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमे लक्षण और निवास स्थान की विशेष्ता अनुसार संक्षेपसे तिर्यंच जीवोंका विशेष निश्चय करा दिया है। भावार्थ—तिर्यंच जीव तीनों लोकोंमें भरे हुये हैं। तीनों लोकोंका निरूगण कर चुकनेपर तियंचोंका प्रतिपादन करना सुगम है। अत. इस सूत्र द्वारा तिर्यचोंके लक्षण और अर्थापत्या निवासस्थान रूत तीनों लोककी प्रतिपत्ति करा देना सूत्रकारको आवश्यक पड गया है।

अधोलोकं मध्यलोकमूर्ध्वंत्रोकं चाभिष्ठाय यदत्र प्रकरणामावेपि तिर्यंग्योनिजानां निर्करणं सूत्रकारेण कृतं तत्तेषां सर्वलोकाध्यत्वप्रतिपत्त्यर्थं च । तिर्यक्षप्रकरणेस्य सूत्रस्याभिधाने सर्वतिर्यंग्मेववचने सति सूत्रस्य गौरवप्रसंगात् । सर्वलोकाध्यत्वं पुनरेषां परि तेषात् योज्यते ।

तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन कर तथा चतुर्थ अध्यायमें ख्रव्यीस सूत्रतक उद्धर्य लोकका निरूपण कर, प्रकरण नहीं होनेपर भी सूत्रकारने जो यहां तियंच जीवोंका प्रतिपादन किया है, वह तो उन तियंचोंके सर्व लोकके आश्रितपनकी प्रतिपत्ति करानेके लिये और संक्षेप करने के लिये हैं। यदि दूसरे अध्यायमें तिर्यचोंके प्रकरणमें इस सूत्रका कथन किया जाता तो सम्पूर्ण तियंचोंके भेदोंका वचन करते सन्ते सूत्रके गौरव दोष हो जानेका प्रसंग आता। दूसरे अध्यायमें तबतक नारकी, मनुष्य और देवोंका निरूपण भी नहीं किया गया था। वहां नारकी जीवों या मनुष्यों अथवा देवोंके प्रतिपादक सूत्र भर दिये जाते तो अर्थकृत और प्रमाणकृत भारी गौरव हो जाता। तीनों लोक और तीनों गतियोंके जीवोंका वर्णन कर चुकनेपर यहां लघुतासे तियंचोंका लक्षण और उनका निवास स्थान समझा दिया है। इन तियंचोंके अधिकरणभूत संपूर्ण लोक में आश्रित रहनेकी तो किर परिशेष न्यायसे योजना कर ली जाती है। यानी तीन लोकका निरूपण कर चुकनेपर तियंचोंका यहां कथन करना उनके सर्व लोकमें व्याप कर ठहरनेको ध्वित करता है।

तिर्यग्योनयो द्विविधाः सूक्ष्मा बाबाराञ्च, सूक्ष्मबावरनामकर्मद्वैविध्यात् । तत्र सूक्ष्माः सर्वलोकवासिनः, बादरास्तु नियतावासा इति नियतावासामेदनिरूपणं तिर्यग्योनिञ्जदनिरुक्तया लक्षणनिरूपणं तिरञ्ज्ञोन्याभूतोपबाह्या योनिर्येशां ते तिर्यग्योनय इति । मनुष्यादीनां केषांचित् परोपबाह्यत्वात् तिर्यग्योनित्वप्रसंगादिति चेन्न, तिर्यग्नामकर्मोदये सतीति वचनात् ।

तिर्यंच जीव दो प्रकारके हैं। नाम कर्मकी सूक्ष्म प्रकृति और बादर प्रकृति इन दो प्रकारके कर्मों के उदय अनुसार हुये सूक्ष्म और बादर ये दो प्रकारके तिर्यंच है। उन दो भेदोमे पृथिवी अप्, तेज, वायु, वनस्पितकायिक सूक्ष्म तिर्यंच संपूर्ण लोकमें निवास कर रहे हैं। और बादर हो रहे पृथिवी, तेज, अप्, वायु, वनस्पित, और विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच तो नियत हो रहे क्वचित् स्थानोपर निवास करते है। इस प्रकार तिर्यंचों के नियत हो रहे निवास-स्थान और भेदोंका निरूपण कर दिया गया है। तिर्यंग्योनि इस शहकी निरुक्ति करके निर्यंचों के लक्षणका निरूपण कर दिया जाता है। योगिक शहोकी निरुक्ति कर देनसे बाच्यार्थका लक्षण सम्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार कि पाचक, पालक, पालक, शहों के निवंचनसे ही रसोइया आदिके इतर व्यावर्तक लक्षण हो जाते है, इसी प्रकार यहां भी तिरक्ची न्यग्भूता यानी छिपी हुई जिनकी योनि उपजी है, वे जीव तिर्यंग्योनि हैं। अथवा उपवाह्या यानी तिरस्कृत हो रही योनिको घारनेवाले जीव तिर्यंग्योनि जीव हैं। भावार्थ—तिर्यंचों करके अथवा मनुष्यों करके जो पद पदपर तिरस्कारको प्राप्त हो रहे है, वे तिर्यंग्योनी जीव हैं। यहां कोई अतिप्रसंग दोष हो जानेकी शंका करता है कि किन्ही किन्ही मनुष्य, देव, आदिकोंका भी दूसरोंके द्वारा तिरस्कार हो रहा है। जतः उनको भी तिर्यंग्योनिपनका प्रसंग हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यर्थ

तो नही कहना। वयोंकि अन्तरंगमें तिर्यंग् नाम कर्मका उदय होते सन्ते जो उपबाह्य हैं, वे तिर्यंव हैं। इस प्रकार दचन कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। निहक्तिके साथ थोडा विशेषण और लगा दिया जाता है।

संप्रति भवनवासिनां तावदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनार्थमाह ।

उमास्वामी महाराजके प्रति किन्हीका पृष्टव्य है कि भगवन् ! अब इन जीवोंकी 'स्थिति कहनी चाहिये। नारकी, मनुष्य, तिर्यचोंकी स्थिति तो आपने कह दी। देवोंकी नहीं कही है। अतः देवोंकी आयु किम प्रकार है ? यों पृष्टव्य होनेपर सबसे पहिले भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार इस अवसरपर अग्निम सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्धहीनमिता ॥ २८ ॥

भवनवासियों में असुरकुमारोंकी एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। नागकुमारोंकी तीन पत्योपम परिमित है। सुपर्णकुमारोंकी आधा पत्यहीन यानी ढाई पत्योपम परा स्थिति है। द्वीपकुमारोंकी उससे आधे पत्य हीन यानी दो पत्योपम है। शेष छह प्रकारके भवनवासियोंका उससे भी आधापत्य कम अर्थात्—डेढ अद्धापत्योपम काल परिमित उत्कृष्ट स्थिति है।

असुरादीनां सागरीपमादिमि रिम संबंधी ययाक्रमं।

असुरकुमार, नागकुमार, आदिको सागरोपम, त्रिपल्योपम, आदिके साथ क्रमका अतिकम नहीं कर उद्देश्य विधेय अनुसार संबंध कर लेना चाहिये। यों इस सूत्रके छोटे पांच बाक्य बना लिये जाय।

सूत्रकार अव क्रमप्राप्त हो रही व्यन्तर और ज्योतिष देवोका उल्लंघन कर वैमानिक देवोंकी स्थितिको कहते हैं। क्योंकि भविष्यमें सरल उपायसे उनकी स्थिति कह दी जायगी। उन वैमानिकोंके आदिमें कहे गये पहिले युगलकी स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥ २९ ॥

सौधर्मं और ऐशान स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है। द्विचननिर्देशाव्दित्वगतिः, अधिके इत्यधिकार आसहस्रारात्।

सागरोपमें यह शब्द द्विवचन " औ " विभिन्तिका रूप है। अतः द्विवचनका कथन कर देनेसे द्वित्व संख्याकी ज्ञप्ति हो जाती है, यानी दो सागर यह अर्थ निकल आता है। जैसे घटों का अर्थ दो घट है। इस सूत्रमें " अधिके " यह अधिकार पद है, जो कि सहस्रार स्वर्गतक जान लेना चाहिये। क्योंकि "त्रिक्षःत" अ।दि सूत्रमें अधिकारका निवर्तक सुशब्द पडा हुआ है।

सूत्रकारके व्यर्थ सारिखे पडे हुये शब्द न जाने किन किन अनेक अयोंका ज्ञान करते हैं। मावार्य-यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र प्रतोन्द्र आदि देवोंको है। सौधर्म ऐशान स्वर्गके देवोंको देवियोंको स्थिति तो "साहियपस्लं अवरं कप्पदुगित्योण पणग पडमवरं। एकारसे चडके कप्पे दो सत्त-परिवड्ढी" इस त्रिलोकसारको गाथा अनुसार प्रथम युगल सम्बन्धी देवियोंकी जघन्य आयु साधिक पल्य है और सौधर्म देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पत्य एवं ऐशानमे सात पल्य है। सोलहवें स्वर्गमे देवियोंकी आयु पचपन पत्य है। "दिक्खण उत्तर देवी सोहम्मीसाग एव जायंते। तद्देवीओ पच्छा उपरिम देवा णयन्ति सगठाणं"। दक्षिण उत्तर बारह कल्पोंमें रहनेवाले कल्प-वासी देवोंकी देवियां सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें ही उपजती है। पोछे उन देवियोंको नियोग अनुसार उपरले देव अपने अपने स्थानका ले ज ते हैं।

अव श्री उमास्वामी महाराज दूसरे कल्प युगलकी स्थितिको विशेषतया समज्ञानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते है।

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र नामक तीसरे, चौथे, स्वर्गोमें निवास कर रहे देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर की है। घातायुष्क सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा आधा सागर आयु अधिक हो जाती है। यह स्टबर्था संक्षिमें से लेदर सहस्रार पर्यत्त तक समझनी चाहिये। उसके कपर घातायुष्क जीव उपज नहीं पाता है।

अधिकारात् सागरोऽमाधिकानि चेति सप्रत्ययः।

अधिकार वला आरहा होनेसे सागरोपम और अधिक शब्दोंकी अनुवृत्ति हो जाती है। इस कारण सानः कुमार और माहेन्द्रे में बुछ अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट आयु है। यह समीचीन प्रत्यय हो जाता है। " अर्थवशात् विभक्ते विपरिणामः " इस नीतिके अनुसार यहाँ "सागरोपम" और "अधिक" पदोंको बहुववनान्त कर लिया जाता है।

श्री उमास्वामी महाराज ब्रह्मालोक स्वर्गमे आदि लेकर अच्युत पर्यन्त स्वर्गोमें निवास कर रहे देवोंकी उरकृष्ट स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोमें तीनसे बिधक हो रहे सात सागर यानी दसनागरोपप उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोमें सात करके अधिक हो रहे सात सागर यानी चोदह सागरकी स्थिति है। गुक महागुक में नो सागरसे अधिक हो रहे सात सागर यानी सोलह सागरकी बायु है। शतार सहस्रार स्वर्गोमे ग्यान्ह सागरसे अधिक होरहे सात सागर अर्थात् अठारह सागरकी स्थिति है। यहांतक अधिक शब्दका अधिकार चला आ रहा है। अतः

उक्त स्थितियोंको घातायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी अर्थका आधा सागर अधिक समझना । आनत, प्राणत स्वर्गोमें तेरह अधिक सात सागर यानी वीस सागरोपम काल उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें पद्धह करके अधिक सागर अर्थात्—बाबीस सागरकी स्थिति है। तु शब्दका प्रयोजन सहस्रारतक ही अधिक शब्द की अनुवृत्ति करना है।

सप्तेत्यनुवर्तते, तेन सानत्कुमारमाहें द्रयोष्ठपरि द्वयोः कल्पयोः सप्तसागरोपमाणि त्रिमि-रधिकानि इति दश साधिकानि स्थितिः, तयोष्ठपरि द्वयोः कल्पयोः सप्त सप्ताधिकानीति चतुर्दे-शाधिकानीति, तयोष्ठपरि द्वयोः सप्तनविषरिधकानीति चोडशाधिकानि, तयोष्ठपरि द्वयोः सप्त-कावशिषरिधकाने त्यप्टदशाधिकानि, तयोष्ठपरि द्वयोरानतप्राणतयोः सप्त त्रयोदशिषरिधकानीति विश्वतिरेष, तयोष्ठपरि द्वयोरारणाच्युत्रयोः सप्तयंवदशिषरिधकानीति द्वाविश्वतिरेष । सु शब्दस्य विश्वणार्थत्वात् । आसहस्रारादिधकारात् परत्राधिकानीत्यिभसंबंधाभावः ।

पूर्व सूत्रसे सप्त इस शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस कारणसे यह अर्थ हो जाता है। सानत्कूमार, माहेंद्र, स्वर्गीके ऊपर दो कल्गोंमें तीनसे अत्रिक सात सागर स्थिति है। इस कारण उत्कृष्ट रियति कुछ अधिक दस सागर की है। उन दो ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर स्वर्गीके ऊपर दो करपोमें सात अधिक सात सागर इस प्रकार साधिक चौदह सागर इतनी उत्कृष्ट स्थिति हैं। उन लास्त्व कापिरठोके ऊपर वर्त रहे दो जुक महाजुक स्वर्गीमें नौसे अधिक सात सागर यों कुछ अधिक सोलह सागरोपम उन्कृष्ट स्थिति है। उन शुक्र महाशुक्रोंके ऊपर ठहर रहे शतार सहस्रार, स्वर्गोमें ग्यारहसे अधिक हो रहे सात सागर यों आधा सागर अधिक अठारह सागरकी उरकृष्ट स्थिति है। पुनः उन शतार सहस्रार दो स्वगोंके आधा राज्य ऊपर बर्च रहे दो आनत, प्राणत स्वर्गीमें तेरहसे अधिक हो रहे सात सागर यों केवल वीस ही सागरकी उन्कृष्ट आयु है। उन आनत प्राणतोंके आधा राजू ऊपर वर्त्त रहे दो आरण, अच्युत, स्वर्गीने देवोंका आयुष्य पन्द्रह करके अधिक सात सागर इस प्रकार शुद्ध बाईस ही सागर उत्कृष्ट आयुष्य हैं। सूत्र में पडे हुए तु शब्दका अर्थ कुछ विशेषण लगाकर विशेषता कर देना है। अतः सहस्रारपर्यंत अधिक शब्द का अधिकार है। नेसे परली और आनत आदिमें बीस, बाईस, इन दो स्थलोंपर सागरके साथ अधिकानि शब्दके सम्बन्ध करनेका अभाव हो जाता है। बात यह है कि घातायुष्क सम्यन्दृष्टि की आयु यि साडे सात सागर होगयी है तो वह सानत्कुपार माहेंद्र स्वर्गोपें उपजेगा। हां, अन्य साडेसात सागर आयुवाला जीव ब्रह्मा, ब्रह्मोत्तर. स्वगोंमें जायगा। इसी प्रकार जिस घातायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्यके साडे अठारह सागर स्थितिवाली देवायुष्यका सद्भाव है, वह शतार, सहस्रार स्वर्गीमे जन्मेगा और शेष साडे अठारह सागर देवायुष्यवाला जीव आनत प्राणत स्वर्गीमें जायगा।

यहांसे छह राजू ऊपरतक निवस रहे उन आरण, अच्युत, स्वर्गोंके ऊपर अहमिन्द्र-वैमानिक देवोंकी स्थिति कितनी है ? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिए उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु हैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ चा। ३२॥

आरण और अच्युत स्वर्गोंसे ऊपर नवग्रैत्रेयको में प्रत्येक में एक एक सागरसे अधिक हो रही स्थिति समझ लेनी चाहिये। अर्थान्—तीन अद्योग्रैत्रेयकों ने पहिले सुदर्शन ग्रैत्रेयकमें तैईस सागरकी स्थिति है। दूपरे अमोघ ग्रैत्रेयकमें चौतीससागरकी तीमरे मूप्रबुद्ध नामक ग्रैत्रेयकमें अहिमिन्द्र देवोंकी पञ्चीस सागर उन्कृष्ट स्थिति है। तीन मध्यम ग्रैत्रेयकों में पहिले यशोधर नामक ग्रैत्रेयकमें छन्तीस सागर स्थिति है। दूसरे सुभद्र नामक ग्रेत्रेयकमें सत्ताईस सागर और तीसरे सुविशाल ग्रैत्रेयकमें अहुईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। कारले तीन ग्रैत्रेयकोमेसे सुभनस नाम ग्रैत्रेयकमें उन्तीस सागर और दूसरे सौमनस ग्रैत्रेयकमें तीस सागरकी तथा तीसरे प्रीतिकर ग्रैत्रेयकमें इकतीस सागरकी उन्कृष्ट स्थिति है। नी अनुदिश विमानों में एक से अधिक इकतीस यानी बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिकमें एक करके अधिक बत्तीस अर्थात्—तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वार्थिसिद्धमें जघन्य, उत्कृष्ट, दोनों भी स्थितिया परिपूर्ण तेतीस सागरोपम हैं।

अधिकारादिधकसंबंधः । ग्रैवेयकेश्यो विजयादीनां पृथग्यहणमनुदिशसंग्रहार्थं । प्रत्येक मेकेकवृद्धधिमसंबंधार्थं नवग्रहणं । सर्वौर्थतिद्धस्य पृथग्ग्रहणं विकल्पनिवृत्यर्थं ।

"सीधर्मेशानयोः सागरोपमेऽधिके "इस सूत्रके अधिक शब्दका अधिकार तो पूर्व सूत्रके समासगित चार पदोतक ही लागू होता है। किन्तु " विसप्त " आदि सूत्रमे पडे हुए अधिक शब्दका अधिकार हो जानेसे यहां उसका सम्बन्ध कर लिया है। तिस करके उक्त अर्थ निकल स्नाता है। ग्रेवेयक और विजय आदि दो पदोंका समास नहीं कर ग्रेवेयक से विजय आदिका पृथ्ग ग्रहण करना तो नौ अनुदिश विमानोंका संग्रह करनेके लिये है। अनुदिशके नौऊ धिमानोंभे केवल एक सागरकी ही वृद्धि होती है। हां, ग्रेवेयकोंभें प्रत्येक ग्रेवेयकके साथ एक एक सागरकी वृद्धि हो जानेका नौऊ ओर सम्बन्ध करनेके लिये नव शब्दका ग्रहण है। अर्थान्न नव शब्द नहीं कह कर केवल ग्रेवेयकेषु इनना हो कह देते तो विजय आदिके समान नौऊ ग्रेवेयकोंमे एक हो सागर अधिक बढता। नवसु कह देनेपर तो नौ स्थानों र प्रत्येकमें एक एक सागरका अधिकपना प्रतीन हो जाता है। सर्वार्यतिद्धिका पृथक् ग्रहण करना तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिके विकल्पोंकी निवृत्तिके लिये है।

का पुरुरियं मवनवास्यादीनां स्थितिरुक्तेत्याह।

भवनवासी अदि देवोंकी किर यह उत्कृष्ट या जवन्य स्थिति क्या कही जा चुकी है? बताओं तो सही। इस प्रकार आशंका होने रर ग्रंथकार उत्तरवात्तिकको कहते हैं।

स्थितिरित्यादिसृत्रेण योक्ता भवनवासिनां । विशेषेण स्थितियां च तदनंतरकीर्तिता ॥ १ ॥ स्रेश्चतुर्भिरभ्यासाद्यथागममशेषतः। परावेमानिकानां च सोत्तरत्रावरोक्तितः॥ २ ॥

" स्थितिरमुरनाग " इत्यादि सूत्र करके उमास्त्रामी महाराजने भवनवासी देवोंकी विशेष रूपसे जो स्थिति कह दी है और उसके अव्यवहित पश्चात् आगमपरिपाटीका अतिक्रम नहीं कर स्वकीय घारणानुरूप अभ्याससे इन चार सूत्रोंकर को सम्पूर्ण वैमानिक देवोंकी स्थितिका कीर्तन किया है, वह स्थिति उस्कृष्ट समझ लेमी बाहिये। क्योंकि उत्तरवर्ती पिछले प्रत्थमें भवनवासी या वैमानिक देवोंकी अधन्यस्थितिका निरूपण किया जानेवाला है। भावार्थ-आयुष्यका निरूपण करते हुए सूत्रकारने इन पांच सूत्रोंकें परा या जवन्या कोई शब्द नहीं डाला है। ऐसी दशामें उक्त स्थिति उन्कृष्ट समझी जाय? या जवन्य ? इसका कोई निर्णायक नहीं है। विना स्वामीके मालको जिसके हाथ पड़े वहीं हड़प ले जाता है। इस विषयका निर्णय ग्रंथकार यों कर देते हैं। जब कि जवन्यस्थितिका वर्णन भविष्यमें किया जायगा तो अर्था क्या सिंह है कि यह देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति है। पुण्य अनु नर प्राप्त हुए हृदयसे काम लेना चाहिये। हृदयके सहकारी हो रहे मस्तिष्क अवयत मला किर किस रोगको ओषिब है ?

अवरायाः स्थितेरतरत्र वचनादिह मवनवासिनामेकेन सूत्रेण वैमानिकानां च चतुर्भिः सूत्रीविशेषेण या स्थितिः शोक्ता सा परोत्कृष्टेति गम्यते ।

जयन्य स्थितिका उत्तरवर्ती यथमें जब निकाण किया जायगा, इपसे सिद्ध है कि यहां एक सूत्र करके भवनवासियों को और चार सूत्रों करके वैमानिक देशों की जो विशेष करके स्थिति ठीक कही गयी है, वह परा यानी उत्कृष्टा समझनी चाहिये। यह अनुमानसे जान लिया जाता है।

का पुनरवरेत्याह ।

फिर जघन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार विनीत शिष्योंकी जिज्ञासा होने ।र सूत्रकार अपिम सूत्रको विश्वदरीत्या कहते है ।

अपरा पल्योपममाधिकम् ॥ ३३ ॥

देवोंकी जघन्य स्थिति तो कुछ अधिक एक पत्योपम है। यह जघन्य स्थिति सीधर्म ऐशान स्वगंवासी देवोंकी समझी जाती है।

परिशेषात्सौधर्मेशानयोर्देवानामवरा स्थितिरितं दिशायते, ततोन्येवामुत्तरत्र अधन्यस्थिते-र्वक्यमाणत्यात् । परिशेष न्यायसे सौधमं और ऐशान कल्पों हें ठहरनेवाले देवों की यह जयन्य स्थिति विशेषतया समझी जाती हैं। तिस कारणसे कि उत्तरवर्ती ग्रंथमं अन्य सानत्कुमार माहेंद्र आदिक अपराजित पर्यन्त देवों की जबन्यस्थिति कही जानेवाली है। अतः यह शेष रहे प्रथम कल्प्युगलके देवों की ही जबन्यस्थिति परिशेष न्यायसे ज्ञात कर ली जाती है। अर्थात् '' प्रसक्त शतिष्धे शिष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः परिशेषः '' अन्यत्र प्रसंग प्राप्तों में विश्वेयान्तरका सर्भात्र या प्रकृत अर्थकी बाधा होनेपर शेष बच रहे उद्देश्यमें ही अनुमानस्वरूप परिशेष प्रमाणसे प्रकृत अर्थका विधान अनुमित कर लिया जाता है।

पल्योपममतिरिक्तमवरास्थितिमववीत्। सोधर्मेशानयोः सेह सूत्रेर्थात्संप्रतीयते॥ १॥

सूत्रकार उमास्वामी महाराज कुछ अधिक पत्योगम परिमाण जयन्य स्थितिको जो इस सूत्रद्वारा कह चुके हैं वह जयन्य स्थिति इस सूत्रमें सीवर्म और ऐशानितवासी देवोंकी है, यह बात कहे विना ही अर्थापत्ति करके भले प्रकार प्रतीत हो जाती है। क्योंकि अगले सूत्रमें सान-स्कुमारमाहेन्द्र देवोंसे लेकर विजयादि पर्यन्त देवोंकी जयन्य स्थिति कण्ठोक्त करदी जाने वाली है।

तत एवानंतरसूत्रेण सानत्माकुमारादिषु जघन्या स्थितिरुच्यते।

तिस हीं कारण यानी इस सूत्रद्वारा पहिले करूपयुगलकी जवन्यस्थितिका निरूपण हो जानेसे ही अध्यविहत अगले सूत्र करके सानत्कुमार माहेन्द्र आदि स्वर्गोके देवोमें पायी जारही जयन्य स्थिति अब कही जा रही है। उसको सुनो।

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ३४ ॥

" आद्यादिभ्य उपसंख्यानं " इस नियम करके परतः यहां सप्तमी अर्थमें तिस हुवा ह। पर परदेशमें अध्यवहित पूर्व पूर्वकी उत्कृष्ट स्थित जवन्य हो जाती है अर्थात् - प्रव्यवहित पहिले कल्य युगलों या प्रस्तारों में जो उत्कृष्ट स्थिति है वह परले परले कल्प युगलों या प्रस्तारोमें जघन्य हो जाती है। नीचेवालोंकी जघन्यस्थिति एक समय अधिक होती हुई उत्तरले प्रस्तार या कल्पोमें जघन्य जान लेनी चाहिये।

अपरेत्यनुवर्तते, तेन परतः परतो या च प्रचमा स्थितिः सा पूर्वापूर्वानंतरा परस्मिन्नवरा स्थितिरिति संप्रत्यपः । अधिकग्रहणानुवृतेः सातिरेकसंप्रत्ययः । आविजयाविभ्योधिकारः। अनंतरेति वचनं व्यवहितनिवृत्त्यर्थं । पूर्वेत्त्येतावस्युच्यमाने व्यवहितग्रहणप्रसंगस्तत्रापि पूर्वेशद्वप्रवृत्तेः ।

पूर्वसूत्रसे यहां अपरा इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है। तिस कारण इस प्रकार समिचीन प्रते ति हो जाती है कि परली ओर परली ओरसे या परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों में जो प्रथमा स्थिति वह अय्यविहत पूर्व पूर्वकी स्थित उपर उपर परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों ने जवन्या स्थिति हो जाती है, इस सूत्र में पूर्व सूत्र में बाद काइके प्रहणकों बनुवृत्ती बली का रही है। इस कारण साधिक का सभीचीनज्ञान हो जाता है। यह अधिक का अधिकार विजय आदि अनुत्तरोंतक जान लेना चाहिये। अर्थात्—सौधर्म और ऐशानमें जो साधिक दो सागर स्थिति कही जा चुकी है वह स्थिति कुछ अधिक यानी एक समय अधिक होकर सानत्कु मार माहेन्द्र कल्पोमें जयन्यस्थिति हो जाती है। बाग्हमे स्वर्गतक एक तो साधिक पना गाँटका ही है, दूसरा एक समय अधिकपना यह संपूर्ण वैमानिकों की जयन्य स्थितियोमें लागू करिलया जाता है। इस सूत्रमें अव्यवहित इस अर्थका बाचक "अनन्तरा" इस पदका कथन करना तो व्यवहित पूर्वोकी निवृत्तीके लिये है। यदि "पूर्वापूर्वी" मों इतना ही कथन कर दिया जायगा तब तो व्यवधान युक्त हो रहीं पूर्व स्थितियोंके प्रहण होजानेका भी प्रसंग होगा। वयोंकि व्यवधानयुक्त उन पहिले पदार्थों भी पूर्व कव्यवधान पडरहे पदार्थकों भी पूर्व कह विया गया है। बत: व्यवधानयुक्त उन पहिले पदार्थों को सका व्यवधान पडरहे पदार्थकों भी पूर्व कह दिया गया है। बत: व्यवहित पूर्व सौधर्म, ऐशानोंमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह काम्तवकापिष्टोंको जघन्य स्थिति हो जायगी। इस प्रकारके अनिष्ट अर्थोंकी प्रतीतियां नहीं होने पाती है। तब तो अनन्तरा काव्यका सूत्रमें उपादान करना सफल है।

नारिक योंकी उत्कृष्ट स्थिति कही जा चुकी है। जबन्य स्थितिको अभीतक सूत्रमें नहीं कहा गया है। अतः लघु उपाय करके प्रकरणप्राप्त नहीं भी होरहीं नारिकयोंकी स्थितिको सम-झानकी इच्छा रख रहे सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

दूसरी बंशा तीसरी मेघा आदि सातवीतक छह पृथिवियोमें नारकी जीवोंकी अव्यव-हित पूर्वपूर्वकी स्थिति परले परले प्रस्तारों और नरकों में जबन्य हो जाती है। अर्थान्-पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट होरही एक सागरोपम आयु दूसरे नरकमें जबन्य समझी जाती है। इसी प्रकार नीजे नीचेकी ओर लगा लेना। एक समय अधिक जोड लिया तो अच्छा है। अन्यथा भव परिवर्तनमें कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी।

किमर्थं नारकाणां अघन्या स्थितिरिह निवेदितस्याह ।

बहाँ किसीका कटाक्ष है कि प्रकरणके विना ही नार्राक्योंकी अधन्यस्थितिका यहाँ किसलिये निवेदन किया गया है अर्थात् कितपय प्रकरणकी बातें छूटीं जा रही हैं और अप्रकृतोंको स्थान दिया जा रहा है। यह कौनसा न्याय है? जती या आश्रित जनोंको आहार दान नहीं देकर ठलुआ भरिष्ट्रो मनुष्योंको सादर भोजन कराना उचित नहीं है। इस प्रकार सूत्र-कारके ऊपर आक्षेप प्रवर्तने पर श्रीविद्यानंद स्थामी समाधानकारक वार्तिकको कहते हैं।

सानत्कुमारमाहद्रशभृतीनामनंतरा। यथा तथा द्वितीयादिपृथिवीषु निवेदिता ॥ १॥ नारकाणां च संक्षेपादत्रैव तदनंतरा॥

जिस प्रकार उपरले सूत्रमें निचले देवों की अध्यवहित पहिली पहिली उन्हाष्ट स्थिति सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि उपरिम देवों की जघन्य स्थिति कह दी गयी है, उसी प्रकार दिनीया खादि पृथिवियों में उपरिम नारिकयों की अध्यवहित पूर्वं वित्ती उन्हाष्ट स्थितिका परली और निचले नारिकीयों की जघन्यस्थिति हो जाना, यहां ही सक्षे से निवेदत कर दिया गया है। सर्वत्र जघन्य स्थितिको पूर्वं पटलकी अपेक्षा एक समय अधिक समजना चाहिये।

बेवस्थितित्रकरणेपि नारमस्यितिववनं संक्षेतार्यं ॥

देवों की स्थितिके निरूपणका प्रकरण होने पर भी यहाँ नारिकयों की जधन्यस्थितिका सूत्र कथन करना संक्षेपके लिये हैं। भावार्थ—जिससे कि दो बार अपरा इन तीन अक्षरों को नहीं कहना पड़ा। "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीय." सूत्र तो वही है जिससे कि छेटा या पतला दूसरा वाक्य नहीं बन सके। तीसरे अध्यायमें नारिकयों को उन्नष्ट स्थितिकों कहते समय यदि जघन्यस्थितिकों कहा जाता तो वहा "अपरा" शद्धका प्रयोग करना पड़ता "परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा" का भी बोझ बढ जाता तथा पहिली पृथिदी में जघन्य स्थितिका निरूपण करते समय भी अपरा शद्ध कहना पड़ना । अतः रंगिवरगे धारीदार कपडेमें जैसे एक रंगिक कई सूत्र जसी स्थानपर पिरे दिये जाते हैं अथवा ब्याकरणमें गत्व विवायक या दीर्घित्रायक कई सूत्र जैसे एक स्थलपर पढ़ित्ये जाते हैं, उसी प्रकार यहां भी आयुष्यविद्यायक कई सूत्र रचे गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यत्व और अर्थ उतना ही प्राप्त हो जाता है।

शकरात्रभा आदिमें जघन्यस्थिति यदि कही जा चुकी है तब तो लो हाथ पहिली नरकमूमिमें वर्तरहे जघन्यस्थितिका भी निरूपण कर दिया जाय, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पहिली नरकभू निर्में नारकी यों की दश हजार वर्ष जवन्य स्थिति है, जो कि तेरहाटल बाली घम्मा पृथिवीके पटलक्षी मंतकमे प्रवर्त रही है।

पृथिव्यां नारकाणानवरास्थितिरिति घटनीयं ।

" सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति " इस नीतिके अनुसार कुछ इधर उधरके बार पदोंको मिलाकर इस प्रकार सूत्रका वर्षे बटित कर छेना बाहिये कि पहिली पृथिबीके सारू-कियोंकी जयन्य स्थिति दश हजार वर्षे हैं।

अब भवनवासियों की जवन्य स्थिति क्या है ? ऐसी बुभुस्ता होनेपर उमास्वामि मह-राज विश्वमसूत्रको कहते हैं।

भवनेषु च ॥ ३७॥

भवनवासी देवों की जबन्य स्थिति भी दश हजार वर्ष है। पूर्वोक्त विश्वेय दलका क शब्द करके समुख्यय कर लिया जाता है।

बन्नवर्षसहस्राणि देवानामवरा स्थितिरिशि संप्रत्ययः।

मवनों ने निवास कर रहे देवों की जवन्य ियति दश हुजार वर्ष हे, यों कतिपव पदीं का उपस्कारकर भली प्रतीति कर छी जाती है।

तन तो व्यन्तर देवोंकी जवन्य स्थिति नया है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्षनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

व्यंतर देवोंकी भी जवन्य स्थिति दश हजार वर्षकी समझ लेती चाहिये।

अपरा स्थितिर्दश्चवंसहस्राणीति च शब्देन।

इस सूत्रमे पडे हुये च शब्द करके अपरा स्थिति, दशवर्षसहस्राणि, इस प्रकार तीन पदोंका समुच्चय यानी अनुकर्षण कर लिसा जाता है। अतः व्यंतरोंकी ज्ञचन्य स्थिति दशसङ्ख वर्ष है, यह वाक्यार्थ वन जाता है।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामुदीरिता । भवनेषु च सा शोका ब्यंतराणां च तावती ॥ १ ॥

उनत तीन सूत्रों करके उमास्यामी महाराजने पहिली पृथिवीमें जवन्य आयु दस हजार वर्ष कह दी है और भवनवासिक्षोमें भी वह जवन्य स्थिति उतनी ही बहुत वच्छी निरूप दी है तथा व्यन्तरोंकी जवन्य स्थिति भी उतनी ही यानी दशह्यार वर्ष कही जा चुकी है। यह उनत तीनों सूत्रोंकी एकत्रित एक वार्तिक है।

मण व्यन्तराणां वरा का स्थितिरिकाह ।

अब महाराज यह बताओं कि व्यन्तरों को उत्कृष्ट स्थित क्या है ? इस प्रकार तत्त्व विज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उपास्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको उतारते हैं।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

किन्नर आदि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्योपम काल है। स्थितिरिति संबंध:।

इस सूत्र में कहे गये परा शब्द के साथ "ियति "इप शब्द का सम्बन्ध जोड लेना चाहिये। जिससे कि व्यन्तरों की उक्तब्द स्थिति एक पत्यसे कुछ अधिक है। यों अर्थ घटित हो जाता है।

इम अवसरपर आयुष्यके प्रकरण अनुसार ज्योतिष्क देवों की स्थिति कह दी ज.य तो सुगम होगी। यो आकांक्षा प्रवर्तनेपर मूल सूत्रकार अग्निम सूत्रका निरूपण करते हैं।

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

चन्द्रमा, सूर्य, आदि ज्योतिष्कोंकी उरकृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्य है। पत्योपमनधिकं परा स्थितिषटना ।

यहां भी च झब्द करके प्रकरण प्राप्त पत्थोपम. अधिक. परा, स्थिति, इन शब्दोंका समुख्यय कर यों अर्थ घटित कर लेना चाहिये कि ज्योतिष देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पत्थोपम है।

अब ज्योतिषियोकी जवन्य स्थितिका परिज्ञान कः। नेके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते है।

तद्ब्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

ज्योतिष देवोंकी जघन्य स्थिति उस पत्योपमके आठमें भाग है जो कि असंख्यात वर्षोंकी समझनी चाहिये।

स्थितिज्योतिष्काणामिति संप्रत्ययस्तेषामनंतरस्वान् ।

स्थिति और ज्योतिष्काणाम्, इन पद्यों हा अनुकर्षण कर समीचीन प्रत्यय कर सिया जाता है। क्योंकि वाक्यार्थके सम्पादक वे पद अव्यवहिन पूर्व सूत्रों में उपात्त हो रहें हैं।

> परेषामधिकं ज्ञेयं पल्योपममवस्थितिः । ज्योतिष्काणां च तद्धत्तदष्टभागोऽ।रोदिता ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने उनत तीन सूत्रों में दूसरे व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्य समझने योग्य बना दी है और उन्हीं के समान ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक पत्य नह दी है। तथा तीसरे ''तदष्टमागोपरा " सूत्र करके उन ज्योतिषियों की जनन स्थिति उस पन्यके आठवें भाग कह दी है। जैसे कि " दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यन्तराणां च " इन तीन सूत्रों को निलाकर एक वार्तिक इलोक बना दिया गया है उसी प्रकार ''परात्योगमधिकं, ज्योतिष्काणां च, तदष्टमागोऽपरा " इन तीन सूत्रों को मिलाकर यह एक वार्तिक इलोक बना दिया है।

यया व्यन्तरामां पत्थोपममधिकं परा स्थितिः तद्वत् ज्योतिष्काणामपि तद्वेषे तद्वट-भागः पुनरवरा स्थित्वर्योतिष्काणां प्रतीता ।

जिस प्रकार व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्य उन्तालीसवें सूत्रमें कह दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी भी वह साधिक पत्य उत्कृष्ट स्थिति चालीसवें सूत्रमें कह दी गयी समझ लेनी चाहिये। पुनः इकतालीसवें सूत्रमें उस पत्यके बाठमे भाग ज्योतिक देवोंकी जचन्य स्थितिकी प्रतीति कराई है।

अय मध्यमा स्थितिः कुतीवगम्यत इत्याह ।

अब किसीका आक्षो है कि मनुष्य, तियंच, देव, नारिकयों की उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिक। हमने परिज्ञान कर लिया है। किन्तु सूत्रकारने मध्यम स्थितियोंका निरूपण नहीं किया है। अतः बताओं कि मध्यम स्थितिकों किस ढंगसे समझ लिया जाय ? ऐसा आक्षेप प्रवर्तनेपर आखार्थ विद्यानंद स्वामी वातिक द्वारा यों समाधान कहते हैं।

सामर्थ्यानमध्यमा बोध्या सर्वेषां स्थितिरायुषः । माणिनां सा च संभाव्या कर्मवैचित्र्यसिद्धितः ॥ २ ॥

"तन्मध्यपिततस्त ज्यहणेन गृहाते" इस नियम अनुसार चारों गित सम्बन्धी संपूर्ण प्राणियों के आयुष्यकी मध्यमिश्यित तो विना कहे ही अर्थापत्या सामर्थ्यसे समझ स्त्री जाती है। अर्थात् जिस पदार्थका आदि और अन्त होता है, उसका मध्य अवध्य होता है। अनन्त भूतकाल और उससे भी अनन्त गुणा अनन्त भविष्यकालका मध्यवर्ती वर्त्तमानकाल एक समय है। फिर भी आपेक्षिक वर्तमानगना बहुत समयोंको प्राप्त है। यथायंमें एक आदिके पदार्थ और एक अन्तके पदार्थको छोड कर सभी स्थानोंको मध्यमपना मुलभ है। अतः अधिक सम्मितयों (बोटों) अनुसार ग्रहण किये गये मध्यम स्थानोंको सध्यमपना मुलभ है। अतः अधिक सम्मितयों (बोटों) आनुसार ग्रहण किये गये मध्यम स्थानोंको सव्यक्त शब्दोंके विना ही आवश्यक रूपसे उपादान ही जाता है। और वह अनेक प्रकारकी स्थितियोंका सद्भाव तो पौद्गलिक कर्मोंके विवित्रपनकी सिद्धि हो जानेसे सम्भावना करने योग्य है। अर्थात्—अपने अपने परिणामों करके उपाजित किये गये विवित्र कर्मों अनुसार जीवोंको नाना प्रकार आयुःस्थितियां वन बैठती हैं।

ननु यद्वद्घरादीनां विचित्रा स्थितिरिष्यते । कर्मानपेक्षिणां तद्वदेहिनाभिति ये विदुः ॥ ३ ॥ तेनऽनभिज्ञा घरादीनामपि तद्भोनतृ कर्भभिः । स्थितेर्निष्पादनादृदृष्टे कारणव्यभिचारतः ॥ ४ ॥

पौद्गलिक सुक्ष्म कर्भोको नही माननेनाले चार्वाक यहां स्वकीय पक्षका अवधारण करते हुये आमंत्रण करते हैं कि जिस प्रकार कर्मों के सम्बन्धकी नही अपेक्षा रख रहे घट, पट, शकट आदि जड पदार्थोंकी विचित्र स्थितियां हो रही इष्ट कर लीं जाती हैं। उसी प्रकार क्षरीरधारी प्राणियोकी भी कर्मोंकी नहीं अपेक्षा रखती हुई जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, आयुः स्वरूप स्थितियां बन जाओ । इस प्रकार जो नास्तिक समझ बैठे है, आचार्य कहते है कि वे चार्वाक विचारे कार्यभारणभावकी पद्धतिको स्वत्प भी नही समझते है। क्योंकि घडा, कपडा, छकडा आदिकी भी विचित्र स्थितियों का उनके भोगनेवाले जीवोंके कर्मों करके उत्पादन किया जाता है। लोकमें आबालवृद्ध प्रसिद्ध देखे जा रहे परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्-एक घडा दो दिन भी चलता है। जब कि उसी कुम्हार उसी मट्टी आदि कारणोसे निष्पन्न हुआ दूसरा घडा पांच वर्षमे भी नहीं फूटता है। चाक, अवा, खान, कुलाल, जल, अग्नि, थे दृष्ट कारण जब वे ही है. तब फिर दो घडोकी "टिकाऊ स्थितिमे इतना बडा अन्तर क्यों दीसता है ? इससे सिद्ध है कि घडोंका क्रम, विकय, करनेवाले या उसके शीतल जलको पोनेवाले अथवा फूटनेपर दबमिचकर दृ ख भुगतनेवाले जीवोंके पुण्य, पार, अनुसार ही जड पदार्थीका भी न्युन, अधिक काल तक ठहरे रहनेका अन्वय व्यतिरेक है। इसी प्रकार कपडे चौकी, घडियां, मशीनों, मुहो आदिका स्वल्पकालतक या अधिक का उतक टिको रहनेमें अन्तरंग प्रधानकारण उन पदार्थोंके साक्षात् या परम्परया उपभोग करनेवाले जीवोंका अदृष्ट ही समझा जाता है।

सुक्षाे भूतिविशेषश्चेद्वयिभवारेण वर्जितः । तद्धेतुर्विविधं कर्मतंत्रः सिद्धं तथारूयया ॥ ५ ॥

यदि चार्वाक यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इन स्थूल भूतों का व्यक्षिचार भले घटादिकी न्यून अधिक, स्थिति होने में आवे किन्तु व्यक्षिचार दोषसे वर्जित होरहा सूक्ष्म भूत विशेष उन घटादिकों की विचित्र स्थितिओं का हेनु मान लिया जाय। यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो बहुत अच्छा है। वही सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओं का बना हुआ ज्ञानावरण, असाता, साता, शुमगोत्र आदि नाना प्रकार कमें ही तो हम जैनों के यहां उन चेतनात्मक या अचेतनात्मक पदार्थी का प्रेरक हेतु हो रहा सिद्ध है। तिस प्रकार सूक्ष्मभूतविशेष इस नामक

करके तुमने उस हमारे अभीष्ट पौद्गालिक कर्मिषण्डको ही कह दिया है। केवल नाममें ही विवाद रहा अर्थमें कोई टण्टा नहीं है।

परापरस्थितिववनसामर्थ्यात् मध्यमानेकविद्या श्वितिर्वेवनारकाणां तियङ्मनुष्याणानिव संभाष्या । सा च कर्मवैविज्यितिद्धि प्राप्य व्यवतिष्ठते ततः कर्मवैविज्यमनुमीयते । स्थितिवैविज्यसिद्धेरन्ययानुपपतोः । कर्मवैविज्यामावेषि घटावीनां स्थितिवैधिज्यवर्धनाविसद्धान्यथानुपपतिरिति येऽभ्यमन्यंत तेऽनिम्ना एव, घटावीनामिषि विविज्ञायाः स्थितेस्तदुपभोक्तृपाणिकमे
विविचित्रीनिर्वतेनात्, कुंमकाराविदृष्टतत्कारणानां व्यभिचारात् । अदृष्टकारणानपेक्षित्वे तवघटनात् । समानकुंमकाराविकारणानां समामकालज्ञन्मनां सवृश्चित्राणां समानकारणानां च घटावीनां
समानकालस्थितप्रसंगात्।

उक्त चार वार्तिकोंका माध्य यो है कि सूत्रकारद्वारा उत्कृष्ट, जधन्य स्थितियों के प्रतिपादक सूत्रों के कयन कर देने की सामर्थ्यंसे तियँच, और मनुष्यों के समान देव नारिकयों की भी अनेक प्रकार मध्यम स्थितियों की सम्मावना कर लेनी चाहिये। तथा वे उत्कृष्ट, मध्यम, जवन्य, स्यितियां तो कमोंकी विचित्रता अनुसार सिद्धिको प्राप्त होकर ब्यवस्थित हो रहीं हैं। तिन विचित्र स्थितियोंने कमौं की विचित्रताका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्-योग और कषायकी मिश्रपरिणति हो रही लेश्याओं तथा अन्य कर्मीके अनुसार जीवोंकी अनेक प्रक.र अायुष्य स्थितियां वन जाती हैं। कार्यहेतु धूमसे जैसे कारणभूत अग्नि साध्यका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार विचित्र स्थितियोंके कारणभूत पौद्गलिक कर्मौकी विचित्रनाका कार्यभूत आयुष्य विशेषों करके अनुमान कर लिया गया है। अविनामानी एक दृश्यसे दूसरे अद्श्य पदार्थका अनुमान हो जाना प्रनिद्ध है। स्थितियोंकी विवित्रताकी सिद्धि हो जाना अन्यथा यानी कर्मी ही विचित्रताकी सिद्धिके विना नहीं बन पाता है। जो भी कोई वादी थीं दोष देते हुये अभिमान कर बैठे हैं कि कमीं हो विचित्रताके नहीं होनेपर भी घट आदि जड पवायों की स्थितिओं का विचित्रपना देखा जाता है तो जीवों के भी अदृष्ट कर्मों की कल्पना नयों की जाती है ? अत. अ।पकी अन्ययानुपपत्ति असिद्ध हो गई। व्यभिचार दोष उपस्थित हुआ। स्थितिकी विचित्रता होने गर भी घटादि पदार्थों ने कमों को विचित्रता नही पायी जाती है। माचार्यं कहते हैं कि वे क्वीय करनेवाले वादी अशिक्षित हीं है। क्योंकि घट पट आदिकोंकी भी विचित्र स्थितियां उनके उपभोक्ता प्राणियोंके विचित्र कर्मीकरके बनायी जातीं हैं। कुंभकार अवा, मट्टी आदि देखे जा रहे उनके कारणींका व्यक्षिचार हो रहा है । यदि कोरे दृष्ट कारणोंके ही अधीन माने जा रहे घटा दिकोंको अदृष्ट कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखनेवालापन माना जायगा तो विचित्र ढंगोंसे ठहरना रूप उन नानास्थितिओंकी घटना नहीं हो सकती है। जिन घटों के कुम्मकार आदि कारण समान हैं और जिन घटों का समान कालमें जन्म भी हो रहा है, तथा जिन कतिपय घटोंका क्षेत्र भी सदृश है, एवं चर्क अग्नि आदि अन्य कारण भी जिनके समान हैं, उन घट आदिकोंकी समान कालतक ही स्थिति

रहनेका प्रसग आवेगा। किन्तु ऐमा देखा नहीं जाता है। एक साथ बने हुये सौ घडोंकी किसीकी तो अवामें ही स्थिति पूरी हो जाती है। कोई चार दिनमें फूट जाता है, कोई दस वर्ष तक टिकाऊ है, यो अनेक प्रकार स्थितियां हो रही है।

मृद्गः विविनाशकारणसंपातर्वविष्याद्दृष्टादेव घटास्थितिवैविष्ट्यमिति चेत्, तदेव कुतः ? समानकारणादित्वेपि तेषाभिति चित्य । स्वकारणविशेषाद्दृष्टादेवेति चेन्न, मृद्गरादि-विनग्शकारणसपातहेनोः पुष्ठषप्रयत्नादे परिदृष्टस्य व्यःभचारात् । समानेपि तस्मिन् ववित्त-समात.दर्शनात् । समानेपि च तत्सपाते तद्विनाशाप्रतीतेः कारणांतरस्य सिद्धेः ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि विनाशके कारण होग्हे मोगरा, मुमल, मुद्गर, आदि-कों के ठीक ठीक पतन की देखी जा रही विवित्रतासे ही घटकी स्थितिओं में विवित्रता आ जाती है। अधिक बरसे मोगरा गिर जानेपर एक परु ही ठहरकर घट फुट जाता है, निर्देश आधा-तोसे चार छह दिनमे फूटता है। शनै. शनै: भूमिमे सरकाने अथवा छोटी छोटी फटकारोको वर्षोतक घट झेल जाता है। अग्विद्वारा पाककी न्यून अधिकतासे भी स्थितिका तारतम्य है । अत. परिदृष्ट कारणोसे ही विचित्र स्थितिओको मानलो अदृष्ट कारणोंका बोझ व्यर्थ क्यों ल दा जा रहा है। यों कहनेपर तो ग्रंथकार पूछते है कि भाइयो, उन घटादिकोके कारण आदिकोके समान हेनपर भी वह मौगरा आदि विनाशक पदार्थीका सम्पात ही विचित्र प्रकारका किस कारणसे हुगा ? बनाओ । अथवा कारण आदि समान होते हुये भी वे मोगरा या उनके सम्पात शादि विचित्र कैसे हये ? इनका उत्तर बहन कालतक चिन्तवन वरो। सर्म चीन ज्ञान प्राप्त होनेपर तुम्ह रा रक्ष्य उस अदृष्ट कारणपर संलग्न हो जायगा। यदि झटपट तुम यो बे.ल : ठो कि मोगग आदिका अनेक प्रकार गिरना भी उनके दृष्ट हो रहे बारण विशेषोमे ही बन ८० ना है। अर्थान् कुलालका घट बनाते समय भी तरले लट्टू और ऊपरली मोंगरीमे कभी अधिक बल्से हाथ लग जाता है और कभी हलका हाथ पडता है अथवा खेलनेवाले बालकोका किसी घडेपर हलका या भारी प्रहार हो जाता है। इसी प्रकार अग्निताप या वायुके झकोरे भी न्यून, अधिक, मात्रामे लग जाते है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योकि विनाशके काःण मृद्गर आदिकोके सघातके हेतु हो रहे परिदृष्ट किये गये पुरुषप्रयत्न आदिका व्यभिचार हो रहा है। देखिये, पुरुषोंका समान प्रयन्न होनेपर भी कही उन मुद्गरादिकों का पतन होना नही देखा जाता है। तथा उन मृद्गरादिका समान रूपसे सम्पात होनेपर भी उन घटादिकोका विनाश नरी प्रतीत हो वहा है। ववचित् एक डेलके मारे मनुष्य मर जाता है। वभी बन्दूककी गोर्ल से भी नहीं मन्ता है। यो दृष्ट कार-णोंका अन्वय व्यक्तिचार और व्यक्तिरेक व्यक्तिचार दोष हो रहा है। ऐसी दशामे अन्य अदृष्ट कारणोंकी सिद्धि हो जानेसे ही प्रवीण पुरुषोको धैर्य प्राप्त हो सकता है अन्यथा नही ।

सूक्ष्मो मूतविशेषः सर्वथा व्यक्षिचाः विजितो विविधः कारणांतरिकति चेन्, तदेव कर्मात्माक सिद्धं तस्य सूक्ष्मभूतिवशेषत्रज्ञामात्र तु निद्यते परिदृष्टस्य सूक्ष्मभूतिवशेषस्य व्यक्षि-चारविजतत्वासमवात्। चार्वाक (साइण्टिकिक) कहते हैं कि पृथियी आदि भूनों का एक विशेष परिणाम सूक्ष्म है, जो कि बहिरंग इंद्रियों के दृष्टिगो वर नहीं है। स्थूल परिणामकी भले ही साधा या अन्वय व्यतिरेक -स्यभिचार होय, क्लिन्तु व्यभिचारसे विजित हो रहा नाना प्रकारका सूक्ष्मभूत ही उनका न्यारा कारण है। यो कहनेपर तो आचार्य इष्टापित्त करते हैं कि वही सूक्ष्मभूत तो हम आहंतों के यहां कमें पदार्थ सिद्ध है, उसका सूक्ष्मभूत विशेष यह केवल नामान्तर करना तो निराला है। अर्थ में कोई भेद नहीं है। हां कमों के अतिरिक्त चारों ओर देखे जा रहे सूक्ष्म भूत विशेषको व्यभिचारसे बहितपना असम्भव है। यो ग्रन्थकर्ताने कमों की विचित्रता अनुमार वा रहीं जीवों की न्यारी न्यारी पर्यायों की अनेक प्रकार उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य, स्थितियों की सिद्ध कर दिया है।

अथ किमेते ससारिणो जीवाः कर्मवैचित्र्यात् स्थितिवैचित्र्यमनुभवंतो नानात्मानः प्रत्ये-कायत्तेकात्नातः इति ? यश्चितात्मानम्तद्याऽ गुसंबाताञ्चभावः स्यादेकसंतानेषि नानासंतानवत् । अथंकात्मानस्तदानुभवस्मरणावि सकमानुगपत्तिः शौर्वापर्यायोगाविति वदंत प्रत्याह ।

अब यहां अनेकान्तिमद्धांतको पूष्ट करनेके लिये प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम ही किमीका आक्षेत्र है कि य सपारी जीव कर्यों ही विचित्रतासे ही रहे स्थितियों के विचित्र पतको अनुभव गहे क्या न्यारे, न्यारे अनेक धर्मस्वरूप है ? अथवा प्रत्येक धर्मके अधीन हो रहे एक एक धर्मस्वरूप है, बताओ ? प्रथमपक्ष अनुसार यदि जीव पदार्थ नाना धर्मस्वरूप है, यानी धान्यराशिके समान स्वतंत्र हो रहे अने क विज्ञानपरमाण्या परम्पर किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हुये अनेक धर्म ही जंव पदार्थ हैं, तब तो अनुसंधान, प्रत्यभिज्ञान, देन, लेन, दान दान-फरु, हिसा हिमाफरु, आदि व्यवहारोका अभाव हो जावेगा । एक संतान होने रर भी नाना सन्तानोंके समान विमर्पण आदिक नहीं हो सकेंगे। भावार्थ-अरेक विज्ञान परमाणु स्वतंत्र पडे हुए हैं। द्रज्यरू भी अन्वित होकर ओतपोत बने रहना ऐमी सन्तानको हम बौद्ध वस्तुभूत नहीं मानते हैं। अतः जंसे देवः तकी धारणा अनुपार जिनदत्त स्मरण नहीं कर सकता है, चन्द्रदत्त उसका अनुसंधान नहीं कर पाता है, इसी प्रकार एक घडी पूर्व देखे जा चुके पदार्थका स्वय देवदत्त स्मरण या प्रत्यभिज्ञान नही कर सकेगा। बाल्य अवस्था या युवा अवस्थाके अनुभवोका वृद्ध अवस्थामें स्मरण नहीं हो सकेगा। ऋण देना छेना, ब्रह्मवर्ष, निता, पूत्रपन आदि व्यवहार अलीक हो जावेंगे। अब यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप जंत जीव आदि पदा-र्थीको एक धर्मस्वरूग ही स्वीकार करेंगे, तज्ञ तो अनुभव स्मरण आदिका सक्रमण होना नहीं बा सकेगा। क्योंकि पूर्व अपरयनेका अयोग है। अर्थात्-एक धर्मस्वरूप पदार्थ दूसरे क्षणमें नष्ट होगया तो पहिला पिछलापन, नहीं घटित होनेसे क्षणिक एक धर्मस्वरूप जीवके अनुभव अनुसार स्मृति होना या प्रत्यिभज्ञान होना अथवा अनेक विचारोंका परिवर्तन होते हुए संक्रमण होना इत्यादिक परिणितियां नहीं बन सकती हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षका परिग्रह कर बोल रहे वादीके प्रति ग्रंथकार अब समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

ततः संसारिणो जीवाः स्वतत्त्वादिभिरीरिताः । नानैकात्मतया संतो नान्यथार्थकिया वतेः ॥ ६ ॥

जिस कारणसे कि जीवके सम्यन्दर्शन, सम्यन्जान, स्वतत्त्व, योति, जन्म, शरीरधारण, नरकावास, मध्यलोक आवास, देव अवस्था, आदि स्वाभाविक और औगाधिक धर्मौका चौथ अध्यायतक निरूपण किया है, तिस कारण वे औपशिमिक बादि पांच स्वतत्त्व, विग्रहगति आदि परिणामों करके निरूप जा चुके जीव नाना धर्मौके एक तदात्मकपने करके सदूप हो रहे हैं। अन्य प्रकारों से जीव पदार्थ सद्भून नहीं है। वयों कि केवल एकरूप या स्वतंत्र अनेकरूप अथवा खिणक स्वरूप, नित्य स्वरूप बादि दगों से जीवका सत्व माननंपर अर्थिका होनेकी क्षति हो जाती है। नाना धर्म आत्मक पदार्थको स्वीकार किये दिना छोटी से छोटी अर्थ किया भी नहीं हो पाती है। पूर्व स्वभावों का त्याग, उत्तर स्वभावों का यहण और स्थूजपरिणतिको स्थिरत स्वरूप परिणाम हुये विना जगत्का अत्यत्प कार्य भी नहीं हो सकता है।

यस्माद्द्वितीयाध्याये स्वतःबलक्षणाविभिः स्वभावैः संसारिणो जीवाः प्रत्येकं निश्चिता-स्तृतीयचतुर्योध्याययोश्चाधाराविविशेषैर्नानाविधैरध्यवसितास्ततो नानैकात्मतया ध्यवस्थिताः । न पुनर्नानास्मान एवैकात्भान एव वा सर्वार्थिकियाविरहासेवामसस्वप्रमंगात् । संश्च सर्वसंसारी कीव इति निश्चितप्रायं, वभावविलक्षणः ह ह सस्वं तस्च नास्तीस्येकस्वमावादमावादैलक्षण्यं ।

जिस कारण कि उमास्त्रामी महाराजने दूसरे अध्यायमे जीतके निज तत्त्व, जीतके लक्षण, आदिक स्वभावोंकरके सम्पूर्ण संमारी जीव एक एक होकर निश्चित कर दिये है और तीसरे, चौथे, अध्यायों आधार स्थान, आणुः, लेड्या, प्रवीचार, आदि नाना प्रकार विशेषता- थोंकरके बीवोंका निर्णय करा दिया है, तिस कारण ये जीत नाना एकात्मक स्वभावकरके व्यवस्थित हो रहे हैं। किन्तु फिर न्यारे न्यारे स्वतत्र नाना धर्मस्वरूप ही अथता एक धर्म स्वरूप ही जीव नहीं है। क्योंकि नानापनका एकान्त या एकपनका एकान्त माननेपर सम्पूर्ण अर्थिकियाओंका अभाव हो जानेसे खरित्रपाणवत् उन जीवोंके असत् हो जानेका प्रमण होगा। अर्थिकियाओं करना ही सद्भूत वस्तुका निर्दोष लक्षण है। अन्य लक्षणोंमें अनेक दोष जाते हैं। संसरी जीव सद्भूत पदार्थ हो रहे है। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकरणोंमें अनेक दोष जाते हैं। संसरी जीव सद्भूत पदार्थ हो रहे है। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकरणोंमें अनेक दोप जाते हैं। संसरी जीव सद्भूत पदार्थ हो रहे है। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकरणोंमें अनेक दोप जाते हैं। अर्थ के हैं। तुच्छ अभाव पदार्थ मले ही असत् रही किन्तु अमावोंसे विलक्षणपना ही सत्पना है। अतः ऐसे अमाव विलक्षणत्व हेतुसे एक एक जीवका अनेक धर्मात्मकपना सिद्ध हो जाता है। अर्थ अमाव विलक्षणत्व हेतुसे एक एक जीवका अनेक धर्मात्मकपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात् अमाव यदि तुच्छ असन् है तो ऐसे अभावका विलक्षणपना वस्तुमें सन्न नहीं सकता है गौ आदि भात्रोंसे अद्य आदि भात्र विलक्षण।नि यस्य स विलक्षण: "परस्परमें प्रतियोगिता रखते हुए दो आदि भाव पदार्थ विलक्षण

हो सकते हैं, खरविषाणसे कोई विलक्षण नही है। बतः परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप एक स्वमावसे तदितिरिक्त अनन्तानन्त स्वभावोंका पिण्डभूत भाव यहां उस अभावसे विलक्षण समझा जाय।

नानास्वभावत्वं जीवस्य कुत इत्याह।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि एक बीवके नाना स्वभावोंसे सहितरना भला कैसे सिद्ध हो जाता है ? ऐसी अभिलाषा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानंद आचार्य समाधानकारक वचनको कहते हैं।

जनमास्तित्वं परिणातिं (निर्वृत्तिंच) ऋमाद्वृद्धिमपक्षयं । विनाशं च प्रपद्यंते विकारं षड्विधं हिते ॥ ७ ॥

जगत्मे निवास कर रहें संपूर्ण जीव नियमसे छह प्रकारके विकारों को प्राप्त हो रहे हैं। अतः वे अने क स्वमाववाले हैं। एक एक जोव नाना स्वमाव आस्मक है। कारण कि वे जीव जनमको प्राप्त करते हैं १। अस्तिस्वकी प्राप्ति कर रहे हैं २। परिणामको आष रहे हैं ३। वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं ४। कमसे एकदेश निवृत्तिस्वरूप अपस्यको प्राप्त होरहे हें ५। तथा विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ६। इप प्रकार प्रतिक्षण हो रहे अनस्ते छह प्रकार विकारोंद्वारा एक एक माव नाना स्वभाववान् प्रसिद्ध हैं। अर्थात्—जैसे कोई बालक प्रथम उपजना है फिर कुछ दिनतक आत्मलाम करता हुआ अपना अस्तिस्व स्थिर रखता है, अने क अवस्थाओं को प्राप्त करता है, हड्डी, रक्त, शरीर, बुद्धिबल आदिको बढाता जाता है, पुनः कमकमसे हीन होता जाता है, अन्तमें वृद्ध अवस्था बीत जानेपर विनाशको प्राप्त हो जाता है। यह कममे होनेवाले छह विकारोंका दृष्टांत है। किन्तु सूक्ष्म परिणतियां या अने क गूणों के नाना अविभाग प्रतिक्छेदों की अपेक्षा य्गपन् भी अने क छह विकार हो रहे हैं। उत्पाद व्यय, धौव्य, स्वरूप पर्यायों के साथ तदात्मक हो रहे द्वव्यमय वस्तुमें ये छऊ विकार अपेक्षाओं द्वारा सुधित हो जाते हैं।

सर्वे हि भावो जनम प्रवच्चते निमित्तद्वयवशादात्मलाममापद्यमानस्य जायत इत्यस्य विषयत्वात् । यथा सुवर्णकटकादित्वेन । अस्तित्वं न प्रतिपद्यते स्विनिमित्तवशादवस्थामिवभितो र्थस्यास्ति।ति प्रत्ययाभिधानगोचरत्वात् निवृत्ति च प्रपद्यते सत एवावस्थांतरावाप्तिदर्शनात् परिण्णमते इत्यस्य विषयत्वात् । वृद्धं च प्रतिपद्यते अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावांतरेणाधिक्य लभमानस्य दद्धंते इत्यस्य विषयत्वात् । अपक्षय च प्रपद्यते क्रमेण पूर्वभावंकदेशविनिवृत्ति प्राप्तुवतो वस्तुनोपक्षीयत इत्यस्य विषयस्वात् । विनाशं च प्रतिगद्यते, तत्पर्यायसामान्यनिवृत्ति समासाद्ययतोर्थस्य नश्यतीत्यस्य गोचरत्वात् ।

चराचर जगतके सम्पूर्ण सदमूत पदार्थ जन्मको प्राप्त करते है, क्योंकि अन्तरंग, विहरंग, दोनों निमित्त कारणों के वशसे आत्मलामको प्राप्त हो रहा पदार्थ " उग्ज रहा है ' इस जानका विषय हो जाता है, जैसे कि सोना, कडे, हंपली, आदि स्वरूप करके उपजता है। और सभी पदार्थ अपने अस्तित्वको प्राप्त कर रहे समझे जाते हैं। क्योंकि अपने अपन आत्म-लामके कारण हो रहे निमित्तोंके वशसे अवस्थाको धार रहा अर्थ "है", इस ज्ञान और शब्दका विषय हो रहा है। तथा चाहे के ई पदार्थ विपरिणतिको धारण कर रहा है। क्योंकि सत् पदायंको ही न्यारी न्यारी अवस्थाओं को प्राप्त देखी जा रहीं होतेसे "परिणमन करता है " इस ज्ञानका विषयपना प्राप्त है। एवं सभी पदार्थ वृद्धिको ही प्राप्त हो रहे है । क्योंकि पूर्वमें प्राप्त हो चुके स्वमादों को नहीं छोडकर अन्य मादों करके अधिकानका लाम कर रहे परार्थ को "बढ रहा है" यों इस ज्ञानका विषयपना नियत है। तथा सभी पदार्थ पांचरें अपनय विकारको भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि पूर्व में उसकित किये जा चुके भारों की काकाने एक देश विनिवृत्तिको प्राप्त हो रही वस्तुको "कुळ कुळ क्षीण हो रही है" इन ज्ञान शब्दका विषयपना निर्णीत है। ज्ञेय पदार्थका जानके साथ विषयिकपिमात्र सम्बन्ध है और वाच्यार्थका शब्दके साथ बाच्यवाचक सम्बन्ध (नःता) है। तथा सभी भाव विनाशको प्राप्त हो रहे जाने जाते हैं। वयों कि उस पर्यायकी सामान्यकासे पूर्णतया निवृत्तिको प्राप्त कर रहे अर्थको ' नष्ट हो रहा है "इस ज्ञानका विषयपना निश्चित है। यहाँ ग्रंथकारने वस्तुके स्थल सुक्ष्म पर्याय स्वरूप छह विकारोंको साधनेवाली अपेक्षाओंको दिखला दिया है। साय में जायते, अस्ति, विपरिणमते, वदंते, अपश्लीयते, विनश्यति, इन वाचक पदोंकी योजनाके लि। अयवा जायते बादिका ज्ञान करनेके लिये शिष्योपयोगिनी शिक्षा दे दी है। उक्त उगसे न्यून या अधिक व्यवहार करनेवाला पुरुष पथश्रवट हो जायगा । यो विवक्षित विधिके अनुसार सम्पूर्ण भावों हे यानी द्रव्यपप बारमक बस्तुके कम अकम रूपसे हो रहे छह विकारोको समझ लेना चाहिये।

तथा जीवा अपि भादाः सतः षड्विधं विकारं प्रपद्यते अभावविलक्षणस्वाविःयेके, सेवां यद्यवस्तुविलक्षणस्वं सत्त्वं धर्मस्तदा न सम्यगिवं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेनेकेन व्यशिचारात् अभावविलक्षणस्वं वस्तुरवं तदा यक्तं ततो जीवस्य षड्विकारप्राप्तिसाधनं वस्तुरवस्य तदिवना-भावसिद्धेः । अयासत्त्वप्रमंविलक्षणस्वं सत्त्वंधर्मस्तदा न सम्यगिवं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेकेन ऋजुसूत्रविषयेण व्यवहारनयगोचरेण द्रस्येण च व्यभिचारात् तस्य षड्विकारामावेषि सत्त्वधर्मा- व्ययस्वनामावविलक्षणस्विद्धेरन्यया सिद्धांतिवरोधात् ।

तिसी प्रकार जीव भी भाव हो रहे सन् स्वरूप पदार्थ हैं। अतः छह प्रकारके विकारों को प्राप्त हो रहे हैं। अर्थात्—सत् स्वरूपभाव होनेसे ज वों के छह विकारों की प्राप्त बन रही है। कोई एक उच्च कोटी के विद्वान् यहाँ यों कह रहे हैं कि तुच्छस्वरूप अभावोंसे विलक्षण होने के कारण जीव भाव छह विकारों को धारते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन एक अनुपम विद्वान् अक्लंक महाराजके यहाँ यदि अभाव यानी अवस्तुसे विलक्षणपना ही सत्त्व नामक

धर्म है, तब तो यह हेतु समीचीन नहीं है। प्रत्येक क्षणमें होनेवाला एक परिणाम करके व्यभि-चार हो जाता है, अर्थात्-एक क्षणकी एक ही पर्याय सरविषाण आदि अवस्तुओंसे विलक्षण है। किन्तु वह अकेली एकक्षणवर्त्ती पर्याय तो छह प्रकार विकारोंको प्राप्त नहीं होती है। वस्तुके छह विकार हो सकते हैं। एक विकारस्वरूप पर्याय के पुनः छह विकार नहीं हो सकते हैं। अनवस्था हो जायगी। हां यदि वे अकलंक महाराज अभावसे विलक्षणपनको वस्तुस्व स्वीकार क ग्लें तब तो तस अकलकहेतुमं जीव भावको छह विकारोंकी प्राप्तिका साध देना समुचित है। क्योंकि वस्तु वका उस छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिके साथ अविनामाव सिद्ध हो रहा है। अब यदि अकलंक महाराज असत्त्व धर्मसे विलक्षणपन (अभावविलक्षणत्व) को सत्त्वधर्म बलाने तब भी वह अमावविलक्षणत्व हेतु समीचीन नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म ऋजुसूबनयका विषय हो रहे प्रतिक्षणवर्ती एक पर्याय करके और व्यवहारनयके विषय हो रहे अन्वित करके व्यभिचार दोष होता है। देखिये उस एक पर्याय या केवल अन्वित द्रव्यके छह प्रकार विकार नहीं हए हैं। फिर भी सत्त्वधर्मका आश्रय होनेसे उनमें अभाव विलक्षणपना सिद्ध है। अन्य प्रजारोंकी शरण लेनेपर सिद्धांतसे विरोध हो जायगा। भावार्थ-अकलंक महा-राज और विद्यानन्द स्वामी जीव आदि सद्भूत भावोंमें छहों विकारोंकी स्वीकार करते हैं। अकलक महाराजने भावोंको छह विकारस्वरूप अनेक आत्मकपना साधते हुए " अभाव बिल-क्षणत्वात् " इस वात्तिकको कहा है और वातिकका यह विवरण किया है। " अभूतं नास्ती-त्येकरूपो भावः न हि अमावः अभावात्मना मिद्यते तद्विसद्वास्तु नानारूपो भावः इतरया हि तयोरिवशेष एव स्यात्"। फिर भी अमाविलक्षण त्वका स्पष्ट अर्थ नहीं होनेके कारण ग्रंथकारको यह ऊहापोह करना पड़ा है। अभाव पश्से अवस्तु या अपत्वका ग्रहण करना अनिष्ट है। जब कि तुच्छ अभावोंकी कोई परिभाषा ही नहीं है तो फिर किस मर्यादाभूत पंचम्यन्तसे वस्तुका विलक्षणपना किया जाय ? अवस्तु, अद्रस्य, अभाव, असत्त्व, इन पदोंका सिद्धांत्रमर्पादासे कोई अर्थ नहीं निकलता है। अतः इनका विलक्षणपना या इनका रहितपना किसीका ज्ञापक हेतु नहीं बन सकता है। " वस्त्वेवावस्तुनां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्। संज्ञिनः प्रतिषेघी न प्रतिषेध्याद्ते क्ववित । असदभेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः, असर्वन्तिमवस्तु विशेष्यविशेषण " आदिक देवागममें गुरुवर्य श्री समन्तभवाचार्यके निर्णीत सिद्धांत अनुसार अ खंड पूरे " अभावविलक्षणस्वात् " का अर्थ वस्तुन्व किया जायगा, तभी अभावविलक्षण व हेतु सद्धेतु बन सकेगा। अन्यथा अभावविरुक्षणःवका खण्ड कर देनेपर वस्तुके एकदेश हो रही अकेली पर्याय और शुद्धद्रव्यकरके व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा। अष्टसहस्रीमें इस विषयके निर्णीत हो है जैनसिद्धांतको स्पष्ट कर लिया गया है। अद्वैत, अनेकान्त, अमाया, अखरवि-षाण, अभाव, इन सबका विवेचन हो जाता है। बौद्धोंके यहां मानी गई गोशब्दका अर्थ अगी व्यावृत्ति जैसे गीसे भिन्न कोई वस्तुम्त पदार्थं नहीं है, उसी प्रकार अनावविलक्षणत्व भी कोई वस्तुसे न्यारा परमार्थभूत नहीं है। ऐसी दशामें यह निर्बंख हेतु भला क्या छह विकारों को साध सकेगा ? इसकी अपेक्षा अकलंक महाराज सरलतया यदि वस्तुत्वहेत् कह देते तो

नानारूप भावकी सिद्धि सुमम हो जाती। अमाविक अगः वका अर्थ करने में शिष्यों को सम्हालने के लिये ग्रंथकारको प्रयःन नहीं करना पडता। बात यह है कि अकलंक महाराज अकलंक ही हैं और विद्यानन्द आवार्य भी स्वनामधन्य विद्यानन्द ही है। महान् गजराजों के विश्यमें छोटे निर्बल जीवों को समालोचना करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उसी प्रकार हम सारिस्त अल्पमित पुरुषों को उद्भट आचार्यों के विषयमें पर्यालोचना करने का कोई अधिकार नहीं है। न जाने किन किन अतवर्य अपेशाओं अनुसार दोनों आचार्यवर्यों ने अने कान्त की सिद्धि की है। प्रतिक्षणसे लेकर "न सम्यगिर्द साधन" यहां तक पाठ लिखित पुस्त कमें नहीं है, तब तो अकले अवस्तु विलक्षणस्वस्वरूप अमाविवलक्षणत्वका केवल पर्याय और केवल द्रव्यकरके व्यभिचार दोष दे दिया जाय। ग्रंथकार विद्यानदस्वामी सद्गूत जीव अथवा वस्तुभूत जीवके छह विकारों को प्राप्त साधते हैं। अमाविवलक्षण हो रहे जोव के छह विकारों की प्राप्त होने को अन्तरंगसे नहीं चाहते हैं।यों अकलक महाराज के कहने से सिद्धांताविरुद्ध उसका व्याख्यान करते हुये ग्रन्थ कारने ज्ञानवयोवृद्ध पुरुखाओं की बातको टाला भी नहीं हैं। वस्तु वस्वरूप अभाविवलक्षण सावि हो। देता स्वीकार कर लिया है। अभाविवलक्षणपना जीवों के पड़ विधा विकार प्राप्तिको साध ही देता स्वीकार कर लिया है।

ननु च वस्तुत्वमप्यमावविलक्षणत्वं न जीवानां षड्विधविकारप्राप्ति साधयित तस्या-स्तित्वमात्रेण व्याप्तत्वादिति मन्यमानं प्रत्याह ।

यहां कोई निध्यैकान्तवादी शंका करता है कि बस्तुस्वस्वरूप भी "अभाविक-स्रक्षणपना "हेतु जीवोंके जन्मादि छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिको नहीं साध पाता है। स्योंकि उस वस्तुन्वकी केवर अस्तित्वके साथ व्याप्ति वन रही है। जन्म, परिणति, वृद्धि, अपक्षय और विनाशके साथ वस्तुन्व हेतु व्याप्त नहीं है। इस प्रकार मान रहे वादीके प्रति ग्रंथकार कहते हैं।

बिभ्रतेस्तित्वमेवैते शश्वदेकात्म क्रत्वतः । नान्यं विकारमित्येके तन्न जन्मादिदृष्टितः ॥ ८ ॥

ये जीव आदि भाव (पक्ष) अस्तिपनको ही धारण करते हैं (साध्य)। क्योंकि सर्वदा स्थिर रहना ऐसे एक नित्यधर्म स्वरूप हो रहे हैं (हेतु) अन्य किसी विकारको नहीं धारते हैं। इस प्रकार कोई एक विद्वान् मान बैठं है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना यथार्थ नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थों में हो रहे जन्म आदि छहों विकार देखें जाते हैं।

एतेष्विस्तित्वादिषु मध्ये अस्तित्वमेशात्मानो विश्विति नान्यं पंचवित्रं जन्माविविकारं तेषां नित्यैकरूपत्वात् स्वरूपेण शश्वदस्तित्वोपपत्तेरित्येके । तम्र सम्यक्, तेषां जन्मादिवर्शनात् । मनुष्यावीनां हि देहिनां बाल्यादिमानेन जन्मावयः प्रतीयंते मुक्तात्मनामिष मुक्तत्वादिना ते संमान्यंत इति प्रतीतिविद्धं जीवानां जन्माविविकारिवकल्ट्यवसनम् ।

इन अस्तित्व आदि विकारोंके मध्यमें केवल अस्तित्व की हो जीव पदार्थ धारते हैं अन्य पांच प्रकार जन्म, परिणति, वृद्धि, आदि विकारों को नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि वे आस्मा पदार्थ एकान्तरूपसे कुटस्थवत् निध्य हैं अतः जीवात्माओंका स्वकीयरूपकरके सर्वदा अस्तिपन ही एक धर्म बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि कूटस्थवादियों का वह कहना समीचीन नही है। क्योंकि बालक, बालिका शोंतकको उन जीवों के जन्म, वृद्धि, होने आदिका दर्शन होरहा है ! जब कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणियों के बालकपन, युवापन, वृद्धपन, आदि अवस्थाओं द्वारा जन्म विपरिणाम, वृद्धि, आदि विकार होरहे प्रतीत होते है तो इसी प्रकार शुद्ध परमात्मी मनन प्रात्माओं के भी मनतपने, सिद्धाने स्वात्मनिष्ठा, अगृहलवृत्व आदि धर्मी करके वे जन्म आदिक सम्भव रहे हैं। अर्थात्-चौदहमे गुणस्थानके अन्त में मृक्त जीव उपजते हैं। वे सदा शुद्ध चिदानन्द, अवस्थाद्वारा आक्ष्मलाम (अस्तित्व) करते रहते हैं। सिद्धोंके सम्पूर्ण गुणों म परिणाम होते रहते हैं। अगुरु अबु गुणके द्वारा हानि, वृद्धियां, भी कतियय गुणों की पर्यायों म होरही हैं। संसारी ान, कर्मनम्बन्य ऐन्द्रियिकज्ञान, कवायें मादिका नाश हो बुका है। अयहा उत्तर समयमें पूर्व परिणतियों का विनाश हो रहा है। बात यह कि जो परायं उत्पाद, व्यय, धीव्य, इनसे युक्त होरहा सत् है। उममें जन्म आदि छक्त विकार सूलमतया सम्म इ जाते हैं। इस कारण कुटस्थवादी पण्डितों का जोबों के जन्म, अस्तिपन, आदि विकारोंसे रहितपनका निरूपण करना लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध प्रतीतियों से विरुद्ध है।

जन्मादयः प्रधानस्य विकाराः परिणाभिनः । तत्संसर्गात्प्रतीयंते भ्रांतेः पुंसीति चैन्न वै ॥ ९॥

यहां कियल मतानुयायियों का पूर्वपक्ष है कि परिणामों के द्वारी प्रधानके विकार जन्म आदिक है। उस प्रकृतिका मंसगं हो जाने से ग्रान्त ज्ञानद्वारा पुरुष में जन्म आदि प्रतीत हो जाते हैं। भावार्थ-सांख्यों के यहां प्रकृति के विकारों का होना अभीष्ट किया है। कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी, आत्माके कोई जन्म आदि विकार नहीं होते है। जपाकुसुमकी ललाई जैसे स्फिटिकमें प्रतिभास जाती है उसी प्रकार ग्रान्ति के वज्ञ संसारी जीवों को वे जन्मादिक विकार आत्मामें होग्हें दीख जाते हैं। "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनादिवलिङगम्। गुण कर्नृत्वेऽपि तथा कर्त्ते भवत्युदासीनः (सांख्यकारिका)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमि नहीं कहना क्यों कि जब वे पुरुष में निश्चित्र स्परी हुये प्रतीत किये जाते हैं, आत्मामें होरहे जन्म आदि विकारों के दर्शकों को भ्रान्त कहने का तुमको कोई अधिकार नहीं है। सम्यग्जानियों को मिथ्या- ज्ञानी कहनेवाला स्वयं अनन्त भ्रममें पढ़। हुआ है।

तेषां भावविकारत्वादात्मन्यप्यविशोधतः । जन्मादिरहितस्यास्याप्रतीतेर्भोत्यसिद्धितः ॥ १०॥ वे जन्म आदिक छऊ विवर्तमावों के विकार हैं। बतः भावपदार्थ माने गये आत्मा में उनके होने का कोई विरोध नही है। जन्म आदिक से रहित होरहे इस आत्मा की आजतक भी प्रतीति नही होती है। अतः जन्म आदिको धारनेवाले आत्मा के जानन में भ्रान्ति होनेकी असिद्धि है। देवदत्त जन्म छेता है, वह जिनदत्त आनन्द पूर्वक रहता है, भोजन करता है, मोटा होता है, देवदत्त सर जाता है, इन सच्चे ज्ञानों में भला भ्रान्ति होने की कौनसी बात है? विपरीत रीतिओंको गढकर तुमने तो अन्धेर नगरी समझरखी हैं।

विकारी पुरुषः सत्त्वाद्वहुधानकवत्तव । सर्वथार्थिकियाद्दानेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ११ ॥

पुरुष (पक्ष) विकरों का धारी है (साध्यदल) सत् होनेसे (हेतु) प्रधानके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-तुम सांख्यों को प्रकृति के सामन पुरुष भी सत् होने से विकार वाला मानना पड़ेगा। अन्यथा यानी आत्मा मे विकार नहीं मानने पर तुम्हारे यहाँ सभी प्रकार अर्थिकिया होने की हानि हो जावेगी और अर्थिकिया की हानि हो जानेसे उसके व्याप्य होरहे सत्त्वकी भी हानि हो जावेगी। ऐसी दशामे अद्यविषाणके समान आत्मा असत् पदार्थ हो जाता है।

यया हि प्रधानं भावस्तथात्मापि सन्नभ्युपगंतव्यः । सत्तवं चार्थकियया व्याप्त तदभावे सपुष्पवत्सत्त्वानुपपत्तेः । सा चार्थिकया कमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, तद्विरहेर्थिकियाविरहात्तद्वत् । ते स कमयौगपद्ये विकारित्वेन व्याप्ते, जन्मादिविकाराभावे कनाऽकमविरोधात्ततः सत्त्वमभ्युपगच्छता पुरुषे जन्मादिविकारोभ्युपगन्तव्योन्यया व्याप्यव्यापकानुपलब्धेरात्मनोऽसत्त्वप्रसवतंरित्युक्त गायं ।

जिस ही प्रकार प्रधान "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः " भावपदार्थ है, उसी प्रकार आत्मा भी सत् पदार्थ स्वीकार करलेना चाहिये और सत्त्व तो अर्थिकिया करके व्याप्त होरहा है। क्यों कि उस अयं किया के नहीं होने पर आकाशकुमुमके समान किसी को भी सत्पना नहीं सिद्ध होपाता है तथा वह अर्थिकिया मी कम और यौगपदा के साथ व्याप्त को रख रही है यानी कोई भी अर्थिकिया होगी वह कम मे या युगपद ही होसकेगी। उन कम और यौगपदा के विना अर्थिकिया होने का अभाव है, जैसे कि उस आकाशपुष्प में कम यौगपद्यों के न होने से कुछ भी अर्थिकिया नहीं होपाती है और वे कपयौगपदा भी विकारसहितपन के साथ व्याप्त होरहे प्रतीत हैं। क्यों कि जन्म, अस्तित्व, आदि विकारों के नहीं होनेपर कम या अकप से कुछ भी होने का विरोध है। तिस कारण आत्मा में सत्त्वप्रमें को चाहने वाले कापिलों करके जन्म आदि विकार होना अवस्य स्वीकार कर लेना चाहिये। अन्यथा व्याप्य (के) व्यापकों की अनुपलव्य होजाने से आत्मा के अपत्व का प्रसंग होजावेगा, इस अनुकूल तर्कका हम कई बार पहिले प्रकरणों में निरूपण करचुके हैं। सत्वका व्यापक अर्थिकिया होना है तथा अर्थिकिया का व्यापक कम और यौगपदा है तथा उन कमयौगपद्योंका व्यापक विकारसहितपना है। जन्म आदि

विकारों को नहीं मानने पर उसके व्याप्यव्यापक होरहे सत्त्वका अभाव होजाता है जहां घड़े में जीवत्व ही नहीं है वहां मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, नहीं होते हुये गौडत्व भी नहीं ठहर पाता है। अतः प्रकृति के समान आत्मा के भी छह विकार होरहे मानने पढेंगे।

जायंते ते विनश्यंति संति च क्षणमात्रकं।
पुमांसो न विवर्तते वृद्धचपक्षयगाश्च न ॥ १२ ॥
इति केचित्पध्यस्तास्तेष्येतेनेवाविगानतः।
विवर्ताद्यात्मतापाये सत्त्यस्यानुपपत्तितः॥ १३ ॥

आत्मा को सर्वथा नित्य माननेवाले काषिलों का विचार कर अब आत्माको सर्वथा अनित्य माननेवाले बोद्धों के साथ परामगं किया जाता है। बौद्ध कहते हैं कि वे पुरुष (जीव) उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होजाते हैं तथा एक आणमात्र निवास करते हुये अहितस्वरूप भी हैं। किन्तु जीव विगरिणाम नहीं करते हैं तथा वृद्धि और आक्षय को प्राप्त करनेवाले भी नहीं हैं। अर्थात्-छह विकारों मे पहिला जन्म, दूसरा अस्तित्व, और छठा विकारों का नाझ इन तीन विकारोंको हम जीव में स्वीकार करते हैं। तीसरे विपरिणाम, चौथी बृद्धि, पांचवां अपक्षय, इन तीन को मानने की आवश्यकता नहीं हैं आप जैनोंने भी तो सत् पदार्थ में उत्पाद, ब्यय, धौव्य, इन तीन ही धर्मों को स्वीकार किया है। ऐमा यहांपर कोई क्षणिकवादी कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे भी इस निर्शेष उक्त कथन करके ही भले प्रकार प्रध्वंस को प्राप्त कर दिये गये हैं। बयोकि विपरिणति स्वरूप विवर्त्त आदि तीन स्वरूप विकारोंका अभाव माननेपर जीवों के अञ्चष्ण सत्त्व की ही अनुपपत्ति है। अर्थात्-छहों विकारोंके होने से जीवों का सद्भाव बन सकता है। अन्यथा वन्ध्यास्तनन्ध्य के समान जीव असत् होजायेंगे।

यथैव हि जन्मविनाशास्तित्वापाये क्षणमिति न परमार्थसस्वं तथा विवर्तनपरिवर्धन-परिक्षयणात्मकत्वापायेषि तथा प्रतीयते, अग्यथा क्टस्थात्मनीव खे पुष्पवद्वा चेतनस्य सत्वानुपपत्तेः।

सौगत कहते हैं, चूकि जिस ही प्रकार जन्म, विनाश, और अस्तिस्व का निराकरण माननेपर क्षणिकपन इसप्रकार परमार्थ रूपसे सत्पना नहीं बनपाता है, उस प्रकार विपरिणाम परिवृद्धि, अपञ्चय, आत्मकपना नहीं मानने पर भी तिस प्रकार क्षणिकपना वस्तुभूत प्रतीत होजाता है। अन्यथा कूटस्थ आत्मा में जैसे सत्त्व नहीं है अथवा जैसे आकाश में पुष्पका सत्त्व नहीं है, उसी प्रकार चेतन के सद्भाव की असिद्धि बन बैठेगी अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर लिया जाय। आचार्य कहते है कि जिस ही प्रकार जन्म विनाश और अस्तित्व को नहीं माननेपर बौद्धों के यहां क्षणिक पदार्थ में वस्तुमूत सत्पना नहीं आसकता है, उसी प्रकार परिणित वृद्धि, और अपक्षय स्वरूप पदार्थ को नहीं माननेपर भी तिस प्रकार वास्तिवक सत्पना नहीं प्रतीत होरहा है। अन्यथा यानी तीन को माना जाय और विवर्तन, परिवर्द्धन, परिक्षय इन तीन को

नहीं माना जाय तो कूटस्य बात्मा में जैसे परमार्थ सत्त्व नहीं है या आकाश में पुष्प की जैसे बस्तुमूत कत्ता नहीं है, वंसे ही चेतन जीव के बास्तविक सन्पना नहीं बन सकता है।

स्वभावांतरेणोपपत्तिरेव परिणामो वृद्धिःचाधिवयेनोत्पत्तिरपक्षयस्तु विनाश एवेति न षड्विकारो जीव इति चेन्न, अन्वितस्वभावापिरत्यागेन सजार्तः सेतरस्वभावांतरमात्रप्राप्तेः परिणामत्वादाधिवयेनोत्पत्तेच्च बृद्धित्वादेशतो विनाशस्यापक्षयः वात्परिणामादः नां विनाशोः पादा-स्तित्वेभ्यः कथंचिद्भेदवचनात्।

बौद्ध कहते हैं कि किसी भी पदार्थ का अन्य न्यारे स्वभावों करके बन जाना ही तो परिणाम है और विद्यमान स्वभावों से अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि है। अपक्षय तो विनाश ही है। मों परिणाम तो अस्तित्व में और वृद्धि जन्म में तथा आक्षय विनाश में गिनित हो जाते हैं। इस कारण तीन विकारों वाला ही जीव हुआ। छह विका ोंवाला जीव सिद्ध नहीं होसका। मन्यकार वहते हैं कि यह तो नहीं कहना। बयोकि तुम्हारा किया गया यह परिणाम, वृद्धि, अपक्ष- योंका लक्षण बहुत बिख्या नहीं है। सिद्धान्तमुद्धा से इनका लक्षण यह है कि माला में सूत के समान मोत पोत होरहे अन्वित स्थभावोंका परित्थाण नहीं करके सजानीय और उनसे भिन्न विजातीय ऐसे न्यारे न्यारे स्वभावों की केवल प्राप्ति होजाना परिणाम है और द्रव्यके स्वरूप होरहे स्वभावों का त्याग नहीं कर स्वभावों की अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि नामका विकार है तथा ध्रुव स्वभावोंका परित्थाण नहीं कर एकदेशसे कितप अशों का विनाश होजाना अपक्षय है। अतः परिणाम आदि तीन विकारों का विनाश, उत्पाद, अस्तित्व, इन तीन विकारों से कथांचत्र भिन्नपने से निरूपण किया गया है। अतः जीवके छही विकार मानना ममुचित है। उत्पाद, व्यय, ध्रीव्यों की साध्य अवस्था और साधन अवस्थाओं पर लक्ष्य देनसे जीववस्तु या अन्य-वस्तुओं के छह विकार मुलभतया सध जाते है।

जीवस्यान्वितस्वभावासिद्धेर्ययोक्तपरिणामाद्यनुपयितिति चेन्न, तस्य पुरस्तादन्वितम्ब-भावस्य प्रमाणतः साधनात् । ततो न जीवस्यैकानेकात्मकत्वे साध्ये सत्त्वादित्यय हेतुरसिद्धोऽनै-कांतिको विरुद्धो वा,जन्माद्यनेकविकारात्मकत्वाधायेऽन्वितैकत्वभावा नःवे च सवया सत्त्वानुपपत्ते. ।

बीद्ध कहते हैं कि सवंथा क्षणिक होने के कारण जीव के सदा अन्वित होरहे स्वमावों की सिद्धि नहीं हो पाती है। इस कारण पूर्व में वहें अनुमार परिणाम आदिका युवितपूर्वक बनना नहीं होता है। अर्थात्-भाप जैनोंने अन्वित स्वमावों का परिस्थाण नहीं करना तो परिणाम आदिकों का घटकावयव बना दिया है। केवल एकक्षण ठहर कर द्वितीयक्षण में समूल चूल नष्ट होजाने वाले क्षणिक पदार्थ में अन्वित स्वभाव नहीं पाये जाते हैं। प्रति दिन दो आनं कमाकर दोनोंही आनों का व्यय कर देनेवाले घसखोदा के यहाँ सवित द्रव्य नहीं मिलता है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पूर्वप्रकरणों में उस जीव पदार्थ के अन्वित होरहे स्वभावों की प्रमाणसे सिद्धि कर दी गयी है। अनादि, अनिधन, अन्वेता, भाव, जीवद्रव्य है। इसको अकाटच युवितयों से साध दिया गया है। तिस कारण जीवके एक अनेक आत्मकपना

साध्य करनेपर दिया गया। सत्त्वात् यह हेतु असिद्ध नहीं है। अथवा अनेकान्तिक या विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। जन्म, अस्तित्व आदि अनेक विकार स्वरूपपना नहीं माननेपर और अन्वित होरहे एकत्व भावका अभाव माननेपर सभी प्रकारोंसे सत्पना नहीं बन सकता है। सर्वथा नित्य पवार्थमें जन्मादिक नहीं होनेसे सस्व नहीं है। सर्वथा क्षणिकमें अन्वित एकत्वके नहीं होनेपर सस्व नहीं बन पाता है। अतः "नानैकात्मतया सन्तो नान्यथार्थिकयाक्षतेः" और "विकारी पुरुषः सत्त्वाद्वहुवानकवत्तव" इन वात्तिकों में कहा गया सत्त्व हेतु निर्दोष है।

एतेनानेकवाग्विज्ञानविषयत्वमात्मनो निवेदितं।

जीवके होरहे छह विकारोंको साधनेवाले इस कथन करके आत्माके अनेक वचन और विज्ञानोंका विषयपना भी निवेदन किया जा चुका समझ लेना चाहिये। अर्थात्—वाच्य अर्थकी अनेक परिणितयों अनुसार एक अर्थके अनेक वाचक शब्द प्रयुक्त कर दिये जाते हैं जैसे कि एक घडेमें "मिट्टीका है" नवीन है, बडा है, सुन्दर है, पुष्ट है, लाल है। इत्यादिक शब्दप्रयोग अनेक परिणितियोंके अनुसार हो जाते हैं। इतसे भी अधिक परिणितियोंके अनुसार उस घट विषयमें अनेक ज्ञान उपज जाते हैं। अतः अनेक शब्द और नाना विज्ञानोंका योचर हो जानेसे घटके समान जीवातमा एकानेक आत्मक है। यह हेतु भी व्यमिचारादि दोवोंसे रहित है।

तयाने तशक्तिप्रचितःवं, वस्त्वंतरसंवंशाविर्मृताने कसंवंशिकपःवं, अन्यापेक्षाने करूपोत्क-ष्विषक्षंपतिरणगुणसंबंधिःवं, अतीतानागतवर्तमान कालसंबंधित्वं, उत्पाद्ययध्रीय्ययुक्तत्वं। अन्वयय्यतिरेकात्मकत्वं च सम्यातं । तस्य जन्मादिविकारष्य्कप्रपंचाः मकत्वास्तरक्यापकत्वी विपत्तः । सर्वान्ययानुपपर्या प्रसिद्धं च तत्सवं मेकाः मकत्वपने कात्मकत्वं च जीवस्य साध्यति सद्य्यतरापाये अने क वाश्विकानिषयः वागुपपत्तेः । तदनुपपत्ती सत्त्वानुपपत्तेः च जीवत्त्वा-ष्यवस्थितिप्रसंगात् ।

तथा सत्त्वहेतुकी पुष्टि करनेवाले उक्त कथनसे अनेक शक्ति प्रचितत्त्व, वस्त्वंतरसम्बन्धाविर्मूतानेकसम्बन्धिरूव, अन्यापेक्षानेकरूपोरकर्षापकर्षपरिणतगुणसम्बन्धित्व, अतीतानागतवर्त्तमानकालसम्बन्धित्व, उत्पादन्यमधीन्ययुक्तत्व, अन्वयन्यतिरेकात्मकत्व इन हेतुओंका
भी समर्थन कर दिया गया है। भावार्थ:—घृतमे अनेक शक्तियां हैं। घोका खा लेना शरीरको
चिकना करता है, तृष्टित करता है, शरीरको बढाता है, चरक संहितामें लिखा है।
" स्मृतिबुद्धधिनशुक्कोजः कफमेरो विवर्द्धां। वातिपत्तिवियोग्माद शोषालक्ष्मीज्वरापहम्।। १।।
सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसाकयोः। सहस्रवीर्यं विधिनिर्धृतं कर्मसहस्रकृत्। २।।
अथवा अग्नि जैसे दाह, पाक, शोष, स्फोट, आदि अनेक कार्योको करनेकी स्वात्मभूत शक्तियाँसे खिवत हो रहीं है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य, वीर्य, आनन्द, सम्यग्दर्शन बादि गुण
स्वरूप शिवतयों करके अथवा सामायिक, ध्यान, अध्यापन, दान, उपमोग, सत्य, ब्रह्मचर्यं, योग,
पर्याप्ति बादि पर्याय स्वरूप शक्तियोंकरके पिण्डभूत हो रहा है। अतः एक अनेकात्मक है।

तथा जिस प्रकार एक घट दूरवर्ती, निकटवर्त्ती, नवीन, पुराना, देवदत्तसे बनाया गया, यज्ञदत्त का स्वामिपना, आदि न्यारे न्यारे वस्तुओं के सम्बन्धसे अनेक सम्बन्धी स्वरूप प्रकट है, उसी प्रकार आर्यक्षेत्र, म्लेच्छस्थान, पंचमकाल, क्रव्यसहितपना, स्त्रीपुत्रमहितपना, पंचेन्द्रियता, भेष्ठकुल, यशः, सुगुर, कुगुरु, कुभोजन आदि अनेक वस्तुओंके सम्बन्धसे यह आत्मा अनेक सम्बन्धी स्वरूप हो रहा है। इस हेतुसे आत्मका सत्त्वपना सवता हुआ एकानेकात्मकपनको साध देता है। एवं जैसे एक घडा अन्य व्यंजक पदार्थीकी अपेक्षासे व्यग्य हो रहा अनेक स्वरूप उत्कर्ष, अपकर्ष परिणतिको धार गहे रूपादि गुणोंका सम्बन्धी हो जानेसे एकानेकात्मक है, उसी प्रकार आत्मा संस्थात, असंख्यात, अनन्ते, उत्कर्ष अपकर्ष आत्मक परिणतिवाले गुणोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है तथा यह अनादि अनिधन आत्मा अतीत अनागत, वर्तमान कालोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है। अर्थात् - भूतकालकी स्वकीय पर्यायोंसे सम्बन्धी हो चुका है। वर्तमान कालीन पर्यायोके साथ तदान्मक हो रहा है और भविष्यकालीन निज पर्यायों के साथ ससर्ग करेगा। बनारसमे गंगा जलको देखनेवाला यों कह देता है, यह जल कानपुरमें बह चुका है, यहां बह रहा है, पटनामें बहेगा। इस प्रकार एक आत्मामे अनेक कालवर्ती परिणतियोवा संसर्ग होते रहनेसे एकानेकात्मकरना है। गम्भीर दृष्टिये विचार किया जाय तो तीनों कालकी परिणतियोका किसी भी कालके परिणामपर स्थल या सुक्ष्म सम्कार बना रहता है। '' होनहार विरवानके होत चीवने पात '' ''पूतक लक्षण पालनेमें ही दीख जाते हैं "ये किवदन्तियां व्यथं नहीं है। "तादृशी जायते बुद्धियां दृशी भवितव्यता "यह शिक्षा रहस्यसे रीती नही है। बाल्य अवस्थाका पूष्ट, गरिष्ठ भोजन वृद्ध अवस्थातक प्रभाव डालता है। व्यायाम करनेवालेका शरीर अन्ततक दृढ बना रहता है. छोटे हृदयका पुरुष होजानेपर भी तुच्छताको नही छोडता है। जब कि महामना, उदान पुरुप कैसे भी अवस्थामें अपने बडप्पनको विना प्रयत्नके बनाये रखता है। भविष्यमें आंधी या मेघवृष्टि आनेवाली है इसका परिज्ञान वर्तमानमे हो रही पृथिवी, वायु, जल, आदिकी सूक्ष्म परिणतियो अनुसार कीट, पतंग, पशु पक्षियों तक को हो जाता है। जहां मन्त्य या तियँचोका उपद्रव नहीं हुआ, नहीं होरहा है, नहीं होगा, ऐसे स्थलकी परीक्षा कर झीगुर, बरं, मकडी, मोहार, खटमल, भोरी, आदि कीट निवासस्थानोंको बनाते है। उनमें यहां वहांसे कीट या अन्य पूर्गल लाकर रखते है। बन्चोका शरीर बनाते हैं, इत्यादि अर्थिकियाओसे सिद्ध है कि असख्यात अनन्त वर्षीतक की पहिली पीछी, पर्यायोंका चाहे निसी भी एक पर्यायपर थोडा प्रभाव उद्दिकत रहता है। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनन्तभवीतक चली जाती है। मोक्ष होनेके पहिले अर्ध पुद्गलपरिवर्तनवाल अ।दिमें हुये सम्यग्दर्शन परिणामकी सध्यके अनन्त भवोमें कुछ अनिर्वचनीय वासना छाई रहती है। शब्दकी उत्पादक स्थानसे सैकडों हजारों कोमतक लहरें उठ बैठती हैं। हंगना, मूरना, भोजन करना, शयन करना इन कियाओमें कितनी ही आगे पीछे तक वैसी वैसी परिणति होती रहती हैं। चेतन और अचेतन पदार्थों की वर्तमानकालीन परिण-तिको देखकर वैद्य या ज्योतिषीय विद्वान् भूत, भविष्यकी परिणतियोंका परिज्ञान करलेते हैं।

बात यह है कि जैनसिद्धांन अनुसार द्रश्यको निःय माना गया है। इसमें बडा अच्छा रहस्य है। किसी भी पर्यायसे आकांत हो रहा द्रव्य अपने परिवारकी शक्तियोंपर अभिमान कर रहा सदा सर्वत्र अन्त्रित हो रहा है। जैसे कि पचास लाख रुपयों के अधिपति सेठकी बीस दुकानों में किसी भी दुकानपर विशेष समस्याकी अवस्थामें प्रचास लाखका उत्तरदायित्व झेल लिया जात्^र है, उसी प्रकार द्रव्यको भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन चाहे किसी भी पर्यायमें अनाद्यनन्त द्रव्य अन्वित रहता है। एक एक पर्यायमें अनन्तानन्त स्वमाव विद्यमान हैं। जितना गहरा प्रविष्ट होकरके देखेंगे उतना ही अट्ट धन दीख जावेगा । यों एक वस्तूमें तीनों काल सम्बन्धी परिणामों की अपेक्षा अने कात्मक रना है। तथा उत्पाद, व्यय, ध्रीव्योंसे युक्त होने के कारण एक द्रव्य अने कात्मक है। एक वस्तुमें अनेक उत्पाद हो रहे हैं, उतने ही विनाश हो रहे हैं, स्थितियां भी उतनी ही अनन्तानन्त हैं। उत्पन्न, उत्पद्यपान, उत्पत्यपान, आदि भेदोंसे अनेक चमत्कार वस्तुमें हो रहे हैं। वस्तुके संपूर्ण अन्तरंग बहिरंग अभिनयोंको सर्वज्ञदेव जानते हैं। घडा उपजता है, कुशूल विनशता है, मट्टी ध्रुप है, बाल्य अवस्था नष्ट होती है, युवा अवस्था उपजती है । मनुष्याना स्थिर है, ऐसे स्युल उत्पाद आदिको गमारतक जानते है। इसी प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, स्वरूप होतसे आत्मा एकानेकात्मक है। जीवत्व, जातापन, दुष्टापन, भोनतापन, आदि स्वमावों हरके अन्वय बन रहा है, और ववन विज्ञानों द्वारा व्यावृत्तिके विषयभूत स्वभाव या जायेत, अस्ति, आदि धर्म, गति, इदिय, काय, इन विजक्षण परिणतियोंसे आत्मा व्यतिरेक स्वरूप है। इस प्रकार विपक्ष में बाधक प्रमाणों को दिख जाते हुए अनेक शक्ति प्रचितत्व आदि हेतुओं की एकानकात्मान साध्यके साथ ब्याप्तिका सपर्यन किया जा चुका है। क्योंकि वे " अने कवारिवज्ञान विषय:व " आदिक तो जन्म ग्रादि छह विकारों के प्रयंच स्वरूप है । अतः इनको सत्त्रका व्यापकाना बन जाता । सत्त्रके साथ हो रही अन्ययानुपपत्ति करके प्रसिध्द हो रहे वह सब हेत् जीव के एकानेत्मकपनको साथ देते है। उन सत्व या एकानेकात्मकपन दोनों मेसे किसी एकका भी अभाव मानने पर "अनेकवागविज्ञानविषयत्व " आदि हेतूओंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी और उस अनेक वचनों या अनेक विज्ञानोकी गोचरता आदिकी सिद्धि नहीं होने पर सत्वकी असिद्धि होजानेसे जीव तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा।

तत्र जन्मावि विकारप्रयंत्रस्याविद्योपकित्यत्वे क्रमाक्रमयोरप्यविद्योपकित्यत्वप्रसिवतः।
ततश्चार्यक्रियाप्यविद्याविकृभितैवेति न सत्त्वं परमार्थतः प्रशिद्धेत् । तत एव संविन्मात्रं तत्त्वभित्यपुष्तं, तस्य ब्रह्माद्यद्वैतवदप्रतीतेरिति प्रयंचेन समिधितत्वात् । नानैकात्मतया प्रतीतेरंतवंहिश्च
सुनिद्यितासंभवद्वाधकत्वसिद्धेश्च सिद्धौ नानैकात्मको जीवः ।

उन जीव वस्तुओमें जन्म, अस्तित्व, बादि विकारों के प्रांचको यदि बौद्ध मिथ्याज्ञान हीरही अविद्यासे कल्पना किया जा रहा मानेंगे, तब तो क्रय और अक्रमको भी अविद्यासे उपकल्पित होनेका प्रसंग आवेगा और उससे फिर बर्थिकिया भी अविद्याकी ही चेष्टा समझी जावेगी। इस प्रकार परमार्थरूपसे कीवमें सत्यना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा। व्यापक ही यदि मनगदन्त है

तो व्याप्य अवदय झूंठी कल्पनाका विषय माना जावेगा। इस सद्भाग्यसे मिले हुए अवसरपर योगाचार बौद्ध यदि यों कहे कि तिस ही कारणसे यानी जन्म, कम, अकम, अविकिया, आदि बहिर्मूत पदार्थोंकी ठीक ठीक सत्ता नहीं बन सकनेसे हम अंतरग शुद्ध सम्वेदनको ही वस्तुमूत तत्त्व मानते हैं, कार्यं कारण, आधार आध्ये, इत्यादि सब व्यथंका झगडा है। आचार्य कहते हैं यह केवल सम्वेदनाद्वेतका स्वीकार कर लेना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि बद्धादित, शब्दादैत, आदिके समान उस सम्वेदनाद्वेतकी भी कदाचित् प्रतीति नहीं होती है। इस बातका हम पूर्व प्रकरणोंमें विस्तार करके समर्थन कर चुके है। वहां देख लो। यहां यह कहना है कि सभी आत्मा आदि और सभी घट आदि अन्तरंग, बहिरंग, पदार्थोंकी एक अनेकात्मकस्वरूपसे प्रतीति हो रही है तथा बाधकप्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय हो चुकना मिद्ध है। अतः यों अनेक धर्मोंके साथ तादात्म्य सिद्ध हो जानेपर जीव एक अनेक आत्मक हो रहा सिद्ध हो जाता है।

ततः स्वतत्त्वादिविशेषचितनं घटेत जीवस्य नयप्रमाणतः । कमाद्यनेकांतत्तया व्यवस्थितेरिहोदितन्यायबलेन तत्त्वतः ॥१४॥

तिस कारण जीवके निज तत्त्व आदि विशेषोका चिन्तन करना नयो और प्रमाणोंसे घटित हो जावेगा। क्योंकि कम अकम अर्थिकथा आदि करके अनेकान्त रूपसे जीवकी व्यवस्था हो रही है। इस अनेकान्तका यथार्थरू से कहे जा चुके न्यायकी सामर्थ्यसे यहां चौथे अध्यायमें प्रकरण अनुसार विवेचन कर दिया गया है।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार चौथे अध्यायका दूसरा आन्हिक यहातक समाप्त हो चुका है।

यहां विशेष यों कहना है कि राजवांतिक और सर्वार्थसिद्धि में "लौकान्तिकानामण्डो सागरोपमाणि सर्वेषाम्" इस सूत्रकी व्याख्या की है। मुद्रित क्लोकवांतिक में 'तद्द्यागोऽपरा' इस सूत्रपर चौद-हवांतिकों को बनाकर विवरण करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्यने पद्मवात् चौथे अध्यायको समाप्त कर हिया है। लिखित पुस्तक में बारहवीं वांतिक के प्रथम त्रुटिका चिन्ह देकर "लोकान्तिकानां" इस सूत्रको लिखा है। किन्तु वह पीछे क्षेपण किया हुआ प्रतीत होता है। "तद्द्यागोऽपरा" इस सूत्रको चौदह वांतिक और उनके विवरण में कही भी ऐसा स्थान नहीं मिलता है जहां कि "लोकांतिकानाम्" इस सूत्रको खाल दिया जाय, पहिले पीछेके प्रकरण पूर्वापर सगतिके लिये हुये जकड रहे हैं। ग्यारहवी और बारहवीं वांत्तिक के बीच में इस सूत्रको घुसेडना कथमपि शोभा नहीं देता है। वयोंकि पहिले ग्यारहवी वांतिक में नित्यंकान्त बादी सांस्यको आत्माके छह विकारोंका होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामें क्षणिकवादी बौदोंको भी आत्माके छह विकार होना समझानेका प्रकरण चलाया है। अतः यहां लौकान्तिक, सूत्रका डालना अशोभन जचता है। वांतिकोंकी संख्याके अंक भी ठीक आ रहे है। यदि मध्यमें सुत्र पड जाता तो वार्तिकोंकी

गणनाके अंक बदल जाते। अनेकान्त सिद्धिके प्रकरणका आरम्म होनेके प्रथम " व्यक्तिचार विजितत्वासम्मवात् " इप पंक्तिके परली और यह सूत्र डालना उचित जचता है। किन्तु यहां भी पूर्व प्रकरणके कर्मवैचित्रयकीं संगति जुड रही होनेसे स्वल्य भी स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता है। बतः बनुमित होता है कि यह सूत्र मुलसूत्र हरसे विद्यानंद स्वामीको अमीष्ट नहीं है। लोकान्तिकानां इत्यादि सूत्रको अपेक्षा "तदब्टमागोऽगरा " इस सूत्रमें अनेकान्तको सिद्धि करना अच्छा जवना है, ग्रन्थकारने ऐसा ही ढंग भी डाला है। श्रुनसागरस्वामीने भी इस को मूलसूत्र में परिगणित नहीं कर टी कामें "तथा च विशेष: लीकान्तिकानामव्दी सागरीप-माणि सर्वेषां, ये लोकान्तिकास्ते विश्वेषि गुक्ललेश्याः पंत्रहस्तोल्रताः अष्टसागरीयमस्थितयः इति। यों लिख दिया है। जिस प्रकार सर्वावंसिद्धिमे या राजवातिकमें इस सुत्रका अवतरण दिया गया है, अयवा श्रुतमागर स्वामीने जिन प्रकार अन्य सुत्रोंका अवनरण दिया है, उस प्रकार इस सूत्रका अवतरण नहीं दिया है। ये अनुसागर सूरि तत्वार्यपूत्रकी टीका करते हुए प्रत्येक अध्यायके अन्तर्ने और यहां भी "सकलविद्वण्यतविहिनवरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संछद्दिननिष्यापन दुर्गरेण श्रुनपागरेग सुरिणा विरचिनायो इन्होकवातिकराजवातिक सर्वार्यसिद्धि न्यायकुमुद्दचन्द्रोदय प्रमेय हम छ नानंग्ड प्रवण्डाष्ट्रस इस्रोप्रमुखप्रन्यसन्द भैतिर्भरावलोकनस्दि-विरिवतायां तत्त्वार्यटीकायां चतुर्यो अपाय: समाप्त."। यों लिखकर आनेको राजवातिक, ब्लोक-वार्तिक आदि प्रत्योका अन्त प्रवेशी जाना प्रकट करते हैं। अस्तू कोई विरोध नहीं होनेसे उस त्रुटिको यहां भाषा अर्थ करते हुए अविकल उद्धत कर दिया जाता है। सम्भव है कि यह श्री विद्यानन्द्र स्वामीकी कृति होय "ब्रह्मकोकालया" आदि इन दो सूत्रोंने जैसे लीकान्ति-कोंका स्वतंत्र निरूपण किया है, उपी प्रकार स्वितिके प्रकरणमें सूत्रकारने यह सूत्र भी पढ दिया होय । इस विषयार विशेषत विद्वान और अधिक प्रकाश ढाल सकते हैं ।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।

सम्पूर्ण लोकान्तिक देवोंकीं आठ सागरोम स्थिति है।

रोकान्तिकसुराणां च सर्वेषां सागराणि वै । अष्टाविष विजानीयात्स्थितिरेषा प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी स्थिति भी आठ सागरकी निर्णीत हो रही विशेषतया जान लेनी चाहिये। यों यहांतक स्थितिका बढिया कीर्तन कर दिया गया है।

लीकान्तिकदेवानां समस्तानां सदैव अब्दी सागराणि हियतिव्यंभिचारवीजता ज्ञातव्याः।

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी सदैव बाठ सागरकी स्थिति है जो कि व्यभिचार दोषोंसे रहित हो रही जान लेनी चाहिये। जवन्य और उत्कृष्ट स्थिति बाठ ही सागरकी है। लौका नितक देव विशेषताओंसे रहित हो रहे सब एकसे हैं। पांच हाथ ऊंचा इनका शरीर है। शुक्ल लेश्यावाले हें। त्रिलोकसारमें "चोह्पपुव्यधरा पिडवोहपरा तित्थयरिवणिककमणे। एदेसि-मट्ठजलिहिट्ठदी अरिट्ठस्स णव चेव।। ५४०।।" इस गाथाद्वारा अरिष्ट जातिके लौकान्ति-कोंको नौ सागरोपम स्थिति कही है।

इति श्रीविद्यानित्द आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवातिकालंकारे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यविरचित तत्त्वार्थंक्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमे चौथा अध्याय परिसमाप्त हुआ।

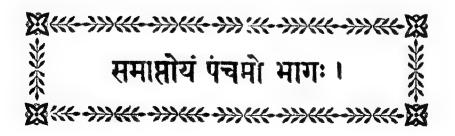
-- ---

इस चतुर्ष अध्यायके प्रकरणोंकी सारणी सक्षेपसे इप प्रकार है। प्रथम ही देवोकी चार ही निकायोंकी पुष्ट कर आधार नहीं कह कर देवोंका ही कथन करने में सूत्रकारका अभि-प्राय दिखलाया है । तीन निकायकी लेक्याओंकी साधकर कल्पीपपन्नीमें इंद्रादि भेदीका अतरंग कारण कर्मों करके होना कहा है। व्यन्तर और ज्योतिषियों की विशेषताओं को बताते हमें प्रवीचारोंकी हीनता होने में पृण्यके उत्कर्षको प्रधानकारण सिद्ध किया है। तभी तो उपरिमदेव प्रवीचाररहित है। भवनवासी व्यन्तरों के विशेष भेद भी कर्मोदयजनित कहे गये है। माम आदिका भक्षण देवोंमें नही है। शब्दनिरुक्तिद्वारा इनके आधार विशेषों की प्रतिपत्ति करादी है ज्योतिष्कदेव कर्मोंके आधीन होकर सुर्यविमान चंद्रविमान आदि अनेक विमानोमें स्थिति कर रहे बताये हैं। कुछ ताराओको छोडकर मनुष्यलोक सम्बन्धी सभी ज्योतिष्क विमान मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे है। यहांसे सात सी नब्बे योजन ऊंचे स्थानसे प्रारम्भकर एकसी दस योजन मोटे और एक राजू लम्बे चौडे आकाशमें ज्योतिष्क विमानीका सभ्दाव है। नीचे, ऊरर, भीतर बाहर विराज रहे विमानोका कम दरशा दिया है। " छक्कदिणवतीससयं दसयसहस्सं खवार इगिदालं । गयणित दुगतेवण्णं विरतारापुक्खरदलोत्ति ''। जम्बूद्वीपमें छत्तीस, लवण समुद्रमें एक सी उनतालीस, घातकी खण्डमें एक हजार दस, कालोदक समुद्रमें इकतालीस हजार एकसी बीस, और पुष्करार्धमे त्रेपन हजार दो सौ तीस स्थिर तारे हैं। इनके अतिरिक्त ढाई द्वीपमे सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र सुदर्शन मेहकी सदा अपनी नियत गति अनुसार प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अट्ठाईस नक्षत्र अट्ठाईस ग्रह और छघासिठ संख, सतानवे पद्म, पचास नील, ६६९७५००००००००००० तारे है। एकसी बत्तीस चन्द्रमा सम्बन्धी इतना इतना ही परिवार ढाई द्वीपमें समझ लेना चाहिये। स्वामीजीने भूमीके भ्रमणका अच्छा खड्न कर नक्षत्र मण्डलकी स्थिरताका प्रत्याख्यान किया है। पृथिवीके विदारण होनेका बडा चय-

त्कारक प्रसंग दिया गया है। ग्यारह सी वीस योजन पृथिवीकी चीडाई या इससे कुछ कमती बढती नहीं सबती है। यहां नदियोंके प्रभव स्थान और प्रवाह मार्ग अनुसार भूगोलका अच्छा निराकरण किया गया है। और भी अनेक युक्तियां दी हैं। काल आदिके वश भूमीके नीचे, ऊंचे आकार भी जैनोंके यहां माने गये बताये है। जो मनुष्य कुयेमें नीचे ठहरा हुआ है। उस की दुवहरके समय घण्टे दो घण्टे का ही दिन भाषता है। गुफा या तिरछी भूमिमें निवास कर रहा मनुष्य वर्षों या महीनोंतक सूर्य दर्शन नहीं कर सकता है। सूर्यके उत्तरायण या दक्षिणायन होनेपर अनेक स्थलोंपर विभिन्न जातिके दिन रात हो जानेका प्रकरण मिल जाता है। जहानका ऊपरला भाग दिखनेसे या उदय, बस्त, होनेकी वेलापर भूमीसे लगे हुए सूर्यका दर्शन होनेसे पृथिवीको गोल मानना कोरी बालबुद्धि है। क्या आकाशको या स्वच्छजलको नीला देख लेनेसे उनमें नीलरंग घुला हुआ मान लिया जावेगा? कभी नहीं। देखो हम लोगोंकी आंखों में भी कतिपय दोष है जिससे कि नाना प्रकार आन्तियां हो जाती है। दूर देशतक अंचा उडता जा रहा पक्षी भी हमे नीचे उतरता हुत्रा सारिखा दोखता है। किन्तु ऐसा नहीं है । दस पांच कौस लम्बे चौडे एक तिकोने या चौकोने चौंतरापर बीचमें खड़ी होकर देखनेसे चारों ओर गोल दीखता है। किन्तु एतावता वह चौंकोर चौंतरा कथमपि गोल नहीं हो जावेगा। यदि पृथिवी गोल घूमती हुई मानी जावेगी तो पक्षी उडकर अपने घोसले बर नहीं आ सके गा। क्यों कि उसकी छोड़ी हुई पृथिशी तबतक सैंकड़ो मील दूर शूम जावेगी। इसके लिए पचास मील या इससे भी कमती बढ़ती वायुका भी अनण पृथिवीके साथ स्वीकार करोगे तो वेगसे चल रही वायुके साथ धुत्रां या आककी रूईकी क्या दर्शा होगी। मसाल या दीपककी सीधी लौ नहीं उठ सकेगी। टिमटिमाता हुआ दीपक झट बुझ जायगा। तोपसें निकले हुए बलवान् गे.हेको पृथिवी अपने सांथ वायुकी सहायतासे ले जाय। किन्तु फर्नूदा या छोडे हुए वारूदेके वाणके फुलिगोंपर अपना प्रभाव नहीं जमा देवें यह आश्चयं है। जो वायु रूई या फुफूदेको पृथिव के साथ पूर्वको ले जानेमें समर्थ नहीं है। वह वेगसे दौड रहे डेल या गोलीको कथमिप पथिवीके सत्थ नहीं ले जा सकता है। कदाचित हुए स्वल्प भूकम्पसे शरीर, हृदय, मस्तिष्कमें चक्कर आने लगते हैं। जो इतने प्रवस्त भूमि अमणसे मानव, पशु, पक्षिओं की क्या दशा होगी ? इसका अनुमान लगाना ही भयंकर है। आकर्षण शक्तिका भी खण्डन हो जाता है। समुद्रका इतना लम्बा चौडा जल केवल आकर्षण शनितसे नही इटा या चुपटा रह सकता है। हिन्द्रारसे कलकत्तेको जारही गगा नदी आकर्षण शक्तिवश गोल पृथिबी पर उलटी भी बह जाय तो कोन रोक सकता है। गोल पृथिवीपर जैसे हरिद्वारसे कलकत्ता नीचा है। उपी प्रकार कलकत्तंमे हरिद्वार भी नीचा सम्भवता है। अमेरिकासे नीचे वर्षका या भारतवर्षसे नीचे अमेरिकाका आकर्षणवश पृथिबीसे चुपटा रहना कहना असम्भव है। गुरुत्व धर्मके वश भारी पदायं सब नीचे गिर पडेंगे । चुम्बक या लोहेका दुष्टान्त सर्वत्र पूद्ग-लों में लागू नहीं होता है । एक वृक्षसे सेवफलका पृथिवीपर गिरना देखकर भूमिमें आकर्षण शक्तिकी न्यूटन पंडितद्वारा कल्पना करना बच्चोंका खेल है। हम आकर्षणका खण्डन नहीं करते हैं। किन्तु समुद्रका खारण पृथियी आदि अनेक मण्डलोंका भ्रमण केवल आकर्षण शक्ति से महीं हो सकते हैं। इस बातपर बल देते हैं। वस्तुतः ज्योतिश्वकरे अमणसे ही छाया हानि, छायावृद्धि, सूर्यका भूमिसंलान होकर दीख जाना, ये सब बन जाते हैं। भूमिमें भी अनेक प्रकारके नैमितिक परिणामीको उपजानकी शक्ति विद्यागन है। इसके आगे ग्रन्थकारने समरात्र होना आदिको पुष्ट करते हुये सूर्यके एकसी चौरासी मण्डल बताय हैं। महूर्तकी गतिका क्षेत्र तथा उत्तर, दक्षिण, को ओर होरहे उदयके प्रतिमासोंको घटित किया है। अभ्यन्तर मण्डल और बाह्यमण्डलोंपर दिन रातके कमनी, बढनी हो जानेको साबा है। यहां प्रतिकादियोंके हेतुओंका अच्छा खण्डन किया है। छायाका घटना, बढना कोई भूनीके गोच आकारको नहीं साध देता है। क्षेत्रकी बृद्धिको युक्तियोसे साधा गया है। सूर्यप्रहणका अच्छा विचार है। छोटोसी पृथिवीकी छाया सूर्य या चन्द्रभागर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती है। छोटेसे खंडकी भूमिसे सुरजकी ओर जिनना भी बढ़ा दिया जानेगा. त्यों त्यों उसकी छाया नष्ट होती जाती है। ऐसी दशामें सूर्यके निमित्तसे भूमिकी छाया पडता अपमंत्रस है। ग्रहणके अवसरपर उपराग पड़ना ठीक है। किन्तू वह अधःस्थित राहके विमानसे कार्य सम्पन्न हो जाता है। पृथिवीकी छायासे चन्द्रप्रहण और चन्द्रकी छायासे सूर्यप्रहण पडना मानना परीक्षाकी कसोटी पर नहीं कसा जा सकता है। सूर्य आदिके विमान मिणिमय अकृत्रिय वने हुरे है। राहु या केनु का पौराणिक कथानक झूठा है। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमान आभियोग्य देवोंद्वारा ढाये जाते हैं। पूर्व स्थी विद्वानों के भूमी को गोल साधने में दिये गये हेतु दूषित है। सर्वत्र समत अंशर क्वचित् नीची, ऊती, भूमिमें ज्योतिषतक की गतियों के वश हो रहे समरात्र आदिक सद बन जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण और आप्तोपज्ञ आगमसे विरुद्ध मनगढन्त मिद्धान्तका प्रतिपादन **करना केवल कु**छ दिनों उक कतिपय श्रद्धालुओ द्वारा मान्य भले ही हो जाय किन्तु सदा सर्वत्र सबके लिये अबाधित नहीं है। किसीने कुछ कह दिया और कदानिन् किसी पण्डितने अन्यया प्रतिपादन कर दिया, ऐसे क्षणिक मत जुगुनुके समान भला स्याद्वाद निद्धात सूर्यके सन्मुख कितने दिन ठहर सकेंगे ? स्वयं उन्ही लोगोंने परस्पर अनेक पूर्वापर विरोध उठा दिये जाते हैं। अने कान्तकी सर्वत्र विजय है। तदनन्तर गतिमान् ज्योतिष्कींद्वारा किये गये व्यवहार काल को साधा है। व्यवहारकालद्वारा मुख्यकालका निर्णय करा दिया है। ढाई द्वीपके बाहर असंख्याते सूर्य, चन्द्रमा, या अन्य विमान जहांके तहां अवस्थित बता दिये हैं। चौथी निकाय वैमानिकोंका वर्णन करते हुए कर्मोंदयके वश कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोका विन्यास बनाया है। नव शब्दकी वृत्ति नहीं करनेसे अनुदिशोको सूचित किया है। उत्तरोत्तर स्थिति आदिकोसे अधिकता और गति आदिकसे हीनताको युवितयों द्वारा साध दिया है। वैमानिकोंमें लेक्याका निरूपण करते हुये निर्देश आदि सोलह अधिकारों करके कृष्णादि लेक्याओका आग्नाय अनुमार निरूपण किया है। एक भवतारी लौकान्तिक देव और द्विवरिम वैमानिकोंका स्वतंत्रतया निरू पण कर चौथे अध्यायके पहिले अ। न्हिकको समाप्त किया है। इसके आगे तियंचोंकी व्यवस्था कर देव और नारिकयोंकी जवन्य, उक्किष्ट, स्थितियोंका निरूपण करते हुवे कर्मोंकी विचित्रता अनुसार स्थितियों की विचित्रता बताई गयी है। श्री अक्छंकदेव महाराजने चौथे अध्यायके अन्तमं राजवातिकमें जैसे अनेकान्तका जिस्तृत निक्कंण किया है, उसी अकार भी विद्यानन्द अध्याने एक एक द्रव्यको नाना स्वभाव आस्मक साधा है। जन्म अस्तित्व बादि छह विकाररों को सम्पूर्ण पदार्थ धारते हैं। "अमाविक्छ तुणस्त्र हेनुका अच्छा विचार किया है। नित्येकान्त और क्षिणक एकान्तका खण्डनकर द्रव्य, पर्याय, आत्मक वस्तुका नित्यानित्यास्म अपन प्रसिद्ध किया नया है। अन्य भी कितयय अकलंक हेनु शीं खीवतत्त्वका एक अनेकारमकपना साधते हुए चौथे अध्यायतक नय प्रयाणों द्वारा जीवतत्त्वको व्यवस्था कर दी गयी समझाई है। चौथे अध्यायके छोटसे द्वितीय आन्दिक को पूर्ण किया है। 'लीकान्तिकानामण्टी सामरोपमाणि सर्वेषां यह सूत्र उमास्वामिकृत है। इस विषयमें भी विद्यानन्द आचार्यका विदेश आदर नहीं अनुस्ति होता है। यो तत्त्वार्यक्लोकवानिकालंकार महान् ग्रन्थमें दो आन्दिको द्वारा चौथे अध्यायकी समाप्ति की गई है।

लेश्येन्द्राविककत्वनास्थितिवपुःसम्याद्यवृष्टः थली— संसारस्थचतुणिकायसरणो नानास्वश्चरयंचितः ॥ जन्मास्स्यादिविकारमृद्वहुवचो विकानवृग्गोचरोऽ। ध्याये तुर्य इलाहितैनिगदितो जीव। श्च्युमास्वामिभिः॥ १ ॥ वृग्जाननयमाबाङ्कभेदवल्लोकसंस्थितं। सूत्रित चतुरध्याय्यां जीवतत्त्वं प्रभेदभृत्॥ २ ॥

इति श्री विद्यानंदिआचार्यविरिचते तत्वार्थंश्लोकवार्तिकालंगारे चतुर्थोऽघ्यायः समाप्तः ।



त्तवार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गतश्लोकसूवी-

─० पंचम खंड ०─

रलोक	पृष्ठ नं.	इलोक पुष्ठ नं
अर		इति सूत्रत्रयेणाक्ष- १६८
अंत्यं निरूपमोगत्वात्	२४२	इति स्वतत्वादिविशेषरूपतो १६९ इति निग्रह संप्राप्त्यै १९८
अय गंगादयः प्रोक्ताः	३४२	इत्येवं पंचिभ: सूत्री: २११
अ नादिपरिणामोस्ति	४२	
अन। बिमूर्ति मिस्तस्य	¥ १ ६	इति सति वहिरंगे कारणे केपि
अनित्यो भावबोधक्चेत्	१ ७६	मृत्यो २७१
अनुद्भूतस्वसाम ्यं	¥	इति सूत्रद्वयेनाधो ३०३
अ न्यथामावहेतूनां	₹ १	इह प्रपचेन विचितनीयम् ३१४
अविग्रहा गतिस्तत्र	१९३	इत्येके तदसबद्यं ४११
अ व्याचातिस्वरूपत्वात्	२४९	इति हेतोरसिख्दवं ४१७
अ ष्टभेदा विनिर्दिष्टा	५४०	इत्येके तदसंबाष्तं ४४८
असंप्राप्तर्धयः क्षेत्रा	३७४	इति कियानुमानानां ४६९
अत्रीपपादिकादीनां	२५९	इति कथितविशेषो ४९०
बस्मास्समाद्धराभागा त्	५४७	इद्रादयो दर्शतेषा ५१६
अनंतभेदमासां स्यात्	६२७	इःयंब नवभिः सूत्रैः ५३४
आ		इत्यैकादशिभः सूत्रै. ६४५
आत्यंतिकक्षयो ज्ञान	16	इति संक्षेत्रतस्तिर्मग् ६४७
जा त्मपुद्गलपयीय	१ ६५	इति केचित्प्रध्यस्ताः ६७१
आद्यं तु सोपभोगाभ्यां	282	आहारकं शरीर तु २४९
आचातु स्कंबमेदेच्छा	६३२	ਚ
अ नितप्राणतद्वंद्वं	६ ०७	उत्तिरोदियकस्यातः ७
आहस्यादिस्तु नीलाया	६३ २	उदयः फलकारिस्वं ५
आर्थोवदेशतः सिद्धाः	६३३	उपर्युविर तद्धाम ६०१
	131	उपर्युपरि ते हीना ६१६
ξ		
इतीद्रियाणि भेदन	१४८	35
इति सूत्रद्वयेनाक्ष-	148	ऊध्वधि भ्रमणं सर्व ५५४

श्लोक	पृष्ठ न	घलोक	पृष्ठ नं.
y		कृतधीजनकं तद्धि	४ १ ७
एकं समयमात्मा द्वी	१९६	कृष्णादयोऽशुमास्तिस्रो	६२८
एकका चाप्यसंख्येय	६२८	कृष्णा प्राथमिकक्लेश-	६२९
एनत्त्रयोजना भावाः	Ę	कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यात्	६३४
एतत्समुद्भवा भावाः	83	केवलं मुखमग्तीति	४१६
एवं निश्शेष तत्वानां	40	कालादिपयंयस्यापि	४२२
एवं सूत्रद्वयेनोक्तं	9 9	e	
एवं सूत्रत्रयोन्नीत-	३१०	खखंडभेदतः सिद्धा	५६४
एवमीशस्य हेतुस्व-	४३९	η	
एवं सूत्रचतुष्टयात्	484	गतिनामोदयादेव	38
एवं विशुद्धिवृद्धी स्यात्	६३१	गतौ तु विग्रहार्थायां	₹७३
एष एव नमी भागी	484	गतिमत्वं पुनस्तस्य	१७४
		गतिर्मुक्तस्य जीवस्य	१८७
ओ		गत्वा सुदूरमप्येवं	४१५
औपपा दि कतासिद्धेः	२४३	गत्यभावोषि चानिष्टं	448
क		गुर्वथं स्याभि मुख्येन	२९४
कयंचित् विरुद्धः स्यात्	8 83	ग्रंवेयकेषु नवसु	६०७
कमींदयं च तस्यैव	80	ঘ	
कर्में व कार्मण तन्न	२२८	ब नांबुपवनाकाश	२८३
कर्मपुद्गलपर्यायो	२२९	घनानिसं प्रतिष्ठान	२८७
कर्मभूमिभवा म्लेच्छा	३७६		
कल्याः प्रागेत ते बोध्याः	६३६	चतुर्यसमयेवश्यं	१९६
कवायोदयतो योग	35	चतुर्दशभिरित्येवं	२५ 🖁
कार्मणांतर्गतं युवतं	२३३	चानंतादि भागाद्वा	६३०
कार्यःवं न तथा स्वेष्ट	886	चरति तादृशादृष्ट	५४९
कालादेरशरीरस्य	४०६	चक्षुषा तानि वृद्धानि	१५७
किचिदौदारिकत्वेपि	२४४	चित्स्वभावतया तावत्	४९
कुर्वन्धित्यादि मूर्तीश्च	४१५	चेतनत्व स्वभावत्व	28
क्टस्थात्मकतापत्तेः		चतुष्वंिप निकायेषु	466
कूटस्थोपि पुमान्नैव	4 0	ज	
कृत्स्वकर्मंक्षयात्तावत्	१ ९७	जगतां नेश्वरो हेतुः	800
रुरिया गणावा पा वित्	४५	जन्मास्तित्वं परिणति	६६५

पृष्ठ नं.	प्रलोक	पृष्ठ नं.
६६९	तत्र सयोद्भवो भावः	५२
६७१		१ ६३
३६७		346
80		308
१२५		४५७
५४४		416
428	,	६२८
34	1	६ ३०
	तत्र लोकातिका देवा	६ ३७
		४८
	तदसंगतमादेश	49
	1	२०५
	तदादीनि शरीराणि	238
		२६ ८
		२८६
*		३९ ९
		858
	तद्भीवतुत्राण्यवट्टस्य	४२५
	तद्यपास्तमा वार्ये	448
	तद्विभागान्तथा मुख्यो	464
	तनुवात पुनव्योम	२८५
		२८७
	तन्मध्ये मेरनाभिः स्यात्	378
	तन्मध्ये योजन प्रोवतं	३३४
	तन्निबंधनपक्षुण्णं	३९९
	तयोपलक्षितांचाति	38
	त्रसास्ते स्थावराश्वापि	११६
	त्रसाः पुनः समारूपाताः	2 3 2
		२०५
		२२४
६४४		६२९
१५७	तिर्यंचोऽशुभलेश्याया	₹0 <i>&</i>
	\$ 9 9 9 8 9 9 9 9 9 9 9 9 9 9 9 9 9 9 9	दि १ तः सद्रव्यमनी युक्तं तः संत्रव्यमनी युक्तं तः संत्रव्यमनी युक्तं तः संत्रव्यमनी युक्तं तः संत्रव्यमनी युक्तं तः संत्रव्यम्य विशेषस्य तत्रापि व्यंतरा बज्या पि व्यंतरा बज्या पि व्यंतरा बज्या तत्रवायोदय स्थाने तत्र्व्यायोदय स्थाने तत्र्व्यायोदय स्थाने तत्रव्यायोदय स्थाने तत्रव्यायोदय स्थाने तत्रव्यायो तु मोक्षस्य तदसंगतमादेश तद्यात् त्रव्यात् वृत्रः कर्म तदादीनि शरीराणि तद्य्यतर दृष्टरस्यात् तद्य्यतर दृष्टरस्यात् तद्य्यतर दृष्टरस्यात् तद्यप्रवृत्यस्य महेशस्य तद्याये सहेशस्य तत्याये सहेशस्य तत्याये सहेशस्य तत्याये सहेशस्य तत्याये सहेशस्य तत्याये सहेशस्य त्याये सेति तस्य स्थापि योनयः संति तस्य स्थापि योनयः संति तस्य स्थापि योनयः संति तस्य स्थापे प्रात्यः त्याये स्थाये त्याये त्याये स्थाये त्याये संति त्याये स्थाये स्थ

रलोक	पृष्ठ नं.	इलोक	पृष्ठ नं.
त्रिशल्लक्षादिसंख्या च	३ ०२	म	
त्रिवेदाः प्राणिनः शेषाः	२५५		
त्रिष्वाद्येषु निकायेषु	५०९	म चैषां द्वंदनिर्देशः न चाभव्यादिकालुष्य	• • • • • • • • • • • • • • • • • • • •
त्रीणि त्रीणि बुद्धाः शुका	486		\$X
तेषामात्यंतिकी हानिः	ų	न चतत्प्रशमे किचित् न चौपशमिकादीनां	4.8 4.8
ते तिर्यग्योनिजानां च	398	न चापशामकावाना न च द्वीपसमृद्रादि	४९
ते स्पर्शादि प्रवीचाराः	420	न चेतामिमंहेशेन	₹ ९८
तेभ्यग्तु परे काम	५३२	न नतागनहरून नन्दौपशिमकादीनां	¥ १ ६ ४८
तेन्वर्थसञ्जतां प्राप्ताः	६४२	नन् द्वं पादयो धीमत्	Yo.
तेनभिज्ञा घटादिना	६६०		Yoş
तेषां भावविकारस्वात्	६६९	न तस्य पुष्ठपत्वेन नानास्मपरिकामास्य	४०८
तेषामीदयि करधेन	¥q	म दंशे व्यतिरेकोस्ति	
•		म प्रा च्यानरकाास्त म वरत्वाददृष्टस्य	x5*
•		नरदेष् दितेकादि	843
दशवर्षं सहस्राणि	६५७	नतु यद्वद्घटादीना	₹₹
दशा मुरादयस्तत्र	५३७	नानार्धं हरच शब्दोसी	६६०
दावीपशमिकी भावी	४६	नानैकांतिक मध्येतत्	•
डि स्वास्येव निवृत्ति	१ ३९	नानादिभवसंभूत	१ ९ १५९
दितीये पाणिमुक्तायां	१९६	नारका देहिनस्तत्र	74 7
द्वी द्वा निकाययोर्देवाः	420	नापर्यता धराखोपि	796
वृश्यमान समुद्रादि		नाधोधो गतिवैचित्र्यं	300
•	२९३	नाकोक्षतः पलायते	883
दृष्टिमोहोदयात्युंसी	₹ 4	नान्ययानुः पन्नः वं	४७३
दृष्टितिन्य।दि हेतूनौ	४२०	नासिद्धिमंणिमुक्तादी	४७४
द्रव्यं गुणः किया नान्त्य	SXX	नारकाणां च सक्षेपात	
द्वयोः सत्यश्विभव्टं चेत्	२९५		६५६
द्व्यादीनां भेदशद्वेन	१ o	निरवयमतः सूत्रं	9
देश्यः भीत्रम्खाः स्याता	३३५	निकक्तिरथं सामध्यद्	Ę
देशकाल विशेषाव –	४५७	निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेः	१९०
देवाश्चतुणिकाया इ-	407	निर्विष्टेभ्यस्तु गेषाणां	२१•
देवा कायप्रवीचारा	५२३	निमित्तहेतवस्वेते	२०७
धी मह ेतुत्वसामान्यं	Yol	नित्व सर्वेगतामूर्त	३८२

दलोक	पृष्ठ नं.	रलोक	पृष्ठ नं.
निमित्तकारणं तेवां	¥0.	पुंसि सम्यवश्वचारित्र	१२
नित्यज्ञानत्वतो हेतुः	808	पूर्वापरायतास्त त्र	379
निष्वस्यावासभेदस्य	488	•	
नै कांत भेदमृत्सिद्धी	४५४	बोधो न वेद्यसी नित्यो	¥03
नैवं प्रयोतुरेकस्य	४६२	बुद्धिमद्धेतुकं यादृक्	880
नोर्घ्वाघो भ्रमणं भूमेः	२८९	बहिमँन्ष्यलोकाते	494
मानाक्षत्रविषाकीति	390	वित्रते स्तित्व मे वैते	६६८
q		भ	
पद्मारयो ह्दास्तेवां	23.0	भरताद्या विदेहांताः	३९०
परासु गमनाभावात्	३₹१ ३०९	भन्याभव्यत्त्रयोजींव	86
परिवारनदीसंख्या	३४२	भवायुगंतिभेदान!	€38
परावरे विनिद्धि	२० २ ३९३	भावेंद्रियाणि लब्ध्यातम	686
परापरशरीराणां	•	भू भ्रमागमसत्यत्वे	२९५
पक्षस्यैवानुमानेन	866	भोग्यवासनया भोग्य	२३०
पस्योपममतिरिक्तं	4	भोगभूम्यायुष्ठःसेद्य	३७६
परेषामधिकं ज्ञेयं	६५८	Ħ	
प्रत्येकं भेदशब्दस्य	2.5		
प्रजानाद्यात्मका ह्येषा	ΥĘ	मध्यमा स्थितिरेतेषां	३९३
पंचें द्वेयाणि जीवस्य	8 \$ 8	मनोमात्रनिमित्तत्वात्	५३
परिणामी यथाकाल	886	मध्ये लेश्याचतुष्कस्य	६३१
प्रदेशतोल्पता तार	२२३	मुक्तस्येव न युज्येत	8,5
प्रबाघ्यते प्रमाणेन	२६८	मेरप्रदक्षिणा नित्य	५५१
प्रभृ तिः पद्मलेश्याया.	६३२	मस्तो धारकस्यापि	498
प्रत्यंशकं समास्याताः	६३ ३	महेश्वर सिसृक्षाया	४२४
पाथिवादि ज्ञरीराणि	₹ ₹¥	मनुष्यलोक संख्याया	३९७
ष्रागौ रश्चिम कस्योक्तः	٠	य	
प्राक्साधितात्र सर्वज्ञ	19	यथान्योन्याश्रयस्तद्भत्	886
प्राङमानुषोत्तराद्यरमात्। -	३६९	यदागमं प्रपचेन	६३४
प्राप्तद्धीतरभेदेन	३७१	यदानंतगुणा हानिः	€₹0
विडिकछेदवेच्छा च	६३२	युनतो अरायुजादीनां	२०८

रलो इ	पृष्ठ नं.	रलो क	पुष्ट नं.
येषां च चतुरस्रः स्यात्	198	4	•
ये ज्योतिष्काः स्पृता देवाः	464		
यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्	58	षोढा प्रक्रमयुक्तीयं	१८६
योजनानां शतान्यष्टी	486	· ·	
4		स द्विविधोष्टचतुर्भेद	९ ३
लब्पयः पंच तादृश्यः	२८	सदेहबुद्धिमद्धेतुः	806
लक्ष्याः संसारिणो जीवाः	808	स देहेतरसामान्य	४१०
लिगं वेदोदयात् त्रेघा	38	स घनोदधिपर्यन्तो	५५०
लेश्याः पीतादयस्तेषां	६२३	सम्यग्दृग्गोचरो जीवः	*
लेश्या निर्देशतः साध्याः	६२७	सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां	३५
लोको कृत्रिम इत्येतत्	४७१	समनस्कामनस्कास्ते	883
लोकांतिक सुराणां च	६७७	संज्ञिनां समनस्कत्वं	149
₹		सर्वकारणशून्ये हि	१९७
वनस्पःयंतजीवानां	१ ५६	संमूच्छंनादयो जन्म	२००
वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं	880	समरात्रं दिवा वृद्धिः	468
वर्षवर्षधराबः ध्य	SYE	सन्तिभस्ते तथा श्रेयाः	६ १२
वागाद नामतो भेदा	१ ३४	संयमासंयमोपीति	२९
दास्यादीनि च तरकर्तुं	४५६	सर्वगत्वाद्गतिः पुंसः	\$08
विकारी पुरुषः सत्वात्	६७०	संसारिणः पुनर्वेकी	929
विभुः पुमानमूर्तःवे	१७५	संभाव्यानि ततोन्यानि	784
विश्वतश्चक्षुरित्यादेः	860	सर्वतोप्यत्रतीघ ते	२२२
विशिष्टसन्निवेशं च	४७२	सर्व स्यानादिसंबंधे	२३७
विशुद्धेश्तरास्तिसः	६२८	संक्लेशतारतम्येन	३०५
वृत्त मोहोदयात्पुंसो	34	सर्वदाधः पतन्त्येताः	२९६
व्याख्यातात्रेश्वरेणीव	824	संक्लिष्टरेरसुरैर्दु.सं	305
वैमानिका विमानेषु	496	संक्षेपादपरात्वग्रे	३१३
विवादाध्यासितात्मानि	४५६	सन्ताधी भूमयी यहमात्	३१७
হা		संस्यायायामविष्कंभ	३३२
सरीरमात्मनोद् ष्टं	४१३	संमाव्यंते च ते हेतुः	३७२
शुद्धित्रकषंमाय।ति	१९	संप्रदायाव्यवच्छेदात्	३७७
गुद्धिर्ज्ञानादिकस्यात्र	१९	सज्ञरीरः कुलालादिः	860

रलोक	पृ. नं.	इलोक पृष्ठ नं.
समुद्राकरसंगूत	४७२	सिद्धं सादृष्यसामान्य ३८६
संमाध्यंते च ते सर्वे	५३२	सिसुक्षांतरतस्तस्याः ४२५
सर्वाभ्यंतरचारीब्ट:	440	सिद्धें कर्तरि निःशेषः ४६२
सर्वेषामुपरि स्वाति	440	स्थित्यादिभिस्तथाधिवयं ६१९
संख्येया द्विगुणाद्वापि	६३०	स्थितिरित्यादि सूत्रेण ६५३
संख्यातः क्षेत्रनश्चापि	£38	स्त्रीपुममुखसबाप्ति २५३
सर्वलोकाश्रयाः सिद्धाः	६४७	सूक्ष्मबादरकैर्जीवै: १९१
सानत्कुमार मःहेंद्र	६५६	स्यूलमाहारकं विद्यि २ १
सा यद्याद्रसद्भातान्	४१२	सूत्रकारस्तदेतेषां ५०२
सामर्थान्यह्यमा बोह्या	६५९	सूत्रंश्वतुर्भिरभ्यासात् ६५३
सामान्यतोनुमे याश्च	484	सूक्ष्मी भूनविशंपश्चेत् ६६०
स्वय संविद्यमाना वा	१ ५	हतो कत्वात्सर्व मात्रे म्यः ७
साम्ध्याद्गम्यमानस्य	१५२	सौबर्मेशानयोर्देता ६०६
स्पर्शनाद नि तात्याहु	१४५	सौबर्मेत्यादिपूत्रे च ६०७
स्मर्शादयम्तदर्था स्युः	१५१	सर्वेषा यदि कार्य वं ४४३
स्वयं संवेद्यमाना च	३७७	₹
स सादनं च सम्बन्धं	३५	हेतुरीदवरबेधेत १७६
स्मादेवनारकाणा ु-	२०९	हेतोरीश्वरदेहेन ४००
स्वयोनौ जन्म जीवस्य	२ १ २	क्ष
स्वप्नोपमोगसिद्धचर्यं	२३०	क्षयोपशम सद्भावे २८
स्वामाविकं पुर्गात्रं	२३२	क्षयोपशमभेदन १६३
स्वं तत्व लक्षण भद	२७२	क्षणिक निष्क्रिय विसं १९७
स्वारमप्रतिष्ठमाकाशं	२८४	क्षायोपशनिकस्या ।। ७
सामर्थितःततोन्येषां	२५९	क्षायोगशमिकं चाते ९
सार्धे दृढीपविष्कंभ	३८९	क्षायिका नव मानाः स्युः ४५
सामध्यदिवसीयते	३९०	क्षायोपगिमका दृष्टि ४६
सार्धद्वीपद्वये क्षेत्र	३९७	क्षायोगकामिकाः शेषाः ४७
स्थात्ररादिभिन्द्यस्य	866	क्षित्यादि मूर्वयः सं ते ४१४
स्वातंत्र्येण तदुद्भूती	*24	क्षीणाक्षं णात्मनां घाति २७
सिद्धा गतिरनु वेषि	१८५	क्षेत्रावगाहनापेक्षा २२१
सिद्धमौदारिक तियंङ्	28x	क्षेत्राणि भरतादीनि ३२४
		1